श्री भगवद्गीता

भाग २

(अध्याय १ से ६ तक)

श्री नारायण स्वामी कृत

प्रकाशक :
रामतीर्थ प्रतिष्ठान
लखनऊ

The Hindu Philosophy of life, conduct and emancipation.

श्रीमद्भगवद्गीता

(अध्याय १ से ६ तक)

अथवा

भगवदाशयार्थदीपिका

अन्वयाङ्कानुसार शब्दार्थ, भाषानुवाद, व्याख्या, तथा
अर्थ निर्णायक टिप्पणी इत्यादि समेत

लेखक

श्री आर. एस. नारायण स्वामी, पट्ट शिष्य
ब्रह्मलीन, परमहंस श्री स्वामी रामतीर्थजी

संशोधित मूल्य रु० : ५.००

मुद्रण प्रक्रिया मंहगी होने के कारण विवश होकर मूल्यों को संशोधित करना पड़ा है। कृपालु संरक्षक पूर्ववत अपना संरक्षण देते रहेंगें।

— मंत्री

तृतीयावृत्ति

अथ समर्पणम्

रामो नारायणः कृष्णो हरिरित्येवमादिकाः ।
संज्ञा भगवतस्तस्य सर्वास्सर्वात्मनो विभोः ॥ १ ॥
रूपाण्यपि च सर्वाणि नात्र संशेरते बुधाः ।
अतो यथा भगवता कृष्णरूपेण कीर्तिता ॥ २ ॥
प्रसिद्धा भगवद्गीता तथा नारायणात्मना ।
व्याख्याता भगवद्व्याख्या भूयादानन्ददायिनी ॥ ३ ॥
नारायण-प्रेरणया नारायण-विनिर्मिता ।
भूयान्नारायणी व्याख्या नारायणपदार्पिता ॥ ४ ॥

भावार्थ—साक्षात् भगवान् कृष्णचंद्र के मुखारविंद से उच्चारण होने के कारण जो श्रीमद्भगवद्गीता कहलाती है, उसकी यह व्याख्या भी भगवत्कृपा और शक्ति से ही बही हुई होने के कारण भगवत्-व्याख्या है। दूसरे, कृष्ण, राम और नारायण, ये सब भगवान् के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं, इसलिए भी यह नारायण द्वारा प्रणीत व्याख्या भगवत्-व्याख्या ही है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की यह भगवत्-व्याख्या भगवत्-समर्पण है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (गी० ४, २४)

अथ मंगलाचरण।

यो नित्यो यमुपासतेऽखिलजना येनेदमावास्यते,
यस्मै कर्म करोति सात्त्विककुलं यस्माज्जगज्जायते।
यस्यैश्वर्यमवेद्यनैजविभवं यस्मिन् हि विश्वं स्थितं,
तं दूरे पुनरन्तिकेऽपि विदितं ध्यायामि नारायणम्॥

निवेदन

साक्षात् भगवान् से उच्चारित गीता (अतएव भगवद्गीता) और भगवान् ही की प्रेरणा से कही हुई उसकी व्याख्या (अतएव भगवत्-व्याख्या अर्थात् भगवदाशयार्थदीपिका), जिसकी प्रथमावृत्ति कई वर्ष हुए श्रीमन्नारायण स्वामी द्वारा प्रकाशित हुई थी, आज उसके प्रथम षट्क की दूसरी आवृत्ति श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित होते देखकर चित्त गद्गद हो रहा है। और इस सफलता के लिए उसी भगवान् का तथा भगवत्प्रेमियों का जितना भी धन्यवाद किया जाय वह थोड़ा है। यह आवृत्ति प्रथमावृत्ति की अपेक्षा कई बातों में बढ़-चढ़कर प्रकाशित हुई है। प्रथमावृत्ति में पूर्व-वृत्तांत केवल ४६ पृष्ठों का था, इसमें १०० पृष्ठ का है। व्याख्या, फ़ुटनोट वा टिप्पणियाँ इत्यादि भी पहले की अपेक्षा इतनी सविस्तर और अधिक बढ़ गई हैं कि केवल ६ अध्याय और पूर्व-वृत्तांत दोनों ८३२ पृष्ठों में समा सके हैं जो पहले केवल ६१२ पृष्ठों में समाये हुए थे। इसी रीति से शेष बारह अध्यायों की व्याख्या और फ़ुटनोट आदि का भी विस्तार बढ़ता जा रहा है। इसलिए लीग ने निश्चय कर लिया है कि "यह दूसरी आवृत्ति अब दो जिल्दों के बदले तीन जिल्दों में प्रकाशित की जाय। पहली जिल्द में प्रथमावृत्ति के दोनों भागों की संपूर्ण प्रस्तावना, श्रीकृष्णार्जुन के भिन्न-भिन्न नामों की सविस्तर व्याख्या, गीता-माहात्म्य, गीताकरादि न्यास, और गीता-श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका आदि दिये जायँ। दूसरी जिल्द में केवल पूर्व-वृत्तांत तथा ६ अध्यायों की व्याख्या सहित प्रथम व द्वितीय संस्करण की भूमिका के दिये जायँ। और इसी प्रकार तीसरी जिल्द में शेष १२ अध्यायों की व्याख्या सहित प्रथम व द्वितीय संस्करण की भूमिका के दी जाय। कागज़ सब जिल्दों में एक ही प्रकार का बढ़िया लगाया जाय, केवल जिल्दबंदी में भेद रक्खा जाय। साधारण संस्करण की जिल्द केवल कपड़े की हो और विशेष संस्करण की जिल्द सुंदर कपड़े पर सुनहरी हो, और दाम में भी केवल ॥) प्रति कापी का अंतर रक्खा जाय।"

इस रीति से प्रथम षट्क का यह दूसरा संस्करण बढ़िया काग़ज़ पर प्रथमावृत्ति के विशेष संस्करण के समान निकाला गया है। प्रथमावृत्ति के दूसरे भाग की जो थोड़ी सी कापियाँ साधारण संस्करण की घटिया काग़ज़ पर छपी बाक़ी रह गई थीं, केवल उतनी कापियाँ ही इस संस्करण की प्रथमावृत्ति का सेट पूरा करने के लिए घटिया काग़ज़ पर निकाली गई हैं। शेष सब कापियाँ इस संस्करण की बढ़िया काग़ज़ पर ही प्रकाशित की गई हैं। इस प्रकार प्रथमावृत्ति के विशेष संस्करण को इस वृत्ति में साधारण संस्करण नाम दिया गया है, और इस वृत्ति का विशेष संस्करण पहले से बहुत बढ़-चढ़कर नये प्रकार का निकाला गया है। इसीलिए प्रत्येक कापी का मूल्य प्रथमावृत्ति के २) और ३) के स्थान पर ३) और ३॥) रु० रक्खा गया है। पूर्ण आशा है कि इस द्वितीय संस्करण की सुंदरता, बृहत् आकार और विषय की विशालता को सम्मुख रखते हुए गीताप्रेमी सहर्ष इस दाम को स्वीकार करेंगे और यथाशक्ति, शीघ्र से शीघ्र इस नये संस्करण की प्रतियाँ वितरण कराते हुए इसी संस्करण की शेष जिल्दों के शीघ्र प्रकाशन में लीग का सर्वप्रकार से उत्साह बढ़ायेंगे। ईश्वर करे इस शुभकार्य की सफलता में सबके हृदयों में उमंगें उत्पन्न हों और लीग इस प्रकार सबकी सहायता से अपने उद्देश्यों में कृतकार्य हो, तथास्तु।

मंत्री

१९ मार्च, १९२९

श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग
नं० २५ मारवाड़ी गली, लखनऊ.

श्री आर० एस० नारायन स्वामी जी
१८७४–१९३७

ॐ

भूमिका

(प्रथम संस्करण की)

व्याख्या का कारण और काल

संवत् १९६७ तदनुसार सन् १९१० में मुरादाबाद नगर में ठाकुरद्वारा नगरी के एक रईस * अकस्मात् मिलने आ गये। जिन्हें श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन इत्यादि से अति प्रेम था और जो मारे प्रेम के हिंदी में इसका अनुवाद भी श्री शांकरभाष्यानुसार कर रहे अथवा करा रहे थे। अनुवाद करते समय जो-जो संदेह उन्हें (कई एक श्लोकों के अर्थ वा व्याख्या में) हुए थे, उनके निवारणार्थ वे प्रश्न कर बैठे। अपने प्रश्नों का उत्तर नवीन शैली से पाकर जब श्लोकों के पूर्वापर संबंध से उन उत्तरों को उन्होंने युक्त और संतोषजनक पाया, तब उन्होंने अपने अनुवादित भाष्य की चर्चा छेड़ दी, और प्रार्थना की कि लेखक (नारायण) इस भाष्य को एक बार पढ़कर जहाँ-जहाँ अशुद्ध पाये, वहाँ-वहाँ शुद्ध कर दे। उन दिनों नारायण के ज़िम्मे यद्यपि अपने पूजनीय गुरु ब्रह्मलीन परमहंस श्रीस्वामी रामतीर्थजी महाराज के अंग्रेज़ी लेखों और उपदेशों के प्रकाशन और क्रमेण रचना आदि का भारी काम था, तथापि इस प्रेममूर्त्ति धर्मात्मा रईस की हार्दिक प्रार्थना के प्रभाव और आकर्षण से विवश होकर उसने इस गीतानुवाद के संशोधन का काम भी अपने ज़िम्मे ले लिया। संवत् १९६७ तदनुसार सन् १९१० के आरंभ में यह अनुवाद संशोधनार्थ दिया गया था। पर ध्यानपूर्वक

---

* रईस साहिब अपना नाम गुप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उसे यहाँ नहीं दिया गया।

पढ़ने से वह अनुवाद अगणित अशुद्धियों से पूर्ण और अस्पष्ट पाया गया था, जिससे प्रति श्लोक का अर्थ और व्याख्या दोनों नारायण को नये सिरे से लिखने पड़े। इस प्रकार जब गीता का अनुवाद नये सिरे से नितांत नारायण की लेखनी से ही लिखा गया, तब उक्त प्रेममूर्त्ति रईस ने आश्चर्यित होकर ऐसे प्रार्थना की कि "इसमें अब मेरा लिखा तो कुछ रहा ही नहीं, सारा का सारा नये सिरे से बदल दिया गया है, इसलिए अब इसे साफ़ कराकर 'नारायण भाष्य' के नाम से ही छपवाया जाय।" उस समय अनुवाद की भाषा उर्दू थी, यद्यपि लिपि नागरी थी। इसलिए कई प्यारों ने फिर यह प्रार्थना की कि जब अनुवाद संपूर्ण बदल दिया गया है, तब भाषा भी बदल दी जानी चाहिए, अर्थात् उर्दू भाषा के स्थान पर शुद्ध, साफ़ और सरल हिंदी होनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना पर नारायण ने पुनः अनुवाद को शुद्ध किया, और उसे काट-छाँटकर सरल हिंदी भाषा में बदल दिया। जब यह अनुवाद साफ़ लिखा जाने के बाद छपने के लिए तैयार हुआ और उसी धर्मात्मा रईस ने इसके छपाने के लिए २०००) रुपये की नक़द सहायता भी दी, तब स्वामी रामतीर्थजी की अंग्रेज़ी पुस्तकों के प्रकाशक मास्टर अमीरचंदजी, जिनके ज़िम्मे इस अनुवाद के छपाने का प्रबंध सौंपा गया था, उन पर अकस्मात् एक भारी विपद् आ पड़ी, जिससे पूरे तीन वर्ष तक यह अनुवाद सहित भाष्य के छपने से रुका रहा। अर्थात् संवत् १९६७ से १९६९ तदनुसार सन् १९१० से १९१२ तक तो यह अनुवाद सहित भाष्य के तीन बार शुद्ध करके लिखा गया, और जब इस प्रकार पूरे तीन वर्ष के बाद यह प्रकाशनार्थ तैयार हुआ, तो संवत् १९७० से १९७२ तदनुसार सन् १९१३ से १९१५ अर्थात् पूरे तीन वर्ष तक उक्त विपदा के कारण यह (अनुवाद) छपने से रुका रहा। और फिर संवत् १९७३ तदनुसार सन् १९१६ के आरंभ में इसके छपाने का प्रबंध लखनऊ नगर में किया गया। इस प्रकार आरंभ तिथि से पूरे छै वर्ष पीछे जब यह भाष्य छपने को छापेख़ाने में दिया जाने लगा, तब नारायण को बहुत समय के व्यतीत होने के कारण पुनः अपने भाष्य को देखने

की सूझी। इस पुनरावलोकन के समय बहुत से अन्य भाष्य भी देखने में आये थे, और कई नवीन भाष्य अभी ताज़ा ही देखे थे, जिससे बहुत से नये-नये विचार फड़के, इसलिए छापने के लिए कापी पुनः लिखी गई। इस प्रकार चार बार पुनः-पुनः साफ़ करने के बाद यह व्याख्या छपने पाई। इस रीति से पहले दो अध्याय छपे ही थे कि लोकमान्य बालगंगाधर तिलक कृत गीता-रहस्य हिंदी भाषा का हाथ में पड़ा। इसके पढ़ने से पता लगा कि कई स्थानों पर इनके अर्थ वा विचार हमारे अर्थ वा विचारों से कुछ-न-कुछ भेद रखते हैं, इसलिए जहाँ-जहाँ उनसे कुछ भेद दीखा, वहाँ-वहाँ तीसरे अध्याय से उन्हें भी वैसा का वैसा फ़ुटनोट में दे दिया गया, ताकि पाठकों को यह भी पता लग सके कि भेद परस्पर क्या है और युक्त क्या है। इस रीति से व्याख्या इतनी बढ़ गई कि पूर्व-वृत्तांत व छः अध्याय ही ६१२ पृष्ठ में समा सके, इसलिए भार के डर से एक ही जिल्द में समस्त गीता की व्याख्या का निकालना उचित नहीं समझा गया। अतएव प्रथम षट्क की जिल्द पहले निकाली गई है। यदि शेष अध्यायों की व्याख्या अत्यधिक न बढ़ी, तो अवशिष्ट भाग फिर दो जिल्दों में नहीं, किंतु एक जिल्द में ही निकाला जायगा।

व्याख्या का उद्देश्य

नारायण को बालकपन से ही गीता से प्रीति थी। बल्कि स्कूल के समय से ही गीता के अर्थ और भाष्य भिन्न-भिन्न भाष्यकारों के हिंदी और उर्दू में पढ़ा करता था। संन्यासाश्रम में आकर तो क्या अंग्रेज़ी, क्या उर्दू, क्या हिंदी और क्या संस्कृत इनमें बीसियों भाष्य पढ़ डाले। बहुतों में तो केवल सांप्रदायिक झगड़ा और एक दूसरे का खंडन-मंडन ही पाया, बहुतों में अंधाधुन्धी लकीर की फ़क़ीरी पाई, अर्थात् कोई तो श्री स्वामी शंकराचार्य की ही लकीर पीटता दिखाई दिया, कोई श्रीरामानुजाचार्य की, कोई श्रीमाधवाचार्य की, कोई श्रीयमुनाचार्य की, कोई श्रीश्रीधर स्वामी की और कोई श्रीमधुसूदन स्वामी की। बहुत ही थोड़ों में व्याख्याता का अपना अनुभव किसी नये ढंग वा रूप से दिखाई दिया। लगभग सबकी भाषा और शैली वर्त्तमान समय के अनुसार

सरल न पाई, और बहुत ही थोड़े भाष्यकार गीता में भगवान् के आशय, उपदेश और उद्देश्य को क्रम से दर्शाने का यत्न करते दिखाई दिये। बल्कि बहुतों की तो भाषा और वर्णन-शैली ऐसी कठिन, पुरानी और शुष्क पाई कि उसका अर्थ समझना तो दूर रहा, उसके पढ़ने से ही चित्त तंग और उपराम हो जाता अर्थात् उकता जाता था। इन नाना प्रकार की त्रुटियों से तंग आकर बहुत काल से चित्त में यह उमंग उठ रही थी कि "एक व्याख्या ऐसी की जाय जिसकी भाषा सरल और वर्तमान समयानुसार हो, जो किसी एक भाष्यकार की लकीर पीटने के समान न हो, किंतु कई वर्षों के निरंतर अध्ययन से जो-जो अनुभव हुआ है (चाहे वह पूर्व भाष्यकारों के अनुभव से कहीं-कहीं भेद भी रखता हो) उस समस्त अनुभव को स्पष्ट रूप से और प्रत्यक्ष प्रमाणों से बिना किसी को खंडन-मंडन किये, नम्रता और प्रेम के साथ दर्शानेवाली हो; और जहाँ कहीं पूर्व व्याख्याताओं से मतभेद हो, वह वहाँ अलग नीचे फ़ुटनोट में बिना खैंचातानी और कटाक्षों के दिया जाय, जिससे यह व्याख्या किसी पाठक को केवल अपनी लकीर का फ़क़ीर बनानेवाली न हो बल्कि व्याख्याताओं के भिन्न-भिन्न अनुभवों को दर्शाने से वह पाठक को स्वयं सोचने और निर्णय करने का समर्थवान् बनानेवाली हो, ताकि व्याख्या पाठक के मार्ग में केवल सहायक तो बन सके किंतु उसकी मालिक या मार्ग में रोड़ा अटकानेवाली या उन्हें अपने मार्ग में घसीटनेवाली न हो जाय; और ऐसे ही पाठक भी अपने विचार से अपने पाँव पर खड़ा होना सीख जायँ, दूसरों के कंधों पर बैठने और कूदनेवाले न बन जायँ; और फिर उस व्याख्या में केवल श्रीकृष्ण भगवान् के अपने भाव (आशय) को क्रमेण दर्शाने का यत्न तो किया जाय, परंतु किसी पूर्व प्रसिद्ध व्याख्याता का केवल अनुकरण या कोई पक्ष न किया जाय।" ऐसा विचार चित्त में कई वर्षों से बार-बार उमड़ा करता था। होते-होते एक दिन ऐसा आया कि मुरादाबाद नगर में ठाकुरद्वारा के उक्त रईस से स्वयं यह प्रार्थना हुई कि उनकी शांकर भाष्यानुसार हिंदी-व्याख्या को नारायण देखकर संशोधन करे, जिस व्याख्या में लेखक की भाषा और श्लोकार्थ दोनों कुछ ऐसे अस्पष्ट और त्रुटियों

से भरे हुए थे कि उस समस्त व्याख्या को परे हटा कर नारायण ने अपनी लेखनी ही से एक व्याख्या उक्त उद्देश्यानुसार (जो उद्देश्य वा विचार कई वर्षों से चित्त में उठा करते थे) लिखनी आरंभ कर दी ।

अपनी ओर से तो यद्यपि उक्त त्रुटियों को दूर करने और अपने उद्देश्यों के पालन करने में यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है, तथापि जब भी कोई त्रुटि अपने आप दिखाई देगी या किसी दूसरे सज्जन से दर्शायी जायगी, तो पुनरावृत्ति में उसे भी दूर करने का प्रयत्न किया जायगा । * आशा है कि पाठक महोदय इस व्याख्या को पढ़कर जहाँ इससे लाभ उठाने का यत्न करेंगे, वहाँ यदि कोई त्रुटि इस (व्याख्या) में कहीं उन्हें दिखाई दे तो उस विषय में सूचना देने की भी कृपा करेंगे, और व्यर्थ कटाक्षों और निंदा से अपने को वा दूसरे को दूषित न करेंगे, क्योंकि यह व्याख्या किसी व्याख्याता को खंडन-मंडन करने के भाव से, वा किसी मत को फैलाने के आशय से अथवा अहंकार या विद्या के गर्व से नहीं लिखी गई, किंतु सन्मार्ग में प्राणिमात्र की केवल सेवा करने के भाव और उद्देश्य से प्रेम और शांति भरे हृदय के साथ लिखी गई है । ईश्वर करे पाठकों के हृदय भी ऐसे ही हों । और वे ऐसे हृदय से ही इसको पढ़ें ।

पूर्व-वृत्तांत

जो लोग महाभारत को पढ़े वा सुने बिना ही श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करते हैं, वे नित्य इस संदेह में पड़े रहते हैं कि “कौरव और पांडव कौन थे ?” “परस्पर इनमें राग-द्वेष क्यों हुआ ?” “इस भारी युद्ध का कारण क्या था ?” और “साक्षात् भगवान् ने इस घोर युद्ध का उपदेश क्यों किया ?” इत्यादि । इस संदेह के निवारणार्थ यहाँ गीता के आरंभ में महाभारत का वह भाग (पर्व) जिसमें उक्त विषय का संपूर्ण वर्णन है, उसका संक्षेप “संक्षिप्त पूर्व-वृत्तांत” के नाम से दे दिया है ताकि पाठकों को स्पष्ट हो जाय कि “कौरव-पांडव वास्तव में कौन थे”, “इनकी उत्पत्ति,

---

* यह लिखते हमें हर्ष हो रहा है कि इस नवीन (द्वितीय) संस्करण में ऐसा किया भी गया है ।

शिक्षा इत्यादि कैसी हुई", "उनमें यह घोर युद्ध क्यों और कैसे हुआ", "इस समस्त अनर्थ का मूल कारण कौन था", और "भगवान् कृष्णचंद्र ने युद्ध के दूर करने निमित्त क्या-क्या यत्न किये थे" इत्यादि ।

अध्याय का संक्षेप

गीता की सविस्तर व्याख्या के पढ़ने में पाठक को एक भारी दिक़्क़त वा कठिनता यह हो जाया करती है कि प्रत्येक अध्याय का सार और पूर्वापर का क्रम उसकी दृष्टि से उतर जाता है, और उसे फिर यह ठीक पता नहीं रहता कि अध्यायों का पूर्वापर संबंध क्या है, श्लोकों का प्रत्येक अध्याय में परस्पर संबंध क्या है, और समस्त अध्याय का समुच्चयरूप से तथा क्रमरूप से सार और विचार क्या है । इस भारी त्रुटि को दूर करने के विचार से प्रत्येक अध्याय का संक्षेप उसके अंत में दे दिया गया है । इस संक्षेप में न केवल अध्याय के श्लोकों के अर्थों का सार है, बल्कि उन श्लोकों के संबंध और क्रम का विचार भी है । जैसे अध्यायों और श्लोकों का परस्पर संबंध व्याख्या में दर्शाया है, वैसे संक्षेप में भी श्लोकों के भावार्थों का परस्पर संबंध और क्रम भिन्न-भिन्न संख्या (नंबरों) से दर्शाया है । इस संक्षेप से हमें पूर्ण विश्वास हो रहा है कि यदि किसी को श्लोकों की व्याख्या कहीं-कहीं स्पष्ट न भी होगी, तो वह श्लोकों के भाव और सारे अध्याय के सार को ही पढ़ने से उसे साफ़ समझ जायगा, और यदि संस्कृत के अधिक न जानने से गीता के पाठ करने में कोई असमर्थ होगा, तो वह भी केवल संक्षेपों के पढ़ जाने से गीता ऽ का पाठ नित्य प्रति कर सकेगा, और इन संक्षेपों द्वारा गीता को स्पष्ट रूप से और सुगमता के साथ समझ सकेगा ।

भिन्न-भिन्न अर्थ, व्याख्या और संबंध

गीता में कई श्लोक ऐसे आये हैं कि उनके भिन्न-भिन्न अर्थ भी हो सकते हैं, और उन्हीं अर्थों के अनुसार उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्या भी हो सकती है । परंतु हमने किसी एक व्याख्याकार विशेष का अनुयायी बनकर किसी श्लोक का अर्थ नहीं किया है । जहाँ एक श्लोक के दो या अधिक अर्थ पूर्वापर के संबंध से तथा व्याकरण

की रीति से ठीक बैठते देखे, वहाँ हमने उस (श्लोक) के बहुत से अर्थ भी कर दिये हैं; और जहाँ एक श्लोक की व्याख्या भी पूर्वापर के संबंध से तथा भिन्न-भिन्न आशय से कई प्रकार की हो सकती देखी, वहाँ व्याख्या भी बहुत प्रकार से कर दी गई हैं, यद्यपि उनके तात्पर्य में बहुत भेद नहीं। और जहाँ श्लोकों का परस्पर संबंध भी कई प्रकार से तथा कई आशयों से हो सकता देखा, वहाँ वह (संबंध) भी कई प्रकार से संख्यावार दिया गया है। संक्षेप से यह कि किसी श्लोक का परस्पर संबंध, अर्थ और व्याख्या किसी एक भाष्यकार का अनुयायी बनकर नहीं दिया गया, जहाँ-जहाँ पूर्वापर के संबंध से तथा विचार-दृष्टि के साथ निष्पक्षतापूर्वक जो जहाँ जैसा युक्त बैठता देखा, वह वहाँ वैसा का वैसा ही दे दिया है। यद्यपि बहुत स्थानों पर पूज्यपाद श्री स्वामी शंकराचार्य के भाष्य से सहायता अवश्य ली गई है। और दूसरों का मतभेद भी उनसे जहाँ-जहाँ देखा गया, वह भी नीचे फ़ुटनोट में दे दिया है।

बंधनी और फ़ुटनोट

श्लोक में एक-एक पाद वा शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ भी कई स्थानों पर व्याख्याकारों ने किये हैं। उनके भिन्न-भिन्न अर्थ जहाँ पर परस्पर विरुद्ध नहीं पाये, वहाँ तो व्याख्या के भीतर बंधनी (ब्रैकट) में ही दे दिये गये हैं, और जहाँ नितांत भेद रखते अर्थात् परस्पर विरुद्ध देखे, उन्हें फ़ुटनोट में नीचे दे दिया है ताकि उस शब्द वा पाद के विषय अन्य टीकाकारों के अर्थ वा विचार भी पाठकों के दृष्टिगोचर हो जायँ और वे उस विषय में भी अपना कोई निर्णय वा निश्चय कर सकें। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ श्लोकार्थ और व्याख्या में भी भाष्यकारों का परस्पर बहुत मतभेद देखा, वहाँ-वहाँ वह अर्थ और व्याख्या भी सहित भाष्यकार के नाम के नीचे फ़ुटनोट में दे दी गई है। हाँ, कुछ स्थानों पर ऐसा भी है कि जो व्याख्या कहीं-कहीं नारायण (लेखक) की व्याख्या से अधिक विचित्र और निराली पाई (जैसा कि श्रीज्ञानदेवजी की व्याख्या इत्यादि), वहाँ-वहाँ उसे भी फ़ुटनोट में दे दिया है, ताकि पाठक लोग उस द्वारा भी लाभ उठा सकें, और उन्हें अनोखे-अनोखे ढंगों से भी परिचय हो जाय।

पदार्थ और अन्वयार्थ

इस भाष्य में गीता का पदार्थ और अन्वयार्थ दोनों अलग-अलग दिये गये हैं। प्रत्येक श्लोक के चार पाद करके दो पाद (श्लोक की पहली पंक्ति) एक ओर दिये हैं, और दो पाद (श्लोक की दूसरी पंक्ति) दूसरी ओर दिये हैं। उन पादों के शब्दों का अर्थ अन्वय के क्रम से उनके आगे दिया है, इसलिए शब्दों और उनके अर्थों पर १, २ इत्यादि संख्या का चिह्न भी दिया है, जिससे पाठक को स्पष्ट पता लग जाय कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है। प्रत्येक पाद को और कहीं-कहीं इकट्ठे दो-दो पादों को भी बंधनी (ब्रैकट) में दिया है, और पाद के शब्दों के साथ लघु विराम का चिह्न (,) दिया है। जहाँ समास है, वहाँ उस समस्त शब्द में जितने व्यस्त (पृथक्-पृथक्) शब्द हैं उनमें संयोजक चिह्न (-) दिया है, जैसे धर्म-क्षेत्रे, कुरु-क्षेत्रे इत्यादि। इन शब्दों के अर्थ उक्त रीति से संख्या के चिह्न के अनुसार ही पृथक्-पृथक् दिये हैं। जहाँ समस्त पदों में संधि हुई है, वहाँ संधिच्छेद भी कर दिया है, जैसे 'पाण्डवानीकं' का 'पाण्डव-अनीकं' (१, १)। अलग-अलग शब्दों और पदों में जो संधि है, वह पदच्छेद करके स्पष्ट कर दी गई है, जैसे 'पाण्डवाश्चैव' का 'पाण्डवाः, च, एव' (१, १)। जो शब्द केवल श्लोक की पूर्त्ति के लिए आया है, उसका अर्थ अलग अन्वयार्थ में नहीं दिया गया, जैसे (१, १ में) 'एव'। विशेष्य विशेषण के विषय में संस्कृत की चाल तो यह है कि विशेष्य और विशेषण दोनों में ही अलग-अलग एक ही विभक्ति दी जाती है, जैसे (१, १ में) 'धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे' दोनों में सप्तमी विभक्ति अलग-अलग दी गई है, परंतु हिंदी में केवल विशेष्य में विभक्ति दी जाती है, विशेषण में नहीं; सो यहाँ भी शब्दार्थ में यही नियम रक्खा है, जैसे 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' के अर्थ में 'धर्म-भूमि कुरु-क्षेत्र में' इस प्रकार सप्तमी विभक्ति (में) केवल विशेष्य के साथ लगाई है, विशेषण के साथ नहीं। अन्वयार्थ में जहाँ कहीं निरे पदार्थों की योजना में हिंदी की शैली बिगड़ती देखी, वहाँ अन्वय में पदार्थों से अत्यल्पसा भेद करके हिंदी की शैली से अर्थ लिखा गया है। और जो बात अधिक

व्याख्या के योग्य है, वह भाष्य वा टिप्पणी (फ़ुटनोट) में स्पष्ट कर दी गई है। और जो (बात) दूसरे ग्रंथों की सहायता से अधिक स्पष्ट हो सकती है, वह दूसरे ग्रंथों के प्रमाण से अधिक स्पष्ट कर दी गई है, जैसे (१, १ में) कुरुक्षेत्र, वा (१, २ में) व्यूढं की टिप्पणियाँ। और जहाँ एक ही श्लोक के भिन्न-भिन्न अर्थ टीकाकारों ने किये हैं और वह भिन्न-भिन्न अर्थ सबके सब पूर्वापर के संबंध से युक्त बैठते दीखते हैं, उन (भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थों) को अन्वयार्थ में देकर टिप्पणी में उनके उचित होने के संबंध में युक्तियाँ भी दे दी हैं, जैसे श्लोक (१, १०) की टिप्पणियाँ।

भाषा भाषा इस व्याख्या की अपने ढंग की कुछ निराली रक्खी गई है, इसलिए न नितांत वह नवीन है और न प्राचीन, बल्कि मिश्रित है। ऐसा रखने का कारण यह है कि प्रथम तो यह गीता-भाष्य समस्त भारतवर्ष तथा अन्य देशों में गये हुए हिंदुमात्र के पढ़ने के लिए लिखा गया है, केवल पंजाब वा युक्त प्रांत के हिंदुभाइयों के लिए नहीं; दूसरे इस भाष्य को नवीन हिंदी के पाठकों ही ने नहीं पढ़ना है किंतु प्राचीन हिंदी के अभ्यासियों ने भी। और जहाँ-जहाँ संस्कृत शब्द स्पष्ट रूप से प्राचीन और नवीन हिंदी में समझे नहीं जा सकते किंतु अन्य भाषाओं के शब्दों से सुगमतापूर्वक समझे जा सकते हैं, वहाँ-वहाँ हिंदी शब्दों के आगे उनका तुल्यार्थ शब्द अन्य भाषाओं का भी बंधनी (ब्रैकट) में दे दिया है, ताकि प्रत्येक देश का हिंदी-भाषा का जाननेवाला मनुष्य इस भाष्य को आसानी से समझ सके।

लक्ष्य गीता में सिद्धांत के विषय बहुत मतभेद है, जो पुराने व्याख्याकारों की व्याख्या में बहुधा पाया जाता है, और नवीन (वर्तमान काल के) व्याख्याकारों की व्याख्या में भी प्रायः है। परंतु व्याख्याता का कर्तव्य यह नहीं होता और न होना ही चाहिए कि वह व्याख्येय ग्रंथ को उलट-पुलट करके उससे अपने सिद्धांत निकाले, अथवा ग्रंथ को अपने सिद्धांतों के प्रचार का एक साधन, करण और अनुचर बना ले। उसका धर्म वा कर्तव्य तो यह होता है और होना भी चाहिए

कि वह ग्रंथकर्त्ता के अभिप्राय को ही विना निज सिद्धांतों में आसक्त हुए बल्कि निष्पक्षतापूर्वक अविकल प्रकट करे। यह लिखते हमें प्रसन्नता हो रही है कि इसी लक्ष्य को सामने रखकर यह व्याख्या लिखी गई है, बल्कि बहुत सी पुरानी व्याख्याओं में इसी लक्ष्य का अभाव देखकर ही इसे लिखना पड़ा है।

अन्य भाष्य

इस व्याख्या को लिखते समय संस्कृत में श्री शांकर भाष्य, रामानुज भाष्य, श्रीधर स्वामी कृत टीका, मधुसूदन स्वामी कृत टीका, और आनंदगिरि कृत टीका देखे गये। हिंदी में श्री चिद्घनानंदी टीका, श्री ज्ञानेश्वरीदीपिका, लखनऊ प्रेस के नवल भाष्य, ज़ालिमसिंह कृत अनुवाद और श्रीस्वामी आनंदगिरि कृत टीका, अजमेर के श्रीमुंशी छुट्टनलाल कृत भाष्य, मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद कृत भाष्य, लाहौर के पंडित राजाराम कृत भाष्य और पंडित आर्य्य मुनि कृत गीता योगप्रदीपार्य्य भाष्य, (जब इस व्याख्या के दो वा तीन अध्याय छप चुके तब) लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक कृत गीतारहस्य, बङ्गला के श्री बङ्किम बाबू कृत व्याख्या, हरिदास वैद्य कृत सरल हिंदी अनुवाद, काशी-प्रणवाश्रम से प्रकाशित गीता-व्याख्या तथा ग्रंथ-प्रकाशक समिति की सरल गीता, और बंबई-प्रेस से प्रकाशित कई एक छोटे-मोटे अनुवाद देखे गये। उर्दू भाषा में देहली के लाला सूर्य्यनारायण मिहर कृत गीताभाष्य और फ़िलसफ़ा-ए-गीता, तथा पंडित जानकीनाथ कृत टीका, और फ़िरोज़पुर के लाला जगन्नाथ से प्रकाशित मधुसूदनी टीकार्थ देखे गये। और अंग्रेज़ी में पंडित मेक्समूलर से प्रकाशित काशीनाथ त्र्यंबक तैलङ्ग कृत अनुवाद, बंबई नगर के तुकाराम तात्या कृत टीका, मायसूर देश के पंडित महादेव शास्त्री कृत शाङ्कर भाष्य, काशी के लाला भगवानदास और श्रीमती ऐनीबिसेंट कृत व्याख्या, हिमालय के स्वामी स्वरूपानंद कृत अनुवाद, और मद्रास प्रदेश के प्रसिद्ध संस्कृत प्रोफ़ेसर 'ऐम रङ्गाचार्य राओ बहादुर' कृत भाष्य देखे गये। इन उक्त समस्त भाष्यों, टीकाओं और अनुवादों के अवलोकन से हमें यह स्पष्ट हुआ (और इसे खुल्लमखुल्ला लिखने में भी हमें किंचित् झझक नहीं) कि संस्कृत में

शांकर भाष्य सर्वोपरि श्रेष्ठ, और अपने ढंग का अद्वितीय है, यद्यपि आजकल के समयानुसार सुस्पष्ट और आकर्षक नहीं। इससे उतरकर श्रीरामानुज भाष्य, श्री श्रीधर स्वामी कृत टीका और श्री मधुसूदनी टीका हैं, यद्यपि श्री मधुसूदनी टीका श्री शांकर भाष्य के ढाँचे पर उनसे अधिक सविस्तर और स्पष्ट है। हिंदी में श्री चिद्घनानंदी टीका यद्यपि श्री शांकर सिद्धांत की सविस्तर व्याख्या करती और पांडित्य से भरी पड़ी है और जिससे हमें भी कई प्रकार से बहुत मदद मिली है, परंतु भाषा इसकी ऐसी पुरानी और कठिन, और लिखने की शैली आजकल की अपेक्षा ऐसी निकम्मी और गड़बड़ में डालनेवाली है कि पाठक का जी उकता जाता है, बल्कि साधारण-बुद्धि पुरुष का चित्त न केवल हताश वा उपराम हो जाता है किंतु हठपूर्वक उसे यदि पढ़ा भी जाय तो पल्ले बहुत ही थोड़ा पड़ता है। विरुद्ध इसके श्री ज्ञानेश्वरी टीका ऐसे सरल, निराले और विचित्र ढंग से लिखी हुई है कि पाठक का चित्त उसके पढ़ने से उकताता तक नहीं, उकताना तो दूर रहा, एक बार हाथ में लेकर उसे पढ़ने को बैठें तो जी उसे छोड़ने को नहीं चाहता। यह टीका किसी पूर्व भाष्यकार का अनुयायी होकर और शब्दार्थ के रूप से नहीं लिखी गई, बल्कि अपने अनुभव के वेग से कथा और वार्तालाप के रूप में बही हुई है; अथवा यों कहिए कि यह टीका किसी संप्रदाय के चलाने के उद्देश्य से नहीं किंतु भगवान् के अभिप्राय को स्पष्ट करने की तरंग से बही हुई स्पष्ट दीखती है। इस टीका में श्री ज्ञानदेव का भक्ति भरा हृदय ध्यानयोग के रंग में रँगा हुआ होकर पूर्ण वेग से बह रहा है। हिंदी-भाषा में केवल एक यही टीका देखने में आई है कि जो विशेष करके सांप्रदायिक झगड़ों वा खंडन-मंडन के बखेड़ों से रहित है, और जिसमें लेखक केवल अपना अनुभव वर्णन कर रहा है, अपने से पूर्व भाष्यकारों के सिद्धांत, संप्रदाय वा मत को युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध नहीं कर रहा। परंतु जो हिंदी-अनुवाद हमारे हाथ पड़ा है, उससे स्पष्ट हो रहा है कि ढंग और शैली दोनों पुराने हैं, आजकल के समयानुसार अधिक आकर्षक और उपयोगी नहीं। इनसे उतरकर नवल भाष्य, आनंदगिरि टीका, श्रीयुत रामप्रसाद

कृत टीका और आर्यसमाज के पं० राजाराम कृत भाष्य अच्छे हैं, बल्कि सबसे आख़िरी (पं० राजाराम कृत) भाष्य में तो श्लोकों का शब्दार्थ और अन्वयार्थ औरों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, और कहीं-कहीं व्याख्या तथा टिप्पणियाँ (foot notes) भी अधिक उपयोगी और उत्तम हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कृत गीतारहस्य अपने नमूने का एक ही ग्रंथ है। यद्यपि संपूर्ण रूप से हम इस गीतारहस्य के सिद्धांत से सहमत नहीं और न हम गीता का ऐसा अंतिम उद्देश्य ही समझते हैं (जैसे कि श्री तिलक महाराज ने अपने गीतारहस्य में दर्शाया है), तथापि मूल गीता और टिप्पणी को छोड़कर यदि केवल गीतारहस्य (अर्थात् पूर्व के ६०० पृष्ठ के भाग) को लिया जाय तो यह रहस्य अपने ढंग का अपूर्व, अद्वितीय और पांडित्य से परिपूर्ण है। केवल इतनी त्रुटि इसमें हमें निःसंदेह दीखती है कि इसमें गीता के उद्देश्य और उपदेश दोनों मिश्रित कर दिये गये हैं, जिससे गीता की व्याख्या समझने में कई स्थानों पर तो पाठक गड़बड़ में भी पड़ जाते हैं। इसीलिए यह रहस्य सर्वसाधारण के लिए इतना उपयोगी नहीं जितना कि गीता के पंडित या नवीन शैली के शास्त्रज्ञों को। हमारा अनुमान है कि श्री तिलक महाराज यदि गीता की व्याख्या को न करते और केवल गीतारहस्य ही लिखते (जैसा कि उन्होंने पंद्रह प्रकरण और सात भागों के परिशिष्ट प्रकरण में ६०० पृष्ठ के भीतर-भीतर लिखा है), तो यह रहस्य न केवल सर्व साधारण के लिए उपयोगी ही हो जाता बल्कि लेखक का अपना उद्देश्य भी पूर्ण रूप से फलीभूत हो जाता। श्री बङ्किम बाबू कृत टीका भी अति विचारयुक्त और निराली है। एक-दो स्थानों पर तो उन्होंने पूर्व भाष्यकारों के श्लोकार्थ में सूक्ष्म अथवा बारीक त्रुटियाँ भी अति विचारशील बुद्धि से युक्ति द्वारा दर्शायी हैं। परंतु सबसे निकम्मी, राग-द्वेष की प्रज्वलिताग्नि से बही हुई वा भड़की हुई, और व्यर्थ खंडन-मंडन से भरी हुई टीका लाहौर के पंडित आर्य्य मुनि की देखने में आई है। इनकी टीका से ऐसा प्रतीत होता है कि पंडितजी के चित्त में टीका लिखते समय शायद यह भाव जँचा हुआ था कि जैसे उन दिनों पंजाब प्रांत के लोग संस्कृत

और धर्मशास्त्रों से प्रायः अनभिज्ञ थे वैसे ही आगे भी रहेंगे (या अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव से शायद पहले से भी अधिक अनभिज्ञ हो जायँगे), जिससे इनका खंडन-मंडन भरा भाष्य मायावादी-घातक रूप के सिद्धांत से चल जायगा और आप स्वयं तब घातकीय गद्दी के आचार्य बन जायँगे। हमें तो यह पंडितजी आर्यसमाज के पूर्व प्रसिद्ध पंडित भीमसेन के मित्र या सम स्वभाव ही दिखाई देते हैं। जैसे उन्होंने गीता के १८ अध्यायों को मोड़-तोड़ और काटछाँट करके १३ अध्यायों में लाकर उनकी अत्यंत निकम्मी और अनर्थभरी व्याख्या करके अपने आपको कलंकित किया था, वैसे, इन्होंने भी अपनी विद्या और पांडित्य के दुरुपयोग से इस व्यर्थ खंडन-मंडनपूर्ण भाष्य द्वारा अपने आपको कलंकित कर डाला है। पर पंडित भीमसेनजी ने तो सावधान होकर व्यर्थ खंडन-मंडन के बुरे स्वभाव को त्याग कर अपने पूर्वकृत पापों से पश्चात्ताप करके अपनी वृत्ति को ठीक ओर लगा दिया, जिससे उन पर का कलंक तो धुल गया, किंतु इनका धुलना शेष रहता है। यदि इन्होंने भी व्यर्थ खींचातानी और खंडन-मंडन को अपनी टीका से शीघ्र बाहर करके अपने भाष्य को उत्तम ढंग में रच लिया, तो कलंक के शीघ्र धुल जाने की संभावना है, अथवा यह भाष्य उनको पंडित भीमसेन से भी कई गुणा अधिक कलंकित वा बदनाम किये बिना न रहेगा, और फिर उन पर से यह कलंक शायद जन्म-जन्मांतर तक भी न मिटे। काशी "प्रणवाश्रम" से प्रकाशित टीका यद्यपि नये ढंग से सविस्तर रचित है, पर पातंजल योग के प्रचार के लिए ही लिखी गई दिखाई देती है। भाषा सरल नहीं, और न आशय वा अभिप्राय ही स्पष्ट है, इसलिए टीका सर्वसाधारण के उपयोगी नहीं दीखती, केवल पातंजल योग के अभ्यासी को अधिक सहायता दे सकती है। उर्दू में सूर्यनारायण मिहर कृत टीका सरल और उत्तम है, और मधुसूदनी टीकार्थ यद्यपि सविस्तर परंतु कम सरल है। अँगरेज़ी में पंडित महादेव शास्त्री कृत तथा काशीनाथ तैलंग कृत अनुवाद वा टिप्पणियाँ उत्तम और सरल हैं। परंतु प्रोफ़ेसर रंगाचार्य कृत गीता-भाष्य अपने ढंग का नितांत निराला है। अंग्रेज़ी भाषा ऐसी मधुर

और लिखने की शैली ऐसी विचित्र, कि पुस्तक एक बार हाथ में पड़ी हुई पाठक से छूटती नहीं। व्याख्या से स्पष्ट होता है कि व्याख्याता श्री यामुनाचार्य के अनुयायी हैं, और उनके द्वैत सिद्धांत को स्पष्ट रूप से दर्शाने के लिए कालेज में उन्होंने गीता पर व्याख्यान दिये हैं, जो पीछे चलकर गीता की व्याख्या रूप से छापे गये हैं। प्रोफ़ेसर साहब की भाषा और शैली यद्यपि अत्यंत मधुर और नवीन हैं, और अपने द्वैत सिद्धांत को गीता के श्लोकों द्वारा वे ऐसे उत्तम और निराले ढंग से प्रतिपादन करते हैं कि पाठक स्वयं मुग्ध हो जाते हैं, और अन्य सब टीकाओं तथा टीकाकारों के सिद्धांतों को असत्य निश्चय करके वे प्रोफ़ेसर साहब के शीघ्र अनुयायी हो जाते हैं। परंतु सबसे बड़ा भारी अनर्थ जो इन्होंने अपनी व्याख्या में किया, वह यह है कि अपने द्वैत सिद्धांत को श्लोकों के पूर्वापर संबंध से युक्तिपूर्वक दर्शाने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं गीता के मूल श्लोकों को ही बदल डाला है। दृष्टांत रूप से अध्याय ५, श्लोक १६ का पूर्वार्द्ध गीता की सब प्रतियों में ऐसे है—"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।' जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—"परंतु जिनका वह अज्ञान अपने आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो गया है।" और प्रोफ़ेसर साहब ने अपना द्वैत सिद्धांत इससे सिद्ध होता न देखकर इसे ऐसे बदल दिया है कि "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनाम्" और फिर अर्थ ऐसे कर दिये हैं कि—"परंतु उन पुरुषों के विषय में कि जिनके आत्माओं संबंधीय यह अज्ञान ज्ञान से नाश हो गया है।" * ऐसे ही ५, २१ श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'यत्सुखम्' का 'यः सुखम्' करके श्लोक के अर्थ को नितांत बदल दिया है, इत्यादि। हमारे विचार में तो किसी पुस्तक के मूल को बदलना और फिर उससे अपने सिद्धांत का निरूपण वा प्रचार करना, इससे बढ़कर घोर पाप शायद ही कोई होगा। यदि प्रोफ़ेसर साहब इस घोर पाप को न करते और अपने निज सिद्धांतों को ताक पर रखकर केवल

---

* But in the case of those, in respect of whose souls, this ignorance has been destroyed by wisdom ; (in their case)......

पुस्तककर्त्ता के सिद्धांतों का निरूपण उसी की पुस्तक से स्पष्ट करने का यत्न करते, तो उनका भाष्य सर्वोपरि उत्तम हो जाता, और वे फिर अपनी भाषा और बुद्धि की योग्यता से न केवल अपना व्याख्याकार का धर्म ही पालन करते किंतु अपनी निराली शैली, युक्ति और भाषा से पाठकों के हृदय में भी पुस्तककर्त्ता के भाव और अभिप्राय को पूर्ण रूप से खचित करते अर्थात् जमा देते, जिससे इनका अपना और पाठकों का अर्थात् दोनों का उद्धार हो जाता।

सहायता

संस्कृत-टीकाओं में सबसे अधिक सहायता हमें शाङ्कर भाष्य, मधुसूदन स्वामी कृत टीका और आनंदगिरि स्वामी कृत टीका से मिली। हिंदी-टीकाओं में बड़ी भारी सहायता चिद्घनानंदी गूढ़ार्थदीपिका, ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका, पंडित राजाराम कृत भाष्य (विशेषतः शब्दार्थ और अन्वयार्थ में), श्रीयुत रामप्रसाद कृत भाष्य और सबसे अंत में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक कृत गीतारहस्य से मिली। उर्दू-टीकाओं में लाला सूर्यनारायण मिहर कृत भाष्य से कुछ सहायता मिली। और अंग्रेज़ी भाष्यों में केवल प्रोफ़ेसर रंगाचार्य कृत भाष्य से बहुत सहायता मिली। इस प्रकार उक्त अनेक भाष्यों के अवलोकन और सहायता से यह व्याख्या लिखी गई है। आशा है कि पाठक लोग भी लेखक के समान अपने आप को किसी एक भाष्यकार का अनुयायी न बना कर किंतु सब पूर्व भाष्यकारों से निरासक्त वा निष्पक्ष वृत्ति रखते हुए इस व्याख्या को पढ़ेंगे, जिससे यह (व्याख्या) उनकी कुछ सेवा कर सके और उन्हें कुछ लाभ भी पहुँचा सके। यदि किसी एक पूर्व भाष्यकार का अनुयायी होकर इसे पढ़ा गया, तो शायद यह भाष्य फिर वैसी सेवा कर न सके, जैसी कि पहली दशा में।

सूचना

इस व्याख्या के विषय में लेखक को यह दावा वा गर्व नहीं कि अन्य सब व्याख्याएँ झूठी हैं और यह केवल सच्ची है। अथवा अन्य व्याख्याओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिए यह व्याख्या नहीं लिखी गई है। केवल इतना कह देना ज़रूरी है कि किसी एक में आसक्ति न रखते हुए, उक्त व्याख्याओं के निष्पक्षतापूर्वक अवलोकन

ॐ

भूमिका

(दूसरे संस्करण की)

शुभ अवसर नारायण के लिए यह आनंद का मुक़ाम है कि उसे अपनी व्याख्या को संशोधन करने और फिर उस संशोधित आवृत्ति पर पुनः भूमिका लिखने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि इस आवृत्ति के संशोधन में नारायण को उतनी कठिनाइयों का सामना करना नहीं पड़ा जितनी का पहली आवृत्ति में, तथापि इस कार्य में परिश्रम और समय बहुत कम नहीं लगा।

पूर्व-वृत्तांत पहले कई-कई स्थानों पर पूर्व-वृत्तांत में कुछ विषय ऐसे सक्षिप्त रूप से वर्णित थे कि पाठक को पढ़ते समय अनेक संशय व भ्रम उठ पड़ते थे। इसलिए महाभारत के उद्योग पर्व का आद्योपांत पुनः अध्ययन करके उन विषयों को विस्तार के साथ स्पष्ट कर दिया है ताकि पाठकगण युद्ध से पहले की स्थिति वा दशा को भली भाँति जान सकें। इसलिए पूर्व-वृत्तांत का विस्तार पहले से दुगना बल्कि उससे भी कुछ अधिक हो गया है। अर्थात् पहले यह वृत्तांत केवल ४६ पृष्ठों में समाया था, अब पूरे १०० पृष्ठों में समा सका है।

व्याख्या के मूल आरंभक जैसा कि प्रथम संस्करण की भूमिका में स्पष्ट है कि मुरादाबाद के एक सज्जन जो स्वयं गीता की हिंदी में व्याख्या शांकरभाष्यानुसार कर रहे थे, उनकी प्रार्थना पर नारायण ने पहले तो उसी व्याख्या के संशोधन का कार्य-भार और फिर नये सिरे से अपनी ही लेखनी से व्याख्या को आद्योपांत लिखने का भार अपने ज़िम्मे लिया था, जो कई वर्षों में जाकर समाप्त

हुआ, और जिसके प्रकाशनार्थ उक्त सज्जन ने २०००) रुपये की नक़द सहायता भी दी थी, उस समय उन्होंने अपना नाम भूमिका में स्पष्ट करने की आज्ञा तक नहीं दी थी; आज हर्ष का मुक़ाम है कि उनसे स्वीकृति मिल गई है कि इस द्वितीय संस्करण में उनका नाम भी स्पष्ट कर दिया जाय। यह सज्जन मुरादाबाद ज़िले के बृहत् ठाकुरद्वारा नगरी के सुप्रसिद्ध रईस साहु व्रजपालशरणजी बी० ए० के लघुभ्राता साहु रघुनंदनशरणजी हैं। इनके धार्मिक चित्त, उदारवृत्ति और धार्मिक कार्यों में उत्साह का प्रभाव नारायण के चित्त पर इतना भारी पड़ा कि वह अपने पूजनीय गुरु के उपदेशों के भारी प्रकाशनकार्य में घोर प्रवृत्त होते हुए भी उनकी प्रार्थना को टाल न सका। सच पूछो तो यह सब उन्हीं के शुद्ध अंतःकरण, विशाल चित्त और उदारवृत्ति का ही प्रभाव था कि जिससे प्रभावित होकर नारायण का दिल और दिमाग़ इस ओर बहे, और इसीलिए इस व्याख्या (भगवदाशयार्थदीपिका) का मूल आरंभक महोदय उक्त सज्जन ही हुए, यद्यपि कहने वा देखने में नारायण बोला जाता है।

समालोचनाएँ व सम्मतियाँ

प्रथमावृत्ति पर जो अनेक प्रकार की समालोचनाएँ कई एक सुप्रसिद्ध पत्रों के संपादकों द्वारा निकली थीं, उनका संक्षेप तो प्रथमावृत्ति की दूसरी जिल्द में निकाला जा चुका है। पर इन समालोचनाओं के अतिरिक्त भाँति-भाँति की सम्मतियाँ भी कई एक सुप्रसिद्ध गीता-प्रेमियों से प्राप्त हुई थीं। जिन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ने के बाद जो-जो परिवर्तन व संशोधन उचित व आवश्यक भान हुआ, वह सबका सब इस नये संस्करण में कर दिया गया है। पर इन सम्भति दाताओं को धन्यवाद देते हुए नारायण उनसे इतना निवेदन कर देना उचित और आवश्यक समझता है कि जो सज्जन अपनी सम्मति व संशोधन के अनुसार परिवर्तन इस संस्करण में यदि न देखें तो इससे वह यह परिणाम न निकालें कि उनकी सम्मति पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया, या उनकी सम्मति की अवहेलना कर दी गई है, बल्कि कृपया यह निश्चय करें कि नारायण को वह युक्त व आवश्यक भान नहीं हुई है। यदि इस संशोधित संस्करण के अवलोकन के

भी भय-निवारक। ४१ व्यवसायात्मिक बुद्धि की स्थिरता। ४२—४४ कर्मकांड के अनुयायी मीमांसकों की अस्थिर बुद्धि का स्पष्टीकरण ४५—४७ द्वंद्व-रहित और सात्त्विक बुद्धि से कर्म करने के विषय उपदेश। ४८—५० कर्मयोग को आचरण में लाने की विधि, महिमा और फल तथा अन्य कर्म की अपेक्षा उस (कर्मयोग) के आचरण की श्रेष्ठता। ५४—७० अर्जुन के पूछने पर स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण, और उसी में प्रसंगानुसार विषयासक्ति से काम आदि की उत्पत्ति का क्रम। ७१—७२ स्थितप्रज्ञ पुरुष की अंतिम स्थिति का नाम ब्राह्मी स्थिति और उसकी स्तुति।

तीसरा अध्याय—कर्मयोग (३३३-४५०)

१—२ ज्ञान और कर्म में कौन श्रेष्ठ है, इस विषय में अर्जुन का प्रश्न। ३—८ यद्यपि सांख्य (कर्मसंन्यास) और योग (कर्मयोग) दो निष्ठाएँ हैं, तथापि कर्म किसी से नहीं छूटते और न कर्म के विना सिद्धि ही प्राप्त होती है, इस प्रकार कर्मयोग की आवश्यकता और श्रेष्ठता सिद्ध करके अर्जुन को इसी में लगने का उपदेश। ९—१६ मीमांसकों के यज्ञार्थ कर्म यद्यपि लोक में बाँधनेवाले माने जाते हैं तथापि उनको भी आसक्ति छोड़कर करने का उपदेश, यज्ञ-चक्र का अनादित्व और जगत् के धारणार्थ उसकी आवश्यकता और उसके अनुसार न करने का बुरा परिणाम। १७—१८ ज्ञानी पुरुष में स्वार्थ का अभाव होने से उसके लिए कोई कार्य (कर्तव्यरूप से अवश्य कर्म करना) नहीं रहता। १९ फल में आसक्ति को त्यागकर कर्म करने की अर्जुन को प्रेरणा। २०—२४ जनक आदि का उदाहरण, लोक-संग्रह का महत्त्व और स्वयं भगवान् का अपने दृष्टांत से कर्म में प्रवृत्त होने की आवश्यकता दर्शाना व उपदेश करना। २५—२९ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों का भीतरी भेद, एवं ज्ञानी मनुष्य का स्वयं निष्काम कर्म करके अज्ञानी को सदाचरण का आदर्श दिखलाना। ३० ज्ञानी के समान ईश्वरार्पण-बुद्धि से युद्ध करने का अर्जुन को उपदेश। ३१—३२ भगवान् के इस उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक चलने अथवा न चलने का फल। ३३—३४ प्रकृति की प्रबलता और इंद्रियनिग्रह। ३५ निज धर्म कल्याणकारी होता है और उसमें यदि मृत्यु हो जाय तो वह भी श्रेयस्कर होती

है। ३६—४१ इच्छा-विरुद्ध पाप में प्रवृत्त काम और क्रोध कराता है अतएव उन दोनों के वश में न आने का उपदेश व विधि। ४२—४३ इंद्रियों से भी अधिक काम की प्रबलता और आत्मज्ञान द्वारा उस पर विजय पाने का उपदेश।

चौथा अध्याय—ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग (४५१-५७४)

१—३ कर्मयोग की परंपरा और भगवान् का अपने को उसका प्रवर्त्तक दर्शाना। ४—८ अर्जुन के प्रश्न पर भगवान् के अपने दिव्य जन्म (अवतार) और कर्म का सहित हेतु के वर्णन। ९—१० इस दिव्य जन्म-कर्म के जानने का फल। ११ भक्त वा उपासक के अभिप्रायानुसार भगवद्भक्ति वा भगवत्-उपासना का फल। १२ कर्म-जन्य सिद्धि का कथन। १३—१५ भगवान् का गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य आदि रचकर निर्लिप्त रहना और इस निर्लिप्तता के ज्ञान से कर्म-बंधन का नाश और वैसी ही निर्लिप्तता से कर्म करने का उपदेश। १६—२३ कर्म, अकर्म और विकर्म का तत्त्व और भेद; निःसंग कर्म ही अकर्म है और उसी से कर्म-बंधन का नाश होता है। २४—३३ अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन, और ब्रह्म-बुद्धि से किये हुए यज्ञ की अर्थात् ज्ञान-यज्ञ की श्रेष्ठता। ३४—३८ ज्ञानवान् से ज्ञानोपदेश, ज्ञान से आत्मौपम्य दृष्टि और पाप-पुण्य का नाश। ३९—४० ज्ञान-प्राप्ति के उपाय और फल; और उन उपायों के अभाव में मनुष्य का अपना नाश। ४१—४२ कर्मयोग और ज्ञानयोगरूपी उपायों की ठीक अनुष्ठान-विधि बतला कर दोनों के आश्रय से युद्ध करने का अर्जुन को उपदेश।

पाँचवाँ अध्याय—संन्यासयोग (५७५-६७८)

१—२ कर्मयोग वा कर्म-संन्यास की परस्पर श्रेष्ठता-विषय अर्जुन का प्रश्न, और उस पर भगवान् का दोनों को मोक्षप्रद दर्शाना, परंतु कर्मयोग को अधिक श्रेष्ठ जतलाना। ३ भगवान् के मतानुसार संन्यासी का लक्षण। ४—५ सांख्य और योग के फल की एकता। ६ विना कर्मयोग के संन्यास का पाना कठिन। ७—१० कौन महात्मा कर्म करते हुए भी कर्म से निर्लिप्त रहता है। ११ कर्म का मुख्य उद्देश्य आत्मशुद्धि। १२—१३ युक्त और अयुक्त पुरुष के कर्म और फल में परस्पर भेद। १४—१५ वास्तव में

कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो प्रकृति का है, परंतु अज्ञान से आत्मा वा परमेश्वर का समझा जाता है । १६–१७ आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश और पुनर्जन्म से छुटकारा । १८–२६ ज्ञानवान् की समदर्शिता, स्थिरबुद्धि वा ब्रह्म में स्थिति, बाह्य सुख-दुःख में निरासक्ति, पूर्ण समर्थता, और ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति का वर्णन । २७–२९ संक्षेप से (उक्त ज्ञानप्राप्ति का साधनरूप) ध्यानयोग और उसके फल का निरूपण ।

छठा अध्याय—ध्यानयोग (६७९–८३२)

१–२ संन्यास और योग की भीतर से अभेदता । ३ 'कर्म' ध्यानयोग का साधन और 'शम' ध्यानयोगी का साधन । ४ योगारूढ का लक्षण । ५–६ अपना उद्धार अपने हाथ है । ७–९ जितात्मा की स्थिति और उनमें भी समबुद्धि व जितात्मा की श्रेष्ठता । १०–१७ ध्यान-योग के आवश्यक नियमों (आसन और आहार-विहार आदि) का सविस्तर वर्णन । १८–२३ युक्त का लक्षण और योग-समाधि के अत्यंतिक सुख का वर्णन । २४–३१ मन को शांत और आत्मस्वरूप में स्थित करने की विधि का वर्णन, और फल । ३२ ध्यानयोगी की सर्वत्र आत्मौपम्य बुद्धि अथवा ध्यानयोगियों में भी परमयोगी के लक्षण । ३३–३६ अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में चंचल मन के निग्रह का उपाय, अभ्यास और वैराग्य, ऐसा भगवान् का उत्तर । ३७–४५ अर्जुन के प्रश्न पर इस विषय का वर्णन कि योगभ्रष्ट वा योग का जिज्ञासु भी जन्म-जन्मांतर में उत्तम गति पाते-पाते अंत में परमगति अर्थात् पूर्ण सिद्धि को प्राप्त हो जाता है । ४६–४७ तपस्वी, ज्ञानी और निरे कर्मियों की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ और इन योगियों में भी मद्भक्त वा ध्यानारूढ परम युक्त वा समाधिस्थ होता है, अतएव अर्जुन को इस अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश ।

ॐ

संक्षिप्त पूर्व-वृत्तांत

जिस महाभारत के (भीष्मपर्व के) अंतर्गत भगवद्गीता का सविस्तर वर्णन है, उसी महाभारत के आदिपर्व के प्रथम अध्याय में सब वेदों के ज्ञाता व धर्मतत्त्व के पंडित व्यासदेव के शिष्य वैशंपायन ने जनमेजय के सर्पयज्ञ में एक लाख श्लोकों की भारत-संहिता को सुनाते समय दुर्योधन आदि को अलंकाररूप से ऐसे दर्शाया है—"क्रोधरूपी दुर्योधन ही एक बड़ा भारी वृक्ष है, उसका तना कर्ण है, डालियाँ शकुनि है, दुःशासन उसका फूल और फल है, बुद्धिहीन धृतराष्ट्र उसकी जड़ है। वैसे ही धर्म का रूप राजा युधिष्ठिर एक बड़ा भारी वृक्ष है, उसका तना अर्जुन है, डालियाँ भीमसेन है और नकुल-सहदेव फूल-फल हैं। कृष्ण, वेद और वेद के ज्ञाता ब्राह्मण इसकी जड़ हैं।" इसी लिए प्रसिद्ध उक्ति है कि "धर्मात्मा युधिष्ठिर का नाम लेने से धर्म बढ़ता है, भीमसेन का नाम लेने से पाप दूर होता है, अर्जुन का नाम लेने से बल बढ़ता है और नकुल-सहदेव का नाम लेने से सब रोगों की बाधा मिट जाती है।"

इतना तो अलंकाररूप से वर्णन पांडु व धृतराष्ट्र के पुत्रों के संबंध में महाभारत के आदि में पाया जाता है; और उनकी जो उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि व नाश आदि का सविस्तर वर्णन महाभारत

के अनेक अध्यायों में पाया जाता है, उसका संक्षिप्त वृत्तांत इस प्रकार है—

जिस महाप्रतापी राजा भरत के नाम से यह देश भारतवर्ष प्रसिद्ध है, उसके कुल के आदिपुरुष का नाम राजा ययाति था। राजा ययाति के जेठे पुत्र का नाम यदु था। पिता ययाति किसी कारण से यदु से अप्रसन्न हो गये थे, इसलिए पिता ने उसे राज्य का अधिकारी न बनाया और शाप देकर उसकी संतान को क्षत्रियों के कुल से पतित कर दिया। यह सब होने पर भी यदु के वंश ने बड़ा नाम पाया। इसी यादववंश में भोज, वृष्णि, अंधक आदि वीरों ने जन्म लेकर अपने-अपने नाम की महिमा बढ़ाई। अंत में इसी वंश में परम पूजनीय और अतुल पराक्रमी श्रीभगवान् कृष्णचंद्रजी ने जन्म लिया, जिससे इस वंश की कीर्ति और महिमा पहले से भी कई गुणा अधिक हो गई।

ययाति के छोटे पुत्र का नाम पुरु था जो उन्हें नित्य प्रसन्न रखता था, इसलिए पिता से राजसिंहासन इसी को मिला। इसी पुरु-वंश में राजा भरत उत्पन्न हुए, जिनके कारण इस वंश का इतना नाम हुआ कि उसका कभी लोप नहीं हो सकता। आगे चलकर महाबलवान् राजा कुरु इसी वंश में हुए कि जिनके नाम से इस वंश का नाम कौरव हुआ। द्वापर युग के अंत में कुरु-वंश के शिरोमणि महात्मा शांतनु का जन्म हुआ। शांतनु के पिता का नाम राजा प्रतीप था, जिसने अपने जीते जी ही शांतनु को राजसिंहासन पर बिठाया और अनेक प्रकार के अच्छे-अच्छे उपदेश देकर आप राजपाट छोड़ वन में चला गया।

राजा शांतनु को शिकार खेलना बहुत पसंद था। एक समय राजा शांतनु को शिकार से वापस लौटने पर मार्ग में गंगा-किनारे एक अत्यंत रूपवती स्त्री खड़ी मिली, जिस पर वे मोहित हो गये,

और इस प्रतिज्ञा से उसके साथ विवाह कर लिया कि "यदि मैं किसी भी कार्य में उसे रोकूँ या उसका तिरस्कार करूँ, तो वह मुझे तत्काल छोड़ कर चली जाय।" उस स्त्री ने अपना नाम आगे चलकर महर्षि जह्नु की कन्या 'गंगा' बताया। इस गंगा रानी से आठ पुत्र उत्पन्न हुए, परंतु सात को तो रानी ने जन्मते ही गंगा-प्रवाह में बहा दिया, और आठवें को जब वैसे ही बहाने लगी, तो पुत्र-शोक से अत्यंत पीड़ित राजा शांतनु उसे रोककर ऐसे बोले— "हे पुत्रघातिनी! तुम कौन हो? क्यों ऐसा बुरा काम करती हो? ऐसी निठुरता करना उचित नहीं। इस बालक को मैं गंगा में फेंकने नहीं दूँगा।" इस पर उस रमणी (गंगा) ने उत्तर दिया— "हे पुत्र की इच्छा रखनेवाले राजा! मैं आपके कहने से इस पुत्र का नाश तो न करूँगी, परंतु आपकी प्रतिज्ञा के अनुसार अब आपके पास नहीं रह सकती, मैं आपसे इसी समय अब अलग होती हूँ, और इस आठवें पुत्र का मैं आप ही लालन-पालन करके इसे वापस कर दूँगी।" इस प्रकार 'गंगा' रानी के चले जाने से राजा को अति दुःख हुआ, परंतु पुत्र के प्राण बचने से उसके वापस मिलने पर उसे संतोष प्राप्त हो गया। इस पुत्र का नाम उसकी माता ने देवव्रत रक्खा था उसी नाम से वह पहले बोला जाता था। पुत्र के वापस मिलने पर राजा ने उसे राजधानी में लाकर अपना युवराज बनाया। इसके अनंतर एक दिन राजा शांतनु यमुना नदी के तीर पर घूम रहे थे कि उन्हें सत्यवती नाम की एक धीवर-कन्या को देखने का समागम प्राप्त हुआ। उसके अद्भुत रूप और लावण्य ने राजा को इतना मुग्ध कर दिया कि तुरंत उन्होंने उसके पिता के पास जाकर उसके साथ विवाह करने की अपनी प्रबल इच्छा प्रकट की। धीवर ने कहा— "यदि आप सत्यवती से होनेवाले पुत्र को ही राज्य का

अधिकारी और युवराज बनाने की प्रतिज्ञा करें, तो मैं राज़ी हूँ।" सत्यवती पर राजा अत्यंत आसक्त हो चुके थे, परंतु वे इस भारी प्रतिज्ञा को सुनकर शोकातुर हो राजधानी लौट आये, क्योंकि अपने प्रियपुत्र देवव्रत के अधिकार पर पानी फेरने को उनका चित्त कभी उद्यत नहीं होता था। पिता की यह (शोकातुर) दशा देखकर देवव्रत को भारी चिंता हुई। अंत में उससे रहा न गया। उसने पिता से उनके इस शोक और दुःख का कारण पूछा। पर राजा ने टालमटोल की बातें कहकर असली बात छिपा रक्खी। तब एक वृद्धमंत्री से उसे सब पता लग गया। देवव्रत तुरंत उस धीवर के पास गया और उससे सब वृत्तांत सुनकर बोला—"मैं राजपाट नहीं करूँगा, तुम्हारी कन्या सत्यवती से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही इस राज्य का स्वामी होगा, उसी को यह राज्य मिलेगा, इसलिए तुम डरो नहीं, बल्कि अपनी कन्या शीघ्र मेरे पिता से विवाह दो।" तब धीवर ने कहा—"आप तो अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं, और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप अब कभी भी राजसिंहासन पर नहीं बैठेंगे। पर आपके पीछे आपका कोई वंशज आपकी प्रतिज्ञा को न माने और उसके विपरीत काम करे, तो उसका क्या उपाय होगा?" तिस पर देवव्रत ने पिता के सुख को सर्वोपरि समझ, वहाँ पर जितने क्षत्रिय उपस्थित थे उन सबको सुनाकर, धीवर के आगे ये वचन कहे—"मैं कभी विवाह ही नहीं करूँगा, बल्कि आज से मरण पर्यंत ब्रह्मचारी बना रहूँगा, इससे सत्यवती के पुत्र को राज्याधिकार से हटाये जाने का कुछ भी डर नहीं रहेगा, और उसे राज्य प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।" ऐसे वचन सुनकर धीवर ने सत्यवती को राजा शांतनु से विवाह देना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया, और सत्यवती को देवव्रत के सिपुर्द कर दिया,

जिससे वह उसे अपने पिता के पास ले आया, और पिता का दुःख दूर करके कृतार्थ हुआ। पिता ने प्रसन्न होकर उसे "इच्छा-मृत्यु" का वर दिया। इस प्रकार देवव्रत ने जब अपने स्वार्थ पर पानी डाल जन्म भर अविवाहित रहने की भीष्म प्रतिज्ञा की, तो आकाश से देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की, और "भीष्मोऽयं" यह आकाश-वाणी भी हुई। तब से इस भीष्म प्रण के कारण लोग देवव्रत को भीष्म कहने लगे, और तभी से उसका नाम भीष्म प्रसिद्ध हुआ।

सत्यवती के दो पुत्र (चित्रांगद और विचित्रवीर्य) हुए। इसके कुछ ही काल पीछे राजा शांतनु का देहांत हो गया। तब माता की सलाह से भीष्म ने चित्रांगद को राजसिंहासन पर बिठाया। परंतु राजा होने के थोड़े ही दिन पीछे चित्रांगद का एक गंधर्व के साथ कुरुक्षेत्र में युद्ध हुआ, जिसके हाथ से वह अंत में मारा गया। तब चित्रांगद के छोटे भ्राता विचित्रवीर्य को भीष्म ने राजसिंहासन पर बिठाया। भीष्म की सहायता और उपदेश से बालक विचित्रवीर्यजी राज-काज चलाने लगे। जब विचित्रवीर्य बड़े हुए, तब काशी राजा की अंबिका और अंबालिका नाम्नी कन्याओं से इनका विवाह हुआ। परंतु सात ही वर्ष स्त्री और राज्य का सुख भोग कर विचित्रवीर्यजी क्षयी के रोग से परलोक सिधारे। तब सत्यवती शोक से बहुत व्याकुल हुई और अब भीष्म के अतिरिक्त कोई और सहारा राज्य का न देख भीष्म से ऐसा कहने लगी—"देखो, मेरे दोनों पुत्र विना संतान के ही परलोक सिधारे हैं, अब कुल की संतान-वृद्धि और राज का हित केवल तुम्हारे पर निर्भर है, इसलिए नियोग द्वारा तुम इन कन्याओं से संतान उत्पन्न करो, अथवा स्वयं राज्याधिकारी होकर विवाह से भारत-कुल की रक्षा करो।"

परंतु भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा भंग न की और सत्यवती से ऐसे कहा—"हे सत्यवती ! सत्य और धर्म को इस प्रकार त्याग न दो । पाँच महाभूत भी चाहे अपने गंध, स्पर्श, रूप, रस आदि गुणों को छोड़ दें, सूर्य चाहे अपने तेज को और चंद्र चाहे अपनी शीतलता को छोड़ दें, पर मैं कदापि अपने सत्य व्रत से विचलित नहीं हूँगा । और—

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथं च न ॥

साक्षात् त्रैलोक्य के राज्य को वा देवताओं के आधिपत्य को अथवा इनसे भी बढ़कर कुछ हो तो उन सबको छोड़ना स्वीकार है, पर सत्य को (छोड़ना) कदापि (स्वीकार) नहीं ।" अंत में सत्यवती ने भीष्म से ऐसे कहा—"हे पुत्र ! तुमसे एक बात मैंने आज तक छिपा रक्खी थी, उसे आज कहती हूँ, सुनो । तुम्हारे पिता के साथ मेरा विवाह होने से पहले मैं यमुना में अपने पिता की नाव चलाया करती थी, और पिता की आज्ञानुसार विना उतराई लिये ही मुसाफ़िरों को पार उतारा करती थी । एक दिन मैंने महर्षि पराशर को इसी प्रकार (विना उतराई लिये) पार उतारा । उन्होंने मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे एक पुत्र दिया । उस समय मेरे बदन से मछली की दुर्गंध आती थी । उसे दूर करके यह अत्यंत मनोहर सुगंध उन्हीं की दी हुई है । महर्षि का दिया हुआ पुत्र यमुना के द्वीप (टापू) में मुझसे उत्पन्न हुआ । इस कारण उसका एक नाम द्वैपायन भी पड़ गया । तुम्हारे इसी महा-बुद्धिमान् और महा-पंडित भाई ने चारों वेदों के अलग अलग विभाग किये, इसी से उसका दूसरा नाम वेदव्यास हुआ । मुझसे विदा होते समय उसने कहा था—'हे माता ! यदि कभी तुम्हें कोई संकट पड़े, तो तुम मेरा स्मरण करना ।' अब

इस विपद् के समय हमें उसका स्मरण करना चाहिए।" ऐसे कहने के बाद भीष्म की प्रार्थना पर सत्यवती ने वेदव्यास का स्मरण किया, और वे उसी क्षण माता के सामने आ खड़े हुए। माता की विपद् की सारी कथा सुनकर परलोक पधारे विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों को पुत्र देने के लिए उद्यत हो गये। द्वैपायन का रूप भयानक और कुछ काला था, इससे जब जेठी बहू अंबिका उनके पास गई, तो वह उन्हें देखते ही घबरा गई, और मारे डर के उसने अपनी आँखें मूँद लीं। इसलिए उससे एक अंधा पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम धृतराष्ट्र पड़ा। इसके अनंतर छोटी बहू अंबालिका को उनकी सेवा के लिए भेजा। परंतु वह भी उनको देखते ही डर गई, और कुछ काल के लिए उसका मुँह पीला पड़ गया। इसलिए उससे एक पुत्र पीलापन लिये हुए उत्पन्न हुआ। उसके रंग के अनुसार उसका नाम पांडु पड़ा।

दो में से एक भी पुत्र सर्वांग-सुंदर हुआ न देख सत्यवती को संतोष न हुआ। उसने फिर जेठी बहू को व्यासजी की सेवा के लिए भेजना चाहा, पर वह न मानी; क्योंकि उनके रूप से उसका जी बहुत डरता था। फिर सत्यवती ने एक दासी को अपने कपड़े और भूषण पहनाकर उनके पास भेजा। दासी ने व्यासदेव की भली प्रकार सेवा की। इसलिए इससे एक सुंदर और सब अंगों से पूर्ण पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम विदुर पड़ा, और जो व्यासदेव के कथनानुसार बड़ा बुद्धिमान् और धार्मिक हुआ। धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का सगे भाइयों के समान एक ही साथ लालन-पालन होने लगा और वे सब एक ही साथ राजभवन में रहने लगे।

भीष्मजी ने इन तीनों राजकुमारों को पितावत् प्रेम से पाला-

परंतु भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा भंग न की और सत्यवती से ऐसे कहा—"हे सत्यवती ! सत्य और धर्म को इस प्रकार त्याग न दो। पाँच महाभूत भी चाहे अपने गंध, स्पर्श, रूप, रस आदि गुणों को छोड़ दें, सूर्य चाहे अपने तेज को और चंद्र चाहे अपनी शीतलता को छोड़ दें, पर मैं कदापि अपने सत्य व्रत से विचलित नहीं हूँगा। और—

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथं च न॥

साक्षात् त्रैलोक्य के राज्य को वा देवताओं के आधिपत्य को अथवा इनसे भी बढ़कर कुछ हो तो उन सबको छोड़ना स्वीकार है, पर सत्य को (छोड़ना) कदापि (स्वीकार) नहीं।" अंत में सत्यवती ने भीष्म से ऐसे कहा—"हे पुत्र ! तुमसे एक बात मैंने आज तक छिपा रक्खी थी, उसे आज कहती हूँ, सुनो। तुम्हारे पिता के साथ मेरा विवाह होने से पहले मैं यमुना में अपने पिता की नाव चलाया करती थी, और पिता की आज्ञानुसार विना उतराई लिये ही मुसाफ़िरों को पार उतारा करती थी। एक दिन मैंने महर्षि पराशर को इसी प्रकार (विना उतराई लिये) पार उतारा। उन्होंने मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे एक पुत्र दिया। उस समय मेरे बदन से मछली की दुर्गंध आती थी। उसे दूर करके यह अत्यंत मनोहर सुगंध उन्हीं की दी हुई है। महर्षि का दिया हुआ पुत्र यमुना के द्वीप (टापू) में मुझसे उत्पन्न हुआ। इस कारण उसका एक नाम द्वैपायन भी पड़ गया। तुम्हारे इसी महा-बुद्धिमान् और महा-पंडित भाई ने चारों वेदों के अलग अलग विभाग किये, इसी से उसका दूसरा नाम वेदव्यास हुआ। मुझसे विदा होते समय उसने कहा था—'हे माता ! यदि कभी तुम्हें कोई संकट पड़े, तो तुम मेरा स्मरण करना।' अब

इस विपद् के समय हमें उसका स्मरण करना चाहिए।" ऐसे कहने के बाद भीष्म की प्रार्थना पर सत्यवती ने वेदव्यास का स्मरण किया, और वे उसी क्षण माता के सामने आ खड़े हुए। माता की विपद् की सारी कथा सुनकर परलोक पधारे विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों को पुत्र देने के लिए उद्यत हो गये। द्वैपायन का रूप भयानक और कुछ काला था, इससे जब जेठी बहू अंबिका उनके पास गई, तो वह उन्हें देखते ही घबरा गई, और मारे डर के उसने अपनी आँखें मूँद लीं। इसलिए उससे एक अंधा पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम धृतराष्ट्र पड़ा। इसके अनंतर छोटी बहू अंबालिका को उनकी सेवा के लिए भेजा। परंतु वह भी उनको देखते ही डर गई, और कुछ काल के लिए उसका मुँह पीला पड़ गया। इसलिए उससे एक पुत्र पीलापन लिये हुए उत्पन्न हुआ। उसके रंग के अनुसार उसका नाम पांडु पड़ा।

दो में से एक भी पुत्र सर्वांग-सुंदर हुआ न देख सत्यवती को संतोष न हुआ। उसने फिर जेठी बहू को व्यासजी की सेवा के लिए भेजना चाहा, पर वह न मानी; क्योंकि उनके रूप से उसका जी बहुत डरता था। फिर सत्यवती ने एक दासी को अपने कपड़े और भूषण पहनाकर उनके पास भेजा। दासी ने व्यासदेव की भली प्रकार सेवा की। इसलिए इससे एक सुंदर और सब अंगों से पूर्ण पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम विदुर पड़ा, और जो व्यासदेव के कथनानुसार बड़ा बुद्धिमान् और धार्मिक हुआ। धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का सगे भाइयों के समान एक ही साथ लालन-पालन होने लगा और वे सब एक ही साथ राजभवन में रहने लगे।

भीष्मजी ने इन तीनों राजकुमारों को पितावत् प्रेम से पाला-

पोसा, और क्रम-क्रम से उन तीनों के जातकर्म आदि संस्कार किये। युवा होने पर धनुर्वेद अर्थात् अस्त्र-शस्त्रविद्या और राजनीति, इतिहास, पुराण, वेद, वेदांगादि सब शास्त्रों में वे प्रवीण हो गये। धनुर्विद्या में पांडु बड़े नामी हुए। बल में धृतराष्ट्र का नंबर ऊँचा रहा। राजनीति और धर्म की बातों में विदुरजी के समान कोई दूसरा न था। जो कुरुवंश नष्ट होने को था, अब उसमें ऐसे-ऐसे योग्य कुमार उत्पन्न होने से पुनः उसकी आशा-लता लहलहाने लगी। यह देख सबको परमानंद हुआ।

तीनों बालक जब बड़े हुए, तब भीष्मजी ने उन्हें राज्य सौंप देना चाहा। धृतराष्ट्रजी अंधे थे और विदुर दासी-पुत्र थे, इसलिए उन्हें अयोग्य जानकर राजसिंहासन पर भीष्मजी ने पांडु को बिठाया।

गंधार देश के राजा सुबल की कन्या गांधारी से धृतराष्ट्रजी का विवाह हुआ। गांधारी ने विवाह से पूर्व ही जब सुन लिया था कि मेरा विवाह एक अंधे राजकुमार के साथ होनेवाला है, तभी से उसने यह प्रण कर लिया कि मैं कभी अपने पति से अधिक अच्छी दशा में न रहूँगी, इसलिए उसी क्षण से उसने अपनी दोनों आँखों पर पट्टी बाँध ली। अर्थात् वह भी धृतराष्ट्र के समान अंधी बन गई, और देह छोड़ने तक वैसी ही अंधी बनी रही। पांडु राजा के दो विवाह हुए। एक तो यदुवंशी राजा शूरसेन की पुत्री पृथा के साथ, जिसका नाम अपने मुँहबोले पिता भोजराजकुंति के घर में पाले जाने के कारण कुंती भी पड़ गया था, और दूसरा मद्रदेश की राजकन्या माद्री के साथ। कुंती तो स्वयंवर में और माद्री दिग्विजय से प्राप्त हुई। राजा देवक की परम सुंदरी कन्या पारशवी के साथ विदुरजी का विवाह हुआ।

कुंती को अपनी बाल्यावस्था में अपने पिता कुंतिभोज के घर तेजस्वी दुर्वासा ऋषि की सेवा और शुश्रूषा करके उनसे

एक महामंत्र मिला था, जिसका फल यह था कि जिस समय वह इस मंत्र को उच्चारण करके किसी देवता का स्मरण करेगी, उसी समय वह देवता उपस्थित होकर उसे एक पुत्र देगा। इस मंत्र को कुंती ने अपनी अविवाहित अवस्था में ही आज़मायश की रीति से उच्चारण करके सूर्यदेव का स्मरण किया, जिससे उसके एक कवच और कुंडल धारण किये हुए पुत्र हुआ, जिसको उसने उत्पन्न होते ही नदी में फेंक दिया, जिसे देखते ही कुरुराज के सारथि अधिरथ ने नदी से निकालकर पाला-पोसा, और उसका नाम वसुसेन रक्खा, जो पीछे कर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

राजा पांडु को शिकार का बहुत शौक़ था, इससे अनुचरों सहित वे वन में ही मुनियों के बीच रहने लगे। एक दिन उन्हें वन में मृग का एक जोड़ा देख पड़ा, जो सुख से रमण कर रहा था। राजा ने मृग के ऊपर बाण चलाया, उससे वह मृग मर गया। मरते समय मृग ने राजा को शाप दिया कि "देख, तुमने, ऐ राजा! मुझे संभोग के समय मारा है, इससे तुम यदि स्त्री से सहवास करोगे तो मर जाओगे।" वास्तव में वह मृग एक ऋषि था। मृगी उस ऋषि की पत्नी थी।

इस शाप से अति पीड़ित होकर राजा पांडु, अपनी रानियों सहित वन में तपस्या के लिए पधारे। पर संतानहीन होने से पांडु अति दुःखी थे। और न शाप के भय से संतान निमित्त स्त्री से संभोग कर सकते थे। अपने पति को अत्यंत दुःखी देखकर कुंती ने उन्हें एकांत में ले जाकर अपने उस मंत्र की सारी कथा कह सुनाई कि जो उसे अपनी कुँवारी अवस्था में दुर्वासा ऋषि से संतान निमित्त मिला हुआ था। और फिर उनसे प्रार्थना की कि हे नाथ! इस समय इस मंत्र से सहायता लेनी चाहिए। आप आज्ञा दीजिए किस देवता को बुलाकर मैं संतान के लिए प्रार्थना

करूँ। तब राजा की आज्ञा से कुंती ने सबसे पहले धर्मराज देवता का स्मरण करके मंत्र का उच्चारण किया, जिससे कुंती को एक पुत्र मिला, जिसका नाम युधिष्ठिर हुआ। फिर कुछ काल बाद स्वामी की आज्ञा से उसने वायु देवता का स्मरण करके मंत्रोच्चारण किया। इसके प्रसाद से कुंती को दूसरा पुत्र मिला, जिसका नाम भीमसेन रक्खा गया। इसी प्रकार फिर कुछ काल पश्चात् उसने अपने स्वामी की आज्ञा से इंद्र देवता का स्मरण करके मंत्रोच्चारण किया। इंद्र की कृपा से पांडु के महाप्रतापी व सब गुणों से संपन्न एक पुत्र हुआ, जिसका नाम अर्जुन रक्खा गया। इसके बाद अपने उदर से और संतान पाने निमित्त उक्त मंत्र का प्रयोग करने के लिए कुंती राज़ी न हुई। पर अपने स्वामी की आज्ञा से अपनी सौत माद्री के लिए मंत्र का प्रयोग करने को तैयार हो गई। कुंती के मंत्रोच्चारण पर माद्री ने एक ही समय दोनों अश्विनीकुमारों का स्मरण किया। इन देवताओं की कृपा से माद्री के एक ही साथ परम रूपवान् दो पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम नकुल और दूसरे का सहदेव रक्खा गया। इस प्रकार धर्मराज से युधिष्ठिर, वायु से भीमसेन, इंद्र से अर्जुन और दोनों अश्विनीकुमारों से नकुल और सहदेव, ये पाँच पुत्र पांडु राजा के हुए। एक दिन माद्री से सहवास करने पर उक्त शाप के प्रभाव से पांडु की मृत्यु हो गई। और माद्री ने भी अपने पति के मृतक शरीर के साथ लिपटकर प्राण त्याग दिये।

राजा पांडु के वन चले जाने पर राज्य का काम-काज धृतराष्ट्रजी चलाते रहे। इसी काल में वेदव्यासजी भूख-प्यास से व्याकुल होकर राजा धृतराष्ट्र के यहाँ आये। गांधारी ने उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसकी इच्छानुसार उसे यह वर दिया कि "तेरे १०० पुत्र होंगे।" इस वर के पश्चात् गांधारी

गर्भवती हो गई। इसी बीच में पांडु के जेठे पुत्र युधिष्ठिर के जन्म लेने का समाचार हस्तिनापुर में पहुँचा, जिसको सुनकर गांधारी को अति दुःख हुआ; क्योंकि जेठा होने से अब राज्य का अधिकारी कुंतीपुत्र होगा। क्रोध में आकर गांधारी ने अपने पेट पर ज़ोर से एक घूँसा मारा, जिससे उसका गर्भ समय पूरा होने से पहले ही गिर पड़ा। उस समय गर्भजात संतान के सब अंग होने न पाये थे। गर्भ मांस का एक पिंडमात्र था। गांधारी को अपने इस कुकर्म पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ, और वह शोकातुर हुई बैठी थी कि वेदव्यासजी आ उपस्थित हुए। गांधारी के विलाप को सुनकर वेदव्यास ने उसे धीरज दिया और कहा कि मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता। ऐसा कहकर घी से भरे हुए १०० घड़े मँगवाये और उस मांस-पिंड पर जल छिड़ककर उसके उन्होंने १०० टुकड़े किये। फिर एक-एक टुकड़े को एक-एक घड़े में डाला। सब घड़ों में एक-एक टुकड़ा डालने पर पता लगा कि भूल से उस मांस-पिंड के एक सौ नहीं बल्कि एक सौ एक टुकड़े हो गये थे, इसलिए एक टुकड़ा बच रहा। उसे देखकर गांधारी के मन में एक कन्या प्राप्त करने की इच्छा हुई। यह बात मालूम होने पर वेदव्यासजी ने एक घड़ा और मँगवाया और उस बचे हुए टुकड़े को उसमें डालकर बोले—"इन घड़ों को किसी अच्छी जगह रख दो। दो वर्ष पीछे इन्हें खोलना। इनसे तुम्हें सौ पुत्र और एक कन्या होगी।" इस प्रकार नियत समय पर घड़ों के खोलने से दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण आदि सौ पुत्र और दुःशला नाम की एक कन्या धृतराष्ट्र की (गांधारी से) हुई। जिस समय गांधारी के गर्भ था, उस समय एक वैश्य-कन्या धृतराष्ट्र की सेवा करती थी। उससे भी एक पुत्र हुआ। उसका नाम युयुत्सु पड़ा। इस तरह धृतराष्ट्र के एक सौ एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।

राजा पांडु व उनकी पत्नी माद्री के एक ही साथ परलोक सिधारने पर उस वन के ऋषि व मुनि, जिनके आश्रम में ये इतने काल रहे थे, सबके सब राजा पांडु के पाँचो पुत्रों, कुंती स्त्री और इन दोनों के मृतक देहों को लेकर हस्तिनापुर पहुँचे। और उन्होंने राजा पांडु के वनवास, उनके पुत्रों के जन्म तथा पांडु व माद्री की मृत्यु की कथा क्रम से भीष्मजी को सुनाई, और तत्पश्चात् इन सबको भीष्मजी के सिपुर्द करके वे अपने-अपने आश्रम वापस लौट आये।

बालक पांडवों को देखकर कुरुवंशी लोग और प्रतिष्ठित पुरवासी ब्राह्मण आदि आनंद-कोलाहल करने लगे। उनमें से किसी ने कहा—ये राजा पांडु के पुत्र नहीं हैं। किसी ने कहा—नहीं, ये उन्हीं के पुत्र हैं। किसी ने कहा—पांडु को मरे जब बहुत दिन हो गये, तब ये उनके पुत्र कैसे हो सकते हैं? किसी ने कहा—आज हमारा बड़ा सौभाग्य उदय हुआ जो हम महाराज पांडु के पुत्रों को देख रहे हैं। इस प्रकार जब कहना-सुनना समाप्त हुआ, तो आकाशवाणी हुई कि ये पांडु के ही पुत्र हैं। इस प्रकार बालक पांडवों ने जब पुर में प्रवेश किया, तो इनके विषय में अनेक अद्भुत बातें हुईं और होती रहीं।

अब धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र और पाँच पांडव एक साथ रहने लगे। पांडव तो वन में पले थे और कौरव राजमहल में। इसलिए बचपन के खेल-कूद, कसरत इत्यादि में पांडव ही जीतते थे। विशेषकर भीमसेनजी, जो सबसे बली थे, बड़े उत्पाती थे और समय-समय पर कौरवों को बहुत तंग करते थे। कभी दुर्योधन आदि कौरवों में से दो भाइयों को एक दूसरे के साथ रगड़कर उन्हें पीस डालते थे। कभी जल-विहार करते समय उन्हें अथाह जल में डुबो देते थे। यदि वे पेड़ पर चढ़ जाते तो भीमजी उस

पेड़ पर लात मार उसकी एक-एक डाल को इस ज़ोर से हिला देते कि कौरव पटापट नीचे गिर पड़ते थे। इससे कौरवों को बचपन से ही पांडवों के बल, पराक्रम और साहस के साथ ईर्ष्या हो गई। विशेषतः भीमसेन को इतना बली देखकर दुर्योधन मन ही मन में कुढ़ता था। उसने सोचा कि बल से भीमसेन को मारना या हराना या उसके सताने का बदला लेना तो संभव नहीं, इसलिए छल और युक्ति से काम लेकर भीमसेन का नाश करना चाहिए। एक दिन जलक्रीड़ा के निमित्त गंगा-किनारे जाने का उसने निश्चय किया और पांडवों को भी वहाँ बुलाया। वहीं तट पर एक रमणीक खेल-कूद का स्थान बनवाया, और वहीं एक बाग़ में भोजन का प्रबंध हुआ। वहाँ भीम को जो थाली परोसी गई थी, उसमें दुर्योधन ने एक दोना ऐसी मिठाई का भी रख दिया कि जिसमें कालकूट विष मिला दिया गया था। भीमसेन को अपने भाई दुर्योधन पर किसी प्रकार का संदेह तो था ही नहीं, इसलिए उसने वह मिठाई भी खा ली। यह देख दुर्योधन मन ही मन में हँसा। भोजन हो चुकने पर सब आनंद से जल-विहार करने लगे। बहुत देर तक क्रीड़ा करने के पश्चात् जल से सब बाहर निकल आये और कपड़े पहनकर सबने रात को वहीं बाग़ में सोने की ठानी। परंतु विष के प्रभाव से भीमसेन अचेत (बेहोश) हुआ; वहीं गंगा-तट पर पड़ा रह गया। दुर्योधन ने चुपके से वहाँ जाकर मज़बूत बेलों (लताओं) से उसे बाँधकर गंगा में डुबो दिया। यह पाप-कर्म करके प्रसन्नचित्त अपने डेरे को वह लौट आया। दूसरे दिन पांडव भीम को अपने बीच न पाकर उसे स्थान-स्थान ढूँढ़ने लगे। जब वह कहीं न मिला, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। कुंती के शोक का तो पारावार न रहा। विदुरजी ने उसे समझाया—"हे कल्याणी ! डरो मत, भीम की आयु-डोर

बड़ी मज़बूत है, वह कहीं न कहीं अवश्य सुरक्षित है, इसमें संदेह नहीं।" और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि दुर्योधन ने जब भीमसेन को धकेल दिया, तो वह नीचे थाह में जा बैठा। वहाँ नागों (बड़े-बड़े सर्पों) ने उसे बार-बार डँसा, जिससे "विषस्य विषमौषधम्" के अनुसार उसका विष उतर गया। और वहाँ उसके चेत होते ही नाग उससे डरे और अपने राजा वासुकि को उसके पास लाये। कुंती के पिता कुंतिभोज नागराज वासुकि के दौहित्र (लड़की के पुत्र) थे, और भीमसेन उसी कुंतिभोज का दौहित्र था, क्योंकि वह कुंतीपुत्र था, इसीलिए नागराज ने उसे देखते ही पहिचान लिया, उसका आदर-सत्कार किया, और विष का सारा असर दूर करने के लिए उसे अमृतपूर्ण बर्तन से एक दवा पिलाई, जिससे वह नितांत नीरोग हो गया, और अपने नाना के नाना वासुकि की आज्ञा से हस्तिनापुर (अपने घर) चला आया। माता के पास पहुँचते ही उसने बड़े प्रेम से प्रणाम किया, गुरुजनों के चरण छुए और सब भाई उससे लिपट कर मिले। उसने अपनी सारी कथा युधिष्ठिरजी को कह सुनाई। पर युधिष्ठिर बहुत समझदार थे, उन्होंने सब हाल सुनकर भीम से कहा कि दुर्योधन का यह कुकर्म अब किसी से न कहना, मन की मन ही में रखना। इसके पश्चात एक बार और दुर्योधन ने भीम के भोजन में विष मिलाया था। पर उसका असर उस पर कुछ न हुआ, क्योंकि वासुकि के यहाँ उसने अमृत-पान किया हुआ था। ईश्वर की कृपा होती है, तो इसी प्रकार विष का अमृत हो जाया करता है।

एक समय महाराज शांतनु के एक सेवक ने शिकार खेलते-खेलते वन में एक बालक और बालिका को पड़े हुए देखा। धनुष-बाण और मृगछाला उनके पास पड़ी देखकर उसने अनुमान किया

कि धनुर्वेद जाननेवाले किसी ब्राह्मण की यह संतान है । शांतनु ने कृपा से इस बालक और बालिका को अपनी संतान के समान पाला, इस कारण से इनका नाम कृप और कृपी हुआ । यथार्थ में महर्षि शरद्वान की ये संतान थे । तपभंग होने के डर से उन्होंने इनको वन में छोड़ दिया था । जब सुना कि राजा के घर में इनका पालन-पोषण हो रहा है, तब वे वहीं आये और पुत्र कृप को उत्तम रीति से शस्त्रविद्या सिखलाई । धीरे-धीरे कृप अस्त्र-शस्त्र चलाने में बड़े प्रवीण हो गये, इससे इन्हें आचार्य की पदवी मिली । कृपी का विवाह प्रसिद्ध महात्मा द्रोणाचार्यजी के साथ हुआ ।

इन्हीं कृपाचार्य के पास पांडव, धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि पुत्र तथा अन्य देशों के राजकुमार अस्त्रविद्या सीखने लगे । कुछ काल पश्चात् महर्षि भरद्वाज के पुत्र द्रोणाचार्य की जब कूप में गिरे हुए गेंद को तिनकों (सींकों) की रस्सी द्वारा निकालने से अति विख्याति हुई, तब भीष्मजी ने पांडवों और कौरवों को, जो कृपाचार्य से धनुर्विद्या कुछ सीख चुके थे, द्रोणाचार्यजी के सिपुर्द कर दिया । द्रोणाचार्यजी जो महर्षि अग्निवेश और महर्षि परशुरामजी से विधिपूर्वक इस धनुर्वेद को (अस्त्र-शस्त्रों का चलाना) सीख चुके थे, उन्होंने इन राजकुमारों को इस विद्या की विधिपूर्वक शिक्षा देना स्वीकार किया । इन राजकुमारों के साथ-साथ द्रोणाचार्यजी के पुत्र अश्वत्थामा भी शिक्षा पाते थे । और सारथी द्वारा पाला गया कुंती का पुत्र वसुसेन भी उनका शिष्य हुआ, जिसका नाम आगे चलकर कर्ण पड़ा । भुजबल में, उद्योग में और धनुर्वेद की शिक्षा में अर्जुन ने बड़ी योग्यता प्राप्त की । धीरे-धीरे अपने आचार्य द्रोण के समान वह धनुर्धर हो गया । केवल कर्ण को ही अर्जुन की बराबरी करने का साहस हुआ, और किसी को नहीं ।

एक दिन सायंकाल अर्जुन भोजन करता था कि हवा के झोंके से दिया बुझ गया। इससे उसे अँधेरे में ही भोजन करना पड़ा। भोजन कर चुकने पर उसने सोचा कि आज मैंने अँधेरे ही में भोजन किया—अँधेरा भी ऐसा कि हाथ पसारा नहीं सूझता था। परंतु अभ्यास के कारण हाथ हर बार थाली में अन्न पर ही पड़ता था। यही नहीं, किंतु कौर भी ठीक मुँह के भीतर ही जाता था, कभी भी इधर-उधर नहीं होता था। इससे अर्जुन के मन में अभ्यास की महिमा अच्छी तरह जम गई। वह फिर अँधेरे में बाण चलाने का अभ्यास करने लगा, अर्थात् निशाने को विना देखे ही अँधेरे में, बाण चलाकर उसे वेधने का यत्न करने लगा।

रात को धनुष की टंकार सुनकर द्रोण को यह बात मालूम हो गई। धनुर्विद्या के अभ्यास में अर्जुन का इतना अधिक उत्साह देखकर द्रोणाचार्य वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन को गले से लगाकर कहा—"पुत्र! हम तुम्हें ऐसी अच्छी शिक्षा देंगे कि जिससे तुम पृथिवी भर में सबसे बड़े योधा हो जाओगे, जिसमें कोई भी तुम्हारी बराबरी न कर सकेगा।

इसके अनंतर हाथी, घोड़े और रथ पर सवार होकर युद्ध करने की शिक्षा देना द्रोणाचार्य ने आरंभ किया। तलवार, गदा, तोमर, प्रास और शक्ति आदि जितने मुख्य-मुख्य शस्त्र थे, उन सबका चलाना भी वे सिखलाने लगे।

द्रोणाचार्यजी की अधिक प्रशंसा और धनुर्विद्या के उक्त समाचार सुनकर सैकड़ों राजकुमार देश-देशांतरों से आकर उनके शिष्य हुए। इसी निमित्त निषादों के राजा का एक पुत्र एकलव्य भी वहाँ आया। परंतु द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य बनाना अंगीकार न किया। क्योंकि क्षत्रिय राजकुमारों के साथ-साथ शूद्र का शिक्षा पाना उन्हें उचित नहीं भाया। एकलव्य बेचारे को

द्रोणाचार्य के यहाँ से निराश होकर लौट जाना पड़ा, परंतु मन में उन्हें गुरु धारण करके उसने द्रोण को प्रणाम किया और एक अलग स्थान पर जाकर द्रोणाचार्यजी की मूर्ति मिट्टी की वना ली। उस मूर्ति को सामने रखकर और खूब ध्यान लगाकर उसने धनुर्वेद का अकेले अभ्यास आरंभ किया। श्रद्धा, अभ्यास और मन के लगाव के कारण वाण चलाने में वह शीघ्र ही वड़ा प्रवीण हो गया।

एक बार द्रोणाचार्य की आज्ञा लेकर सव राजकुमार शिकार खेलने के लिए राजधानी हस्तिनापुर से वाहर निकले। मृगों को पकड़ने के लिए जाल और कुत्ते साथ लिये गये। उनमें से एक कुत्ता इधर-उधर घूमता-फिरता एकलव्य के स्थान में जा पहुँचा। एकलव्य का शरीर बहुत मैला था। वह उस समय काले मृग का चमड़ा पहने हुए था। उसका ऐसा रूप देखकर वह कुत्ता ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा। इस पर एकलव्य को क्रोध आया। उसने मन में यह भी कहा कि अच्छा हुआ जो यह कुत्ता आ गया। वाणविद्या में मैंने कितना अभ्यास किया है, इसकी जाँच करने का यह अच्छा अवसर है। यह सोचकर एकलव्य ने उस कुत्ते के खुले हुए मुँह में सात वाण मारकर उसका भौंकना एकदम बंद कर दिया।

मुँह में वाण भरे हुए वह कुत्ता भागता हुआ राजकुमारों के पास लौट गया। वाण चलाने के उस कौशल को देखकर सब लोगों को वड़ा आश्चर्य हुआ। वे सब उस वाण चलानेवाले को वन वन ढूँढ़ने लगे। अंत में उन्होंने देखा कि एक जगह खड़ा हुआ एकलव्य बराबर वाणवर्षा कर रहा है। उस मलीन देह निषाद-पुत्र को वे पहचान न सके। तब उन्होंने उसका नाम-धाम पूछा। उसने उत्तर दिया—"मैं निषादों के स्वामी का पुत्र और

द्रोणाचार्य का शिष्य हूँ। अकेला इस वन में धनुर्वेद सीख रहा हूँ।"

पांडवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हस्तिनापुर लौटकर द्रोणाचार्य से यह सब हाल कहा। एकांत में अर्जुन आचार्य से अभिमान-पूर्वक बोला—"हे गुरु! आपने तो केवल हमें श्रेष्ठ शिक्षा देना अंगीकार किया था, परंतु आपका शिष्य यह निषाद-पुत्र (एकलव्य) इस विषय में हमसे भी अधिक प्रवीण हो गया।" यह सुनकर द्रोणाचार्यजी आश्चर्य में हुए। अंत में सारा भेद जानने के लिए अर्जुन को साथ लेकर वे वन में एकलव्य के पास गये।

एकलव्य बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था। द्रोणाचार्यजी के आगमन से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपने को धन्य माना। द्रोणाचार्य से उसने कहा—"मैं आपका शिष्य एकलव्य हूँ।" द्रोण बोले—"हे वीर! यदि तुम सचमुच ही हमें अपना गुरु समझते हो, तो तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनी चाहिए।" एकलव्य ने प्रसन्न होकर उत्तर दिया—"हे भगवन्! ऐसी कोई चीज़ नहीं जो गुरु को न दी जा सके। आज्ञा दीजिए, आप क्या दक्षिणा माँगते हैं।" यह सुनकर द्रोणाचार्य ने अर्जुन को प्रसन्न करने के लिए इस तरह ममताहीन वचन कहे—"एकलव्य! तुम अपने दाहिने हाथ का अँगूठा हमें दे डालो। उसी को हम गुरु-दक्षिणा समझेंगे।" एकलव्य की गुरु पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने बिना ज़रा भी सोच-विचार किये, और बिना ज़रा भी दुःख या दीनता दिखाये, अपना दाहिना अँगूठा काट डाला और अपने गुरु द्रोणाचार्य से कहा—"आचार्य! लीजिए, गुरु-दक्षिणा हाज़िर है।" इस तरह अँगूठे से हाथ धो बैठने के कारण बाण चलाने में एकलव्य की पहले की सी निपुणता जाती रही।

अर्जुन की बराबरी करनेवालों में एकलव्य ही बढ़कर था। उसकी निपुणता का इस तरह नाश हो जाने से द्रोणाचार्य

के शिष्यों में अर्जुन ही सबसे श्रेष्ठ धनुर्धारी रह गया।

अर्जुन वारुणास्त्र की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुआ, और उसने अँधेरे में केवल शब्द पर बाण से निशाना मारने का जो अभ्यास किया था, इस 'शब्दवेधित्व' के अभ्यास से उसने जल में घड़ियाल को मारकर अपने गुरु को उसके मुख से बचाया, जिस पर गुरुजी ने उसे ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र दिया। अस्त्र-निक्षेप के समय पूर्ण एकाग्रता में भी अर्जुन पास हुआ। इससे धनुर्वेद में अर्जुन की बराबरी करनेवाला द्रोणाचार्य के शिष्यों में कोई न था। भीम और दुर्योधन ने गदा चलाने में निपुणता प्राप्त की। युधिष्ठिर ने रथी होने (अर्थात् रथ पर चढ़कर युद्ध करने) का अच्छा अभ्यास किया। नकुल और सहदेव ने तलवार चलाने में सबसे अधिक योग्यता प्राप्त की। अश्वत्थामा सभी प्रकार की शिक्षा में प्रवीण निकले।

एक दिन भीष्म, धृतराष्ट्र आदि को अपने शिष्यों का कौशल दिखलाने की इच्छा से द्रोणाचार्य ने नगर के बाहर एक बड़ी रंग-भूमि तैयार करवाई। वहाँ सब राजकुमारों ने अपना-अपना युद्ध-कौशल दिखलाया। दुर्योधन और भीम के बीच गदा-युद्ध हुआ। जब दोनों जान तोड़ आपस में लड़ने लगे, तब द्रोणाचार्य ने अश्वत्थामा को भेजकर उन्हें अलग कर दिया। अर्जुन के मैदान में आते ही सब दर्शकों ने जयकारा बोला। सब राजपुत्रों में अर्जुन की विशेष कौशलता देखकर लोग उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। परंतु दुर्योधन आदि कौरव इस प्रशंसा से चित्त में जल उठे। इस बीच रणांगण में कर्ण उतर पड़ा और बोला—"अजी! डींग मत हाँको, मैं भी यह सब कर सकता हूँ।" ऐसा कहकर अर्जुन के सारे कौशल उसने करके दिखलाये। यह देखकर दुर्योधन अति प्रसन्न हुआ। पर अर्जुन कर्ण से बोला—"तुम्हें तो

किसी ने यहाँ बुलाया नहीं था, तुम क्यों आये ?" कर्ण बोला—"रंगभूमि सबके लिए एकसी है, योद्धा-मात्र को इसमें आने का अधिकार है, जो चाहे यहाँ आ सकता है, किसी को बुलाने या निकालने का अधिकार तुमको नहीं। यदि कुछ मन में हो तो बातों से नहीं, बल्कि बाणों से या भुज-बल से कर दिखलाओ।" परस्पर ऐसी बोलचाल से द्वंद्वयुद्ध होने का निश्चय हुआ। किंतु कृपाचार्य ने कहा—"जो स्वयं राजा नहीं और जिसका जन्म हीन जाति में हुआ है, अथवा जिसके जन्म और वंश का कुछ भी ज्ञान नहीं, उसके साथ राजकुमारों को युद्ध करना मना है, यह युद्ध-नियम है, इसलिए तुम अर्जुन के साथ नहीं लड़ सकते।" इस पर दुर्योधन बोला—"केवल उत्तम कुल में उत्पन्न होने से ही राजा की योग्यता किसी में नहीं आती। राजाओं की योग्यता जन्म, शौर्य और सेनापतित्व, इन गुणों से समझी जाती है। मेरी समझ में तो वीर के साथ कोई भी वीर युद्ध करने का अधिकारी हो सकता है, जाति-पाँति का विचार व्यर्थ है। यदि राजा से अतिरिक्त और किसी के साथ अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता, तो मैं आज ही इसी क्षण में कर्ण को अंगदेश का राजा बनाता हूँ।" यह कहकर उसने वहीं उसे राज्याभिषेक कराया और कर्ण ने भी शपथ ली—"आजन्म मैं कभी दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ूँगा।" इस प्रकार युद्ध होने को था कि कर्ण के पालक पिता अधिरथ ने मैदान में कूदकर कर्ण को रोक दिया और उधर सूर्यास्त हो गया।

सब शिष्यों का अध्ययन पूर्ण होने पर द्रोणाचार्यजी ने उनसे यह गुरु-दक्षिणा माँगी—"तुम सब पांचालदेश के राजा द्रुपद को युद्ध में हराकर उसे क़ैदी के समान पकड़ लाओ, क्योंकि हमारा गुरुबंधु होने पर भी उसने राजमद से उन्मत्त होकर

हमारा अपमान किया था और अपनी प्रतिज्ञा का भी पालन नहीं किया था।" ऐसी आज्ञा पाते ही सब पांचालदेश को चले; परंतु कौरवों ने सबसे पहले वहाँ पहुँचकर धावा किया। और द्रुपद के साथ घोर युद्ध आरंभ कर दिया।

इस पर अर्जुन ने द्रोणाचार्यजी से कहा—"गुरुजी! दुर्योधन आदि को युद्ध में अपना पराक्रम दिखा लेने दीजिए; पीछे हम (पांडव) साहस के साथ द्रुपद को पकड़ने का उद्योग करेंगे। मुझे विश्वास है कि युद्ध में ये लोग द्रुपद को पकड़ नहीं सकते।" कुंती-पुत्र अर्जुन यों कहकर भाइयों के साथ राजधानी से आध कोस के अंतर पर ही ठहर गये।

इस बीच में राजा द्रुपद ने बाणों की घोर वर्षा से कौरवों की भारी सेना को तितर-बितर कर दिया, वे अकेले चारों ओर घूमकर कौरवों पर प्रहार करने लगे। द्रुपद के युद्ध से घबरा कर दुर्योधन आदि कौरव भाग खड़े हुए। कौरवों के आर्त्तनाद को सुनकर पांडव लोग युद्ध के लिए तैयार हुए। वे द्रोणाचार्य को प्रणाम करके अपने-अपने रथों पर सवार हुए। अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा—"आप युद्ध न करें, मैं अभी द्रुपद को पकड़े लाता हूँ।" फिर अर्जुन अन्य भाइयों के सहित मैदान में कूदे। भीम ने द्रुपद की सेना का हाल बहुत बुरा कर दिया, अंत में पांडवों ने द्रुपद को सर्व प्रकार से हरा कर पकड़ लिया, और क़ैद करके गुरु के पास ले गये। द्रोणाचार्य ने इस प्रकार द्रुपद को अपने अधीन देखकर उसके क्षमा माँगने पर आधा राज्य उसे वापस देकर विदा किया। द्रुपद आधा राज्य लेकर आ तो गया, पर उसी दिन से द्रोण के वध का उपाय ढूँढ़ने लगा। अंत में महर्षि याज और उपयाज की सहायता से द्रोण को मारने-वाला एक पुत्र पाने की इच्छा से उसने पुत्रेष्टि नामक यज्ञ किया,

जिससे उसको धृष्टद्युम्न नामक एक महाबली पुत्र और कृष्णा नाम की एक महारूपवती कन्या प्राप्त हुए। इसी पुत्र ने आगे चल कर द्रोणाचार्य का वध किया। काशिराज की कन्या अंबा ने भी इसी यज्ञ से भीष्म के वध के लिए नया जन्म लिया, इसका नाम शिखंडिनी हुआ।

द्रुपद को आधा राज्य देकर छोड़ देने के बाद द्रोणाचार्यजी अपने शिष्यों से विदा हुए। विदा होने के समय अपने प्यारे शिष्य अर्जुन को उन्होंने अनेक प्रकार के अद्भुत-अद्भुत अस्त्र-शस्त्र दिये। तदनंतर हस्तिनापुर से प्रस्थान करके उत्तर पांचाल राज्य पर अपना अधिकार जमाया और सुखपूर्वक वहाँ वे राज्य करने लगे।

धनुर्विद्या में पांडवों की अधिक कीर्ति और योग्यता सुनकर धृतराष्ट्र को संदेह हुआ कि अब मेरे पुत्रों (दुर्योधन आदि) को राज्य मिलना असंभव-सा है। और दुर्योधन स्वयं भी उनकी कीर्ति सुनने से जल-भुन रहा था, इसलिए वे सब सोचने लगे कि अब क्या किया जाय। अपने राजनीति-कुशल और मंत्रियों में श्रेष्ठ कणिक मंत्री को बुलाकर धृतराष्ट्रजी ने एकांत में यों कहा—“हे द्विजश्रेष्ठ कणिक! पांडु के पुत्रों का नित्य अभ्युदय होता जा रहा है। इसी कारण मुझे उन पर ईर्ष्या हो रही है। तुम निश्चय करके कहो कि उनसे अब मेल रखना चाहिए या झगड़ा करना चाहिए। मैं तुम्हारी सलाह के अनुसार ही काम करूँगा।”

कणिक ने उत्तर में घोर कुटिल नीति का उपदेश किया और अंत में कहा—“महाराज! शत्रुओं से सचमुच ही आपको बड़ा डर है। उस डर को पूरे तौर से दूर करने के लिए पांडवों का जड़ से नाश कर देना चाहिए। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं। राजनीति का यही नियम है। इस नियम को ध्यान में

रखकर कैसी कार्यवाही पांडवों के साथ करनी चाहिए, इसका निश्चय आप अपने पुत्रों की सलाह से करें।"

परंतु अपने भतीजों के साथ अन्याय करने के लिए धृतराष्ट्र के मन ने गवाही न दी। भतीजों पर धृतराष्ट्र की एक तो यों ही ममता थी, फिर युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई सब बातों में धर्मपरायण थे। कभी कोई अधर्म का काम उनके हाथ से न होता था। इस कारण उनके नाश का जो कठोर उपदेश कुटिल नीति से भरा मंत्री कणिक ने दिया, उसे धृतराष्ट्र अंगीकार न कर सके। तथापि आगापीछा सोचकर उन्हें दुःख ज़रूर हुआ। वे शोक से व्याकुल हो उठे।

इधर पांडवों को सब गुणों से पूर्ण देखकर पुरवासी लोग सदा ही उनकी प्रशंसा करते थे। सब एकस्वर से कहते थे—पांडवों में जेठे भाई युधिष्ठिर पूरे महात्मा हैं। वे सब तरह राज्य पाने के योग्य हैं। राजा धृतराष्ट्र जन्म ही से अंधे हैं। इस कारण से पहले ही राज्य के अधिकारी न थे। अब भी क्या समझकर वे राजसिंहासन नहीं छोड़ते? भीष्म तो राज्य लेंगे ही नहीं, क्योंकि उन्होंने वैसी प्रतिज्ञा कर रक्खी है। और उनकी प्रतिज्ञा कभी झूठ हो नहीं सकती। इससे हम लोग धर्मात्मा युधिष्ठिर ही को राजा बनावेंगे। वे सत्यवादी और दयालु हैं। भीष्म और धृतराष्ट्र के साथ वे ज़रूर ही अच्छा बर्ताव करेंगे, ज़रूर ही वे उनका आदर-सम्मान करने में कसर न करेंगे।

ये सब बातें धीरे-धीरे दुर्योधन के कान तक पहुँचीं। सुनकर दुर्योधन का चित्त विस्मित हो गया। ईर्ष्या-द्वेष से हृदय जलने लगा। झटपट धृतराष्ट्र के पास पहुँचकर वह यों बोला—"हे पिता! पुरवासी लोग आपका और भीष्म का तिरस्कार करके युधिष्ठिर को राज्य देने की सलाह कर रहे हैं। सुनते हैं, भीष्म भी इस बात

को पसंद करते हैं। वे कहते हैं, हम राज्य के भूखे नहीं, हमें राज्य न चाहिए। हे महाराज! ये सब कठोर और अनुचित बातें सुन कर मुझको महादुःख हो रहा है। अपने भाइयों में जेठे होने पर भी एक बार पहले भी आपको राज्य से हाथ धोना पड़ा था। आपको राज्य से वंचित रखकर पुरवासियों ने पांडु को राजा बनाया था। अब दैवयोग से जो आपको राज्य प्राप्त हुआ, तो फिर भी आप पर अन्याय करने का विचार हो रहा है। यदि इस समय पांडु के पुत्रों को राज्य मिल जायगा, तो फिर सदा के लिए उन्हीं के वंशवाले राजा होते रहेंगे। आपके पुत्र और पौत्र राजवंश के होते हुए भी हीन और तुच्छ समझे जायँगे। यह आप जानते ही हैं। इससे आप कोई ऐसी तदबीर कीजिए, जिससे हम लोग इस घोर दुःख और अपमान से बचें। इस विषय में उदासीन होना—चुपचाप बैठ रहना—अच्छा नहीं। चुप बैठने से अब निस्तारा नहीं।"

मंत्री कणिक का उपदेश और पुत्र दुर्योधन की दुःख-भरी विनती सुनकर धृतराष्ट्र का चित्त डोल उठा। वह डगमगाने लगा। परंतु अन्याय और अधर्म के डर से उनसे कुछ करते धरते न बना। मन की बात मन ही में रखकर शांत रहना पड़ा।

परंतु दुर्योधन चुप रहनेवाला कब था। मित्र कर्ण और मामा शकुनि से सलाह करके वह फिर धृतराष्ट्र के पास आकर कहा—"हे तात! यदि आप किसी युक्ति से—किसी तदबीर से—कुछ दिन के लिए कहीं पांडवों को बाहर भेज दें, तो जो यह विपद् हम लोगों पर आनेवाली है उससे बचने का कोई उपाय किया जा सकता है।"

धृतराष्ट्र कुछ देर तक सोच-विचारकर कहने लगे—"देखो पुत्र! भाई पांडु बड़े धर्मात्मा थे। राज्य पाने पर अपने बंधु-बांधवों के

और विशेषकर हमारे साथ कभी उन्होंने बुरा व्यवहार नहीं किया। हमको उन्होंने सदा ही स्नेह की दृष्टि से देखा। राज्य से संबंध रखनेवाली सभी बातें प्रतिदिन वे हमसे कहते थे और हमारी सलाह से सब काम करते थे। जो काम करने की आज्ञा हम न देते थे, उसे कभी न करते थे। उनके पुत्र युधिष्ठिर उन्हीं की तरह धर्मात्मा हैं। पिता के राज्य के वही अधिकारी हैं। इसके सिवा उनके सहायक भी बहुत हैं। यदि हम उन्हें बलपूर्वक राज्य से दूर करने की चेष्टा करेंगे, यदि ज़बरदस्ती उन्हें राजसिंहासन से अलग रखने का यत्न करेंगे, तो प्रजा और पुरवासी ज़रूर ही हम लोगों के प्राण ले लेंगे।"

दुर्योधन बोला—"हे पिता! आप जो कहते हैं, सब सच है। पर आदर-सम्मान करके और धन-धान्य देकर प्रजा और पुरवासियों को हम प्रसन्न कर सकते हैं, उन्हें अपनी तरफ़ कर सकते हैं। फिर हम पांडवों का कोई अनिष्ट भी करना नहीं चाहते। आप कोई अच्छी युक्ति सोचकर कुछ दिन के लिए उन्हें वारणावत नगर को भेज दें। इस समय सारा धन और सारे मंत्री हमारे ही अधीन हैं। इसी बीच में किसी उचित उपाय से पुरवासियों को वश में करके राज्य हम अपने हाथ में कर लेंगे। फिर कोई संदेह की बात न रह जायगी। तब पांडवों को फिर राजधानी में बुला लेंगे।" धृतराष्ट्र बोले—"हे दुर्योधन! तुमने जो बात कही, वही हमने भी मन ही मन में कई बार सोची है। पर इस प्रकार का अन्याय करना महापाप है, यह विचारकर हमने अपने मन की बात किसी से कही नहीं। पांडवों को बाहर भेजने की भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर आदि कोई सलाह भी तो न देंगे। इन सबकी इच्छा के प्रतिकूल किस तरह हम उन्हें राजधानी से हटा सकेंगे?"

दुर्योधन बोला—"आप क्यों डरते हैं ? भीष्म तो हमको और पांडवों को एक-सा प्यार करते हैं। वे इस झगड़े में उदासीन रहेंगे। द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा हमारे पक्ष में हैं, इससे द्रोण और उनके साले कृप को लाचार हमारी तरफ़ होना पड़ेगा। रहे विदुर, सो वे हमारे अर्थ के—हमारे धनधान्य के—जाल में बँधे हुए हैं। तथापि सुनते हैं, पांडवों ने छिपे-छिपे उन्हें अपने हाथ में कर रक्खा है। कुछ भी हो, अकेले विदुर हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते। इससे आप व्यर्थ शंका-संदेह न करें। पांडवों के कारण रात को हमें नींद नहीं आती। निद्रा का नाश करनेवाली शोकरूपी आग में हम जला करते हैं। हमारी सलाह मानकर इस आग में जलने से आप हमें बचाइए और अधिक देरी न कीजिए।"

इस बातचीत के बाद धृतराष्ट्रजी अपने मन ही मन में विचारने लगे और सोचने लगे कि जिस तरकीब से दुर्योधन राज्य को अपने हाथ में करना चाहता है, उसमें क्या-क्या गुण-दोष हैं। सफलता की आशा है या नहीं। उधर दुर्योधन अपने काम की सिद्धि का फ़िक्र में लगा। धन-धान्य देकर, हर तरह से सम्मान करके, प्रजा को अपनी मुट्ठी में कर लेने का यत्न करने लगा। एक दिन ठीक अवसर पाकर चतुर मंत्रियों ने धृतराष्ट्र की प्रेरणा से सभा में पांडवों के आगे वारणावत नगर की बहुत सी शोभा वर्णन की और कहा कि वह स्थान बहुत ही रमणीय व सुहावना है। इन दिनों वहाँ पशुपति-महोत्सव (मेला) होनेवाला है। मंत्रियों के मुख से वारणावत नगर की ऐसी प्रशंसा सुनकर वहाँ जाने के लिए पांडवों का भी चित्त हुआ। जब धृतराष्ट्र को मालूम हुआ कि पांडव वहाँ जाना चाहते हैं, तब उन्होंने पांडवों को पास बुलाकर कहा—"हे पुत्र ! सभी हमसे

वारणावत नगर की अति प्रशंसा कर रहे हैं और वहाँ महादेव जी का भारी उत्सव है, इच्छा हो तो तुम सब कुंती के सहित वहाँ जाकर कुछ दिन सुख से रह सकते हो।" धृतराष्ट्रजी की ऐसी आज्ञा सुनकर युधिष्ठिरजी यद्यपि दाल में कुछ काला सा ताड़ गये, तथापि बड़ों की आज्ञा-पालन करना अपना धर्म समझकर सहित माता और भाइयों के वारणावत को चल दिये। उनके चलने पर दुर्योधन ने महादुराचारी मंत्री पुरोचन को अति शीघ्र वारणावत में पहुँचकर लाख का घर बनाने के लिए भेजा कि जिसमें वह पांडवों को सत्कारपूर्वक उतारकर उन्हें आग से भस्म कर दे। परंतु पांडवों को चलते समय विदुरजी ने इस छल के विषय कुछ सूचित कर दिया था, इसलिए जब वे वहाँ लाख के घर में उतारे गये, तो उन्होंने उस घर के अंदर ही अंदर सुरंग खोदकर जंगल की ओर रास्ता बना लिया था, और अवसर पाकर स्वयं घर को आग लगाकर चुपके वहाँ से भाग गये। जिस दुष्ट पुरोचन द्वारा वह मकान बनवाया गया था, वह उस समय वहीं सो रहा था, और केवट जाति की एक स्त्री भी अपने पाँच पुत्रों सहित वहाँ पर आकर सो गई थी, वे सबके सब जल गये। दूसरे दिन जब वहाँ छः लाशें इकट्ठी पड़ी मिलीं, तो लोगों ने समझा कि पांडव सहित माता के जल गये। इस अनुमान से वारणावत के सब लोगों ने भारी रुदन-प्रलाप किया, और जब उनके प्रलाप से हस्तिनापुर में पांडवों के जल जाने का समाचार पहुँचा, तो राजा धृतराष्ट्र ने भारी शोक प्रकट करके उनकी उत्तर-क्रिया कर डाली। परंतु पांडव तो बचकर जंगल में दूर चल दिये थे। अब दुर्योधन के डर से वे वेष बदलकर दक्षिण की ओर चले और रास्ते में हिडिंब नाम के राक्षस का भीम ने वध किया। इस राक्षस की बहन हिडिंबा भीम पर अति आसक्त हो

गई और उसे अपना पति बनाने पर तुल गई थी। परंतु भीम से दुतकारे जाने पर उसने कुंती की शरण लेकर ऐसे प्रार्थना की—"माता! आप मुझ दासी पर कृपा करें, मेरे साथ विवाह करने के लिए आप भीमसेन को आज्ञा दें। कुछ समय तक उनके साथ यथेच्छ घूम-फिरकर मैं उन्हें फिर आपके पास ले आऊँगी।" यह सुनकर युधिष्ठिर बोले—"तुम्हारी कामना पूर्ण हो। दिन भर जहाँ चाहो भीम के साथ घूमो, पर रात को उन्हें अवश्य हमारे पास छोड़ जाया करो, इसमें अंतर न पड़ने पावे।" इस प्रकार बड़े भाई की आज्ञा पाकर भीम ने हिडिंबा के साथ विवाह करना अंगीकार कर लिया, और महाआनंदित होकर हिडिंबा भीमसेन को साथ लेकर यथेच्छ घूमने लगी। इस प्रकार भीम के साथ विचरने से हिडिंबा के एक महाबलवान् और महाविकट रूप पुत्र हुआ, उसका नाम घटोत्कच पड़ा। इसके पश्चात् भीम ने बक नाम के राक्षस का वध किया।

वन में अति दुःखी होने से पांडव व्यासदेव की आज्ञा से चक्रा नगरी में ब्राह्मण के घर रहकर भीख से निर्वाह करते रहे। कुछ दिन बीतने पर एक और ब्राह्मण इस ब्राह्मण के घर आकर ठहरा। उससे पांचालदेश के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी के स्वयंवर की खबर सुनी। यह समाचार पाते ही वे (पांडव) ब्राह्मण-वेष में पांचालदेश पहुँचे। जब राजा द्रुपद के प्रण के अनुसार कोई राजा धनुष को उठाकर घूमते हुए चक्र के छिद्र में से तीर पार न कर सका, तो अर्जुन से बैठे न रहा गया। अपने ब्राह्मण-वेष को भूलकर झट उठ खड़ा हुआ, और धनुष तानकर हिलनेवाले यंत्र के छेद के बीच से पाँच बाण पार करके मछली को नीचे गिरा दिया, और द्रौपदी ने अर्जुन के गले में जयमाला पहना दी। इनको सफल काम होते देखकर क्षत्रिय राजाओं ने द्रुपद से युद्ध आरंभ

कर दिया; क्योंकि स्वयंवर में क्षत्रियों से अतिरिक्त और किसी को वरमाला पाने का अधिकार नहीं था। परंतु श्रीकृष्ण ने उन सबको समझा दिया कि उस ब्राह्मणकुमार ने अपने पराक्रम से द्रौपदी को पाया है। इसलिए लड़ने-भिड़ने का कोई काम नहीं।

सायंकाल पांडव द्रौपदी को साथ लिये जब कुंती के द्वार पर पहुँचे, तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक बाहर से कहा—"माता! भिक्षा में आज एक बड़ी ही सुंदर वस्तु मिली है।" कुंती ने घर के भीतर ही से विना समझे-बूझे उत्तर दिया—"पुत्र! जो कुछ मिला है सब भाई मिलकर उसे भोगो।" ऐसी आज्ञा से विवश होकर द्रौपदी का पाँचों भाइयों के साथ विवाह हुआ। और विवाह के पश्चात् वे सब राजा द्रुपद के पास पांचाल राज्य में रहने लगे।

इस विवाह की सूचना पाते ही दुर्योधन तो शोक में डूब गया कि अब कैसे पांडवों का नाश किया जाय। कर्ण ने तो एकदम द्रुपद देश पर चढ़ जाने और पांडवों को क़ैद करने की सलाह दी। पर भीष्म, द्रोण तथा विदुर की सम्मति न पाकर धृतराष्ट्र ने ऐसा न होने दिया। धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर विदुरजी कौरवों की ओर से द्रुपद राजा के पास गये और पांडवों को सत्कारपूर्वक ले आये। तब भीष्म और धृतराष्ट्र ने पांडवों और कौरवों में परस्पर युद्ध और द्वेषाग्नि रोकने के विचार से उनमें आधा-आधा राज्य बाँट दिया। पांडवों ने आधा राज्य लेकर खांडवप्रस्थ को अपनी राजधानी वनाया, और कौरवों ने आधा राज्य लेकर हस्तिनापुर ही अपनी राजधानी रक्खी। इस प्रकार पांडव और कौरव अलग-अलग अपना राज्य करने लगे।

द्रौपदी के विवाह के पश्चात् यह नियम पांडवों में तै पाया था कि "जिस समय द्रौपदी एक भाई के साथ हो, उस समय कोई दूसरा भाई उस स्थान पर न जाय। इस नियम के तोड़नेवाले

पुरुष को बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करके वनवास करना पड़ेगा।" एक दिन पांडवों के आयुधागार में द्रौपदी के साथ धर्मराज (युधिष्ठिर) एकांत बैठे थे। ऐसे समय अर्जुन ने एक ब्राह्मण की पुकार, जिसकी गायें चोर ले गये थे, इन शब्दों से सुनी—"जो राजा प्रजा की आमदनी का छठा भाग 'कर' लेकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह राज्य भर के लोगों के पापों का भागी होता है।" ऐसा सुनना था कि अर्जुन ने अपने भाई की अप्रतिष्ठा वा १२ वर्ष के वनवास की अपेक्षा से ब्राह्मण के दुःखों का निवारण करना उत्तम और श्रेष्ठ समझा। इसलिए अस्त्रागार में पहुँच और युधिष्ठिर की आज्ञा से वह धनुष-बाण लेकर ब्राह्मण की गायों को चोरों से छुड़ा लाया। क्योंकि नियम-भंग हो गया था, इसलिए युधिष्ठिर से आज्ञा माँगकर अर्जुन ने बारह वर्ष तक वनवास करने के लिए यात्रा की। इस वनवास में उसने सब तीर्थों के दर्शन किये और इस देशाटन में मणिपुर राजा की कन्या चित्रांगदा और श्रीकृष्णचंद्र की बहन सुभद्रा से उसका विवाह हुआ। वनवास से वापस लौटने पर सुभद्रा के गर्भ से अर्जुन का तेजस्वी पुत्र अभिमन्यु हुआ। और द्रौपदी के गर्भ से भी पाँच पतियों के पाँच पुत्र हुए। युधिष्ठिर का प्रतिविंध्य, भीमसेन का सुतसोम, अर्जुन का श्रुतकीर्ति, नकुल का शतानीक और सहदेव का श्रुतसेन।

एक समय कृष्ण और अर्जुन यमुना-तट पर बैठे बातें कर रहे थे कि अग्निदेव एक पुरुष के रूप में प्रकट होकर बोले—"खांडव वन को जलाकर वहाँ के जीव-जंतुओं को खाने की हमारी इच्छा है, तुम दोनों से हम यही माँगते हैं कि अस्त्र लेकर न तो वहाँ से प्राणियों को ही भागने दीजिए और न इंद्र को पानी ही बरसाने दीजिए।"

अर्जुन ने उत्तर दिया—"हम तो आपकी अवश्य सहायता करें, पर हमारे पास न तो ऐसा धनुष ही है जो चिरकाल तक हमारी भुजाओं के वेग को सह सके, न ऐसा रथ ही है जो अधिक काल तक युद्ध में काम देने के योग्य हो, और न कृष्ण के पास भी कोई ऐसा अस्त्र है जो उनके चलाने के योग्य हो।"

अर्जुन का ऐसा उत्तर सुनते ही अग्नि ने वरुण देवता से अर्जुन को सदा तीरों से भरे रहनेवाले तरकस के साथ गांडीव नाम के धनुष को और वानर के चिह्नवाले बड़े तेज़ घोड़ों से जुते हुए तथा लड़ाई के सामान से भरे हुए रथ को दिलाया। और कृष्ण को एक सुदर्शनचक्र नाम का अस्त्र स्वयं देकर अग्निदेव ऐसा बोले—"हे कृष्ण! यह चक्र फेंका जाने पर शत्रु को मारकर फिर आपके हाथ में लौट आवेगा।"

इन अस्त्रों से जब इंद्र के साथ इनका घोर युद्ध हुआ, तो बड़े प्रसन्न होकर इंद्र ने अर्जुन को यह वर दिया कि "महादेव को प्रसन्न करने से तुम्हें आग्नेय, वायव्य आदि जितने दिव्य अस्त्र हैं, सब प्राप्त होंगे।" कृष्ण ने केवल यही वर माँगा कि "अर्जुन के साथ उनकी मित्रता कभी न टूटे।"

इस प्रकार खांडव वन को जलाने में जब अर्जुन ने अग्निदेव की सहायता की, तो इस भयंकर दाह से वन के सब जीव-जंतु जल गये, केवल अश्वसेन, मय दानव, कुशल शिल्पी और मंदपाल ऋषि के चार पुत्र जलने से बचे। इसी मय दानव शिल्पी ने, जो अर्जुन के जीवन-दान देने से अग्निदेवता से बचा था, कृष्णजी की आज्ञा पर खांडवप्रस्थ में राजा युधिष्ठिर के लिए एक अत्युत्तम सभागृह तैयार किया। इस सभा-मंडप के तैयार होने पर राजा युधिष्ठिर ने नारदजी के उपदेश से राजसूय यज्ञ करने का विचार किया। श्रीकृष्ण ने भी इसमें पूर्ण सम्मति दी। पहले मगधनरेश जरासंध

को मारकर, जितने राजा लोग वहाँ क़ैद थे, उन सबको छुड़ाया, और उन्होंने युधिष्ठिर की अधीनता अंगीकार की। फिर चारों दिशाओं में चारों भाइयों को भेजकर वहाँ-वहाँ के राजाओं को जीत लिया, तब राजसूय यज्ञ आरंभ हुआ। महर्षि वेदव्यासजी स्वयं यज्ञ के 'ब्रह्मा' बने। धनंजय गोत्र में उत्पन्न सुसामा ऋषि 'उद्गाता' बनकर सामवेद गाने लगे। ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य ऋषि 'अध्वर्यु' हुए, वसु के पुत्र पैल ऋषि और धौम्य ऋषि ने 'होता' का काम लिया और उनके शिष्य सदस्य वा होत्रगाता हुए।

ब्राह्मण, सब कौरव और देश-देशांतर के राजा लोग आये। और युधिष्ठिर ने सबको अपना-अपना काम अलग-अलग बाँट दिया। दुःशासन को खाने की चीज़ों का, अश्वत्थामा को ब्राह्मणों की सेवा का, धृतराष्ट्र के पुत्र संजय को राजाओं की शुश्रूषा का, दुर्योधन को आया हुआ उपहार लेने का, कृपाचार्य को रत्न आदि की निगरानी का और कृष्ण को ब्राह्मणों के पैर धोने का काम सौंपा गया। धृतराष्ट्र आदि बूढ़े लोग घर के मालिक के समान रहे। भीष्म और द्रोण सब बातों की देखभाल करने लगे।

इस यज्ञ में प्रथम अर्घ्य-पूजा श्रीकृष्णजी की हुई। इसे देखकर शिशुपाल को बड़ा क्रोध आया, और उसने यज्ञ-भंग करने की बड़ी चेष्टा की, परंतु श्रीकृष्ण ने उसका वध कर यज्ञ का कार्य निर्विघ्न समाप्त किया, और धर्मराज (युधिष्ठिर) को सार्वभौम सम्राट् की पदवी प्राप्त हुई। इस प्रकार यज्ञ समाप्त होने पर सब ब्राह्मण तथा राजा लोग अपने-अपने घर गये, और दुर्योधन सहित मामा शकुनि के सभा-गृह को देखने के लिए रह गये। जब वेदव्यासजी विदा होने लगे तो युधिष्ठिर ने अपना संदेह निवारणार्थ उनसे प्रार्थना की कि महाराज! चलने से पूर्व मुझे यह बता जाइए कि शिशुपाल के अनर्थ पूर्वक बकने और इस

कारण उसके मारे जाने पर जो नाना उत्पात हुए उनके होने का वास्तव में क्या फल होगा। इस पर व्यासजी बोले—इन उत्पातों का फल यह होगा कि आज से तेरह वर्ष के बीतने पर सब क्षत्रियों के कुल का नाश होगा। और—

दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च।
त्वमे कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत।

"तुमको कारण बनाकर दुर्योधन के अपराध से सब राजा लोग इकट्ठे होकर भीम और अर्जुन के पराक्रम से मारे जायँगे।"

यह सुनकर धर्मराज (युधिष्ठिर) बहुत उदास हुए और सोचने लगे कि जब मुझे कारण बनाये जाने पर क्षत्रियों के कुल का नाश होना है, तो ऐसे जीने से मरना उत्तम है। उनका ऐसा विचार सुनते ही अर्जुन ने धीरज दी, तिस पर प्राण न त्यागकर युधिष्ठिर ने यह प्रतिज्ञा की—"तेरह वर्ष तक मैं कभी अपने भाइयों व अन्य राजाओं को कठोर वचन नहीं कहूँगा, अपने स्वजातियों की आज्ञा मानकर उनकी सेवा च सब काम करूँगा। पुत्र, प्रजा, बड़े और छोटे सभी लोगों के साथ समान व्यवहार करूँगा। तब मेरे द्वारा भेदभाव—जो सब लड़ाई-झगड़ों की जड़ है उस—के उत्पन्न होने का खटका न रह जायगा। मित्रों में भेदभाव पड़ने से ही युद्ध की आग जल उठती है, मैं झगड़े को एकदम मिटाकर ऐसे ही काम करूँगा जो सबको प्रिय होंगे।"

ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर मंगल की इच्छा रखनेवाले भीमसेन आदि भाइयों ने धर्मराज के उक्त वचनों का अनुमोदन किया। तब धर्मराज भाइयों सहित अपनी नगरी में पधारे और राज्य करने लगे।

दुर्योधन अपने मामा के साथ सभागृह की शोभा देखता हुआ

घूम रहा था कि कहीं स्फटिक के फ़र्श को जल समझकर अपने कपड़े उतारने लगा, कहीं सरोवर के स्वच्छ जल को स्फटिक की भूमि समझकर कपड़े पहने हुए उसमें जा गिरा, कहीं बंद किये हुए स्फटिक के दरवाज़े को खुला समझकर अंदर जाने लगा तो सिर को टक्कर लगी, कहीं खुले दरवाज़े को बंद समझकर उसे खोलने के विचार से नीचे झुकने लगा, तो गिर पड़ा। इस प्रकार उसकी बुद्धि ठिकाने न रही, सब जगह जल को थल और थल को जल समझने लगा। दुर्योधन की इस दुर्दशा को देखकर सब पांडव लोग और उनकी स्त्रियाँ हँस पड़ीं। इस हँसी ने उसकी छाती में घर कर लिया। पांडवों की संपत्ति, कीर्त्ति, वैभव, भिन्न-भिन्न राजाओं से मिली हुई भेंट और सभागृह में अपनी दुर्दशा देखकर डाह से दुर्योधन की छाती जल उठी, और अपने मामा को आह भरकर वह बोला—"यदि यह सारी संपत्ति मुझे किसी उपाय से न मिली, तो मैं आत्महत्या अवश्य कर लूँगा।" मामा ने उसे धीरज देकर कहा—"धर्मराज (युधिष्ठिर) जुआ के खिलाड़ी हैं, पर उसमें निपुण नहीं हैं। यदि जुआ खेलने के लिए उन्हें बुलाया जाय, तो न नहीं करेंगे। इस दाँव में अगर वह फँसे, तो फिर मार लिया।" ऐसा सुनने पर दुर्योधन ने हस्तिनापुर पहुँचकर धृतराष्ट्र को अपने अनुकूल कर लेने के आशय से अपने हृदय की दशा को उनके आगे ऐसे खोला—"पिताजी! मैंने देखा कि जो महानुभाव राजेंद्र जगत् में सत्यवादी, दृढ़व्रत, विद्वान्, श्रेष्ठ वक्ता, वेद-वेदांग-विशारद, बुद्धिमान्, धर्मात्मा और यशस्वी कहलाते हैं, वे बड़ी प्रसन्नता के साथ युधिष्ठिर की उपासना कर रहे हैं। जगह-जगह पर राजाओं की लाई हुई हज़ारों जंगली गायें आदि उपयोगी पवित्र पशु बँधे हुए हैं। राजा लोग अपने हाथ से अभिषेक-सामग्री से भरे हुए

बरतनों को विधिपूर्वक सत्कार के साथ सजाकर ले आये थे। बाह्लीक राजा ने सोने की चमक से जगमगाता हुआ सुसज्जित रथ लाकर खड़ा किया। राजा सुदक्षिण ने सफ़ेद रंग का कांबोज देश का घोड़ा लाकर भेंट किया। महाबली सुनीथ राजा रथ के नीचे की लकड़ी ले आये । चेदिराज शिशुपाल ने ध्वजा लाकर दी। दक्षिण के राजा ने दृढ़ कवच, मगध के राजा ने माला और पगड़ी, वसुदान ने जवान हाथी, मत्स्यराज विराट ने सुवर्ण-मंडित 'जूआ', राजा एकलव्य ने (मणिजटित) जूते, अवंती के राजा ने अभिषेक के लिए तीर्थों का जल, चेकितान ने तरकस, काशिराज ने धनुष और शल्य ने पैनी तलवार ला कर दी। फिर महातपस्वी धौम्य, वेदव्यास, नारद, देवल और असित मुनि राज्याभिषेक का कार्य करने लगे। जहाँ अभिषेक हो रहा था, वहीं पर सब महर्षि प्रसन्नचित्त बैठे हुए थे। परशुराम और अन्य वेदपाठी महात्मा लोग मंत्र पढ़ते हुए अभिषेक करने के लिए धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये। जैसे सप्तऋषि देवलोक में इंद्र के पास जाते हैं, वैसे ही महात्मागण उस यज्ञ में आने लगे। अभिषेक के समय महाबाहु सात्यकि ने युधिष्ठिर के मस्तक पर सफ़ेद छत्र लगाया। भीमसेन और अर्जुन व्यजन (पंखा) डुला रहे थे। नकुल और सहदेव एक-एक चँवर हाथ में लिये पास खड़े थे। सत्ययुग में प्रजापति ब्रह्मा ने जो शंख इंद्र को दिया था, वही वारुण शंख कलशोदधि से युधिष्ठिर को प्राप्त हुआ। अब वासुदेव ने विश्वकर्मा के बनाये बहुमूल्य शैक्य से युधिष्ठिर का अभिषेक किया। यह सब देखकर मुझे घोर कष्ट हुआ। सब दिशाओं में जाकर पांडव जो सैकड़ों मंगलसूचक शंख ले आये थे, उनकी मंगलसूचक ध्वनि सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये । सब राजाओं को और मुझे शंखों की ध्वनि से) अचेत देखकर बलशाली

सुंदर पाँचो पांडव, धृष्टद्युम्न, सात्यकि और वासुदेव, ये आठों एक दूसरे की ओर देखकर हँसने लगे । युधिष्ठिर ने मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ समझ भेंट लेने के काम पर नियुक्त किया था । सो मैं असंख्य रत्न लेते-लेते थक गया । पर रत्नों का पार नहीं पा सका । अंत को थककर जब मैं खड़ा हो गया, तब राजा लोग, जो दूर-दूर से रत्न लाये थे, प्रतीक्षा करने लगे । इस धन का तो डाह मुझे हो ही रहा था कि उस सभागृह में स्फटिक की बनी हुई नलिनी को, जो पानी से भरी हुई दीखती थी, देखने लगा । मैंने वहाँ पानी समझकर अपने वस्त्र ऊँचे कर लिये । पर वहाँ जल न था । मेरी उस भ्रांति को देखकर भीमसेन हँसने लगा । उस हँसी को देख मेरा चित्त जलने लगा । उस समय मैंने भीमसेन को मारने का विचार भी किया, परंतु अपने को असमर्थ देखकर और यह जानकर कि कहीं मेरी भी गति शिशुपाल की सी न हो, मैं चुपका हो रहा । इसके पीछे उसी सभागृह में एक बावली के पास, जिसमें कमल लगे हुए थे, गया । उसे देखकर मुझे यह भ्रांति हुई कि यहाँ जल नहीं है, इसलिए मैं आगे बढ़ा और उसमें गिर पड़ा और मेरे कपड़े भीग गये । इसको देखकर अर्जुन और श्रीकृष्ण ठट्ठा मारकर हँस पड़े, और द्रौपदी भी अपनी साथ की स्त्रियों सहित हँसी । उस हँसी को देख मैं परम दुःखी हो गया । उसी समय युधिष्ठिर की आज्ञा से नौकरों ने मुझे सूखे वस्त्र लाकर पहनने को दिये, उनको लेकर मैं और भी पीड़ित और लज्जित हो गया । इसके पीछे मैं एक स्थान के भीतर घुसने लगा । ऐसा प्रतीत होता था कि वहाँ कोई खुला द्वार है, पर स्फटिक की दीवार वहाँ थी । इसलिए उस स्थान में घुसते ही मेरे माथे में स्फटिक की शिला की ठोकर लगी, और मैं घायल हो गया । इस बात को नकुल और सहदेव देखकर दौड़े

और मुझे पकड़कर सहदेव आश्चर्य से कहने लगा—'हे राजा! द्वार इधर है, उधर नहीं है।' भीमसेन इस पर भी खिलखिला के हँसा जिसकी मेरे दिल में सख़्त चोट है। इसके अतिरिक्त उस सभागृह में मैंने ऐसे रत्न देखे कि जिनके नाम भी नहीं सुने थे। हे पिता! इन सब कारणों से मैं अत्यंत दुःखी हो रहा हूँ।

"फिर हे पिताजी! यज्ञ में अर्जुन ने प्रसन्नतापूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पाँच सौ बैल दिये। हरएक बैल के सींग सोने से मढ़े थे। महाराज हरिश्चंद्र की तरह धूमधाम से राजसूय यज्ञ समाप्त करके बाहु-बलशाली राजा युधिष्ठिर की जैसी अपूर्व शोभा हुई और उन्हें जैसा ऐश्वर्य मिला, उसका वर्णन नहीं हो सकता। रंतिदेव, नाभाग, यौवनाश्व, मनु, वेन के पुत्र राजा पृथु, भगीरथ, ययाति या नहुष, कोई भी महाराज पहले ऐसे ऐश्वर्य के अधिकारी न हुए होंगे। पिताजी! राजा युधिष्ठिर महाराज हरिश्चंद्र के समान सत्यवादी होने का यश इस लोक में प्राप्त कर चुके हैं, यह देखकर डाह के मारे मर जाना ही मुझे अच्छा लगता है। पिताजी! क्या कहूँ, इन्हीं बातों को देख-सुनकर मुझे दम भर भी चैन नहीं पड़ता। यही कारण है कि मैं दिन-प्रति दिन मलिन. दुर्बल और शोक से व्याकुल होता जा रहा हूँ।"

दुर्योधन के कह चुकने पर धृतराष्ट्रजी बोले—"बेटा! तुम मेरे बड़े लड़के हो। पांडवों का सौभाग्य देखकर, अकारण ईर्ष्या के वश होकर अपने आत्मा को क्लेश पहुँचाना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। सोचकर देखो, कपट और द्वेष का नाम भी धर्मात्मा युधिष्ठिर नहीं जानते। उनकी समृद्धि को देखकर अत्यंत शत्रु की तरह उन्हें न सह सकना क्या तुम्हें शोभा देता है? तुम तनिक चित्त को स्थिर करके सोचो, तो तुम्हें जान पड़ेगा कि तुम्हारी संपत्ति और तुम्हारे सहायक युधिष्ठिर से कम

नहीं हैं, फिर तुम अत्यंत लोभी अर्थ-पिशाच की तरह क्यों भाई का ऐश्वर्य हर लेना चाहते हो ? अगर यज्ञ करने की इच्छा प्रबल हुई हो, तो इच्छा करते ही पुरोहित लोग तुमको सप्ततंतु महायज्ञ की दीक्षा देंगे । तुम्हें भी राजा लोग इसी तरह प्रीति और सम्मान के भाव से बहुत-सा धन-संपत्ति तथा रत्न आदि भेंट करेंगे । बेटा, अत्यंत नीच प्रकृतिवाले मनुष्य के सिवा और कोई पराये धन पर नीयत नहीं डुलाता । पराये धन को लेने की इच्छा बिलकुल न दिखाकर अपने कर्त्तव्य कामों में तत्परता दिखाना ही ऐश्वर्यशाली पुरुष का लक्षण है। विपत्ति के समय धैर्य धारण करना और सावधानी के साथ उद्योग करना ही सत्पुरुष का काम है। सोचकर देखो, अपने शरीर में लगे हुए हाथों की तरह पांडव लोग तुम्हारे हैं और तुम्हारे सहायक हैं। इस कारण उनके धन को प्राप्त करने की इच्छा से उनके साथ वैर बढ़ाने में तुम्हारा कुछ लाभ तो है नहीं, बल्कि उससे भाइयों के साथ बिगाड़, मित्रों से बिगाड़, बड़े भारी झगड़े और युद्ध आदि के द्वारा वंश के नाश की ही आशंका है। इसलिए मैं तुमको बार-बार मना करता हूँ कि तुम पांडवों से ईर्ष्या या शत्रुता मत करो। मित्रों से द्रोह करना अनर्थ की जड़ है। खासकर तुम और पांडव एक ही पितामह के वंश में उत्पन्न हुए हो । युधिष्ठिर का यज्ञ देखकर यदि तुम्हारा चित्त बहुत चंचल हो उठा हो, तो तुम भी पांडवों की तरह यज्ञ आरंभ करके बहुत-सा धन-रत्न ब्राह्मणों को दो। प्रार्थियों की इच्छा पूरी करो । बेखटके माला-चंदन, उत्तम स्त्री आदि विषयों के भोग में लगकर बुरे विचारों को भूल जाओ ।"

दुर्योधन ने कहा—"महाराज ! जिस मनुष्य में अपनी कुछ बुद्धि नहीं होती, केवल सुनी-सुनाई बातें जानता है, वह शास्त्र के अर्थ

को नहीं जान सकता, जैसे चमचा दाल-तरकारी के स्वाद को नहीं जान सकता, जैसे एक नाव में बँधी हुई दूसरी नाव स्वतंत्र नहीं होती, वैसे आप मुझको पूर्वापर जानने पर भी मोहित बतलाते हैं। न जाने आप अपने स्वार्थ को क्यों नहीं पहचानते? मुझे बड़ा आश्चर्य है कि आप भी मुझसे द्वेष करते हैं; चौसर के खेल में शत्रु का सर्वस्व हर लेने को आप भावी अनर्थ का कारण बतलाते हैं। जो व्यक्ति पथप्रदर्शक होते हुए भी स्वयं औरों के पीछे चले, वह भला क्यों न भूले और उसे ठीक मार्ग क्यों कर मिले? उन्हें पग-पग पर विपत्ति की आशंका हो सकती है। ऐसे अगुवा का अनुसरण करना या उसका कहना मानना किसी तरह बुद्धिमान् का काम नहीं। महाराज! आपकी बुद्धि विवेक से पक चुकी है। आपने बड़े-बूढ़ों की सोहबत की है। आप जितेंद्रिय भी हैं। फिर न मालूम आप क्यों हमारा उत्साह मिटाने की—उद्योग-भंग की—चेष्टा कर रहे हैं? बृहस्पति का वचन है कि साधारण लोक-व्यवहार से राजाओं का व्यवहार बिलकुल जुदा होता है। इसलिए राजा को सावधानी से स्वार्थ की चिंता करनी चाहिए। जय प्राप्त करना ही क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। इसलिए चाहे धर्म हो, चाहे अधर्म, कर्त्तव्यपालन से विमुख होने का क्या प्रयोजन है? सारथी जैसे चाबुक मारकर सब तरफ़ घोड़ों को चला सकता है, वैसे ही जय की इच्छा रखनेवाला भी बे-रोक-टोक सभी मार्गों का आश्रय ले सकता है। भीतरी हो या बाहरी, जिस उपाय से शत्रु का दमन किया जा सके, उसी उपाय को काम में लाना जय की इच्छा रखनेवाले पुरुष के लिए शास्त्र-सम्मत है—यही 'उपाय' सच्चा हथियार है, केवल वही हथियार नहीं है जिससे मार-काट हो सके। महाराज! शत्रु और मित्र की पहचान का कोई नियम नहीं लिखा है। जिससे जिसको संताप पहुँचे, वही

उसका शत्रु माना जाता है। राजन्, संपत्ति की बढ़ती का मूलकारण असंतोष ही है। इसलिए मैं वही करूँगा जिससे असंतोष बढ़े, क्योंकि नीतिकार कहते हैं कि जो उन्नति की चाह रखता है, वही सचमुच नीति-कुशल है। इस प्रकार बलपूर्वक शत्रु पर हमला करके उसके सर्वस्व छीन लेने को शास्त्रकारों ने राजा का धर्म माना है। देखिए, इंद्र ने द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करके भी नमुचि दानव का सिर काट डाला था। शत्रु को धोखा देकर मार डालना या उसका सर्वनाश करना एक पुरानी चाल है। साँप जैसे बिल में आये हुए मेढक आदि को निगल जाता है, ऐसे ही शत्रु से विरोध न करनेवाले राजा और देशों में न घूमनेवाले संन्यासी को पृथिवी निगल जाती है। शत्रुता कुछ जाति पर निर्भर नहीं। जिसकी जीविका अपने तुल्य हो, वही अपना वैरी है। शत्रु को जो कोई उपेक्षा की दृष्टि से देखता और प्रबल होने देता है, वह क्रमशः बढ़नेवाले रोग के समान उस शत्रु के हाथों नष्ट हो जाता है। दीमक जैसे वृक्ष की जड़ में रहकर किसी समय उस अपने आश्रयस्थल वृक्ष को खोखला बनाकर गिरा देती है, वैसे ही तुच्छ शत्रु भी, उपेक्षा दिखाने से, यथासमय ज़ोर पकड़कर लापरवाही करनेवाले को पिछाड़ देता है। महाराज! मैं चाहता हूँ कि शत्रु के ऐश्वर्य और सौभाग्य को देखकर आप प्रसन्न न हों। मैंने यह जो आपसे कहा है, उसे हरएक पराक्रमी पुरुष स्वीकार करेगा। जिसे उन्नति की चाह होती है उसकी, अपनी जातिवालों के बीच, अवश्य वृद्धि होती है। मेरा मतलब यह है कि पराक्रम और उद्यम ही अभ्युदय के मूलकारण हैं। मैं या तो पांडवों के ऐश्वर्य और सौभाग्य को प्राप्त करूँगा या युद्ध ठानकर प्राण दे दूँगा। पिताजी! क्या जाने हमारी उन्नति होगी या नहीं? किंतु पांडव तो नित्य बढ़ रहे हैं,

यह देखकर मुझे अपना जीवन भार मालूम पड़ रहा है।"

दुर्योधन के कह चुकने पर झट बीच में शकुनि बोल उठा—"हे दुर्योधन! यदि पांडव अपने मित्रों के सहित इकट्ठे हों, तो उनके सम्मुख युद्ध में देवता लोग भी उन्हें नहीं हरा सकते, पर युधिष्ठिर की सौभाग्य-लक्ष्मी ही अगर तुम्हारे इस खेद और संताप का कारण है, तो उसे मैं पाँसों के खेल में जीतकर तुम्हें दे सकता हूँ। राजा युधिष्ठिर को जुआ खेलने का बड़ा शौक़ है। पर उसमें वे निपुण नहीं हैं। पर मैं पाँसा फेंकने में पक्का उस्ताद हूँ। आज तक इस खेल में मुझे कोई भी नहीं हरा सका। इसलिए युधिष्ठिर को जुआ खेलने को बुलाओ। आने को यदि उनकी इच्छा भी न होगी, तो भा वह न नहीं करेंगे, लज्जा के मारे वह विना खेले न रहेंगे।" तब दुर्योधन ने धृतराष्ट्रजी से कहा—"पिताजी! मामा शकुनि पाँसों के खेल में बड़े चतुर हैं, वे अवश्य पांडवों की सब संपत्ति को, पाँसों के खेल से, हर लेंगे। हमारी समझ में उनका यह प्रस्ताव उत्तम और श्रेयस्कर है। आप अवश्य युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बुलवाइए।"

इस पर धृतराष्ट्रजी बोले—"हे पुत्र! मैं महाबुद्धिमान् विदुर से सलाह किये विना तुम्हें किसी काम के लिए अनुमति नहीं दे सकता। इसलिए पहले उनसे सलाह करके मुझे कर्तव्य का निश्चय कर लेने दो।"

दुर्योधन बोला—"पिताजी! विदुर जैसे पांडवों के शुभचिंतक हैं, वैसे मेरे नहीं हैं, इस कारण वे अवश्य इस बारे में सम्मति देने से आपको रोकेंगे; पर मैं कहे देता हूँ कि ऐसा न होने से मैं अपने प्राण नहीं रक्खूँगा।"

धृतराष्ट्रजी बोले—"बेटा! अपने से बल में अधिक व्यक्ति के साथ झगड़ा ठानना मुझे किसी तरह नहीं रुचता। देखो, शत्रुता

ही विकार पैदा कर देती है। और विकार वह शस्त्र है जो लोहे का बना हुआ न होने पर भी बहुत जल्द विध्वंस कर देता है। बेटा दुर्योधन! यह जुआ झगड़े और घोर अनर्थ की जड़ है। उसी को तुम अर्थ-प्राप्ति का साधन समझते हो। जुए में प्रवृत्त होने पर अवश्य तीक्ष्ण बाणों और तलवारों के वार की नौबत आ जायगी।"

दुर्योधन बोला—"पिताजी! पहले के और राजा भी तो जुआ खेलते थे। उनका नाश होने की या उनमें युद्ध छिड़ने की बात तो किसी ने सुनी नहीं। चाहे जो हो, महाराज! आप मामा शकुनि की बात पर विश्वास करके युधिष्ठिर को जुए के लिए बुलवा दीजिए। अन्यथा मैं अपने प्राण कदापि न रक्खूँगा।"

पुत्र का यह हाल देखकर उसे शांत करने के लिए धृतराष्ट्र उसकी बात पर राज़ी हो गये और नौकरों को बुलाकर बोले—"कारीगरों को कह दो कि एक हज़ार खंभे लगाकर सौ द्वारोंवाला स्फटिक का एक रत्नमंडित खेल-घर शीघ्र ही बनावें।"

दुर्योधन इससे प्रसन्न होकर चला गया। पर विदुर को बुलाये विना धृतराष्ट्र से न रहा गया। कारण यह कि विदुरजी जुए को अनेक दोषों का घर समझते थे। जुआ खेलने का समाचार पाकर सोच-विचार में डूबे हुए विदुर जल्दी से जेठे भाई धृतराष्ट्र के पास पहुँचे और घबराहट से कहने लगे—"महाराज! हम आपकी इस बात को अच्छा नहीं समझते। इस खेल के कारण आपके पुत्रों में वैर की विकट आग जल उठने की संभावना है। अब भी समय है, आप इसे रोकिए।"

धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को मना करना असंभव समझकर विदुर की सलाह न मानी। वे बोले—"हे विदुर! तुम इस इरादे को हमारा क्यों कहते हो? सब कुछ दैव के हाथ है। दैव ही इसका

कारण है। यदि दैव प्रसन्न हो गया, तो कोई विपद् न आवेगी। इसलिए तुम निडर होकर खांडवप्रस्थ जाओ और युधिष्ठिर को खेलने के लिए हमारी ओर से न्योता दो।"

जब विदुर दुःखी होकर चले गये, तब धृतराष्ट्र ने फिर दुर्योधन को एकांत में बुलाकर समझाने की आख़िरी चेष्टा की। वे बोले—"हे बेटा! विदुर हम लोगों को कभी ऐसा उपदेश नहीं देते, जो हमारे लिए भला न हो। इसलिए जब वे इस बात पर राज़ी नहीं हैं, तब जुआ खेलने की कोई ज़रूरत नहीं। देखो, तुम विद्वान् हो, तुमने राजगद्दी पाकर अपने बाप-दादे के राज्य को खूब बढ़ाया है। दिन पर दिन तुम्हारा तेज बढ़ता जाता है। इसलिए तुम्हारे दुःखी होने का कोई कारण हम नहीं देखते। दूसरे की बढ़ती से दुःखी होकर क्या तुम अपना भी अधिकार खोना चाहते हो?"

दुर्योधन बोला—"हे राजन्! हम जिस तरह दुःख से दिन बिताते हैं, उससे जो हो जाय, सो ही अच्छा है। युधिष्ठिर की सभा में जो अपमान हमने लाचार होकर सहे हैं, उनका बदला लिये बिना हम क्षण भर नहीं रह सकते। शत्रु के तरफ़दार विदुर की बातों में आकर आप किस लिए अपने पुत्रों के वैभव की वृद्धि को रोकते हैं? यदि इस तरह चुपचाप बैठे रहना ही आप अच्छा समझते हैं, तो ऐसे जीने से मर जाना ही अच्छा है।"

धृतराष्ट्र बोले—"पुत्र! तुम जो कहते हो, उसे हम अच्छा नहीं समझते। ख़ैर, तुम जो चाहो करो; पर ऐसा न हो कि पीछे पछताना पड़े।"

इसके बाद विदुरजी, धृतराष्ट्र की आज्ञानुसार, इच्छा न होने पर भी, घोड़े पर सवार होकर, पांडवों की राजधानी में पहुँचे, और कुबेर के महल के समान राजभवन में जाकर युधिष्ठिर के पास बैठ गये। सबके प्यारे युधिष्ठिर, विदुर की यथोचित पूजा

करके पूछने लगे—"हे विदुरजी ! आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हुई है न ? कौरवों के कुशल-समाचार सुनने के लिए हम बड़े उत्सुक हैं। दुर्योधन आदि भाई लोग चचा धृतराष्ट्र के आज्ञाकारी तो हैं?"

विदुर ने कहा—"पुत्र और संबंधियों समेत महात्मा धृतराष्ट्र कुशल से हैं। इस समय उन्होंने तुम्हारे कुशल-समाचार पूछे हैं, और जुआ खेलने के लिए भाइयों समेत तुम्हें न्योता दिया है। वहाँ तुम अपनी सभा की तरह खेलने की एक सभा देखोगे। तुम्हारे दर्शन करके कौरव लोग बड़े प्रसन्न होंगे। तुम्हें यही समाचार देने के लिए हम यहाँ आये हैं। कहो, इस समय तुम्हारा क्या विचार है?"

इसके उत्तर में युधिष्ठिर ने विदुरजी से, जो धृतराष्ट्र के कहने पर उन्हें बुलाने के लिए आये थे, ऐसे कहा—"जुआ लड़ाई का घर है, उसमें फँसना मैं उचित नहीं समझता, और न अकेले धृतराष्ट्र के कहने से मैं जाता, क्योंकि हम जानते हैं कि वे अपने पुत्रों के बड़े पक्षपाती हैं और सर्वथा उन्हीं के वश में हैं, पर जब आप हमें बुलाने आये हैं, तो निमंत्रण स्वीकार करना ही होगा।" ऐसा कहकर युधिष्ठिर चारों भाइयों और द्रौपदी के सहित हस्तिनापुर पहुँचे, और जुआ खेलने लगे। इस जुए में युधिष्ठिर अपनी सारी संपत्ति, राज्य, अपने चारों भाई और अंत में अपने आपको तथा सती द्रौपदी को भी हार गये। इस हार से दुःशासन ने भरी सभा में सुशीला द्रौपदी का जो अपमान किया, वह अत्यंत निंदनीय और हृदयवेधक है। जब दुःशासन उसे केशों से पकड़कर कौरवों की सभा में लाया, उसे बार-बार दासी कहकर पुकारा और उसके चीर उतारने लगा, तब अपनी रक्षा के लिए द्रौपदी नर-नारायण के अवतार अर्जुन और कृष्ण को पुकारने लगी।

उस समय द्रौपदी के बाल खुले हुए थे, अंग पर से आधी साड़ी भी हट गई थी। लज्जा और क्रोध के मारे उसका हृदय मानों जला जा रहा था। ऐसी दशा में (सभा में लाये जाने पर) द्रौपदी ने धीरे-धीरे यों कहा—"रे दुष्ट! इस सभा में सब शास्त्रज्ञ, क्रियावान्, इंद्रतुल्य प्रतापी, गुरुतुल्य पूजनीय वृद्ध और मेरे गुरुजन बैठे हैं। उनके आगे मैं इस दशा में कभी नहीं ठहर सकती। रे नीच! तेरा चरित्र अनार्य पुरुषों का सा है। तू मुझे नंगी मत कर। देख, अगर सब देवताओं-सहित इंद्र भी तेरी सहायता करेंगे, तो भी राजपुत्र पांडव कभी तेरे इस काम को नहीं सहेंगे। धर्म की गति बहुत सूक्ष्म है; चतुर पंडित ही उसे समझ सकते हैं। महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिर सज्जन-सेवित धर्म-मार्ग से कभी डिग नहीं सकते। मैं गुणों के सिवा रत्ती भर भी स्वामी के दोष को अपनी ज़बान पर नहीं ला सकती। रे अभागे दुःशासन! रजस्वला जानकर भी तू मुझे कौरव वीरों के आगे बलपूर्वक खींच रहा है, यह बड़ा भारी कुकर्म है; पर इन सभासदों में से कोई इस कार्य के लिए तेरी निंदा नहीं करता। जान पड़ता है, तेरे हाथों यों मेरा अपमान होना सबको पसंद है। धिक्कार है! सौ बार धिक्कार है! अहो, आज भरतवंश वालों का धर्म और क्षत्रियों का चरित्र नष्ट हो गया! क्योंकि सभा में बैठे हुए सब कौरव ऐसे आचरण को देख रहे हैं, जो कौरववंश के धर्म के विरुद्ध है। समझ गई, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और महात्मा विदुर में अब पुरुषार्थ नहीं रहा। तभी तो ये सब कुरुवंश के बड़े-बूढ़े लोग राजा के इस भयंकर अधर्म को बैठे देख रहे हैं और कुछ कर नहीं सकते।"

इस प्रकार युधिष्ठिर आदि पांडवों को दुःखित और दुःशासन के हाथ से अपमान होने के कारण द्रौपदी को शोक-विह्वल देख

कर धृतराष्ट्र के पुत्र धर्मात्मा विकर्ण से नहीं रहा गया। उन्होंने ऊँचे स्वर से सभासदों से कहा—"हे सभासदो, आप लोग विचार करके, पक्षपात छोड़कर द्रौपदी के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर क्यों नहीं देते ? हम लोग यदि विवेक से द्रौपदी के प्रश्न का ठीक उत्तर न देंगे, तो अधर्मभागी होने के कारण नरकगामी होंगे। भीष्म पितामह और महाराज धृतराष्ट्र, ये दोनों कुरुवंश में बूढ़े हैं। इन्होंने सलाह करके अभी तक कुछ नहीं कहा। महामति विदुर भी चुप हैं। भरतकुल के गुरु कृपाचार्य और द्रोणाचार्य, दोनों ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। इन्होंने अभी तक द्रौपदी के प्रश्न का ठीक उत्तर क्यों नहीं दिया ? और भी जो राजा लोग इस सभा में आये हुए हैं, वे भी काम और क्रोध (मित्रता और शत्रुता) के भाव को छोड़कर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इस बारे में कहें। हे राजा लोगो ! कल्याणरूपिणी द्रौपदी वारंवार आप लोगों से जो प्रश्न कर रही है, उसके बारे में विचार करके, जिसकी समझ में जो आवे, उत्तर दीजिए।"

विकर्ण ने वारंवार ऊँचे स्वर से सब राजाओं से यों कहा, पर किसी ने भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया। तब वह क्रोध के मारे हाथ मलते हुए लंबी साँस लेकर कहने लगा—"आये हुए राजा लोगो, और हे कौरवो ! तुम लोग कुछ उत्तर दो या न दो; इस बारे में मुझे जो कुछ उचित और न्याय-संगत मालूम पड़ता है, सो मैं कहे देता हूँ। शास्त्रकारों ने शिकार खेलना, मदिरा पीना, जुआ खेलना और अत्यंत स्त्री-संभोग, ये चार राजाओं के व्यसन कहे हैं। इन व्यसनों में आसक्त मनुष्य धर्म का ख़याल नहीं रखता। इसी कारण कोई ऐसे व्यसनी से किये काम को प्रामाणिक नहीं मानता। वैसे ही जुआरियों के बुलाने पर, यहाँ आकर जुए के व्यसन में लिप्त हो युधिष्ठिर ने द्रौपदी की बाज़ी लगाई

है। साधारण रूप से द्रौपदी पाँचों पांडवों की पत्नी है। युधिष्ठिर ने पहले अपने को हारकर फिर द्रौपदी को दाँव पर लगाया है। इसके सिवा युधिष्ठिर तो द्रौपदी को दाँव पर लगाते ही नहीं, किंतु विजय की इच्छा रखनेवाले शकुनि ही ने पहले द्रौपदी की याद दिलाकर उन्हें दाँव पर लगा देने के लिए युधिष्ठिर को उभाड़ा है। इन्हीं कारणों से मैं कहता हूँ कि द्रौपदी नहीं जीती गई।"

विकर्ण ने निर्भयता से ऐसा कहा ही था कि कर्ण क्रुद्ध होकर विकर्ण को बहुत कुछ सख्त-सुस्त व कहनी-अनकहनी कहने लग पड़ा, जिससे वह आगे कुछ न बोला, और फिर दुःशासन कर्ण के कहने पर द्रौपदी के चीर ज़बरदस्ती से उतारने लग गया। द्रौपदी के चीर बाद चीर उतारे गये, पर भगवान् कृष्ण की कृपा से वह नंगी होने न पाई। चीर खींचते-खींचते जब दुःशासन थक गया, तब लज्जित होकर बैठ गया। यह देखकर भीमसेन से नहीं रहा गया। क्रोध से हाथ मलते हुए गंभीर स्वर से वह कहने लगा—"हे पृथिवी पर रहनेवाले क्षत्रियो ! आपके आगे यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि अगर मैं युद्ध में इस कौरवाधम पापी दुःशासन का हृदय चीरकर इसका खून न पियूँ, तो मुझे अपने पूर्व पुरुषों की गति प्राप्त न हो। मेरी ऐसी घोर प्रतिज्ञा न पहले किसी ने की है और न आगे ही कोई करेगा। मैं यह प्रतिज्ञा पूरी किये विना न रहूँगा।"

भीमसेन की उक्त भयानक प्रतिज्ञा सुनकर सब धर्मों और नीतियों के ज्ञाता विदुरजी से न रहा गया, वे सब लोगों को रोककर हाथ उठाकर यों कहने लगे—"हे सभ्यगण ! अनाथ की तरह रोकर द्रौपदी आप लोगों से जो बारंबार प्रश्न कर रही है, उसका कुछ उत्तर आप लोग नहीं देते। इससे धर्म का अनादर

होता है। सभा में प्रज्वलित आग के समान जो प्रश्न उपस्थित होता है, उसे सत्य और धर्म से युक्त उत्तर देकर सभ्य लोग शांत करते हैं। यही सनातन नीति है। आर्य पुरुष को चाहिए कि धर्म के अनुसार काम, क्रोध और बल-बुद्धि की परवाह न करके उस प्रश्न का उत्तर दे। हे नर-पतियो! महात्मा विकर्ण ने जैसे अपनी बुद्धि के अनुसार द्रौपदी के प्रश्न का निर्णय किया है, वैसे ही आप लोग भी निर्णय करके उस प्रश्न का उत्तर दें। जो धर्म का ज्ञान रखनेवाला पुरुष सभा में बैठकर प्रश्न का धर्मसंगत उत्तर नहीं देता, उसे झूठ बोलने के पाप के आधे अंश का भागी बनना पड़ता है। और जो धर्मज्ञ पुरुष सभा में बैठकर अधर्मयुक्त उत्तर देता है, उसे झूठ बोलने का पूरा पाप लगता है—ऐसा इतिहास-पुराणों आदि में स्पष्ट है।"

विदुर के ये वचन सुनकर भी सब सभासद चुप रहे; किसी ने कुछ नहीं कहा। तब कर्ण ने यह देख दुःशासन से कहा—"बस, अब हो चुका। द्रौपदी दासी है, इसको अपने महलों में ले जाओ।" सभा के बीच में लज्जा के मारे सिर नीचा करके, डर से काँपती, कौरवों को बकती-झकती और विलाप करती हुई तपस्विनी द्रौपदी को ले जाने के लिए नीच दुःशासन ज़बरदस्ती से खींचने लगा।

द्रौपदी ने कहा—"रे दुर्मति नराधम दुःशासन! तनिक ठहर जा। मैं पहले ही करने योग्य काम करना भूल गई हूँ। इस कुरुसभा में बैठे हुए वृद्ध पुरुषों को और सभासदों को मैं प्रणाम अब करती हूँ, जिसे पहले करना चाहिए था। पर इस बली ने बलपूर्वक खींचकर मुझे विह्वल कर दिया था, इसी कारण मैं पहले प्रणाम नहीं कर सकी। इस अपराध का कारण यही दुष्ट है। मैंने जान-बूझकर यह अपराध नहीं किया।"

बली दुःशासन ने फिर ज़ोर से द्रौपदी को खींचा। दुःख से विह्वल द्रौपदी इस झटके से पृथिवी पर गिर पड़ी। सर्वथा इस दुर्दशा के अयोग्य द्रौपदी सभा के बीच गिरकर इस प्रकार विलाप करने लगी—"हाय! स्वयंवर की सभा के सिवा और कहीं कभी मुझे किसी ने नहीं देखा, वही मैं आज इस सभा के बीच में सबके सामने इस तरह खींची जा रही हूँ! जिसे घर में पहले सूर्य और वायु ने भी नहीं देखा था, वही मैं आज इस भरी सभा में, इस दशा से, सबके आगे लाई गई हूँ! पांडव लोग घर में मेरे अंगों में हवा का स्पर्श भी नहीं सह सकते थे; वे ही पांडव आज चुपचाप देख रहे हैं और दुष्ट दुःशासन मुझे छू रहा है! ये सब कुरुवंश के लोग भी चुपचाप इस अन्याय को सह रहे हैं! मेरी समझ में यह सब समय का फेर है। मैं इन लोगों की बहू होने के कारण बेटी के बराबर हूँ, और क्लेश पाने के योग्य न होने पर भी ऐसी दुर्दशा में पड़कर क्लेश सह रही हूँ! इससे बढ़कर कष्ट की बात और क्या हो सकती है कि अच्छे कुल में उत्पन्न मैं पतिव्रता स्त्री सभा के बीच में लाई जाकर ऐसा अपमान सह रही हूँ! राजाओं का धर्म कहाँ चला गया? मैंने पहले का सनातनधर्म यह सुना था कि किसी की धर्मपत्नी सभा में नहीं लाई जाती। उस धर्म को आज कुरुवंश के लोगों ने नष्ट कर डाला। मैं पांडवों की धर्मपत्नी, धृष्टद्युम्न की बहन और वासुदेव की सखी इस प्रकार अपमान के साथ सभा के बीच लाई गई! इससे बढ़कर अनर्थ और क्या होगा? हे कुरुवंश के लोगो! मैं धर्मराज की सवर्णा भार्या हूँ। आप लोग बतावें, मैं दासी हुई हूँ या नहीं? आप लोग जो कहेंगे, वही मानकर मैं उसके अनुसार काम करूँगी। हे कौरवो! यह कुरुवंश के यश को मिटानेवाला दुष्ट दुःशासन बलपूर्वक खींचकर मुझे क्लेश दे रहा है। अब अधिक समय तक

मुझसे यह क्लेश नहीं सहा जायगा। हे सभासदो और कौरवो! आप लोग मुझे जीती हुई या न जीती हुई जैसी समझते हैं, सो कह दें। आप लोग जो कहेंगे, वह करने के लिए मैं तैयार हूँ।"

द्रौपदी के ये वचन सुनकर बुद्धिमान् महात्मा भीष्मजी ने कहा—"हे कल्याणी! धर्म की गति बहुत ही सूक्ष्म है। समय-समय पर अनेक शास्त्रों के ज्ञाता पंडित भी उसके बारे में कुछ निश्चय नहीं कर पाते। धर्म के बल से बली पुरुष धर्म के अनुसार ही चलते हैं। परंतु समय-समय पर धर्म की गति सूक्ष्म होने के कारण उन्हें भी अधर्म के मार्ग में पैर रखना पड़ता है। वास्तव में तुम्हारा प्रश्न अत्यंत सूक्ष्म और गहन है, और यह काम भी बड़े भारी विचार का है। इस कारण अभी तक तुम्हारे इस प्रश्न पर विचार करके भी मैं कोई सिद्धांत निश्चित नहीं कर सका। तो भी कौरवों के लोभ और मोह की अत्यंत अधिकता देखने से मुझे जान पड़ता है कि इस कुल का नाश शीघ्र ही होनेवाला है। बेटी! तुम जिस कुल की बहू हो, उस कुल के लोग धर्म के ऐसे अनुगत हैं कि घोर कष्ट पड़ने पर भी धर्म के मार्ग से नहीं डिग सकते। हे पांचाली! तुम्हारा यह आचरण तुम्हारे योग्य ही है कि ऐसे संकट में, ऐसी शोचनीय दशा में पड़ कर भी तुम धर्म को ही देख रही हो। यह देखो, धर्म के जाननेवाले द्रोणाचार्य आदि बूढ़े पुरुष अचेत की तरह सिर झुकाये बैठे हैं। इस समय मेरी राय यह है कि धर्मात्मा युधिष्ठिर ही तुम्हारे इस प्रश्न का निर्णय कर दें। वही बतावें कि तुम जीती गई हो या नहीं। इस बारे में उन्हीं का कहना सबसे अधिक प्रामाणिक माना जायगा।"

भीष्म के इस उत्तर के बाद सब राजाओं और राजकुमारों को चुपचाप बैठे देखकर मुसकाता हुआ दुर्योधन द्रौपदी से यों

कहने लगा—"पांचाली! तुम भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और अपने पति युधिष्ठिर से ही यह प्रश्न करो। वे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दें। अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव इस सभा में आर्य लोगों के सामने तुम्हारे लिए कह दें कि युधिष्ठिर किसी के स्वामी नहीं हैं और वे मिथ्यावादी हैं, तो तुम दासीभाव से छुटकारा पा सकती हो। मुझे विश्वास है कि इंद्र-तुल्य प्रतापी महात्मा धर्मराज धर्म को नहीं छोड़ सकते। ये खुद कह दें कि वे तुम्हारे स्वामी हैं या नहीं। वे जो कहें, उसी पर तुम्हारा दासी होना या न होना अवलंबित है। द्रौपदी! तुम्हारा कातर भाव और करुणा-विलाप देख-सुनकर सभी कौरव अत्यंत दुःखित हो रहे हैं। ख़ासकर तुम्हारे अभागे स्वामियों की दुर्दशा देखकर सब लोग दुःख-समुद्र में इतने डूब गये हैं कि किसी के मुँह से बात नहीं निकलती।"

दुर्योधन के ये वचन सुनकर सब राजा लोग अब महाराज़ युधिष्ठिर की ओर देखने लगे और मन में कहने लगे कि देखें युधिष्ठिर क्या कहते हैं; अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव की इस बारे में क्या राय है।

इतने में महापराक्रमी भीमसेन हाथ उठाकर कहने लगे—"यदि गुरु-तुल्य माननीय यशस्वी धर्मराज हमारे प्रभु न होते, तो हम कभी कौरवों के अत्याचार को और उनके अपराध को क्षमा न करते। हमारे धर्म-कर्म और प्राणों के भी स्वामी धर्मराज अगर अपने को, द्रौपदी को दाँव पर लगाने से पहले, जुए में हरा हुआ समझते हैं, तो हम चारों भाई भी निःसंदेह जीत लिये गये। यदि मैं स्वाधीन होता तो द्रौपदी के केशों में हाथ लगानेवाला मनुष्य, पृथिवी पर कहीं भी भागकर क्यों न जाता, मेरे हाथ से जीता न बच सकता। लोहे के बेलन के समान दृढ़ और फैले

हुए मेरे इन हाथों को देखो, इनके बीच में पड़कर इंद्र भी जीते नहीं बच सकते थे; पर क्या करूँ, धर्म-पाश में बँधा हुआ हूँ, बड़े भाई के गौरव का खयाल है, और अर्जुन भी रोक रहे हैं, इसी से यह अत्याचार सह रहा हूँ। जो धर्मराज आज्ञा दे दें, तो अभी मैं, सिंह जैसे क्षुद्र मृगों का शिकार करता है, वैसे ही इन धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्रों को पकड़कर पीस डालूँ।"

क्रोध से विह्वल भीमसेन के ये वचन सुनकर भीष्म, द्रोण और विदुर ने उन्हें शांत करते हुए कहा—"भैया भीमसेन! क्षमा करो। तुम्हारा कहना ठीक है, तुम सब कर सकते हो।"

इसके बाद कर्ण बोला—"भद्रे द्रौपदी! दास, पुत्र और पराधीन स्त्री, ये तीनों धन-हीन कहे गये हैं। निर्धन दास की पत्नी और दास का सब धन उस दास के प्रभु का होता है। इस कारण तुम मेरा उपदेश सुनो। मैं तुम्हें उचित कर्तव्य बताता हूँ। इस समय तुम्हारे स्वामी कौरव धृतराष्ट्र के पुत्र हैं, पांडव नहीं हैं, इसलिए तुम राजा दुर्योधन के परिवार में प्रवेश करके उन्हें भजो। अन्यथा हे भामिनी! इस समय तुरंत तुम ऐसे दूसरे पति को स्वीकार करो जो तुमको जुए में हारकर दासी बनानेवाला न हो; अथवा दासी का कोई ख़ास पति नहीं होता, सो तुम वही वृत्ति ग्रहण कर लो। देखो, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव सब हारकर दास हो गये हैं। उनके साथ ही तुम भी दासी हो चुकीं। जुए में अपने को हारे हुए पांडव इस समय तुम्हारे पति नहीं रहे। कुंती-पुत्र युधिष्ठिर! क्या ऐहिक जीवन का कुछ प्रयोजन नहीं समझते थे? पराक्रम और पौरुष की परवाह न करना क्या उनके योग्य काम हुआ है? यदि वे ऐसा न समझते होते तो पांचालराज द्रुपद की कन्या को जुए के दाँव पर क्यों लगा देते?"

कर्ण के ये वचन सुनकर अत्यंत क्रोधी भीमसेन आर्तभाव धारण करके बारंबार लंबी साँसें लेने लगे। क्या करते, राजा युधिष्ठिर के अनुगत और धर्म-पाश में बँधे हुए होने के कारण वे कुछ नहीं कर सकते थे। उनकी आँखें लाल हो गईं। वे इस प्रकार युधिष्ठिर की ओर देखने लगे, मानों उनको जलाकर भस्म कर डालेंगे। भीमसेन ने युधिष्ठिर से कहा—"राजन्, मैं सूतपुत्र कर्ण के ये वचन सुनकर उस पर क्रोध नहीं करता, क्योंकि हम सचमुच हारकर दास हो चुके हैं, और कर्ण जो कह रहा है, वह दास धर्म ही है। परंतु हे नरेंद्र! मुझे क्रोध आपके ऊपर है, क्योंकि जो आप द्रौपदी को दाँव पर रखकर जुआ न खेलते, तो शत्रुओं की क्या मजाल थी कि ऐसे दुर्वचन कहकर हमारा अपमान करते?"

भीमसेन के ये वचन सुनकर, अचेत से चुप बैठे युधिष्ठिर को राजा दुर्योधन बोला—"राजन्! भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव, सब तुम्हारे अधीन हैं। इसलिए अब तुम्हीं इस प्रश्न का उत्तर दो कि द्रौपदी हारी हुई वस्तुओं में गिनी जा सकती है या नहीं?" युधिष्ठिर से यों कहकर ऐश्वर्य के मद से मस्त दुर्योधन केले के खंभे के समान बनी हुई बाईं जाँघ पर से कपड़ा हटाकर उसने द्रौपदी की ओर देखा और घृणित इशारा किया।

यह देखकर क्रोधी भीमसेन आगबगोला हो उठे। वे लाल-लाल आँखें फाड़कर दुर्योधन की ओर देखते हुए, सब सभासदों को सुनाकर, ऊँचे स्वर से कहने लगे—"रे दुर्योधन! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मैं महायुद्ध में गदा से तेरी यह जाँघ न तोड़ डालूँ तो मुझे मरने पर अपने पितरों के लोक न प्राप्त हों।"

भीमसेन की यह भयानक प्रतिज्ञा सुनते ही विदुर बोल उठे—"हे कुरुवंशियो! यह देखो, भीमसेन ने भयानक प्रतिज्ञा की है।

इसमें संदेह नहीं कि दैव की प्रेरणा से ही दुर्योधन आदि ने अन्याय करके यह अनर्थ उत्पन्न किया है। मुझे जान पड़ता है, यह कुरुवंश नष्ट हो जायगा। हे दुर्योधन ! तुमने सभा के बीच में स्त्री को लाकर द्यूतधर्म के भी विरुद्ध काम किया है। सभा में स्त्री को लाकर उसके लिए यों झगड़ा ठानना किसी दृष्टि से अच्छा नहीं कहा जा सकता। इस कुकर्म और अत्याचार से तुम लोगों के पूर्वोपार्जित सब धर्म-कर्म नष्ट हो गये। कैसे खेद की बात है कि कुरुवंश के सब लोग इस कुमंत्रणा के पृष्ठपोषक बन रहे हैं। हे कुरुवंशियो ! सभा के बीच में किसी तरह का अधर्म होने से सब सभासदों को दोष लगता है। हे दुर्योधन और दुःशासन ! तुमसे मैं इस समय भी प्रार्थना करता हूँ, मेरी बात पर ध्यान दो। महाराज युधिष्ठिर अगर अपने को हारने से पहले द्रौपदी को दाँव पर लगा देते, तो अवश्य तुम लोग जीती हुई वस्तु समझकर द्रौपदी को ले सकते थे, किंतु धर्मराज युधिष्ठिर पहले अपने को हार चुके थे, इसलिए द्रौपदी को दाँव पर लगाने का उनको कोई अधिकार नहीं रहा। जो जिस वस्तु का स्वामी नहीं वह उसे बद कर हार जाय तो उस हारी हुई चीज़ पर जीतनेवाले का वैसे ही अधिकार नहीं हो सकता जैसे स्वप्न में जीते हुए धन को कोई पा नहीं सकता। इससे मैं कहता हूँ कि दुष्ट शकुनि के कहने से उन्मत्त होकर धर्म को न छोड़ो।"

विदुर के कह चुकने पर दुर्योधन ने द्रौपदी से कहा—"हे पांचाली ! मैं भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव के ऊपर इस बात का फ़ैसला छोड़ता हूँ, वे कह दें कि युधिष्ठिर स्वामी नहीं हैं, तो तुम दासीभाव से छूट जाओगी।"

इस पर अर्जुन बोला—"महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर ने जब हमको दाँव पर लगाया था तब वे अपने को हारे नहीं थे, इसलिए

हम सबके स्वामी थे। जब वे अपने को बद कर हार गये तब भला किसके स्वामी रह सकते हैं? कुरुवंश के सब लोग इस पर विचार कर देखें।"

सभा में इस तरह बातचीत हो रही थी कि महाराज धृतराष्ट्र के अग्निहोत्र-भवन में घुसकर गीदड़ ऊँचे स्वर से चिल्लाने लगा, साथ ही बहुत से गधे और भयानक अशुभ पक्षी भी घोर शब्द करने लगे। तब गांधारी और विद्वान् विदुर ने इन घोर उत्पातों का हाल राजा धृतराष्ट्र से कहा। अनिष्ट की आशंका से सब लोग काँप उठे। अंत में धृतराष्ट्र को भय हुआ कि इस सबका परिणाम बहुत ही ख़राब होगा। इसलिए दुर्योधन को डाँटकर फिर उन्होंने द्रौपदी को समझाना आरंभ किया और उसे वर माँगने को कहा। द्रौपदी ने कहा—"यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे पतियों को दासत्व से छोड़ दिये जाने की आज्ञा दीजिए।" धृतराष्ट्र ने "तथास्तु" कहकर पांडवों को स्वतंत्रता दे दी। स्वतंत्र होने पर भीमसेन युधिष्ठिर से बोला—"यदि आज्ञा हो तो मैं अभी इसी सभा में ही इन शत्रुओं का जड़ से नाश कर दूँ, जिससे आप इस पृथिवी पर बेखटके राज्य कर सकें।" युधिष्ठिर ने भीम को रोककर धृतराष्ट्र के तई हाथ जोड़कर कहा—"हे राजन्! इस समय हम सब आप ही के अधीन हैं, इसलिए जो आज्ञा हो सो करें।" इस पर धृतराष्ट्र ने कहा कि हारी हुई अपनी सब धन-संपत्ति को लेकर सुखपूर्वक अपना राज्य करो।

इतने परिश्रम और चातुर्य से प्राप्त किया हुआ राज्य इस बुड्ढे ने एक क्षण में दे दिया, यह देखकर कौरवों को बड़ी चिंता हुई कि पांडवों को इस प्रकार छोड़ना तो सर्पों का पालना है, इसलिए घमंडी दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तुरंत धृतराष्ट्र के पास जाकर बोले—"महाराज! आपने यह क्या किया? सताये हुए साँपों के

बीच में रहकर क्या कोई बच सकता है? क्या आप नहीं जानते कि क्रोधांध पांडव जिनको हम लोगों ने बहुत हानि पहुँचाई है और जिनका बहुत कुछ अपकार हमने किया, वे कभी इसे नहीं भूलेंगे और द्रौपदी के साथ जो दासियों का सा व्यवहार हमने किया है, उसे याद कर कर वे हमसे बदला लिये बिना रुक नहीं सकेंगे। इसलिए उन्हें फिर जुए के लिए बुलाना चाहिए, पर इस बार धन-संपत्ति का दाँव छोड़कर यह बदा जाय कि जो हारे वह बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करे। इस रीति से न तो इस समय ही कोई झगड़ा-फ़साद होगा और न आगे होने की ही संभावना रहेगी।" इस प्रस्ताव पर राज़ी होकर धृतराष्ट्र ने फिर युधिष्ठिर को जुए के लिए बुलवा भेजा।

यह बात सुनते ही भीष्म, द्रोण, विदुर, अश्वत्थामा और धृतराष्ट्र के किसी-किसी पुत्र ने धृतराष्ट्र को मना करके कहा—"महाराज! बड़े कष्ट से शांति हुई है, बार-बार वंश-नाश करनेवाले झगड़े का बीज न बोइए।" पर डरपोक और मोह से अंधे धृतराष्ट्र ने इस उपदेश की ओर ध्यान न दिया।

पुनः जुए की ख़बर पाकर पुत्रों का हित चाहनेवाली धर्म-परायण गांधारी शोक से व्याकुल हुई महाराजा धृतराष्ट्र के पास जाकर यों बोली—"महाराज! दुर्योधन के पैदा होते ही सबने कहा था कि इसे त्याग दीजिए, क्योंकि जन्म लेते ही इसने गीदड़ का सा शब्द किया था। पर आपने वैसा न किया। आज उसका बुरा फल एक दफ़े देख चुके हो। क्या समझकर आप इस कुलांगार व कुमार्गी बालक की बात फिर मानते हो? यदि इसे अपना आज्ञाकारी आप नहीं बना सकते, तो इसे निकाल दो; पर पुत्रों के स्नेह के फंदे में पड़कर बुझी हुई आग को जलाकर कुलनाश का कारण न बनिए। महाराज! आप विदुर के वचनों

को सच समझकर वह उपाय कीजिए जिसमें वंश का नाश न हो। अपने दोष से आप अपने को विपत्ति और शोक के समुद्र में मत डुबोइए। शांत स्वभाव पांडवों को कुपित करना कभी ठीक नहीं। राजन्! आप सब जानते हैं, तो भी मैं आपको फिर याद दिलाये देती हूँ। दुर्बुद्धि पुरुष को शास्त्र भी ठीक राह पर लगा नहीं सकता, शास्त्र पढ़ने पर भी उसे भले-बुरे और हिताहित का ज्ञान नहीं होता। वृद्ध पुरुष को कभी बालकों की बुद्धि में न लगना चाहिए। दुष्ट दुर्योधन अपने दुराचार से सारे वंश का नाश कराने पर उतारू है। आप किसी की बुरी सलाह से प्रमाद न कीजिए। देखिए, कितने कष्ट उठाने से और युद्ध आदि क्रूर कर्म करने से राजलक्ष्मी प्राप्त होती है, मगर बहुत ही साधारण भूल से वह हाथ से निकल जाती है। कोमलता और समझदारी से काम करने पर ही वह राजलक्ष्मी पुत्रों और पौत्रों तक बनी रहती है।"

गांधारी के उक्त वचनों को सुनकर धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—"प्रिये! यदि वंश का नाश होना ही बदा है, तो कोई उपाय नहीं; किंतु प्राणों से भी अधिक प्यारे अपने पुत्रों के विरुद्ध मैं कोई काम नहीं कर सकता। इसलिए मैं दुर्योधन को पुनः जुए से मना नहीं कर सकता।"

इस प्रकार जब पुनः जुआ खेलना आरंभ हुआ, तो शर्त यह हुई कि "जो हारे वह बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष अज्ञात-वास करे।" पांडव हार गये। इसलिए अपने राजवस्त्र उतार और छाल तथा मृगचर्म पहनकर उन्होंने वन का मार्ग पकड़ा। सबके आगे युधिष्ठिर, उसके पीछे भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य इस क्रम से चले। युधिष्ठिर ने अपना मुँह ढका हुआ और सिर झुकाया हुआ था, भीम अपनी भुजाओं को देख रहा था, अर्जुन मार्ग पर बराबर

धूल-बालू उड़ाते हुए चल रहा था, नकुल सारे शरीर में मिट्टी लगाये हुए था, सहदेव अपने मुँह पर कारिख पोते हुए था, द्रौपदी केश छोड़कर और उनसे अपना मुँह छिपा रोती हुई चल रही थी, और पुरोहित धौम्य उत्तर-क्रिया के योग्य साम-मंत्र पढ़ रहे थे। इस सबका तात्पर्य विदुरजी ने धृतराष्ट्र को ऐसे कह सुनाया—"धर्मराज की दृष्टि के पुण्य-प्रभाव से यह पाप-राज्य सब ऐसे ही जल न जाय, इसलिए युधिष्ठिर ने मुँह को ढककर नीचे सिर किया हुआ था। सती सुशीला को सताकर राज्य छीननेवाले शत्रुओं के दाँत खट्टे करने का अवसर इन भुजाओं को कब मिलेगा इस सोच से भीम अपनी भुजाओं को देख रहा था। बालू के कणों के समान असंख्य बाणों से युद्ध में शत्रुओं को जर्जर करने का संकल्प दिखलाने के लिए अर्जुन बालू फेंक रहा था। मार्ग में मेरे सौंदर्य को देखकर स्त्रियाँ मुग्ध न हों, इसलिए नकुल ने शरीर में मिट्टी लगा ली थी। इस संकट में मुझे कोई पहचान न ले, इसलिए सहदेव ने कारिख पोत ली थी। जिस प्रकार मैं इस समय रोती हुई जा रही हूँ, उसी प्रकार कौरवों की स्त्रियाँ अपने पुरुषों के मुर्दा होने पर छाती पीटती हुई जायँगी, यह दिखलाने को द्रौपदी केशों से मुँह छिपाकर रो रही थी। और युद्ध में कौरवों का वध होने पर उनकी दहन-क्रिया में ये मंत्र पढ़े जायँगे, यह बतलाने के लिए पुरोहित धौम्य साम-मंत्र पढ़ रहे थे।" ऐसा सुनकर धृतराष्ट्र दुःखी हुए और ठंढी साँसें भरने लगे। यह देखकर उनसे उनका बूढ़ा सारथी संजय बोला—"महाराज ! जब आपने सब बातें जानकर भी अपने हितचिंतकों की सलाह न मानी, तब आप इस समय क्यों दुःखी होते हैं ? और आप ही के अपराध से जब भयंकर युद्ध की आग प्रज्वलित होकर चारों दिशाओं को जलावेगी, तब भी आपके

पछताने से क्या होगा ? अब रोना, धोना और दुःख करना व्यर्थ है।"

पांडव जब वन को गये, तो उनके साथ अनेक ब्राह्मण आदि भी हो लिये थे। युधिष्ठिर को बड़ी चिंता हुई कि इन सबको जंगल में हम कहाँ से भोजन देंगे। धर्मराज ने धौम्य पुरोहित के उपदेश से सूर्यदेव की उपासना की, जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उन्हें अक्षय स्थाली दी, जिसका यह गुण था कि जब तक द्रौपदी (अपने भोजन करने से पूर्व) उस थाली से परोसती रहेगी, तब तक बराबर भोजन सबको मिलता रहेगा। इससे उनकी चिंता दूर हुई; क्योंकि बार-बार यही थाली उन्हें अतिथि-सत्कार में सहायता देती रही। समय-समय पर श्रीकृष्ण और व्यासजी भी दर्शन दे जाते थे। व्यासजी के उपदेश पर और इंद्रजी के वर से अर्जुन ने तप करके महादेवजी से पाशुपत अस्त्र सहित उसके चलाने की विद्या के प्राप्त किया, फिर स्वर्ग में जाकर इंद्र से वज्र अस्त्र पाकर सब दिव्य अस्त्रों का चलाना सीखा। ऐसे होते-होते जब वनवास के ग्यारह वर्ष बीते, तो दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्ण, इस चांडाल चौकड़ी को अपना वैभव अनाथ पांडवों के तईं दिखाकर उन्हें मारने की सूझी। वे ऐसा करने को जा ही रहे थे कि रास्ते में महर्षि वेदव्यास ने उन्हें रोककर लौटा दिया, और फिर धृतराष्ट्र के पास जाकर कहा—"हे धृतराष्ट्र! दुर्योधन आदि तुम्हारे पुत्रों ने भयंकर छल करके पांडवों को वनवास दिया है। यह बात हमें अच्छी नहीं लगी। हे भरतश्रेष्ठ! पांडव लोग वनवास में रहकर जो क्लेश सह रहे हैं, वह निस्संदेह उन्हें याद रहेगा। तेरह वर्ष पूरे होने पर वे बदला चुकाने का उपाय करेंगे। अत्यंत कुबुद्धि पापी दुर्योधन ऐश्वर्य के लोभ से बहुत ही उतावला होकर सदा पांडवों के नाश

की चेष्टा किया करता है। अतएव जो तुम पुत्र का भला चाहते हो, तो दुर्बुद्धि दुर्योधन को इस बुरी चेष्टा से रोको। वनवासी पांडवों को मारने जाकर वह आप ही अपने प्राण खो बैठेगा। हे महाप्रज्ञ, घर के आत्मीय लोगों में वैर-विरोध बहुत ही निंदनीय है। अतएव उस अधर्मयुक्त, बदनामी के काम में हाथ न लगाना। हे कौरव! पांडवों के प्रति इस दुर्योधन की जिस प्रकार की बुद्धि है, वह छोड़ देनी चाहिए, नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा। मेरी सलाह है कि तुम्हारा दुराचारी पुत्र असहाय होकर पांडवों के पास वन को जावे। यदि पास रहने के कारण पांडवों के लिए उसके हृदय में स्नेह उत्पन्न हो जाय, तो तुम्हें अपने काम में सफलता प्राप्त हो सकती है, अर्थात् तुम्हारे पुत्रों का भला हो सकता है, अन्यथा नहीं।"

इस पर धृतराष्ट्रजी ने कहा—"भगवन्! द्यूतक्रीड़ा के लिए मेरी बिलकुल इच्छा न थी। होनहार से मोहित होकर ही मैंने उसका अनुमोदन कर दिया था। भीष्म, द्रोण, विदुर और गांधारी ने भी उसका विरोध किया था। उसमें प्रवृत्त होने का कारण केवल मोह था, विशेष रूप से जानकर भी पुत्र-स्नेह के कारण मैं निर्बोध दुर्योधन को छोड़ नहीं सकता।"

तब व्यासदेवजी बोले—"यह सच है कि दुनिया में पुत्र से अधिक प्यारी कोई चीज़ और नहीं। हम भी तुम्हें पुत्र ही की तरह स्नेह करते हैं, इसलिए कहते हैं कि यदि तुम अपने पुत्रों का भला चाहते हो तो दुर्योधन को बुरे कामों से रोको, उसे शांत और क्षमाशील बनाने की चेष्टा करो, और उसे पांडवों से मिलाप करने के लिए आज्ञा दो।"—ऐसा कहकर व्यासदेवजी चले गये।

एक बार पांडवों को सताने के विचार से दुर्योधनादि, जिधर पांडव उतरे हुए थे, वहाँ गायों की देखभाल और शिकार खेलने के

नहाने से गये। उधर एक सरोवर था जिसे चित्रसेन गंधर्व ने अपनी अप्सराओं के साथ विहार करने के ख़याल से घेर रक्खा था। अब उसके तट पर दुर्योधन अपना ऐश्वर्य दिखाना चाहता था, इसलिए इनमें परस्पर युद्ध हुआ। इस युद्ध में कर्ण को भागना पड़ा और चित्रसेन ने दुर्योधन आदि को उनकी स्त्रियों के सहित क़ैद कर लिया। सत्य है। बबूल का बीज बोने से आम-फल नहीं लगता। दुर्योधन आदि की यह दुर्दशा सुनकर उसके मंत्री धर्मराज की शरण में सहायता के लिए आये। तब पांडवों ने केवल अपनी शक्ति से उन्हें मुक्त कराया। स्त्रियों के सामने अपना ऐसा अपमान होने से दुर्योधन जीवन से निराश हो आत्महत्या करने पर उतारू हुआ, पर कर्ण उसे समझाकर और यह प्रतिज्ञा करके कि मैं अर्जुन का वध करूँगा, उसे ठिकाने ले आया। इसके अनंतर कौरवों ने वैष्णव नाम का महायज्ञ किया। कर्ण की इस प्रतिज्ञा को सुनकर इधर युधिष्ठिर को बड़ी चिंता हुई, और उधर इंद्र ने कर्ण का कभी न टूटनेवाला कवच ब्राह्मण के वेष में भीख माँगकर ले लिया, और उसके बदले उसे अपनी अमोघ शक्ति इस शर्त पर दे दी कि “केवल अपने प्राणों पर संकट पड़ने के समय इसे चलाया जाय, क्योंकि अन्य समय पर चलाने से यह तुम्हारा नाश कर देगी, और एक बार ही इसे चलाया जाय, तत्पश्चात् यह हमारे पास वापस आ जायगी।” फिर दुर्योधन ने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न करके उन्हें पांडवों का महत्त्व हरण करने को भेजा। परंतु दुर्वासा आप ही भयभीत होकर भाग गये। इसके कुछ उपरांत जब कि पांडव आश्रम में नहीं थे, तो सिंध देश के राजा जयद्रथ (धृतराष्ट्र के दामाद) ने द्रौपदी पर बलात्कार करने की चेष्टा की। पांडवों ने आकर उसकी सेना को भगाकर उसे क़ैद कर लिया। परंतु युधिष्ठिर के कहने से उसे

जीव-दान दिया गया। इस प्रकार नाना संकट झेलते-झेलते पांडवों ने बारह वर्ष बिताये।

बारह वर्ष का वनवास समाप्त होने पर अब अज्ञातवास आरंभ हुआ। विराट राजा के यहाँ नौकरी के लिए द्रौपदी और पाँचो पांडव एक-एक करके वेष बदल कर आये। राजभवन में पहुँचकर युधिष्ठिर ने कहा,—"महाराज! व्याघ्रपदी गोत्र का मैं ब्राह्मण हूँ, सर्वस्व नष्ट होने से मैं जीविका के लिए आपके पास आया हूँ। मेरा नाम कंक है। मैं राजा युधिष्ठिर का प्रिय मित्र था और जुआ खेलने में निपुण हूँ, और आपके राज्य-कार्य में परामर्श देने का काम भी कर सकता हूँ।" यह सुनकर राजा ने कंक को अपना मंत्री बना लिया। भीम ने आकर कहा—"मैं रसोई बनाने में कुशल हूँ, इसके अतिरिक्त कुश्ती लड़ने में भी चतुर हूँ, मेरा नाम वल्लभ है, पहले मैं राजा युधिष्ठिर के यहाँ नौकर था, मेरे बनाये हुए भोजनों से वे बड़े प्रसन्न होते थे, आपको भी प्रसन्न कर सकूँगा।" राजा ने उसे अपना प्रधान रसोइया बनाया। द्रौपदी ने विराट-पत्नी सुदेष्णा के पास जाकर कहा—"हे रानी! मैं सैरिंध्री हूँ, शृंगार करने की विद्या अच्छी तरह जानती हूँ, और कुरु-वंश में महासुंदरी द्रौपदी के यहाँ पहले नौकर थी, वे मुझसे बड़ी प्रसन्न रहती थीं, आपको भी प्रसन्न कर सकूँगी।" रानी ने 'अच्छा' कहकर उपयुक्त कपड़े और गहने देकर उसे अपने घर में रख लिया। अर्जुन ने स्त्री-वेष में आकर राजा से कहा—"मैं वृहन्नला हूँ, राजा युधिष्ठिर के अंतःपुर में नाच-गाकर स्त्रियों का मन बहलाता था और उनको नाचने-गाने की शिक्षा भी देता था, इस विषय में मैं बड़ा निपुण हूँ, मेरे माता-पिता कोई नहीं, इसलिए मुझे अपना लड़का या लड़की समझकर राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-गान सिखाने के लिए नौकर रख लीजिए।" राजा ने

अपनी कन्या उत्तरा और नगर की अन्य स्त्रियों को नाचना-गाना आदि सिखाने को रख लिया, और अपने अंतःपुर में उसे भेज दिया। नकुल ने आकर कहा—"मैं घोड़ों से संबंध रखनेवाली विद्या को अच्छी तरह जानता हूँ। मुझे ग्रंथिक के नाम से पुकारते हैं। पहले मैं राजा युधिष्ठिर के अस्तबल में नौकर था, वे मुझसे बड़े प्रसन्न रहते थे, आपको भी प्रसन्न रख सकूँगा।" राजा ने उसे अपना अश्वपाल बना लिया। सहदेव ने आकर कहा—"मैं वैश्य हूँ, सब लोग मुझे तंत्रिपाल कहते हैं। पहले मैं राजा युधिष्ठिर की गायों की देखभाल करता था, अब भी वही काम करने के लिए आपसे प्रार्थना करने आया हूँ।" राजा ने उसे अपनी सारी पशुशाला की देखभाल का काम दे दिया। इस प्रकार सभी ने अपने-अपने काम में नियुक्त होकर अपूर्व कौशल दिखलाये। और अज्ञातवास का काल समाप्त होने के कुछ ही पहले सैरिंध्री (द्रौपदी) पर बलात्कार करने की चेष्टा के कारण विराट-रानी का धर्मभाई कीचक भीम के हाथों मारा गया। इससे कुछ पहले भीम ने विराट की आज्ञा से जीमूत पहलवान को भी उसके साथ कुश्ती करके खूब पिछाड़ा और ज़मीन पर पटक मारा। इसी समय के लगभग मत्स्य देश के राजा सुशर्मा ने एक ओर से और कौरवों ने दूसरी ओर से विराट की राजधानी पर आक्रमण किया। पहले सुशर्मा की चढ़ाई हुई। उसका सामना करने को विराट सेना लेकर आप गये। घोर युद्ध हुआ। सुशर्मा ने विराट को पकड़कर क़ैद कर लिया। परंतु युधिष्ठिर जो भीम, नकुल और सहदेव के साथ-साथ विराट के पीछे चले थे, जब उसने विराट की यह दशा देखी, तो झट भीम को भेजा, जो सुशर्मा को हराकर विराट को छुड़ा लाया। उधर दूसरी ओर बृहन्नला (अर्जुन) जो कौरवों का सामना करने को जानेवाले विराट-पुत्र

उत्तर का सारथी बनकर गया था, उसने दुर्योधन, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा और अंत में भीष्म को भी पराजित किया और कौरवों को मार भगाया। अब तक विराट को यह नहीं विदित हुआ कि ये ही पांडव हैं। युद्ध के तीसरे दिन अज्ञातवास का काल समाप्त हो जाने से पांडवों ने अपने कपड़े बदले और विराट को अपना परिचय दिया । इस परिचय से विराट को बड़ा आश्चर्य हुआ, और अर्जुन की वीरता सुनकर उसने अपनी पुत्री उत्तरा के साथ अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का विवाह ठान लिया । इसी विवाह में द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, काशिराज, शिविराज, धृष्टद्युम्न और शिखंडी एकत्र हुए, और द्वारका से श्रीकृष्ण, बलदेव, सात्यकि आदि यादव वीर सुभद्रा और अभिमन्यु को साथ लेकर आये थे ।

विवाह के पश्चात् ये सब मिलकर इस बात का विचार करने लगे कि पांडवों को अपना इंद्रप्रस्थ का राज्य लेने के लिए अब क्या करना चाहिए । कौरव तो नीचता के कारण उसे हड़प करना चाहते हैं। बचपन से ही उन्होंने पांडवों के साथ वैर किया है, भाई होकर भी उन्होंने द्रौपदी का भरी सभा में अपमान किया है, इत्यादि बातों पर सोचने से यह आशा नहीं पड़ती कि कौरव पांडवों को उनका राज्य लौटा दें । परंतु उचित यही है कि पहले सीधी रीति से दूत भेजकर कौरवों से राज्य माँगा जाय, और यदि वे न मानें, तो युद्ध करके लिया जाय । इस निर्णय के पश्चात् दोनों उपायों की तैयारियाँ होने लगीं । इधर कौरवों के पास दूत भेजने का काम द्रुपद को सौंपा गया, और उधर युद्ध के समय सहायता की आशा से सब राजाओं के पास दूत भेजे गये ।

कृष्णजी को लेने के लिए अर्जुन आप द्वारका गया । यह सब

हाल दुर्योधन को मालूम हो गया। उसने भी सहायता के लिए अपने दूत चारों ओर भेजे, और स्वयं शीघ्र श्रीकृष्ण के पास गया। इस प्रकार दुर्योधन और अर्जुन दोनों एक ही साथ द्वारका पहुँचे और एक ही समय राजभवन में गये। कृष्णजी उस समय सोते थे। सोने के कमरे में प्रथम दुर्योधन गया, और कृष्णजी के सिरहाने बैठ गया। फिर अर्जुन गया और पैताने (पाँवों की ओर) बैठ गया। जगने पर कृष्णजी ने पहले अर्जुन को, फिर दुर्योधन को देखा। और कुशल-प्रश्न के बाद जब कृष्ण ने उनके आने का कारण पूछा, तो दुर्योधन ने हँसकर कहा--"हे यादव-श्रेष्ठ! जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप हमारा पक्ष लीजिए। यद्यपि कौरवों और पांडवों के साथ आपका संबंध और मित्र-भाव एकसाँ है, तथापि मैं पहले आया हूँ, इसलिए लोक-रीति तो यही है कि जो पहले आवे, उसी की प्रार्थना सफल की जाय।" कृष्ण ने कहा—"हे कुरु-वीर! यद्यपि तुम प्रथम आये हो, पर हमने अर्जुन को पहले देखा है, इसलिए हम दोनों पक्षों की सहायता करेंगे। एक ओर हमारी प्रसिद्ध नारायणी सेना है, दूसरी ओर हम अकेले हैं, पर न तो हम लड़ेंगे और न हथियार ही उठायेंगे। अर्जुन छोटा है, इसलिए पहले वह इन दोनों में से जो चाहे ले ले।" अर्जुन ने प्रसन्नतापूर्वक कृष्णजी को लेना स्वीकार किया। तब दुर्योधन कृष्णजी की नारायणी सेना को पाकर हर्ष से चल दिया। दुर्योधन के जाते ही कृष्णजी ने अर्जुन से पूछा—"यह जानकर भी कि मैं नहीं लड़ूँगा, तुमने फिर मुझे अपने पक्ष में क्यों लिया?" अर्जुन ने उत्तर दिया—"हे मित्र! सेना लेने के लिए मैं नहीं आया था, धृतराष्ट्र के पुत्रों का तो मैं अकेले ही संहार कर सकता हूँ। तुम अद्वितीय नीतिज्ञ और पुराने मित्र हो, इसलिए तुम्हारी सम्मति और मंगल-कामना ही से हमारे सब काम सिद्ध

हो जायँगे। पर हे वासुदेव! इतना मनोरथ मेरा तो तुम्हें अवश्य पूरा करना होगा कि तुम युद्ध में मेरे सारथी बनो, क्योंकि ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है।" कृष्णजी ने प्रसन्नतापूर्वक उसकी बात मान ली, और कहा कि ऐसा ही होगा।

फिर दुर्योधन सहायता के लिए अन्य राजाओं के पास गया। उसके पक्ष में भगदत्त, भूरिश्रवा, भोजराज, कृतवर्मा, सिंधनरेश जयद्रथ, शल्य और अन्य कई राजा लोग आये, और ग्यारह अक्षौहिणी* सेना इकट्ठी हुई। युधिष्ठिर की सहायता के लिए उन राजाओं से अतिरिक्त (जो कि विवाह ही के उपलक्ष में आये हुए थे) चेदिराज, धृष्टकेतु, वृष्णिवीर, सात्यकि और विराटराज के मित्र राजा लोग बहुत सी चतुरंगिणी सेना लेकर आये, और इस पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना इकट्ठी हुई।

इस प्रकार दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं कि राजा द्रुपद का पुरोहित, जिसे पांडवों की ओर से संधि की बातें करने के लिए द्रुपद ने भेजा था, कौरवों की सभा में आ पहुँचा। और धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर आदि के सम्मुख वह ऐसे बोला—"हे सभासदगण! आप लोग सनातन राजधर्म भली प्रकार जानते हैं, तथापि इस समय उसका स्मरण दिलाना आवश्यक है। क्योंकि

---

* महाभारत के आदिपर्व के दूसरे अध्याय में अक्षौहिणी का विवरण इस प्रकार दिया गया है—एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सिपाही, तीन घोड़े—इतने को 'पत्ति' कहते हैं। इस प्रकार की तीन पत्तियों का एक 'सेनामुख' होता है। तीन सेनामुखों का एक 'गुल्म' होता है। तीन गुल्मों का एक 'गण' कहलाता है। तीन गणों की एक 'वाहिनी' होती है। तीन वाहिनियों की एक 'पृतना' होती है। तीन पृतनाओं की एक 'चमू' होती है। तीन चमूओं की एक 'अनीकिनी' होती है। दस ऐसी अनीकिनियों की एक 'अक्षौहिणी' होती है। यदि एक रथ पर दो मनुष्य,

उसके टूटने से रुधिर की नदियों के बहने का डर है। धृतराष्ट्र और पांडु एक ही पिता के पुत्र हैं, इसलिए पैतृक धन में दोनों का अधिकार बराबर है. फिर इसका क्या तात्पर्य कि पांडवों को निकालकर धृतराष्ट्र के पुत्र अकेले ही राज्य करें ? आप सबको यह भी विदित होगा कि एक बार दुर्योधन आदि ने पांडवों को मार तक डालने की तैयारी की थी, पर वे कृतकार्य न हुए। फिर शकुनी की सहायता से छल कर उनका अपने बल से बढ़ाया हुआ राज्य छीन लिया। द्रौपदी समेत पांडवों को बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़ा, जिसमें उन्हें कैसे कैसे कष्ट भोगने पड़े। तथापि कौरवों के इन सब अन्यायों को

एक हाथी पर दो मनुष्य और एक घोड़े पर एक मनुष्य लिया जाय तो एक अक्षौहिणी में मनुष्य-गणना ब्योरेवार इस प्रकार होगी—

नाम	रथ	हाथी	पैदल	घोड़े	कुल मनुष्य सं.
पत्ति	१	१	५	३	१२
सेना	३	३	१५	९	३६
गुल्म	९	९	४५	२७	१०८
गण	२७	२७	१३५	८१	३२४
वाहिनी	८१	८१	४०५	२४३	९७२
पृतना	२४३	२४३	१२१५	७२९	२९१६
चमू	७२९	७२९	३६४५	२१८७	८७४८
अनीकिनी	२१८७	२१८७	१०९३५	६५६१	२६२४४
अक्षौहिणी—	२१८७०	२१८७०	१०९३५०	६५६१०	२६२४४०
१८ अक्षौ०—	३९३६६०,	३९३६६०,	१९६८३००,	११८०९८०,	४७२३९२०

इस प्रकार अठारह अक्षौहिणी में केवल जन-संख्या कम से कम ४७२३९२० थी, जिसमें से केवल १० व्यक्ति (७ पांडवों के और ३ कौरवों के) जीते बचे, शेष सब युद्ध में मारे गये।

भूलकर सबकी भलाई के लिए वे (पांडव) संधि करना चाहते हैं। अतएव दोनों ओर की बातों का विचार करके आप दुर्योधन को शांत कीजिए और धर्मानुसार पांडवों को उनका भाग लौटा दीजिए। अभी संधि के लिए समय है।"

ब्राह्मण की बात सुनकर बुद्धिमान् भीष्म ने उसके प्रस्ताव की बहुत प्रशंसा की। उसको प्रसन्न करने के लिए धृतराष्ट्र ने उक्त प्रशंसा का अनुमोदन करके संजय को पांडवों के पास भेजा कि वह उन्हें युद्ध से विमुख करे।

संजय हस्तिनापुर पहुँचकर युधिष्ठिरजी से यों बोला—"वृद्ध राजा धृतराष्ट्र वास्तव में जी से चाहते हैं कि आपस में संधि हो जाय, इसलिए कृपा करके आप भी इस बात को मान लीजिए। आपने हमेशा ही धृतराष्ट्र के पुत्रों के अपराध क्षमा किये हैं, और क्रोध के वशीभूत न होकर सुख की अपेक्षा धर्म ही को प्रधान माना है, उसी की तरफ़ हमेशा दृष्टि रक्खी है। इससे इस समय लाखों मनुष्यों की हिंसा निवारण करने का एकमात्र उपाय आप ही के अधीन है। आप चाहेंगे तो युद्ध रुक जायगा और महाभयंकर मनुष्य-संहार होने से बच जायगा। इस युद्ध में एक तरफ़ तो महाबली भीम, अर्जुन और कृष्ण हैं, दूसरी तरफ़ भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महारथी हैं। इस दशा में चाहे जिसकी जीत हो, चाहे जिसकी हार, परिणाम दोनों अवस्थाओं में महादुःखदायक होगा। इससे आप ही कोई उपाय ऐसा कीजिए, जिसमें परस्पर संधि हो जाय।"

संजय के ऐसा समझाने पर युधिष्ठिर ने कहा—"हे संजय! क्या हमने कोई ऐसी बात कही है जिससे सूचित होता हो कि हम युद्ध करना चाहते हैं? फिर क्यों तुम युद्ध के डर से इतने भयभीत हो रहे हो? यदि विना हाथ-पैर हिलाये ही मनचीती

बात होती हो, तो ऐसा कौन मूर्ख है जो उसके लिए युद्ध की तैयारी करे ? हम तो स्वयं यह चाहते हैं कि युद्ध न हो। सती द्रौपदी का अपमान और जुए का छल इत्यादि हम सब भूल जाने के लिए तैयार हैं, यदि हमें हमारा राज्य मिले, या कम से कम पाँच भाइयों को पाँच ग्राम तक ही मिल जायँ। इससे अधिक नरमी का बर्ताव हम और क्या कर सकते हैं। इसलिए कौरवों तथा अन्यान्य क्षत्रियों को हमारी उक्त बात अच्छी तरह से कह देना। और दुर्योधन को मेरी ओर से भरी सभा में विनय से यह कह देना, "हे दुर्योधन! सभा में बुलाकर बिना किसी अपराध के तुमने द्रौपदी का जो अपमान किया और कष्ट दिया, उसे पांडव लोग इसलिए भूल जाने को तैयार हैं कि कौरवों की हत्या न करनी पड़े। यह बात सब कौरव जानते हैं कि बलवान् और सामर्थ्यवान् होते हुए भी पांडवों ने इसी घोर कर्म से बचने के लिए पहले के और बाद के सब क्लेशों को सह लिया है। हे सौम्य! तुमने मृगछाला पहनाकर हमें वनवासी कर दिया और देश से निकाल दिया, उसे भी हमने इसी से सह लिया कि हमें कौरवों की हत्या न करनी पड़े। तुम्हारी अनुमति से दुःशासन ने कुंती माता का कहा न मानकर द्रौपदी के बाल पकड़ लिये, उसे भी हमने इसी ख़याल से भुला दिया और उस समय भी चुपके बैठे देखते रहे। हे शत्रुदमन! इसलिए अब हमें हमारा न्याय से प्राप्य हिस्सा तुमसे मिलना चाहिए। हे नरश्रेष्ठ! पराये द्रव्य को ले लेने की बुद्धि छोड़ दो। इसी तरह शांति और परस्पर प्रीति हो सकती है। हम शांति और मेल ही चाहते हैं। पर तुम्हारे हृदय में जो लोभ घुसा हुआ है, वही तुम्हें सता रहा है, और वही कुरुवंशियों का सबसे बड़ा शत्रु है। किंतु हे वीर! तुम यह न समझना कि तुम्हारा लोभ पूर्ण होगा। या तो तुम

लोभ और अधर्म को छोड़कर इंद्रप्रस्थ हमारे हवाले कर दो, या युद्ध के लिए तैयार रहो।"

पितामह भीष्म को प्रणाम करके यह कहना—"आपने हे भगवन्! एक बार प्रायः पूरे तौर पर डूबे हुए कुरुवंश का उद्धार किया है। इस समय भी आप अपनी सम्मति प्रकट करके युद्ध की आग से पौत्रों की रक्षा कीजिए।"

महाराज धृतराष्ट्र के सामने सिर झुकाकर यह कहना—"हे राजन्! आप ही की कृपा से आपके भतीजों को राज्य प्राप्त हुआ था, अब उसी राज्य से उन्हें निकाल देने का आप क्यों यत्न कर रहे हैं?"

और विदुरजी से कहना—"हे सौम्य! आपने सदा हमारा ही पक्ष लिया है, अब भी वही करके दोनों पक्षों की अनिष्ट से रक्षा कीजिए।"

इसके पीछे कुछ काल तक सोच-विचारकर धर्मराज ने फिर कहा—"हे संजय! तुमने यह बिलकुल ठीक कहा कि पुरुष से धनसंपत्ति का मोह नहीं छोड़ा जाता, यह हम जानते हैं। इस कारण सबसे अधिक ज़िम्मेदारी इस विषय में हमारे ही ऊपर है। इसलिए तुम हमारी आख़िरी शर्त सुन लो। वह यह है कि हम पाँचों भाइयों को केवल पाँच ग्राम मिलने से ही राज्य का दावा छोड़कर हम संधि करने को तैयार हैं।"

युधिष्ठिरजी के उक्त सब वचन संजय ने हस्तिनापुर पहुँचकर भीष्म पितामह इत्यादि को कह सुनाये। इनको सुनकर धृतराष्ट्र अपने मन का वेग न सँभाल सके। और किसी को बोलने का अवसर न देकर खुद ही पांडवों की बात का समर्थन करने के लिए उद्यत होकर भीष्म, द्रोण, विदुर और अपने मित्र राजाओं के सामने दुर्योधन को ऐसे बोले—"हे पुत्र! पांडवों ने जैसी

युद्ध-सामग्री और सहायता प्राप्त की है, अर्जुन ने दिव्य अस्त्र चलाने की जैसी शिक्षा पाई है, और भीमसेन जितने बलवान हैं, उसे देखते हुए जो तुम झगड़ा करने लगे हो, यह तुम बुद्धिमानी का काम नहीं कर रहे। युद्ध होने से कौरव-कुल का बचाव होना बहुत कठिन है, यह बात हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ती है; इसमें कोई संदेह नहीं, इससे भीष्म, द्रोण, विदुर आदि जो उपदेश देते हैं, उसे मानना हम बहुत ज़रूरी समझते हैं। पांडवों ने जो प्रस्ताव किया है वह धर्म-संगत है। उनकी बात मान लेनी चाहिए, और उनकी शर्तें पूरी करके उनके साथ संधि स्थापन करना चाहिए। इसी में हमारा कल्याण है।" यह सुनकर भीष्म, द्रोण आदि सभी ने धृतराष्ट्र की सम्मति की प्रशंसा की। सबने यही कहा कि महाराज धृतराष्ट्र की बात मान लेने ही में भला है। परंतु दुर्योधन से यह उपदेश सहा न गया और वह क्रोध में आकर बोला--"हे पिता! आप क्यों व्यर्थ शोक करते हैं? हम अपने शत्रु की अपेक्षा किस बात में निर्बल हैं, जो आप हार जाने के भय से इतना व्याकुल हो रहे हैं? देखिए, हमारा बल, पराक्रम और प्रभाव देखकर युधिष्ठिर इतने डर गये हैं कि अंत में पाँच नगर पाने की लालसा छोड़कर केवल पाँच ग्राम ही लेकर संधि करने पर राज़ी होने लगे हैं। आपने हमारे प्रभाव और बल को भली प्रकार नहीं जाना, इसी से आप शत्रुओं को हमसे अधिक बली और प्रभावशाली समझते हैं।"

धृतराष्ट्र ने देखा कि हमारा पुत्र बड़े ही मोहजाल में फँसा है, इससे बहुत दुःखी होकर वे बोले—"हे कौरववर्ग! हम बार-बार विलाप करते हैं, तथापि हमारे मूर्ख पुत्र युद्ध करने की इच्छा नहीं छोड़ते। बेटा दुर्योधन! क्या समझकर तुम सारी पृथिवी पर अधिकार करने की बुरी अभिलाषा रखते हो? उसकी अपेक्षा

उचित यह है कि पांडवों को राज्य का जो अंश मिलना चाहिए उसे देकर सुखपूर्वक अपना राज्य करो। पांडव लोग बड़े धर्मात्मा हैं। उन्होंने जो प्रस्ताव कियाहै, वह बहुत ही उचित है। उनकी बात में, उनकी शर्त में, अन्याय का लेश भी नहीं है। हम लोगों ने जो पीड़ा उन्हें पहुँचाई है और जो अत्याचार उन पर किये हैं, उन्हें भूलकर वे सिर्फ़ इसलिए नरमी का बर्ताव कर रहे हैं जिसमें जाति-क्षय होने से बच जाय। उनके इस धर्मबल को देखकर स्वयं देवता भी उनकी सहायता करेंगे। यदि हम पाप-युद्ध में लिप्त होंगे, तो कुरु-बल का जड़ से नाश हुए बिना न रहेगा। हे पुत्र ! दिन-रात इसी चितारूपी अग्नि में जलते रहने के कारण हमें नींद नहीं आती और हमारी घबराहट (व्याकुलता) बढ़ती जाती है। यही कारण है, जो हम संधि करने के लिए इतने उत्सुक हैं।"

दुर्योधन तो स्वभाव ही से क्रोधी था। पिता की बात सुनकर क्रोध के मारे वह और भी जल उठा और कहने लगा--"हे तात ! काम, क्रोध, मोह आदि विकारों को जीतकर ही देवताओं ने देवत्व पाया है। इससे हम मनुष्यों की लड़ाई-झगड़ों में वे क्यों किसी का पक्षपात करने लगे। केवल पांडव ही दैवबल से बलवान् नहीं हैं, हम भी तो प्रतिदिन देवताओं की पूजा-अर्चा करते हैं। उसमें किसी तरह की कमी नहीं होने देते। पांडव भी मनुष्य हैं, हम भी मनुष्य हैं। पर हम पांडवों से अधिक बलवान् हैं। फिर क्या समझकर आप हमेशा पांडवों ही की जीत की शंका करते हैं? हमें तो उन्हें जीते जाने का कोई कारण नहीं देख पड़ता। अन्य सहायता और सामग्री की बात जाने दीजिए। हम केवल कर्ण को लेकर पांडवों को पूरे तौर से हरा सकते हैं। हे राजन् ! युद्ध आरंभ होने पर पांडवों की तरफ़वाले वीरों की मृत्युवार्ता

जब आप सुनेंगे तब आप समझेंगे कि जो कुछ मैं कहता था सच कहता था ।"

धृतराष्ट्र को उत्तर देने का अवसर न देकर महावीर कर्ण बीच ही में बोल उठा । और दुर्योधन की बात का समर्थन करते हुए कहने लगा—"हे महाराज! दिव्य अस्त्रविद्या के सबसे बड़े ज्ञाता महात्मा परशुरामजी हैं। उन्हीं से मैंने अस्त्र-शिक्षा पाई है। इस युद्ध में प्रधान-प्रधान पांडवों को मारने का बीड़ा मैं उठाता हूँ।" कर्ण ने जो अपने मुँह से अपनी बड़ाई की, वह महात्मा भीष्मजी से न सही गई । क्रोध में आकर कर्ण को फटकारते हुए भीष्मजी बोले—"हे कर्ण! काल ने तुम्हारी बुद्धि हर ली है, इसी से तुम इस प्रकार प्रलाप करते हो। तुम्हें जो यह गर्व है कि मैं पांडवों का संहार कर लूँगा, सो व्यर्थ है। ऐसा गर्व करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? पांडव लोग जितने बली हैं, तुम उनका एक सोलहवाँ भाग भी बली नहीं। उन्होंने जैसे बड़े बड़े दुष्कर काम किये हैं, वैसे कौन से काम तुमने किये हैं? विराट नगर में जब अर्जुन ने तुम्हारे प्यारे भाई को मारा, तब तुम क्या करते थे? जब अर्जुन ने सारे कौरवों को अचेत करके उनके कपड़े-लत्ते छीन लिये, तब क्या तुम वहाँ पर नहीं थे? इस समय तुम उन्मत्त बैल के समान डकार रहे और व्यर्थ वीरता बघार रहे हो, परंतु घोष-यात्रा के समय जब गंधर्वगण कौरवों की दुर्दशा करने लगे, तब तुम्हारे वहाँ उपस्थित होते हुए भी क्यों पांडवों को उनकी रक्षा के लिए आना पड़ा? तुम जो बार-बार गर्व से भरी मिथ्या बातें कहते हो और बार-बार लड़ने की उत्तेजना देते हो, उसी से कौरव लोग मोहांध हो गये हैं, और उसी से उन्हें ऐसे दुष्कर्म करने का साहस हुआ है। तुम्हारे ही दोष से यह सब अनीति हो रही है। तुम जब ब्राह्मण बनकर परशुराम के पास

अस्त्रविद्या सीखने गये थे, तभी उनके शाप से तुम्हारी शिक्षा का फल नष्ट हो गया था। तुम्हारे जैसे धर्म-भ्रष्ट मनुष्य की सहायता का भरोसा करने से इस घोर युद्ध में कौरव लोग अवश्य ही काल का ग्रास हो जायँगे।" भीष्म के इन वाक्यरूपी बाणों से कर्ण बहुत ही संतप्त हुआ। अपने सारे अस्त्र-शस्त्र फेंककर बोला—"हे पितामह! आपने पांडवों के गुणों का जैसा वर्णन किया है, वे वैसे ही या उससे भी अधिक हो सकते हैं। परंतु आपने इस सभा में जो ये कठोर वाक्य मुझे कहे हैं, उनका फल सुन लीजिए कि मैंने अपने सारे अस्त्र त्याग दिये हैं। जब तक आप जीते रहेंगे, मैं इनको छूऊँगा भी नहीं! धृतराष्ट्र के पुत्र जानते हैं कि मैं कभी धर्म-भ्रष्ट नहीं हुआ, और लेशमात्र पाप नहीं किया। नित्य ही राजा धृतराष्ट्र के मन का काम करने की चेष्टा की है। युद्ध में आपके मारे जाने पर मैं अपना प्रभाव और पराक्रम दिखलाकर कौरवों की रक्षा करूँगा।" यह कहकर कर्ण सभा से निकलकर तुरंत अपने घर चल दिया। उसके चले जाने पर फिर सब लोगों ने दुर्योधन को समझाया। परंतु उस मलीन चित्त ने न किसी की सुनी और न उत्तर दिया, बल्कि चुपचाप बैठा रहा।

ऐसा समाचार सुनकर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे केशव! तुमने अपनी आँखों से देखा है कि लड़ाई-झगड़ा बचाने के भय और धर्म के अनुरोध से आज तक हम लोगों ने कितना क्लेश उठाया है। अब हम न्याय से अपना राज्य पाने के अधिकारी हैं! फिर भला, कहिए, अपनी ज्ञाति को अधिक कष्ट उठाते हम किस प्रकार देख सकेंगे? इससे यद्यपि लड़ाई में हार-जीत दोनों हमें एक-सी हैं—क्योंकि चाहे हम हारें, चाहे कौरव, दोनों प्रकार से हमारे प्यारे बंधु-बांधवों का नाश अवश्य ही होगा—तथापि हमने तो अब निश्चय किया है कि यदि कठोरता

दर्शाने की ज़रूरत होगी तो वही करेंगे, और यदि राज्य पाने के लिए प्राण तक देने होंगे तो उन्हें भी दे देंगे। परंतु यह मामला बड़ा गंभीर है और आपके समान इन विषयों में चतुर-शिरोमणि हमें और कोई नहीं दीखता, और आप दोनों पक्षों के शुभचिंतक तथा प्यारे हैं, इसलिए आपसे ही हम उचित सलाह की आशा करते हैं।"

युधिष्ठिर से ऐसा सुनकर श्रीकृष्ण बोले—"हे धर्मराज! युद्ध आरंभ होने से पहले हम चाहते हैं कि एक बार हस्तिनापुर हम स्वयं जायँ और दोनों पक्षों के हित के लिए आख़िरी चेष्टा कर देखें।" इस प्रकार कहने के पश्चात् वे सात्यकि को साथ लेकर हस्तिनापुर पहुँचे और कौरवों की सभा में जाकर बड़े गंभीर स्वर से धृतराष्ट्र से बोले—"हे भरतवंश-शिरोमणि! हमारी समझ में कौरवों और पांडवों के बीच संधि स्थापन करके वीरों का वृथा नाश निवारण करना चाहिए। यही प्रार्थना करने हम आप लोगों के पास आये हैं। जो कुछ जानने योग्य है, सब आप जानते हैं। विद्या, दया और सरलता आदि गुणों में आपका कुल अन्य राजकुलों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। आप इस कुल में प्रधान हैं। राज-काज की डोरी भी आप ही के हाथ में है। अतएव बड़े दुःख की बात है जो आपके होते कौरव लोग अनुचित व्यवहार करें। उन्हीं के कारण कुरु-कुल पर घोर आपदा आनेवाली है। आप यदि इस मामले को ठंढा न करेंगे और इस विषय में बेपरवाही दिखलावेंगे, तो इस इतने बड़े राज्य के जड़ से नष्ट हो जाने का डर है। आप चाहें तो सहज में यह आपत्ति टल सकती है, क्योंकि शांति स्थापन करना आपके और हमारे अधीन है। आप कौरवों को शांत करें, हम पांडवों को शांत करने का भार अपने ऊपर लेते हैं। हे राजन्! आपकी आज्ञा मानना आपके

पुत्रों का आवश्यक कर्तव्य है। आपकी आज्ञा पर चलने से उनका परम कल्याण होगा। शांति स्थापित करने से कौरव और पांडव दोनों का ही भला होगा। इसलिए शांति स्थापित करने का यत्न कीजिए, व्यर्थ का वैर छोड़ दीजिए। इस समय कौरव लोग आपके सहायक हैं, शांति स्थापित हो जाने से आप पांडवों को भी अपना सहायक बनाकर निश्चिंत मन से आनंदपूर्वक रह सकेंगे। विना इसके आपको भी नित्य चिंता और दुःख घेरे रहेंगे।

"हे नरराज! विशेष यत्न और उद्योग करके भी आप पांडवों को हरा नहीं सकेंगे; किंतु पांडव जो आपके रक्षक हो जायँगे, तो देवगण सहित इंद्र भी आपका सामना न कर सकेंगे। राजाओं की तो कुछ वात ही नहीं! देखिए, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, वाह्लीक, जयद्रथ, कलिंगराज, कांबोजराज, सुदक्षिण, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि, महारथी युयुत्सु आदि वीर यदि मिलकर एक हो जायँ, तो फिर संसार में कौन इनसे युद्ध करने की हिम्मत कर सकता है? हे शत्रुनाशन! कौरवों और पांडवों का मेल हो जाने पर आप सहज ही सव शत्रुओं को जीत सकते और त्रिभुवन का साम्राज्य भी प्राप्त कर सकते हैं। आप अपने पुत्रों और भतीजों के प्रताप से सहज ही अन्य शत्रुओं को हराकर, मंत्री, मित्र, पुत्र आदि के साथ पांडवों के वाहुवल से प्राप्त भूमि का ऐश्वर्य भोग सकेंगे।

"राजन्! संग्राम का फल केवल महाक्षय है। देखिए, कौरव या पांडव दोनों में से यदि कोई पक्ष नष्ट हुआ, तो आपकी हानि होगी। शोक भी होगा। समर में पांडवों या कौरवों का विनाश होने से क्या आपकी नेकनामी होगी? पांडव मरे या कौरव मरे, तो आपको क्या सुख मिलेगा? पाँचों पांडव शूर, युद्धनिपुण और

आपके सगे हैं। इसलिए आप इस होनेवाले अनर्थ से दोनों पक्षों की रक्षा कीजिए। ऐसा कीजिए जिसमें शूर और रथी पांडव तथा कौरव एक दूसरे के हाथ से मरते न देख पड़ें। हे राजेंद्र! पृथिवी के सब राजा क्रोधवश होकर एकत्र हुए हैं। उनके क्रोध से बड़ी भारी मनुष्यहत्या या लोकक्षय होगा। इसलिए आप प्रजा की रक्षा कीजिए; उनका विनाश न होने पाये। आप सत्त्वगुण की वृत्ति स्वीकार करें, तो यह भाई-भाई का विरोध बहुत जल्द मिट सकता है। पहले पांडवों के साथ आपका जैसा सद्भाव था, वैसा ही फिर हो जाय। पांडवों के पिता बचपन में ही मर गये थे, तभी से पुत्र की तरह वे आपके यहाँ पले हैं। इसलिए आप उन्हें और अपने पुत्रों को एक-सा समझकर दोनों की रक्षा कीजिए। सब समय, खासकर विपत्ति के समय, आपको पांडवों की रक्षा करनी चाहिए। इस कारण कर्त्तव्य-विरुद्ध कार्य करके धर्म और अर्थ की हानि करना आपके लिए सर्वथा अयोग्य है।

"महाराज! पांडवों ने आपको प्रणाम और प्रसन्न करके कहा है कि 'हमने आपको पिता मानकर आपकी आज्ञा से बारह वर्ष बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करके बहुत से क्लेश सहे हैं। हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके, यह बात वनवासी ब्राह्मण जानते हैं। इस समय ऐसा उपाय कीजिए जिससे हमें अपने हिस्से का राज्य मिल जाय। आप धर्म और अर्थ के तत्त्व को जानते हैं। आपको गुरुतुल्य समझकर हमने सब क्लेश सहे हैं। इसलिए इस समय पिता-माता की तरह हमें विपत्ति से उभारना आपका कर्त्तव्य है। हे महाराज! गुरु के साथ शिष्य को जैसा व्यवहार करना चाहिए, वैसा ही व्यवहार हमने आपके साथ किया है। आप भी हमारे साथ वैसा व्यवहार कीजिए, जैसा गुरु को करना चाहिए। हम जो कुमार्ग पर चलें, तो सुमार्ग पर हमें लगाना

आपका काम है। आप धर्म-मार्ग पर दृढ़ होकर हमें उसी राह पर लगाइए।'

"पांडवों ने आपके सभासदों से भी कहा है--'आप लोगों के ऐसे सभासदों के रहते सभा में अन्याय होना उचित नहीं, क्योंकि जिस सभा में अधर्म के हाथों धर्म की हत्या होती है और वहाँ के सभासद अधर्म से धर्म की रक्षा नहीं करते, तो उस धर्म की हत्या से वे भी मारे जाते हैं। नदी जैसे किनारे पर के वृक्षों को उखाड़ डालती है, वैसे ही अधर्म ऐसे सभासदों को नष्ट कर देता है। जो सभासद धर्म पर दृष्टि रखकर सोच-विचार करते हैं, अर्थात् अधर्म का अनुमोदन नहीं करते, वे ही सत्य, धर्म-संगत और न्यायपूर्ण वचन कहते हैं।'

"महाराज! मैं इसके सिवा और कुछ नहीं कह सकता कि आप पांडवों को राज्य देकर उनसे संधि कर लीजिए; अथवा इस बारे में जो वक्तव्य हो सो यहाँ के सभासद कहें। राजन्, अगर आपको मेरी ये बातें धर्मार्थ-संगत और सत्य समझ पड़ें, तो इन राजाओं और अपने पुत्रों को मृत्युपाश से छुड़ाइए। पांडवों को उनके बाप का हिस्सा देकर पुत्रों के साथ सुख से रहिए। महात्मा युधिष्ठिर धर्म के मार्ग से कभी डिगनेवाले नहीं।

"हे राजन्! आपके पुत्रों ने पांडवों पर छुटपन से जो-जो अत्याचार किये हैं, उनको एक बार मन में विचारकर देखिए--कैसे भीम को विष दिया गया, माता सहित पाँचों भाइयों को कैसे उन्होंने जलाना चाहा, कैसे कपट के साथ जुआ खेला गया, भरी सभा में द्रौपदी के साथ कैसी नीचता का व्यवहार किया गया, पांडवों ने तेरह वर्ष वनवास में रहकर कैसे-कैसे कष्ट सहे, इतना होने पर भी पांडव लोग कौरवों के इन अपराधों को क्षमा करने के लिए तैयार हैं। इसलिए इस समय आपका परम कर्त्तव्य है कि

आप धर्म के लिए, सत्य के लिए, और नहीं तो अपने हित और सुख के लिए पांडवों को आधा राज्य देकर उनके साथ अवश्य संधि कर लीजिए। बिना कारण अगणित वीरों के नाश का हेतु मत बनिए। आपके पुत्र लोभ और क्रोध की प्रबलता से निरंकुश हो गये हैं, उन्हें शासन कीजिए। यदि पांडवों के विषय में कहो, तो वे जिस तरह युद्ध करने को तैयार हैं, उसी तरह आपकी सेवा करने को भी राज़ी हैं। अब इन दोनों बातों में से आपको जो सुगम और हितकारी जान पड़े, उसी का अवलंबन कीजिए।"

श्रीकृष्ण के इस गंभीर और नीतिमय भाषण को सुनकर सब लोगों ने मन ही मन में उनकी प्रशंसा की, परंतु अपने मनोभावों को स्पष्ट कहने का साहस किसी को न हुआ। इसके अनंतर सभा में आये हुए ऋषियों ने नाना प्रकार की कथाएँ और उपदेश-वाक्य कहकर, विशेषतः दुर्योधन को, समझाने की चेष्टा की; परंतु दुराग्रही दुर्योधन के मन पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। वरन् उसने क्रुद्ध होकर यह उत्तर दिया—"हे ऋषिगण ! परमेश्वर ने हमें उत्पन्न करके जैसी बुद्धि दी है, वैसा ही हम काम करते हैं। हमारे भाग्य में जो कुछ है, वही होगा। इसलिए आप लोग अब और वृथा बकवाद न करें।"

पुत्र के मुँह से ऐसा उद्दंड और अशिष्टता से भरा हुआ उत्तर सुनकर धृतराष्ट्रजी व्याकुल होकर बोले—"हे महर्षिगण ! आपने जो उपदेश दिया है वह सचमुच ही बहुत अच्छा है, किंतु उसके अनुसार काम करना हमारी शक्ति से बाहर है।" फिर श्रीकृष्ण से कहा—"हे केशव ! आपकी बात उचित है, सुखदायक है और धर्मसंगत भी है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। किंतु हम स्वाधीन नहीं, जो बात हम करना चाहते हैं वह नहीं होती। इसमें तुम दुर्योधन को समझाने का यत्न करो। वह हमारी किसी

की बात नहीं सुनता। तुम यदि उसे शांत कर सको, तो बड़ा काम हो जाय।"

राजा धृतराष्ट्र के कहने के अनुसार श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की ओर मुख करके इस प्रकार मधुर वाक्य से उससे कहना आरंभ किया--

"हे दुर्योधन! तुम जो युद्ध के लिए हठ कर रहे हो, यह अच्छा नहीं। मैं तुम्हारे हित और शांति के लिए जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान लगाकर सुनो। हे भरतश्रेष्ठ! तुम जैसा व्यवहार करते हो, वह तुम्हारे वंश के योग्य नहीं। तुम जिसको कर्त्तव्य समझ रहे हो, उसका अनुमोदन सिवा नीच कुल में उत्पन्न, दुरात्मा, नराधम, निर्लज्ज लोगों के और कोई नहीं करेगा। यह युद्ध का हठ ऐसे ही लोगों के योग्य कार्य है। तुम्हारे इस बुरे व्यवहार से जो अनर्थ होनेवाला है, उसे निवारण करके अपने भाइयों और मित्रों का कल्याण करो। पांडवों में असीम शूरता, उत्साह, बुद्धि, ज्ञान और धैर्य है, इसलिए उनसे मेल कर लो। मेल करने से राज्य-वृद्धि आदि तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी होंगी। तुम कौरवों और पांडवों में मेल हो जाने से सारे जगत् को कल्याण और शांति प्राप्त होगी।

"हे भाई! पांडवों के साथ संधि-स्थापन करने की तुम्हारे सभी गुरुजनों की सलाह है, इससे तुम्हें ज़रूर उनका कहना मानना चाहिए। जो व्यक्ति मोहवश होकर अपने हितचिंतकों व प्रियजन के वचनों को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखता, वह अर्थ से हीन होकर, कार्य सिद्ध न होने पर, पछताता है। जो बुद्धिमान् पुरुष अपने मत को छोड़कर हितचिंतकों के हितकारी वचनों को मानता और उनका अनुसरण करता है, वह इस लोक में परम ऐश्वर्य भोग कर सुखी होता है। जो पुरुष अपने प्रतिकूल समझकर

मित्रों की बात का अनादर करता है और दुष्टों के वचनों पर श्रद्धा दिखाता है, वह अपने शत्रुओं के हाथ में पड़कर घोर कष्ट उठाता है।

"हे दुर्योधन ! जो राजा कपटी और ईर्ष्यालु होता है, तथा जो अच्छे स्वभाववाले मित्रों और आत्मीयों के हितकारी वचन न मानकर उन सच्चे हितैषी आत्मीय स्वजनों से द्रोह और ग़ैरों का सम्मान करता है, वह घोर आपद् को पाता है, जिससे कभी उत्तीर्ण ही नहीं होता। इस जगत् में तुम्हारे सिवा और कौन ऐसा होगा जो इन्द्रतुल्य महारथी भाइयों से वैर करके ग़ैरों का आश्रय ढूँढेगा या ग़ैरों से अपनी रक्षा का भरोसा करेगा ? हे भैया ! देखो, बालकपन से पांडवों ने तुम्हारे द्वारा अनेक प्रकार के दुःख पाये हैं; तिस पर भी उन्होंने तुम्हारे ऊपर क्रोध नहीं किया। इससे तुम्हें भी उन पर प्रसन्न होना चाहिए।

"हे कुरुकुलतिलक ! बुद्धिमान् पुरुष प्रायः धर्म, अर्थ और काम से युक्त कार्य ही करते हैं। एक साथ इन तीनों का संपादन असंभव होने से वे केवल धर्म और अर्थ का ही अनुसरण करते हैं। धर्म, अर्थ और काम में से एक-एक को अलग प्राप्त करना हो, तो उत्तम स्वभाववाले बुद्धिमान् लोग धर्म का ही पालन करते हैं। मध्यम प्रकृति के लोग कलह की जड़रूप अर्थ को प्रधान समझते हुए उसी के पाने का यत्न करते हैं। नीच प्रकृति के अधम मूढ़ पुरुष केवल काम की आराधना करते हैं। जो इंद्रियों के अधीन मूढ़ पुरुष, लोभ के वश होकर, धर्म को छोड़कर निंदित उपाय से अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता है, वह विनष्ट हो जाता है। धर्म के विना अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले धर्म करना चाहिए। राजन् ! जो आदमी सदाचारी,

सरल पुरुषों से कपट का व्यवहार करता है, वह अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारता है, और कुल्हाड़ी से जैसे जंगल कट जाता है, वैसे ही उसके काम से उसकी जड़ कट जाती है।

"हे दुर्योधन ! युद्ध में जीतने की आशा तुम वृथा करते हो। जिन लोगों के ऊपर भरोसा करके पांडवों को तुम जीतना चाहते हो, वे किसी तरह से पांडवों की बराबरी नहीं कर सकते। तुम यदि सचमुच यह समझते हो कि युद्ध में तुम अर्जुन को हरा दोगे, तो व्यर्थ और लोगों का नाश करने से क्या लाभ है ? तुम अपने पक्ष में से किसी एक वीर को अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए चुन लो। उन दोनों के युद्ध का जैसा परिणाम हो, उसी के अनुसार दोनों पक्षों की हार-जीत का निश्चय हो। यदि इस बात के मान लेने का साहस न हो तो, व्यर्थ आशा छोड़कर, राज्य का जो अंश पांडवों को मिलना चाहिए उसे उनको दे दो। इससे तुम्हारे मित्रों को भी आनंद होगा और तुम स्वयं भी सुख से रहोगे।"

कृष्णजी की बात समाप्त होने पर भीष्मजी उनके प्रस्ताव का समर्थन करके दुर्योधन को यों समझाने लगे—"बेटा ! बंधुओं के कल्याण ही की इच्छा से महात्मा कृष्ण ने जो आज्ञा दी है, उसे मान लो। क्रोध के वश न होओ। महात्मा वासुदेव के इस श्रेष्ठ उपदेश को न मानने से कभी न श्रेय को पाओगे और न सुख व कल्याण को ही। श्रीकृष्ण ने जो कहा है वह धर्म और अर्थ के अनुकूल ही कहा है, इसलिए व्यर्थ प्रजा का नाश न करके हृदय से संधि का प्रस्ताव मान लो। यदि इनका उपदेश न मानोगे तो पिता के सामने ही तुम अपनी करतूत से इस असीम समृद्धिशालिनी भरतकुल की राजलक्ष्मी को नष्ट कर दोगे और अभिमान से बावले होकर पुत्र, भाई, बंधु, मित्र

आदि का और अपना भी जीवन संकट में डाल दोगे । इसलिए मैं बारंबार मना करता हूँ कि तुम कुलघाती, कायर, कुमति और कुपथगामी होकर माता-पिता को शोक-सागर में मत डालो ।"

किंतु दुर्योधन ने भीष्मजी की बातों का आदर न किया । मारे क्रोध के उलटा वह लाल हो गया । तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा--"भीष्म और वासुदेव दोनों ही महाप्राज्ञ, मेधावी और शास्त्र का बहुत ज्ञान प्राप्त किये हुए हैं । इसमें संदेह नहीं कि इनके वचन धर्म-अर्थ से संगत और तुम्हारे लिए हितकारी हैं । तुम अनन्य भक्ति के साथ इनके वचनों को मान लो और जो कुछ इन्होंने कहा है, उसे बेखटके कर डालो । बुद्धि-भ्रम में पड़कर वासुदेव का अनादर मत करना । कर्ण आदि जो दुर्बुद्धि पुरुष तुम्हें युद्ध के लिए उत्तेजित कर रहे हैं, वे कभी तुमको विजय नहीं दिला सकेंगे । युद्ध छिड़ जाने पर वे औरों के ऊपर युद्ध का बोझ डालकर आप निश्चिंत हो जायँगे । इसलिए पुत्र, भाई आदि आत्मीयों का व्यर्थ विनाश मत कराओ । तुम यह निश्चय जानो कि जिस सेना के रक्षक वासुदेव व अर्जुन हों, उसे कभी कोई हरा नहीं सकता । इस समय जो प्रधान हितचिंतक श्रीकृष्ण और भीष्म के वचनों को न मानोगे तो तुम्हें पछताना पड़ेगा । महात्मा परशुरामजी ने अर्जुन के बारे में जो कहा है, अर्जुन उससे भी हज़ार गुना श्रेष्ठ है । श्रीकृष्ण के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं है, देवता भी उनके प्रताप की आँच नहीं सह सकते । अब और तुमसे हित की बात का प्रस्ताव करना बेकार है । बंधुओं को जैसा कहना चाहिए था, वैसा कहा जा चुका है । अब जैसी रुचि हो, वैसा करो ।"

इसके बाद विदुरजी ने कहा--"हे दुर्योधन ! हम तुम्हारे लिए शोक नहीं करते । किंतु तुम्हारे बूढ़े माता-पिता के लिए व्याकुल हो रहे हैं, क्योंकि तुम्हारे बुरे व्यवहारों से अपने सारे पुत्रों और

मित्रों के मारे जाने पर पंख कटे हुए पक्षी के समान वे अनाथ हो जायँगे। इसी से हम इतना शोकाकुल हो रहे हैं।" तब धृतराष्ट्र फिर दुर्योधन को मनाने लगे। वे बोले—"पुत्र! श्रीमान् कृष्ण का उपदेश सर्व प्रकार से कल्याणकारी है। उसे मान लेने से तुम्हारे ऐश्वर्य में कुछ भी कमी न होगी। राज्य का आधा अंश जो तुम दे दोगे, तो महात्मा कृष्ण की सहायता से तुम अपना राज्य उसकी भी अपेक्षा अधिक बड़ा कर सकोगे। इसलिए इस समय को हाथ से न जाने दो। इनका कहना न मानने से तुम्हारी हार हुए विना न रहेगी, इसमें कुछ भी संदेह न समझो।"

अंत में भीष्म और द्रोणाचार्यजी ने पुनः ऐसे कहा—"हे दुर्योधन! अब तक भी अर्जुन ने वर्म धारण नहीं किया; अब तक भी उन्होंने इसपात की जाली का कोट नहीं पहना; अब तक भी गांडीव धन्वा पर उन्होंने प्रत्यंचा नहीं चढ़ाई; अब तक भी पुरोहित धौम्य ने युद्ध में विजय पाने के लिए यज्ञ-संबंधी अग्नि में आहुतियाँ नहीं डालीं। इससे अब भी भूल सुधार लेने का समय है; अब भी कुमार्ग को छोड़कर सुमार्ग में आने के लिए अवकाश है; अब भी होनेवाला महाभयंकर मनुष्य-नाश निवारण किया जा सकता है। तुम प्रसन्नचित्त होकर पांडवों को उनका अंश दे डालो, वे भी प्रेमपूर्वक तुम्हें गले से लगावें। जो राजा लोग इस समय यहाँ एकत्र हैं, वे भी पांडवों के साथ तुम्हारा फिर मिलाप होते देख आनंद के आँसू बहावें।"

दुर्योधन ने और किसी की बात पर कुछ भी ध्यान न दिया। केवल कृष्ण के कथन का वह कठोरतापूर्वक उत्तर देने लगा—

"हे वासुदेव! तुम्हें समझ-बूझकर हमारे साथ बातचीत करना चाहिए। वृथा निंदा हमारी क्यों करते हो? तुमने पांडवों का कौन-सा इतना बल-पराक्रम देखा, जो तुम उनके इतने भक्त हो

गये ? केवल तुम्हीं नहीं, किंतु भीष्म, द्रोण, विदुर आदि सभी ने क्रम-क्रम से हमारी निंदा की। परंतु बहुत विचार करने पर भी हम यह न जान सके कि हमने क्या अपराध किया है ? जुआ खेलने का चसका लग जाने से युधिष्ठिर ने शकुनि के साथ जुआ खेला। परंतु खेल में कुशल न होने के कारण वे अपना सारा राज्य हार गये। उस राज्य को दया करके हमने लौटा दिया। पर खेलने के व्यसन में वे अपने आपको कुछ ऐसा भूल गये कि वनवास की प्रतिज्ञा को दाँव पर लगाकर फिर भी उन्होंने हार खाई। इसमें हमारा क्या दोष ? सेना सामग्री आदि एकत्र करते ही क्यों उन्होंने हमें अपना शत्रु समझना आरंभ किया ? क्या वे यह आशा रखते हैं कि इस प्रकार हम डर जायँगे ? हम तो ऐसा एक भी क्षत्रिय नहीं देखते जो हमारे साथ युद्ध करके जीत जाय। पांडवों की तो बात ही क्या ; भीष्म, द्रोण और कर्ण को इंद्र आदि देवता भी जीतने में समर्थ नहीं हो सकते। कुछ भी हो, हम क्षत्रिय हैं ; इससे शत्रु के सामने सिर नीचा करने की अपेक्षा लड़ाई के मैदान में वीरों के योग्य शय्या पर सोना ही हम अधिक अच्छा समझते हैं। हमारे छुटपन ही में पिता ने हमारी इच्छा के विरुद्ध पांडवों को हमारे राज्य का आधा अंश दे दिया था। परंतु हमारे जीते-जी अब वे उसे फिर नहीं पा सकते। अधिक तो क्या, सुई की नोक से जितनी भूमि छिद सकती है, उतनी भी हम पांडवों को देने के नहीं। इससे चाहे हमारे कुरुकुल और क्षत्रियों का नाश हो जाय, चाहे हमारा सारा साम्राज्य नष्ट हो जाय, इसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं।"

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि दुर्योधन किसी तरह नहीं मानता है और बढ़-बढ़कर बातें करता है, तब उसे डाँटकर उन्होंने कहा—

"हे दुर्योधन ! तुम जो वीरों के योग्य शय्या पर सोने की

इच्छा रखते हो, सो वह इच्छा, समय आने पर, ज़रूर ही पूर्ण होगी। हे भरतकुल के कलंक! लड़कपन में तुमने भीमसेन को विष दिया. पांडवों को वारणावत नगर भेजकर माता सहित जलाने की चेष्टा की। द्रौपदी का भरी सभा में घोर अपमान किया, जुआ द्वारा कपट से उनका राज्य हरण किया और उन्हें वन भेजा। जब वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके अब राज्य पाने के अधिकारी हुए हैं, तब तुम उसे लौटाते नहीं। तुम माता-पिता, बड़े-बड़े महर्षियों और सारे गुरुजनों की बात सुनते नहीं, और उलटा यह कहते हो कि बहुत विचार करने पर भी हमें अपना दोष दिखाई नहीं देता? जब पांडवों के द्वारा घायल होकर रणभूमि में लोटते फिरोगे, तब फिर ये बातें कहते न बनेंगी।"

जब भरी सभा में श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को इस प्रकार फटकारा, तब दुःशासन के उकसाने पर वह उनकी बातों का कुछ भी उत्तर न दे सभा से उठकर चल दिया। तब कृष्णजी भीष्म-द्रोणादि महात्माओं से यों बोले—"हे महात्माजन! बड़े-बूढ़े कौरवों ने दुर्योधन को पहले ही से अपने क़ाबू में न रखकर बहुत बुरा किया। इस समय कुल के क्षय होने से बचने का एकमात्र उपाय हम जो देखते हैं, वह सुन लीजिए। देखिए, हमारे मामा दुरात्मा कंस ने अपने पिता के जीते-जी उनका सारा भोज राज्य अपने अधिकार में कर लिया। यह देखकर सारे बंधु-बांधवों ने उसका साथ छोड़ दिया। सब उससे अलग हो गये थे। अंत में उसे युद्ध में मारने के लिए हम लाचार हुए। उस एक कंस को त्याग देने से देखिए, हम सब यादव लोग आनंदपूर्वक रहते हैं। आप भी इसी तरह यदि दुर्योधन को त्याग दें, तो कौरवों का नाश होने से बच जाय। नहीं तो कौरवों की रक्षा का और कोई उपाय नहीं। यदि आप दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन को पकड़कर पांडवों के

हवाले कर देंगे, तभी संधि स्थापित होकर क्षत्रियों के कुल की रक्षा हो सकेगी, अन्यथा नहीं ।

“हे महाराज धृतराष्ट्र ! कुल की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को, गाँव की रक्षा के लिए कुलभर को, जनपद की रक्षा के लिए सारे गाँव को और आत्म-रक्षा के लिए सारी पृथिवी को त्याग देना चाहिए । इसलिए आप दुर्योधन को बाँधकर पांडवों के पास भेज दीजिए और उन्हें अपनाइए । हे क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! दुर्योधन के कारण सब क्षत्रियों का संहार न होने पाये ।”

श्रीकृष्ण के इस प्रस्ताव को सुनकर धृतराष्ट्र बहुत डर गये । उन्होंने विदुर से कहा—“गांधारी बहुत दूरंदेश (दीर्घद्रष्टा) हैं, उनके पास जाकर तुरंत उन्हें सभा में ले आओ । यदि माता के समझाने से दुर्योधन की बुद्धि ठिकाने आ जाय, तो एक बार वह भी कोशिश कर देखें । हाय ! दुर्योधन की इस घोर मूर्खता का न मालूम क्या फल होगा !”

राजा की आज्ञा पाकर विदुरजी तुरंत गांधारी के पास जाकर उन्हें सभा में ले आये । उनके आ जाने पर धृतराष्ट्र बोले—“हे गांधारी ! तुम्हारा पुत्र दुर्योधन बड़ा दुःशील है । ऐश्वर्य के लोभ से वह पागल हो रहा है । उसका भले-बुरे का ज्ञान जाता रहा है । गुरुजनों की बात पर वह ज़रा भी ध्यान नहीं देता । उसकी इस मूर्खता से हम लोगों पर बहुत भयंकर विपद् आनेवाली है । अभी कुछ ही देर हुई, वह अपने हितचिंतकों के उपदेश को न मानकर सभा से चला गया है । भला इस अशिष्टता का कहीं ठिकाना है ।”

गांधारी ने कहा--“महाराज ! इस आपदा का कारण आप ही की दुर्बलता मालूम होती है । आप इस बात को अच्छी तरह जानते रहे हैं कि दुर्योधन महापाप-परायण है । फिर क्यों आप

अब तक बराबर उसका कहना करते आये हैं । अब इस समय उसे ज़बरदस्ती रोकना आपकी शक्ति के बाहर है ।”

इसके बाद गांधारी ने दुर्योधन को सभा में बुलाया और उसे निंदते हुए वह ऐसे बोली—“पुत्र दुर्योधन ! काम-क्रोध के वश होने से तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है । इसी से तुम गुरुजनों का कल्याणकारी उपदेश नहीं सुनते । किंतु हे पुत्र जब तुम अपनी अधर्मबुद्धि को ही नहीं जीत सकते, तब राज्य जीतने या राज्य की रक्षा करने की तुम किस तरह आशा करते हो ? पुत्र ! तुमने आज तक पांडवों के साथ जो बुरा व्यवहार किया है—उनको जो तुमने नाना प्रकार की पीड़ा पहुँचाई है--उसका प्रायश्चित्त उन्हें उनका राज्य देकर कर डालो । तुम समझते हो कि युद्ध होने पर भीष्म-द्रोण आदि महात्मा सब प्रकार तुम्हारी ही ओर रहेंगे । परंतु यह बात कभी नहीं हो सकती । पांडवों का भी राज्य में हक़ है, और अत्यंत धर्मात्मा होने के कारण सब लोग उन्हीं को अधिक चाहते हैं । जो लोग तुम्हारे अन्न से पले हैं, वे युद्ध में तुम्हारे लिए प्राण दे सकते हैं । परंतु पांडवों के विरुद्ध कभी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते । इसलिए हे पुत्र ! संधि-स्थापन करके सबकी रक्षा करो और पांडवों के साथ मेल करके सुखपूर्वक रहो । तुम जो पांडवों का राज्य हज़म कर लेना चाहते हो, यह कदापि हो नहीं सकता । क्रोधी कर्ण या तुम्हारा भाई दुःशासन, ये तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं कर सकेंगे । भीष्म, द्रोण, कृप. कर्ण, भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न आदि वीर योद्धा अगर क्रुद्ध होकर एक दूसरे से युद्ध करने खड़े होंगे, तो यह निश्चय है कि घोर लोकक्षय होगा । इस कारण क्रोध के वश होकर व्यर्थ कुरुवंश का नाश मत कराओ । तुम्हारे कारण संसार चौपट न होने पाये । मेरा कहना इतना ही है कि कोई मनुष्य लोभ से

पराई संपत्ति ले नहीं सकता। यदि लेता भी हो, तो उसे भोग नहीं सकता। इसलिए लोभ छोड़कर संधि कर लो। इसी में तुम्हारा कल्याण होगा।"

माता की बात समाप्त होने पर दुष्ट दुर्योधन ने कुछ भी उत्तर न दिया। फिर भी वह सभा छोड़कर चला गया, और कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन के साथ कृष्ण को क़ैद करने की चुपचाप सलाह करने लगा। दुर्योधन की यह सलाह सात्यकि को मालूम हो गई, और उसने श्रीकृष्ण के कान में आकर कह दी। तब श्रीकृष्ण ने सभा में ही सबके सामने धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज! सुनते हैं कि दुर्योधन हमें ज़बरदस्ती क़ैद कर लेने का विचार कर रहा है। परंतु आप लोग हमारी सबलता-निर्बलता को भली प्रकार जानते हैं। अतएव आप यह सहज ही जान सकेंगे कि कौन किसको क़ैद कर सकता है। ख़ैर, कुछ भी क्यों न हो, आप लोग डरियेगा नहीं। हम इस समय दूत होकर आये हैं। इसलिए दूत-धर्म छोड़कर हम किसी को दंड देना नहीं चाहते।" श्रीकृष्ण के नीति-संगत वचनों को सुनकर दुर्योधनादि फिर सभा में बुलाये गये। उनके आने पर धृतराष्ट्रजी बोले—"अरे पापी, क्रूर, तू नीच कर्म करने में तत्पर और पापी सहायकों के साथ मिलकर दारुण पाप करना चाहता है। मैंने सुना है, इन पापी नराधमों की सहायता से तू श्रीकृष्ण को पकड़ने के लिए तैयार है। तेरे ऐसे मूढ़ कुलांगार के सिवा और कौन ऐसे निंदित, अकीर्ति के कारणरूप और असाध्य कार्य को करने का दुराग्रह कर सकता है? हाय! इंद्र सहित देवता भी जिनको बलपूर्वक पकड़ नहीं सकते, उन्हीं केशव को तू, चंद्रमा को पकड़ने की इच्छावाले बालक की तरह, पकड़ लेने की इच्छा करता है। तू क्या नहीं जानता कि देव, गंधर्व, असुर, मनुष्य, नाग आदि कोई भी प्राणी

युद्ध में वासुदेव के सामने नहीं ठहर सकता ? तू अच्छी तरह समझ ले कि हाथ से हवा या आग को पकड़ना जैसे दुष्कर है, सिर पर पृथिवी-मंडल को लाद लेना जैसे असाध्य है, वैसे ही बलपूर्वक वासुदेव को पकड़ना भी त्रिकाल में असंभव है।"

इसके बाद विदुरजी ने श्रीकृष्ण के बल, पराक्रम और तेज का वर्णन करके उन्हें समझाया कि, "कृष्णजी से अनुचित बर्ताव करके मृत्यु को निमंत्रित मत करो।" कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को भय प्रदर्शित करने के लिए ज़ोर से हँस दिया। उनके हँसते ही एक दिव्य तेज चारों ओर फैल गया। उनके दायें अर्जुन, बायें बलराम और पीछे की ओर शेष पांडव खड़े हुए दिखाई देने लगे, इत्यादि। इस अद्भुत दृश्य को देखकर लोग चकित रह गये। इसी समय श्रीकृष्णजी उठकर बाहर आये और अपने रथ पर सवार हो गये। उस समय धृतराष्ट्र ने आकर अपनी असमर्थता दर्शाते हुए ऐसे कहा—"हे जनार्दन! पुत्रों पर जितनी मेरी प्रभुता है सो आपने अपनी आँखों देख लिया। यह भी आपने जान लिया कि कौरवों के भले की इच्छा से मैंने अनेक यत्न किये। सब बातों को देखकर आप मुझे किसी तरह का दोष न दीजिएगा। हे केशव! पांडवों के बारे में मेरे हृदय में कोई बुरा विचार नहीं है। मैं हृदय से शांति चाहता था। उसके लिए मैंने दुर्योधन से जो कुछ कहा सो आपको और सब कौरवों को अच्छी तरह मालूम है।" तब श्रीकृष्ण ने सब सभासदों की ओर देखकर कहा—"हे सभासदो! संधि स्थापित कराने के लिए हम यहाँ आये थे। राजा धृतराष्ट्र स्वाधीन नहीं हैं, इसलिए उनका किया कुछ नहीं हो सकता है। दुर्योधन दुर्भाग्यवश संधि करना नहीं चाहता है। अतएव अब युद्ध के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।" ऐसा कहकर सबकी अनुमति से उन्होंने अपने रथ को चलाया। भीष्म, द्रोण

कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, विकर्ण आदि योद्धा कुछ दूर तक उनको पहुँचाने गये। कौरवों के सामने ही रथ को ठहरा कर वासुदेव अपनी बुआ कुंती के पास उनसे विदा होने को गये। और कौरवों की सभा का हाल संक्षेप से उन्हें सुनाते हुए बोले—"बुआ! मैंने और ऋषियों ने बहुत-से युक्तियुक्त हितकारी वचन कहकर संधि का प्रस्ताव किया, परंतु दुर्बुद्धि दुर्योधन ने नहीं माना। इससे जान पड़ता है कि वह पापी अपने अनुगामी दुर्बुद्धि राजाओं के साथ शीघ्र ही पके हुए फल की तरह युद्धभूमि में मरकर गिरेगा। इस संसार में उसके दिन अब गिने हुए हैं। अब मैं आपसे विदा होकर पांडवों के पास जाऊँगा, जो कुछ आपको उनसे कहना हो सो कह दीजिए।"

कुंती ने कहा—"भैया! तुम धर्मात्मा युधिष्ठिर से कहना कि हे पुत्र! प्रजापालन से जो तुमने बहुत-सा धर्म कमाया है, वह अब नष्ट हो रहा है। इसलिए तुम्हें अब क्षत्रिय-धर्म को स्वीकार करना चाहिए। तुम्हारी बुद्धि, दिन-रात धर्म-चिंता में लगी रहने से कर्म-चिंता को भूल-सी गई है। इससे तुम्हें सावधान हो जाना चाहिए। बाहुबल से अपनी जीविका चलाना ही क्षत्रिय का धर्म है। युद्धरूपी क्रूर कर्म और प्रजापालन ही क्षत्रिय का धर्म है। इस अपने क्षत्रिय-धर्म-पालन का ख़याल चित्त में दृढ़ करो। करुणा के वश होकर लगातार कायरपन, दीनता या सरल भाव ग्रहण करने से प्रजापालन से प्राप्त होनेवाला फल नहीं मिल सकता।

"हे केशव! अर्जुन से यह कहना कि बेटा, तुम्हारे जन्म पर यह आकाशवाणी हुई थी कि 'हे कुंती! तुम्हारा यह पुत्र साक्षात् इंद्र के तुल्य होगा। इसका यश स्वर्गलोक तक फैलेगा। यह भीमसेन की सहायता से सारी पृथिवी को जीतेगा और शत्रुओं को नष्ट-भ्रष्ट करेगा। यह वासुदेव की सहायता से संग्राम में कौरव-

कुल को निर्मूल करके छिने हुए अपने पिता के राज्य को ले लेगा और फिर भाइयों के साथ तीन अश्वमेध यज्ञ करेगा।' ईश्वर करे, उक्त आकाशवाणी सत्य हो। यदि पृथिवी पर धर्म है तो वह आकाशवाणी पूरी होगी ही। तुम्हीं उसे सफल करोगे।

"हे केशव! तुम सदा उद्योगतत्पर भीमसेन से यह कहना कि क्षत्रियों की स्त्रियाँ जिस लिए पुत्र उत्पन्न करती हैं, वह समय आ गया है। श्रेष्ठ पुरुष वैर (युद्ध) के समय कभी ढीले या उत्साह-हीन नहीं होते।

"हे कृष्ण! तुम सब धर्मों को विशेषरूप से जाननेवाली यशस्विनी द्रौपदी से कहना कि हे पतिव्रते! तुमने हमारे पुत्रों के कारण इतना क्लेश सहकर भी जो कोई बात अनुचित नहीं की, सो तुम्हारे योग्य ही है। तुमसे ऐसी ही आशा थी।

"हे पुरुषोत्तम! तुम माद्री के पुत्रों से कहना--बेटा नकुल, पुत्र सहदेव, तुम वीर पुरुष हो इसलिए जी-जान होम कर पराक्रम से प्राप्त किये हुए सुख भोगने की इच्छा करो। जो क्षत्रिय-धर्म धारण किये हुए हैं, वे वीर पराक्रम से पाये हुए धन से ही संतुष्ट होते हैं।

"भैया, तुम मेरे पुत्रों को फिर-फिर यह बातें याद करा देना। मेरी ओर से पांडवों, द्रौपदी और उनके पुत्रों से उनकी कुशल पूछना और उनसे मेरे कुशल समाचार कहना। अब तुम जाओ। मार्ग में तुम्हें कोई विघ्न न हो। ईश्वर तुम्हें कुशलपूर्वक ले जाय। देखो, मेरे पुत्रों की रक्षा करते रहना।"

इसके बाद कुंती को प्रणाम करके कृष्ण बाहर निकल आये, भीष्म आदि बड़े-बूढ़ों और प्रधान कौरवों को विदा किया। और कर्ण को साथ ले नगर के बाहर चले। रास्ते में कर्ण को अपनी ओर कर लेने का उन्होंने बड़ा यत्न किया। परंतु कर्ण ने कहा कि अब ऐसा करना कृतघ्नता होगी। अपना जन्म कुंती

के उदर से हुआ जानकर और अपने पांडु भाइयों के साथ अनुचित चेष्टा करने से उसे अपनी पूर्व करतूतों पर पश्चात्ताप अवश्य हुआ, पर अर्जुन से बदला लेने का स्मरण उसे अभी था। जब वह अपने हठ पर डटा रहा, तब कृष्णजी ने उससे कहा कि द्रोण, भीष्म, कृप और धृतराष्ट्र आदि से जाकर कह देना कि “यह मास युद्ध के लिए बड़े सुभीते का है, इसलिए आज के सातवें दिन अमावस्या होगी, उसी दिन युद्ध का आरंभ हो तो अच्छा है।” यह सुनकर कर्ण श्रीकृष्ण को नमस्कार करता हुआ विदा हुआ।

इधर श्रीकृष्ण से कुंती देवी ने जो कुछ कहा था, उसे सुनकर महारथी भीष्म व द्रोणाचार्यजी उस आज्ञाभंगकारी दुर्योधन से पुनः ऐसे बोले--“हे पुरुषव्याघ्र! कुंती ने केशव से जो धर्म और अर्थ से युक्त, श्रेष्ठ तथा उग्र वचन कहे, उन्हें तुमने भी सुना? कुंती की बातों से कृष्णचंद्र भी सहमत हैं। पांडव अपनी माता की आज्ञा का पालन अवश्य करेंगे। वे पहले धर्म-बंधन में बँधे हुए थे, इसी से अब तक क्लेश सहते रहे। अब राज्य प्राप्त किये विना वे कभी शांत न होंगे। तुमने सभा में द्रौपदी को जो क्लेश पहुँचाया है, उसे केवल धर्म के डर से पांडवों ने चुपचाप सह लिया था। इस समय वे प्रतिज्ञानुसार वनवास और अज्ञातवास कर चुके हैं। अब उन्हें उस धर्म का डर नहीं। अस्त्रविद्या में प्रवीण अर्जुन, दृढ़ निश्चयवान् भीमसेन, श्रेष्ठ धनुष गांडीव, अक्षय तरकस, वानर की ध्वजावाला रथसंपन्न अर्जुन, असाधारण बलशाली नकुल और सहदेव, तथा अकुंठित शक्ति वासुदेव आदि को पाकर राजा युधिष्ठिर कभी क्षमा नहीं करेंगे। हे महाबाहु! यह बात तुमसे छिपी नहीं है कि अब से पहले विराट-नगरी में वीर अर्जुन, अकेले ही हम सबको हरा चुके हैं। इसके सिवा निवात,

कवच आदि दानवों को भी उन्होंने मार डाला है। घोषयात्रा के समय तुम सबको जब गंधर्व-राज चित्रसेन पकड़कर ले चला था, तब तुम्हें अर्जुन ने ही छुड़ाया था। इन्हीं बातों को अर्जुन के पराक्रम का नमूना समझ लो। इस कारण अपने भाइयों सहित तुम पांडवों से मेल कर लो। और मृत्युमुख में पड़ी इस पृथिवी को बचा लो। देखो, युधिष्ठिर तुमसे बड़े, धर्मात्मा, प्रिय वचन बोलनेवाले और समझदार हैं। इस कारण पाप बुद्धि छोड़कर उनसे मेल कर लेने ही में भला है। युधिष्ठिर तुम्हें जब शस्त्रहीन, शांतमूर्ति, प्रसन्नमुख देखेंगे, तभी कुरुकुल की रक्षा होगी। इसलिए तुम पहले की तरह मंत्रियों के साथ युधिष्ठिर के पास जाकर उन्हें प्रणाम करो और गले से लगाओ ताकि भीम के बड़े भाई युधिष्ठिर स्नेह के साथ दोनों हाथों से तुम्हें गले से लगा लें। घुटनों तक लंबी और स्थूल भुजाओंवाले भीमसेन तुमसे गले मिलें, और कमल-नयन अर्जुन तुम्हें अभिवादन करें। नकुल और सहदेव तुम्हें बड़ा मानकर प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारी आराधना करें, और श्रीकृष्ण आदि राजा लोग तुम्हें इस तरह पांडवों से मिलते देखकर आनंद के आँसू बहावें।

"भैया, तुम अभिमान छोड़कर पांडवों से संधि कर लो, और सब भाई एक साथ सारी पृथिवी का साम्राज्य-भोग करो। युद्ध के लिए एकत्र हुए ये सब राजा लोग हर्ष के साथ एक दूसरे को गले से लगाकर अपने-अपने घर को लौट जायँ। युद्ध में कुछ भी लाभ नहीं है, इसलिए मित्रों का कहना मान लो। संग्राम में क्षत्रियों का सर्वनाश अवश्य होगा—लक्षण ऐसे ही देख पड़ते हैं। देखो, प्रज्वलित उल्कापात देखकर तुम्हारे पक्ष के सैनिक व्याकुल हो रहे हैं। अशुभसूचक गिद्ध आदि पक्षी सैनिकों के ऊपर मँडराते देख पड़ते हैं। इसलिए तुम माता-पिता, इष्ट-मित्रों और

हितैषी बंधुओं की बात मानो । शांति और युद्ध सब तुम्हारे हाथ में है । मित्रों और हितचिंतकों की बात न मानोगे, तो अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों से अपनी सेना को पीड़ित और नष्ट होते देख कर तुम्हें पछताना पड़ेगा । संग्राम में अग्नि के समान भयानक तेजवाले भीमसेन का भयंकर गर्जन और अर्जुन के गांडीव धनुष का शब्द सुनने पर हमारा यह कथन तुमको याद आयेगा । जो तुम हमारे इस समझाने को अपने प्रतिकूल समझोगे, तो पीछे पछताना होगा ।"

भीष्म और द्रोण की राय सुनकर दुर्योधन उदास हो गया उसने सिर झुका लिया । वह भौंहें सिकोड़कर चुपचाप टेढ़ी नज़र से पृथिवी की ओर ताकने लगा । उसे उदास देखकर फिर दुर्योधन से भीष्म ने कहा—"हाय, बड़ों की सेवा करनेवाले, असूयाहीन, सत्यवादी, ब्रह्मनिष्ठ युधिष्ठिर से हमें युद्ध करना पड़ेगा । इससे बढ़कर दुःख की बात क्या हो सकती है ।"

द्रोण ने कहा—"मैं अश्वत्थामा की तरह अर्जुन को भी प्यार करता हूँ । अर्जुन तो अश्वत्थामा से भी अधिक नम्रता के साथ मेरा सम्मान करते हैं । तथापि क्षत्रिय-धर्म के अनुरोध से, पुत्र से भी अधिक प्यारे अर्जुन के साथ मुझे युद्ध करना होगा । क्षत्रिय-जीविका कैसी निंदनीय है ! अद्वितीय धनुर्द्धर अर्जुन मेरी ही बदौलत सर्वश्रेष्ठ योद्धा हुए हैं । यज्ञ-स्थल में आये हुए मूर्ख की तरह मित्रद्रोही, दुष्ट-प्रकृति, नास्तिक, शठ और कुटिल-हृदय पुरुष सज्जनों के समाज में पूजनीय नहीं हो सकता । जैसे पापी मनुष्य बार-बार मना करने पर भी पाप ही करता है, वैसे ही पुण्यात्मा पुरुष सदा पुण्य करने की ही इच्छा रखता है । हे भरतश्रेष्ठ ! तुमने शठता से पांडवों को धोखा दिया, तब भी उन्होंने तुम्हारे अनिष्ट का उपाय नहीं किया । तुम इस अपने ही दोष

से नीचा देखोगे। देखो, कुरुश्रेष्ठ पितामह, मैं, विदुर और वासुदेव सबने तुम्हारे हित की बातें कहीं, पर तुमने किसी की बात नहीं मानी। तुम अपने को महाबली समझकर वैसे ही पांडव की सेनासागर के पार जाना चाहते हो, जैसे मगर और घड़ियाल आदि जल-जंतुओं से पूर्ण समुद्र को कोई गंगा का वेग समझ लाँघ जाना चाहे। हे पापवृत्ति आसक्त ! जैसे कोई दूसरे की पहनी माला या कपड़ा पहनकर उसे अपनी ही समझे, वैसे ही तुम युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी लेकर लोभ के मारे उसे अपनी ही समझ रहे हो। द्रौपदी और अस्त्रविद्या-पारदर्शी समझदार भाइयों के साथ बारह वर्ष धर्मराज युधिष्ठिर वन में रहे, तो भी कोई राजा उन्हें परास्त न कर सका। दास की तरह सब यक्ष जिनकी आज्ञा में चलते हैं, कुवेर भी जिनकी प्रभा को मान चुका है, कुवेर के भवन से सब रत्न पाकर पांडव लोग इस समय तुम्हारे विशाल साम्राज्य पर हमला करना चाहते हैं, और तुम्हारी आँख अभी तक नहीं खुलती !

"हमने अब तक यथाशक्ति दान, हवन और अध्ययन किया है। हमारी आयु भी समाप्त हो चली है। हमें क्या है। पांडवों के साथ जूझने से तुम्हारे ही राज्य, धन, सुख, मित्र आदि का विनाश होगा, और तुम्हीं पर विपत्ति आवेगी। तप-व्रत करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी जिनकी विजय चाहती है, वासुदेव जिनके मंत्री हैं, धनुषधारियों में प्रधान पराक्रमी अर्जुन जिनके भाई हैं, जितेंद्रिय धीर ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उन कठोर तप करनेवाले, उग्रवीर युधिष्ठिर को तुम कैसे जीत सकोगे ? मित्र पर कोई कठिन विपत्ति आ रही हो, तो उस समय कल्याण की इच्छा रखनेवाले, शुभचिंतक को जैसा काम करना चाहिए, उसके अनुसार मैं फिर तुमसे कहता हूँ कि युद्ध की ज़रूरत

नहीं है। पांडवों से संधि करके कौरववंश का अभ्युदय होने दो! देखो, पुत्र, मित्र, मंत्री और सेना का लेकर आप भी न डूबो।" पर उस दुर्मति दुर्योधन पर इस सबका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

उधर शांति-स्थापन की चेष्टा में सफल न होकर श्रीकृष्णने उपप्लव्य नगर में पांडवों के पास आकर सब वृत्तांत कह सुनाया, और युद्ध की तैयारी करने के लिए कहा। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखंडी, सात्यकि, चेकितान और भीम, ये सात योद्धा पांडवों की सात अक्षौहिणी सेना के सेनापति हुए। इनमें मुख्य सेनापति किसे बनाना चाहिए, इस विषय में बहुत मतभेद होने पर अंत में अर्जुन और श्रीकृष्ण की सम्मति से धृष्टद्युम्न प्रधान सेनापति नियत हुए। उधर कौरवों के पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हुई, जो पहले ही से कुरुक्षेत्र में आकर डट गई थी। कृप[१], द्रोण[२], शल्य[३], जयद्रथ[४], कांबोज-नरेश सुदक्षिण[५], कृतवर्मा[६], अश्वत्थामा[७], कर्ण[८], भूरिश्रवा[९], शकुनि[१०] और बाह्लीक[११], ये ग्यारह योद्धा ग्यारह अक्षौहिणी सेना के सेनापति हुए। इसके बाद दुर्योधन ने भीष्मपितामहजी से मुख्य सेनापति होने की प्रार्थना की। पितामहजी ने शर्त पेश की कि चाहे पहले कर्ण युद्ध कर ले चाहे मैं, पर दोनों इकट्ठे नहीं; क्योंकि कर्ण सदा युद्ध में मुझसे लाग डाँट दिखाया करता है। तब कर्ण ने उत्तर दिया कि भीष्मपितामहजी के जीवनकाल में मैं युद्ध नहीं करने का, इनके मारे जाने पर मैं अर्जुन से लड़ूँगा। इस प्रकार कर्ण के हट जाने पर प्रधान सेनानायक सबकी सम्मति से भीष्मपितामहजी नियत हुए। भीष्मजी सत्य के पक्षपाती थे, इसलिए पांडवों की जीत चाहते थे। परंतु कौरवों का नमक खाया था, इसलिए उन्हीं के कार्य में अपना देह अर्पण करना उन्होंने उचित समझा, और नायक होते समय दुर्योधन से यह शर्त भी कर ली थी कि "हम अवसर आने पर भी पांडवों को अपने हाथ से न मारेंगे। पर हाँ

तुम्हें प्रसन्न करने के लिए हम अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन हज़ारों सैनिकों का नाश करने में आगापीछा न करेंगे।" इसी नमक खाने के विचार से द्रोण, विदुर और कृप भी कौरवों से इस अवसर पर अलग नहीं हुए।

इस प्रकार तैयारी होने के पश्चात् इस रुधिर-प्यासी रणभूमि पर दोनों ओर की सेनाएँ आ पहुँचीं। पांडव-सेना का मुख पूर्व-ओर और कौरव-सेना का मुख पश्चिम-ओर था। मैदान गोल मंडलाकार था। उसका विस्तार पाँच योजन से कम न था। उसका आधा भाग कौरवों के अधिकार में और आधा पांडवों के अधिकार में था। हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट, योद्धाओं के सिंहनाद, धनुष की प्रत्यंचाओं की टंकार, हथियारों की झंकार और भेरी, नगारे, शंख आदि की गंभीर ध्वनि से कुरुक्षेत्र गूँज उठा।

युद्ध आरंभ होने से पहले निम्नलिखित युद्ध के नियम कौरवों और पांडवों में परस्पर तय हुए—

(१) युद्ध आरंभ किया हुआ जिस समय बंद हो जाया करेगा, उस समय हम परस्पर पूर्ववत् मित्रता का व्यवहार करेंगे।

(२) परस्पर समान और समान योग्यता रखनेवाले पुरुष ही एक दूसरे से न्यायानुसार युद्ध करेंगे। कोई किसी से अन्याय-पूर्वक युद्ध नहीं करेगा।

(३) कोई किसी को युद्ध में धोखा नहीं देगा।

(४) वाणी का युद्ध करनेवालों से केवल वाणी का ही युद्ध किया जायगा।

(५) जो लोग सेना के व्यूह से भागकर या और किसी कारण से बाहर निकल जायंगे, उन पर कोई प्रहार न करेगा।

(६) रथी रथी के साथ; हाथी का सवार हाथी के सवार के साथ; घोड़े का सवार घुड़सवार के साथ और पैदल सिपाही

पैदल सिपाही के साथ; योग्यता, इच्छा, उत्साह और बल के अनुसार युद्ध करेगा।

(७) पहले सावधान करके फिर प्रहार किया जायगा।

(८) विश्वास से असावधान, विह्वल और डरे हुए पर प्रहार नहीं किया जायगा।

(९) जो पुरुष किसी दूसरे के साथ युद्ध कर रहा होगा, जो असावधान और समर से विमुख होगा, उस पर कोई वार नहीं करेगा।

(१०) जिसका कवच कट गया हो, जिसका शस्त्र टूट गया हो, या शस्त्र न रहने के कारण जो निहत्था हो, ऐसे लोगों पर कोई भी कभी प्रहार नहीं करेगा।

(११) सारथी पर, जिन पर बोझ लादा जाय ऐसे हाथी-घोड़े बैल आदि पर, सोते हुए पर, शस्त्र बनाने की जीविकावाले या शस्त्र पहुँचानेवाले पर और शंख तथा नगाड़े आदि बजानेवाले लोगों पर कभी कोई प्रहार नहीं करेगा।

इस प्रकार युद्ध-नियम परस्पर तय हो जाने के बाद सब योद्धा लोग अपने-अपने स्थान पर युद्ध के लिए स्थित हो गये।

जब श्रीवेदव्यासजी ने देखा कि दोनों पक्षों की सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी है, तब युद्ध आरंभ होने से पहले वेदव्यासजी राजा धृतराष्ट्र के पास जाकर बोले--"हे राजन्! तुम्हारे पुत्रों और अन्य राजाओं के मरने का समय आ गया है। इस युद्ध में वे परस्पर भिड़कर मारे जायँगे। समय के इस विपरीत भाव को समझकर शोक न करना। यदि युद्धक्षेत्र में तुम्हें अपने पुत्रों के मरने-मारने को देखने की इच्छा हो, तो मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि दे दूँ।" इस पर धृतराष्ट्रजी ने कहा--"हे ब्रह्मर्षि! सारा जन्म अंधे रहकर अब अपने सामने मैं अपने कुल का वध अर्थात्

वंशनाश अपनी आँखों से देखना नहीं चाहता, पर कृपया ऐसा प्रबंध अवश्य कर दीजिए कि आवश्यकता पड़ने पर मैं समय-समय पर युद्ध का ठीक-ठीक हाल विस्तारपूर्वक सुन सकूँ।" तब एक ही स्थान पर बैठे-बैठे, सब बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के लिए राजा धृतराष्ट्र ही के सारथी संजय नामक सूत को दिव्यदृष्टि देकर वेदव्यासजी यों बोले--

एष ते सञ्जयो राजन् युद्धमेतद्वदिष्यति ।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि ॥
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति सञ्जयः ।
नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः ॥

हे राजन्! तुम्हारा यह सारथी संजय तुम्हें युद्ध के विषय सब वृत्तांत कह देगा। चाहे गुप्त, चाहे प्रकट, चाहे दिन में या रात्रि में जो कुछ भी होगा, उसे सब संजय जान लेगा। बल्कि जो कुछ भी किसी के चित्त में (विचाररूप से) ही होगा, उसे भी संजय भली प्रकार से जान लेगा। इसे शस्त्रादि घायल न कर सकेंगे और किसी प्रकार की थकावट इसके ज्ञान में बाधा न डाल सकेगी।

संबंध--इस प्रकार संजय को युद्ध-वृत्तांत के सुनाने का काम सौंपकर वेदव्यासजी चले गये। जब आगे चलकर युद्ध में भीष्मपितामहजी आहत वा परास्त हुए और संजय उक्त वर वा दिव्यदृष्टि के अनुसार राजा धृतराष्ट्र के पास इसकी सूचना देने गया, तब आरंभ से युद्ध के सारे वृत्तांत को जानने की इच्छा से राजा धृतराष्ट्र संजय से यों बोले (जिस पर गीता का पहला श्लोक आरंभ होता है)--

ॐ

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय १ से ६ पर्यन्त

श्रीकृष्णं वन्दे जगद्गुरुम

❁ ॐ ❁

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धर्म^{1}-क्षेत्रे^{2}, कुरु^{3}-क्षेत्रे^{4}	धर्म^{1}-भूमि^{2} कुरु^{3}-क्षेत्र^{4} में	मामकाः^{1}, पाण्डवाः^{4}, च^{2}, एव^{3}	मेरे^{1} और^{2} ऐसे ही^{3} पांडु^{4} के पुत्रों ने
समवेताः^{2}, युयुत्सवः^{1}	युद्ध^{1} की इच्छावाले (युद्ध की इच्छा से) एकत्रित^{2}	किं^{2}, अकुर्वत^{3}, संजय^{1}	हे संजय^{1} ! क्या^{2} किया^{3}

अन्वयार्थ—धृतराष्ट्रजी बोले—हे संजय! धर्म-भूमि कुरु-क्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया ॥ १ ॥

व्याख्या—क्योंकि व्यासदेवजी के वर से संजय से अत्यंत दूर स्थित हुए भी युद्ध के सारे व्यापार को निरंतर देखने की

शक्ति प्राप्त थी, इसलिए अपने चतुर सारथी संजय से (जब उसने भीष्मपितामहजी के आहत वा परास्त होने की सूचना दी) धृतराष्ट्रजी ने ऐसे पूछा कि हे राग-द्वेषादि को जय किये हुए और भगवत्-कृपा से दिव्य-दृष्टि-युक्त संजय ! धर्म-भूमि कुरु-क्षेत्र* में,

---

* कुरु-क्षेत्र हस्तिनापुर के चारों ओर का मैदान है। वर्तमान दिल्ली नगर इसी मैदान पर बसा हुआ है। कौरव-पांडवों का पूर्वज, कुरु-नामक राजा, इस मैदान को हल से बड़े कष्ट के साथ जोता करता था, इसलिए इसका नाम कुरु-क्षेत्र वा कुरुओं का खेत पड़ गया। जब इंद्र ने कुरु को यह वर दिया कि इस क्षेत्र में जो लोग तप करते-करते, अथवा युद्ध में लड़ते-लड़ते, प्राण त्याग करेंगे, उनको विशेष सद्गति अथवा स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया (देखो महाभारत, शल्य० ५३)। इंद्र के इस वरदान के कारण यह क्षेत्र धर्म-क्षेत्र या पुण्य-क्षेत्र कहलाने लगा।

इसके अतिरिक्त जाबाल उपनिषद् में भी आया है—"यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्, इति"—यह कुरु-क्षेत्र, जो देवताओं का भी देव-यजनरूप अर्थात् देवपूजन का स्थान है, सब प्राणियों का ब्रह्मसदन अर्थात् ब्रह्मरूप मोक्ष की प्राप्ति का स्थान है।

ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार आया है—"कुरुक्षेत्रं देवयजनम्" अर्थात् कुरु-क्षेत्र परमात्मदेव के पूजने का स्थान है।

श्रीवैशंपायन का वचन है—

"इह तपस्यन्ति ये केंचित् तपः परमकं नराः।
देहत्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः क्षयम्॥
पांशवोऽपि कुरुक्षेत्राद्वायुना समुदीरिताः।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम्॥"

अर्थ—जितने प्राणी यहाँ परम तप का साधन करेंगे, वे देहत्याग पर अक्षय ब्रह्मपद को प्राप्त होंगे। इस कुरु-क्षेत्र की धूलि के कण वायु से उड़कर

यदि दुष्कर्म करनेवालों के भी शरीरों पर जा पड़ेंगे, तो वे उन्हें भी परमगति की ओर ले जायँगे।

मनुस्मृति में इसके विषय में यों लिखा है कि—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एषु ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥ (मनु, अ० २)

अर्थ—कुरु-क्षेत्र, मत्स्यादि (विराट) देश, पांचालदेश (कान्यकुब्ज-देश) और शूरसेन अर्थात् मथुरा के देश, ये सब ब्रह्मावर्त के अनंतर ब्रह्मर्षि-देश हैं ॥ १९ ॥ इन कुरु-क्षेत्र आदि देशों में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से पृथिवी में सब मनुष्य अपने-अपने आचरणों को सीखें (क्योंकि आचार की भित्ति डालनेवाले यहाँ के ही ब्राह्मण थे) ॥ २० ॥

इस मैदान के विषय में यह कथा भी प्रचलित है कि यहाँ पर परशुराम ने इक्कीस बार सारी पृथिवी को निःक्षत्रिय करके पितृ-तर्पण किया था। और आधुनिक काल में भी इसी मैदान में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं।

इन सब कारणों से यह कुरु-क्षेत्र धर्म-क्षेत्र करके यहाँ वर्णन हुआ है, और इसलिए भी यह क्षेत्र धर्म-क्षेत्र कहा जा सकता है कि धर्म-युद्ध के लिए यह नियत किया गया था।

* राजा कुरु इन सब (धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा पांडु के पुत्रों) का पूर्वज (बड़ा) हुआ है, उसी के नाम से यह धर्म-स्थल कुरु-क्षेत्र कहलाता था, और उसी के नाम से ये सब योद्धा कौरव कहलाये। पांडव भी उसी की संतान में से थे, अतएव बहुत स्थानों पर भगवान् ने अर्जुन को भी "कुरु-श्रेष्ठ" (कौरवों में श्रेष्ठ) कहा है। किंतु पांडु के पुत्र होने से ये पाँचों भाई पांडव प्रसिद्ध हो गये, इसलिए ये पाँचों प्रायः पांडव नाम से पुकारे जाते थे, और कौरव नाम से केवल दुर्योधनादि बुलाये जाते थे।

युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए थे, उन्होंने अब तक क्या-क्या किया, इसे आप विस्तारपूर्वक मुझे आरंभ से सुनाइए ॥ १ ॥*

संबंध—सारथी संजय अब उत्तर देता है—

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

दृष्ट्वा^{5}, तु^{1}, पाण्डव^{2}-अनीकं^{4}, व्यूढं^{3},† दुर्योधनः^{7}, तदा^{6}	और^{1} पांडवों^{2} की व्यूह^{3}-रचना से खड़ी की गई सेना^{4} को देखकर^{5} तब^{6} दुर्योधन^{7}	आचार्यं^{1}, उप^{2}-सङ्गम्य^{3}	आचार्य^{1} के पास^{2} जाकर^{3}
		राजा^{1}, वचनं^{2}, अब्रवीत्^{3}	राजा^{1} यह वचन^{2} बोला^{3}

---

* धृतराष्ट्र का संजय से पूछना इस हेतु से भी ठीक हो सकता है कि कुरु-क्षेत्र जो धर्म-स्थल है वहाँ पहुँचकर अधर्मी पुरुष का चित्त धार्मिक हो जाया करता है। बल्कि वहाँ की धूलि-कण का भी प्रभाव प्रसिद्ध है कि उसके छूने से पापकर्मी भी परम गति की ओर चल पड़ते हैं। पांडव तो धार्मिक प्रसिद्ध थे ही। अधर्म तो दुर्योधन कर रहा था। और संभव है कि इस धर्म-स्थल के प्रभाव से अधर्म बुद्धि दुर्योधन का नष्ट हो जाय, और यह भयंकर युद्ध बंद हो जाय, शायद इस प्रकार विचार करते हुए राजा धृतराष्ट्र ने संजय से प्रश्न किया कि युद्धाभिलाषी मेरे और पांडु के पुत्रों ने उस धर्मस्थलरूप कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर अब तक क्या-क्या किया।

† व्यूढं=अक्षरार्थ व्यूह की गई, तात्पर्य व्यूह के आकार में खड़ी की गई। युद्ध करते समय या युद्ध को जाते समय सेना का जो निवेश (तरतीब, सफ़बंदी वा मोर्चाबंदी) होता है, उसे व्यूह कहते हैं। मनु० ७।१८७, १८८ में कुछ व्यूह (battle-arrays) वर्णन किये गये

अन्वयार्थ—संजय बोला—राजा दुर्योधन पांडवों की व्यूह-रचना से खड़ी की गई सेना को देखकर (अपने) आचार्य* के पास जाकर यह वचन बोला ॥ २ ॥

व्याख्या—संजय बोला कि हे धृतराष्ट्रजी ! जब आपके पुत्र राजा दुर्योधन के चित्त पर उस धर्मभूमि का कुछ भी उत्तम प्रभाव न पड़ा, तो पांडवों की सेना को व्यूह के आकार अर्थात् विचित्र रचना से खड़ी हुई देखकर वह अपने गुरु द्रोणाचार्यजी के पास जाकर यों कहने लगा । †

हैं, जैसे दंडव्यूह अर्थात् दंडाकार व्यूह, ऐसे ही छकड़ाकार, सुअराकार, मगराकार, सूई के आकार, गरुड़ाकार और पद्माकार, इत्यादि । यहाँ पांडवों ने जो व्यूह रचा था वह वज्रव्यूह था, जिसका वर्णन मनु० ७ । १९१ में है ।

* आचार्य किसी विद्या के सिखानेवाले को कहते हैं, यहाँ द्रोणाचार्यजी से अभिप्राय है; क्योंकि इन्होंने कौरवों और पांडवों को शस्त्र-विद्या सिखाई थी ।

† अपने इस उत्तर से संजय ने यह भी स्पष्ट किया कि—

(१) हे राजन् ! तुम्हारे दुर्योधनादि पुत्रों की बुद्धि अनेक घोर पापों से इतनी नष्ट हो चुकी थी कि इस धर्मक्षेत्र के प्रभाव से भी उनमें संग्राम से अरुचि पैदा न हुई, बल्कि उलटा दुर्योधन अपने गुरु द्रोणाचार्यजी के पास जाकर उन्हें घोर संग्राम के लिए उत्तेजित करने लगा—इस भाव को दर्शाने के लिए यहाँ 'तु' अर्थात् किंतु शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(२) दुर्योधन स्वयं राजा था, इसलिए आचार्य को अपने ही पास बुला सकता था; परंतु ऐसा न करके स्वयं उनके पास चले जाने में संजय ने यह सूचित किया कि घोर पापी चित्त होने के कारण तथा भीमार्जुन का प्रताप विदित होने के कारण दुर्योधन के चित्त में विशेष भय था जिससे वह स्वयं आचार्य के पास जाये विना न रह सका ।

संबंध—जो वचन राजा दुर्योधन ने अपने गुरु के पास जाकर कहे, उसे अब संजय सुनाता है—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

पश्य[७], एतां[३], पाण्डु[१]-पुत्राणां[२], आचार्य[६], महतीं[४], चमूम्[५]	पांडु[१] के पुत्रों[२] की इस[३] बड़ी[४] सेना[५] को, हे आचार्य[६] ! तू देख[७] अर्थात् आप देखिए	व्यूढां[६], द्रुपद[४]- पुत्रेण[५], तव[१], शिष्येण[३], धीमता[२]	तेरे[१] (आपके) बुद्धिमान्[२] शिष्य[३] द्रुपद[४] के पुत्र[५] से व्यूह[६]-रूप से खड़ी की गई है, उसको

अन्वयार्थ——हे आचार्य ! पांडु के पुत्रों की इस बड़ी सेना को आप देखिए, जो आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र द्वारा व्यूह-रूप से खड़ी की गई है ॥ ३ ॥

व्याख्या—द्रोणाचार्यजी के पास जाकर राजा दुर्योधन ऐसे बोला कि हे गुरो ! शस्त्र-विद्या में बड़ा बुद्धिमान् जो आपका शिष्य द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न)* है, उससे पांडवों की यह बड़ी भारी

---

(३) भय होने पर भी उस भय को छिपाना राजनीति-कुशलता है, इस कारण केवल राजा और आचार्य शब्दद्वय का प्रयोग किया गया है; क्योंकि शिष्य को राजा होने पर भी अपने आचार्य के पास स्वयं जाने में कोई दोष नहीं होता ।

(४) इस प्रकार पापबुद्धि, भयभीत-चित्त और राजनीति-कुशलता से युक्त हुआ दुर्योधन अपने शिक्षा-गुरु द्रोणाचार्यजी के पास जाकर उन्हें संग्राम में उत्तेजित करने निमित्त यों कहने लगा ।

* पांचालदेश का राजा द्रुपद पांडवों का श्वशुर (सुसरा) था और द्रोणाचार्यजी का गुरुभाई था । महारानी द्रौपदी इसी राजा की पुत्री

सेना व्यूह के आकार में खड़ी की गई है। आप अपने शिष्य से रची हुई सेना को देखिए* ॥ ३ ॥

संबंध—पांडवों की इस सेना में द्रुपद-पुत्र से अतिरिक्त और जो शूरवीर हैं, उन्हें दुर्योधन अब अपने गुरु से कहता है—

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

थी। और धृष्टद्युम्न इस राजा का पुत्र था, जिसने अन्य राजकुमारों के साथ श्री द्रोणाचार्य ही से धनुर्विद्या सीखी थी। पर इस पुत्र (धृष्टद्युम्न) की उत्पत्ति पुत्रेष्टि यज्ञ के बाद हुई थी। जिस यज्ञ को राजा द्रुपद ने द्रोणाचार्य से अति अपमानित होने के कारण उसे अपने पुत्र से ही हनन कराने की भावना से उपयाज नामक ऋषि की सहायता से किया था, और फिर इसने ही युद्ध में द्रोणाचार्यजी को मारा था। तत्पश्चात् इसको द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने सौप्तिक में (रात्रि में सोये हुए अथवा रात के छापे से) मारा था।

* "आपके शिष्य से यह सेना रची गई है"—इस वचन से दुर्योधन का अभिप्राय द्रोणाचार्यजी के क्रोध को भड़काने का है कि आपका ही शिष्य होकर आपका ऐसा तिरस्कार कर रहा है कि आपके सामने आपके विरुद्ध युद्ध करने को खड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'धृष्टद्युम्न' न कहकर 'द्रुपद-पुत्र' कहने का अभिप्राय भी उसका वैसा ही था; क्योंकि द्रोणाचार्य राजा द्रुपद के चिरकाल से शत्रु विशेष थे, जिससे द्रुपद का नाम सुनते ही आचार्य का आगबबूला हो जाना सहज था।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अत्र^{१}, शूराः^{२}, महा^{३}-इष्वासाः^{४}	इस^{१} (सेना) में शूर^{२}-वीर बड़े^{३}-बड़े धनुर्धारी^{४}
भीम^{२}-अर्जुन^{३}-समाः^{४}, युधि^{१}	युद्ध^{१} में भीम^{२} अर्जुन^{३} के समान^{४}
युयुधानः^{१}, विराटः^{३}, च^{२}	युयुधान^{१} और^{२} विराट^{३}
द्रुपदः^{४}, च^{१}, महा^{२}-रथः^{३}	और^{१} बड़े^{२} रथवाला^{३} द्रुपद^{४}
धृष्टकेतुः^{१}, चेकितानः^{२}, काशिराजः^{५}, च^{३}, वीर्यवान्^{४}	धृष्टकेतु^{१}, चेकितान^{२} और^{३} पराक्रमी^{४} (बलवाला) काशी^{५} का राजा
पुरुजित्^{१}, कुन्तिभोजः^{३}, च^{२}	पुरुजित्^{१} और^{२} कुंतिभोज^{३}
शैब्यः^{४}, च^{१}, नर^{२}-पुंगवः^{३}	और^{१} मनुष्यों^{२} में श्रेष्ठ^{३} शैब्य^{४}
युधामन्युः^{३}, च^{१}, विक्रान्त^{२}	और^{१} पराक्रमी^{२} युधामन्यु^{३}
उत्तमौजाः^{३}, च^{१}, वीर्यवान्^{२}	और^{१} बलवान्^{२} उत्तमौजा^{३}
सौभद्रः^{१}, द्रौपदेयाः^{३}, च^{२},	सुभद्रा^{१} का पुत्र और^{२} द्रौपदी^{३} के पुत्र
सर्वे^{१} एव^{२}, महा^{३}-रथाः^{४}	सब^{१} ही^{२} बड़े^{३} रथवाले^{४}

पहला अन्वयार्थ——इस सेना में बड़े-बड़े धनुषधारी शूरवीर युद्ध में भीम-अर्जुन के समान (ये) हैं——युयुधान, विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बड़ा पराक्रमी काशी का राजा, पुरुजित्, कुंतिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी वा शूरों में सिंह युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के सारे पुत्र (जो) सब ही महारथ हैं ॥ ४, ५, ६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ——इस सेना में बड़े-बड़े धनुषधारी, शूरवीर युयुधान, विराट और महारथ द्रुपद हैं, जो युद्ध में भीम-अर्जुन के समान हैं । धृष्टकेतु, चेकितान, बड़ा पराक्रमी काशी का राजा, पुरुजित्, कुंतिभोज,

मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के पुत्र, ये सब ही महारथ हैं ॥ ४, ५, ६ ॥*

व्याख्या--हे गुरो ! इस पांडवों की भारी सेना में द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) से अतिरिक्त और जो बड़े-बड़े धनुषधारी सूरमा रण में भीम-अर्जुन के समान युद्ध करनेवाले हैं† अब उनके नाम सुनिए-- ‡(१) युयुधान अर्थात् सात्यकि, (२) विराट अर्थात् मत्स्यदेश का

---

* यद्यपि सब टीकाकारों ने पहले अर्थ ही किये हैं, परंतु जब श्लोक ४ को ५, ६ से पृथक् किया जाय तो विना शब्दों के तोड़मोड़ अथवा घटाने-बढ़ाने के दूसरे अर्थ ठीक बैठते हैं। इसलिए दूसरे भी दे दिये गये हैं।

† 'भीमार्जुनसमा युधि'—इस वचन से दुर्योधन ने युयुधानादिक सब योद्धाओं को भीम-अर्जुन की उपमा दी है। या केवल युयुधान, विराट और द्रुपद को भीम-अर्जुन की उपमा दी है, और अन्य चौदह शूरवीरों को महारथ संज्ञा से वर्णन किया है। और इनसे अतिरिक्त दूसरों को एकरथी, अर्धरथी करके जतलाया है।

‡ (१) युयुधान (अत्यंत युद्ध करनेवाला) सात्यकि भी कहलाता था, यह वृष्णिवंशी 'सत्यक' का पुत्र था और राजा शिनि का नवासा (daughter's son) था, जो उन्हीं के घर रहता था, यदुवंशी था, अर्जुन का चेला था, बड़ा भारी योद्धा था, अकेला व्यूहों के भीतर घुसकर युद्ध करनेवाला था जिसके कारण इसका यह दूसरा नाम 'युयुधान' प्रसिद्ध हुआ था और कई बार श्रीकृष्ण का सारथी रह चुका था। (२) शत्रुओं को जो भ्रमण करावे उसका नाम विराट है, और विराट देश का नाम भी है जिसे मत्स्य भी कहते हैं, इस देश का राजा भी विराट कहलाता था। वनवास के तेरहवें वर्ष में पाँचों पांडव और द्रौपदी अज्ञात अवस्था में यहीं रहे थे। पीछे विराट की पुत्री उत्तरा के साथ अर्जुन और सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का विवाह हुआ था। राजा परीक्षित् उत्तरा के पुत्र थे। (३) द्रु=वृक्ष+ पद=चिह्न ; अर्थात् जिसकी ध्वजा में वृक्ष का

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अत्र^{1}, शूराः^{2}, महा^{3}-इष्वासाः^{4}	इस^{1} (सेना) में शूर^{2}-वीर बड़े^{3}-बड़े धनुष^{4}धारी
भीम^{2}-अर्जुन^{3}-समाः^{4}, युधि^{1}	युद्ध^{1} में भीम^{2} अर्जुन^{3} के समान^{4}
युयुधानः^{1}, विराटः^{3}, च^{2}	युयुधान^{1} और^{2} विराट^{3}
द्रुपदः^{4}, च^{1}, महा^{2}-रथः^{3}	और^{1} बड़े^{2} रथ^{3}वाला द्रुपद^{4}
धृष्टकेतुः^{1}, चेकितानः^{2}, काशिराजः^{5}, च^{3}, वीर्यवान्^{4}	धृष्टकेतु^{1}, चेकितान^{2} और^{3} पराक्रमी^{4} (बलवाला) काशी^{5} का राजा
पुरुजित्^{1}, कुन्तिभोजः^{3}, च^{2}	पुरुजित्^{1} और^{2} कुंतिभोज^{3}
शैब्यः^{4}, च^{1}, नर^{2}-पुंगवः^{3}	और^{1} मनुष्यों^{2} में श्रेष्ठ^{3} शैब्य^{4}
युधामन्युः^{3}, च^{1}, विक्रान्त^{2}	और^{1} पराक्रमी^{2} युधामन्यु^{3}
उत्तमौजाः^{3}, च^{1}, वीर्यवान्^{2}	और^{1} बलवान्^{2} उत्तमौजा^{3}
सौभद्रः^{1}, द्रौपदेयाः^{3}, च^{2},	सुभद्रा^{1} का पुत्र और^{2} द्रौपदी^{3} के पुत्र
सर्वे^{1} एव^{2}, महा^{3}-रथाः^{4}	सब^{1} ही^{2} बड़े^{3} रथ^{4}वाले

पहला अन्वयार्थ—इस सेना में बड़े-बड़े धनुषधारी शूरवीर युद्ध में भीम-अर्जुन के समान (ये) हैं—युयुधान, विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बड़ा पराक्रमी काशी का राजा, पुरुजित्, कुंतिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी वा शूरों में सिंह युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के सारे पुत्र (जो) सब ही महारथ हैं ॥ ४, ५, ६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—इस सेना में बड़े-बड़े धनुषधारी, शूरवीर युयुधान, विराट और महारथ द्रुपद हैं, जो युद्ध में भीम-अर्जुन के समान हैं। धृष्टकेतु, चेकितान, बड़ा पराक्रमी काशी का राजा, पुरुजित्, कुंतिभोज,

मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के पुत्र, ये सब ही महारथ हैं ॥ ४, ५, ६ ॥*

व्याख्या--हे गुरो ! इस पांडवों की भारी सेना में द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) से अतिरिक्त और जो बड़े-बड़े धनुषधारी सूरमा रण में भीम-अर्जुन के समान युद्ध करनेवाले हैं† अब उनके नाम सुनिए--‡(१) युयुधान अर्थात् सात्यकि, (२) विराट अर्थात् मत्स्यदेश का

---

* यद्यपि सब टीकाकारों ने पहले अर्थ ही किये हैं, परंतु जब श्लोक ४ को ५, ६ से पृथक् किया जाय तो विना शब्दों के तोड़मोड़ अथवा घटाने-बढ़ाने के दूसरे अर्थ ठीक बैठते हैं। इसलिए दूसरे भी दे दिये गये हैं।

† 'भीमार्जुनसमा युधि'—इस वचन से दुर्योधन ने युयुधानादिक सब योद्धाओं को भीम-अर्जुन की उपमा दी है। या केवल युयुधान, विराट और द्रुपद को भीम-अर्जुन की उपमा दी है, और अन्य चौदह शूरवीरों को महारथ संज्ञा से वर्णन किया है। और इनसे अतिरिक्त दूसरों को एकरथी, अर्धरथी करके जतलाया है।

‡ (१) युयुधान (अत्यंत युद्ध करनेवाला) सात्यकि भी कहलाता था, यह वृष्णिवंशी 'सत्यक' का पुत्र था और राजा शिनि का नवासा (daughter's son) था, जो उन्हीं के घर रहता था, यदुवंशी था, अर्जुन का चेला था, बड़ा भारी योद्धा था, अकेला व्यूहों के भीतर घुसकर युद्ध करनेवाला था जिसके कारण इसका यह दूसरा नाम 'युयुधान' प्रसिद्ध हुआ था और कई बार श्रीकृष्ण का सारथी रह चुका था। (२) शत्रुओं को जो भ्रमण करावे उसका नाम विराट है, और विराट देश का नाम भी है जिसे मत्स्य भी कहते हैं, इस देश का राजा भी विराट कहलाता था। वनवास के तेरहवें वर्ष में पाँचों पांडव और द्रौपदी अज्ञात अवस्था में यहीं रहे थे। पीछे विराट की पुत्री उत्तरा के साथ अर्जुन और सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का विवाह हुआ था। राजा परीक्षित् उत्तरा के पुत्र थे। (३) द्रु=वृक्ष+ पद=चिह्न ; अर्थात् जिसकी ध्वजा में वृक्ष का

राजा जिसकी पुत्री उत्तरा का अभिमन्यु के साथ विवाह हुआ था, (३) महारथ द्रुपद जो पांचालदेश का राजा है, (४) धृष्टकेतु, (५) चिकितान राजा का पुत्र चेकितान, (६) बलवान् काशी

चिह्न है, उसे द्रुपद कहते हैं। यह पांचालदेश का राजा, द्रौपदी का पिता और पांडवों का श्वशुर था। इसने द्रोणाचार्यजी की दरिद्रता के समय उनका भारी अपमान किया था जिसके कारण द्रोणाचार्य ने समय पाकर अपने शिष्यों से इसका आधा राज्य छिनवा लिया था, जिससे इन दोनों में परस्पर वैमनस्य दिन-प्रतिदिन बढ़ गया था। (४) धृष्ट=शत्रुओं को भय देनेवाला + केतु=ध्वजा ; अर्थात् जिसकी ध्वजा भय का कारण हो, उसे धृष्टकेतु कहते हैं। यह धृष्टकेतु चेदी (चंदेरी) का राजा था। इसके पिता शिशुपाल को भगवान् कृष्णचंद्र ने राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मारा था, और तत्पश्चात् पांडवों ने धृष्टकेतु को चंदेरी की राजगद्दी दी थी। (५) चेकितान, अर्थात् चिकितान राजा का पुत्र, उस वृष्णिकुल में से था, जो यादववंश की शाखा थी। (६) काशी का राजा जिसके कुल से धृतराष्ट्र और राजा पांडु की माताएँ थीं। (७) पुरु=बहुत + जित्=जीतनेवाला; अर्थात् बहुत शूरवीरों को जीतनेवाले का नाम पुरुजित् है यह पांडवों की माता कुंती की दाया का पति था। (८) राजा कुंतिभोज, कुंती के मुँहबोले पिता थे। कुंती वास्तव में श्रीकृष्णचंद्र के पिता वसुदेव, की बहन (भगिनी) थीं। वसुदेव के पिता (शूरसेन) ने अपने परम मित्र राजा कुंतिभोज को अपनी पुत्री दे दी थी, क्योंकि उसके कोई पुत्री या पुत्र न था। कुंतिभोज ने कुंती को अपनी पुत्री करके पाला, जो पीछे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन की माता हुई। (१०) युधा=युद्ध + मन्यु=क्रोध ; अर्थात् युद्ध में जिसका क्रोध अति वेगवाला हो, उसे युधामन्यु कहते हैं। यह पांचालदेश का राजा महापराक्रमी प्रसिद्ध था। (११) उत्तम=बड़ा + ओजस्=बल, तेज ; अर्थात् अति बलवान् वा तेजस्वी को उत्तमौजा कहते हैं। यह युधामन्यु का सगा भाई था। और यह दोनों भाई अर्जुन के चक्र-रक्षक थे।

का राजा, (७) पुरुजित्, (८) कुंतिभोज (कुंती के मुँहबोले पिता), (९) मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य (शिवि राजा का पुत्र), (१०) तेजस्वी युधामन्यु, (११) बलवान् उत्तमौजा, जो दोनों पांचालदेश के राजा हैं, (१२) अर्जुन-सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु, और (१३-१७) द्रौपदी के पाँचों पुत्र (अर्थात् युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतिकीर्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन), जो सब के सब ही महारथ * हैं ॥ ४, ५, ६ ॥ †

---

* महारथ का शब्दार्थ बड़े रथवाला है, पर पारिभाषिक अर्थ उस योद्धा से लेते हैं जो युद्धविद्या में पूरी शिक्षा पाया हुआ हो, और जो दश-सहस्र (१०,०००) धनुषधारियों को अकेला युद्ध करा सके, अर्थात् जो दस हज़ार सेना का नेता (leader) हो। और जो अकेला ही असंख्यात शस्त्रधारियों का नेता हो और अस्त्र-शस्त्रविद्या में अत्यंत निपुण हो, उसे अतिरथ कहते हैं। और जो एक से एक लड़े, अर्थात् जो पुरुष एक शूरवीर के साथ ही युद्ध कर सके, उसे एकरथी कहते हैं। और इससे कम को अर्धरथी कहते हैं। इन चारों के लक्षण शास्त्रों में ऐसे ही आये हैं—"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥ अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः। रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः॥" दोनों ओर की सेनाओं में जो-जो रथी, महारथी, अथवा अतिरथी थे, उन सबका वर्णन उद्योगपर्व (१६४ से १७१ तक) के आठ अध्यायों में किया गया है।

† अपने गुरु के आगे दुर्योधन ने जो भीम-अर्जुन के समान अन्य राजाओं के नाम बताये हैं, उससे उसने यह दिखलाया कि उस (पांडवों के) पक्ष में केवल आपके शिष्य भीम-अर्जुन शूरवीर पांडव ही नहीं हैं, बल्कि उन जैसे और भी बहुत से शूरवीर उधर हैं जिनका जीतना और मारना अति कठिन है । इसलिए उनके मारने का अधिक उपाय करना उचित और

संबंध—इस प्रकार पांडव-सेना के प्रसिद्ध योद्धाओं को सुनाने के बाद दुर्योधन अब अपनी सेना के शूरवीरों के नाम अपने गुरु के प्रति सुनाता है—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अस्माकं, तु, विशिष्टा, ये	अब हमारी (सेना के) जो विशिष्ट (श्रेष्ठ) हैं	नायकाः, मम, सैन्यस्य	मेरी सेना के नायक(सेनापति)
तान्, निबोध, द्विज-उत्तम	हे द्विजों में उत्तम! उनको जानिए	संज्ञार्थं, तान्, ब्रवीमि, ते	नाममात्र (जानने के लिए) उनको तेरे प्रति (आपसे) मैं कहता हूँ

अन्वयार्थ—हे द्विजों में उत्तम ! अब हमारी सेना के जो

आवश्यक है। इस कहने से दुर्योधन अपने गुरु के रजोगुण को बढ़ाया चाहता है। (परंतु यह अभी तक नहीं समझता कि धर्म की नित्य जय होती है, अधर्म की नहीं। "यतो धर्मस्ततो जयः।")

* यहाँ इस रणभूमि में दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को वीरोत्तम न कहकर द्विजोत्तम क्यों कहा ? यज्ञादि अथवा धर्मोपदेशादि के समय तो "द्विजोत्तम" कहकर संबोधन करना उचित भी होता है, पर ऐसे घोर संग्राम के समय "द्विजोत्तम" संबोधन से इस कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन के दो अभिप्राय स्पष्ट होते हैं—एक तो आचार्य को ऐसे स्तुति-वाक्यों से प्रसन्न करके उन्हें युद्ध में उत्साहपूर्वक प्रेरित वा उत्तेजित करना, और दूसरा अपना यह भीतरी भाव जतलाना कि यद्यपि आप धनुर्विद्या-विशारद हैं, पर जाति के तो ब्राह्मण हैं, जो प्रायः डरपोक होते हैं। यदि आप भी पांडवों की सेना से डरकर या अर्जुन को अपना परम शिष्य समझकर दिल छोड़ बैठे, अथवा उनकी ओर होने लगे, तो आपकी खैर न होगी।

विशिष्ट (योद्धा) हैं, उनको आप जानिए। अपनी सेना के नायकों को मैं आपसे नाममात्र* कहता हूँ ॥ ७ ॥

व्याख्या--हे द्विजों में उत्तम अर्थात् ब्राह्मणों में श्रेष्ठ गुरो ! अब मेरी सेना, जो वास्तव में आप ही की है, उसमें जो बढ़कर चुने हुए योद्धा हैं, अर्थात् अस्त्र-शस्त्र-विद्या तथा बल इत्यादि में जो प्रवीण और श्रेष्ठ शूरवीर हैं, उनको आप जानिए। अपनी सेना के सेनापतियों (leaders) के नाम मैं नाममात्र अर्थात् संक्षेप से या दृष्टांतरूप से कहता हूँ, अथवा इसलिए कहता हूँ कि आप उन्हें भली भाँति स्मरण करके स्वयं जान लें कि हमारी सेना इस युद्ध के योग्य है या नहीं ॥ ७ ॥

संबंध—संक्षेप से सेनापतियों (लीडरों) के नाम ये हैं—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

---

* मैं अपनी सेना के योद्धाओं को सहित उपमा और विशेषणों के नहीं, बल्कि नाममात्र कहता हूँ; क्योंकि आप स्वयं सेना के मुख्य नायक होने से उन सबके गुण, बल और पराक्रम से भली भाँति परिचित हैं, केवल नाम बतला देने से आपको उनकी स्मृति दिलाता हूँ, जिससे आपको पता लग जाय कि हमारा बल कैसा है।

भवान्^{1}, भीष्मः^{2}, च^{3}, कर्णः^{4}, च^{3}	आप^{1}, भीष्म^{2} और^{3} कर्ण^{4}	अन्ये^{2}, च^{1}, बहवः^{3}, शूराः^{4}	और^{1} दूसरे^{2} बहुत^{3} से शूरवीर^{4} हैं
कृपः^{4}, च^{1}, समिति-^{2} जयः^{3}	और^{1} समिति^{2} (युद्ध या संग्राम) को जीत^{3}नेवाला कृपाचार्य^{4}	मद्^{1}-अर्थे^{2}, त्यक्त-^{4} जीविताः^{3}	मेरे^{1} लिए^{2} जान^{3} (प्राण, जीवन) को त्यागे^{4} हुए हैं
अश्वत्थामा^{1}, विकर्णः^{3}, च^{2}	अश्वत्थामा^{1} और^{2} विकर्ण^{3}	नाना^{1}-शस्त्र^{2}-प्रहरणाः^{3}	नाना^{1} प्रकार के शस्त्र^{2} चलाने^{3}वाले
सौमदत्तिः^{1}, तथा^{2}, एव^{3}, च^{4}	सौमदत्ति^{1}, वैसे^{2} ही^{3} और^{4}	सर्वे^{1}, युद्ध^{2}-विशारदाः^{3}	सब^{1} के सब युद्ध^{2} में प्रवीण^{3} (चतुर) हैं

अन्वयार्थ—आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, संग्राम को जीतनेवाला कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और वैसे ही सौमदत्ति हैं। (इनसे अतिरिक्त) और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जो मेरे लिए जीवन को अर्पण किये हुए हैं, नाना प्रकार के शस्त्रों को चलानेवाले हैं और जो सभी युद्ध में प्रवीण हैं ॥ ८, ९ ॥

व्याख्या—हे गुरो! पहले तो हमारी सेना में (१) आप स्वयं हैं, वैसे ही (२) भीष्मपितामह * हैं, (३) कर्ण हैं, (४)

---

* (२) राजा शांतनु के बड़े पुत्र भीष्मजी थे। इनकी माता का नाम गंगा था, जो शांतनु के घर में इस प्रतिज्ञा पर आई थी कि उसकी अपनी इच्छा में कदापि विघ्न नहीं डाला जायगा, और जब भी उसकी इच्छा की पूर्ति में शांतनु से विघ्न पड़ेगा, तो वह तत्काल उसको छोड़ कर घर से बाहर चली जायगी। यद्यपि गंगा के उदर से भीष्म से पहले सात पुत्र उत्पन्न हुए थे, परंतु वे सबके सब गंगा ने उत्पन्न होते ही जल में प्रवाह दिये थे। जब उसी प्रकार वह भीष्म को भी जल-प्रवाह करने

संग्राम को जीतनेवाले कृपाचार्यजी हैं, (५) आपके योग्य पुत्र अश्वत्थामा हैं, (६) मेरा छोटा भाई विकर्ण और (७) सोमदत्त

लगी, तो शांतनु ने मोहवश होकर उसे रोक दिया, जिससे वह तत्काल ही उसके घर से बाहर निकल गई, और भीष्म को पालकर उसके बड़ा होने पर, उसे वापस शांतनु को दे दिया, जिससे केवल उसके पुत्रों में यही जीता रहा। इस प्रकार भीष्मजी शांतनु के बड़े पुत्र कहलाये। इन्होंने अपने पिता की खातिर रानी सत्यवती योजनगंधा से यह प्रण किया था—"यदि वह मेरे पिता शांतनु से विवाह कर ले, तो मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहूँगा और राज्य न करूँगा।" इसलिए सत्यवती के सुपुत्र विचित्रवीर्य को राज्य मिला। दूसरा पुत्र सत्यवती का चित्रांगद था। इसकी दोनों स्त्रियों से दो पुत्र पांडु और धृतराष्ट्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार भीष्मजी पांडवों और कौरवों दोनों के पितामह (दादा) हुए। (३) कर्ण सूर्यदेवता से कुंती के उदर से उत्पन्न हुआ था। कुंती उस समय कुँवारी कन्या थी। यद्यपि मंत्र द्वारा सूर्य के आवाहन से गर्भवती होकर कर्ण को जन्म दे बैठी थी, तथापि इस कन्या अवस्था में पुत्र पाने से बहुत डरी। इसलिए सूर्यदेवता के कहने पर उसने कर्ण को श्रीगंगा में डाल दिया था। धृतराष्ट्र के सारथि अधिरथ सूत ने उसे बहता देखकर उठा लिया, और अधिरथ की स्त्री राधा ने उसे पाला। कर्ण बड़ा भारी योद्धा था। दुर्योधन का मित्र था। दुर्योधन ने उसको अंगदेश का राज्य दे दिया था। महाभारत के युद्ध में अर्जुन से अतिरिक्त और कोई दूसरा उसके समान लड़नेवाला न था। युद्ध में अर्जुन के हाथ से मारा गया। (४) कृप, यह भी पांडवों और कौरवों को शस्त्रविद्या सिखाने के आचार्य थे. गौतमवंश में शरद्वत ऋषि के पुत्र थे, और द्रोणाचार्य के साले थे। इनकी बहन (भगिनी) कृपी द्रोणाचार्य को विवाही थी, जिसके उदर से अश्वत्थामा उत्पन्न हुए। इस प्रकार (५) अश्वत्थामा कृपाचार्य के भानजे (भगनीय) थे, बड़े शूरवीर थे। महाभारत-युद्ध में इन्होंने शस्त्र-विद्या के बड़े-बड़े करतब दिखाये। (८) जयद्रथ दुर्योधन की इकलौती बहन दुःशला का पति था।

का पुत्र भूरिश्रवा तथा (८) सिंधुदेश के राजा जयद्रथ भी हैं। इनसे * अतिरिक्त और भी बहुत-से शल्य, कृतवर्मा, भगदत्त इत्यादिक शूरवीर हैं, जिन्होंने अपने प्राण अर्थात् जीवन मेरे निमित्त अर्पण कर रक्खे हैं, अर्थात जो मेरे लिए मरने-मारने को तैयार हैं, जो नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र † चलानेवाले हैं, और जो सबके सब युद्धविद्या में अति चतुर वा प्रवीण हैं ॥ ८, ९ ॥

संबंध—अब दोनों सेनाओं की परस्पर तुलना करता हुआ दुर्योधन अपना भाव प्रकट करता है—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

---

* दुर्योधन ने पांडव-सेना के तो द्रुपद-पुत्र से लेकर द्रौपदी के पाँचों पुत्रों तक १८ महारथियों के नाम सहित उनके विशेषणों के कहे थे, पर अपनी सेना के केवल ८ महारथियों के नाम और वे भी संज्ञार्थ कहे, इसलिए मन ही मन में उसे यह स्वयं संदेह होने लगा कि अपनी सेना के केवल थोड़े शूरवीरों के नाम जान लेने से द्रोणाचार्यजी के उत्साह में कहीं कमी न आ जाय, इसलिए उस कमी को दूर करने के विचार से दुर्योधन स्वयं बिना नामों के अनेक संख्या अपने महारथों की कहने लग पड़ा, जिससे उत्साह यदि पहले कथन से किंचित् भंग भी हो गया हो तो पुनः भड़क जाय ।

† अस्त्र-शस्त्र में इतना भेद है कि शस्त्र तो हाथ में पकड़े रखकर चलाया जाता है, जैसे तलवार आदिक, और अस्त्र दूर से फेंका जाता है, जैसे तीर वा गोली आदिक ।

अ-पर्याप्तं^{4}, तत्^{2}, अस्माकं^{1}, बलं^{3}	हमारा^{1} वह^{2} बल^{3} (सेना) अपरिमित^{4} (अथवा तुच्छ^{4}) है	पर्याप्तं^{5}, तु^{1}, इदं^{3}, एतेषां^{2}, बलं^{4}	किंतु^{1} इनका^{2} यह^{3} बल^{4} (सेना) परिच्छिन्न^{5} (या पूर्ण^{5}) है
भीष्म^{1}-अभिरक्षितं^{2}	भीष्म^{1} से रक्षा^{2} किया गया है	भीम^{1}-अभिरक्षितम्^{2}	भीम^{1} से रक्षित^{2} है

पहला * अन्वयार्थ--हमारी वह सेना भीष्म से रक्षा की हुई अपरिमित है, किंतु इनकी यह सेना भीम से रक्षा की हुई परिमित है ॥ १० ॥

दूसरा अन्वयार्थ---हमारा वह बल भीष्म से रक्षा किया हुआ तुच्छ है, किंतु इनका यह बल भीम से रक्षा किया हुआ पूर्ण है ॥ १० ॥

---

* पूर्वापर के संबंध से तथा युक्ति वा शब्दार्थ की रीति से इस श्लोक के दोनों अर्थ ठीक बैठते हैं इसलिए दोनों ही यहाँ दिये गये हैं। इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्योधन को इधर भीष्मपितामह की ओर से कुछ शंका है और उधर अपने गुरु को युद्ध के लिए उत्तेजित किया चाहता है, जिससे वह दोहरे अर्थ की बात कहता है। ताकि इधर भीष्मजी कहीं उसके किसी वचन से नाराज़ (क्रुद्ध) न हो जायँ, और उधर गुरुजी भीष्मपितामहजी के ठंडे चित्त को ग्रहण करने न पायें; बल्कि घोर उत्तेजना के साथ युद्ध में प्रवृत्त हो जायँ। पहला अर्थ तो इसलिए ठीक है कि---

(१) दुर्योधन की सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी और पांडवों की केवल सात अक्षौहिणी।

(२) दुर्योधन घमंडी वा गर्वित था जिससे अपनी सराहना (प्रशंसा) किया करता था, अन्य की नहीं।

(३) और सेनापति भीष्मपितामहजी भी सर्व प्रकार से चतुर और सूक्ष्म बुद्धि प्रसिद्ध थे।

व्याख्या—हे गुरो! हमारी सेना अति चतुर और प्रसिद्ध सूक्ष्म बुद्धिवाले भीष्मपितामहजी से रक्षा की गई है, अर्थात् हमारी सेना के सेनापति क्योंकि प्रसिद्ध भीष्मपितामहजी हैं,

---

दूसरा अर्थ इसलिए ठीक है कि—

(१) यद्यपि पांडवों की सेना सात अक्षौहिणी और कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी थी, तथापि पांडवों की सेना को उत्तम रीति से व्यूह आकार और युद्ध-विद्या में निपुण देखकर दुर्योधन ने स्वयं घबराकर श्लोक ३ में उसे "महतीं चमूम्" अर्थात् बड़ी भारी सेना कहा।

(२) यद्यपि भीष्मपितामहजी निष्कपट और सूक्ष्म बुद्धि थे, तथापि वह वयोवृद्ध और शरीर से शिथिल थे, जिससे दुर्योधन के चित्त में उनके बल के विषय शंका का उठना संभव था।

(३) भीष्मपितामहजी न्यायवादी वा सत्यवक्ता होने के कारण पांडवों के पक्ष में जब कभी कुछ स्पष्ट कह भी देते थे, तो दुर्योधन के चित्त में उनके विषय कुछ शंका उठ पड़ती थी, और उन्हें पांडवों का पक्षपाती वह एक-दो बार स्पष्ट कह भी चुका था। साथ इसके भीष्मपितामहजी ने मुख्य सेनापति होते समय यह प्रतिज्ञा भी दुर्योधन के आगे कर रक्खी थी कि पांडवों को अपने हाथ से मैं कदापि न मारूँगा, यद्यपि उनकी सेना का प्रहार मैं ख़ूब करता रहूँगा। इस प्रतिज्ञा के कारण भी दुर्योधन के चित्त का व्याकुल होना संभव था।

(४) भीष्मजी चित्त से भी पांडवों के शुभचिंतक थे, क्योंकि युद्धारंभ होने से पहले युधिष्ठिरजी जब कौरवों की सेना में अपने गुरुओं वा भीष्मपितामह आदि वृद्धों से युद्ध की आज्ञा माँगने गये, तब उन के मुख से आज्ञा के साथ-साथ उनके लिए यह आशीर्वाद-रूप वर भी निकला था कि "तुम्हारी जय हो और तुम बढ़ो-फलो।" इस कारण भी दुर्योधन का चित्त भीष्मपितामहजी के विषय में बहुत संशययुक्त व व्याकुल सा रहता था।

(५) इसीलिए घबराकर दुर्योधन ने आगे चलकर श्लोक ११ में अपने

इसलिए वह समर्थवान् परिपूर्ण और अनंत है। और इन पांडवों

गुरु और योद्धाओं से भीष्मपितामह की रक्षा करने अर्थात् उनकी निगहबानी करने की ताकीद की है।

(६) दुर्योधन को घबराया हुआ देखकर भीष्मपितामहजी ने बारहवें श्लोक में युद्ध की खातिर नहीं, बल्कि केवल राजा को ख़ुश करने वा उसे तसल्ली (धैर्य) देने के लिए सिंह के समान गरज कर शंख बजाया।

(७) पांडवों की सहायता को सोलह कलायुक्त भगवान् कृष्णचंद्र थे, जो सर्व प्रकार से निपुण थे, और जिनसे भीष्मपितामहजी भी डरते थे, इस बात को भी देखकर दुर्योधन का चित्त घबराता था।

(८) पाप करनेवाले पुरुष को संकट के समय अपना पूर्वकृत पाप याद आ-आकर उसके चित्त को व्याकुल और दुःखी कर देता है, इसलिए संभव है कि बहुत अधर्म कार्य, जो दुर्योधन ने कर रक्खे थे, अब इस संकट के समय पुनः पुनः याद आते हों और उसे घबराते और दुःखी करते हों।

(९) पांडवों की सेना का सेनापति द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) होते हुए भी भीम से रक्षित उसे कहा है जिससे दुर्योधन यह जतला रहा है कि पांडवों के पक्ष में ऐसे सेनापति हैं जो उनके अपने भाई के समान पूर्ण विश्वासपात्र हैं और मेरे भी पक्के शत्रु हैं। परंतु हमारी ओर के सेनापति न पूर्ण विश्वासपात्र हैं और न पांडवों के पक्के शत्रु हैं, बल्कि जो कर्ण की इस प्रतिज्ञा के कारण सेनापति चुने गये हैं कि—"जब तक भीष्मजी मर न लेंगे तब तक मैं हथियार नहीं पकड़ूँगा।" यदि ऐसी प्रतिज्ञा कर्ण ने न की होती, तो कर्ण ही अवश्य सेनापति नियत किया जाना था; क्योंकि उस पर दुर्योधन का पूर्ण विश्वास था और वह पांडवों का, विशेष करके अर्जुन का, पक्का शत्रु भी था। इस अनहोनी बात के होने से भी उसका चित्त कभी-कभी घबरा उठता था। जिससे उसे अपना बल तुच्छ वा असमर्थ और पांडवों का बल पूर्ण वा समर्थवान् दीखता था।

की सेना का सेनापति अत्यंत चपल बुद्धि भीमसेन है, जिससे वह (सेना) तुच्छ, असमर्थ और न्यून है। अथवा हे गुरो ! हमारा बल भीष्मपितामह से रक्षा किया गया है, इसलिए पूर्ण वा समर्थ नहीं है; क्योंकि भीष्मपितामहजी दो पक्षी हैं और कई बार स्पष्ट पांडवों के पक्ष में वहुत बातें कह भी चुके हैं, जिससे मेरे चित्त में उनसे कुछ खटका या भय लगा रहता है। और पांडवों का बल द्रुपद-पुत्र से ही नहीं, वल्कि मानों उनके भाई भीमसेन से रक्षा किया गया है, जिससे अति प्रबल और समर्थवान् है: क्योंकि वह (द्रुपद-पुत्र) एक पक्षी है, और पांडवों को अपने भाई भीमसेन के समान उस पर पूरा-पूरा विश्वास है, उससे किंचिन्मात्र भी उन्हें खटका या भय नहीं है ॥ १० ॥

संबंध—उक्त हेतु प्रकट करके अब दुर्योधन आचार्य से ऐसे प्रार्थनापूर्वक ताकीद करता है—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अयनेषु, च, सर्वेषु	और सब भागों (तरफों) में	भीष्मं, एव,	सर्व के सब ही
यथा-भागं,	जैसे जैसे भाग (ठिकाने, स्थान)	अभिरक्षन्तु,	निश्चय करके
अवस्थिताः	पर स्थित (जमे) हुए हैं	भवन्तः,	आप भीष्म की
		सर्व, एव, हि	ही रक्षा करें

अन्वयार्थ—(इसलिए) आप सर्व ओर में जैसे-जैसे ठिकाने पर स्थित हैं, (वैसे जमे हुए) सब के सब ही निश्चय करके भीष्मपितामह की रक्षा करें ॥ ११ ॥

पहली व्याख्या—हे गुरो ! क्योंकि हमारी सेना ग्यारह अक्षौहिणी होने से तथा सूक्ष्म बुद्धि भीष्मपितामह से सुरक्षित होने के कारण प्रबल, अपरिमित और सर्व प्रकार से पूर्ण है, इसलिए सब ओर (मोर्चों) में जैसे-जैसे भागों में आप (द्रोणाचार्यादिक) स्थित किये गये हैं, वैसे ही अपने-अपने स्थानों पर जमे हुए आप सब के सब अवश्यमेव भीष्मपितामह की ही रक्षा (पूर्ण सहायता) करें, जिससे हमारे जीतने में कुछ संशय ही न रहे *।

दूसरी व्याख्या—हे गुरो ! सेनापति भीष्मपितामहजी जो न तो पांडवों के पक्के शत्रु हैं और न उनके विरुद्ध ही हैं, बल्कि जो वास्तव में तो उनके पक्ष में हैं; किंतु कर्ण की प्रतिज्ञा के कारण सेनापति नियत किये गये हैं और हमारा नमक खाने के कारण हमारे पक्ष में लड़ने को तैयार हुए हैं, जिससे मुझे उनके विषय में खटका लगा रहता है, और इसी कारण से हमारा बल, जो उनसे रक्षा किया जा रहा है, तुच्छ वा असमर्थ है, इसलिए आप सब (द्रोणाचार्यादिक) को चाहिए कि जिन-जिन मोर्चों † पर

---

* उक्त ताकीद का दूसरा कारण यह भी है कि भीष्मपितामहजी का यह निश्चय था कि हम शिखंडी पर शस्त्र न चलावेंगे, इसलिए शिखंडी की ओर से भीष्म को आघात पहुँचने की संभावना थी, अतएव सबको सावधानी रखनी चाहिए।

† मोर्चे=वह मार्ग जो व्यूह में प्रवेश करने के लिए रक्खे जाते हैं। संग्राम के आरंभ के समय पूर्व-पश्चिमादि दिशाओं के विभाग से सेनापतियों के लिए भिन्न-भिन्न स्थान नियत कर दिये जाते हैं। और प्रधान सेनापति (कमांडरिन चीफ़) सब सेनाओं का अधिष्ठाता होकर बीच में रहता है। यहाँ कर्ण, द्रोण, कृपादि सेनापतियों के प्रति दुर्योधन ऐसे कहता है कि आपके लिए जो-जो विभाग नियत किया गया है, उस

विभक्त हुए आप स्थित हैं, वहीं-वहीं जम कर भीष्मपितामहजी की रक्षा (निगरानी वा निगाहबानी) करें कि जिससे कहीं हमें धोखा न मिलने पाये, और चित्त से पांडवों के पक्ष में उनका हित रखना भी हमारी जीत में हानि न पहुँचाने पाये। अथवा ऐसा न हो कि अति दयावान् होने के कारण भीष्मजी पांडवों पर दया कर उनकी ओर चले जायँ, और रण छोड़ चुप बैठ रहें। यह बात उत्तेजना के लिए कही गई है ॥ ११ ॥

संबंध—इस प्रकार के दोहरे अर्थ के वचन राजा को अपने गुरु से बोलते सुनकर भीष्मपितामहजी ने जो किया, उसे संजय अब कहता है—

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२ ॥

तस्य, सञ्जनयन्, हर्षं	उसके हर्ष को उत्पन्न करताहुआ	सिंह-नादं, विनद्य, उच्चैः	सिंह की गर्जसमान ऊँचा गरज कर
कुरु-वृद्धः, पितामहः	कुरुओं का बूढ़ा पितामह (दादा)	शङ्खं, दध्मौ, प्रतापवान्	प्रतापी ने शंख को बजाया

अन्वयार्थ—उस (राजा) के हर्ष को उत्पन्न करने के लिए कुरुओं के वृद्ध प्रतापी * पितामह (भीष्म) ने सिंह की गर्ज के समान ऊँचा गरज कर शंख बजाया ॥ १२ ॥

उसको आप ठीक सँभाले रखिए जिससे शत्रु किसी मार्ग से भी घुस कर हमारे प्रधान सेनापति (भीष्म) को घबराहट में न डाल सके।

* प्रतापवान्, यह शंख का भी विशेषण हो सकता है। तब अर्थ यह होगा कि कुरुवृद्ध भीष्मपितामह ने अपने प्रतापवान् शंख को बजाया। (आनंदगिरि भाषाटीका)

व्याख्या—हे धृतराष्ट्रजी ! इस प्रकार राजा दुर्योधन को जब अपने गुरु से दोहरे अर्थवाले शब्दों से बात करते सुना, तब भीष्म जी को अनुमान हुआ कि "राजा या तो पांडवों की सेना देखकर घबरा गया है, या मेरी ओर से उसे कुछ खटका लग रहा है जिससे मेरी रक्षा के लिए औरों को वह कह रहा है, और या उसे कुछ हर्ष प्राप्त हो रहा है जिससे वह अपनी सेना का अति प्रशंसा कर रहा है।" इसलिए उस प्रतापी कुरुवृद्ध भीष्मपितामह ने राजा दुर्योधन के उत्साह और हर्ष को बढ़ाने के लिए, अथवा अपनी ओर से शंका दूर करने के निमित्त, शेर की गर्ज के समान ऊँचा नाद करके अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥

संबंध--तत्पश्चात् जो हुआ, उसे अब संजय कहता है—

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

ततः[१], शङ्खाः[२], च[६], भेर्यः[३], च[६], पणव[४], आनक[५], गोमुखाः[७]	फिर[१] बहुत शंख[२], भेरी[३] (नगारे), ढोल[४], मृदंग[५] और[६] नरसिंहे[७]
सहसा[१], एव[२], अभ्यहन्यन्त[३]	एकबारगी[१] (एक साथ) ही[२] बजने लगे[३]
सः[१], शब्दः[२], तुमुलः[३], अभवत्[४]	वह[१] शब्द[२] ऊँचा[३] (महान्) हो गया[४]

अन्वयार्थ – फिर एकबारगी ही शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और नरसिंहे (रणसिंहे) बजने लगे, और वह शब्द महान (बहुत ऊँचा) हो गया ॥ १३ ॥

व्याख्या--हे धृतराष्ट्रजी ! इस प्रकार जब भीष्मपितामहजी ने अपना शंख बजाया, तब एक साथ ही सब ओर से अनेक प्रकार के शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंहे (नरसिंहे) आदि

बजने लग पड़े । और उन सबकी ध्वनि (आवाज़) से एक घमसान का शोर मच गया, अर्थात् वह शब्द महान् (बहुत ऊँचा) हो गया ॥ १३ ॥

संबंध—दुर्योधन की सेना की प्रवृत्ति कथन करके अब पांडवों की सेना की प्रवृत्ति को संजय कहता है—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

ततः^{1}, श्वेतैः^{2}, हयैः^{3}, युक्ते^{4}, महति^{5}, स्यन्दने^{6} स्थितौ^{7}	फिर^{1} श्वेत^{2} घोड़ों^{3} से युक्त^{4}, बड़े^{5} रथ^{6} में बैठे हुए^{7}	माधवः^{1}, * पाण्डवः^{3}, च^{2}, एव^{4}	कृष्णचंद्र^{1} और^{2} अर्जुन^{3} भी^{4}
		दिव्यौ^{1}, शङ्खौ^{2}, प्रदध्मतुः^{3}	अलौकिक^{1} शंख^{2} दोनों ने बजाये^{3}

अन्वयार्थ——फिर श्वेत घोड़ों से युक्त बड़े रथ में बैठे हुए श्रीकृष्णचंद्र और अर्जुन दोनों ने (अपना अपना) दिव्य शंख बजाया ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे धृतराष्ट्रजी ! जब इस प्रकार दुर्योधन की सेना में घमसान का शोर मच गया, तब मधुकुल के श्रीकृष्णचंद्रजी और पांडु के पुत्र अर्जुन जो श्वेत घोड़ों से युक्त बड़े भारी रथ पर बैठे हुए थे, इन दोनों ने भी अपनी (पांडवों की) सेना में अपना-अपना दिव्य (अलौकिक) शंख उच्च ध्वनि से बजाया ॥ १४ ॥

संबंध—जिन-जिन शंखों को भगवान् कृष्णचंद्र तथा अन्य योद्धा लोगों ने बजाया, अब उन-उनके नाम संजय राजा धृतराष्ट्र को विस्तारपूर्वक चार श्लोकों में सुनाता है—

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

---

* माधव शब्द का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

पाञ्चजन्यं^{1}, हृषीके^{2}-ईशः^{3}	पांचजन्य^{1} शंख को इंद्रियों^{2} के मालिक^{3} (श्रीकृष्णचंद्र)	पौण्ड्रं^{1}, दध्मौ^{7}, महा^{2}-शङ्खं^{3}, भीम^{4} कर्मा^{5}, वृक^{6}-उदरः	पौंड्र^{1}, महा^{2} शंख^{3} को भयंकर^{4} कर्मों^{5}- वाले भघियाड़^{6} के पेटवाले (भीमसेन) ने बजाया
देवदत्तं^{1}, धनं^{2}-जयः^{3}	देवदत्त^{1} शंख को धन^{2} का जीत^{3}नेवाला (अर्जुन)		

अन्वयार्थ---पांचजन्य (शंख) को श्रीकृष्णजी ने, देवदत्त (शंख) को अर्जुन ने और पौंड्र महाशंख को भयंकर कर्मोंवाले भीमसेन ने बजाया ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे धृतराष्ट्रजी! पञ्चजन से उत्पन्न हुआ जो पांचजन्य * शंख है, उसे इंद्रियों के मालिक † श्रीकृष्णचंद्रजी ने बजाया। देवताओं से दिया हुआ जो देवदत्त नामवाला शंख है, उसे धन को जीतनेवाले अर्जुन ने बजाया। और भयंकर कर्मों के करनेवाले तथा भघियाड़ ‡ के पेटवाले भीमसेन ने पौंड्र नामवाले महाशंख को बजाया ॥ १५ ॥

---

* एक समय श्रीकृष्ण ने समुद्र में पंचजन नाम के दैत्य को, जो तिमि (बृहत्मत्स्य) रूप से समुद्र में रहता था, मारा था। तब उसके पेट से यह शंख निकला था, इसलिए भी इसका पांचजन्य नाम पड़ा। कहीं यह लिखा है कि उस दैत्य की हड्डियों से यह शंख बना हुआ था।

† सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

‡ वृक-उदर=भघियाड़ (भेड़िया) के पेटवाला, ऐसा जो भीमसेन का विशेषण दिया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि भघियाड़ के समान उसमें बहुत अन्न पचाने का सामर्थ्य है।

और—

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अनन्तं^{1}- विजयं^{2}, राजा^{5} कुन्ती^{3}-पुत्रः^{4}, युधिष्ठिरः^{6}	अनंत^{1} विजय^{2} (शंख) को कुंती^{3} का पुत्र^{4} राजा^{5} युधिष्ठिर^{6}	नकुलः^{1}, सहदेवः^{3}, च^{2}, सुघोष^{4}- मणिपुष्पकौ^{5}	नकुल^{1} और^{2} सहदेव^{3} सुघोष^{4} और मणिपुष्पक^{5} को

अन्वयार्थ—अनंतविजय (शंख) को कुंती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने और नकुल तथा सहदेव ने (क्रम से) सुघोष और मणिपुष्पक (शंख) को बजाया ॥ १६ ॥

व्याख्या--हे धृतराष्ट्रजी ! नाश-रहित विजय जिससे प्राप्त हो ऐसे अनंतविजय * नामवाले शंख को कुंती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने बजाया । और नकुल तथा सहदेव, जो अर्जुन के शेष भ्राता थे, उन्होंने सुघोष और मणिपुष्पक शंख बजाये ॥ १६ † ॥

---

* अनंतविजय नाम इस शंख का इसलिए पड़ा था कि जब युधिष्ठिर खांडवप्रस्थ के राजा थे, तो उन्होंने इसी शंख को बजाकर बहुतेरे राजाओं को जीत लिया था ।

† इन दो श्लोकों में पांचजन्य, देवदत्त, पौंड्र, अनंतविजय, सुघोष, मणिपुष्पक, ये जो छे नाम के शंख संजय ने वर्णन किये हैं, इससे वह धृतराष्ट्र को यह जतलाता प्रतीत हो रहा है कि पांडवों की सेना में तो अपने-अपने नाम से प्रसिद्ध अनेक शंख हैं और दुर्योधन की सेना में अपने नाम से प्रसिद्ध एक भी शंख नहीं है, इसलिए पांडवों की सेना आपके दुर्योधनादि पुत्रों की सेना से अत्यंत प्रबल है ।

और—

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

काश्यः, च, परम-इष्वासः	और उत्तम (महान्) धनुषवाला काशी का राजा	द्रुपदः, द्रौपदेयाः, च	द्रुपद और द्रौपदी के पुत्र
शिखण्डी, च, महारथः	और महारथ शिखण्डी।	सर्वशः, पृथिवी-पते	सब के सब, हे पृथिवी के मालिक (धृतराष्ट्र)
धृष्टद्युम्नः, विराटः, च	धृष्टद्युम्न और विराट	सौभद्रः, च, महा-बाहुः	और बड़ी भुजाओंवाला सुभद्रा का पुत्र
सात्यकिः, च, अ-पराजितः	और न जीता जानेवाला सात्यकि	शंखान्, दध्मुः, पृथक्-पृथक्	(इन सबने) अलग-अलग शंखों को बजाया

अन्वयार्थ—हे पृथिवी के स्वामी (धृतराष्ट्र)! उत्तम धनुषधारी काशी का राजा, महारथ शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट, (किसी से) न जीता जानेवाला सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और बड़ी भुजाओं वाला सुभद्रा का पुत्र इन सभी ने (अपने) अलग-अलग शंख बजाये ॥ १७, १८ ॥

व्याख्या—हे पृथिवी के मालिक राजा धृतराष्ट्रजी! जब पांडु के पाँचों पुत्रों ने उक्त प्रकार अपने-अपने शंख बजाये, तब अति

श्रेष्ठ (या महान्) धनुषवाला काशी का राजा, महारथ शिखंडी * (जो खोजा अर्थात् डाढ़ी-मूछ से रहित होने के कारण शिखंडी कहलाता है), धृष्टद्युम्न (धृष्ट = पीड़ा या दुःख देनेवाला, द्युम्न = बल, अर्थात् शत्रुओं को दुःख देनेवाला जिसका बल है), विराट (जो शत्रुओं को भ्रमण कराने से विराट कहलाता है) और सत्यक राजा का पुत्र सात्यकि, जो भगवान् कृष्ण का सारथी था और कभी किसी से जीता नहीं गया और इसीलिए इसके नाम

---

* शिखंडी उत्पन्न होते समय शिखंडिनी स्त्री था। पीछे चलकर एक यक्ष के वर के प्रभाव से वह स्त्री से पुरुष हुआ। महाभारत में इसकी ऐसी कथा आई है कि भीष्मजी जब काशी राजा की तीनों कन्या—अंबा, अंबिका और अंबालिका—अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के विवाह के लिए अपने भुज-बल से युद्ध करके हर लाये, तब पिछली दो कन्याओं के साथ तो विचित्रवीर्य का विवाह हो गया, पर पहली (अंबा) को उसकी विनय पर विना विवाहे छोड़ दिया गया; क्योंकि वह शाल्वराज के साथ अपना विवाह करना चाहती थी। किंतु जब शाल्वराज ने भी उसे न विवाहा, तब उसने भीष्मजी को अपने साथ विवाह करने की विनय की, जिसको भीष्मजी ने स्वीकार न किया; क्योंकि उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की हुई थी। फिर भीष्मजी के गुरु परशुरामजी ने भी इस अंबा के साथ विवाह करने के लिए भीष्मजी को मजबूर किया, यहाँ तक कि वे युद्ध में भी उतर आये, पर भीष्मजी ने एक न मानी, और अपनी प्रतिज्ञा को किंचित्-मात्र भी तोड़ने न दिया। इस प्रकार अंबा अविवाहित रह गई, जिसका उसे अत्यंत दुःख हुआ। अपने इस भारी दुःख का कारण भीष्मजी को समझकर उनके वध के लिए घोर तप इसने किया। इस तप से प्रसन्न होकर त्रिशूलपाणि शंकर महादेवजी ने उसे वर दिया कि तेरी कामना पूरी हो। ऐसा वर पाकर वह एक चिता में बैठकर जल मरी। दूसरे जन्म में वह राजा द्रुपद की कन्या शिखंडिनी

के साथ अपराजित विशेषण का प्रयोग हुआ। द्रुपद (द्रु=वृत्त+पद=चिह्न, अर्थात् जिसकी ध्वजा में वृत्त का चिह्न है), द्रौपदी के पाँचों पुत्र (प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतसेन)। और बड़ी भुजाओं वाला अभिमन्यु (सुभद्रा का पुत्र), इन सभी ने अपने-अपने शंखों को अलग-अलग एक साथ बजाया ॥ १७, १८ ॥

संबंध--इन पांडवों के शंखों के शब्द को सुनने से दुर्योधनादिकों की जो दशा हुई, उसे संजय अब कहता है—

हुई । इस शिखंडिनी के माता-पिता ने इसे पुत्रवत् पाला और सदा पुत्र-स्वरूप में रक्खा। सभी जानते थे, यह द्रुपद का पुत्र है । यहाँ तक कि इस (शिखंडिनी) का विवाह महाराज हिरण्यवर्मा की कन्या से कर दिया । जब हिरण्यवर्मा को पता लगा कि द्रुपद ने धोखा देकर मेरी कन्या को अपनी कन्या से विवाह दिया है, तब मारे क्रोध के उसने फ़ौज लेकर द्रुपद पर चढ़ाई कर दी और द्रुपद को बाँध ले जाने का प्रबंध किया । तब द्रुपद अपनी धर्मपत्नी समेत बहुत ही दुःखी हुआ ।

इस प्रकार पिता-माता को अति दुःखी जान शिखंडिनी पुरुष-चिह्न पाने के उद्देश्य से वन में तप करने चली गई । वहाँ स्थूण-नामक यक्ष ने अपना पुरुषत्व शिखंडिनी को दे दिया और उसका स्त्रित्व आप स्वीकार कर लिया । इस प्रकार यक्ष के प्रताप (वर) से पुरुष होकर उसने शिखंडी नाम-पाया। द्रुपद ने इसे और अपने दूसरे पुत्र धृष्टद्युम्न को द्रोणाचार्यजी से युद्धविद्या दिलाई । ये दोनों धनुर्विद्या में पूरी शिक्षा पाकर बड़े वीर योद्धा और महारथियों की गणना में प्रसिद्ध हुए । यही दोनों द्रोण और भीष्म के वध के कारण हुए । इनमें से धृष्टद्युम्न के हाथ से तो द्रोणाचार्यजी और शिखंडी के हाथ से भीष्मजी इस युद्ध में मारे गये । इसका पूर्ण वृत्तांत महाभारत के उद्योग पर्व के अध्याय १९० से १९३ तक में दिया हुआ है ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १६ ॥

सः[1], घोषः[2], धार्तराष्ट्राणां[3], हृदयानि[4], वि-अदारयत्	वह[1] शोर[2] (भयंकर शब्द) धृतराष्ट्र[3] के पुत्रों के हृदयों[4] को फाड़ता[5] गया	नभः[1], च[2], पृथिवीं[3], च[2], एव[4]	आकाश[1] और[2] पृथिवी[3] को भी[4]
		तुमुलः[1], वि-अनुनादयन्[2]	बड़ भारी[1] शब्द (घमसान) प्रतिध्वनि से पूर्ण[2] करता हुआ

अन्वयार्थ—वह बड़ा भारी शोर आकाश और पृथिवी को अपनी प्रतिध्वनि से पूर्ण करता हुआ धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को फाड़ता गया ॥ १६ ॥

व्याख्या--हे धृतराष्ट्रजी ! दुर्योधन की सेना के शंखों से जो शब्द उठा था, उससे न तो पृथिवी, न आकाश गूँजे थे और न पांडवों को ही कुछ क्षोभ हुआ था । परंतु यह घमसान का शोर (भयंकर शब्द) जो पांडवों के शंखों की ध्वनि से उठा था, उसने अपनी प्रतिध्वनि (गूँज) से पृथिवी और आकाश को भरपूर कर दिया, अर्थात् उस ध्वनि से पृथिवी और आकाश भी गूँज उठे । और इस गूँज के भारी शब्द ने आपके (धृतराष्ट्र के) सब संबंधियों (दुर्योधनादि पुत्रों तथा भीष्मादि सेनापतियों) के हृदयों को फाड़ डाला, अर्थात् इस गूँज से उनके हृदय हिल कर भयभीत हो गये ॥ १६ ॥

संबंध – उस शब्द से धृतराष्ट्र के पुत्रादिकों की भयभीत अवस्था दर्शा कर इससे विपरीत पांडवों की निर्भयता को संजय अब ऐसे दर्शाता है—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

अथ, व्यवस्थितान्, दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान्, कपि-ध्वजः	अब (इसके अनंतर) धृतराष्ट्रवालों को स्थित (खड़े) देखकर वानर की ध्वजावाला (अर्जुन)	हृषीक-ईशं, तदा, वाक्यं, इदं, आह, मही-पते	तब इंद्रियों के मालिक (श्रीकृष्ण) को, हे पृथिवी के स्वामी (धृतराष्ट्र)! यह वाक्य बोला
प्रवृत्ते, शस्त्र, सम्पाते	शस्त्र-चलना प्रवृत्त होने पर	सेनयोः, उभयोः, मध्ये	दोनों सेनाओं के मध्य में
धनुः, उद्यम्य, पाण्डवः	पांडुपुत्र (अर्जुन) धनुष को उठाकर	रथं, स्थापय, मे, अच्युत	हे न फिसलनेवाले (श्रीकृष्ण)! मेरे रथको खड़ा कीजिए

अन्वयार्थ——हे पृथिवी के स्वामी ! इसके अनंतर वानर की ध्वजावाला अर्जुन धृतराष्ट्रवालों को स्थित (सुसज्जित) देखकर और शस्त्र-चलना प्रवृत्त होने पर धनुष हाथ में लेकर श्रीकृष्ण से यह वाक्य बोला। (अर्जुन बोला) हे अच्युत (कृष्णजी) ! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को आप खड़ा कीजिए ॥ २०, २१ ॥

व्याख्या—हे पृथिवी के स्वामी राजा धृतराष्ट्रजी ! जब इस प्रकार भयंकर गूँज उठी, और इसके अनंतर शस्त्र चलने लगे। तब वानर

की ध्वजावाला अर्जुन (अर्थात् वह पांडु-पुत्र कि जिसकी ध्वजा में महावीर हनुमान् का चित्र था) आप (धृतराष्ट्र) के पक्ष के सब लोगों को युद्ध के क्रम से जमे खड़े देखकर अपने धनुष को हाथ में उठाकर श्रीकृष्णचंद्रजी से यह वाक्य बोला--हे कभी भी विकार को न प्राप्त होनेवाले श्रीकृष्णजी! अथवा अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा वा पदवी से न फिसलनेवाले या डिगनेवाले श्रीकृष्णजी! आप अब कृपापूर्वक मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिए ॥ २०, २१ ॥

संबंध--अब अपनी उक्त विनय का अर्जुन प्रयोजन कहता है--

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

यावत्[१], एतान्[३], निरीक्षे[७], अहं[२], योद्धु[४]-कामान्[५], अवस्थितान्[६]	ताकि (जिससे) मैं[२] इन[३] युद्ध[४] की कामना[५] से खड़े[६] हुओं को देखूँ[७]
कैः[१], मया[३], सह[२], योद्धव्यं[४]	किन[१] के साथ[२] मेरे[३] लिए युद्ध[४] करना उचित है
अस्मिन्[१], रणे[२], समुद्यमे[३]	इस[१] युद्ध[२] रूप व्यापार[३] में (इस युद्ध के उद्योग में)
योत्स्यमानान्[१], अवेक्षे[३], अहं[२]	युद्ध करनेवालों[१] को मैं[२] देखूँ[३]
ये[१], एते[२], अत्र[३], समागताः[४]	जो[१] ये[२] यहाँ[३] आये[४] हुए हैं
धार्तराष्ट्रस्य[१], दुर्बुद्धेः[२]	धृतराष्ट्र[१] के दुर्बुद्धि[२] पुत्र का
युद्धे[१], प्रिय[२]-चिकीर्षवः[३]	युद्ध[१] में भला[२] चाहनेवाले[३]

अन्वयार्थ—ताकि मैं इन युद्ध की कामना से खड़े हुओं को देख लूँ कि इस युद्ध-व्यापार में किनके साथ मेरे लिए युद्ध करना उचित है, और कि मैं उन युद्ध करनेवालों को देख लूँ जो धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र का युद्ध में भला चाहते हुए यहाँ आये हैं॥ २२,२३ ॥

व्याख्या--हे भगवन् ! इसलिए मेरे रथ को आप दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए जिससे मैं भले प्रकार देख सकूँ कि ये जो युद्ध की कामना (लालसा) से युक्त होकर यहाँ जमे खड़े हैं इनमें से किन-किनके साथ मुझे इस युद्ध के उद्योग (संग्राम) में लड़ना उचित है, अर्थात् किन-किनके साथ मुझे या किन-किनको मेरे साथ युद्ध करना होगा । और उन युद्ध करनेवाले राजा आदि शूरों को भी देख लूँ कि जो इस दुर्बुद्धि दुर्योधन का भला चाहनेवाले हैं और जो इस इच्छा से प्रेरित होकर यहाँ इस रणभूमि में लड़ने-मरने को आये हुए हैं ॥ २२, २३ ॥

संबंध—अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने जो किया, उसको संजय अब धृतराष्ट्र से कहता है—

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

एवं, उक्तः, *हृषीक-ईशः, गुडाका-ईशेन, भारत	हे भरत की संतान (धृतराष्ट्र)! इस प्रकार निद्रा के मालिक (अर्जुन) से कहा हुआ इंद्रियों का स्वामी (कृष्ण)	भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः, सर्वेषां, च, महीक्षितां	भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सम्मुख
सेनयोः, उभयोः, मध्ये	दोनों सेनाओं के बीच में	उवाच, पार्थ, पश्य, एतान्, समवेतान्, कुरून्, इति	बोला, हे पृथापुत्र (अर्जुन)! इन एकत्र हुए कौरवों को तू देख। ऐसा
स्थापयित्वा, रथ-उत्तमं	उत्तम रथ को खड़ा करके		

अन्वयार्थ—संजय बोला, हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार अर्जुन से कहे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सम्मुख (अर्जुन को) ऐसे कहा कि 'हे पार्थ ! इन एकत्र हुए कौरवों को तू देख' ॥ २४, २५ ॥

---

* हृषीकेश के जो यहाँ अर्थ दिये हैं, ये यद्यपि नारदपंचरात्र में विशेष पाये जाते हैं, पर हृषीक अर्थात् इंद्रियाँ और गुडाका अर्थात् निद्रा या आलस्य, ये दोनों शब्द प्रचलित नहीं हैं। इसलिए हृषीकेश और गुडाकेश इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति दूसरी रीति से भी लग सकती है। हृषीक + ईश और गुडाका + ईश के बदले हृषी + केश और गुडा + केश ऐसा भी पदच्छेद किया जा सकता है, और फिर यह अर्थ हो सकते हैं कि हृषी अर्थात् हर्ष से खड़े किये हुए केशवाला अथवा प्रशस्त जिसके बाल हैं वह कृष्ण, और गुडा अर्थात् गूढ़ या घने जिसके केश हैं वह अर्जुन। भारत के टीकाकार नीलकंठ ने गुडाकेश का यह अर्थ (गीता १०, २०

व्याख्या--हे भरत * की संतान धृतराष्ट्र ! इस प्रकार निद्रा के मालिक अथवा घने बालोंवाले अर्जुन ने जब अपने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने के लिए भगवान् से प्रार्थना की, तब इंद्रियों के स्वामी भगवान् कृष्णचंद्र ने उस उत्तम रथ † को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करके भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा अन्य सब राजाओं के सामने अर्जुन को ऐसे कहा कि 'हे पृथापुत्र ‡ (अर्जुन) ! इन सब इकट्ठे हुए कौरवों को तू अब देख' ॥ २४, २५ ॥

पर) अपनी टीका में विकल्प से सूचित किया है। और सूत के पिता का जो रोमहर्षण नाम है उससे भी हृषीकेश शब्द की उल्लिखित दूसरी व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जाती है। महाभारत के शांति पर्वांतर्गत नारायणीयोपाख्यान में विष्णु के मुख्य-मुख्य नामों की निरुक्ति देते हुए इसका यह अर्थ किया है कि हृषी अर्थात् आनंददायक और केश अर्थात् किरण, और कहा है कि अपनी सूर्यचंद्ररूप विभूतियों की किरणों से भगवान् समस्त जगत् को हर्षित करता है। इसलिए उसे हृषीकेश कहते हैं। और, इसी प्रकार केशव शब्द भी केश अर्थात् किरण से बना वहाँ कहा गया है (शांति, ३४१, ४७१, और ३४२, ६४, ६५ और उद्योग ६९. ९ में देखो)

* भरत, दुष्यंत और शकुंतला का पुत्र है। इसके ही नाम पर आर्यावर्त्त भारतवर्ष कहलाता है। कौरव और पांडव दोनों इस (भरत) की संतान हैं, इसलिए धृतराष्ट्र को यहाँ 'हे भारत' अर्थात् हे भरत की संतान करके कहा है। और इसीलिए आगे अर्जुन को भी 'भारत', 'भरत-श्रेष्ठ', वा 'भरत-सत्तम' इन नामों से कहा गया है।

† रथ की उत्तमता में ये हेतु हैं—एक तो इस रथ को अग्निदेवता ने दिया है। दूसरे साक्षात् श्रीभगवान् कृष्णचंद्र इस रथ के चलानेवाले हैं। तीसरे सबसे अधिक प्रसिद्ध योद्धा साक्षात् अर्जुन इसमें स्थित है। चौथे श्रीहनुमान् इस रथ की ध्वजा में स्थित हैं।

‡ राजा शूरसेन की कन्या का जन्म-नाम 'पृथा' था। जब राजा ने पृथा को अपने मित्र कुंतिभोज को दे दिया था, तब उसका नाम कुंती पड़ गया।

संबंध—भगवान् की आज्ञा पर अर्जुन ने दोनों सेनाओं के मध्य में जो-जो देखा, उसे अब संजय धृतराष्ट्र से कहता है—

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा २६
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

तत्र[१], अपश्यत्[७], स्थितान्[३], पार्थः[२], पितॄन्[४], अथ[५], पितामहान्[६]	वहाँ[१] अर्जुन[२] ने खड़े[३] हुए पितरों[४] और[५] दादों[६] को देखा[७]
आचार्यान्[१], मातुलान्[२], भ्रातॄन्[३], पुत्रान्[४], पौत्रान्[५], सखीन्[७], तथा[६]	गुरुओं[१], मामों[२], भाइयों[३], पुत्रों[४], पोतों[५] और[६] मित्रों[७] को
श्वशुरान्[१], सुहृदः[३], च[२], एव[४],	सुसुरों[१] और[२] सुहृदों[३] को भी[४]
सेनयोः[२], उभयोः[१], अपि[३]	दोनों[१] सेनाओं[२] में भी[३]
तान्[१], समीक्ष्य[५], सः[६], कौन्तेयः[७], सर्वान्[२], बन्धून्[४], अवस्थितान्[३]	उन[१] सारे[२] स्थित[३] (खड़े हुए) बंधुओं[४] को देखकर[५] वह[६] कुंतीपुत्र[७] (अर्जुन)

इस प्रकार अपनी माता के दो नाम होने से अर्जुन भी कौंतेय और पार्थ, दोनों नामों से विख्यात हुआ ।

कृपया^{2}, परया^{1}, आविष्टः^{3}	परम^{1} कृपा^{2} से भरा^{3} हुआ
विषीदन्^{1}, इदं^{2}, अब्रवीत्^{3}	दुःखी (उदास) होता^{1} हुआ यह^{2} बोला^{3}
दृष्ट्वा^{7}, इमं^{2}, स्व^{5}-जनं^{6}, कृष्ण^{1}, युयुत्सुं^{3}, समुपस्थितं^{4}	हे कृष्ण^{1}! इस^{2} युद्ध^{3} की इच्छा से खड़े^{4} हुए अपने^{5} जन^{6} (बंधुओं^{6}) को देखकर
सीदन्ति^{3}, मम^{1}, गात्राणि^{2}	मेरे^{1} अंग^{2} ढीले^{3} होते जाते हैं
मुखं^{2}, च^{1}, परिशुष्यति^{3}	और^{1} मुख^{2} सूखा^{3} जाता है
वेपथुः^{4}, च^{1}, शरीरे^{3}, मे^{2}	और^{1} मेरे^{2} शरीर^{3} में कंप^{4} हो रहा है
रोम^{2}-हर्षः^{3}, च^{1}, जायते^{4}	और^{1} रोमांच^{2} (रोम^{2} का खड़े^{3} होना) उत्पन्न^{4} हो रहा है

अन्वयार्थ—वहाँ उन दोनों सेनाओं में खड़े हुए पितरों, दादों, गुरुओं, मामों, भाइयों, पुत्रों, पोतों, मित्रों, ससुरों और सुहृदों * को भी अर्जुन ने देखा। उन सब बंधुजनों को खड़ा देखकर वह अर्जुन परम कृपा से भरा हुआ और दुःखी होता हुआ यह बोला कि 'हे कृष्णजी ! इन अपने बंधुओं को युद्ध की इच्छा से (यहाँ) उपस्थित देखकर मेरे अंग ढीले होते जाते हैं, मुख सूखा जाता है, मेरे शरीर में कंप हो रहा है और रोम खड़े हो रहे हैं' ॥ २६, २७, २८, २९ ॥

व्याख्या—भगवान् की आज्ञा पाकर जब अर्जुन ने सेनाओं की ओर दृष्टि की, तो वहाँ दोनों सेनाओं में उसने उन पुरुषों को खड़े

---

* सुहृद् वह प्यारा है जिसने अपने ऊपर कोई भलाई की हो और जो सदा अपने कहे को माने। बंधु उसे कहते हैं जो संबंधी हो और वियोग (जुदाई) को न सह सके। मित्र वह है जो एक समान काम करे, अर्थात् जो मित्र करे वही वह भी करे। सखा वह संगी और मित्र है जो अपने प्राणों के समान अपने मित्र को समझे।

हुए देखा, जिनमें कोई तो पिता वा चाचा के समान थे जैसे भूरिश्रवा आदि; कोई पितामह थे, जैसे भीष्मपितामह, सोमदत्त आदि; कोई आचार्य थे, जैसे द्रोणाचार्य आदि; कोई मामे थे, जैसे शल्य, शकुनि आदि; कोई भाई थे, जैसे दुर्योधन, भीम आदि; कोई पुत्र थे, जैसे लक्ष्मण आदि जो दुर्योधन का पुत्र था, वा अभिमन्यु आदि जो अपना पुत्र था; कोई पोते थे, जैसे लक्ष्मणादि के पुत्र; कोई अपने समान अवस्थावाले सखा अर्थात् संगी थे, जैसे अश्वत्थामा वा जयद्रथ आदि; ऐसे ही कोई सुसुरे थे, जैसे द्रुपद और विराट आदि; और कोई अपने प्यारे वा हितैषी मित्र (सुहृद्) थे, जैसे कृतवर्मा, सात्यकि, भगदत्त आदि। इन सब भाई-बंधुओं को वहाँ (युद्ध) में जमे खड़े देखकर वह कुंती-पुत्र अर्जुन परम कृपा से व्याप्त हुआ (दया से भरा हुआ) दुःखी या उदास हो गया। इस प्रकार दुःखितचित्त से उसने यह वचन भगवान् से कहे कि हे कृष्णजी * ! इन बंधुजनों को, कि जो युद्ध करने की इच्छावाले होकर यहाँ इस युद्ध-भूमि में उपस्थित (एकत्र) हुए हैं, देखकर मेरे हाथ-पाँव आदि अंग ढीले होते जा रहे हैं, मुख सूखता जा रहा है अर्थात् मेरे में कुछ करने की समर्थ नहीं रही, मेरा सारा शरीर काँप रहा है, और शरीर के रोम (रोंगटे) खड़े हो रहे हैं ॥ २६, २७, २८, २९ ॥

और—

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

---

* श्रीकृष्ण का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

गांडीवं^{1}, स्रंसते^{3}, हस्तात्^{2}	गांडीव^{1} धनुष हाथ^{2} से फिसला^{3} जाता है	न^{2}, च^{1}, शक्नोमि^{4}, अवस्थातुं^{3}	और^{1} न^{2} मैं खड़ा^{3} होने के समर्थ^{4} हूँ
त्वक्^{2}, च^{1}, एव^{3}, परिदह्यते^{4}	और^{1} त्वचा^{2} भी^{3} जल^{4} रही है	भ्रमति^{5}, इव^{4}, च^{1}, मे^{2}, मनः^{3}	और^{1} मेरा^{2} मन मानों^{4} भ्रम^{5} रहा है

अन्वयार्थ—(और हे कृष्ण !) गांडीव धनुष मेरे हाथ से फिसला जाता है, त्वचा जल रही है, न मैं खड़ा होने के समर्थ हूँ, और मेरा मन मानों भ्रम रहा है ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे कृष्णजी ! अंग मेरे शरीर के इस प्रकार शिथिल हुए जाते हैं कि अब गांडीव * धनुष हाथ से फिसल रहा अर्थात्

---

* गांडि नाम गाँठ का है, वह धनुष में रहने से गांडीव कहलाया। महाभारत (विराटपर्व अध्याय ४२) में ऐसे लिखा है कि—

एतत् वर्ष सहस्रन्तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत् ॥
त्रीणि पञ्चशतं चैव शक्रोऽशीतिं च पञ्चवै ।
सोमः पञ्चशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ॥
पार्थः पञ्च च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ।
महावीर्यं महद्दिव्यमेतद्धनुरुत्तमम् ॥

अर्थ—इस गांडीव धनुष को पहले ब्रह्मा ने अपने हस्तकमल में एक हज़ार वर्ष, प्रजापति ने डेढ़ हज़ार वर्ष, इंद्र ने पचासी वर्ष, चंद्रमा ने पाँच सौ वर्ष और वरुणदेव ने एक सौ वर्ष धारण किया था ; उसे श्वेतवाहन अर्जुन ने पैंसठ वर्ष तक धारण किया। सो यह धनुष महान् पराक्रमवाला और अत्यंत दिव्य है।

यह धनुष सोम से वरुण को, वरुण से अग्नि को और अग्नि से अर्जुन को मिला था।

गिर रहा है। शरीर ऐसा काँप रहा है कि त्वचा जल रही है। इसलिए मैं अब खड़ा होने की भी शक्ति नहीं रखता, और मन मेरा मानों भ्रम रहा अर्थात् चक्र खा रहा है ॥ ३० * ॥

संबंध—और जो अर्जुन के चित्त पर बीत रही है, उसे अब वह विनय-पूर्वक भगवान् से (अध्याय पर्यंत) कहता है—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

निमित्तानि^{4}, च^{1}, पश्यामि^{5}, विपरीतानि^{3}, केशव^{2}	और^{1} हे केशव^{2}! उलटे^{3} शकुन^{4} मैं देखता^{5} हूँ	न^{2}, च^{1}, श्रेयः^{3}, अनुपश्यामि^{4}	और^{1} न^{2} मैं कल्याण^{3} देखता^{4} हूँ
		हत्वा^{4}, स्व^{2}-जनं^{3}, आहवे^{1}	युद्ध^{1} में अपने^{2} बंधुजन^{3} को मारकर^{4}

अन्वयार्थ—हे केशव † ! मैं उलटे निमित्त ‡ देखता हूँ। और

---

*श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—"आश्चर्य है कि जो हृदय वज्र से भी अधिक कठिन, दुर्धर और अत्यंत भयकारक था, आज उससे भी यह स्नेह बलवान् हो गया। जिसने युद्ध में शंकर का पराजय किया, निवात और कवच का नाम-निशान मिटा दिया था, आज उस अर्जुन को मोह ने क्षण भर में ग्रास लिया। जैसे भ्रमर जिस काष्ठ को चाहे खोखला कर डालता है, पर एक कोमल-सी कली के बीच में फँस जाता है, और उसमें फँसकर चाहे वहाँ वह प्राण छोड़ दे; परंतु उस कमलदल को चीरने की बात उसके चित्त में नहीं आती, वैसे ही कोमलता के कारण स्नेह भी तोड़ना अर्जुन के लिए कठिन हो रहा है।"

† केशव के सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

‡ उलटे निमित्त=बुरे शकुन (यमुनाचार्य)। बाईं आँख का फड़कना

युद्ध में अपने बंधुजनों को मारकर मैं कल्याण नहीं देखता ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे केशी दैत्य के मारनेवाले (अथवा हे लंबे बालोंवाले) कृष्णजी ! इस युद्ध में मैं सब उलटे शकुन देखता हूँ। अर्थात् कोई चिह्न ऐसा दिखाई नहीं देता है जिससे यह निश्चय हो जाय कि हमारी अवश्य जीत होगी; बल्कि सब उलटे चिह्न ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम तो ये बुरे शकुनों का दिखाई देना मुझे व्याकुल कर रहा है, द्वितीय मैं आप भी अपने भाई-बंधु इत्यादि स्वजनों को मारने से कोई कल्याण नहीं देखता हूँ, इसलिए दोनों कारणों से मेरा चित्त घबरा रहा और शरीर काँप रहा है ॥ ३१ ॥

और—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

न[2], कांक्षे[4], विजयं[3], कृष्ण[1]	हे कृष्णजी[1]! न[2] मैं विजय[3] चाहता[4] हूँ	किम्[4], नः[2], राज्येन[3], गोविन्द[1]	हे गोविंद[1] ! हमें[2] राज्य[3] से क्या[4] ?
न[2], च[1], राज्यं[3], सुखानि[5], च[4]	और[1] न[2] राज्य[3] और[4] सुखों[5] को	किम्[4], भोगैः[1], जीवितेन[3], वा[2]	भोगों[1] से या[2] जीने[3] से क्या[4] ?

आदि (आनंदगिरि)। लोकक्षयकारक निमित्त, भूकंप आदि जिनका फल महान् क्षय है (नीलकंठ)। उलटे निशान=हमारे ख़्याल में तो भाइयों में मेल वंश की वृद्धि का चिह्न था, अब यह उलटा वैर वंश की अवनति का चिह्न हुआ। फिर सब वीरों का इस भयंकर युद्ध में हिस्सा लेना देश के विनाश का चिह्न है, इत्यादि उलटे ही निशान दिखाई देते हैं। अथवा वे बुरे शकुन जो महाभारत भीष्म पर्व २, १७ से ४५ तक सविस्तर कहे गये हैं, जैसे बाज़ों और गिद्धों का एकत्र हो-होकर वृक्षों पर उड़ना इत्यादि।

अन्वयार्थ--हे कृष्णजी ! न मैं विजय चाहता हूँ, न राज्य और सुखों को। हे गोविंद ! हमें (इस) राज्य से अथवा भोगों से या जीने से क्या ? ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे कृष्णजी ! अपने बंधुजनों को मारकर जो प्राप्त होनेवाले सुख, राज्य और विजय हैं, इन तीनों को मैं नहीं चाहता। और जब मैं इस प्रकार के राज्य, जीत और राज्य-भोगों को ही नहीं चाहता, तो फिर हे गोविंद * (अंतर्यामी वा वेदवित् कृष्णजी) ! मुझे लड़ने से क्या प्रयोजन ? फिर ये राज्य और भोग मेरे किस काम के ? बल्कि मेरा जीना (जीवन) भी किस काम का ? ॥ ३२ ॥

संबंध—विजय इत्यादि की इच्छा न करने में अर्जुन अब अपना हेतु कथन करता है—

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

येषां[१], अर्थे[२]	जिन[१]के लिए[२] हमें[३] राज्य[४] भोग[५] और[६] सुख[७] इष्ट (प्यारे) हैं	ते[१], इमे[२]	वे[१] ये[२] इस युद्ध[३] में खड़े[४] हैं
कांक्षितं, नः[३],		अवस्थिताः[४], युद्धे[३]	
राज्यं[४], भोगाः[५],		प्राणान्[१], त्यक्त्वा[४],	प्राणों[१] और[२] धनों[३] को त्याग[४] कर
सुखानि[७], च[६]		धनानि[३], च[२]	

अन्वयार्थ— जिनके लिए राज्य, भोग और सुख हमें प्यारे हैं वे सब ही प्राणों और धनों को त्याग कर युद्ध में ये खड़े हैं ॥ ३३ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! राज्य और भोगों से उपराम होने का कारण यह है कि जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुखों की

---

* गोविंद का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

इच्छा थी अर्थात् जिन संबंधियों के लिए हमें यह राज्य, भोग इत्यादि प्यारे वा अपेक्षित थे, वे तो सब के सब अपने धन और प्राणों (जीने) की आशा को त्याग कर यहाँ इस युद्ध में सामने खड़े हैं, फिर आप ही बताइए, हमें राज्य और भोगों से क्या प्रयोजन रहा ? ॥ ३३ ॥

संबंध—युद्ध में जिनकी उपस्थिति से अर्जुन राज्यादि से उपराम हुआ है, उसके नाम अब वह दृष्टांत-रूप से कहता है—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥

आचार्याः[१], पितरः[२], पुत्राः[३], तथा[५] एव[६], च[४], पितामहाः[७]	आचार्य[१], पितर[२], पुत्र[३] और[४] ऐसे[५] ही[६] पितामह	मातुलाः[१], श्वशुराः[२], पौत्राः[३], श्यालाः[४], संबंधिनः[६], तथा[५]	मामे[१], सुसुरे[२], पोते[३], साले[४] और[५] संबंधी[६] (रिश्तेदार)

अन्वयार्थ—आचार्य, पितर, पुत्र और पितामह, और ऐसे ही मामे, सुसुरे, पोते, साले और (अन्य) संबंधी हैं ॥ ३४ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! इस युद्ध में गुरु हैं, पितर (ताऊ-चाचे) हैं, पुत्र (पुत्र व भतीजे इत्यादि) हैं, पितामह (भीष्म आदि) हैं, और ऐसे ही मामे, सुसुरे, पोते, साले और अन्य संबंधी हैं जिनको सामने लड़ने के लिए खड़ा देखकर मेरा चित्त युद्ध तथा राज्य, भोग और जीवन से भी उपराम हो रहा है ॥ ३४ ॥

संबंध—उक्त हेतु दर्शाकर अब अपने चित्त की दृढ़ उपरामता को अर्जुन स्पष्ट करता है—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

एतान्[5], न[7], हन्तुं[6], इच्छामि[8], घ्नतः[3], अपि[4], मधु[1]-सूदन[2]	हे[1] मधु दैत्य को मारने[2] वाले (कृष्णजी)! मैं मारे[3] जाने पर भी[4] इनको[5] मारना[6] नहीं[7] चाहता[8] हूँ	अपि, त्रै[1]-लोक्य[2]-राज्यस्य[3], हेतोः[5]	तीन[1] लोक के राज्य[2] के कारण भी[5]
		किं[1], नु[2], मही[3]-कृते[4]	क्या फिर[2] पृथिवी[3] के लिए[4]

अन्वयार्थ——हे मधुसूदन * ! मैं मारे जाने पर भी इनको इस पृथिवी के लिए तो क्या, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता ॥ ३५ ॥

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि मैं इन भीष्मादि को स्नेह तथा कृपा से न भी मारूँगा तो ये मुझे अवश्य मार जायँगे, तो हे मधुदैत्य के मारनेवाले कृष्णजी ! यदि ये सब बांधव मुझे मारें भी, तौ भी मैं इन (बंधुजनों) को मारना नहीं चाहता । इस पृथिवी के लिए तो भला क्या कहना है, यदि इन बंधुजनों के मारने से मुझे तीन लोक का राज्य भी मिल रहा हो, तौ भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, बल्कि उलटा इनसे मारा जाना मैं उत्तम समझता हूँ ॥ ३५ ॥

संबंध—यद्यपि आततायियों का मारना तो शास्त्रोक्त है, परंतु अर्जुन इससे भी अपनी उपरामता अब दर्शाता है—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

---

* मधुसूदन का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

निहत्य, धार्तराष्ट्रान्, नः	धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें	पापं, एव, आश्रयेत्, अस्मान्, हत्वा, एतान्, आततायिनः	इन आततायियों को मार कर हमें पाप ही आश्रय करेगा (लगेगा)
का, प्रीतिः, स्यात्, जनार्दन	हे जनों को सतानेवाले (कृष्णजी) ! क्या प्रीति होगी		

अन्वयार्थ—हे जनार्दन * ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रीति होगी ? (बल्कि) इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि आचार्यों का मारना छोड़ कर आततायियों का मारना उचित और आवश्यक है, तो हे मनुष्यों को सतानेवाले (दंड देनेवाले) कृष्णजी ! आप ही भला कहिए कि इन दुर्योधनादिकों को मारने से हमें क्या प्रीति (सुख या ख़ुशी) होगी ? अर्थात् कुछ भी सुख या कल्याण वास्तव में प्राप्त न होगा, बल्कि इन आततायियों †

---

* जनार्दन का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

† आततायि, अर्थात् महाअपराधी शास्त्र में छे प्रकार के कहे जाते हैं—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः।" अर्थ—१. आग लगानेवाला, २. विष देनेवाला, ३. हाथ में शस्त्र लिये मारने को उद्यत, ४. धन का छीननेवाला, ५. भूमि का छीननेवाला, ६. और स्त्री का छीननेवाला, ये छे प्रकार के अपराधी आततायी कहलाते हैं । इन आततायियों के विषय में मनुस्मृति ऐसी आज्ञा देती है कि—"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" ॥ ३५० ॥ "नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" ॥ ३५१ ॥ (मनु० ८) ॥ अर्थ—चाहे गुरु हो, वा बाल-बूढ़ा हो, अथवा वेदवेत्ता ब्राह्मण हो, पर जब आततायी बनकर सामने आवे

(दुष्ट पापियों) को मारकर हमें उलटा पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ *

पस—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

तस्मात्, न, अर्हाः, वयं, हन्तु	इसलिए हमें मारना उचित नहीं	स्व-जनं, हि, कथं, हत्वा, सुखिनः, स्याम, माधव	क्योंकि हे माधव (कृष्णजी)! अपने जन (बंधु) को मारकर हम कैसे सुखी होंगे
धार्तराष्ट्रान्, स्व-बान्धवान्	अपने बधुजन धृतराष्ट्र के पुत्रों को		

तो उसको विना विचारे मार डाले (३५०) । आततायी के मारने में मारनेवाले को कोई दोष नहीं होता (३५१) । मनु की इस आज्ञा के अनुसार धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने में कोई पाप नहीं समझना चाहिए था, क्योंकि वे सब पांडवों के आततायी थे । उन्होंने भीम को विष दिया । इन सबको जलाने के लिए लाख-घर बनाया । इनकी भूमि छीन ली । द्रौपदी का अपमान किया, इत्यादि । तथापि अर्जुन कृपणता और मोह के वशीभूत हुआ अब यह समझता और कहता है कि इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा; क्योंकि यद्यपि ये आततायी हैं, तथापि हैं तो सब हमारे भाई, और भाई से भाई भला कैसे मारा जा सकता है, चाहे आततायी ही क्यों न हो ।

* ये पुनः स्युरसम्बद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः ।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ॥

अर्थात्—हे कृष्ण ! जिनके साथ संबंध नहीं है, उनका भी वध करना उचित नहीं है, फिर जिनके साथ इस प्रकार का अत्यंत संबंध है, उनका वध करना कैसा ? (महाभारत ५, ७२, ४४)

अन्वयार्थ——इसलिए अपने बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को हमें मारना उचित नहीं ; क्योंकि अपने बंधुजनों को मारकर, हे माधव * ! हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

व्याख्या—हे मधुकुल (यदुवंश) में उत्पन्न कृष्णजी ! इस पूर्वोक्त हेतु से हमें यह उचित नहीं कि हम इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को, जो हमारे बांधव हैं, मारें। हे भगवन् ! इतना आप ही सोचिए कि अपने बंधुजनों को मारकर हम भला कैसे सुखी हो सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं ॥ ३७ ॥ †

संबंध—अब अन्य युक्तियों से अपने चित्त के निर्णय को अर्जुन सिद्ध करता है—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

---

* माधव का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

† ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठाः सहाया गुरवश्च नः।
तेषां वधोऽति पापीयान्किं नु युद्धोऽस्ति शोभनम् (म० भा० ५, ७२;४५)

अर्थ—संबंधियों और गुरुजनों के वध से अत्यंत पाप होता है, फिर युद्ध से कल्याण कैसा ?

कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति॥ (म०भा०५;१५४,२२)

अर्थ—न मारने योग्य पुरुषों के संग कैसे युद्ध हो सकता है ? गुरु और वृद्ध पुरुषों के वध करने से हमारी किस प्रकार से जय होगी ?

यद्यपि^{1}, एते^{2}, न^{6}, पश्यन्ति^{7}, लोभ^{3}-उपहत^{4}-चेतसः^{5}	यद्यपि^{1} ये^{2} लोभ^{3} से भरे^{4} हुए (या लोभ-ग्रस्त) चित्तवाले^{5} नहीं^{6} देखते^{7} हैं
कुल^{1}-क्षय^{2}-कृतं^{3}, दोषं^{4}	कुल^{1} के नाश^{2} से उत्पन्न^{3} होनेवाले दोष^{4} को
मित्र^{2}-द्रोहे^{3}, च^{1}, पातकं^{4}	और^{1} मित्र^{2}-द्रोह^{3} में पातक^{4}(या पाप)को

कथं^{1}, न^{7}, ज्ञेयं^{6}, अस्माभिः^{2}, पापात्^{4}, अस्मात्^{3}, निवर्तितुं^{5}	कैसे^{1} हम^{2} से इस^{3} पाप^{4} से निवृत्त^{5} होनेको विचारना^{6} उचित नहीं^{7}
कुल^{2}-क्षय^{3}-कृतं^{4}, दोषं^{5}, प्रपश्यद्भिः^{6}, जनार्दन^{1}	हे जनार्दन^{1} ! कुल^{2} के नाश^{3} से उत्पन्न^{4} होनेवाले दोष^{5} को (हम) देखनेवालों^{6} से

अन्वयार्थ——यद्यपि लोभ-ग्रसित चित्तवाले ये (धृतराष्ट्र के पुत्र) कुल-क्षय-कृत दोष और मित्रद्रोह में पातक को नहीं देखते हैं, (तथापि) हे जनार्दन * ! हमें कुल-क्षय-कृत दोष को देखनेवालों से इस पाप से निवृत्त होने को विचारना क्यों उचित नहीं ॥ ३८, ३९ ॥

व्याख्या—पस, जब अपने बांधवों को मारने से तथा कुल के नाश करने से केवल पाप ही पाप प्राप्त होता है, तो फिर हे जनों को सताने या दंड देनेवाले कृष्णजी ! यद्यपि ये दुर्योधनादिक (जिनका चित्त राज्य के लोभ से ग्रसा हुआ है, अर्थात् जिनकी मति राज्य के लालच ने मार रक्खी है और चित्त भ्रष्ट कर रक्खा है ।) उस दोष को नहीं देखते हैं कि जो कुल के नाश करने से उत्पन्न हो आता है, और न उस पातक (पाप) को ही देखते हैं कि जो अपने मित्र के साथ कपट करने या उसे हानि पहुँचाने अथवा उसका बुरा चाहने से होता है । तथापि हे भगवन् ! हम तो इन दोनों (दोष और पातक) को देखते वा जानते हैं, फिर ऐसी हालत में हमें भला इस दोष और पाप से निवृत्त होने (हटने और बचने)

---

* जनार्दन का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

के लिए विचारना क्यों उचित नहीं (अर्थात् अवश्यमेव हमें विचारना चाहिए) ॥ ३८, ३९ ॥ *

और—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुल-क्षये, प्रणश्यन्ति, कुल-धर्माः, सनातनाः	कुल के नाश होने पर सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं	धर्मे, नष्टे, कुलं, कृत्स्नं, अधर्मः, अभिभवति, उत	धर्म के नष्ट होने पर सारे कुल को फिर अधर्म दबा लेता है

अन्वयार्थ—कुल के नाश होने पर सनातन कुलधर्म † नष्ट हो जाते हैं, और धर्म के नष्ट होने पर सारे कुल को फिर अधर्म दबा लेता है ॥ ४० ॥

---

* धर्मशास्त्र में आया है कि "आहूतो न निवर्त्तेत द्यूतादपि रणादपि" इति । "विजितं क्षत्रियस्य" इति । जब क्षत्रिय राजा को कोई पुरुष जुए के लिए अथवा युद्ध के लिए बुलावे, तो उसे युद्ध वा जुआ खेलने से पीछे न हटना चाहिए, किंतु अवश्य उसमें प्रवृत्त होना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार से जो जीता हुआ धन होता है वह क्षत्रिय का धर्म्य धन होता है । परंतु अर्जुन इस समय मोहवश हुआ अपने इस धर्म को भूलकर अधर्म को धर्म मान रहा है जिससे कायर बनकर युद्ध से उपराम हो रहा है, और उसमें फिर युक्तियाँ दे रहा है।

† शास्त्रों में प्रायः उत्तम कुल के सनातनधर्म निम्नलिखित लक्षणों से वर्णित हैं—

"आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम् ।
निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम् ॥"

व्याख्या--हे भगवन्! कुल-क्षय-कृत दोष ये हैं कि जब कुल नाश हो जाता है तब कुल के जितने भी धर्म परंपरा से चले आये होते हैं, वे सबके सब नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् आचार पर चलनेवाले वृद्धों के न रहने के कारण कुलाचार नष्ट हो जाता है। और, जब सनातन कुलधर्म अर्थात् कुलाचार इत्यादि नष्ट हो जाते हैं, तब सारे कुल को फिर अधर्म दबा लेता अर्थात् अपने वश कर लेता है, जिससे शेष कुल अधर्मी हो जाता है ॥ ४० ॥

और—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

अधर्म^{2}-अभि-भवात्^{3}, कृष्ण^{1}	हे कृष्ण^{1}! अधर्म^{2} के दबाव^{3} (या व्यापने) से	स्त्रीषु^{2}, दुष्टासु^{3}, वार्ष्णेय^{1}	हे वृष्णि^{1}-कुलोत्पन्न (कृष्णजी)! स्त्रियों^{2} के दुष्ट^{3} होने पर
प्रदुष्यन्ति^{3}, कुल^{1}-स्त्रियः^{2}	कुल^{1} की स्त्रियाँ^{2} दूषित^{3} हो जाती हैं	जायते^{2}, वर्ण^{1}-संकरः	वर्णसंकर^{1} (हरामज़ादा) उत्पन्न^{2} होता है

अन्वयार्थ--हे कृष्ण* जी! अधर्म के व्यापने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। स्त्रियों के दूषित होने पर, हे वार्ष्णेय†! वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

अर्थ—१. आचार, २. विनय, ३. विद्या, ४. प्रतिष्ठा, ५. तीर्थ-दर्शन, ६. निष्ठा, ७. वृत्ति, ८. तप और ९. दान, ये उत्तम कुल के ९ लक्षण हैं। कुल के नाश होने पर इन धर्मों के नष्ट होने का भय अर्जुन को सता रहा है।

* कृष्ण का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

† वार्ष्णेय का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

व्याख्या—हे कृष्णजी! सारा कुल जब अधर्म से दब जाता अर्थात् अधर्म के वशीभूत हो जाता है, तब कुल की सब स्त्रियाँ बिगड़ जातीं अर्थात् आचरण से दूषित, भ्रष्ट वा व्यभिचारिणी हो जाती हैं। इस प्रकार स्त्रियों के व्यभिचारिणी होने से, हे वृष्णिकुल में उत्पन्न कृष्णजी! तब वर्णसंकर* उत्पन्न हो आता है, अर्थात् वर्ण की गड़बड़ी हो जाती है ॥ ४१ ॥

और—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

संकरः[१], नरकाय[६], एव[७], कुल[२]-घ्नानां[३], कुलस्य[५], च[४]	वर्ण[१]संकर कुल[२]-घातियों[३] और[४] कुल[५] के नरक[६] के लिए ही[७] होता है	पतन्ति[८], पितरः[७], हि[१], एषां[६], लुप्त[५]- पिण्ड[२]-उदक[३], क्रिया[४]:	क्योंकि[१] पिंड[२] और जल[३] की क्रिया[४] के लोप[५] होने से इनके[६] पितर[७] गिर[८] जाते हैं

अन्वयार्थ—वर्णसंकर कुलघातियों और कुल के नरक के लिए ही होता है; क्योंकि पिंड और जल की क्रिया के लोप हो जाने से इनके पितर (नरक में) गिर पड़ते हैं ॥ ४२ ॥ †

---

* वर्णसंकर उसे कहते हैं कि जो एक वर्ण की स्त्री और दूसरे वर्ण के पुरुष से अधर्म द्वारा उत्पन्न हुआ हो, अर्थात् जो हराम की औलाद (संतान) हो।

† आर्यसमाज के पंडित राजारामजी इस श्लोक पर अपनी निम्नलिखित टिप्पणी देते हैं—

व्याख्या—हे भगवन् ! जैसे दैववशात् एक घर में आग लगे तो वह प्रज्वलित हो दूसरे घरों को भी जला डालती है, वैसे ही आचार-भ्रष्ट-कुल के संग में जो-जो लोग रहते हैं, उन्हें भी उसके

"उदककर्म और पिंडकर्म जो मरे हुओं के लिए किया जाता है, उसी से यहाँ तात्पर्य है। महाभारत में अन्यत्र भी इसका वर्णन पाया जाता है। पिंड के लोप से स्वर्ग से गिरने का भाव भी पुराना है। महाभारत आदिपर्व अध्याय १३ में जरत्कारु और उसके पितरों के संवाद से इस अभिप्राय को रूपक द्वारा स्पष्ट वर्णन किया है। इसमें संदेह नहीं कि आर्यों में यह कर्म बहुत पुराने काल से प्रचलित है। सारे धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में इसका निरूपण है। देखो पारस्कर गृह्यसूत्र ॥ ३,१० ॥ आर्यसमाज का भी इसके वैदिक होने से विवाद है, न कि प्राचीनता में।"

आर्यसमाज के आर्यमुनि महाशय का संक्षिप्त भाष्य इस श्लोक पर ऐसे है कि—'लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' इस शब्द के कई एक आधुनिक लोग यह अर्थ करते हैं कि उक्त शब्द के अर्थ मृतक श्राद्ध के हैं, पर यह अर्थ इस शब्द से नहीं निकलते, क्योंकि वर्णसंकरों की उत्पत्ति से अर्थात् व्यभिचार से उत्पन्न हुई संतान अपने वृद्ध पुरुषों का सम्मान न करेगी, इसलिए 'लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' यह पितरों को विशेषण दिया गया है और इसी भाव को इससे आगे के श्लोक में प्रकट किया है कि वर्णसंकर करनेवाले दोषों से ही जाति नष्ट होती है, मृतक श्राद्ध न करने से जाति नष्ट नहीं होती।"

भारतधर्म-महामंडल के प्रसिद्ध स्वामी दयानंदजी अपनी गीताचंद्रिका में इस श्लोक पर शास्त्रोक्त विचार ऐसे स्पष्ट करते हैं—"दैवी संपत्ति से युक्त होने के कारण इस प्रमाद के समय भी अर्जुन को शास्त्र ही सूझता है और वह अपनी मोहग्रस्त बुद्धि के अनुसार अपने ही ढंग पर शास्त्र का उपयोग कर रहा है। उसकी यह युक्ति है कि आत्मीय जनों को मार डालने से कुल में परंपरागत धर्मानुष्ठान करनेवाला कोई नहीं रहेगा, जिससे कुल में धर्म का नाश तथा अधर्म का उदय होगा और

निमित्त पीड़ा सहनी पड़ती है। इसी प्रकार अधर्मी कुल में स्त्रियों के व्यभिचारिणी होने पर जो वर्णसंकर उत्पन्न हो आता

अधर्म बढ़ जाने पर स्त्रियों में व्यभिचार फैल जायगा, जिससे वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होगी। तीन गुण के परिणाम से चार वर्ण की उत्पत्ति स्वाभाविक है। जीव प्रथमतः तमोगुण प्रधान शूद्रवर्ण में उत्पन्न होता है। तदनंतर क्रमोन्नति को पाकर रजस्तमःप्रधान वैश्यवर्ण, रजःसत्त्वप्रधान क्षत्रियवर्ण और अंत में सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणवर्ण में उसकी उत्पत्ति होती है। प्रकृति की त्रिगुणमयी सारी शक्ति इन चार धाराओं में बटी हुई है। इसलिए इन्हीं को प्रकृति अपनी शक्ति द्वारा उन्नत करती करती परमात्मा तक पहुँचा सकती है। इसके बीच में संकरता द्वारा कोई विषमधारा बने तो उसको आगे चलाने के लिए प्रकृति के पास शक्ति ही नहीं है। इसी कारण वर्णसंकर पशु या वर्णसंकर मनुष्यादि की जाति नहीं चलती है। घोड़े या गधे का वंश नाश कभी नहीं होता है, किंतु दोनों के संबंध से उत्पन्न वर्णसंकर अश्वतर या खच्चर जाति का वंश कभी नहीं चलता। अतः वर्णसंकरी सृष्टि का न चलना प्राकृतिक है। इसी कारण अर्जुन को वर्णसंकर से इतना भय है, जैसा कि मनुजी ने भी कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

अर्थ—जहाँ ये वर्णदूषक वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वहाँ पर राष्ट्रवालों के साथ राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है। अतः स्त्रियों के दोष से वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होने पर कुलनाश, जातिनाश शीघ्र ही होगा, और इसी पाप से कुलहंता को घोर नरक में जाना पड़ेगा, यही अर्जुन का कथन है। द्वितीयतः पितरों का भी इसमें विशेष अकल्याण है। इस लोक से गये हुए हमारे पूर्वज पितर कहलाते हैं, इनमें से कर्मानुसार किसी को प्रेतत्वलाभ भी होता है और कोई-कोई पितृलोक को भी जाते हैं। प्रेतलोक, पितृलोक ये सब भूर्लोक के अंतर्गत ही सूक्ष्म लोक

है, वह वास्तव में उस सारे कुल को और कुल के नाश करनेवालों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। क्योंकि अधर्मज पुत्र

हैं। श्राद्धतर्पण में श्राद्धकर्त्ता अपनी संकल्पशक्ति, मंत्रशक्ति तथा द्रव्यशक्ति अर्थात् श्राद्ध में समर्पित द्रव्यों की शक्ति द्वारा पितरों को सहायता करते हैं। जिससे शक्ति-संयोग द्वारा प्रेतत्वनाश अथवा पितृलोकवासी पितरों की तृप्ति और उन्नति होती है। यही श्राद्धतर्पण का संक्षेप सूक्ष्म-विज्ञान है। शक्ति का प्रयोग समभूमि में ठीक-ठीक होता है, विषमभूमि में नहीं हो सकता है। इसी कारण संतान का ही श्राद्ध में प्रथम अधिकार है। क्योंकि पिता-माता का आत्मज होने के कारण पिता-माता के साथ संतान के आत्मा की समभूमि रहती है। यदि पिता और माता दोनों एक ही वर्ण के होंगे तो वर्ण की समता से शक्ति की समता होगी, और उनके संयोग से उत्पन्न संतान के साथ भी शक्ति की समभूमि रहेगी। इस कारण ऐसी संतान के द्वारा अनुष्ठित श्राद्धतर्पण से पितरों को कल्याण प्राप्त होगा। उसके द्वारा प्रयुक्त संकल्पशक्ति, मंत्रशक्ति तथा द्रव्यशक्ति का प्रभाव उन पर ठीक-ठीक होगा। किंतु यदि पिता-माता के वर्ण भिन्न-भिन्न प्रकार होंगे, तो वर्णभिन्नात्मा के कारण शक्ति की समता नहीं रहेगी और इसलिए उनके शक्ति-संयोग से जो संतान होगी उसका मेल न पितृशक्ति से ही होगा और न मातृशक्ति से ही होगा, क्योंकि दोनों विषमशक्ति के संघर्ष से उत्पन्न वस्तु की शक्ति दोनों में से किसी से भी मेल न खायेगी, वह एक तीसरी ही शक्ति होगी। अतः ऐसी संतान के द्वारा अनुष्ठित श्राद्धतर्पण से पितरों को कुछ भी लाभ नहीं होगा। इसलिए एक ओर तो वंशनाश के कारण श्राद्धकर्त्ता के अभाव से ही पितरों का पतन होगा और दूसरी ओर वर्णसंकर प्रजा के द्वारा कृत श्राद्धतर्पण उनको न प्राप्त होने से उनका पतन होगा। यही अर्जुन के पितरों से पतन-विषय में दुःख करने का कारण था। इस प्रकार से वर्णसंकर सृष्टि द्वारा समस्त वर्णधर्म तथा परंपराप्राप्त कुलधर्म का उच्छेद होता है, और जिनके कुल में ऐसा होता है, वे अनंत काल तक नरक में दुःख

(वर्णसंकर) होने से उनकी दी हुई पिंडक्रिया तथा जलक्रिया उनके पितरों (पूर्वजों) को नहीं पहुँचती है, इसलिए इन कुलघातियों

भोगते हैं। ये ही सब आत्मीय वध के भीषण परिणाम सोचकर अर्जुन बहुत ही व्याकुल हो गया।"

स्वामी हंसस्वरूपजी अपनी टीका में इसके संबंध में यों लिखते हैं—

"पिंडोदक की क्रिया परम वैज्ञानिक क्रिया है, जो मंत्रों की और पदार्थों की अलौकिक शक्तियों के योग से सिद्ध होती है। इसलिए यह क्रिया 'पदार्थ-विद्या' और 'आत्मविद्या' दोनों से संबंध रखती है। सच्ची बात तो यह है कि पिंड से अभिप्राय इस शरीर-रूप पिंड का है जो रोम, चर्म, रुधिर, मांस इत्यादि के मेल से बना हुआ है, और उदक का अभिप्राय जीवात्मा (चेतन) से है। इसलिए इस शरीर और आत्मा दोनों के कल्याण-निमित्त जो वैज्ञानिक क्रिया की जाती है, उसे पिंडोदक-क्रिया कहते हैं। आजकल के नवशिक्षित युवक इसके गंभीर रहस्य को नहीं जान सकते, इसलिए पिंडोदक-क्रिया अर्थात् श्राद्ध से विमुख रहते हैं।

"मुख्य अभिप्राय यह है कि वेदों ने जिन कर्मों की आज्ञा दी है, उन्हें निःशंक होकर संपादन करना ही चाहिए। नहीं करने से नरकगामी होना पड़ता है। ग्रंथ के विस्तार हो जाने के भय से मंत्र इत्यादि का लेख नहीं किया गया। जिन्हें देखने की आवश्यकता हो, निम्नलिखित ग्रंथों को देखें—(१) ऋग्वेद अ० ६, (२) शुक्ल यजुर्वेद अ० १९, (३) अथर्वकांड १८, (४) गोभिल गृह्यसूत्र ४, ३, २ से लेकर ४, ४, १ पर्यंत, (५) आश्वलायन-श्रौत सू० अ० २, (६) मार्कंडेयपुराण अ० ३०, ३१, ३२, ३३, (७) अग्निपुराण अ० १६३, (८) बृहन्नारदीय अ० २६, (९) लिंगपुराण अ० ४५, (१०) मत्स्यपुराण अ० १६ से २२, (११) बाराहपुराण अ० १३, १४, (१२) कूर्मपुराण अ० २० से २२, (१३) शिवपुराण श्राद्धकल्प अ० ६२।"

हमारे विचार में यद्यपि पुत्र नियोग से भी हो सकते हैं, पर "न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति"=हे अग्ने! (अपनी स्त्री से) अन्य पुरुष द्वारा

तथा वर्णसंकरवाले कुल के पितर नरक में ही गिरते हैं ॥ ४२ ॥

और—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

दोषैः^{5}, एतैः^{2}, कुल^{1}-घ्नानां, वर्ण^{3}संकर-कारकैः^{4}	कुलघातियों^{1} के इन^{2} वर्णसंकर^{3} बनानेवाले^{4} दोषों^{5} से
उत्साद्यन्ते^{7}, जाति^{1}-धर्माः^{2}, कुल^{5}-धर्माः^{6}, च^{3}, शाश्वताः^{4}	जाति^{1}-धर्म^{2} और^{3} सनातन^{4} कुल^{5}-धर्म^{6} नष्ट^{7} हो जाते (या उखाड़ दिये जाते) हैं

उत्पन्न हुई संतान अपनी नहीं है, ऐसा श्रुति कहती है । और—"अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्रः"=अन्य उदर से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी न समझना चाहिए कि 'यह मेरा पुत्र है'—ऐसा यास्क मुनि ने भी कहा है, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि नियोग से जो संतान उत्पन्न होती है वह वास्तव में नियुक्तपति (बीजपति) की होती है, क्षेत्रपति (असली पति) की नहीं । इसलिए ऐसी संतान से बीजपति को ही पिंडादि की प्राप्ति होती है, क्षेत्रपति को नहीं । इस प्रकार क्षेत्रपति के निमित्त उदक और पिंड की क्रिया के लोप होने से अवश्य पितरों का गिरना होता है । नियोग से संतान-उत्पत्ति की स्मृति का तात्पर्य इस लोक में ही वंश-स्थापनामात्र है, इससे क्षेत्रपति का कोई पारलौकिक उपकार नहीं । इन श्रुति-स्मृति के प्रमाणानुसार पांडव जो पहले ही नियोग द्वारा उत्पन्न थे, उनकी पिंडादि क्रिया तो उनके असली पितरों को पहले ही नहीं प्राप्त हो सकती थी, केवल कृष्ण-द्वैपायन को हो सकती थी, जो आप स्वयं नियोग द्वारा उत्पन्न थे; क्योंकि सत्यवती अभी अविवाहिता कन्या ही थी जब कि व्यासजी उत्पन्न हुए थे । पर अर्जुन अपनी कृपणता को ढकने के लिए यह शास्त्र-युक्ति देता है जो भगवान् को व्यर्थ और अनुचित दिखाई देती है यद्यपि अन्य रूप से वह उपयोगी, कल्याणकारी और धर्मशास्त्रानुकूल अवश्य है । (टीकाकार)

अन्वयार्थ—कुलघातियों के इन वर्णसंकर बनानेवाले दोषों से सनातन जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! कुलनाशक पुरुषों के जो ये दोष हैं जिनसे कि वर्णसंकर उत्पन्न हो आते हैं, इन दोषों से श्रुतिस्मृति के अनुसार तथा परंपरा से चले आये जो भी क्षत्रियत्वादिक जाति-धर्म अथवा कुल के असाधारण धर्म हैं, वे सबके सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

और—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

उत्सन्न-कुल- धर्माणां, मनुष्याणां, जनार्दन	हे जनार्दन! कुल- धर्म नष्ट हुए मनुष्यों का	**नरके, नियतं वासः, भवति, इति, अनु- शुश्रुम**	नरक में अवश्य निवास होता है, ऐसा हमने सुना है

अन्वयार्थ—हे जनार्दन *! कुल-धर्म नष्ट हुए मनुष्यों का अवश्य नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥

व्याख्या—हे मनुष्यों को दंड देनेवाले कृष्णजी! हम पूर्वले आचार्यों से तथा शास्त्रों से सुनते चले आ रहे हैं कि जिन लोगों के कुल के धर्म नष्ट हो गये हैं, या जिन्होंने अपने कुल के सारे धर्म नाश कर दिये हैं, उनका अवश्य (सदा, या नियत काल तक) नरक में ही निवास होता है ॥ ४४ ॥

---

* जनार्दन का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

संबंध—इतनी युक्तियाँ देने के पीछे अर्जुन अपने किये पर अब खेद-भरे चित्त से संताप करता है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो, बत, महत्, पापं, कर्तुं, व्यवसिताः, वयम्	हा खेद ! बड़े भारी पाप करने को हम तैयार (या निश्चय-वाले) हुए हैं	यत्, राज्य-सुख-लोभेन	जो राज्य के सुख के लोभ से
		हन्तुं, स्व-जनं, उद्यताः	अपने जन (बंधुजन मारने को उद्यत हुए

अन्वयार्थ—हा खेद ! हम भारी पाप करने को तैयार हुए हैं, जो राज्य-सुख के लोभ से बंधुजन मारने को उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

व्याख्या—हाय शोक ! (या अहो बड़ा आश्चर्य है) कि हम बड़े भारी पाप करने का निश्चय कर रहे हैं (या हम बड़े भारी पाप करने में प्रवृत्त हुए हैं), जो राज्य के क्षणभंगुर विषय-सुख के लिए अपने बांधवों को मारने उठे हैं ॥ ४५ ॥

संबंध—इस दुःखित चित्त से अर्जुन अपने अंतिम निश्चय को अब स्पष्ट करता है—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि, मां, अ-प्रती-कारं, अ-शस्त्रं, शस्त्र-पाणयः	यदि मुझ न सामना करनेवाले (बदला लेनेवाले) और शस्त्र-रहित को शस्त्र हाथ में लिये	धार्तराष्ट्राः, रणे, हन्युः	धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें
		तत्, मे, क्षेमतरं, भवेत्	वह मेरे लिए अधिक भला हो

अन्वयार्थ---यदि मुझ न सामना करनेवाले और शस्त्ररहित को धृतराष्ट्र के पुत्र शस्त्र हाथ में लिये रण में मार डालें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याण हो ॥ ४६ ॥

व्याख्या—इसलिए हे भगवन् ! यदि मैं रणभूमि में दुर्योधनादि से ऐसी दशा में मारा जाऊँ कि मेरे हाथ में तो शस्त्र न हों और वे शस्त्र अपने हाथ में लिये हुए हों, वे मुझे मारने को आयें और मैं उनका सामना तक न करूँ, और न उनकी किसी चोट का बदला लूँ बल्कि चुपचाप उनकी मार को सहन करूँ, तो इस प्रकार की मृत्यु को मैं अपने बंधुजनों को मारने की अपेक्षा अधिक कल्याणदायक समझता हूँ ॥ ४६ ॥

संबंध—अब श्लोक २६ से ४६ पर्यंत के सारे वृत्तांत का उपसंहार करके संजय धृतराष्ट्र को सुनाता है—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो * नाम प्रथमोऽध्यायः ।

एवं^{१}, उक्त्वा^{२}, अर्जुनः^{३}, संख्ये^{४}, रथ^{५}-उपस्थे^{६}, उपाविशत्^{७}	ऐसा^{१} कह^{२}कर अर्जुन^{३} युद्ध^{४} में रथ^{५} की पिछाड़ी^{६} (पिछले भाग में) बैठ^{७} गया	विसृज्य^{४}, स^{२}-शरं^{१}, चापं^{३}	तीर^{१} सहित^{२} धनुष^{३} को छोड़^{४} कर
		शोक^{१}-संविग्न^{२}-मानस^{३}ः	शोक^{१} में डूबे हुए^{२} मन^{३}वाला होकर

अन्वयार्थ---संजय बोला---इस प्रकार कहकर अर्जुन (अपने)

---

* इस अध्याय में अर्जुन को युद्ध के आरंभ में ही दुःख उत्पन्न हुआ था, इसलिए इसका नाम अर्जुनविषादयोग हुआ ।

तीर-सहित धनुष को छोड़कर शोक में डूबे हुए मनवाला हुआ संग्राम में रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥ ४७ ॥

व्याख्या—संजय बोला—हे धृतराष्ट्रजी! जैसे ऊपर वर्णन हुआ है, इस प्रकार अर्जुन ने जब भगवान् से कहा—"मैं तो युद्ध नहीं करूँगा, बल्कि धृतराष्ट्र के पुत्र यदि मुझे संग्राम में मार भी डालें तो मेरा अधिक कल्याण होगा, इत्यादि।" तब इसके बाद वह शोक से भरे हुए मनवाला (अर्थात् शोकातुर) हुआ तीर-सहित धनुष को फेंककर रणभूमि में (युद्ध के अखाड़े में) रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥ ४७ ॥ *

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः।

---

* "रथ में खड़े होकर युद्ध करने की प्रणाली थी, अतः 'रथ में अपने स्थान पर बैठ गया' इन शब्दों से यही अर्थ अधिक व्यक्त होता है कि खिन्न हो जाने के कारण युद्ध करने की उसे इच्छा न थी। महाभारत में कुछ स्थलों पर इन रथों का जो वर्णन है, उससे देख पड़ता है कि भारत-कालीन रथ प्रायः दो पहियों के होते थे; बड़े-बड़े रथों में चार-चार घोड़े जोते जाते थे और रथी एवं सारथी—दोनों अगले भाग में परस्पर एक दूसरे के आज़ू-बाज़ू में बैठते थे। रथ की पहचान के लिए प्रत्येक रथ पर एक प्रकार की विशेष ध्वजा लगी रहती थी। यह बात प्रसिद्ध है कि अर्जुन की ध्वजा पर प्रत्यक्ष हनुमान् ही बैठे थे।" (लोकमान्य तिलक महाराज)

"रथ में आसन के लिए तीन भाग बनाये जाते हैं, जिनमें अग्र भाग सारथि के बैठने के लिए, मध्य भाग योद्धा के बैठने के लिए और पिछला भाग, जिसे रथोपस्थ कहते हैं, रथी के सेवक तथा सहायक के लिए होता है। यह सहायक शस्त्रों को एकत्र कर अपने पास रखता है। योद्धा को समय-समय पर जब-जब जिन शस्त्रों की आवश्यकता होती है, देता जाता है। जब योद्धा को युद्ध की आवश्यकता नहीं रहती है, तब वह सुखपूर्वक रथोपस्थ में अर्थात् रथ के पिछले भाग में जा बैठता है, सो अर्जुन युद्ध का विचार छोड़ रथोपस्थ में जा बैठा।" (स्वामी हंसस्वरूप)

पहले अध्याय का संक्षेप

राजा धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय युद्ध के वृत्तांत को इस प्रकार सुनाता है कि—

(१) राजा दुर्योधन अपने आचार्य के पास जाकर दोनों पक्षों के सेनापतियों के नाम-सहित उनकी उपमा और उपाधियों के वर्णन करता है, और अपने पक्षवालों को भीष्मपितामह की सहायता व रक्षा के लिए उत्तेजना देता है।

(२) रणभूमि में शंखध्वनियों का कोलाहल मचने पर अर्जुन अपने सारथी श्रीकृष्ण से दोनों सेनाओं के मध्य में रथ खड़ा करने की प्रार्थना करता है ताकि वह अपने साथ लड़नेवालों और दुष्टचित्त दुर्योधन के शुभचिंतकों को देख ले।

(३) रथ के खड़ा होने पर जब अर्जुन सेनाओं में अपने गुरुओं, पूजनीय वृद्धों और संबंधियों को देखता है, तो उसका दिल भर आता है। और मारे कृपणता के तो युद्ध से उपराम होना चाहता है, पर कारण निम्नलिखित वर्णन करता है—

(क) संबंधियों को युद्ध में सम्मुख देखने से हृदय दुःखित हो रहा है, रोमांच हो रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, त्वचा जल रही है, गांडीव हाथ से फिसला जा रहा है, और खड़ा होने को भी मैं असमर्थ हूँ।

(ख) मुझे उल्टे निमित्त (शकुन) दिखाई दे रहे हैं, जिससे विजय की संभावना नहीं दीखती।

(ग) भला ऐसे राज्य-भोग, सुखों और जीने से क्या लाभ? क्योंकि जिनके लिए राज्य-भोग हम चाहते थे, वे सम्मुख लड़ने-मरने को खड़े हैं।

(घ) संबंधियों को मारने में दुःख ही दुःख है; क्योंकि इससे कुल-धर्म व कुलाचार नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, जिससे स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती हुई वर्णसंकर उत्पन्न करने लग जाती हैं, और वर्णसंकर कुलघातियों तथा कुल को नरक में ले जानेवाला और अपने पितरों को भी नीचे गिरानेवाला होता है।

(ङ) संबंधी चाहे आततायी ही हों, तो भी उनके मारने में पाप ही होता है; इसलिए मुझ शस्त्ररहित को यदि दुर्योधनादि शस्त्र हाथ में लेकर मार भी जायँ, तो भी मैं इसमें अपना अति कल्याण ही समझता हूँ, पर उनसे लड़ना मैं किंचित् श्रेयस्कर नहीं देखता।

(४) उक्त कारणों को वर्णन करके अंत में अर्जुन शोकातुर हुआ तीर-सहित धनुष को फेंककर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है, जिससे वह यह स्पष्ट करता है कि मैं युद्ध नहीं करने का।

* * *

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, अर्जुनविषादयोग-नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

ॐ

द्वितीयोऽध्यायः

संबंध—यह बात सुनकर कि अर्जुन-जैसा शूरवीर हाथ से धनुष फेंक कर रथ की पिछाड़ी बैठ गया और युद्ध से उपराम हो गया है, तो राजा धृतराष्ट्र के चित्त में स्वाभाविक यह ख़्याल उठा कि ऐसी स्थिति में फिर अर्जुन की उदासीनता किस प्रकार दूर हुई और युद्ध कैसे आरंभ हो गया, इसे जानने के लिए वह आगे का हाल सुनना चाहता है। जिसे अब संजय सुनाने लगा है, और जिस पर दूसरा अध्याय आरंभ होता है।

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

तं[1], तथा[2], कृपया[3], आविष्टं[4]	उस[1] ऐसे[2] कृपा[3] से भरे[4] हुए को	विषीदन्तं[1], इदं[3], वाक्यं[4], उवाच[5], मधुसूदनः[2]	दुःखी[1] (उदास हुए) को मधुसूदन[2] यह[3] वाक्य[4] बोले[5]
अश्रु[1]-पूर्ण[2]-आकुल[3]-ईक्षणं[4]	अश्रु[1]-पूर्ण[2] और व्याकुल[3] नेत्रोंवाले[4] को		

अन्वयार्थ—संजय बोला—उस ऐसे कृपा से भरे हुए, अश्रुपूर्ण और व्याकुल नेत्रोंवाले तथा दुःखी (अर्जुन) को मधुसूदन * जी यह वाक्य बोले ॥ १ ॥

व्याख्या—संजय ने पुनः धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन् ! जब मधुदैत्य को मारनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन को दया तथा करुणा ने घेर लिया है (अथवा मोह या स्नेहरूपी कृपा से वह व्याप्त हो गया है), नेत्र उसके अश्रुओं से पूर्ण हुए व्याकुल हो रहे (अथवा डबडबा रहे या कुमला गये) हैं, और चित्त उसका अत्यंत दुःखी वा उदास हो रहा है। तब उस ऐसे दुःखित चित्त अर्जुन को वे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

संबध—अब भगवान् के वाक्य को संजय सुनाता है—

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

कुतः[१], त्वा[२], कश्मलं[४], इदं[३], विषमे[५], समुपस्थितम्[६]	कहाँ[१] से तुझे[२] यह[३] मलिनता[४] (मोह) संकट[५] में प्राप्त[६] हो आई	† अनार्य[१]-जुष्टं[२], अ[४]-स्वर्ग्यं[३]	अनार्यों[१] से सेवित[२], स्वर्ग[३] की विरोधिनी[४],
		अकीर्ति[१]-करं[२], अर्जुन[३]	अपयश[१] करनेवाली[२], हे अर्जुन[३]

---

* मधुसूदन का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

† शास्त्र में आर्य का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—
"कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥"

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् * बोले—हे अर्जुन! अनार्यों से सेवित, स्वर्ग की विरोधिनी और अपयश की करनेवाली यह मलिनता (इस) संकट में तुझे कहाँ से प्राप्त हो आई? ॥ २ ॥

व्याख्या – श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! इस संकट में (रणभूमि में वा नाज़ुक समय) तुझे ऐसी मलिनता (अथवा भ्रष्टबुद्धि, भ्रांति, शोक, मोह या कायरता) कहाँ से प्राप्त हो आई (या किधर से उत्पन्न हो आई), जो अनार्य अर्थात् कमीने वा अशुद्ध अंतःकरणवाले या वेद-विरुद्ध चलनेवाले लोगों से सेवन की जाती है, अर्थात् जो क्षुद्र पुरुषों में पाई जाती है, और जो स्वर्ग से रहित रखनेवाली अर्थात् नरक में ले जानेवाली है, और जो लोक-परलोक में अपकीर्ति फैलानेवाली है ॥ २ ॥ †

अर्थ—जो अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य को पूरा करता है, अकर्त्तव्य से बचा रहता है और सदाचार-परायण रहता है, वह आर्य है। इससे विपरीत आचरणवाला अनार्य होता है।

* भगवान् का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

† इस पर स्वामी हंसस्वरूप ऐसी व्याख्या करते हैं—

"सुन! मेरी बात सुन! तू जो यह कहता है कि रण में भाई-बंधुओं के साथ युद्ध कैसे करूँ? सो तेरा यह कहना अनुचित है। देख! रणभूमि में तो गणेशजी ने अपने पिता शिवजी के साथ युद्ध किया है। लव और कुश ने अपने पिता श्रीरामचंद्रजी के साथ युद्ध किया है। शंकर जो हमारे परम प्रिय हैं, जिनको मैं और जो मुझको प्राणों से अधिक समझते हैं, सो मेरे संग संग्राम में युद्ध कर चुके हैं। इस प्रकार हे अर्जुन! युद्ध में कोई भी क्यों न हो, तथा कैसा ही समीपी क्यों न हो, आ जाय, तो उससे युद्ध करना धर्म है। तू अनार्यों के समान स्वर्ग से च्युत करनेवाला तथा अपकीर्त्ति फैलानेवाला कर्म मत कर। दूसरी बात यह है कि प्रथम ही

संबंध--क्योंकि यह मलिनता अत्यंत बुरी है, इसलिए—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

क्लैब्यं[२], मा[३], स्म[५], गमः[४], पार्थ[१]	हे अर्जुन[१]! नपुंसकता[२] को मत[३] प्राप्त[४] हो[५]	क्षुद्रं[३] हृदय[४]- दौर्बल्यं[५], त्यक्त्वा[६], उत्तिष्ठ[७], परं[१]-तप[२]	हे शत्रुओं[१] के तपाने[२] वाले (अर्जुन) तुच्छ[३] हृदय[४] की दुर्बलता[५] को छोड़[६] कर तू उठ[७] खड़ा हो
न[३], एतत्[१], त्वयि[२], उपपद्यते[४]	यह[१] तुझ[२] में नहीं[३] युक्त[४] है, अर्थात् तेरे योग्य नहीं है		

से कैसे तू जानता है कि तू उनको मार लेगा अथवा वे तुझको मार लेंगे ? संभव है, युद्ध चलते-चलते मध्य में संधि का संयोग हो जाय । धीरज धर, सुन ।"

श्रीज्ञानदेवजी विचित्र रूप से इसकी और इसी के साथ-साथ श्लोक तीसरे की व्याख्या ऐसे करते हैं—

"भगवान् कहने लगे—हे अर्जुन! प्रथम यह देखो कि तुम्हें इस स्थान में ऐसा करना उचित है क्या? तुम हो कौन और यह क्या कर रहे हो? कहो तुम्हें क्या हुआ है ? किस बात की कमी पड़ी है ? कौन सा कार्य बाक़ी रह गया ? किस कारण खेद करते हो ? तुम तो कभी अनुचित बातों को चित्त में नहीं लाते, कभी धीरज नहीं छोड़ते, तुम्हारा नाम सुनते ही अपयश हद के पार भाग जाता है। तुम शूरवृत्ति के आश्रय हो व क्षत्रियों के तुम राजा हो । तुम्हारी शूरता की तीनों लोकों में प्रतिष्ठा है । तुमने युद्ध में शंकर को पराजित किया, निपात और कवच का समूल नाश किया और निज को गंधर्वों के गीत का विषय बना लिया है। तुम्हारी तुलना से देखते त्रैलोक्य भी कम दिखाई देता है। हे पार्थ! तुम्हारा पौरुष इतना निर्मल है। वही तुम आज यहाँ वीरवृत्ति का त्याग कर

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं । हे परंतप * ! तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्यागकर तू उठ खड़ा हो ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! क्योंकि उक्त मलिनता या कायरपन पुरुष के लिए हानिकारक होते हैं, इसलिए तू इस कायरता (बुज़दिली या नपुंसकता) को मत प्राप्त हो, यह तेरे-जैसे शूरवीर के योग्य नहीं, अर्थात् तेरे-जैसे प्रसिद्ध योद्धा में न यह कायरपन शोभा देता है और न घटता उचित दिखाई देता है। इसलिए अपने हृदय की यह तुच्छ (कमीनी, नीच) दुर्बलता को तू छोड़, और हे शत्रुओं को तपानेवाले (अर्जुन) ! तू युद्ध के लिए उठ खड़ा हो ॥ ३ ॥ †

मुँह नीचा कर रोते हुए बैठे हो । विचार करो कि तुमको अर्थात् अर्जुन को करुणा से दीन हो जाना चाहिए क्या ? कहो, कभी अंधकार ने सूर्य का ग्रास किया है ? अथवा वायु कभी मेघों से डरता है ? अमृत को कभी मरण आता है ? और देखो, इंधन कभी आग को जलाता है ? लवण से कभी पानी पिघलता है ? किसी पदार्थ के संसर्ग से कभी कालकूट विष मरा है ? अथवा कहो कभी दादुर ने साँप को खाया है ? सिंह के साथ सियार लड़ सके, ऐसी बराबरी कभी हुई है ? पर यह बातें आज तुम सच कर बता रहे हो । इसलिए हे अर्जुन ! अब भी इस अयोग्य बात को चित्त में मत आने दो और जल्दी से मन में धीरज धर सावधान होओ । यह मूर्खता छोड़ दो । धनुषबाण लेकर उठो । संग्राम के समय कारुण्य किस काम का है ? अजी तुम ज्ञानी हो तो विचार क्यों नहीं करते ? कहो युद्ध के समय सदयता उचित है क्या ? यह प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश करती है और इससे परलोक भी हाथ नहीं आता ।”

* परंतप का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

† न सन्तापस्त्वया कार्यः प्रकृतेनेव कर्हिचित् ।
नहि सन्ताप कालोऽयं वेद्यस्य तव विद्यते ॥

संबंध—भगवान् के उक्त वचन पर अर्जुन जो विनय करता है, उसे सविस्तर संजय अब धृतराष्ट्र को सुनाता है—

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

कथं[२], भीष्मं[३],	हे मधुसूदन[१] !	इषुभिः[५], प्रति-	हे शत्रुओं[१] को मारनेवाले[२]
अहं[६], संख्ये,[७]	कैसे[२] भीष्म[३] और[४]	योत्स्यामि[६],	(कृष्णजी) !
द्रोणं[५], च[४],	द्रोण[५] को मैं[६]	पूजा[३]-अर्हौ[४],	पूजा[३] के योग्य[४] (दोनों) को
मधुसूदन[१]	युद्ध[७] में	अरि[१]-सूदन[२]	बाणों[५] से सामना[६] करूँ

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे मधुसूदन * ! हे अरिसूदन * ! युद्ध में पूजा के योग्य भीष्म और द्रोण का कैसे मैं बाणों से सामना करूँ ? ॥ ४ ॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—हे मधु दैत्य के मारनेवाले ! तथा हे शत्रुओं के नाश करनेवाले भगवान् कृष्णचंद्रजी ! पुष्पों से पूजा

अर्थ—साधारण पुरुषों के समान शोक करना कभी तुझे योग्य नहीं है। यह शोक करने का समय नहीं है। तू विद्वान् है।
(म० भा० १, १६०, १)

* मधुसूदन और अरिसूदन का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

के योग्य जो भीष्मपितामहजी और द्रोणाचार्यजी हैं, इनके साथ तो वाणी (वचन) से भी लड़ना महापाप, अयोग्य और शास्त्र-विरुद्ध है, फिर इस रणभूमि में इनके साथ तीक्ष्ण बाणों से मैं कैसे लड़ूँ ? अर्थात् इनके साथ बाणों से युद्ध करना मेरे लिए किंचित् भी उचित नहीं है ॥ ४ ॥ *

और—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं
भैक्ष्यमपीहलोके । हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरून्^{2}, अ^{3}हत्वा^{4}, हि^{5}, महानुभावान्^{1}	महानुभावी^{1} गुरुओं^{2} को न^{3} मारकर^{4} निःसंदेह^{5}	हत्वा^{5}, अर्थ^{2}-कामान्^{3}, तु^{1} गुरून्^{4}, इह^{6}, एव^{7}	और^{1} अर्थ^{2} की कामनावाले^{3} गुरुओं^{4} को मार^{5}-कर इस^{6} लोक (जन्म) में ही^{7}
श्रेयः^{6}, भोक्तुं^{5}, भैक्ष्यं^{3}, अपि^{4}, इह^{1}, लोके^{2}	इस^{1} लोक^{2} में (यहाँ) भिक्षा^{3} का अन्न ही^{4} खाना^{5} श्रेष्ठ^{6} है	भुञ्जीय^{4}, भोगान्^{3}, रुधिर^{1}-प्रदिग्धान्^{2}	रुधिर^{1} से लिबड़े^{2} हुए भोगों^{3} को क्या भोगूँ^{4} ?

अन्वयार्थ—महानुभावी गुरुओं को न मारकर इस लोक में

---

* धर्म-शास्त्र का वाक्य है—"गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः । श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ॥" अर्थ—जो पुरुष अपने गुरु से हुंकार वा तुंकार शब्द कहकर उनका निरादर करता है अथवा साधु ब्राह्मण को विवाद से जय करता है, वह मरकर श्मशान-भूमि में वृक्ष का जन्म पाता है जिस (वृक्ष) पर काग और गृध्र (गिद्ध) पक्षी निवास करते हैं ।

निःसंदेह भिक्षा का अन्न ही खाना श्रेष्ठ है। अर्थ की कामनावाले गुरुओं को मारकर क्या मैं यहाँ ही रुधिर-लिप्त भोगों को भोगूँ?॥ ५ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! यद्यपि क्षत्रिय के लिए भीख माँगकर खाना अत्यंत निषिद्ध है, तथापि भीष्म-द्रोणाचार्य जैसे महाप्रतापी, पुण्यशील तथा पूजनीय महानुभावों वा गुरुओं को मारकर ऐश्वर्य भोगने की अपेक्षा यदि इस लोक में (अर्थात् यहाँ) मुझे भिक्षा से ही निर्वाह करना पड़े, तो निःसंदेह भिक्षा का अन्न खा कर जीना मेरे लिए अति श्रेष्ठ है, पर गुरुओं का मारना कदापि उचित नहीं। और क्या यह उचित है कि इन अर्थ वा धन की कामनावाले * गुरुओं को (जो भीतर से मेरे भी शुभचिंतक हैं) मारकर मैं यहाँ ही रुधिर से लिबड़े हुए भोगों को भोगूँ? अर्थात् मुझे कदापि ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि चाहे ये गुरु और पूजनीय वृद्ध अर्थ-कामना के वशीभूत होकर मुझसे युद्ध में लड़ने को तैयार हुए हैं, तथापि इनको मारकर जब मैं यहाँ राज्य के भोग भोगूँगा तो वे (भोग) पहले इन महापुरुषों के रुधिर से सींचे सरीखे होंगे (क्योंकि विना इनका रुधिर बहाये वे भोग प्राप्त नहीं होंगे); फिर इस भयंकर तथा अयोग्य कर्म से

इस शास्त्र-वाक्य से जब गुरु को कठोर वाणी कहना भी अधर्म है तो बाणों से लड़ना कैसे धर्म हो सकता है। इस शास्त्र-प्रमाण को सम्मुख रखकर अर्जुन युद्ध करना अनुचित सिद्ध कर रहा है।

* भीष्मादि की धन-कामना महाभारत में प्रसिद्ध है। युद्ध छिड़ने से पहले जब युधिष्ठिरजी अपना कवच उतारकर रणांगण में भीष्म, द्रोण और शल्य के पास उनकी पाद-वंदना कर उनका आशीर्वाद लेने गये, तब इन सबने आप ही दुर्योधन की ओर से लड़ने का कारण युधिष्ठिर को ऐसे कहा—"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति

मुझे केवल विषय-भोग की प्राप्ति होगी, मोक्ष की नहीं, और वह प्राप्ति भी केवल इस लोक में ही होगी, न कि परलोक में ॥ ५ ॥ *

और—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः । यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।"—हे महाराज युधिष्ठिर ! यह पुरुष अपने अर्थ का दास है, परंतु अर्थ किसी का दास नहीं, यह जो शास्त्र इत्यादि में कहा गया है सो सत्य है । इस प्रकार मैं भी अर्थ के कारण कौरवों के साथ बँधा हुआ हूँ । यद्यपि भीष्म-द्रोणादि ने दुर्योधन का अन्न खाया हुआ था जिसके कारण वे सब उसकी ओर से लड़ते थे, तथापि भीतर से वे पांडवों के शुभचिंतक अवश्य थे । कई बार उन्होंने कहा भी कि पांडवों को उनका राज्य वापस दिया जाय । और लड़ाई में भी हृदय से उनके शुभचिंतक रहे (देखो महाभारत, भीष्मपर्व अध्याय ४३ आदि) इसलिए 'अर्थकामान्' के अर्थ "पांडवों के शुभचिंतक" भी कुछ टीकाकारों ने किये हैं ।

* "गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ।"=जो गुरु अहंकारादि दोषों से उन्मत्त हो गया हो, और जो शास्त्र-विहित (करने योग्य) अर्थ वा कार्य को तथा शास्त्र-निषिद्ध (न करने योग्य) अर्थ वा कार्य को जानता न हो, और जो (शास्त्र-विहित मार्ग को छोड़कर) शास्त्र-निषिद्ध मार्ग में प्रवृत्त हो गया हो, ऐसे गुरु को त्याग देना चाहिए—ऐसा धर्म-शास्त्र में लिखा है । और द्रोणाचार्यादि अधर्म देखते हुए भी केवल धन-कामना के वशीभूत हुए अधर्म के पक्ष

न^{2}, च^{1}, एतत्^{3}, विद्मः^{4}	और^{1} न^{2} हम यह^{3} जानते^{4} हैं
कतरत्^{1}, नः^{2} गरीयः^{3},	कौन^{1} सी हमारे^{2} लिए श्रेष्ठ^{3} बात है (या हम^{2} मेंसे कौन^{1}सा प्रबल^{3} है)
यद्वा^{1},जयेम^{2}, यदि^{3}, वा^{3}, नः^{4}, जयेयुः^{5}	किंवा^{1} (आया) हम जीतें^{2} (या जीतेंगे) अथवा^{3} वे हमें^{4} जीतें^{5} (या जीतेंगे)

यान्^{1}, एव^{3}, हत्वा^{2}, न^{4}, जिजीविषामः^{5}	जिनको^{1} मार^{2} कर हम ही^{3} नहीं^{4} जीना चाहते^{5} हैं
ते^{1}, अवस्थित- ताः^{4}, प्रमुखे^{3}, धार्तराष्ट्राः^{2}	वे^{1} धृतराष्ट्र^{2} के पुत्र सामने^{3} (मुक़ाबले में) खड़े^{4} हैं

पहला अन्वयार्थ—और न हम यह जानते हैं कि कौन सी बात हमारे लिए अच्छी है, आया यह कि हम (उनको) जीतें या यह कि वे (हमको) जीतें। जिनको मारकर हम जीना ही नहीं चाहते, वे धृतराष्ट्र के पुत्र सामने (लड़ने को) खड़े हैं ॥ ६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—और न हम यह जानते हैं कि हम में से कौन सा प्रबल है, आया हम उन्हें जीतेंगे, या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना ही नहीं चाहते, वे धृतराष्ट्र के पुत्र सब सम्मुख (लड़ने के लिए) खड़े हैं ॥ ६ ॥ *

में लड़ने लगे थे जिससे उनको त्यागना और उनसे युद्ध करना धर्म-शास्त्र के अनुसार था; परंतु अर्जुन इस उक्त धर्म-शास्त्र की आज्ञा को भूलता हुआ अथवा न जानता हुआ भीष्म और द्रोण के साथ लड़ना अधर्म समझता है, जो उसकी नितांत भूल और मूर्खता है।

* बहुत टीकाकारों ने पहले अर्थ दिये हैं और थोड़ों ने दूसरे अर्थ। परंतु दोनों ही अर्थ अपने-अपने स्थान पर उत्तम और ठीक बैठते हैं (यद्यपि हमारे ख़्याल में दूसरे अर्थ अधिक युक्त हैं), इसलिए दोनों ही यहाँ दे दिये गये हैं।

व्याख्या –(१) और हे भगवन् ! न मैं यह जानता हूँ कि मेरे लिए भिक्षा माँगकर खाना, तथा युद्ध करना इन दोनों में से कौन सा धर्म श्रेष्ठ है। आया यह कि हम उनको मारकर युद्ध जीतें और राज्य को पाकर ऐश्वर्य भोगें, या यह कि वे हमको जीत लें और हम उन गुरुओं को मारने की अपेक्षा भिक्षा-अन्न से ही निर्वाह करना श्रेष्ठ समझें।

अथवा (२) न मैं यह जानता हूँ कि मुझे युद्ध करना श्रेष्ठ है, या न युद्ध करना उचित है। और जो कदाचित् हम युद्ध में प्रवृत्त भी हों तो हमें यह भी ठीक पता नहीं कि हम (पांडव) उन (कौरवों) को जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे।

अथवा (३) न हम यह जानते हैं कि हम में से कौन सा प्रबल (ज़बरदस्त) है, अर्थात् हम में से कौन सा (पलड़ा) भारी है। आया हम उनको जीत लेंगे या वे हमको जीत लेंगे।

परंतु जिनको मार हम जीना ही नहीं चाहते, वे दुर्योधनादि तो सामने (मुक़ाबले में) खड़े हैं ॥ ६ ॥ *

संबंध—जब मारे मोह के अर्जुन का दुःखित चित्त उचित और अनुचित न पहचान सका, तो भगवान् की शरण लेकर अब वह विनयपूर्वक ऐसी प्रार्थना करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म-
संमूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

---

* सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान् ।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे (म. भा. १२, १, १५)

कार्पण्य^{1}-दोष^{2}-उपहत^{3}-स्वभाव^{4}:	कृपणता^{1} के दोष^{2} से दबे^{3} हुए स्वभाव^{4}-वाला
पृच्छामि^{5}, त्वां^{4}, धर्म^{1}-संमूढ^{2}-चेता^{3}:	धर्म^{1} विषय में मूढ़^{2} चित्त^{3}वाला मैं तुझे^{4} (आपको) पूछता^{5} हूँ
यत्^{1}, श्रेयः^{2}, स्यात्^{3}, निश्चितं^{5}, ब्रूहि^{7}, तत्^{4}, मे^{6}	जो^{1} श्रेष्ठ^{2} हो^{3} वह^{4} निश्चित^{5} मुझे^{6} कहो^{7}(वा कहिए)।
शिष्यः^{3}, ते^{2}, अहं^{1}	मैं^{1} तेरा^{2}(आपका^{2}) शिष्य^{3} हूँ
शाधि^{2}, मां^{1}, त्वां^{3}, प्रपन्नं^{4}	मुझे^{1} शिक्षा^{2} दो, तुमको^{3} (आपकी शरण) प्राप्त^{4} हुआ हूँ

अन्वयार्थ—कृपणता के दोष से दबे हुए स्वभाववाला और धर्म-विषय मूढ़ चित्तवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो (मेरे लिए) श्रेष्ठ हो वह निश्चित मुझे कहिए। मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण प्राप्त हुआ हूँ, मुझे शिक्षा दीजिए ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! कृपणता * (हृदय की दीनता, बुज़दिली वा नपुंसकता, जो आत्मज्ञान के न होने से उत्पन्न हो आती है) ने मेरे क्षत्रिय-स्वभाव (शौर्य, तेज और धैर्य आदि) को दबा लिया है,

---

अर्थ—सुभद्रा और द्रौपदी के प्रिय पुत्रों के मारे जाने से, हे भगवन्! यह जीत मुझे हार के समान प्रतीत होती है।

*** "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः"=हे गार्गि! जो प्राणी इस अक्षर आत्मा को बिना जाने हुए इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) ही है (बृहदारण्यक उप० अ० ३ ब्रा० ८ मं० १०)। कृपणोऽजितेन्द्रियः=जिसने अपनी इंद्रियाँ नहीं जीती हुई हैं, वह कृपण है (स्मृति)। इस प्रकार कृपणता के अर्थ (आत्मा के अज्ञान के कारण) मन की दीनता, विवशी (बेबसी की) अवस्था, हृदय की दुर्बलता और अज्ञान-जन्य दया है।**

अर्थात् मुझे अपने वश में कर लिया है, जिससे मेरा चित्त अब धर्म (कर्त्तव्याकर्त्तव्य) की विवेचना नहीं कर सकता, अर्थात् मारे मोह के अब मेरे चित्त को धर्म की भी खबर नहीं। इसलिए आपकी शरण लेता हूँ और पूछता हूँ कि जो भी मेरे लिए श्रेष्ठ (कर्त्तव्य) हो वह निश्चय करके मुझे आप कहिए। मैं आपका अब शिष्य हूँ (इस समय आपका सखा नहीं हूँ), आप कृपा करके मुझे शिक्षा दें ॥७॥

संबंध--अपनी उक्त प्रार्थना का हेतु अर्जुन अब भगवान् के आगे और भी स्पष्ट करता है—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

न^{२}, हि^{१}, प्रपश्यामि^{३}	क्योंकि^{१} (निःसंदेह^{१}) मैं नहीं^{२} देखता^{३} हूँ
मम^{२}, अपनुद्यात्^{६}, यत्^{१}, शोकं^{५}, उच्छोषणं^{४}, इन्द्रियाणाम्^{३}	जो^{१} मेरे^{२} इंद्रियों^{३} के सुखानेवाले^{४} शोक^{५} को दूर^{६} करे
अवाप्य^{१०}, भूमौ^{१}, अ^{३}-सपत्नं^{२}, ऋद्धं^{४}, राज्यं^{५}, सुराणां^{७}, अपि^{८}, च^{६}, आधिपत्यं^{९}	पृथिवी^{१} पर शत्रु^{२}-रहित^{३} (निष्कंटक) समृद्ध^{४} (पदार्थों^{४} से भराहुआ) राज्य^{५} और^{६} देवताओं^{७} के भी^{८} आधिपत्य^{९} को पाकर^{१०}

अन्वयार्थ---क्योंकि पृथिवी पर निष्कंटक और पदार्थों से भरा हुआ राज्य तथा देवताओं के आधिपत्य को पाकर भी मैं ऐसा कोई नहीं देखता हूँ कि जो मेरे इंद्रियों के सुखानेवाले शोक को दूर करे ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आपसे शिक्षा लेने का और बड़ा कारण यह है कि पृथिवी पर यदि मुझे निष्कंटक तथा धन-धान्य आदि पदार्थों से भरा हुआ राज्य और देवताओं के स्वामी इंद्र की

पदवी मिल जाय, तो भी मैं ऐसा कोई पुरुष या उपाय नहीं देखता हूँ कि जो आपके विना मेरे इस इंद्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके ॥ ८ ॥ *

संबंध--उक्त प्रश्नोत्तर के अंतिम परिणाम को संजय अब राजा धृतराष्ट्र से कहता है—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

एवं[2], उक्त्वा[3], † हृषीकेशं[1]	हृषीकेश[1] को ऐसा[2] कह[3] कर	न[1], योत्स्ये[2], इति[3]	मैं नहीं[1] युद्ध करूँगा[2], ऐसा[3]
† गुडाकेशः[1], † परन्तपः[2]	जित[1]निद्रा अर्जुन[2]	गोविन्दं[1], † उक्त्वा[2]	गोविंद[1] (कृष्ण[1]) को कह[2]कर
		तूष्णीं[1], वभूव[2], ह	चुप[1] हो गया[2]

---

* त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान्कश्चित्प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः ॥
(म० भा० १२, ७, ८)

अर्थ—तीनों लोकों के राज्य से भी कोई हमें प्रसन्न नहीं कर सकता है, तो फिर बांधव-वध को देखकर हम पृथिवी-विजय की चाह क्या कर सकते हैं ।

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः ।
प्रीणयन्ति मनोमेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥

अर्थ—हे राजन् ! आज मेरा मन शोक से बहुत दुःखित हो रहा है, इसलिए यह पृथिवी का राज्य और नाना प्रकार के अनेक भोगों से भी मुझे प्रसन्नता नहीं होती है ।

† हृषीकेश, गुडाकेश, परंतप और गोविंद के सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

अन्वयार्थ—संजय बोला——हृषीकेश को ऐसा कहकर तब जितनिद्रा अर्जुन श्रीकृष्ण से यह बोला कि “ मैं युद्ध नहीं करूँगा ” और चुप हो गया ॥ ९ ॥

व्याख्या—संजय बोला——हे धृतराष्ट्रजी! जब निद्रा को जीतनेवाले तथा शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ने इंद्रियों के मालिक भगवान् कृष्णचंद्र से ऐसा कहा कि ‘मैं विना आपके और कोई उपाय अपने शोक के दूर करनेवाला नहीं देखता हूँ, इत्यादि।” अथवा जब श्लोक ४ से ८ तक के वचनों द्वारा अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होने की अयोग्यता कथन कर चुका, तो फिर अंतर्यामी (या वेदवित्) भगवान् से वह यह बोला कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, और ऐसा कहकर चुप हो गया ॥ ९ ॥

संबंध——अर्जुन के चुप होने पर भगवान् अब जो उससे कहते हैं, उसे संजय धृतराष्ट्र को सुनाता है—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १० ॥

तं^{५}, उवाच^{६}, हृषीकेशः^{२}, प्रहसन्^{४}, इव^{३}, भारत^{१}	हे धृतराष्ट्र^{१}! हृषीकेशजी^{२} मानों^{३} हँसते^{४} हुए (मुसकराते हुए) उस^{५} (अर्जुन) को बोले^{६}	सेनयोः^{२}, उभयोः^{१}, मध्ये^{३}	दोनों^{१} सेनाओं^{२} के बीच^{३} में
		विषीदन्तं^{१}, इदं^{२}, वचः^{३}	दुःखी^{१} को यह^{२} वचन^{३} (बोले)

अन्वयार्थ——हे धृतराष्ट्र ! हृषीकेश उस दुःखी (अर्जुन) को दोनों सेनाओं के मध्य में मानों हँसते हुए ये वचन बोले ॥ १० ॥

व्याख्या—संजय ने कहा--हे भरत की संतान राजा धृतराष्ट्रजी! जब अर्जुन यह कहकर (कि मैं युद्ध नहीं करूँगा) चुप बैठ गया, तो इंद्रियों के मालिक वा प्रवर्त्तक भगवान् कृष्णचंद्र ने उस अत्यंत दुःखी वा उदासीन अर्जुन को दोनों सेनाओं के बीच में मानों हँसते * (मुसकराते) हुए ये वचन (जो आगे वर्णित हैं) बोले ॥ १० ॥

संबंध—अब यहाँ से भगवान् अपना उपदेश-रूप वचन आरंभ करते हैं, जो गीता-शास्त्र का प्रारंभ है—

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अ^{1}-शोच्यान्^{2}, अनु^{4}-अशोचः, त्वं^{3}	न^{1} शोक^{2} करने के योग्य उनका तू^{3} शोक^{4} करता है	ग^{1}त-अ^{2}सून्, अ^{4}-गत^{5}- अ^{6}सून्, च^{3}	गये^{1} हुओं^{2} (मृतक) और^{3} न^{4} गये^{5} हुओं^{6} (जीवित) का
प्र^{2}ज्ञा-वा^{3}दान्, च^{1}, भाष^{4}से	और^{1} पंडिताई^{2} की बातें^{3} कहता^{4} है	न^{2} अ^{3}नुशोचन्ति, पण्डिता^{1}ः	पंडित^{1} न^{2}हीं शोक^{3} करते हैं

अन्वयार्थ---श्रीभगवान् बोले—जो शोक करने योग्य नहीं, उनका तू शोक करता है, और पंडितों की सी बातें कहता है।

---

* हँसते हुए से यहाँ दो तात्पर्य हैं—(१) प्रसन्नमुख से, अर्जुन के समान उदास वा क्रुद्ध मुख से नहीं । (२) इस प्रकार हँसते हुए कि जिसको देखकर अर्जुम अपने किये पर लज्जित हो जाय ।

पंडित जन * मरों और जीतों का शोक नहीं करते ॥ ११ ॥ †

व्याख्या—प्रथम अध्याय के श्लोक २६ आदि और इस (द्वितीय) अध्याय के श्लोक ५ के फ़ुटनोटों में यह स्पष्ट दर्शाया जा चुका है कि अर्जुन की सब युक्तियाँ धर्मशास्त्र-विरुद्ध थीं और मारे मोह तथा

---

* "इस श्लोक में कहा गया है कि पंडित लोग प्राणों के जाने या रहने का शोक नहीं करते। इसमें जाने का शोक करना तो मामूली बात है, उसे न करने का उपदेश करना उचित है। पर टीकाकारों ने, प्राण रहने का शोक कैसा और क्यों करना चाहिए, यह शंका करके बहुत कुछ चर्चा की है और कई एकों ने कहा है कि मूर्ख एवं अज्ञानी लोगों का प्राण रहना, यह शोक का ही कारण है। किंतु इतनी बाल की खाल निकालते रहने की अपेक्षा 'शोक करना' शब्द का ही 'भला या बुरा लगाना' अथवा 'परवा करना' ऐसा व्यापक अर्थ करने से कोई भी अड़चन रह नहीं जाती। यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि ज्ञानी पुरुष को दोनों बातें एक ही सी होती हैं।" (श्रीतिलक महाराज)

† इस पर स्वामी हंसस्वरूपजी ऐसे व्याख्या करते हैं—

"भगवान् श्रीकृष्णचंद्र कहते हैं कि हे अर्जुन! बुद्धिमानों को किसी के मरने-जीने का शोक नहीं होता है। क्योंकि यह पंचभौतिक देह जड़ और नश्वर है। आत्मा जो इसके संग विहार करता है वह चैतन्य और अविनाशी है। देह के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होता, जैसे घट के फूट जाने से उसके भीतर के घटाकाश का नाश नहीं होता है। हाँ! इतना तो अवश्य है कि इस जड़ देह की चैतन्य आत्मा के साथ ग्रंथि पड़ गई है, सो गाँठ केवल देखने मात्र है, यथार्थ में नहीं है। 'असु' जो प्राण है यही आत्मा और देह को एक संग कर लेता है, और यही प्राण जब तक इस शरीर में वर्तमान है तब तक प्राणियों की आयु स्थिर रहती है।..........इसी कारण साधारण पुरुष इसी प्राण के निकल जाने का शोक करते हैं; जो ज्ञानी हैं वह इसके रहने वा जाने का कुछ भी शोच नहीं

हृदय की दुर्बलता के वह धर्म को अधर्म, उचित को अनुचित, कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य समझने लग गया था, जिससे दुःखी हुआ नाना प्रकार की युक्तियाँ छाँटता था । उसकी ऐसी दुर्दशा को देख

करते । प्राणियों का देह मध्य में बनता और विनशता रहता है । आत्मा तो सदा सर्वदा एक रस ज्यों का त्यों रहता है । इसलिए इसका शोच करना निरर्थक है ।’’

श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से इस पर इस प्रकार व्याख्या करते हैं——

“भगवान् अर्जुन से कहने लगे कि आज यह जो तुमने बीच ही में (युक्ति प्रमाणादि का शोर) मचा रखा है सो हमें आश्चर्य दिखाई देता है । तुम ज्ञानी कहलाते हो परंतु अज्ञान नहीं छोड़ते, और कुछ सिखलाने चलें तो तुम बहुत कुछ नीति की बातें कहते हो । जन्मांध मनुष्य पागल हो जाय, तो जैसा इधर-उधर मनमाना दौड़ता है, वैसा ही हमें तुम्हारा चातुर्य दिखाई देता है । तुम निज को तो जानते नहीं, परंतु इन कौरवों का शोक किया चाहते हो, यही हमें बार-बार विस्मय होता है । तो कहो, हे अर्जुन ! इस त्रिभुवन का पालन क्या तुम्हीं से होता है ? यह विश्व-रचना अनादि है, सो बात क्या झूठ है ? यहाँ एक ही वस्तु समर्थ (ईश्वर) है, उसी से सब प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं, ऐसा जो जगत् में कहते हैं सो क्या मिथ्या है ? तो क्या ऐसा है कि ये जन्म-मृत्यु तुम्हीं ने बनाये हैं ? और ये क्या तुम्हीं से नाश पावेंगे ? तुम भ्रममूलक अहंकार से यदि इन कौरवों का घात चित्त में न लाओ, तो कहो क्या ये चिरंजीव हो जायँगे ? अथवा तुम्हीं एक मारनेवाले हो और यह सब जग मरनेवाला है ? इस प्रकार का भ्रम कभी चित्त में मत आने दो । यह सब जगत् अनादि काल से सिद्ध है । उत्पन्न होना और नष्ट होना यह उसका स्वभाव ही है । फिर कहो शोक क्यों करना चाहिए ? परंतु मूर्खता के कारण तुम यह नहीं समझते । जिसकी चिंता न करना चाहिए सो करते हो, और तुम्हीं हमें नीति बताते हो । देखो, जो विवेकी होते हैं, वे उत्पत्ति और नाश दोनों बातों का शोक नहीं करते ।’’

कर श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! विचार-दृष्टि से अथवा परमार्थ-तत्त्व से जो शोक किये जाने के योग्य नहीं उनका तो तू शोक कर रहा है और फिर पंडितों वा बुद्धिमानों की सी बातें बना रहा है, यद्यपि आचरण अपंडितों का कर रहा है । ऐ प्यारे ! पंडित लोग मरे हुओं (मृतक) और जीते हुओं (जीवित) पर कदापि शोक नहीं करा करते ॥ ११ ॥ *

---

* यहाँ से गीता-शास्त्र आरंभ होता है । इससे पहले जो कुछ वर्णन हुआ है वह इस शास्त्र के आरंभ का कारण है । पहले अर्जुन स्वयं तो युद्ध के लिए उद्यत हुआ । पर जब रणभूमि में पहुँचा और पूजनीय गुरुओं तथा भीष्मपितामह आदि को देखा, तब झट मोह और शोक इन दोनों के वशीभूत हुआ वह युद्ध से उपराम हो गया और फिर दुःखी होकर रथ पर जा बैठा । आत्मतत्त्व को भूल कर, अथवा आत्मा के अज्ञान से देह के नाश होने पर आत्मा (अर्थात् अपने आप) का नाश समझना और ऐसे ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य अथवा उचित-अनुचित की बुद्धि न होने से धर्मरूप युद्ध को अधर्मरूप समझना, यह दो प्रकार का मोह है, जो अर्जुन को व्याप रहा है । इसी मोह के कारण अनात्म व अनित्य वस्तुओं में अर्जुन का दृढ़ संबंध वा आसक्ति हो रही है, और उन वस्तुओं के टूटने से इस संबंध (स्नेह) के टूटने की चिंता, यह उसका शोक है, जिसमें वह डूबकर दुःखी हो रहा है, और इसी हेतु से अपने आपको युद्ध करने के नितांत असमर्थ समझ रहा है । चित्त की ऐसी दुःखी, निर्बल और शोकातुर अवस्था में अर्जुन अपने कल्याणार्थ भगवान् की शरण लेता है, और उचित शिक्षा वा उपदेश के लिए प्रार्थना करता है, जिस पर यह गीता-शास्त्र आरंभ होता है । यह उपदेश यदि विचारा जाय तो केवल अर्जुन के लिए नहीं किंतु सबके लिए उपयोगी है, क्योंकि संसार में सबका बहुधा ऐसा ही हाल है, बल्कि बहुत तो इससे भी गिरी हुई अवस्था में हैं ।

(इससे आगे पृष्ठ १८४ पर फ़ुटनोट देखो)

संबंध--अर्जुन की पंडिताई की व्यर्थता दर्शाकर अब भगवान् दो श्लोकों में उसके शोक की व्यर्थता दर्शाते हैं--

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न^{3}, तु^{1}, एवं^{2}=और^{1} ऐसा^{2} नहीं^{3}	
अहं^{1}, जातु^{2}, न^{3}, आसं^{4}	मैं^{1} कभी^{2} न^{3} था^{4}
न^{1}, त्वं^{2}, न^{3}, इमे^{4}, जन^{5}-अधिपाः^{6}	न^{1} तू^{2}, न^{3} ये^{4} मनुष्यों^{5} के राजा^{6} लोग
न^{2}, च^{1}, एव^{3}=और^{1} न^{2} ऐसा^{3}	
न^{1}, भविष्यामः^{2}=आगे न^{1} होंगे^{2}	
सर्वे^{2}, वयं^{1}, अतः^{3}, परं^{4}	हम^{1} सब^{2} इससे^{3} आगे^{4}

यह स्पष्ट है कि विना मोह और शोक की निवृत्ति के चित्त को शांति प्राप्त नहीं होती। और मोह तथा शोक परस्पर कारण-कार्य संबंध रखते हैं। जब तक मोह (बेसमझी, भूल वा अनात्म वस्तुओं में आसक्ति वा अध्यास) की निवृत्ति नहीं होती, तब तक शोक का नितांत निवृत्त होना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है। और मोह जो अज्ञान का कार्य अथवा स्वयं अज्ञान का रूप है उसकी निवृत्ति, जिस पर कि शोक की निवृत्ति निर्भर है, केवल तत्वज्ञान से ही हो सकती है। इसलिए भगवान् सबसे पहले अर्जुन को तत्त्वज्ञान का उपदेश देने लगे हैं। परंतु इस तत्त्वोपदेश के आरंभ करने से पहले अर्जुन की युक्तियाँ व्यर्थ दर्शाने और उसे अपनी बुद्धि पर लज्जित करने के लिए भगवान् उसे ऐसा कहते हैं कि--"जिन बातों वा पुरुषों पर शोक नहीं करना चाहिए, उन पर तो तू शोक करता है और फिर पंडिताई की सी बातें हाँकता है। भला पंडित लोग भी कभी ऐसा करते हैं? कदापि नहीं। वे तो उल्टा (मृतक और जीवित पर) शोक करते ही नहीं, बल्कि जन्म-मरण, उत्पत्ति-नाश और जय-पराजय आदि सब अवस्थाओं में अपनी तत्त्व-दृष्टि के कारण नित्य सम, शांत, प्रसन्न, निर्भय और अचल रहते हैं।" (टीकाकार)

अन्वयार्थ—और ऐसा नहीं कि मैं कभी न था, (या) तू न था, (या) ये राजा लोग न थे । और न ऐसा कि हम सब इससे आगे न होंगे ॥ १२ ॥

व्याख्या—और हे अर्जुन ! क्या तेरे ख़्याल में मैं या तू या ये राजा लोग इस जन्म से पहले न थे ? और क्या हम सब इससे आगे अर्थात् इस जन्म के पश्चात् न होंगे ? यदि ऐसा तेरा ख़्याल है, तो ठीक नहीं। हम तो अनादि काल से चले आ रहे हैं और नित्य रहेंगे, क्योंकि देह के नाश होने पर वास्तव में हमारा नाश नहीं हुआ करता, और न हम कहीं आते-जाते होते हैं, यद्यपि एक देह के छूटने से और दूसरे देह की प्राप्ति के कारण हम आते-जाते दिखाई देते हैं। और यही अज्ञानी पुरुष को भ्रम है जो उसे नित्य दुःखी और भयभीत रखता है ॥ १२ ॥*

---

* श्रीतिलक महाराज इस पर श्रीरामानुज भाष्य के संबंध में ऐसे टीका करते हैं—

"इस श्लोक पर रामानुज भाष्य में जो टीका है, उसमें लिखा है—इस श्लोक से ऐसा सिद्ध होता है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और 'तू' एवं 'राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, दोनों यदि पहले (अतीतकाल में) थे और आगे होनेवाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा, दोनों ही पृथक् स्वतंत्र और नित्य हैं । किंतु यह अनुमान ठीक नहीं है, सांप्रदायिक आग्रह का है । क्योंकि इस स्थान पर प्रतिपाद्य इतना ही है कि सभी नित्य हैं ; उनका पारस्परिक संबंध यहाँ बतलाया नहीं है, और बतलाने की कोई आवश्यकता भी न थी । जहाँ वैसा प्रसंग आया है, वहाँ गीता में ही ऐसा अद्वैत सिद्धांत (गीता ८, ४ ; १३, ३१ में) स्पष्ट रीति से बतला दिया है कि समस्त प्राणियों के शरीरों में देहधारी आत्मा मैं अर्थात् एक ही परमेश्वर हूँ ।" (इससे आगे पृष्ठ १८६ पर फ़ुटनोट देखो)

संबंध—इस शरीर के छूटने के पीछे भी प्रायः हम सब कैसे रहते हैं, इसे भगवान् अब दृष्टांत से समझाते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहिनः[2] अस्मिन्[3], यथा[1], देहे[4], कौमारं[5], यौवनं[6], जरा[7]	जैसे[1] देही[2] का इस[3] देह[4] में लड़कपन[5] (बचपन), जवानी[6] और बुढ़ापा[7] होता है	तथा[1], देह[3]-अन्तर[2], प्राप्तिः[4]	वैसे[1] दूसरे[2] देह[3] की प्राप्ति[4]
		धीरः[2], तत्र[1], न[3], मुह्यति[4]	उसमें[1] (विषय) में धीर[2] पुरुष धोखा[4] नहीं[3] खाता है (या नहीं[3] घबराता[4] है)

अन्वयार्थ—जैसे देही का इस देह में लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा (होता है), वैसे दूसरे देह की प्राप्ति। धीर पुरुष उसमें मोहता नहीं है ॥ १३ ॥

श्रीज्ञानदेवजी विचित्र ढंग से इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं—

"हे अर्जुन ! मैं कहता हूँ सो सुनो। यहाँ हम तुम, और ये सब राजागण इत्यादि सर्वदा ऐसे ही रहेंगे अथवा निश्चय से क्षय को प्राप्त होवेंगे, ये दोनों बातें भ्रांति छोड़ सत्य नहीं हैं। उत्पत्ति अथवा नाश जो दिखाई देता है सो माया के कारण से। वास्तव में जो परब्रह्म है सो अविनाशी ही है। जैसे वायु से जब पानी हिलता और तरंगाकार हो जाता है, तब कहाँ और किसकी उत्पत्ति होती है ? और जब वायु का स्फुरण बंद हो जाता है और पानी आप ही स्थिर हो जाता है, तब किस बात का लय हो जाता है, विचारो भला।"

व्याख्या—हे अर्जुन! देहधारी (जीव) जैसे इस देह में रहता हुआ बालपन, जवानी और बुढ़ापा अनुभव करता है, वैसे दूसरे देह की प्राप्ति को अनुभव करता है। अथवा देहधारी की जैसे इस देह में लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा कहे जाते हैं, पर वास्तव में ये तीनों अवस्थाएँ देह की होती हैं, देही की नहीं, और न इन अवस्थाओं के घटने, बढ़ने या नाश होने पर देही घटता-बढ़ता या नाश होता है, वैसे ही उसको दूसरे देह की प्राप्ति कही जाती है। अर्थात् देही को बालपन इत्यादि के समान ही दूसरे देह की प्राप्ति होती है; परंतु वह स्वयं नित्य अचल, निर्विकार और अविनाशी रहता है। ऐसा मूढ़ पुरुष नहीं जानते जिससे वे धोखा खाते और दुःखी होते हैं, परंतु आत्मवेत्ता धीर पुरुष इस तत्त्व को भले प्रकार जानते हैं जिससे वे इस विषय में धोखा नहीं खाते, और न एक देह के नाश होने पर अथवा नये के प्राप्त होने पर किंचित्-मात्र भी घबराते या शोक करते हैं॥ १३ ॥*

---

* श्रीतिलक महाराज इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं—

"अर्जुन के मन में यही तो डर या मोह था कि "अमुक को मैं कैसे मारूँ"। इसलिए उसे दूर करने के निमित्त तत्त्व की दृष्टि से भगवान् पहले इसी का विचार बतलाते हैं कि मरना क्या है और मारना क्या है (श्लोक ११ से ३० तक)। मनुष्य केवल देहरूपी निरी वस्तु ही नहीं है, वरन् देह और आत्मा का समुच्चय है। इनमें 'मैं'—अहंकाररूप से व्यक्त होनेवाला आत्मा नित्य और अमर है। वह आज है, कल था, और कल भी रहेगा ही। अतएव मरना या मारना शब्द उसके लिए उपयुक्त ही नहीं किये जा सकते और उसका शोक भी न करना चाहिए। अब बाक़ी रह गई देह, सो यह प्रकट ही है कि वह अनित्य और नाशवान् है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो सौ वर्ष में सही, उसका तो नाश होने ही को है—"अद्यवाब्द शतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः (भाग० १०, १, ३८);

संबंध—(१) इस प्रकार अर्जुन की पंडिताई और शोक की व्यर्थता दर्शाकर अब भगवान् उसे निम्नलिखित रूप से उपदेश करते हैं—

अथवा (२) आत्मा के विचार से शोक न करने पर भी शरीरादि के संबंध से जो सुख-दुःख होते हैं, उसका क्या किया जाय, इसके उत्तर में या इस शंका के निवारणार्थ भगवान् अब ऐसे कहते हैं कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रा-स्पर्शाः, तु, कौन्तेय	और हे अर्जुन मात्राओं के संबंध	आगम-अपायिनः, अनित्याः	आने जानेवाले और अनित्य हैं
शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः	सर्दी गरमी, सुख दुःख के देने वाले	तान्, तितिक्षस्व, भारत	हे भारत! उनको तू सहन कर

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मात्राओं * के संबंध सर्दी-गरमी और

और एक देह छूट भी गई, तो कर्मों के अनुसार आगे दूसरी देह मिले विना नहीं रहती, अतएव उसका भी शोक करना उचित नहीं। सारांश, देह या आत्मा, दोनों दृष्टियों से विचार करें तो सिद्ध होता है कि मरे हुए का शोक करना पागलपन है । पागलपन भले ही हो, पर यह अवश्य बतलाना चाहिए कि वर्तमान देह का नाश होते समय जो क्लेश होते हैं, उनके लिए शोक क्यों न करें । अतएव अब भगवान् इन कायिक सुख-दुःखों का स्वरूप बतलाकर दिखलाते हैं कि उनका भी शोक करना उचित नहीं है ।"

* जिनसे विषय जाने जायँ, उनका नाम मात्रा है, अर्थात् नेत्रादि इंद्रिय; और इन नेत्रादि इंद्रियों का रूपादि विषयों के साथ संबंध मात्रास्पर्श कहलाता है । अथवा नेत्रादि इंद्रिय-जन्य विषयाकार (अंतःकरण की) वृत्तियाँ मात्रास्पर्श कहलाती हैं । अथवा कौषीतकि उपनिषद् में वागादि दस इंद्रियों को प्रज्ञामात्रा और नामादि दस विषयों को भूतमात्रा कहा है,

सुख-दुःख के देनेवाले हैं, (वे सब) आने-जानेवाले और अनित्य हैं। (इसलिए) हे भारत ! तू उनको सहन कर ॥ १४ ॥

व्याख्या—और हे कुंती-पुत्र अर्जुन ! यह जो अंतःकरण की वृत्ति अथवा इंद्रियरूप मात्रा का विषयों के साथ संबंध है, यह मनुष्य को सर्दी-गरमी और सुख-दुःख देता है. ऐसा मात्रास्पर्श का स्वभाव है। और ये मात्रास्पर्श एकरस वा नित्य नहीं किंतु आने-जानेवाले और अनित्य हैं, जिससे इनके कार्य "शीत-उष्ण वा सुख-दुःख" भी अनित्य और उत्पत्ति-नाशवाले हैं। जब तक अंतःकरण वा इंद्रियों का विषयों के साथ संबंध है, तब तक ये सर्दी-गरमी आदि द्वंद्व उपजते ही रहते हैं। जैसे-जैसे अंतःकरणादि में विकार उत्पन्न होता है, वैसे-वैसे इनमें भी होता रहता है। पर ये शीतोष्णादि विकार अंतःकरण का कार्य होने से अपने कारण अंतःकरण पर ही अपना प्रभाव डालते हैं. आत्मा (देही) पर कदापि नहीं; क्योंकि वह नित्य, अविनाशी और निर्विकार है। इस प्रकार ये मात्रास्पर्श और उनके कार्य सुख-दुःख आदि देही का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। इसलिए हे भरत की संतान अर्जुन ! इनको तू बहादुरी से सहन कर, अर्थात् इनकी उत्पत्ति वा नाश तथा

इन इंद्रिय-विषयरूप मात्राओं के जो परस्पर विषय-विषयीभाव रूप संबंध हैं, उनका नाम मात्रास्पर्श है। अथवा इंद्रियों से परे जो परमाता रूप अंतःकरण है, उसका नाम मात्रा है, और इस अंतःकरणरूप मात्रा का विषयों वा इंद्रियों से संबंध मात्रास्पर्श कहलाता है। ये सब संबंध सर्दी-गरमी वा सुख-दुःख के देनेवाले तथा आने-जानेवाले होते हैं, ऐसा इनका स्वभाव है। इनसे आत्मा का कुछ बिगड़ता नहीं। ज्ञानवान् इनके स्वभाव को जानकर इनसे चलायमान नहीं होता। (टीकाकार)

प्राप्ति वा अप्राप्ति पर हर्ष, शोक और मोह मत कर ॥ १४ ॥ ※

संबंध—अब शीत-उष्णादि के सहन करने के फल भगवान् वर्णन करते हैं, ताकि अर्जुन के चित्त में उक्त उपदेश घर कर ले—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

यं[2], हि[1], न[5], व्यथयन्ति[6], एते[4], पुरुषं[3], पुरुष[7]-ऋषभ[8]	निःसंदेह[1] (क्योंकि[1]) जिस[2] पुरुष[3] को ये[4] नहीं[5] पीड़ा[6] देते हैं, हे पुरुषों[7] में श्रेष्ठ[8] (अर्जुन)!	सम[3]-दुःख[2]- सुखं[1], धीरं[4]	सुख[1] दुःख[2] में बराबर[3] धीर[4] पुरुष को
		सः[1], अमृत[2]- त्वाय, कल्पते[3]	वह[1] मुक्ति[2] के लिए समर्थ[3] होता है

अन्वयार्थ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! जिस धैर्यवान् और सुख-दुःख में सम (रहनेवाले) पुरुष को ये (मात्राओं के स्पर्श) दुःख नहीं देते हैं, वह निःसंदेह मोक्ष के लिए समर्थ होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस धैर्यवान् (शूरवीर वा बुद्धिमान्) पुरुष को दुःख-सुख समान होने के कारण ये मात्राओं

※ इस पर तिलक महाराज ऐसी टीका करते हैं—

"जिस पुरुष को ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान नहीं हुआ और इसीलिए जिसे नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या नहीं जान पड़ा है, वह बाह्य पदार्थों और इंद्रियों के संयोग से होनेवाले शीत-उष्ण आदि या सुख-दुःख आदि विकारों को सत्य मानकर, आत्मा में उनका अध्यारोप किया करता है, और इस कारण से उसको दुःख की पीड़ा होती है। परंतु जिसने यह जान लिया है कि ये सभी विकार प्रकृति के हैं, आत्मा अकर्त्ता और अलिप्त है, उसे सुख और दुःख एक ही से हैं। अब अर्जुन से भगवान् यह कहते हैं कि

के स्पर्श किंचित् दुःख नहीं देते, अर्थात् जिस शूरवीर का चित्त इन मात्राओं के संबंध से सुख-दुःखादि की प्राप्ति पर चलायमान या क्षुभित नहीं होता; किंतु सर्वप्रकार के द्वंद्वों में एक समान रहता

इस समबुद्धि से तू उनको सहन कर । और यही अर्थ अगले अध्याय में अधिक विस्तार से वर्णित है । शांकरभाष्य में 'मात्रा' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'मीयते एभिरिति मात्राः', अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ मापे जाते हैं या ज्ञात होते हैं, इन्हें इंद्रियाँ कहते हैं । पर मात्रा का इंद्रिय अर्थ न करके, कुछ लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं कि इंद्रियों से मापे जानेवाले शब्द-रूप आदि ग्राह्य पदार्थों को मात्रा कहते हैं, और उनका इंद्रियों से जो स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, उसे मात्रा-स्पर्श कहते हैं । इसी अर्थ को हमने स्वीकृत किया है । क्योंकि इस श्लोक के विचार गीता में आगे जहाँ पर आये हैं (गी० ५, २१-२३), वहाँ 'बाह्य-स्पर्श' शब्द है, और 'मात्रास्पर्श' शब्द का हमारे किये हुए अर्थ के समान, अर्थ करने से इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही सा हो जाता है । यद्यपि इस प्रकार ये दोनों शब्द मिलते-जुलते हैं, तो भी मात्रास्पर्श शब्द पुराना देख पड़ता है । क्योंकि मनुस्मृति (६, ५७.) में इसी अर्थ में, मात्रासङ्ग शब्द आया है और बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन है कि मरने पर ज्ञानी पुरुष के आत्मा का मात्राओं से असंसर्ग (मात्राऽसंसर्गः) होता है, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है और उसे संज्ञा नहीं रहती (बृ० माध्यं ४, ५, १४; वे० सू० शांभा० १, ४, २२) । शीतोष्ण और सुख-दुःख पद उपलक्षणात्मक हैं, इनमें राग-द्वेष, सत्-असत् और मृत्यु-अमरत्व इत्यादि परस्पर-विरुद्ध द्वंद्वों का समावेश होता है । ये सब माया-सृष्टि के द्वंद्व हैं । इस लिए प्रकट है कि अनित्य माया-सृष्टि के इन द्वंद्वों को शांतिपूर्वक सहकर, इन द्वंद्वों से बुद्धि को छुड़ाये विना, ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती (गी० २, ४५; ७, २८) । अब अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से इसी अर्थ को व्यक्त कर दिखलाते हैं ।"

है, ऐसा पुरुष ठीक मुक्ति पाने के योग्य अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का अधिकारी होता है ॥ १५ ॥ *

संबंध—(१) अब भगवान् अपने उक्त उपदेश को अन्य रीति से वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से इसी अर्थ को भगवान् व्यक्त कर दिखलाते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

न^{३}, असतः^{१},	असत्^{१} का भाव^{२}	उभयोः^{३}, अपि^{४},	पर^{१} इन^{२} दोनों^{३} का
विद्यते^{४}, भावः^{२}	नहीं^{३} होता^{४} है	दृष्टः^{८}, अन्तः^{५},	भी^{४} अंत^{५} (निर्णय)
न^{३}, अभावः^{२},	सत्^{१} का अभाव^{२}	तु^{१}, अनयोः^{२},	तत्त्व^{६}-दर्शियों^{७} से देखा^{८}
विद्यते^{४}, सतः^{१}	नहीं^{३} होता^{४} है	तत्त्व^{६}-दर्शिभिः^{७}	गया है

अन्वयार्थ—असत् का भाव नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता। इन दोनों का भी अंत तत्त्वदर्शियों से देखा गया है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! असत् जो देहादिक तथा शीतोष्णादिक चलायमान वस्तुएँ हैं उनका भाव नहीं होता, अर्थात् वे नित्य स्थिर नहीं रहतीं। सत् जो निर्विकार अचल आत्मा है, उसका अभाव

---

* इस श्लोक को जब उक्त उपदेश का हेतु बनाते हुए श्लोक १४ के साथ मिलाकर पढ़ा जाय तो तात्पर्य यह होगा कि—क्योंकि ये मात्राओं के स्पर्श जिस धैर्यवान् और सुख-दुःख में समान रहनेवाले पुरुष को दुःख नहीं देते हैं, वही पुरुष मुक्ति पाने के योग्य होता है, और हे अर्जुन ! तुझे भी मुक्ति की इच्छा हो रही है (क्योंकि तू शोक-मोह के दुःखों से छूटना चाहता है) इसलिए तू इन मात्राओं के स्पर्शों को सहन कर। इनके सहन से ही तू मुक्ति को प्राप्त होगा, अन्य रीति से नहीं।

(नाश) नहीं होता, अर्थात् वह नित्य अविनाशी रहता है। इन दोनों (सत् और असत्) का अंत (भेद, तत्त्व, सिद्धांत, निर्णय) तत्त्वदर्शी पुरुषों ने ही भले प्रकार देखा अर्थात् अनुभव किया है।

अभिप्राय यह है कि देश-काल-वस्तु से परिच्छिन्न जो भी पदार्थ है वह निरंतर एकरूप वा एकरस न रहने से नाशवान्, नक़ली, मिथ्या वा असत् कहलाता है। और जो उक्त तीनों परिच्छेदों (limitations) से रहित है, वह निर्विकार वा निरंतर एकसार रहने से अविनाशी, असली वा सत् कहलाता है। अथवा जो पदार्थ अपने आप स्थिर न रहे और नित्यप्रति बदलता रहे, वह न होने के समान अर्थात् मिथ्या है। और जो स्वतः स्थिर हो, और एकरस निर्विकार हो, वही वास्तव में सत् पदार्थ है, और उसी का नित्य भाव (होना) संभव है। अथवा अनुक्रम-रूप से जो कारण वस्तु है वह कार्य के सामने सत् है और जो कार्य वस्तु है वह अपने कारण की अपेक्षा से असत् वा मिथ्या है।

(दृष्टांत) जैसे मिट्टी (मृतिका) के कार्य घड़ा, प्याला इत्यादि हैं। इनके टूटने वा नाश होने पर कारण मिट्टी का किंचित् नाश वा अभाव नहीं होता, वह वैसी की वैसी ही रहती है। अर्थात् जैसे प्याला इत्यादि कार्य वस्तु के प्रकट होने से पूर्व मिट्टी का भाव था वैसे प्याला इत्यादि के अभाव होने पर भी मिट्टी का भाव रहा। बल्कि प्याला इत्यादि रूपों का भाव उनके उत्पन्न होने से पूर्व न था, और न उनके नाश होने पर स्थिर रहा किंतु बीच-बीच ही में थोड़े काल के लिए दिखाई दिया, जिससे वह न होने के समान हुआ। इसलिए मिट्टी सत्य और प्याला इत्यादि असत्य निश्चय किया गया, क्योंकि जो वस्तु एकरूप और एकरस न रहे बल्कि मध्य-मध्य में थोड़े काल के लिए ही दिखाई दे उसे

तत्त्ववेत्ता मिथ्या या नक़ली कहते हैं, और जो एकरूप वा एकरस रहे उसे सत्य या असली कहते हैं।

(दार्ष्टान्त) ऐसे सारा नामरूप संसार नित्य बदलता रहता है, एकरूप और एकरस नहीं रहता, इसलिए सब नामरूप-संसार सहित अपने कार्य के मिथ्या वा असत् है। परंतु बदलना किसी नित्य और विकाररहित सत्ता या वस्तु के आश्रय ही होता है, बिना ऐसे आश्रय वा आधार के कोई नाम अथवा रूप विकार को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए जिस आधार के आश्रय ये सब (अनित्य नामरूप) बदलते हैं वह आधार सत् और अविनाशी है, वही सबमें व्याप्त है, उसी को आत्मा या तत्त्व वस्तु कहते हैं, अन्य सब मिथ्या या अनात्मा कहलाते हैं।

इस प्रकार तत्त्वदर्शी पुरुषों ने सत्-असत् पदार्थों में विवेचना करके यह सिद्धांत निकाला है (अथवा यह निर्णय अनुभव किया है) कि सत् वस्तु का तो कभी नाश ही नहीं होता और असत् पदार्थ केवल दृश्यमात्र होता है, सर्वदा रह ही नहीं सकता। इसीलिए वे (तत्त्वदर्शी) इन मात्राओं के स्पर्श और इनके कार्य दुःख-सुखादि को सदा न टिकनेवाले, मिथ्या वा असत् समझते हुए इनसे किंचित् घबराते नहीं, बल्कि आनंदपूर्वक इनको सहन करते और इनकी उत्पत्ति वा नाश को देखते रहते हैं। इसी प्रकार हे अर्जुन! तू भी इन्हें सहन कर और इनसे व्याकुल मत हो॥ १६॥*

---

* असत् जो देहादि है उसका सद्भाव अर्थात् अविनाशी होना नहीं होता, और सत् जो आत्मा है उसका असद्भाव अर्थात् विनाशी होना नहीं होता (श्रीरामानुज)। देहादि और शीतोष्णादि द्वंद्व तथा उनका कारण (मात्रास्पर्श) ये सब असत् अर्थात् मिथ्या हैं, क्योंकि ये सब विकारमात्र हैं, असली वस्तु नहीं हैं। विकार स्वयं कोई वस्तु नहीं होता, अपने कारण रूप ही से प्रतीत होता है और अपनी न्यारी कोई सत्ता नहीं रखता।

संबंध—(१) जिस अविनाशी और निर्विकार तत्त्व की विवेचना से तत्त्वदर्शी पुरुषों को ये मात्राओं के स्पर्श दुःख नहीं देते, उसी की विवेचना भगवान् अब अर्जुन को कराते हैं—

अथवा (२) अब 'सत्' और 'असत्' के अर्थों को ही अगले दो श्लोकों में भगवान् और स्पष्ट करके बतलाते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशि^{3}, तु^{1}, तत्^{2}, विद्धि^{4}	और^{1} उसको^{2} तू अविनाशी^{3} जान^{4}	विनाशं^{4}, अ^{2}-व्ययस्य^{3}, अस्य^{1}	उस^{1} न^{2} घटनेवाले^{3} (निर्विकार) का नाश^{4}
येन^{1}, सर्वं^{3}, इदं^{2}, ततम्^{4}	जिस^{1}से यह^{2} सब^{3} व्याप्त^{4} है	न^{3}, कश्चित्^{1}, कर्तुं^{2}, अर्हति^{4}	कोई^{1} करने^{2} को नहीं^{3} समर्थ^{4} है (अर्थात् कोई नहीं कर सकता)

अन्वयार्थ—उसको तू अविनाशी जान, जिससे यह सब (जगत्) व्याप्त है। उस निर्विकार का नाश कोई नहीं कर सकता है ॥ १७ ॥

जैसे मिट्टी के बरतन मिट्टी के विकार हैं। यदि मिट्टी से अलग करके बरतन को देखने लगें तो बरतन नहीं रहता, बल्कि सिवाय मिट्टी के वह प्रतीत भी नहीं हो सकता, इसलिए बरतन केवल दृश्यमात्र होता है। और जो दृश्यमात्र होता है और अपनी न्यारी सत्ता कुछ नहीं रखता है, वह अपनी उत्पत्ति से पहले और नाश के अनंतर दिखाई नहीं पड़ता; किंतु बीच-बीच में ही प्रतीत होता है, इसलिए वह मिथ्या ही होता है।

व्याख्या – हे अर्जुन! जैसे मकड़ी अपने ही अंदर से जाला निकालकर अपने गिर्द तन लेती है, पर आप उस जाले के नाश होने पर नाश नहीं हो जाती ; ऐसे ही जिसने अपने संकल्पमात्र (स्फुरण) से यह देहादि जाला (अथवा यह सब नामरूपादि प्रपंच) अपने गिर्द ताना हुआ है, अर्थात् जिससे ये देह या सब नामरूप संसार विस्तृत और व्याप्त है, या जो इस देह वा सब नाम-रूप के अंदर प्रविष्ट और व्यापक है, और जो देहादि जाल के नाश होने पर आप नाश नहीं होता है, वही अविनाशी है, ऐसा तू निश्चय कर। हे अर्जुन ! उस न खर्च होनेवाले (या न घटने-बढ़ने वाले अर्थात् एकरस, निर्विकार) आत्मा का तो कोई नाश कर ही नहीं सकता, फिर शोक कैसा ? ॥ १७ ॥ *

संबंध – सत् (नित्य वस्तु) की विवेचना कराकर अब भगवान् असत् (अनित्य) पदार्थों की विवेचना कराते हुए अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरते हैं—

इसीलिए देहादि विकार जो मिथ्या हैं उनका भाव नहीं होता और आत्मा जो एकरूप और एकरस सत् है उसका अभाव नहीं होता । इस प्रकार आत्मा-अनात्मा जो कि सत्-असत् है, इन दोनों का निर्णय कि "सत् सत् ही है और असत् असत् ही है" यह तत्त्वदर्शियों ने देखा है । सो तू, हे अर्जुन ! तत्त्वदर्शियों की दृष्टि का आश्रय लेकर शोक-मोह को छोड़, और ये शीतोष्णादि जो विकारमात्र और आने-जानेवाले हैं इनको सहन कर । (श्रीशंकराचार्य)

* "सार और असार का विचारकर देखो तो असारता यह भ्रम है और सार सहज ही नित्य है । जिससे इस त्रैलोक्य का विस्तार हुआ है, उसे नाम, रूप, आकार, चिह्न, कुछ भी नहीं है । जो सर्वदा सर्वव्यापी है, जन्म-मरणरहित है, उसका नाश करने जाइए तो कदापि हो नहीं सकता ।" (श्रीज्ञानेश्वरी)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्तवन्तः, इमे, देहाः	ये (सब) देह अंतवाले	अ-नाशिनः, अ-प्रमेयस्य	न नाश होनेवाले (अविनाशी) और न प्रमाणवाले (अप्रमेय) के
नित्यस्य, उक्ताः, शरीरिणः	नित्य शरीर-वाले (देही) के कहे गये हैं	तस्मात्, युध्यस्व, भारत	इसलिए हे अर्जुन ! तू युद्ध कर

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! (उस) नित्य अविनाशी और अप्रमेय* देही के ये देह नाशवान् कहे गये हैं । इसलिए तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे भरत की संतान अर्जुन ! मनुष्य दो वस्तुओं का बना हुआ दिखाई देता है, एक आत्मा (सत्, देही, अर्थात् नित्य वस्तु) और दूसरी अनात्मा (असत्, अर्थात् देहादि अनित्य वस्तु) । आत्मा तो एकरस, प्रमाणों का अविषय (अथाह, प्रमाणरहित) और अविनाशी ऊपर वर्णन हुआ है । और उस नित्य, अप्रमेय और अविनाशी आत्मा के ये सब देह जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण वा विराट् आदि अथवा जो भीष्म-द्रोण

---

* अप्रमेय=जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अविषय हो, क्योंकि आत्मा स्वतः सिद्ध है (श्रीशंकराचार्य) । जो प्रमाता हो, प्रमेय न हो, वह अप्रमेय है (श्रीरामानुजाचार्य) । जो अपरिच्छिन्न हो (श्रीधर स्वामी) । बुद्धि आदि का विषय नहीं, क्योंकि बुद्धि का आदि है, इसी हेतु से बुद्धि से परे श्रेष्ठ है और बुद्धि का साक्षी है (आनंदगिरि स्वामी) ।

आदि के नाम-रूपों में सामने स्थित विद्यमान हैं, ये तो श्रुति (या तत्त्वदर्शियों) से अंतवाले और अनित्य कहे गये हैं। पस जब ये (देह) पहले ही से नाशवान् हैं, तो फिर इनका शोक और मोह कैसा ? इसलिए हे प्यारे ! तू अब शोक-मोह को त्याग कर निःशंक हुआ खुले चित्त से उठ और युद्ध कर ॥ १८ ॥

संबंध—(१) पूर्वोक्त सिद्धांत में अर्जुन का दृढ़ निश्चय कराने के लिए (जिससे कि वह युद्ध में प्रवृत्त हो जाय) भगवान् अब दो वैदिक श्रुतियों से उसे और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) अर्जुन ने जो मान रक्खा था 'कि युद्ध में मुझ से भीष्मादि मारे जायँगे और मैं उन पूज्य व्यक्तियों का मारनेवाला बनूँगा' इत्यादि भावना को अब भगवान् सर्वथा मिथ्या और भूल का कारण दर्शाते हैं—

अथवा (३) इस प्रकार 'मैं अमुक को मारता हूँ।' यह भाव नित्यानित्य के विवेक से नितांत व्यर्थ और झूठा पड़ जाता है और उक्त तत्त्व के विवेक से ही ऐसा भाव दूर हो सकता है, इस अर्थ को भगवान् अब अधिक स्पष्ट करते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते * ॥१९॥

यः^{1}, एनं^{2}, वेत्ति^{4}, हन्तारं^{3}	जो^{1} इसको^{2} मारने^{3}-वाला जानता^{4} है	उभौ^{2}, तौ^{1}, न^{3}, विजानीतः^{4}	वे^{1} दोनों^{2} (पुरुष) नहीं^{3} जानते^{4} हैं
यः^{2}, च^{1}, एनं^{3}, मन्यते^{5}, हतं^{4}	और^{1} जो^{2} इसको^{3} मरा हुआ^{4} मानता^{5} है	न^{1}, अयं^{2}, हन्ति^{3}, न^{4}, हन्यते^{5}	न^{1} यह^{2} मारता^{3} है, न^{4} मारा^{5} जाता है

अन्वयार्थ—जो इस (देही) को मारनेवाला जानता है और

---

* यह श्लोक पूर्वार्द्ध में पाठ-भेद से कठोपनिषद् में इस प्रकार है—"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥" (कठ० २ । १९)

जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों (पुरुष) नहीं जानते हैं, (क्योंकि) न यह मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो ऐसा समझते हैं कि यह आत्मा मारता और मरता है। अर्थात् एक शरीर को दूसरे शरीर का हनन करते देखकर जो यह समझ लेता है कि यह आत्मा उसे मार रहा है, और जो शरीर को मरता देखकर यह मान लेता है कि आत्मा मर रहा है, वे दोनों पुरुष आत्मतत्त्व को यथार्थ नहीं जानते, क्योंकि आत्मा निर्विकार और साक्षी होने से न मारने का कर्त्ता और न मरने का विषय हो सकता है। इसलिए हे अर्जुन ! यदि तेरी यह बुद्धि है कि—"मुझसे भीष्मादि मारे जायँगे, या मैं इनका मारनेवाला (हिंसक) हूँगा, इत्यादि", तो यह केवल आत्मा के अज्ञान से है और असत्य है। इसको त्याग कर तू उठ खड़ा हो और युद्ध कर ॥ १९ ॥ *

---

* जैसे लोहे का गोला अग्नि के संबंध से जलानेवाला बनता है न कि स्वतः, इसी प्रकार मात्रादि के संबंध से आत्मा (मारने आदि कर्म का) कर्त्ता होता है, न कि स्वतः। इसलिए वह (कर्तृत्व) मात्रादि का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा में कर्तृत्व-प्रतीति मात्राओं के संबंध से ही होती है (नीलकंठ)।

इस दृष्टांत से तात्पर्य तो यह स्पष्ट निकलता है कि "जैसे जड़ लोहे का गोला अग्नि के संबंध से जलाने का कर्त्ता होता है, स्वतः नहीं। वैसे ही जड़ इंद्रियाँ भी आत्मा के संबंध वा आश्रय से मारने इत्यादि का कर्त्ता बनती हैं, स्वतः नहीं। अर्थात् कर्त्ता धर्म न केवल आत्मा में और न केवल इंद्रियों में है, बल्कि इन दोनों के परस्पर संबंध से प्रकट होता है।" परंतु नीलकंठजी ने अपने विचार से और ही तात्पर्य इस दृष्टांत से निकाला है। क्योंकि यह तात्पर्य भी श्लोक के भावार्थ में कोई दोष नहीं डालता, इसलिए इसे भी यहाँ दे दिया गया है।

क्योंकि—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

न^{१}, जायते^{३}, म्रियते^{५}, वा^{४}, कदाचित्^{२}	न^{१} कभी^{२} (यह) जन्मता^{३} या^{४} मरता^{५} है	अजः^{२}, नित्यः^{३}, शाश्वतः^{४}, अयं^{१}, पुराणः^{५}	यह^{१} अजन्मा^{२}, नित्य^{३}, निरंतर^{४} एकरस और पुराना^{५} है
न^{२}, अयं^{३}, भूत्वा^{४}, भविता^{७}, वा^{१}, न^{६}, भूयः^{५}	अथवा^{१} न^{२} यह^{३} होकर^{४} फिर^{५} नहीं^{६} होता^{७}	न^{३}, हन्यते^{४}, हन्यमाने^{२}, शरीरे^{१}	शरीर^{१} के मारे^{२} जाने पर नहीं^{३} मारा^{४} जाता है

अन्वयार्थ——न यह (आत्मा) कभी जन्मता वा मरता है, और * न कभी होकर फिर नहीं होता । यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस और पुराना है, शरीर के मारे जाने पर मारा नहीं जाता ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यह देही (आत्मा) न कभी जन्मता और न मरता है, और न ऐसा है कि एक बार विद्यमान होकर फिर न रहे। जो वस्तु एक बार विद्यमान होकर फिर न रहे,

---

* श्रीशंकराचार्य ने इसका दोहरा अर्थ किया है (१) यह होकर फिर (अभविता न) अभाव अर्थात् नाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह मरता नहीं । (२) 'न' और 'वा' के संबंध से यह अर्थ किया है— "अथवा न होकर फिर न होगा, यह नहीं" । न होकर फिर होना ही जन्मना है, सो यह आत्मा जन्मता भी नहीं ।

अथवा जो पहले विद्यमान न थी और अभी प्रकट हो गई हो, वह वस्तु जन्मती-मरती कही जाती है, और उसी को ऐसा कहते हैं कि वह किसी कारण से प्रकट होकर फिर स्थिर नहीं रही। परंतु आत्मा ऐसा नहीं कि जो प्रकट होकर फिर न रहे, या जो पहले नहीं था और अभी प्रकट हुआ हो। वह तो अजन्मा, नित्य (सदा रहनेवाला), शाश्वत (निरंतर एकरस रहनेवाला) और सबसे पुराना (आदि काल से स्थिर) है। और शरीर के मारे जाने पर वह कदापि नहीं मारा जाता। अर्थात् आत्मा सांख्य में कहे हुए लौकिक षड्भाव विकार (१ उत्पत्ति, २ नाश, ३ स्थिति, ४ बढ़ना, ५ घटना और ६ बदलना) से रहित है। इसलिए निर्भय हुआ तू हे अर्जुन! युद्ध के लिए उद्यत हो ॥ २० ॥*

संबंध—(१) आत्मा को अजन्मा इत्यादि दर्शाकर अब भगवान् इस ज्ञानदृष्टि पूर्ण निश्चय का परिणाम कथन करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वेद[७], अविनाशिनं[३], नित्यं[४], यः[१], एनं[२], अजं[५], अव्ययम्[६]	जो[१] इसको[२] अविनाशी[३], नित्य[४], अजन्मा[५] और अपरिणामी[६] (निर्विकार) जानता[७] है	कथं[२], सः[३], पुरुषः[४], पार्थ[१]	हे अर्जुन[१]! कैसे[२] वह[३] पुरुष[४]
		कं[१], घातयति[२], हन्ति[४], कं[३]	किसको[१] मरवाता[२] है, किसको[३] मारता[४] है

---

* पूर्व श्लोकवत् यह श्लोक भी किंचित् भेद से कठोपनिषद् में ऐसे आया हुआ है—"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥" (कठ० २।१८)

अन्वयार्थ—हे अर्जुन! जो इस (आत्मा) को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और निर्विकार जानता है, वह कैसे, किसको मरवाता है, और कैसे, किसको मारता है? ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन! जिस पुरुष ने यथार्थ रीति से यह जान लिया अथवा ऐसा निश्चय कर लिया कि "आत्मा सदा अज, अमर, नित्य और अविनाशी है", तो उस विद्वान् में फिर कैसे और किसको मारने या मरवाने का भाव उठ सकता है? अर्थात् ऐसे विद्वान् में (जब भी कोई उसके हाथ से मारा जा रहा या मरवाया जा रहा हो) यह भाव कदापि उठता ही नहीं कि मैं किसी को मारता या मरवाता हूँ। और न उसे (अपने हाथ से ऐसे कर्म होते समय) अपने उक्त निश्चय के कारण यह भ्रम ही होता है कि मैं किसी को मार रहा या मरवा रहा हूँ। वह तो सर्वदा अपने आपको सब कामों में अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी देखता व समझता है। इसलिए वह किसी भी कर्म के कर्तृत्वादि अभिमान तथा फल की इच्छा में फँसने नहीं पाता। पस तू भी, हे अर्जुन! इसी निश्चय का आश्रय करके उठ खड़ा हो और युद्ध कर। जब कोई भी तुझसे इस युद्ध में मारा जायगा तो इसी निश्चय के कारण तू उस कर्म के कर्तृत्वादि अभिमान तथा उसके दुःख-सुखादि फल-भोग में फँसने न पायेगा ॥ २१ ॥*

---

* तात्पर्य यह है कि शुद्ध आत्मा के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर अहं-मम-रूप अध्यास की निवृत्ति होती है। अध्यास की निवृत्ति होने से राग-द्वेषादि की निवृत्ति हो जाती है। और राग-द्वेषादि की निवृति से कर्तृत्व भोक्तृत्वादि की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार आत्मज्ञान सर्व अनर्थों की निवृत्ति का कारण है। इस ज्ञान का आश्रय लेकर कर्म करने से पुरुष उसके फल-दोष में फँसने नहीं पाता है।

संबंध– (१) पूर्वोक्त कथन (देह के नाश होने पर देही का नाश नहीं होता) को भगवान् अब दृष्टांत से समझाते हैं—

अथवा (२) आत्मा तो मरता नहीं और न जन्म लेता है, किंतु होता वास्तव में क्या है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥*

वासांसि^{3}, जीर्णानि^{2}, यथा^{1}, विहाय^{4}	जैसे^{1} जीर्ण^{2} (फटे पुराने) वस्त्रों^{3} को छोड़^{4} कर
नवानि^{3}, गृह्णाति^{4}, नरः^{1}, अपराणि^{2}	पुरुष^{1} अन्य^{2} नयों^{3} को ग्रहण^{4} करता है
तथा^{1}, शरीराणि^{3}, विहाय^{4}, जीर्णानि^{2}	वैसे^{1} जीर्ण^{2} शरीरों^{3} को त्याग^{4} कर
अन्यानि^{2}, संयाति^{4}, नवानि^{3}, देही^{1}	देही^{1} अन्य^{2} नये^{3} (शरीरों) को प्राप्त^{4} होता है

---

* उक्त दोनों (२१, २२) श्लोकों पर श्रीज्ञानदेवजी ने अपने विचित्र ढंग से ऐसे व्याख्या की है—

"जैसे जो कुछ स्वप्न में दिखाई देता है, सो स्वप्न में ही सत्य होता है, परंतु जागने पर देखो तो कुछ नहीं रहता । वैसी ही यह माया जानो । तुम्हें व्यर्थ भ्रम हो रहा है । जैसे परछाईं पर शस्त्र से मारा हुआ घाव (असली) देह को नहीं लगता, अथवा भरे हुए घड़े का पानी उलटने से उसमें जो सूर्य का प्रतिबिंब दिखता था सो नाश हो जाता है परंतु उसके संग जैसे सूर्य का नाश नहीं होता, अथवा मठ के भीतर का आकाश मठ के ही आकार का हो जाता है, परंतु वही मठ के भंग होते ही जैसे आप ही आप अपने निज स्वरूप को प्राप्त होता है, वैसे ही शरीर का नाश होने से आत्मस्वरूप का नाश सर्वथा नहीं होता । इसलिए निज पर भ्रांति का आरोपण मत करो ।"

अन्वयार्थ——जैसे पुरुष जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर अन्य नयों को ग्रहण करता है, वैसे देही जीर्ण शरीरों को छोड़कर दूसरे नयों को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

व्याख्या – हे अर्जुन ! जैसे मनुष्य के वस्त्र जब पुराने होने से अथवा किसी अन्य कारण से फट जाते हैं तो उनके साथ उनका पहननेवाला (मनुष्य) नहीं फट जाता या नष्ट हो जाता किंतु वह वैसा का वैसा हो रूपवान् बना रहता है, और उन फटे-पुराने वस्त्रों को उतारकर वह दूसरे नये पहन लेता है । इसी प्रकार एक शरीर के मुरझाने वा नाश होने पर शरीर के धारण करनेवाला (देही) नहीं मुरझाता वा नष्ट होता किंतु उस फटे-पुराने वा मुरझाये हुए शरीर को छोड़कर अन्य नवीन शरीर को धारण कर लेता है । इस प्रकार देही नित्य, अविनाशी और निर्विकार ही बना रहता है । ऐसा होते हुए फिर तुझे युद्ध करने में भय और शोक कैसा ? ॥ २२ ॥※

※ वस्त्र की यह उपमा पुराने काल से प्रचलित है । महाभारत (१२ १५; ५७-५८) में इसी को घर की उपमा से ऐसे दर्शाया है——

"यथाहि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम् ।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥
देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्सम्प्रतिपद्यते ।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥"

अर्थ——जैसे पुरुष बार-बार एक घर से दूसरे घर में प्रवेश करता है, वैसे ही जीव भी बार-बार एक शरीर के पीछे दूसरा शरीर पाता है । देहधारी के पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर धारण करने को तत्त्वदर्शी लोग मृत्यु कहते हैं ।

"यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम् ।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम् ॥" (अध्यात्म २;७,१०४)

संबंध—(१) उक्त कथन (देही किसी से मारा नहीं जाता) को भगवान् अब पुनः स्फुट करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार शरीर के परिवर्तन पर आत्मा निर्विकार वा एकरूप ही रहता है, इस अर्थ को भगवान् अब अधिक स्पष्ट करते हैं--

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

न^{1}, एनं^{2}, छिन्दन्ति^{4}, शस्त्राणि^{3}	न^{1} इसको^{2} शस्त्र^{3} काटते^{4} हैं	न^{2}, च^{1}, एनं^{4}, क्लेदयन्ति^{5}, आपः^{3}	और^{1} न^{2} जल^{3} इसको^{4} गीला^{5} करते हैं
न^{1}, एनं^{2}, दहति^{4}, पावकः^{3}	न^{1} इसको^{2} अग्नि^{3} जलाती^{4} है	न^{1}, शोषयति^{3}, मारुतः^{2}	न^{1} वायु^{2} सुखाता^{3} है

अन्वयार्थ--न इस (देही) को शस्त्र काटते हैं, न इसको अग्नि जलाती है, न जल इसको गीला करते हैं और न वायु इसे सुखाता है ।। २३ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस देही को खड्गादि शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि भस्म नहीं कर सकती, अत्यंत वेगवाले जल (नदियाँ इत्यादि) गीला नहीं कर सकते, और वायु सुखा नहीं सकता ।

अर्थ—जैसे कोई पुराने घर को त्यागकर नया घर लेता है, वैसे ही आत्मा पुराने देह को त्यागकर नया देह धारण कर लेता है ।

पिछले तेरहवें श्लोक में बालपन, जवानी और बुढ़ापा, इन तीनों अवस्थाओं का जो प्रयोग किया गया है, वही अब यहाँ सारा का सारा शरीर के विषय में घटाया गया है ।

अर्थात् पृथिवी आदि चारों * भूत इसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। जब ऐसा हाल है तो शरीर को तीर वा शस्त्र लगने से यह समझना कि "शरीरी अर्थात् (देही या आत्मा) को तीर या शस्त्र लगा है" केवल भूल है ॥ २३ ॥

संबंध—उक्त सिद्धांत में भगवान् अन्य हेतु कथन करते हैं—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अ^{२}-च्छेद्य^{३}:, अयं^{१}, अ^{४}-दाह्य^{५}:, अयं^{१}, अ^{६}-क्लेद्य^{७}:, अ^{८} शोष्य^{१०}:, एव^{११}, च^{९}	यह^{१} न^{२} काटने^{३} योग्य, न^{४} जलाने^{५} योग्य, न^{६} गिलाने^{७} (भिजाने) योग्य और^{९} न^{८} सुखाने^{१०} योग्य ही^{११} है	नित्य^{२}:, सर्वगत^{३}:, स्थाणु^{४}:, अचल^{५}:, अयं^{१}, सनातन^{६}:	यह^{१} नित्य^{२}, सर्वगत^{३}, स्थिर^{४}, अचल^{५} और सनातन^{६} है

अन्वयार्थ—यह (देही) न काटने योग्य, न जलाने योग्य, न गिलाने योग्य और न ही सुखाने योग्य है। यह नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है ॥ २४ ॥

व्याख्या - सावयव वस्तु टुकड़ों में काटी जा सकती है, और सावयव में ही अग्नि प्रविष्ट होकर उसे जला सकती है, जल प्रविष्ट होकर उसे गिला सकता है, और वायु प्रविष्ट होकर उसे सुखा

---

* लोक में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चारों भूतों में ही नाश की कारणता देखी जाती है, आकाश में दिखाई नहीं देती। इसलिए भगवान् ने यहाँ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चारों भूतों का कथन किया है, आकाश का नहीं।

सकता है। परंतु देही (आत्मा) सावयव वस्तु नहीं, निरवयव है, जिससे वह नित्य (सदा रहनेवाला) है। नित्य होने से सर्वगत (सबमें प्रविष्ट या व्यापक) है। सर्वव्यापक होने से स्थिर स्वभाव है अर्थात् एकरस टिका हुआ है, किसी विकार को प्राप्त नहीं होता है। और स्थिर होने से वह अचल (अडोल अर्थात् गमनागमन की क्रिया से रहित) है, इसी से वह पुराना है अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है। अतएव वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है * ॥ २४ ॥

संबंध--इस प्रकार आत्मतत्त्व का विवेक कराते हुए भगवान् अब अर्जुन के शोक की अयोग्यता वा व्यर्थता स्पष्ट करते हैं—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अव्यक्तः[2], अयं[1], अचिन्त्यः[3], अयं[1], अविकार्यः[4], अयं[1], उच्यते[5]	यह[1] (देही) अव्यक्त[2], अचिन्त्य[3] और अविकार्य[4] कहा[5] जाता है	तस्मात्[1], एवं[3], विदित्वा[4], एनं[2]	इसलिए[1] इसको[2] ऐसा[3] जान[4] कर
		न[3], अनुशोचितुं[1], अर्हसि[2]	शोक[1] करना उचित[2] नहीं[3]

अन्वयार्थ---यह (देही) अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है। इसलिए इसको ऐसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं ॥ २५ ॥

---

* "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् इति।" अर्थ—यह आत्मा आकाश के समान सर्वत्रव्यापक, नित्य, वृक्ष के समान अचल (स्थाणु), अपने स्वप्रकाशस्वरूप में स्थित, अद्वितीय, निरवयव, निष्क्रिय और शांतस्वरूप है। (श्रुति)

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह देही (आत्मा) केवल नित्य, सर्वगत, इत्यादि उक्त विशेषणों से ही विख्यात नहीं, बल्कि वेद भगवान् और शास्त्रों में ऐसा भी कहा जाता है कि यह (देही) अव्यक्त है अर्थात् अप्रकट या व्यक्तिरहित वा इंद्रियों का अविषय है, अचिन्त्य है अर्थात् व्यक्तिमान् वा इंद्रियों का अविषय होने से मन-बुद्धि द्वारा किसी रूप से चिंतन नहीं किया जा सकता है, और अविकार्य है अर्थात् यह किसी विकार को प्राप्त होने के योग्य नहीं है। पस, जब ऐसा जान लिया कि यह देही देह के मरने-जीने इत्यादि सब अवस्थाओं में एक समान, निर्विकार, नित्य और अविनाशी इत्यादि रहता है, तो ऐसी दशा में, हे अर्जुन ! तुझे किञ्चित्-मात्र भी शोक करना उचित नहीं ॥ २५ ॥

संबंध—(१) इस प्रकार तत्ववेत्ता की दृष्टि से शोक को अनुचित दर्शाकर अब भगवान् प्राकृत जनों की दृष्टि से अर्जुन के शोक की व्यर्थता दर्शाते हैं—

अथवा (२) प्रसंगोपात्त विरुद्ध युक्ति से भी भगवान् अब अर्जुन के शोक की व्यर्थता दर्शाते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथ[2], च[1], एनं[3], नित्य[4]-जातं[5], नित्यं[7], वा[6], मन्यसे[9], मृतम्[8]	और[1] अगर[2] इसको[3] तू नित्य[4] जन्मता[5] हुआ या[6] नित्य[7] मरता[8] हुआ मानता[9] है	तथा[1], अपि[2], त्वं[4], महाबाहो[3], न[8], एवं[5], शोचितुं[6], अर्हसि[7]	तो[1] भी[2] हे अर्जुन[3] ! तुझे[4] ऐसा[5] शोक[6] करना उचित[7] नहीं[8]

अन्वयार्थ—और यदि तू इस (देही) को नित्य जन्मता हुआ

या नित्य मरता हुआ मानता है, तो भी हे अर्जुन ! तुझे ऐसा शोक करना उचित नहीं ॥ २६ ॥

व्याख्या—और हे बड़ी भुजाओंवाले (अर्थात् बलवान्) अर्जुन ! देही को उक्त तत्त्व-दृष्टि से न जानकर यदि तू प्राकृत जनों के समान ऐसा मानता है कि देह के साथ देही भी नित्य उत्पन्न होता है, और देह के नाश होने पर वह नित्य नाश होता है, तो भी तुझे ऐसा (पूर्वोक्त दुःख-जन्य) शोक करना उचित नहीं ॥ २६ ॥ *

संबंध—उक्त निश्चय के होते हुए भी क्यों शोक करना अनुचित है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७॥

---

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी की व्याख्या विचित्र ढंग से ऐसे है—

"अथवा (तुम यदि) यह (नित्य देही) नहीं मानते, यह सब जगत् नाशवंत मानते हो, तथापि हे अर्जुन ! शोक करना योग्य नहीं है । कारण, जैसे गंगा के जल का प्रवाह अखंड है, वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और लय सर्वदा नित्य हैं । जैसे गंगाजल उगम में अखंडित है, समुद्र में भी सदा मिला हुआ बना है और बीच में भी प्रवाह में बहता हुआ दिखाई देता है; वैसे ही प्राणिमात्र में ये तीनों अवस्थाएँ सर्वदा समान बनी रहती हैं और किसी समय उसे छोड़ नहीं जातीं । इसलिए इस सब जगत् के विषय तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है । कारण, स्वाभावतः ही अनादि काल से सृष्टिक्रम ऐसा ही चला आता है; अथवा, हे अर्जुन ! संसार जन्म-मृत्यु के अधीन है, यह देखकर यदि तुम उपर्युक्त बात न मानो तो भी तुम्हें शोक करने का कारण नहीं है; क्योंकि जन्म और मृत्यु सभी टल नहीं सकते ।"

जातस्य^{2}, हि^{1}, ध्रुवः^{4}, मृत्युः^{3}	क्योंकि^{1} जन्मे^{2} हुए की मृत्यु^{3} अवश्य^{4} है
ध्रुवं^{4}, जन्म^{3}, मृतस्य^{2}, च^{1}	और^{1} मरे हुए^{2} का जन्म^{3} अवश्य^{4} है
तस्मात्^{1}, अ^{2}-परिहार्ये^{3}, अर्थे^{4}	इसलिए^{1} न^{2} हटाई^{3} जानेवाली (अटल) बात^{4} में
न^{4}, त्वं^{1}, शोचितुं^{2}, अर्हसि^{3}	तुझे^{1} शोक^{2} करना उचित^{3} नहीं^{4}

अन्वयार्थ——क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु अवश्य है और मरे हुए का जन्म अवश्य है। इसलिए इस अटल बात में तुझे शोक करना उचित नहीं ॥ २७ ॥ *

व्याख्या—हे अर्जुन ! वस्तुतः देही न मरता है, न जन्मता है, उसके लिए फिर शोक कैसा ? पर यदि तू उसको जन्मने और मरनेवाला ही समझता है, तो भी इस अटल (अमिट अर्थात् न टलनेवाली या न हटाई जानेवाली) बात में तुझे शोक करना उचित नहीं, क्योंकि जो जन्मा है उसे अवश्यमेव मरना ही है, और जो मरा है वह अवश्य जन्मेगा ही ॥ २७ ॥ †

---

* "अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः।
अवश्यं भाविन्यर्थे वै सन्तापो नेह विद्यते॥" (म. भा. १, १६०, २)

अर्थ—इस लोक में सब मनुष्यों को अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होना है, इसलिए इस अवश्य होनेवाली बात का शोक करना उचित नहीं।

"जन्मवान् यदि लोकेऽस्मिंस्तर्हितं मृत्युरन्वगात्।
तस्मादपरिहार्योऽर्थं मृत्युर्जन्मवतां सदा॥" (अध्यात्म २, ७, ६६)

अर्थ—इस लोक में सब जन्म लेनेवाले मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इसलिए सब जीवों के लिए मृत्यु अटल है। (तो ऐसी अवस्था में शोक कैसा ?)

† स्मरण रहे कि ऊपर के दो श्लोकों में बतलाई हुई उपपत्ति सिद्धांत पक्ष की नहीं है। यह 'अथ च=अथवा' शब्द से बीच में ही उपस्थित किये हुए पूर्वपक्ष का उत्तर है। आत्मा को नित्य मानो चाहे अनित्य,

संबंध--(१) उक्त शोक की व्यर्थता को भगवान् अब अन्य युक्ति से दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त विषय को अधिक व्यापक रूप से सांख्य-शास्त्र के सिद्धांतानुसार भगवान् अब कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

अव्यक्त[2]-आदीनि[3], भूतानि[6], व्यक्त[4], मध्यानि[5], भारत[1]	हे अर्जुन[1] अव्यक्त[2] आदिवाले[3], व्यक्त[4] मध्यवाले[5] भूत[6] हैं	अव्यक्त[2]- निधनानि[3], एव[1]	ऐसे[1] ही अव्यक्त[2] अंतवाले[3]
		तत्र[1], का[2], परिदेवना[3]	उसमें[1] कैसा[2] विलाप[3] (प्रलाप)

अन्वयार्थ--हे अर्जुन! सब भूत अव्यक्त आदिवाले, व्यक्त मध्यवाले और अव्यक्त * अंतवाले हैं, उस (विषय) में फिर विलाप कैसा?॥२८॥

दिखलाना इतना ही है कि दोनों ही पक्षों में शोक करने का प्रयोजन नहीं है। गीता का यह सच्चा सिद्धांत पहले ही बतला चुके हैं कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकार्य और अचिन्त्य या निर्गुण है। अस्तु, देह अनित्य है, अतएव शोक करना उचित नहीं; इसी को, सांख्य-शास्त्र के अनुसार, दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं। (श्रीतिलक महाराज)

* अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (महाभारत, ११, २, ६)

अर्थ—हे अर्जुन! जिन प्राणियों का आदि नहीं और अंत नहीं, केवल मध्य-मध्य है, ऐसे प्राणियों के विषय फिर रोना-धोना कैसा?

'अव्यक्त' शब्द का ही अर्थ है—'इंद्रियों को गोचर न होनेवाला।' मूल एक अव्यक्त द्रव्य से ही आगे क्रम-क्रम से समस्त व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है, और अंत में अर्थात् प्रलय काल में सब व्यक्त सृष्टि का फिर अव्यक्त में ही लय हो जाता है (गीता, ८, १८); इस सांख्य-सिद्धांत

व्याख्या—हे भरत की संतान अर्जुन ! जब सब भूत (प्राणी वा पदार्थ) ऐसे हैं कि न उनके आदि (प्रारंभ) का पता है और न अंत का, केवल उनके मध्य-मध्य का ही पता लगता है । अर्थात् जो उत्पत्ति से पूर्व अदृश्य (अप्रकट) थे, और अंत में भी अदर्शन रूप हो जाते हैं, केवल बीच-बीच में ही दिखाई देते हैं, (और यह प्रसिद्ध सिद्धांत है कि "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा"=जो आदि और अंत में न हो, केवल मध्य-मध्य में दिखाई दे, वह मध्य काल में भी वास्तव में नहीं होता, बल्कि झूठा ही होता है) तो ऐसे बीच-बीच में प्रतीत होनेवाले झूठे प्राणियों वा पदार्थों के विषय में विलाप (रोना-धोना) फिर कैसा ? अर्थात् इनके विषयमें किंचित् भी शोक करना उचित नहीं । और महाभारत स्त्रीपर्व में भी ऐसा आया है कि "अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना"=जो अदर्शन से आया और फिर अदर्शन (non-perception, the unseen)

का अनुसरण कर, इस श्लोक की दलीलें हैं ।.... किसी भी पदार्थ की व्यक्त स्थिति यदि इस प्रकार कभी न कभी नष्ट होनेवाली है, तो जो व्यक्त स्वरूप निसर्ग से ही नाशवान् है, उसके विषय में शोक करने की कोई आवश्यकता ही नहीं । यही श्लोक 'अव्यक्त' के बदले 'अभाव' शब्द से संयुक्त होकर महाभारत के स्त्रीपर्व (२. ६) में आया है । आगे (स्त्री० २. १३) में 'अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः । न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥' इस श्लोक में 'अदर्शन' अर्थात् 'नज़र से दूर हो जाना' इस शब्द का भी मृत्यु को उद्देश कर उपयोग किया गया है । सांख्य और वेदांत, दोनों शास्त्रों के अनुसार शोक करना यदि व्यर्थ सिद्ध होता है, और आत्मा को अनित्य मानने से भी यदि यही बात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्यु के विषय में शोक क्यों करते हैं? आत्मस्वरूप-संबंधी अज्ञान ही इसका उत्तर है । (श्रीतिलक महाराज)

को ही प्राप्त हो गया, वह न तेरा है और न तू उसका है । फिर उसमें व्यर्थ शोक-विलाप किस काम का ? ॥ २८ ॥

संबंध--(१) इस प्रकार तत्ववेत्ता और प्राकृत जन दोनों की दृष्टि से अर्जुन के शोक की व्यर्थता दर्शाकर अब भगवान् इस जगत् अथवा आत्म-तत्व की दुर्विज्ञेयता वर्णन करते हैं—

अथवा (२) उक्त दोनों दृष्टियों के होने पर भी प्राणी प्रायः शोकग्रस्त ही देखे जाते हैं । इसमें तत्वविषयक अज्ञान ही कारण है, ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) ऊपर आत्मा की उत्पत्ति-विनाश मानकर भी शोक की व्यर्थता दर्शाई गई, पर वस्तुतः वह उत्पत्ति-विनाशवाला है नहीं । हाँ, उसका जानना किसी बिरले के ही भाग्य में होता है, इस भाव को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) सांख्य और वेदांत, दोनों शास्त्र की दृष्टि से शोक करना जब व्यर्थ सिद्ध होता है और आत्मा को अनित्य मानने से भी जब यही बात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्यु के विषय में शोक क्यों करते हैं ? जगत वा आत्मस्वरूप का अज्ञान ही इसका उत्तर हो सकता है, क्योंकि—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति
तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं
वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

आश्चर्यवत्, पश्यति, कश्चित्, एनं	आश्चर्य सा कोई इसको देखता है
आश्चर्यवत्, वदति, तथा, एव, च, अन्यः	और वैसे ही दूसरा आश्चर्य सा कहता है
आश्चर्यवत्, च, एनं, अन्यः, शृणोति	और आश्चर्य सा (कोई) और इसको सुनता है
श्रुत्वा, अपि, एनं, वेद, न, च, एव, कश्चित्	और सुनकर भी इसको कोई जानता ही नहीं

अन्वयार्थ—आश्चर्यवत् कोई इसको देखता है, वैसे ही आश्चर्यवत् कोई इसको कहता है, आश्चर्यवत् कोई इसको सुनता है। और सुनकर भी कोई इसको जानता ही नहीं ॥ २९ ॥

(१) पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि इन सब प्राणियों के आदि-अंत का पता ही नहीं, केवल इनका मध्य-मध्य ही दिखाई देता है जिससे यह सब नाम-रूप प्रपंच केवल देखने-मात्र है, वास्तव में अपनी स्थिति यह नित्य रूप से रखता नहीं, बल्कि जब इसका खोज करें तो अव्यक्त में ही लीन होता दिखाई देता है, इसलिए कोई तो इस प्रपंच को आश्चर्यवत् देखता है, कोई आश्चर्यवत् कहता है, अर्थात् कोई इसका दर्शन करते और वर्णन करते-करते आश्चर्यवान् हो रहा है, और कोई इसको सुनते हुए आश्चर्यवान् हो रहा है। पर देखते, बोलते और सुनते हुए भी कोई इसको ठीक-ठीक जानता ही नहीं। ऐसी यथार्थ रूप से न जानी जानेवाली सृष्टि पर भी रोना-धोना किस काम का ॥ २९ ॥

(२) दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि आत्मा (देही) सर्वत्र और सदा विद्यमान, स्वप्रकाश, आनंदस्वरूप, नित्य, व्यापक, अपरिच्छिन्न, अज, अमर और निर्विकार वास्तव में है ; परंतु अविद्या के कारण सबको अविद्यमान, जड़, दुःखी, अनित्य, परिच्छिन्न, जन्मता, मरता और विकारी प्रतीत होता है, जिससे इसका जानना वा समझना अत्यंत कठिन हो रहा है। इसलिए हे अर्जुन ! इस आत्मा का यथार्थ द्रष्टा, वक्ता, श्रोता और ज्ञाता अति दुर्लभ है, बल्कि कोई तो आश्चर्यवत् (आश्चर्य के समान, या इसे अद्भुत समझकर) इसको देखता है, कोई आश्चर्यवत् इसे कहता है, ऐसे ही कोई आश्चर्यवत् इसे सुनता है, और सुनते हुए भी कोई इसको यथार्थ जानता तक नहीं। अर्थात् कोई बिरला ही इसे ठीक समझता है ॥ २९ ॥

(३) तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन! जैसे कोई वस्तु जो पहले कभी न देखी हो, जब अकस्मात् दिखाई दे, तो देखनेवाला विस्मित हो जाता है, वैसे आत्मा भी जो चर्म-चक्षु को दिखाई नहीं देता, जब किसी को किसी रीति से किंचित् अनुभव होता है, तो नवीन वस्तु के तुल्य प्रतीत होता है, जिससे अनुभव-काल में पुरुष विस्मित हो जाता है, और फिर होश में आकर (अर्थात् अनुभव-काल के पश्चात्) वह पुरुष उसको वर्णन करते या सुनते समय भी विस्मित होता है, या विस्मित हुआ ही उसे कहता वा सुनता है। परंतु ऐसा होते हुए भी कोई विरला ही उसे यथार्थ जानता है॥ २९॥*

संबंध—अब भगवान् उक्त (देही के) प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

---

* श्रुति में—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।

अर्थ—जिस आत्मा का सुनना भी बहुतों को प्राप्त नहीं होता, जिसको सुनकर भी बहुत लोग नहीं जानते। इस (आत्मा) का वक्ता आश्चर्य रूप है, इसका पानेवाला बड़ा कुशलरूप है, और ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरु से उपदेश किया हुआ इसका जाननेवाला आश्चर्यरूप है (कठ २, ७)

श्रीतिलक महाराज की व्याख्या इस श्लोक पर ऐसे है—

"अपूर्व वस्तु समझकर बड़े-बड़े लोग आश्चर्य से आत्मा के विषय में कितना ही विचार क्यों न किया करें; पर उसके सच्चे स्वरूप को जाननेवाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। इसी से बहुतेरे लोग मृत्यु के विषय में शोक किया करते हैं। इससे तू ऐसा न करके, पूर्ण विचार से आत्मस्वरूप को यथार्थ रीति पर समझ ले और शोक करना छोड़ दे।"

देही[५], नित्यं[६], अवध्यः[७], अयं[४], देहे[३], सर्वस्य[२], भारत[१]	हे अर्जुन[१] ! सब[२] के देह[३] में यह[४] देही[५] नित्य[६] अवध्य[७] है	तस्मात्[१], सर्वाणि[२], भूतानि[३], न[७], त्वं[४], शोचितुं[५], अर्हसि[६]	इसलिए[१] सब[२] भूतों[३] का तुझे[४] शोक[५] करना उचित[६] नहीं[७]

अन्वयार्थ——हे अर्जुन ! सबके देह में यह देही नित्य अवध्य है। इसलिए सब भूतों का तुझे शोक करना उचित नहीं ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे भरत की संतान अर्जुन ! सब प्राणियों के देह में जो देही है वह सदा अवध्य (न मारा जानेवाला) है। अर्थात् देह के नाश होने अथवा मारे जाने पर भी न इसका कभी नाश होता है और न यह किसी उपाय द्वारा किसी से मारा ही जा सकता है। जब सिद्धांत यह है तो ऐसी अवस्था में हे अर्जुन ! तुझे इन सारे (भीष्म-द्रोणादि) प्राणियों के मरने वा मारे जाने का किंचित् भी शोक करना उचित नहीं ॥ ३० ॥ *

संबंध—(१) इतनी तो तत्त्व-दृष्टि की अपेक्षा से शोक की व्यर्थता दर्शाई गई, अब भगवान् स्वधर्म की अपेक्षासे इस शोककी व्यर्थता को दर्शाने लगे हैं——

अथवा (२) अब भगवान् आत्मज्ञानकी दृष्टिसे समझाना छोड़ केवल स्वधर्म की दृष्टि से युद्ध की आवश्यकता और शोक की व्यर्थता समझाने लगे हैं——

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

---

* श्रीतिलक महाराज इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं——

"अब तक यह सिद्ध किया गया कि सांख्य या संन्यासमार्ग के तत्त्व-ज्ञानानुसार आत्मा अमर है और देह तो स्वभाव से ही अनित्य है, इस कारण कोई मरे या मारे उसमें 'शोक' करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु यदि कोई इससे यह अनुमान कर ले कि कोई किसी को मारे

स्व-धर्मं, अपि, च, अवेक्ष्य	और अपने धर्म को भी देख कर	धर्म्यात्, हि, युद्धात्, श्रेयः, अन्यत्, क्षत्रियस्य, न, विद्यते	क्योंकि धर्म-रूप युद्ध से दूसरा श्रेष्ठ क्षत्रिय के लिए नहीं है
न, विकम्पितुं, अर्हसि	तुझे काँपना (डोलना) योग्य नहीं		

तो इसमें भी 'पाप' नहीं, तो यह भयंकर भूल होगी । मरना या मारना इन दो शब्दों के अर्थों का यह पृथक्करण है, मरने या मारने में जो डर लगता है उसे पहले दूर करने के लिए ही यह ज्ञान बतलाया है । मनुष्य तो आत्मा और देह का समुच्चय है । इनमें आत्मा अमर है, इसलिए मरना या मारना ये दोनों शब्द उसे उपयुक्त नहीं होते । बाक़ी रह गई देह, सो वह तो स्वभाव से ही अनित्य है, यदि उसका नाश हो जाय तो शोक करने योग्य कुछ है नहीं । परंतु यदृच्छा या काल की गति से कोई मर जाय या किसी को कोई मार डाले, तो उसका सुख-दुःख न मानकर शोक करना छोड़ दे, तो भी इस प्रश्न का निपटारा हो नहीं जाता कि युद्ध-जैसा घोर कर्म करने के लिए जान-बूझकर, प्रवृत्त होकर लोगों के शरीरों का नाश हम क्यों करें । क्योंकि देह यद्यपि अनित्य है तथापि आत्मा का पक्का कल्याण वा मोक्ष सम्पादन कर देने के लिए देह ही तो एक साधन है, अतएव आत्महत्या करना अथवा विना योग्य कारणों के किसी दूसरे को मार डालना, ये दोनों शास्त्रानुसार घोर पातक ही हैं । इस लिए मरे हुए का शोक करना यद्यपि उचित नहीं है, तो भी इसका कुछ न कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है कि एक दूसरे को क्यों मारे । इसी का नाम धर्माधर्म-विवेक है, और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय भी यही है । अब, जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सांख्यमार्ग को ही सम्मत है, उसके अनुसार भी युद्ध करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है, इसलिए भगवान् कहते हैं कि तू मरने-मारने का शोक मत कर ; इतना ही नहीं, बल्कि लड़ाई में मरना या मार डालना, ये दोनों बातें क्षत्रियधर्मानुसार तुझको आवश्यक ही हैं ।"

अन्वयार्थ——और अपने धर्म को देखकर भी तुझे काँपना योग्य नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मरूप युद्ध से (अधिक) श्रेष्ठ और नहीं है ॥३१ ।

व्याख्या—और हे अर्जुन ! यदि तू तत्त्वविचार का ख़्याल न करता हुआ अपने* क्षात्र धर्म की ओर ही देखे, तो भी तुझे युद्ध

---

* **अपना धर्म=क्षत्रिय का निजधर्म जिसका वर्णन गीता ३ । ३५ और १८ । ४३, ४७ में है । परंतु उसका विस्तारपूर्वक वर्णन महाभारत में ऐसे है——**

१ ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ (शां० ५५, १४)

२ यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा ।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतं ॥ (शां० ५६, ५)

३ अधर्मः क्षत्रियस्यैषः यच्छय्यांमरणं भवेत ।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥ (शां० ६७, २३)

४ अविक्षतेन देहेन प्रलयं योधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ (शां० ६७, २४)

५ न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौण्डीर्याणामप्यशौण्डीर्यमधर्म्यं कृपणं च तत ॥ (शां० ६७, २५)

(१) अर्थ——भीष्मपितामह ने कहा——हे कृष्ण ! जैसे ब्राह्मणों का धर्म यज्ञ, दान, तप और वेदों का अध्ययन करना और कराना है, वैसे क्षत्रियों का धर्म युद्ध में अपना देह त्याग करना है ।

(२) युधिष्ठिर ने कहा——हे भीष्मजी ! जिस प्रकार गर्वित घोड़े को उसकी रासें (लगामें) और उन्मत्त हाथी को अंकुश थामे रखते (या वश में रखते) हैं, इसी प्रकार क्षात्र धर्म भी लोक-मर्यादा की स्थिरता का हेतु है ।

करने से काँपना, डोलना या चलायमान होना कभी उचित नहीं, क्योंकि युद्ध करना तो क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है जिससे प्रजा और धर्म दोनों की रक्षा होती है, और इस धर्मरूप (वा धर्मयुक्त) युद्ध से बढ़कर श्रेष्ठ तो पृथिवी पर क्षत्रिय के लिए कोई दूसरा कर्म अथवा कल्याण * का मार्ग है ही नहीं ॥ ३१ ॥

---

(३) भीष्मपितामह ने कहा—हे युधिष्ठिर ! यह जो बीमार होकर खाट पर पड़कर मरना है, जिसमें श्लेष्म, मल, मूत्रादि त्याग से और अति कृपणता से देह त्यागा जाता है। ऐसा मरना क्षत्रिय के लिए अधर्म है।

(४) जो क्षत्रिय विना क्षत (घाव) के देह को त्याग करता था, अर्थात् विना शस्त्र-प्रहार के देह त्यागता था, प्राचीन (अथवा पुराने इतिहास के जाननेवाले) क्षत्रिय उस (मृत्यु) की प्रशंसा नहीं करते थे।

(५) हे प्यारे ! गृह में मर जाना क्षत्रियों का प्रशंसित (शोभा देनेवाला) कर्म नहीं, क्योंकि वे शूरवीर (सूरमा) होते हैं और शूरवीरों का ऐसा वीरतारहित मरना निंदित से निंदित अधर्म और अति कृपणता का कर्म समझा जाता है।

* इस विषय में पाराशर स्मृति में ऐसा लिखा है—"क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्। निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥"

अर्थ—क्षत्रिय राजा अपनी प्रजा की रक्षा करे और हाथ में शस्त्र धारण करके दुष्ट जनों को दंड देवे। और शत्रुओं की सेनाओं को जीतकर धर्म से पृथिवी का पालन करे।

ऐसा ही मनु भगवान् (अ० ७, श्लोक ८७-८८ में) कहते हैं—

समोत्तमाधमै राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षत्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्रह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

संबंध—उक्त कथन को भगवान् अब स्मृतिप्रमाण से अधिक स्पष्ट करते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

यदृच्छया, च, उपपन्नं	और जो अपने आप प्राप्त हुआ है	**सुखिनः, क्षत्रियाः, पार्थ**	हे अर्जुन! भाग्यवाले क्षत्रिय
स्वर्ग-द्वारं-अपावृतं	स्वर्ग का खुला द्वार है	**लभन्ते, युद्धं, ईदृशं**	ऐसे युद्ध को लाभ करते हैं

अन्वयार्थ——और हे अर्जुन! स्वतः प्राप्त हुआ (युद्ध) स्वर्ग का खुला द्वार है । ऐसे युद्ध को बड़े भाग्यवान् क्षत्रिय पाते हैं ॥ ३२ ॥

व्याख्या--हे पृथा-पुत्र अर्जुन! विना इच्छा या प्रयत्न के जो युद्ध प्राप्त हो, उसमें लड़ने वा मरने से क्षत्रिय को खुला स्वर्ग-द्वार मिलता है, अर्थात् ऐसे युद्ध में मरने से सीधी स्वर्ग-प्राप्ति होती

अर्थ—अपनी प्रजा का पालन करता हुआ क्षत्रिय राजा अपने समान उत्तम या अधम किसी भी योद्धा से (अथवा अपने समान जातिवाले क्षत्रियों, उत्तम ब्राह्मणों और अधम वैश्यों से) संग्राम करने के लिए बुलाया हुआ अपने क्षत्रिय धर्म को स्मरण करता हुआ उस संग्राम से पीछे न हटे ॥ ८७ ॥ संग्राम से पीछे न हटना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की शुश्रूषा करना, ये धर्म राजा के परम कल्याण करनेवाले हैं ॥ ८८ ॥

ऐसा क्षत्रिय का निज धर्म था, जिस भाव को लेकर भगवान् ने अर्जुन की दृष्टि अपने धर्म की ओर कराई ताकि वह अपने धर्म को ही स्मरण करके युद्ध में शीघ्र प्रवृत्त हो जाय ।

है, ऐसा स्मृति * का वाक्य है; और जो धर्म-युद्ध तेरे सामने है, यह भी तेरी इच्छा के विना स्वतः प्राप्त हुआ है, बड़े भाग्यवाले क्षत्रियों को ही ऐसे युद्ध करने मिलते हैं, अभागे पुरुष को तो नसीब भी नहीं होते। इसलिए हे अर्जुन ! ऐसे स्वर्ग के खुले द्वार के सदृश युद्ध का न करना तेरे लिए कदापि उचित नहीं, किंतु अधर्म है। पस, इसे तू अपना धर्म समझता हुआ शोकरहित होकर उठ और युद्ध कर ॥ ३२ ॥ †

संबंध—उक्त धर्मयुक्त युद्ध के न करने से जो दोष प्राप्त होगा, उसे भगवान् अब कहते हैं—

---

* इस विषय में मनु भगवान् का ऐसा कथन है कि—"आहवेषु मिथोन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यांत्यपराङ्मुखाः ॥"

अर्थ—युद्ध में परस्पर हनन की इच्छावाले जो क्षत्रिय राजे हैं, वे यथाशक्ति परस्पर युद्ध करते हुए तथा युद्ध से पीछे मुख न मोड़ते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

यही विषय महाभारत (६, १७, ८-९) में ऐसे आया है—

† "इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायाऽपावृतं महत् ।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ॥ ८ ॥
एव वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः ।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥ ९ ॥"

अर्थ—क्षत्रियो ! तुम्हारे लिए यह बड़ा स्वर्गद्वार खुला हुआ है, इसी से इंद्र व ब्रह्मलोकों को जाओ। पूर्व ऋषियों ने तुम्हारे वास्ते यही गति बताई है, इसलिए तुम सावधानचित्त होकर युद्ध में प्रवृत्त होओ।

और महाभारत (१२, २२, ३) में ऐसे कहा है—

"क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् ।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षात्रं धर्ममनुस्मर ॥ ३ ॥"

अर्थ—हे महाराज ! क्षत्रियों को युद्ध में मरना अनेक यज्ञों से श्रेष्ठ समझा जाता है और क्षत्रिय धर्म कहलाता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

अथ^{१}, चेत्^{२}, त्वम्^{३}.	और^{१} अगर^{२} तू^{३}	ततः^{१}, स्व^{२}-धर्मं^{३},	तो^{१} अपने^{२} धर्म^{३}
इमं^{४}, धर्म्यं^{५},	इस^{४} धर्मरूप^{५}	कीर्तिं^{५}, च^{४},	और^{४} कीर्ति^{५} को
संग्रामम्^{६}, न^{७},	संग्राम^{६} को	हित्वा^{६}, पापं^{७},	त्याग^{६}कर तू पाप^{७}
करिष्यसि^{८}	नहीं^{७} करेगा^{८}	अवाप्स्यसि^{८}	को प्राप्त^{८} होगा

अन्वयार्थ—और अगर तू इस धर्मरूप संग्राम को नहीं करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति को त्यागकर (केवल) पाप को प्राप्त होगा ॥३३॥

व्याख्या—और हे अर्जुन ! जो कदाचित् तू मोह और शोक के वश में आकर इस धर्मयुक्त अर्थात् कर्त्तव्यरूप युद्ध को न करेगा, तो प्रथम तू अपने कर्त्तव्य (धर्म) और यश (कीर्ति) के खोनेवाला होगा। फिर स्वधर्म के त्याग से जो भारी पाप उत्पन्न होता है, उसको तू प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥ *

संबंध—इससे आगे जो और बुरा फल मिलेगा, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

---

* इस विषय में मनु भगवान् ने (अ० ७, श्लोक ९४-९५ में) ऐसा कहा है—"यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः। भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥ यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥" अर्थ—संग्राम में भयभीत होकर पीछे हटा हुआ जो पुरुष दूसरों (शत्रुओं) से मारा जाता है, वह जिस राजा का सेवक (नौकर) होता है, उस (राजा) के सब पापों को (अथवा अपने मारनेवाले के सब पापों को) प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥ और जो उसने पुण्य कर्म स्वर्ग-प्राप्ति-निमित्त किये होते हैं वे सबके सब उसके मालिक (या मारनेवाले) के हो जाते हैं ॥ ९५ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अकीर्तिं^{५}, च^{१},	और^{१} लोग^{२} तेरी^{३}	सम्भावितस्य^{२},	और^{१} माननीय^{२}
अपि^{६}, भूतानि^{२},	निरंतर^{४} अपयश^{५}	च^{१}, अकीर्तिः^{३},	पुरुष की अकीर्ति^{३}
कथयिष्यन्ति^{७},	भी^{६} कथन^{७}	मरणात्^{४},	मरने^{४} से अधिक^{५}
ते^{३}, अव्ययाम्^{४}	करेंगे	अतिरिच्यते^{५}	होती है

अन्वयार्थ—और लोग तेरी निरंतर अकीर्ति भी करेंगे। माननीय पुरुष की अकीर्ति मरने से अधिक होती है ॥ ३४ ॥

अर्थात् भय के कारण युद्ध से उपराम होने पर मारे जानेवाले पुरुष के सब पुण्यकर्मों के फल तो उसके मालिक (या उसके मारनेवाले) को मिलते हैं, उस मारे गये को नहीं । और जो कुछ पापकर्म उसके मालिक (या मारनेवाले) ने किये होते हैं, उन सबके फल इस मारे गये पुरुष को मिलते हैं । इस प्रकार रण से भागनेवाला पुरुष अत्यंत पाप को प्राप्त होता है । और ऐसे ही याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है—"राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ।" युद्ध से पीछे हटने पर जो मारे जाते हैं, उन मारे हुओं के पुण्यकर्म को राजा (उनका मारनेवाला) ले जाता है ।

महाभारत (५,७३,४ और १२,१५,५४) में यह विषय इस प्रकार आया है—

जयो वधो वा संग्रामे धात्रादिष्टः सनातनः ।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैव कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—विधाता ने युद्ध में जीत या हार का जो कुछ विधान किया है, वही क्षत्रिय का सनातनधर्म है । दीनता की प्रशंसा नहीं होती है ।

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव ।
न तत्र किल्बिषं किञ्चित्कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! शत्रुनाश करने में आपके मन में दीनता मत हो, क्योंकि शत्रुनाश करनेवाला पाप में किसी प्रकार लिप्त नहीं होता है ।

व्याख्या--और हे अर्जुन ! युद्ध न करने से तू केवल पाप को ही प्राप्त नहीं होगा, बल्कि अपनी कीर्ति के नाश को भी। और रण से पीछे हटने पर लोग तेरी नित्य अकीर्ति (बदनामी) ही करेंगे, अथवा ऐसी बदनामी करेंगे कि जो कभी नाश या दूर ही न हो । तुझे चाहे इस बदनामी का किंचित् ख़्याल न आता हो, परंतु हमारे विचार में तो तेरे जैसे माननीय (प्रसिद्ध, प्रतिष्ठावान् या इज़्ज़तवाले) पुरुष के लिए इस निरंतर अपयश की अपेक्षा मरना अत्युत्तम है, क्योंकि प्रतिष्ठावाले पुरुष की अकीर्ति मरने से भी अधिक दुःख देनेवाली वा निकृष्ट होतीहै ॥३४॥*

संबंध--इससे अधिक और जो बुरा परिणाम निकलेगा, उसे भगवान् अब कहते हैं--

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

भयात्^{1}, रणात्^{2}, उपरतं^{3},	भय^{1} से रण^{2} से उपराम^{3} हुआ	येषां^{2}, च^{1}, त्वं^{3}, बहु^{४}-मतः^{5}, भूत्वा^{६},	और^{1} जिनका^{2} तू^{3} बहुत^{४} माना^{5} हुआ (मान्यवत्) होकर^{६} था
मंस्यन्ते^{3}, त्वां^{2}, महारथाः^{1}	महारथ^{1} लोग तुझे^{2} मानेंगे^{3}	यास्यसि^{2}, लाघवं^{1}	लघुता^{1} को तू प्राप्त^{2} होगा

---

* इस विषय पर महाभारत (५, ७३, २४) में ऐसे वर्णन है--

"कुलीनस्य च या निन्दा वधो वाऽमित्रकर्शन ।
महागुणो वधो राजन्न तु निन्दा कुजीविका ॥" २४ ॥

अर्थ--हे राजन् ! ऊँचे कुल के पुरुष की निंदा मृत्यु के तुल्य है, और अपयशवाले जीवन से मृत्यु भी बहुत श्रेष्ठ है ।

अन्वयार्थ——महारथ लोग तुझे भय के कारण रण से उपराम हुआ मानेंगे। और जिनका तू बहुत माना हुआ (मान्यवर) था (उनके आगे) तू लघुता को प्राप्त होगा ॥ ३५॥

व्याख्या—और हे अर्जुन! यद्यपि तू दयाभाव से व्याप्त हुआ इस घोर युद्ध से उपराम होना चाहता है, तथापि तेरे उपराम होने पर ये कर्ण-दुर्योधनादि योद्धा लोग ऐसा अनुमान नहीं करेंगे कि तू अपने दयालु स्वभाव के कारण युद्ध करने से हट रहा है; किंतु वे सब अपने दिल में यही समझेंगे कि "अर्जुन हमारे भय के कारण रण-भूमि से भागा ज़ा रहा है"। और जो योद्धा लोग तुझे अब तक बड़ा बलवान् समझते हैं, अर्थात् जिनके आगे तू बड़ा मान्यवर है, उनके दिल में जब यह समा जायगा कि तू उनके भय से युद्ध करना छोड़ रहा है, तो उनके दिल से तेरा मान जाता रहेगा, और तुझे वे गीदड़-दिल (शृगाल-चित्त तथा तुच्छ बलवाला) समझेंगे, जिससे उनके सामने तू हलका पड़ जायगा ॥ ३५ ॥

संबंध—और क्या वे योद्धा लोग कहेंगे, उसे भगवान् अब कहते हैं——

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अवाच्य^{3}-वादान्^{4}, च^{1}, बहून्^{2}	और^{1} बहुत^{2} अनकहनी^{3} बातें^{4} (वचन)
वदिष्यन्ति^{4}, तव^{1}, अ^{2}-हिताः^{3}	तेरे^{1} न^{2} हित^{3} करनेवाले (शत्रु) कहेंगे^{4}
निन्दन्तः^{3}, तव^{1}, सामर्थ्यं^{2}	तेरे^{1} बल^{2} को निंदते^{3} हुए
ततः^{1}, दुःख^{3}-तरं^{2}, नु^{4}, किं^{5}	इससे^{1} बढ़कर^{2} दुःख^{3} फिर^{4} क्या^{5} (होगा)

अन्वयार्थ——और तेरे शत्रु तेरे बल को निंदते हुए बहुत सी

अनकहनी बातें कहेंगे, इससे अधिक दुःख और (तुझे) क्या होगा ॥ ३६ ॥

व्याख्या—और हे अर्जुन ! भीष्म-द्रोणादि तो तेरे बल को तुच्छ समझकर तुझे अपने चित्त से उतार देंगे, अर्थात् कोई मान नहीं देंगे, जिससे तुझे उनके आगे हलका होना पड़ेगा। परंतु दुर्योधनादि जो तेरे शत्रु हैं वे तुझे युद्ध से भागा वा हटता देखकर सबके आगे तेरे बल की अत्यंत निंदा करेंगे, और निंदते हुए तुझे बहुत से अपशब्द (न कहने योग्य शब्द, दुर्वाक्य या गाली-गलौज इत्यादि) कहेंगे, जिससे अधिक दुःख तेरे जैसे प्रसिद्ध योद्धा को भला और क्या हो सकता है ॥ ३६ ॥

संबंध—ऐसे अपयश, पाप और निंदा से बचने के लिए जो श्रेष्ठ उपदेश है, उसे उपसंहाररूप से भगवान् अब कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७॥

हतः^{2}, वा^{1}, प्राप्स्यसि^{4}, स्वर्गं^{3}	यदि^{1} मारा^{2} गया तो स्वर्ग^{3} को तू प्राप्त^{4} होगा	तस्मात्^{1}, उत्तिष्ठ^{3}, कौन्तेय^{2}	इसलिए^{1}, हे अर्जुन^{2}! उठ^{3}
जित्वा^{2}, वा^{1}, भोक्ष्यसे^{4}, महीम्^{3}	या^{1} जीत^{2} कर पृथिवी^{3} (राज्य) को तू भोगेगा^{4}	युद्धाय^{1}, कृत^{2}-निश्चयः^{3}	युद्ध^{1} के लिए किये^{2} हुए (पक्के) निश्चय^{3} वाला होकर

अन्वयार्थ—यदि तू मारा गया, तो स्वर्ग को प्राप्त होगा ; यदि जीत गया, तो पृथिवी को भोगेगा। इसलिए हे अर्जुन ! तू युद्ध के लिए पक्के निश्चयवाला होकर उठ ॥ ३७॥

व्याख्या—और हे कुंती-पुत्र अर्जुन ! यह भी तुझे याद रखना

चाहिए कि इस धर्म-युक्त युद्ध में यदि तू कर्णादि शूरवीरों से मारा गया, तो सीधा स्वर्ग को प्राप्त होगा ; और यदि इन दुर्योधनादि शत्रुओं को जीत गया, तो पृथिवी को (अर्थात् पृथिवी के भारी राज्य को) भोगेगा। इस प्रकार जय और पराजय दोनों में तुझे लाभ होगा (अर्थात् तेरे दोनों हाथ लड्डू होंगे). इसलिए युद्ध का पक्का निश्चय करके तू उठ खड़ा हो, और लड़ ॥ ३७ ॥

संबंध--इस प्रकार युद्ध करने का उपदेश देकर अब भगवान् युद्ध करने की रीति दर्शाते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख[१]-दुःखे[२], समे[७], कृत्वा[८], लाभ[३]-अलाभौ[४], जय[५]-अजयौ[६]	सुख[१]-दुःख[२], लाभ[३]-हानि[४], जीत[५]-हार[६] इनको सम[७] करके[८]	ततः[१], युद्धाय[२], युज्यस्व[३]	फिर[१] युद्ध[२] के लिए युक्त[३] हो
		न[३], एवं[१], पापं[२], अवाप्स्यसि[४]	ऐसे[१] पाप[२] को नहीं[३] प्राप्त[४] होगा

अन्वयार्थ——*सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार को सम करके फिर तू युद्ध के लिए युक्त हो। ऐसे तू पाप को प्राप्त नहीं होगा ॥ ३८ ॥

व्याख्या--और हे अर्जुन ! किसी प्रकार की जीत-हार, हानि-लाभ और सुख-दुःख की इच्छा वा प्रेरणा से युद्ध मत कर। बल्कि इन सबको एक समान समझता हुआ और युद्ध को केवल अपना कर्त्तव्य (स्वधर्म) समझकर इसमें युक्त हो। इस प्रकार

---

* सुख-दुःख फल हैं। लाभ-हानि उनके कारण हैं, और यहाँ जय-पराजय इस लाभ-हानि के कारण हैं। (पं० राजाराम)

युद्ध करने से तुझे किसी प्रकार का पाप न लगेगा ॥ ३८ ॥ *

संबंध—(१) यहाँ तक भगवान् ने आत्मतत्त्व और स्वधर्म का विवेक कराया और अंत में उस विवेक के अनुसार समता भाव से कर्म में युक्त होने की विधि संक्षेपपूर्वक दर्शाई। अब उसी विधि को भगवान् योग के नाम से विस्तारपूर्वक अध्याय पर्यन्त वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार तत्त्वज्ञान व स्वधर्म ज्ञान देने के बाद भगवान् अब तदनुसार कर्मयोग का उपदेश आरंभ करते हैं—

अथवा (३) उक्त आत्मज्ञान व स्वधर्मज्ञान के दृढ़ अनुष्ठान के लिए भगवान् अब कर्मयोग का वर्णन करते हैं—

अथवा (४) उक्त तत्त्वोपदेशानुसार समत्व वा स्थिर बुद्धि का विस्तारपूर्वक भावयुक्त वर्णन और गति भगवान् अब कर्मयोग के नाम से वर्णन करते हैं—

अथवा (५) आत्मज्ञानियों के लिए उक्त सांख्यतत्त्व का वर्णन करने के बाद अब भगवान् कर्मयोगियों के लिए कर्मयोग का निरूपण करते हैं—

अथवा (६) अब अर्जुन तथा संपूर्ण जीवों के कल्याण निमित्त भगवान् कर्मयोग का उपदेश आरंभ करते हैं—

---

* श्रीज्ञानदेवजी इस पर विचित्र रूप से ऐसे व्याख्या करते हैं—

"सुख के समय संतोष न मानना चाहिए, अथवा दुःख के समय खेद भी न मानना चाहिए, और लाभ तथा हानि मन में न लाना चाहिए। युद्ध में विजय होगा अथवा देह का नाश होगा, इन अगली बातों की पहले से ही चिंता न करनी चाहिए। हमें जो उचित है उस स्वधर्म से व्यवहार करते समय जो कुछ फल हो सो शांति से सह लेना चाहिए। मन इतना दृढ़ हो जाय तो सहज ही पाप न लगेगा। इसलिए अब भ्रम छोड़ युद्ध करो।"

यह गीता-शास्त्र की कुंजी है कि पुरुष यदि अपने नियत कर्म को केवल अपना धर्म (कर्त्तव्य) समझकर करे और उसमें किसी प्रकार के फल वा परिणाम की भावना या आकांक्षा न रक्खे किंतु सर्व प्रकार के फल या परिणाम को एक समान समझे, तो उसे वह कर्म किंचित्-मात्र लिपायमान नहीं करता।

* अथवा (७) उक्त तत्वज्ञान का असली ज्ञान वा तत्वोपदेश का व्यावहारिक रूप भगवान् अब कर्मयोग के नाम से स्पष्ट करते हैं—

---

* इस संबंध पर श्रीशंकराचार्य ऐसा लिखते हैं—"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" इत्यादि श्लोकों द्वारा शोक और मोह को दूर करने के लिए लौकिक न्याय बतलाया गया, पारमार्थिक दृष्टि से यह नहीं कहा गया। पर यहाँ प्रकरण परमार्थ-दर्शन का है जो पहले (श्लोक ३० तक) कहा जा चुका है। अब शास्त्र के विषय का विभाग दर्शाने के लिए 'एषा तेऽभिहिता' इस श्लोक द्वारा उसका उपसंहार करते हैं। क्योंकि यहाँ शास्त्र के विषय का विभाग दिखलाया जाने से आगे चलकर 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनां' इत्यादि जो दो निष्ठाविषयक शास्त्र है वह सुखपूर्वक कहा जा सकेगा और श्रोतागण भी विषय-विभागपूर्वक अनायास ही उसे ग्रहण कर सकेंगे। इसलिए कहते हैं—

इस संबंध पर श्रीतिलक महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—

"संसार में आयु बताने के दो मार्ग हैं—एक सांख्य और दूसरा योग। इनमें जिस सांख्य अथवा संन्यास-मार्ग के आचार को ध्यान में लाकर अर्जुन युद्ध छोड़ भिक्षा माँगने के लिए तैयार हुआ था, उस संन्यास-मार्ग के तत्वज्ञानानुसार ही आत्मा का या देह का शोक करना उचित नहीं है। भगवान् ने अर्जुन को सिद्ध कर दिखलाया है कि सुख और दुःखों को समबुद्धि से सह लेना चाहिए, एवं स्वधर्म की ओर ध्यान देकर युद्ध करना ही क्षत्रिय-को उचित है, तथा समबुद्धि से युद्ध करने में कोई भी पाप नहीं लगता। परंतु इस मार्ग (सांख्य) का मत है कि कभी न कभी संसार छोड़कर संन्यास ले लेना ही प्रत्येक मनुष्य का इस जगत् में परम कर्त्तव्य है; इसलिए इष्ट जान पड़े तो अभी ही युद्ध छोड़कर 'संन्यास क्यों न ले लें' अथवा 'स्वधर्म का पालन ही क्यों करें' इत्यादि शंकाओं का निवारण सांख्यज्ञान से नहीं होता; और इसी से यह कह सकते हैं कि अर्जुन का मूल आक्षेप ज्यों का त्यों बना है। अतएव अब भगवान् कहते हैं"—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥

एषा[१], ते[२], अभिहिता[८], सांख्ये[३], बुद्धिः[४], योगे[७], तु[६], इमां[९], शृणु[५]	यह[१] तेरे तईं[२] सांख्य[३] विषय में बुद्धि[४] कही[८] गई अब[६] योग[७] विषय में इसको[९] तू सुन[५]	बुद्ध्या[२], युक्तः[३], यया[१]	जिस[१] बुद्धि[२] से युक्त[३] हुआ
		पार्थ[१], कर्म[२]-बंधं[३], प्रहास्यसि[४]	हे अर्जुन[१] ! तू कर्म[२]-बंधन[३] को त्याग[४] देगा

अन्वयार्थ—यह तुझे सांख्य-विषय में बुद्धि कही गई, अब योग-विषय में तू इस (बुद्धि) को सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू, हे अर्जुन ! कर्म-बंधन को त्याग देगा ॥३९॥

व्याख्या--"न त्वेवाहं" (२।१२) से लेकर "तस्मात् सर्वाणि भूतानि" (२।३०) तक जो आत्म-तत्त्व का विवेक कराया गया, वही तत्त्वविवेक यहाँ सांख्य ※ शब्द से अभिप्रेत है। और "स्वधर्मपि

※ पूर्वापर की आलोचना से यहाँ 'सांख्य', 'योग' शब्दों से अभिप्राय तत्त्वज्ञान और उस ज्ञान के अनुभव-निमित्त अथवा उसका अनुसरण रूप समताभाव से कर्म में युक्त होना है। और भिन्न-भिन्न व्याख्याताओं ने प्रतिपादन की रीति में भेद करते हुए भी परमाशय यही निकाला है, जैसे--(१) सांख्य=परमार्थ वस्तु का विवेक (श्रीशंकराचार्य)। (२) संख्या=बुद्धि, उससे जानने योग्य आत्मतत्त्व=सांख्य (श्रीरामानुज)। (३) संख्या=परमात्मा के तत्त्व को बतलानेवाली अर्थात् उपनिषद्, उससे प्रतिपादित सांख्य अर्थात् औपनिषद् पुरुष (श्रीमधुसूदन)। वास्तव में सांख्य-शास्त्र का विषय भी प्रकृति-पुरुष का विवेक है, इसलिए सांख्य से यहाँ तत्त्वज्ञान का विवेक ही अभिप्रेत है। और योगशास्त्र का विषय चित्त का समाधान वा निरोध है, सो तत्त्वज्ञान के अनुभवार्थ या अनुसरणार्थ

चावेक्ष्य" (२।३१) से लेकर "सुखदुःखे समे कृत्वा" (२।३८) में जो सुख-दुःख इत्यादि को समान समझकर (अपने धर्मानुसार तथा तत्त्वविवेकानुसार) कर्म में युक्त होने का उपदेश दिया गया, उसी प्रकार से युक्त होना यहाँ योग शब्द से अभिप्रेत है। पूर्व विषय जो विस्तारपूर्वक १९ श्लोकों में वर्णन हुआ उसका तो उपसंहार करने के आशय से, और उत्तर विषय जो स्वधर्म-विचार दर्शाने के बाद केवल एक श्लोक ३८ में संक्षेप से वर्णन हुआ उसको विस्तारपूर्वक कथन करने के उद्देश्य से भगवान् अब ऐसा कहते हैं कि हे पृथा-पुत्र अर्जुन! यहाँ तक जो तुझे आत्म-तत्त्व के विवेक में बुद्धि (मति, विवेचना, निश्चय या भावना) सविस्तर दी गई। अब तू योग (तत्त्वसाक्षात्कारार्थ अथवा उस भावनानुसार समताभाव से कर्म में युक्त होने) के विषय में बुद्धि (विचार या निश्चय) को सुन कि जिस बुद्धि में दृढ़ युक्त होने से तू कर्म के बंधन को त्याग देगा, अर्थात् जिससे तू कर्म के कर्तृत्वादि संग-दोष में आसक्त वा लिप्त होने नहीं पायेगा, अथवा जिसमें युक्त होने से कर्म तुझे लिपायमान न करेंगे, वे तेरा पल्ला स्वतः छोड़ बैठेंगे और तू कर्मातीत हो जायगा ॥ ३९ ॥ *

समत्व भाव वा बुद्धि से अपने कर्तव्य का पालन करते हुए चित्त को अपने परमस्वरूप के निश्चय वा ध्यान में युक्त वा समाहित रखना ही यहाँ योग से अभिप्राय है। अर्थात् तत्त्वविवेकानुसार समताभाव से कर्म का अनुष्ठान करना (हाथ कार में और दिल यार में रखना) योग है। (टीकाकार)

* इस श्लोक पर श्रीतिलक महाराज की व्याख्या इस प्रकार है—

"भगवद्गीता का रहस्य समझने के लिए यह श्लोक अत्यंत महत्त्व का है। 'सांख्य' शब्द से कपिल का सांख्य या निरा वेदांत, और 'योग' शब्द से पातंजल योग यहाँ पर उद्दिष्ट नहीं है—सांख्य से संन्यासमार्ग और योग से कर्ममार्ग ही का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिए। यह बात गीता के

संबंध—(१) अब भगवान् इस योग को वर्णन करने से पहले इसकी महिमा (वा श्रेष्ठता) श्लोक ४८ तक कथन करते हैं, ताकि अर्जुन की इसके सुनने और करने में रुचि अधिक बढ़ जाय—

अथवा (२) अब भगवान् इस कर्मयोग के मुख्य-मुख्य सिद्धांत (फल) पहले वर्णन करते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

न^{4}, इह^{1}, अभिक्रम^{2}-नाशः^{3}, अस्ति^{1}	यहाँ^{1} (इस^{1} योग में) आरंभ^{2} का नाश^{3} नहीं^{4} है^{1}	स्वल्पं^{3}, अपि^{4}, अस्य^{1}, धर्मस्य^{2}	इस^{1} धर्म^{2} का थोड़ा^{3} सा (किया हुआ) भी^{4}
प्रत्यवायः^{1}, न^{2}, विद्यते^{3}	विधि के उल्लंघन करने का पाप^{1} नहीं^{2} होता^{3} है	त्रायते^{3}, महतः^{1}, भयात्^{2}	बड़े^{1} भय^{2} से बचाता^{3} है

---

३. ३ श्लोक से प्रकट होती है। ये दोनों मार्ग स्वतंत्र हैं, इनके अनुयायियों को भी क्रम से "सांख्य"=संन्यासमार्गी, और "योग"=कर्मयोगमार्गी कहते हैं (गी० ५. ५)। इनमें सांख्यनिष्ठा वाले लोग कभी न कभी अंत में कर्मों को छोड़ देना ही श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए इस मार्ग के तत्त्वज्ञान से अर्जुन की इस शंका का पूरा-पूरा समाधान नहीं होता कि युद्ध क्यों करें ? अतएव जिस कर्मयोगनिष्ठा का ऐसा मत है कि संन्यास न लेकर ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से सदैव कर्म करते रहना ही प्रत्येक का सच्चा पुरुषार्थ है, उसी कर्मयोग का (अथवा संक्षेप में योगमार्ग का) ज्ञान बतलाना अब आरंभ किया गया है और गीता के अंतिम अध्याय तक अनेक कारण दिखलाते हुए, अनेक शंकाओं का निवारण कर, इसी मार्ग का पुष्टिकरण किया गया है। गीता के विषय-निरूपण का, स्वयं भगवान् का किया हुआ, यह स्पष्टीकरण ध्यान में रखने से इस विषय में कोई शंका रह नहीं जाती कि कर्मयोग ही गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का पहले निर्देश करते हैं—"

अन्वयार्थ—इसमें आरंभ का नाश नहीं, और प्रत्यवाय होता नहीं है। इस धर्म का थोड़ा सा (अनुष्ठान किया हुआ) भी बड़े भय से बचाता है ॥४०॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे खेती में हल चलाने और बीज बोये जाने पर भी यदि वर्षा न हो, अथवा जल न सींचा जाय, तो खेती कुछ फल नहीं देती, बल्कि पूर्व के सारे यत्न भी निष्फल जाते हैं, और चित्त अत्यंत दुःखी हो जाता है। इसी प्रकार काम्य कर्म (चाहे वैदिक हों या लौकिक) जब सांगोपांग नहीं किये जाते, तब वांछित फल नहीं देते, बल्कि उनसे उलटा पाप अर्थात् प्रत्यवाय लग जाता है। इस प्रकार की निष्फलता और प्रत्यवाय (विधि के उल्लंघन करने का पाप) इस योगमार्ग में (अर्थात् तत्त्वविवेकानुसार सुख-दुःख, हानि-लाभ, इत्यादि द्वंद्वों में समचित्त होकर कर्म में युक्त होने से) कदापि नहीं होते; बल्कि न तो इसके आरंभ का नाश होता है और न इसमें कोई प्रत्यवाय ही होता है। अर्थात् जैसे खेती को जल न मिलने से पहले जितने हल इत्यादि के यत्न किये होते हैं, वे सब निष्फल जाते हैं, इस प्रकार इस योगमार्ग के आरंभ में जो कुछ किया होता है, वह निष्फल नहीं जाता किंतु उलटा कल्याणकारक ही होता है, और न उसमें किसी कर्म-विधि के टूट जाने से कोई पाप (प्रत्यवाय) ही लगता है। पाप का लगना या आरंभ का निष्फल होना तो दूर रहा, उलटा यह परिणाम निकलता है कि इस योगरूप धर्म का किंचित्-मात्र अनुष्ठान भी बड़े भारी भय से बचा देता या पार कर देता है ॥ ४० ॥ *

---

* "इसका यह अर्थ है कि कर्मयोगमार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में उपयोगी

और—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

व्यवसाय^{1}-आत्मिका^{2} बुद्धि^{3}:	निश्चय^{1}-स्वरूपा^{2} (निश्चयात्मिक) बुद्धि^{3}	बहु^{2}-शाखाः^{3} हि^{1}, अनन्ताः^{5} च^{4}, बुद्धयः^{6}, अ^{7}-व्यवसायिनां	परंतु^{1} बहुत^{2} शाखावाली^{3} और^{4} अनंत^{5} बुद्धियाँ^{6} न^{7} निश्चयवालों की हैं
एक^{4}, इह^{3}, कुरु^{1}-नन्दन^{2}	हे कुरुओं^{1} को खुश^{2} करनेवाले (अर्जुन) इस^{3} विषय में एक^{4} है		

अन्वयार्थ—हे कुरुनंदन ! इस विषय में निश्चयात्मिक बुद्धि तो एक है, परंतु निश्चयरहित पुरुषों की बुद्धियाँ नाना प्रकार की और अनंत हैं ॥ ४१ ॥

पहली व्याख्या--हे कुरुओं को खुश करनेवाले (अर्जुन) ! इस उक्त योग में जो निश्चय रखते हैं, उन निश्चयात्मिक पुरुषों की बुद्धि (विचार वा सम्मति) एक है। अर्थात् जिनका निश्चय ऐसा है कि "आत्मा अज, अमर, अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी है, उसको शारीरिक जन्म-मरण तथा कर्म कदापि लिपायमान नहीं करते, और इसीलिए लाभ-हानि, सुख-दुःख इत्यादि द्वंद्वों को एक समान समझकर कर्म का करना कर्म के संगदोष से रहित रखता है", ऐसे निश्चयवान् पुरुषों के भीतर के विचार और प्रयत्न एक होते हैं, जिससे वे सब इसी योग का अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् तत्त्वविवेकानुसार समता बुद्धि से कर्म में युक्त होते रहते

होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी बढ़ती होती जाती है, एवं अंत में कभी न कभी सच्ची सद्गति मिलती ही है।" (श्रीतिलक महाराज)

हैं। और जिनका निश्चय ऐसा नहीं, अर्थात् जो तत्त्वज्ञान से रहित होने के कारण निष्काम वा समताभाव से हीन हैं, जिससे उनके चित्त नाना प्रकार की कामनाओं वा लालसाओं से ग्रसित, विचलित और विवश हुए होते हैं, ऐसे निश्चयरहित पुरुषों के विचार, आचार और प्रयत्न भी नाना और अगणित होते हैं, और इसी हेतु से वे इस योगमार्ग में प्रवृत्त नहीं होते; किंतु अपनी-अपनी कामनाओं के अनुसार सकाम कर्मों में युक्त और लिप्त रहते हैं॥ ४१ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में युक्त पुरुष का लक्ष्य एक होता है, अर्थात् समताभाव से कर्म में युक्त होनेवाला पुरुष सारे कर्म ईश्वरार्पण के उद्देश्य से करता है, इसलिए इस विषय में उसकी अटल निश्चयवाली बुद्धि केवल एक निष्ठा रखती है। पर जो सकाम और बहिर्मुख पुरुष हैं, अर्थात् जो कामनाओं के प्यारे हैं, ईश्वर के नहीं, उनके लक्ष्य और निश्चय अनेक होते हैं, एक नहीं। कभी वे इस कामना को चाहते हैं कभी उसको, कभी इस देवता में निश्चय रखते हैं कभी उसमें। इसलिए उनकी बुद्धियाँ नाना प्रकार के निश्चयवाली अर्थात् पुत्र, पशु, धन, ऐश्वर्यादि कामनाओं के भेद से बहुत शाखाओंवाली और अगणित होती हैं॥ ४१ ॥

तीसरी व्याख्या--हे अर्जुन! इस उक्त योगमार्ग में दृढ़ निश्चय रखनेवाली बुद्धि (अथवा निरंतर प्रवृत्त रहनेवाली बुद्धि) केवल एक ही लक्ष्य (तत्त्वचिंतन) अपना रखती है, नाना लक्ष्यों को नहीं। अर्थात् तत्त्वविवेकानुसार समताभाव से कर्म में युक्त होनेवाले का दृढ़ निश्चय और प्रवृत्ति सदा एक लक्ष्य (तत्त्वचिंतन वा आत्मानुभव) को लिये होते हैं, नाना लक्ष्यों को लिये नहीं होते। परंतु जो नाना लक्ष्यों से प्रेरित हैं, अर्थात्

जिनके चित्त में नाना उद्देश्यों वा फलों के पाने की अनेक कामनाएँ हैं (जिससे वे एक लक्ष्यवाले निष्काम मार्ग में नहीं किंतु नाना लक्ष्योंवाले सकाम मार्गों में प्रवृत्त होते हैं), ऐसे सकामी और निष्काम मार्ग में निश्चय न रखनेवाले पुरुषों की बुद्धियाँ (विचार) नाना उद्देश्यवाली होने से अगणित मार्गों में ले जाने वाली होती हैं, एक मार्ग में प्रवृत्त रहने नहीं देतीं, और न एक लक्ष्य वा स्थान पर टिकने ही देती हैं ॥ ४१ ॥

चौथी व्याख्या--हे कुरुनंदन ! व्यवसाय नाम जो विष्णु भगवान्, उसमें है आत्मा अर्थात् मन जिनका, ऐसे जो केवल भगवान् में निश्चय रखनेवाले हैं, उन भगवत्परायण पुरुषों की बुद्धि (निष्ठा) तो एक है, अर्थात् वे केवल भगवदर्पण भाव से निष्काम कर्म ही करते हैं । और जो परमात्मा से इतर अन्य पदार्थों वा देवताओं में मन या निश्चय रखते हैं, अथवा जो पुत्र-पौत्रादि पदार्थों को ही चाहते रहते हैं, उनकी बुद्धियाँ (निष्ठाएँ) अनेक कामनाओं के कारण नाना प्रकार की और अगणित होती हैं ॥ ४१ ॥

पाँचवीं व्याख्या—हे अर्जुन ! इस तत्त्वज्ञान के अनुष्ठानरूप कर्मयोग में निश्चयात्मिक विचार तो एक है, और संशयात्मा पुरुषों के विचार नाना प्रकार के और अगणित हैं। अर्थात् जो पुरुष विचारवान्, आस्तिक और निश्चयात्मा हैं, वे सब मानते हैं कि "आत्मा के अज्ञान से तो निःसंदेह दुःख दूर नहीं होते, परंतु उसके केवल परोऽक्षज्ञान से भी दुःखों की निवृत्ति तथा परमानंद की प्राप्ति अथवा कर्म-बंधन से मुक्ति नहीं होती। पर हाँ, जब तत्त्वज्ञान में दृढ़ निश्चय होता है और उस निश्चय से ज्ञान का अनुष्ठान अर्थात् समत्व बुद्धि से कर्म में युक्त होना होता है, तब इस प्रकार के अभ्यास से तत्त्वचिंतन में चित्त की स्थिरता

होते-होते स्वतः आत्मसाक्षात्कार होता है, जिस पर दुःखों की निवृत्ति, परमानंद की प्राप्ति और कर्म-बंधन से नितांत मुक्ति निर्भर है।" और जो विचारहीन होने से संशयात्मा वा भ्रमी पुरुष होते हैं, उनका किसी एक वस्तु में चिरकाल तक निश्चय नहीं टिकता, आज वे आस्तिक हैं तो कल नास्तिक हैं; आज इस देवता के उपासक हैं तो कल दूसरे के; इस प्रकार न तत्त्वज्ञान में ही दृढ़ निश्चय रखते हैं और न निष्काम कर्म में प्रवृत्त होना अपना अवश्य कर्त्तव्य समझते हैं, बल्कि नाना प्रकार के सकाम कर्म उपासनादि को ही आनंद की प्राप्ति का साधन मानते हैं, जिससे उनके विचार वा निश्चय भाँति-भाँति के और अगणित हैं। संक्षेप से तात्पर्य यह कि इस तत्त्वज्ञान के अनुष्ठानरूप निष्काम कर्मयोग के विषय में "सौ स्याने एको मत, मूर्ख अपनो अपनी है।" अर्थात् इस विषय में सब विचारवानों का एक मत (विचार) है, और मूर्खों का भिन्न-भिन्न और अनंत है ॥ ४१ ॥ *

---

* उक्त व्याख्याओं से कुछ विलक्षण अन्य व्याख्याएँ इस श्लोक पर इस प्रकार हैं—

"संस्कृत में बुद्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं। ३९ वें श्लोक में यह शब्द ज्ञान के अर्थ में आया है और आगे ४९ वें श्लोक में इस 'बुद्धि' शब्द का ही 'समझ, इच्छा, वासना, वा हेतु' अर्थ है। परंतु बुद्धि शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण है, इसलिए इस श्लोक के पूर्वार्ध में इसी शब्द का अर्थ यों होता है, व्यवसाय अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि-इंद्रिय। पहले इस बुद्धि-इंद्रिय से किसी भी बात का भला-बुरा विचार कर लेने पर फिर तदनुसार कर्म करने की इच्छा वा वासना मन में हुआ करती है। अतएव इस इच्छा या वासना को भी बुद्धि ही कहते हैं। परंतु उस समय 'व्यवसायात्मिका' यह विशेषण उसके पीछे नहीं लगाते। भेद दिखलाना ही आवश्यक हो, तो 'वासनात्मक'

संबंध--(१) अब ऐसे तत्त्व-ज्ञान-हीन और संशयात्मा पुरुषों के चित्त और बुद्धि की दशा को भगवान् विस्तारपूर्वक दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब सकाम कर्मियों की बहुशाखायुक्त बुद्धि को भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (३) सकामी पुरुषों की संशयात्मिक वा बहुशाखारूप बुद्धि का हेतु अब भगवान् तीन श्लोकों में विस्तारपूर्वक दर्शाते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् काम्य कर्मों तथा सकामी पुरुषों की अनेक शाखायुक्त बुद्धि की निंदा तीन श्लोकों से करते हैं—

बुद्धि कहते हैं। इस श्लोक के दूसरे चरण में केवल 'बुद्धि' शब्द है, उसके पीछे 'व्यवसायात्मक' यह विशेषण नहीं है। इसलिए बहुवचनांत 'बुद्धयः' से 'वासना, कल्पनातरंग' अर्थ होकर पूरे श्लोक का यह अर्थ होता है कि 'जिनकी व्यवसायात्मक बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेवाली बुद्धि-इंद्रिय स्थिर नहीं होती, उनके मन में क्षण-क्षण में नई तरंगें या वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं।' बुद्धि शब्द के 'निश्चय करनेवाली इंद्रिय' और 'वासना' इन दोनों अर्थों को ध्यान में रखे विना कर्मयोग की बुद्धि के विवेचन का मर्म भली भाँति समझ में आने का नहीं। व्यवसायात्मक बुद्धि के स्थिर या एकाग्र न रहने से प्रतिदिन भिन्न-भिन्न वासनाओं से मन व्यग्र हो जाता है और मनुष्य ऐसी अनेक झंझटों में पड़ जाता है कि आज पुत्र-प्राप्ति के लिए अमुक कर्म करो, तो कल स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अमुक कर्म करो। बस, अब इसी का वर्णन आगे करते हैं।" (श्रीतिलक महाराज)

"बुद्धि ज्ञानयोगमयी हो या निष्काम कर्मयोगमयी हो जिसका लक्ष्य आत्मा है वह बुद्धि एकमुखिनी ही होती है, क्योंकि ऐसी बुद्धि के द्वारा साधक अनंत प्रकार कार्य करने पर भी सभी का एक ही परिणाम चित्त-शुद्धि द्वारा परमात्मा की प्राप्ति ही होता है। किंतु सकाम कर्मपरायण मनुष्यों का लक्ष्य एक ही आत्मा न होकर भिन्न-भिन्न कर्मों की भिन्न-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भिन्न फल-प्राप्ति होती है, इसलिए उनकी बुद्धि में अनेक शाखा तथा अनेक प्रकार होते हैं। वे कभी धनलाभ के लिए कुछ सकाम कर्म करते हैं, कभी पुत्रलाभ के लिए पुत्रेष्टि यज्ञादि करते हैं। वेद के सकाम कर्मकांड में तथा अनेक शाखाओं में ऐसे अनेक सकाम यज्ञादि कर्मों के वर्णन हैं। अतः इन कर्मों में फँसे हुए मनुष्यों की बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' न होकर 'बहुशाखा' तथा 'अनंता' होती है।" (भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंदजी)।

"जैसे दीपक की ज्योति छोटी सी रहती है; परंतु अत्यंत प्रकाश प्रकट करती है, उसी प्रकार इस सद्बुद्धि को अल्प मत समझो। हे पार्थ! विचारवान् मनुष्यों को सब प्रकार से इस सद्बुद्धि की अपेक्षा करनी चाहिए। कारण, सद्वासना चराचर में दुर्लभ हैं। जैसे अन्य पत्थरों के समान पारस बहुत सा नहीं मिलता, अथवा अमृतबिंदु कभी दैवयोग से ही प्राप्त होता है, वैसे ही परमात्मा में जिसका पर्यवसान होता है सो सद्बुद्धि दुर्लभ है। गंगा को सर्वदा जैसे समुद्र वैसे जिसे ईश्वर के सिवाय और कुछ प्राप्तव्य नहीं है, ऐसी, हे अर्जुन! संसार में एक ही बुद्धि है। दूसरी जो बुद्धि है जिससे विकार उत्पन्न होते हैं, सो दुर्बुद्धि है। उसमें अविचारी लोग निरंतर रमण करते हैं। इसलिए हे पार्थ! उन्हें स्वर्ग, संसार, अथवा नरक यही गति प्राप्त होती है, परंतु आत्मसुख कभी दिखाई नहीं देता।" (श्रीज्ञानदेवजी)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

यां, इमां, पुष्पितां, वाचं, प्रवदन्ति, अ-विपश्चितः	इस पुष्पित (सुहावनी) वाणी को जिसे विचार-रहित (अविवेकी) पुरुष बोलते हैं
वेद-वाद-रताः	वेदों के अर्थवाद में रते हुए (या वेदों के वचनों में ही प्रसन्न चित्त)
पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिनः	हे अर्जुन! (इससे अधिक या अतिरिक्त) और नहीं है, ऐसा कहनेवाले
काम-आत्मानः	काम स्वरूप (अर्थात् कामनाओं से ग्रसे हुए चित्तवाले)
स्वर्ग, परा	स्वर्ग परायण (या स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ माननेवाले)
जन्म-कर्म-फल-प्रदां	जन्म रूप कर्म-फल के देनेवाली

क्रिया-विशेष-बहुलां	बहुत प्रकार की क्रियाएँ
भोग-ऐश्वर्य-गतिं, प्रति	भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए
भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानां	भोग और ऐश्वर्य में फँसे हुए (चित्तवालों) की
तया, अपहृत-चेतसां	उससे हरे गये चित्तवालों की
व्यवसाय-आत्मिका-बुद्धि	निश्चयात्मिक बुद्धि
समाधौ, न, विधीयते	समाधि में नहीं लगती (नहीं स्थिर होती अथवा नहीं उत्पन्न होती) है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन! वेदवाद में रते हुए, (इससे परे)

"और कुछ नहीं" ऐसा कहनेवाले, कामनास्वरूप और स्वर्गपरायण अविवेकी लोग इस पुष्पित* (सुहावनी) वाणी को कहते हैं कि जो कर्मफल के रूप से जन्म देनेवाली है, और जिसमें भोग-ऐश्वर्य का प्राप्ति के लिए भाँति-भाँति की बहुत सी क्रियाएँ हैं, ऐसी वाणी से हरे गये चित्तवालों तथा भोग-ऐश्वर्य में आसक्त पुरुषों की बुद्धि निश्चयात्मिक होकर समाधि में नहीं टिकती।। ४२, ४३, ४४ ।।

व्याख्या--हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जो अविवेकी अर्थात् मूढ़ पुरुष हैं; जो वेदवाद में रत हैं, अर्थात् जो वेदवाक्य के कथन करने में अथवा उसी के अर्थवाद में लवलीन हैं, अथवा जो वेदों के वाक्य पर मोहित हुए उसी के अर्थवाद में प्रीति रखते या प्रसन्न होते हैं; जो ऐसा कहते हैं कि इस वेदवाद अथवा वैदिक कर्मकांड या स्वर्गादि से अधिक उत्तम (या इससे परे) और कोई प्राप्य वस्तु नहीं है; जो स्वयं नाना प्रकार की लिप्सा (कामनाओं) से भरे हुए

---

* पुष्पित वाणी उसे कहते हैं जो आशाजनक हो, अथवा केवल सुनने में सुहावनी और रमणीय हो, परंतु फलदायक न हो, जैसे पलास के पुष्प, अर्थात् जैसे किसी वृक्ष में पुष्प तो बहुत सुंदर हों, परंतु फल उसमें किंचित् न लगें, या अगर लगें तो कड़ुवे हों। वेदों में रोचक, भयानक और यथार्थ तीनों प्रकार के वाक्य हैं, इनमें से पूर्व के दो तो बहुधा अर्थवाद वाक्य (श्रुतियाँ) कहलाते हैं। जो (वाक्य वा श्रुतियाँ) सुनने में तो बहुत प्रिय प्रतीत होते हैं (क्योंकि स्वर्ग के भोग इत्यादि की बड़ी महिमा करते हैं), परंतु वे न आत्मज्ञान रूप फल देते हैं और न अपरोऽक्षज्ञान कराते हैं, जिस कारण से ये सब वेद-वेदांग अपरा विद्या अथवा त्रैगुण्य वाक्यविद्या कहलाते हैं, और इसीलिए ये (अर्थवाद) वाक्य भी पुष्पित वाणियाँ कहलाते हैं। जिनके आकर्षण से बचने के लिए आगे अर्जुन को भगवान् उपदेश देते हैं।

(या असे हुए) चित्तवाले हैं; जो स्वर्गपरायण हैं, अर्थात् स्वर्ग जिनका अंतिम लक्ष्य है, या जो स्वर्ग ही को परम श्रेष्ठ माननेवाले हैं, अथवा स्वर्ग तक ही जो पहुँच रखनेवाले हैं; जो नित्य ऐसी (पुष्पित) वाणियों को कथन करते रहते हैं कि जो ऊपर से तो पुष्प के समान खिली हुई (सुहावनी) प्रतीत होती हैं, परंतु भीतर कोई उत्तम गंध (फल या फलदायक तात्पर्य) नहीं रखतीं; या जो सुगंधिरहित सुंदर खिले हुए पुष्प के सदृश मोह लेनेवाली होती हैं, परंतु स्वयं कोई अच्छा फल न रखने से किसी प्रकार का श्रेष्ठ कार्य सिद्ध नहीं करतीं; जो (वाणियाँ) कर्मफल की रीति से जन्म दिलाती हैं, अर्थात् जिन वाणियों के अनुसार कर्म करने से फल केवल पुनर्जन्म ही होता है; और जिन वाणियों में भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की क्रियाओं का बड़ा भारी विस्तार है। ऐसी वाणियों से जिनके चित्त खींचे गये (हरे गये, या मोहित हो गये) हैं; और जो भोग-ऐश्वर्य में फँसे हुए हैं। ऐसे पुरुषों की बुद्धि निश्चयात्मिक होकर समाधि (ईश्वर-ध्यान) में कभी नहीं स्थिर होती (अर्थात् ध्यान में कभी नहीं लगती), या ऐसे पुरुषों की निश्चयात्मिक बुद्धि समाधि (अथवा अपने अंतःकरण वा ध्यान) में उत्पन्न होने नहीं पाती। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि अज्ञानी तथा विचारहीन पुरुष जो कामनाओं से भरे हुए चित्तवाले होते हैं, वे वेद के उन सुहावने वचनों पर ही मोहित रहते हैं कि जिनमें अनेक प्रकार की कर्मविधि (अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम इत्यादि क्रियाएँ) तथा लौकिक फल बतलाये गये हैं, वे इस (नित्य-नैमित्तिक वैदिक तथा लौकिक काम्य कर्मों) से परे और कुछ अपना कर्त्तव्य नहीं मानते, बल्कि अपना सबसे ऊँचा लक्ष्य वे केवल स्वर्ग-प्राप्ति समझते हैं, जिससे उनके

कर्मों का फल अवश्य जन्म ही होता है, अर्थात् वे इसी कारण इस लोक में पुनः-पुनः आकर जन्मते-मरते हैं, जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट आया है कि—

"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥" (बृ ह. ४, ४, ६) जो कुछ सकामी पुरुष यहाँ करता है, उसके फल को वहाँ (परलोक में) भोगकर उस लोक से इस लोक की ओर फिर कर्म करने के लिए आता है। सो इस प्रकार के कामात्मा, भोग-ऐश्वर्य में आसक्त और वेदों के फलवाद तथा पुष्पित वाक्यों पर ही मोहित पुरुष जो भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के अगणित कर्म करते हैं, उनकी बुद्धि सदा भिन्न-भिन्न कामनाओं में फँसने से डाँवाडोल रहती है, जिससे वह निश्चयात्मिक होकर एक लक्ष्य पर टिकने नहीं पाती, अथवा एक निश्चय में आरूढ़ नहीं होती, और न कामनाओं को छोड़कर निष्कामभाव को प्राप्त होती है; इसलिए ईश्वर-ध्यान में उनकी वृत्ति एकाग्र और अचल होने नहीं पाती ॥ ४२, ४३, ४४ ॥ *

---

* इन श्लोकों पर कुछ विलक्षण रूप से अन्य व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

'"ऊपर के तीनों श्लोकों का मिलकर एक वाक्य है। उसमें उन ज्ञान-विरहित कर्मठ मीमांसावालों का वर्णन है, जो श्रौत-स्मार्त कर्मकांड के अनुसार आज अमुक हेतु की सिद्धि के लिए तो कल और किसी हेतु से, सदैव स्वार्थ के लिए ही, यज्ञ-याग आदि कर्म करने में निमग्न रहते हैं। यह वर्णन उपनिषदों के आधार पर किया गया है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

इष्टापूर्तं मन्यमानावरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

'इष्टापूर्त ही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं, यह माननेवाले मूढ़

संबंध—(१) क्योंकि वेदों में बहुधा रोचक वाक्य (पुष्पित वाणियाँ) हैं, जिनमें आसक्त होने से पुरुष की बुद्धि न निश्चयात्मिक होने पाती है, न ध्यान में टिकती है, और न निष्कामभाव को प्राप्त होती है, जिससे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिलता। अतएव भगवान् इन त्रैगुण्यात्मिक वेद-वाक्य के विषय में अर्जुन को अब ऐसा उपदेश देते हैं——

अथवा (२) सकाम कर्म की बुराइयाँ बताकर भगवान् अब अर्जुन को निष्काम होने का उपदेश करते हैं—

अथवा (३) यदि ये कामनाएँ त्याज्य हैं, तो फिर किस तरह वैदिक कर्म में प्रवृत्त हुआ भी इन कामनाओं से ऊपर हो जाता है। इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (४) जब वेदों में नाना प्रकार की कामनाओं के मार्ग व उपदेश हैं, जिन पर चलने से मनुष्य की बुद्धि न निश्चयात्मिक होने पाती है और न ध्यान में ही टिकने पाती है, तो ऐसी दशा में मनुष्य को क्या करना चाहिए, इसका भगवान् अब उपदेश करते हैं—

लोग स्वर्ग में पुण्य का उपभोग कर चुकने पर फिर नीचे के इस मनुष्य-लोक में आते हैं’ (मुण्ड०, १. २. १०)। ज्ञानविरहित कर्मों की इसी ढंग की निंदा ईशावास्य और कठ उपनिषदों में भी की गई है (कठ. २. ५; ईश. ९,१२)। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मों में ही फँसे रहनेवाले इन लोगों को (देखो गी० ९, २१) अपने-अपने कर्मों के स्वर्गादि फल मिलते तो हैं, पर उनकी वासना आज एक कर्म में तो कल किसी दूसरे ही कर्म में रत होकर चारों ओर घुड़दौड़ सी मचाये रहती हैं; इस कारण उन्हें स्वर्ग का आवागमन नसीब हो जाने पर भी मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष की प्राप्ति के लिए बुद्धि-इंद्रिय को स्थिर या एकाग्र रहना चाहिए। आगे छठे अध्याय में विचार किया गया है कि इसको एकाग्र किस प्रकार करना चाहिए। अभी तो इतना ही कहते हैं कि—” (श्रीतिलक महाराज)

“सकाम कर्मकांडी लोग स्वर्गभोग दिलानेवाले इष्टापूर्त आदि यज्ञ का

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

त्रै[1]-गुण्य[2]-विषया[3]:, वेदा[4]:	तीनों[1] गुणों[2] के विषय[3] वाले वेद[4] हैं	निः[2]-द्वन्द्वः[1], नित्य[3]-सत्त्व[4]-स्थः[5]	द्वंद्व[1]-रहित[2] सदा[3] सत्त्व[4] में स्थित[5] हो
निः[4]-त्रै[2]-गुण्यः[3], भव[5], अर्जुन[1]	हे अर्जुन[1]! तू तीन[2] गुणों[3] से रहित[4] हो[5]	निः[3]-योग[1]-क्षेमः[2], आत्मवान्[4]	योग[1]-क्षेम[2] से रहित[3] और आत्मवान्[4] हो

अन्वयार्थ—तीन गुणों के विषयवाले वेद हैं, हे अर्जुन ! तू इन तीन गुणों से परे हो । निर्द्वन्द्व, सदा सत्त्व में स्थित, योग-क्षेम* से रहित, और आत्मवान् हो ॥ ४५ ॥

ही सर्वोत्तम समझते हैं । इसका फल यह होता है कि सकाम यज्ञ के द्वारा थोड़े समय स्वर्गसुख लाभ होने के बाद उन्हें पुनः मनुष्य-योनि अथवा इससे भी हीन पशु आदि योनि मिलती है । अतः बुद्धिमान् दूरदर्शी जन को प्रारंभ में मधुर, किंतु अंत में दुःखदायी सकाम कर्मकांड में फँसना नहीं चाहिए । किंतु नश्वर सुख में मुग्ध सकाम जीव इस उपदेश को प्रायः मानते नहीं हैं । वे वैदिक सकाम कर्मकांड में ही फँसे रहते हैं, और उसी की प्रशंसा करते रहते हैं । इस प्रकार से उनकी बुद्धि 'बहुशाखा' तथा 'अनंत' सकामभाव से युक्त होने के कारण निष्काम-आत्मारूपी परम फल को प्राप्त करानेवाले योग में निश्चल होकर ठहरती नहीं है । यही इन श्लोकों का निष्कर्ष है ।"

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंदजी)

* अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करने को योग, और प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! वेद तो तीन गुणों के विषयों को प्रतिपादन करनेवाले हैं; अर्थात् सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी कामनावाले पुरुषों के विषयों को प्रतिपादन करते हैं, अथवा तीन गुणों का विषय जो संसार है उसके प्रतिपादन करनेवाले हैं। हे पृथा-पुत्र ! तू इन तीन गुणों से परे हो, अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन तीनों प्रकार की कामनाओं से या स्वर्गादि फल की कामनाओं से रहित हो। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, पुण्य-पाप, जीत-हार और शीतोष्णादि द्वंद्वों से रहित हो। सर्वदा सत्त्व (उत्साह, धैर्य, या सत्त्व गुण अवस्था, अथवा गुणातीत वस्तु) में स्थित हो, अर्थात् कायर या अज्ञानी मत बन । योग-क्षेम से रहित हो, अर्थात् अप्राप्त वस्तु के ग्रहण, उपार्जन और फिर उनकी रक्षा करने के ख़्याल से रहित हो । और आत्मवान् हो, अर्थात् सावधान हो, कभी भी किसी विषय या कामना के वश में न हो, अथवा अपनी वृत्ति को तीनों गुणों तथा उनके पदार्थों की कामना से हटाकर तू अपने आपमें आ, और आत्मिक वृत्ति वाला हो। इस प्रकार से, हे अर्जुन ! तू कर्म के बंधन को तोड़ सकेगा, अन्य रीति से नहीं । और इसी रीति से तू कर्मों से लिपायमान न होता हुआ मोक्ष को प्राप्त होगा ।

अभिप्राय यह है कि वेद सर्व संसार के लिए हैं। संसार में बहुत पुरुषों की रुचि सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की प्रधानता से सांसारिक भोगों में ही होती है, उस रुचि से विवश हुए लोग स्वभावतः उन्हीं भोगों के पाने की कामना वा प्रार्थना करते हैं, अतएव वेदों में धन, पुत्र, पश्वादि के विषय तथा लोक-परलोक (स्वर्गादि) की कामना की पूर्त्ति के विषय बहुत से स्तोत्र और नानाविध के (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ पाये जाते हैं, जिनके प्रयोग वा अनुष्ठान से पुरुष की सांसारिक कामनाएँ शीघ्र पूरी होती

है। इस प्रकार सब वेदों में सांसारिक कामनाओं तथा विषयों की बहुलता देखकर अर्जुन को भगवान् यह उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन! इस भ्रांति में मत पड़ कि वेद चूँकि सांसारिक कामनाओं के विषयों से भरे पड़े हैं, इसलिए इन तुच्छ कामनाओं का ही पूरा करना मनुष्य का परम लक्ष्य है। हे प्यारे! परम लक्ष्य तो परमानंद है, जो तीनों गुणों अर्थात् इन कामनाओं से ऊपर उठकर मिलता है। इसलिए तू गुणातीत हो, अर्थात् इन कामनाओं से ऊपर उठ। इन कामनाओं वा गुणों से परे होने के लिए तुझे यह करना चाहिए कि तू सुख-दुःख, शीतोष्णादि द्वंद्वों को सहन कर। सदा उत्साहवान् रहो। संसारी लोग जैसे अपने भरण-पोषण की भावना से पदार्थ कमाते और अपने कमाये हुए पदार्थों की रक्षा करते हैं, तू इस भावना से रहित हो, क्योंकि जो ईश्वर-परायण है उसके योग-क्षेम को ईश्वर आप निबाहते हैं। और सदा सावधान हो, अर्थात् अपने आप में रहो, किसी के वश में मत हो ॥ ४५ ॥

दूसरी व्याख्या—वेदों का विषय तीन गुणों का कार्य है, अथवा तीन गुण और उनके कार्यों के प्रकाशक वेद हैं। अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अंदर ही वेदों का कथन है। जितना उपदेश संसार में होता है वह गुणों के अंदर ही हो सकता है, बल्कि जो कुछ वाणी (कथन) में आ जाता है वह गुणों का अंश हो जाता है, क्योंकि गुणातीत वस्तु अकथनीय, अचिंतनीय और निरुपदेशनीय होती है। इसलिए श्रुति स्वयं यह कहती है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहाँ से वाणी सहित मन के उसे न प्राप्त होकर वापस लौट आती है। और इसीलिए मुंडकोपनिषद् में वेद * और वेदांग

---

* वेदों के दो भाग संहिता और ब्राह्मण माने जाते हैं। संहिता भाग

को अपरा विद्या कहा है, परा विद्या नहीं । जिस विद्या से परब्रह्म वास्तव में न जाना जाय और न ठीक दर्शाया जा सके, उसे अपरा विद्या कहते हैं। और वेदों में प्रायः नाना प्रकार के यज्ञों का विस्तार और अपरब्रह्म, अर्थात् ब्रह्म के शबल वा विशिष्टरूप हिरण्यगर्भादि की पूजा है । यही अपरा विद्या है । इसलिए वेदों का कथन वा उपदेश सगुण कहलाता है, गुणातीत नहीं । जो लोग केवल इस अपरा विद्या (सगुण ब्रह्म के ज्ञान) पर ठहर जाते हैं, वे परा विद्या (गुणातीत वस्तु अर्थात् शुद्ध ब्रह्म) को अनुभव नहीं कर सकते, और न कर्म-बंधन से मुक्त ही हो सकते हैं । इसलिए भगवान् अर्जुन को ऐसे उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन ! वेद तो गुणोंवाले का प्रतिपादन करते हैं, तू गुणातीत हो । अर्थात् इन तीनों गुणों के पदार्थ वा कामना से परे हट, (अथवा वैदिक पुष्पित वाणियों और उनके अर्थवाद में आसक्त मत हो) और हानि-लाभ, सुख-दुःख तथा शीतोष्णादि द्वंद्वों से चलायमान मत हो, बल्कि इनकी परवाह मत कर, आनंदपूर्वक

सबसे पहले है, ब्राह्मण पीछे । संहिता में बहुधा अपरब्रह्म तथा लोक-परलोक (स्वर्गादि) की प्राप्ति-निमित्त नाना प्रकार के कर्म, उपासना और यज्ञविधि का विधान है । और ब्राह्मण तथा उपनिषदों में प्रायः शुद्ध ब्रह्म अर्थात् निजानंद की प्राप्ति की विधि का विस्तार है । संहिता भाग को सब वैदिक मतानुयायी स्वतः प्रमाण मानते हैं, ब्राह्मण भाग को सब नहीं। इसलिए संहिता भाग प्रायः वेद कहलाता है ; ब्राह्मण भाग को प्रायः ब्राह्मण कहते हैं, वेद नहीं । इस आशय को लेकर भी भगवान् का कथन हो सकता है कि हे अर्जुन ! वेद तो तीन गुणों, अर्थात् शबल या अपरब्रह्म के विषय को प्रतिपादन करनेवाले हैं, तू इनकी मत सुन, बल्कि इनसे परे हट। और ब्राह्मण तथा उपनिषदों से प्रतिपादित परब्रह्म जो गुणातीत वस्तु है, उसमें निष्ठा कर, द्वंद्वातीत हो, वास्तव स्वरूप में स्थित हो, इत्यादि ।

इनको सहन कर । सर्वदा अपने वास्तव स्वरूप (तत्त्वज्ञान या गुणातीत अवस्था वा वस्तु) में स्थिर हो, अर्थात् आत्मतत्त्व में निष्ठा रख । अपने भरण-पोषण-निमित्त पदार्थों के उपार्जन करने और उपार्जित की रक्षा करने के ख़्याल से रहित हो । और अप्रमत्त हो, अर्थात् अपने आप में अचल वा सावधान हो, अथवा आत्मिक वृत्तिवाला हो । इस प्रकार से तू किसी कर्म से भी बंधायमान या लिपायमान नहीं होगा, किंतु निरासक्त हुआ सीधा मोक्ष को प्राप्त होगा ॥ ४५ ॥ *

---

* कुछ विलक्षण रूप से अन्य व्याख्याएँ इस श्लोक पर इस प्रकार हैं—

“ सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से मिश्रित प्रकृति की सृष्टि को त्रैगुण्य कहते हैं; यह सृष्टि सुख-दुःख आदि अथवा जन्म-मरण आदि विनाशवान् द्वंद्वों से भरी हुई है और सत्य ब्रह्म इसके परे है । इसी अध्याय के ४३वें श्लोक में कहा है कि प्रकृति के, अर्थात् माया के इस संसार के सुखों की प्राप्ति के लिए मीमांसक मार्गवाले लोग श्रौत यज्ञ-याग आदि किया करते हैं और वे इन्हीं में निमग्न रहा करते हैं । कोई पुत्र-प्राप्ति के लिए एक विशेष यज्ञ करता है, तो कोई पानी बरसाने के लिए दूसरी इष्टि करता है । ये सब कर्म इस लोक में संसारी व्यवहारों के लिए अर्थात् अपने योग-क्षेम के लिए हैं । अतएव प्रकट ही है कि जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो, वह वैदिक कर्मकांड के इन त्रिगुणात्मक और निरे योग-क्षेम संपादन करानेवाले कर्मों को छोड़कर अपना चित्त इसके परे परब्रह्म की ओर लगावे । इसी अर्थ में निर्द्वंद्व और निर्योग क्षेमवान् शब्द ऊपर आये हैं । यहाँ ऐसी शंका हो सकती है कि वैदिक कर्मकांड के इन काम्य कर्मों को छोड़ देने से योग-क्षेम (निर्वाह) कैसे होगा ? किंतु इसका उत्तर यहाँ नहीं दिया, यह विषय आगे फिर नवें अध्याय में आया है । वहाँ कहा है कि इस योग-क्षेम को भगवान् करते हैं ; और इन्हीं दो स्थानों पर गीता में, ‘योग-क्षेम’ शब्द आया है (गीता ९, २२ देखो) ।

नित्यसत्त्वस्थ पद का ही अर्थ गुणातीत होता है। क्योंकि आगे कहा है कि सत्त्वगुण के नित्य उत्कर्ष से ही फिर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है, जो कि सच्ची सिद्धावस्था है (गी० १४, १४ और २०)। तात्पर्य यह है कि मीमांसकों के योग-क्षेमकारक त्रिगुणात्मक काम्य कर्म छोड़कर एवं सुख-दुःख के द्वंद्वों से निबट कर ब्रह्मनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ होने के विषय में यहाँ उपदेश किया गया है। किंतु इस बात पर फिर भी ध्यान देना चाहिए कि आत्मनिष्ठ होने का अर्थ सब कर्मों को स्वरूपतः एकदम छोड़ देना नहीं है। ऊपर के श्लोक में वैदिक काम्य कर्मों की जो निंदा की गई है या जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह कर्मों की नहीं, बल्कि उन कर्मों के विषय में जो काम्य बुद्धि होती है, उसकी है। यदि यह काम्य बुद्धि मन में न हो, तो निरे यज्ञ-याग किसी भी प्रकार से मोक्ष के लिए प्रतिबंधक नहीं होते। आगे अठारहवें अध्याय के आरंभ में भगवान् ने अपना निश्चित और उत्तम मत बतलाया है कि मीमांसकों के इन्हीं यज्ञ-याग आदि कर्मों को फलाशा और संग छोड़कर चित्त की शुद्धि और लोक-संग्रह के लिए अवश्य करना चाहिए (गीता १८, ६)। गीता की इन दो स्थानों की बातों को एकत्र करने से यह प्रकट हो जाता है कि इस अध्याय के श्लोक में मीमांसकों के कर्मकांड की जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह उसकी काम्य बुद्धि को उद्देश करके है, क्रिया के लिए नहीं है। इसी अभिप्राय को मन में लाकर भागवत में भी कहा है—

‘वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥’

अर्थ—वेदोक्त कर्मों की वेद में जो फलश्रुति कही है, वह रोचनार्थ है, अर्थात् इसलिए है कि कर्त्ता को ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मों को उस फल-प्राप्ति के लिए न करे, किंतु निःसंग बुद्धि, अर्थात् फल की आशा छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्य से प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है (भाग० ११, ३, ४६)। सारांश,

में से जितना उपदेश तत्त्वज्ञानी को ग्रहण करना उचित है, उसे भगवान् अब दृष्टांत से दर्शाते हैं—

यद्यपि वेदों में कहा है कि अमुक-अमुक कारणों के निमित्त यज्ञ करे, तथापि इसमें न भूलकर, केवल इसीलिए यज्ञ करे कि वे यष्टव्य हैं अर्थात् यज्ञ करना अपना कर्त्तव्य है; काम्यबुद्धि को तो छोड़ दे, पर यज्ञ को न छोड़े (गी० १७, ११); और इसी प्रकार अन्यान्य कर्म भी किया करे। यह गीता के उपदेश का सार है, और यही अर्थ अगले श्लोक में व्यक्त किया गया है।" (श्रीतिलक महाराज)

"वेद के ब्राह्मण भाग में सत्त्व, रज, तमोगुणमय अनेक प्रकार के सकाम याग-यज्ञों का विधान है, इसमें संदेह नहीं। किंतु ये ही सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम होकर करने पर इनके द्वारा चित्तशुद्धि तथा आत्मोन्नति अवश्य होती है। जैसा कि गीता के १७वें अध्याय में सात्त्विक यज्ञ का लक्षण वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ने स्वयं ही कहा है। इसलिए यहाँ पर वैदिक कर्मों की निंदा नहीं समझनी चाहिए, केवल सकामभाव की निंदा है। और ऐसी निंदा वेद के ज्ञानकांडरूपी उपनिषदों में भी की गई है, जैसा कि मुंडकोपनिषद् (१, २, १०) में 'इष्टापूर्त्तं मन्यमानावरिष्ठं' इत्यादि मंत्र में बताया गया है। श्रीमद्भागवत के ११वें स्कंध में भी लिखा है—

'वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥'

आसक्तिरहित होकर फलाफल ईश्वर में समर्पित करते हुए वेदविहित कर्मों को करने पर भी परम सिद्धिलाभ हो सकती है। वेद में कुकर्मी जीवों को विहित कर्म में प्रवृत्त करने के लिए ही सकाम यज्ञादि कर्मों की इतनी स्तुति की गई है। यही कारण है कि इस श्लोक में श्रीभगवान् ने अर्जुन को कर्म-त्याग करने का उपदेश न देकर 'निस्त्रैगुण्य' शब्द के द्वारा केवल निष्काम होने को कह रहे हैं। विना राग-द्वेष आदि

अथवा (२) ज्ञानवान् वा भगवत्प्रेमी को वेदारंभ और वेदमध्य को त्यागकर वेद का अंतिम भाग क्यों ग्रहण करना चाहिए ? इसका कारण भगवान् अब दृष्टांत द्वारा वर्णन करते हैं—

अथवा (३) संपूर्ण वेदोक्त कर्मों के फल को न चाहनेवाला विवेकी फिर कर्मों का अनुष्ठान ईश्वर के लिए भी क्यों करे ? इसे भगवान् अब दृष्टांत से समझाते हैं—

अथवा (४) वेदोक्त कर्मों के न करने से तज्जन्य स्वर्गादि सुखों से वंचित रहना पड़ेगा, इसका समाधान भगवान् अब दृष्टांत द्वारा करते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

द्वंद्वों के जीते मनुष्य निष्काम नहीं बन सकता है, अतः अर्जुन को 'निर्द्वन्द्व' होने को कहा है । त्रिगुण से अतीत होने के लिए प्रथमतः सत्त्वगुण के द्वारा रजोगुण और तमोगुण को जीतना पड़ता है, पश्चात् सत्त्वगुण को भी त्यागकर साधक निस्त्रैगुण्य बन सकता है, इसलिए अर्जुन को 'नित्यसत्त्वस्थ' होने को कहा गया है । अप्राप्त वस्तु के पाने का नाम 'योग' है और पाई हुई वस्तु की रक्षा का नाम 'क्षेम' है, यही योग-क्षेम का अर्थ है । विषयी लोग ही इस प्रकार योग-क्षेम के धंधे में लगे रहते हैं । इसलिए अर्जुन को योग-क्षेमरहित होने का उपदेश दिया गया है । विना आत्मनिष्ठ हुए मनुष्यों में इनमें से कोई भी गुण नहीं आ सकता । आत्मनिष्ठ व्यक्ति का योग-क्षेम भगवान् ही वहन करते हैं, जैसा कि भगवान् ने (गी० ९, २२) में स्वयं ऐसे कहा है, अतः निष्काम कर्मयोगी के लिए 'आत्मवान्' होना नितांत आवश्यक है ।"

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंद)

यावान्^{1}, अर्थः^{2}, उदपाने^{3}	जितना^{1} प्रयोजन^{2} जलाशय^{3} में है	तावान्^{1}, सर्वेषु^{2}, वेदेषु^{3}	उतना^{1} सर्व^{2} वेद^{3} में
सर्वतः^{1}, संप्लुत^{2}-उदके^{3}	सर्व^{1} ओर से उछलते^{2} हुए जल^{3}वाले में	ब्राह्मणस्य^{2}, विजानतः^{1}	जाननेवाले^{1}(विज्ञानी) ब्राह्मण^{2} का

पहला अन्वयार्थ—जितना प्रयोजन सब ओर से उछलते हुए जलवाले जलाशय में है, उतना (प्रयोजन) विज्ञानी ब्राह्मण का सब वेदों में है ॥ ४६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जितना प्रयोजन (एक छोटे) जलाशय में है, वह सारा का सारा सर्व ओर से उछलते हुए (महान्) जलाशय में सिद्ध होता है। (ऐसे ही) जितना प्रयोजन सारे वेदों में है, वह सारा का सारा एक तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥*

पहले अर्थ की व्याख्या—जैसे एक बड़ा जलाशय जल से परिपूर्ण हुआ बाहर भी उछल रहा हो, तो उससे एक प्यासा मनुष्य उतना ही जल लेता है जितने से उसकी प्यास मिट सके, सारे जल को ले नहीं लेता। वैसे ही विज्ञानी ब्राह्मण (तत्त्ववेत्ता) नाना प्रकार के अधिकारियों की कामनाओं से भरपूर वेदों में से उतना ही ग्रहण करता है जितना उसके लिए प्रयोजनीय है, न कि सर्व प्रकार के वैदिक कर्मकांड और उपासनादि को ॥ ४६ ॥

---

* पहला अर्थ तो बिना शब्दों की तोड़-मोड़ के सीधा, सरल और स्पष्ट है, और दूसरा अर्थ जो तोड़-मोड़ वा शब्दों के घटाने-बढ़ाने से श्रीशंकराचार्यजी ने किया है, वह पहले अर्थ के तात्पर्य से यद्यपि कुछ विलक्षण सा है, परंतु उसकी सहायता करता है, इसलिए उसे भी यहाँ दे दिया है। (टीकाकार)

दूसरे अर्थ की व्याख्या--जो अर्थ (स्नानपानादि लाभ) एक छोटे से जलाशय में मनुष्य को मिलते हैं, वे सबके सब (लाभ) उमड़ते हुए परिपूर्ण जलाशय में मिल जाते हैं। अर्थात् तालाब, बावली, कूप, झील इत्यादि के समस्त फल (लाभ) बड़े भारी जलाशय (समुद्र) के अंतर्गत होते हैं। ऐसे ही सब वेदों में (उनके यज्ञकर्म उपासनादि करने से) जो लौकिक अथवा पारलौकिक (स्वर्गादि) फल प्राप्त होते हैं, वे सारे के सारे बिना यत्न किये एक तत्त्ववित् ब्राह्मण को स्वतः आ प्राप्त होते हैं। अर्थात् वैदिक कर्मकांड के समस्त फल आत्म-साक्षात्काररूपी समुद्र के अंतर्गत होते हैं, जैसा कि छांदोग्योपनिषद् (४, १, ४) और गीता (४, ३३) में स्पष्ट दर्शाया गया है। इसलिए हे अर्जुन! तू वेदों के कर्मकांडरूपी गुणमयी विद्या वा शबल ब्रह्म की ही उपासना में मत फँस, बल्कि आत्म-साक्षात्कार की ओर झुक। इस तत्त्वज्ञान में तुझे सब कुछ प्राप्त हो जायगा ॥ ४६ ॥ *

---

* अन्य टीकाकारों के कुछ विलक्षण भाष्य इस श्लोक पर ऐसे हैं—

"यद्यपि वेद ने बहुत कुछ कहा है, अनेक भेदों की सूचना की है, तथापि हमको हमारा जो हित हो वही लेना चाहिए। जैसे सूर्य का उदय होते ही सब ही रस्ते खुले प्रकट होते हैं, परंतु कहो भला, मनुष्य क्या एकदम उन सभी रस्तों से चलता है? अथवा यद्यपि सब पृथिवी-तल भी जलमय हो जाय तथापि जैसे उसमें से मनुष्य अपनी इच्छानुसार ही ग्रहण करता है, वैसे ही जो ज्ञानी होते हैं, वे वेदार्थ का विचार करते हैं और उस इष्ट वस्तु को स्वीकार करते हैं जो शाश्वत है।"

(श्रीज्ञानेश्वरी)

"इस श्लोक के फलितार्थ के संबंध में मतभेद नहीं है, पर टीकाकारों ने इसके शब्दों की नाहक़ खींचातानी की है। सर्वतः 'संप्लुतोदके' यह सप्तम्यन्त सामासिक पद है। परंतु इसे निरी सप्तमी या उदपान

संबंध—(१) क्योंकि आत्म-साक्षात्कार (तत्त्वज्ञान) में सर्व प्रकार के वैदिक कर्मकांड के फल अंतर्गत हैं और तत्त्ववेत्ता को स्वतः आ

का विशेषण भी न समझकर 'सति सप्तमी' मान लेने से 'सर्वतः संप्लुतोदके सति उदपाने यावानर्थः' (न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते) तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः'—इस प्रकार किसी भी बाहर के पद को अध्याहृत मानना नहीं पड़ता, सरल अन्वय लग जाता है और उसका यह सरल अर्थ भी हो जाता है कि 'चारों ओर पानी ही पानी होने पर (पीने के लिए कहीं भी विना प्रयत्न के यथेष्ट पानी मिलने पर) जिस प्रकार कुएँ को कोई भी नहीं पूछता, उसी प्रकार ज्ञानप्राप्त पुरुष को यज्ञ-याग आदि केवल वैदिक कर्म का कुछ भी उपयोग नहीं रहता।' क्योंकि, वैदिक कर्म केवल स्वर्ग-प्राप्ति के लिए ही नहीं, बल्कि अंत में मोक्षसाधक ज्ञानप्राप्ति के लिए करना होता है, और इस पुरुष को तो ज्ञानप्राप्ति पहले ही हो जाती है, इस कारण इसे वैदिक कर्म करके कोई नई वस्तु पाने के लिए शेष रह नहीं जाती। इसी हेतु से आगे तीसरे अध्याय (३, १७) में कहा है कि 'जो ज्ञानी हो गया, उसे इस जगत् में कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।' बड़े भारी तालाब या नदी पर अनायास ही जितना चाहिए, उतना पानी पीने की सुविधा होने पर कुएँ की ओर कौन झाँकेगा ? ऐसे समय कोई भी कुएँ की अपेक्षा नहीं रखता। सनत्सुजातीय के अंतिम अध्याय (म० भा० उद्योग० ४५, २६) में यही श्लोक कुछ थोड़े से शब्दों के हेरफेर से आया है। माधवाचार्य ने इसकी टीका में वैसा ही अर्थ किया है, जैसा कि हमने ऊपर किया है; एवं शुकानुप्रश्न में ज्ञान और कर्म के तारतम्य का विवेचन करते समय साफ़ कह दिया है—"न ते (ज्ञानिनः) कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव"—अर्थात् नदी पर जिसे पानी मिलता है, वह जिस प्रकार कुएँ की परवाह नहीं करता, उसी प्रकार 'ते', अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्म की कुछ परवाह नहीं करते (म० भा० शां० २४०, १०)। ऐसे ही पांडवगीता के सत्रहवें श्लोक में कुएँ का दृष्टांत यों दिया है—जो

प्राप्त होते हैं । इसलिए भगवान् अब इस आत्म-साक्षात्कार का प्रथम साधन रूप उपदेश अर्जुन को करते हैं—

वासुदेव को छोड़कर दूसरे देवता की उपासना करता है, वह 'तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं वांछति दुर्मतिः'—भागीरथी के तट पर पीने के लिए पानी मिलने पर भी कुएँ की इच्छा करनेवाले प्यासे पुरुष के समान मूर्ख है । यह दृष्टांत केवल वैदिक संस्कृतग्रंथों ही में नहीं है, प्रत्युत पाली के बौद्धग्रंथों में भी इसके प्रयोग हैं । यह सिद्धांत बौद्धधर्म को भी मान्य है कि जिस पुरुष ने अपनी तृष्णा समूल नष्ट कर डाली हो, उसे आगे और कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं रह जाता; और इस सिद्धांत को बतलाते हुए उदान नामक पाली ग्रंथ के (७, ९) इस श्लोक में यह दृष्टांत दिया है—

'किं कयिरा उदपानेन आपा चे सब्बदा सियुम्'—सर्वदा पानी मिलने योग्य हो जाने से कुएँ को लेकर क्या करना है । आजकल बड़े-बड़े शहरों में यह देखा ही जाता है कि घर में नल हो जाने से फिर कोई कुएँ की परवाह नहीं करता । इससे और विशेषकर शुकानुप्रश्न के विवेचन से गीता के दृष्टांत का स्वारस्य ज्ञात हो जायगा और यह देख पड़ेगा कि हमने इस श्लोक का ऊपर जो अर्थ किया है, वही सरल और ठीक है । परंतु, चाहे इस कारण से हो कि ऐसे अर्थ से वेदों को कुछ गौणता आ जाती है, अथवा इस सांप्रदायिक सिद्धांत की ओर दृष्टि देने से हो कि ज्ञान में ही समस्त कर्मों का समावेश रहने के कारण ज्ञानी को कर्म करने की ज़रूरत नहीं, गीता के टीकाकार इस श्लोक के पदों का अन्वय कुछ निराले ढंग से लगाते हैं । वे इस श्लोक के पहले चरण में 'तावान्' और दूसरे चरण में 'यावान्' पदों को अध्याहृत मानकर ऐसा अर्थ लगाते हैं—'उदपाने यावानर्थः तावानेव सर्वतः संप्लुतोदके यथा सम्पद्यते तथा यावान्सर्वेषु वेदेषु अर्थः तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सम्पद्यते' अर्थात् स्नान-पान आदि कर्मों के लिए कुएँ का जितना उपयोग होता है, उतना ही बड़े तालाब में (सर्वतः संप्लुतोदके) भी हो सकता है; इसी प्रकार वेदों का जितना उपयोग है, उतना सब

ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान से हो सकता है। परंतु इस अन्वय में पहली श्लोक-पंक्ति में 'तावान्' और दूसरी पंक्ति में 'यावान्' इन दो पदों के अध्याहार कर लेने की आवश्यकता पड़ने के कारण हमने उस अन्वय और अर्थ को स्वीकृत नहीं किया। हमारा अन्वय और अर्थ किसी भी पद के अध्याहार किये बिना ही लग जाता है और पूर्व के श्लोक से सिद्ध होता है कि इसमें प्रतिपादित वेदों के कोरे (अर्थात् ज्ञानव्यतिरिक्त) कर्मकांड का गौणत्व इस स्थल पर विवक्षित है। अब ज्ञानी पुरुष को यज्ञ-याग आदि कर्मों की कोई आवश्यकता न रह जाने से कुछ लोग जो यह अनुमान किया करते हैं कि इन कर्मों को ज्ञानी पुरुष न करे, बिलकुल छोड़ दे——यह बात गीता को सम्मत नहीं है। क्योंकि, यद्यपि इन कर्मों का फल ज्ञानी पुरुष को अभीष्ट नहीं, तथापि फल के लिए न सही, तो भी यज्ञ-याग आदि कर्मों को, अपने शास्त्रविहित कर्त्तव्य समझकर, वह कभी छोड़ नहीं सकता। अठारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना निश्चित मत स्पष्ट कह दिया है कि फलाशा न रहे, तो भी अन्यान्य निष्काम कर्मों के अनुसार यज्ञ-याग आदि कर्म भी ज्ञानी पुरुष को निःसंग बुद्धि से करना ही चाहिए।..............यही निष्काम-विषयक अर्थ अब भगवान् अगले श्लोक में व्यक्त कर दिखलाते हैं——"

(श्रीतिलक महाराज)

"इस श्लोक में यही भाव बताया गया है कि निष्काम कर्मयोग के द्वारा आनंदमय आत्मा के राज्य में पहुँचनेवाले योगी को वैदिक सकाम कर्मों के नाशवान् सुख के लिए लालायित होने का प्रयोजन नहीं रहता। इसमें दृष्टांत यही दिया गया है कि जिस प्रकार चारों ओर बाढ़ आदि के आ जाने पर नहाने-पीने आदि का यथेष्ट जल मिलने से कुएँ से कष्ट करके पानी खींचने की आवश्यकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार असीम ब्रह्मानंद समुद्र में ग़ोता खानेवाले ब्रह्मज्ञ पुरुषों को सकाम कर्मों के झगड़े में नहीं पड़ना पड़ता। क्योंकि असीम आनंद में छोटे-मोटे

चाहिए और कौन सी छोड़नी चाहिए, इस विषय में भगवान् अब उपदेश करते हैं—

सभी आनंद समाये होते हैं। श्रुति में भी लिखा है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।' अर्थात् ब्रह्मानंद पूर्ण तथा असीम है, जीवगण सकाम कर्मों के द्वारा उसी पूर्ण का अंशमात्र उपभोग करते हैं। ब्रह्म का असल आनंद आकाश में स्थित सूर्य के प्रकाश की तरह है और विषय का सुख जल में प्रतिबिंबित सूर्य के प्रकाश की तरह है। असीम ब्रह्मानंद ही प्रकृति के सात्त्विक तरंग में प्रतिबिंबित होकर प्रेम, भक्ति आदि के सुखरूप से, राजसिक तरंग में प्रतिबिंबित होकर काम, लोभ आदि जन्य सुखरूप से प्रतीत होता है। यह सभी प्रतिबिंबित आनंद अर्थात् छाया-सुखमात्र है। किंतु वास्तविक ब्रह्मानंद के मिलने पर इन छायासुखों की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए पांडवगीता में लिखा है—'तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छति दुर्मतिः' पवित्र सलिला गंगा के तट पर प्यास मिटाने के लिए कुआँ खोदना मूर्खतामात्र है। अतः वैदिक यज्ञ हो या और भी किसी प्रकार का कर्म हो, योगी को निष्कामभाव से उसका अनुष्ठान करके असीम आनंदमय ब्रह्मपद में विराजमान होना चाहिए, यही तात्पर्य है।"

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंद)

"वेदों में संपूर्ण वेद का ग्रहण न करके केवल थोड़े से अंश का क्यों ग्रहण किया जाय? इस तात्पर्य को दृष्टांत द्वारा उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि (यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके) हे अर्जुन! जैसे वर्षाकाल में चारों ओर के वर्षा की धाराओं से भर जानेवाले छोटे-छोटे कूप, तड़ाग, बावली, चहबच्चे, इत्यादिकों से जितने जल के ग्रहण करने की आवश्यकता होती है, उतने ही जल को प्राणी स्नान-पान के प्रयोजन से घटादि पात्रों द्वारा ग्रहण करता है, अर्थात् इनके पेट में पूर्ण जल भर जाने से भी स्नान-पान करनेवाले पुरुषों को तो उतने ही जल की आवश्यकता है जितने से उनका प्रयोजन साध्य हो सकता है, अधिक

अथवा (३) जब आत्मज्ञान में ही सब फल मिल जाते हैं, तो फिर कर्म क्यों वा कैसे किया जाय, इसका समाधान भगवान् अब करते हैं—

अथवा (४) अब निर्द्वंद्व कामनारहित और सत्त्व में स्थित होकर कर्म करने की विधि को भगवान् वर्णन करते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

का नहीं। इसी प्रकार (तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः) तत्त्व का जाननेवाला ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जो भगवत्स्वरूप की इच्छा करनेवाला है, वेदों के सर्वप्रकार के उपदेशों वा मंत्रों से केवल वेदों के एक भाग वेदांत से ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है, अर्थात् अनेक जन्मों के निष्काम कर्मों से जिसका अंतःकरण शुद्ध हो, उपासना के साकार-निराकार के भेदों को भली भाँति समझ ज्ञान का तथा परम पद के आनंदलाभ करने का अधिकारी हो रहा है, वही वेदों में से उसके सारभाग वेदांत के ग्रहण करने का अधिकारी हो सकता है।

अथवा अन्य रूप से इसका अर्थ ऐसे है कि—(यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके) जैसे वर्षाकाल में सर्वत्र जल के बाढ़ आने से छोटी-छोटी बावली इत्यादि अपने विस्तार के अनुसार जल को ग्रहण कर भर जाती हैं, चाहे प्रलयकाल की भी वृष्टि क्यों न हो और सारे समुद्र उमड़कर पृथ्वीमंडल को क्यों न भर दें, पर ये छोटे-छोटे कूपादि उतने ही जल से भरेंगे जितना इनके पेट में अटेगा। हाँ! यह तो हो सकता है कि अधिक बाढ़ होने से इनका मुँह भरकर दो-चार हाथ जल मुँह के ऊपर भी बहता रहे, पर उस जल से इन बावली, तड़ाग, कूपादिकों को कुछ भी लाभ नहीं। इसी प्रकार (तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः) जिस बुद्धिमान् चतुर ब्राह्मण को अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ प्राणी को चारों वेदों से जितने उपदेशों की आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करे। अधिक ग्रहण से उसे कुछ भी लाभ न होगा।" (श्रीस्वामी हंसस्वरूपजी)

कर्मणि^{1}, एव^{2}, अधिकारः^{4}, ते^{3}	कर्म^{1} में ही^{2} तेरा^{3} अधिकार^{4} है	मा^{4}, कर्म^{1}-फल^{2}-हेतुः^{3}, भूः^{5}	कर्म^{1}-फल^{2}-हेतु^{3} मत^{4} हो^{5}
मा^{3}, फलेषु^{1}, कदाचन^{2}	फलों^{1} में कभी^{2} नहीं^{3}	मा^{4}, ते^{2}, सङ्गः^{3}, अस्तु^{5}, अकर्मणि^{1}	अकर्म^{1} में तेरा^{2} संग^{3} मत^{4} हो^{5}

अन्वयार्थ——कर्म में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं। फल-हेतु तेरा कर्म मत हो, और अकर्म में तेरा संग मत हो ॥ ४७॥

व्याख्या--हे अर्जुन! कर्म में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं। अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार अथवा मोक्षप्राप्ति के लिए तो तुझे अपना नियत कर्म अथवा स्वाभाविक धर्मानुसार कर्त्तव्य कर्म ही, विना फल की आकांक्षा के, करना चाहिए, और उन कर्मों के फलों की लालसा में कभी भी न पड़ना चाहिए। इस लिए मन में कर्मफल की तृष्णा रखकर कर्म मत कर, या कर्मफल तेरा (कर्म में) प्रेरक मत हो, अथवा किसी फल के उद्देश से तेरा कर्म मत हो कि जिससे उस फल की प्राप्ति का तुझे कारण बनना पड़े, अर्थात् कर्मफल भोगने के लिए पुनः जन्म लेना पड़े। और न अकर्म में ही तू संग (प्रीति, लगाव अथवा आसक्ति) रख ताकि बेकारी (आलस्य) तेरे पर सवार होकर तेरे अंतःकरण को मलिन वा क्षुद्रवृत्ति न कर दे।

अभिप्राय इस सबका यह है कि सर्वसाधारण लोग तो फल के लोभ से अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त होते हैं, और उनकी प्रवृत्ति के लिए वेद उनको उन्हीं फलों का उपदेश करता है जो उनके प्रेरक हो सकते हैं, क्योंकि ऐसे जाने विना वे कर्म में प्रवृत्त होते नहीं। परंतु जो विवेकीजन कर्म के बंधन में फँसना नहीं चाहते, सर्व प्रकार से केवल मोक्ष चाहते हैं, अर्थात् जिनका लक्ष्य स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति नहीं किंतु आत्मसाक्षात्कार वा निजानंद

का अनुभव ध्येय है, ऐसे पुरुषों के लिए अवश्य उचित है कि वे प्राप्त भये या नियत कर्म को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर करें, फल की वासना या प्रेरणा से कभी कुछ न करें। और न ऐसे लोग कर्म करते समय उसके फल की तृष्णा को मन में झलक मारने दें; क्योंकि कर्म के समय यदि फल की तृष्णा मन में रही, या फल की तृष्णा ही उनके कर्म की प्रेरक हुई, तो निम्नलिखित दोष उन्हें अवश्य प्राप्त होंगे—

(१) फल की तृष्णा से मन (जब तक फल न मिले) अशांत रहेगा।

(२) मन के अशांत रहने से न शरीर से ही कार्य ठीक वा शीघ्र होगा, और न मन ही किसी कार्य या ध्यान में ठीक युक्त हो सकेगा, जिससे न कार्य-सिद्धि होगी और न परमार्थ की प्राप्ति।

(३) मन के अयुक्त और अशांत रहने से अंतःकरण प्रतिदिन अशुद्ध, निर्बल वा मलिन ही होता जायगा, जो अंत में बड़ा हानिकारक होगा।

(४) जब दिन-प्रतिदिन अंतःकरण निर्बल वा मलिन होता गया, तो फिर दुःखों की निवृत्ति अथवा परमानंद की प्राप्ति की आशा भला कहाँ, उलटा मनुष्यावस्था से भी उतरकर पशुवत् जीवन भोगना पड़ेगा, जिस अवस्था में आत्मज्ञान (तत्त्वसाक्षात्कार) कदापि हो ही नहीं सकता।

(५) यदि इस काम्य कर्म का फल इस जन्म में (जीतेजी) न मिला, तो फल की तृष्णा उसे अवश्य दूसरा जन्म दिलायेगी जिससे जन्म-मरण से भी उसका छुटकारा न होगा।

(६) यह बहुत प्रसिद्ध नियम है कि बाह्य पदार्थों की तृष्णा अथवा फलों की आकांक्षा से पदार्थ या फल की प्राप्ति पुरुष के चित्त को चिरकाल तक शांत और प्रसन्न नहीं रखती, किंतु शांत और प्रसन्न करने के थोड़े ही काल पीछे उसे पहले से भी

अधिक अशांत और अप्रसन्न कर देती है जिससे चित्त दुःखी और अशांत ही बना रहता है। और नित्य शांति की आशा जाती रहती है। जैसे मनुजी कहते हैं--

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
(मनु०, अ० २, श्लोक ९४)

अर्थ—कर्मों के फल जो स्वर्गादि नाना भोग हैं उनसे कभी तृप्ति नहीं होती; किंतु और भी अधिक से अधिक कामनाएँ ऐसी बढ़ती जाती हैं, जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि की ज्वाला।

(७) इस प्रकार चित्त के नित्य अशांत और दुःखी रहने से मनुष्य-जीवन निष्फल और तत्त्वसाक्षात्कार असंभव सा हो जाता है।

(८) इसके अतिरिक्त कामनाओं की पूर्ति व काम्य कर्मों के फल की प्राप्ति भी कामना को चित्त में रटते रहने वा बनाये रखने से नहीं होती, बल्कि उसी (कामना) को भूल जाने वा नितांत त्यागने से होती है, इसलिए चाहे आरंभ में किसी कामना की प्रेरणा से ही कोई कर्म किया जा रहा हो, पर कर्म करते समय जब वह कामना किसी कारण से भूल जाती या त्याग दी जाती है तभी उस कामना की पूर्ति अनायास ही हो जाती है। इसीलिए किसी कवि ने क्या ठीक कहा है--

'भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम;
अब जो नफ़रत हमने की वह बाज़ पीछे आने को है।
माँगा करेंगे हम भी दुआ-ए-हिज्रे-यार की;
आख़िर तो दुश्मनी है, दुआ को असर के साथ॥'

इसलिए मोक्ष के जिज्ञासु को कदापि कोई कर्म उसके फल की आकांक्षा से न करना चाहिए, किंतु उसे अपना कर्त्तव्य जानकर

ही करना चाहिए। फिर कई एक ऐसे नवीन जिज्ञासु होते हैं कि जो तत्त्वज्ञान को युक्तिपूर्वक श्रवण करने के पीछे कर्म को केवल एक दुःख वा कष्ट का पुंज समझकर छोड़ बैठते हैं, जिससे वह पहले से भी अधिक हानि अपनी कर लेते हैं। क्योंकि प्रथम तो शरीर का स्वभाव ही बेकार रहना नहीं किंतु कुछ न कुछ करते रहना होता है; द्वितीय, शारीरिक स्वभाव को यदि हठपूर्वक रोककर कर्म करना छोड़ भी दिया जाय, तो उससे निम्नलिखित हानियाँ प्राप्त होती हैं--

(क) बेकारी से शरीर आलसी और रोगी हो जाता है, जिससे चित्त कदापि स्वस्थ वा शांत होने नहीं पाता।

(ख) यह नियम है कि जब शरीर काम करता हो, तो मन स्वतः उस काम में, अथवा उस द्वारा एक ध्यान में युक्त रहता है, डाँवाडोल अथवा चंचल होने नहीं पाता। पर जब शरीर बेकार (कर्मरहित) और रोगी होता है, तो मन चंचल, डाँवाडोल और भ्रमता रहता है। अर्थात् प्रारंभ में शरीर की चंचलता से मन की स्थिरता और शरीर की स्थिरता से मन की चंचलता उत्पन्न होती है। इसलिए शारीरिक कर्म छोड़ने से मन की स्थिरता प्राप्त नहीं होती।

इसलिए मोक्ष (परमार्थ) के जिज्ञासु को जहाँ एक ओर कर्म-फल की इच्छा त्यागना उचित है, वहाँ दूसरी ओर अकर्म (बेकारी) की प्रीति भी छोड़ना उचित और आवश्यक है। बल्कि ऐसे जिज्ञासु को सदा अपने नियत वा स्वाभाविक कर्म बिना उनके फल की आकांक्षा के केवल अपना कर्त्तव्य समझकर करते ही रहना चाहिए * जिससे न तो उसका शरीर रोगी, आलसी और

---

* श्रीशंकराचार्यजी ने यहाँ "कर्मणि एव" में 'एव' से तात्पर्य

निर्बल हो, न चित्त ही चंचल, अशांत, कायर और अशक्त हो, और न समस्त अंतःकरण मलिन और निर्बल हो, बल्कि

यह निकाला है कि हे अर्जुन ! कर्म में ही तेरा अधिकार है, ज्ञान में नहीं। पर यह अभिप्राय यहाँ स्पष्ट नहीं, और न पूर्वापर के संबंध से मिलता दिखाई देता है, क्योंकि 'ही' का तात्पर्य तो श्लोक के अंदर ही स्फुट किया गया है "कि कर्म में ही तेरा अधिकार है, फलों में कदापि नहीं।" अर्जुन ज्ञान का अनधिकारी नहीं था, यदि ऐसा होता तो आरंभ में ही भगवान् का अर्जुन के प्रति ज्ञानोपदेश करना निष्फल वा हानिकारक होता। अर्जुन तो क्या सर्वसाधारण पुरुष भी पहले परोऽक्षज्ञान के श्रवण-मनन से ही अपरोऽक्षज्ञान के अधिकारी होते हैं, और परोऽक्षज्ञान का श्रवण-मनन आचरण में घटाने के लिए तो वास्तव रूप से समत्व बुद्धि द्वारा निष्काम कर्म में लगना है, केवल एक स्थान पर बेकार बैठकर कुछ मंत्रों का रटना वा जपना ही नहीं। और जब कर्म किसी फल की कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं, तब वे (सकाम) कर्म चाहे इंद्रियों वा मन के स्वभाविक हों, चाहे नित्य-नैमित्तिक वैदिक कर्म हों, और चाहे नियत कर्म हों, वे कदापि अपरोऽक्षज्ञान की प्राप्ति में सहायता नहीं देते, और न अंतःकरण को ही शुद्ध वा शांत करते हैं, क्योंकि कामना अपने पूर्ण होने पर मन को तृप्ति नहीं देती किंतु पहले से भी अधिक क्षुभित कर देती है। इसलिए निष्काम कर्म, जो आत्मसाक्षात्कार का मुख्य और सुगम साधन है, उससे ही भगवान् का यहाँ 'ही' शब्द से तात्पर्य है, कर्म और ज्ञान में भेद पैदा करना नहीं, और न अर्जुन को ज्ञान का अनधिकारी सिद्ध करने में है; पर हाँ 'ही' से स्पष्ट तात्पर्य भगवान् का यहाँ निष्काम कर्म को सकाम कर्म से अलग करने का अवश्य है, जिस निष्काम कर्मयोग को सविस्तर समझाना भगवान् ने इसी अध्याय के ३९ श्लोक से आरंभ किया है। (टीकाकार)

इस निष्काम कर्म द्वारा सर्वप्रकार से बलिष्ठ, स्वस्थ और शुद्ध होता हुआ वह तत्त्वसाक्षात्कार को प्राप्त हो ॥ ४७ ॥ *

---

* इस पर कुछ विलक्षण अन्य व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

"इस श्लोक के चारों चरण परस्पर एक दूसरे के अर्थ के पूरक हैं, इस कारण अतिव्याप्ति न होकर कर्मयोग का सारा रहस्य थोड़े में उत्तम रीति से बतला दिया गया है। और तो क्या, यह कहने में भी कोई हानि नहीं कि ये चारों चरण कर्मयोग की चतुःसूत्री ही हैं। यह पहले कह दिया है कि 'कर्म करने-मात्र का तेरा अधिकार है' परंतु इस पर यह शंका होती है कि कर्म का फल कर्म से ही संयुक्त होने के कारण 'जिसका पेड़, उसी का फल' इस न्याय से जो कर्म करने का अधिकारी है, वही फल का भी अधिकारी होगा। अतएव इस शंका को दूर करने के निमित्त दूसरे चरण में स्पष्ट कह दिया है कि 'फल में तेरा अधिकार नहीं है। फिर इससे निष्पन्न होनेवाला तीसरा यह सिद्धांत बतलाया है कि 'मन में फलाशा रखकर कर्म करनेवाला मत हो।' (कर्मफलहेतुः कर्मफले हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतुः, ऐसा बहुव्रीहि समास होता है)। परंतु कर्म और उसका फल दोनों संलग्न होते हैं, इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धांत प्रतिपादन करने लगे कि फलाशा के साथ ही साथ फल को भी छोड़ ही देना चाहिए, तो इसे भी सच न मानने के लिए अंत में स्पष्ट उपदेश किया है कि "फलाशा को तो छोड़ दे, पर इसके साथ ही कर्म न करने का अर्थात् कर्म छोड़ने का आग्रह न करे।" सारांश 'कर्म कर' कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता कि फल की आशा रख; और 'फल की आशा को छोड़' कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता कि कर्मों को छोड़ दे। अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है कि फलाशा छोड़कर कर्त्तव्य कर्म अवश्य करना चाहिए, किंतु न तो कर्म की आसक्ति में फँसे और न कर्म ही छोड़े—त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः (योग० ५-२-५४)। और यह दिखलाकर कि फल मिलने की बात अपने वश में नहीं, किंतु उसके लिए और अनेक बातों की

संबंध---(१) इस प्रकार पूर्वोक्त कर्मयोग की महिमा और आवश्यकता को दर्शाकर अब भगवान् 'योग' शब्द के अर्थ को सहित उसके करने की विधि के स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् कर्मयोग का स्पष्ट लक्षण बतलाते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योग^{4}-स्थः^{5}, कुरु^{7}, कर्माणि^{6} सङ्गं^{2}, त्यक्त्वा^{3}, धनञ्जय^{1}	हे अर्जुन^{1}! संग^{2} को त्याग^{3} कर योग^{4} में स्थित^{5} हुआ तू कर्मों^{6} को कर^{7}	सिद्धि^{1}-असिद्ध्योः^{2}, समः^{3}, भूत्वा^{4}	सिद्धि^{1}-असिद्धि^{2} में सम^{3} होकर^{4}
		समत्वं^{1}, योग^{2}, उच्यते^{3}	समता^{1} को योग^{2} कहा^{3} जाता है

अन्वयार्थ---हे अर्जुन ! योग में स्थित हुआ, संग को त्याग कर,

अनुकूलता आवश्यक है; अठारहवें अध्याय में फिर यही अर्थ और भी दृढ़ किया गया है (गीता १८, १४-१६)" (श्रीतिलक महाराज)

"इस श्लोक में निष्काम कर्मयोग को किस भाव से करना चाहिए, सो बहुत ही सुंदर रीति से बताया गया है। संसार में प्रायः फल-कामना से ही मनुष्य कर्म करता है, और जहाँ फल की आशा नहीं, वहाँ कर्म करना छोड़ देता है। किंतु कर्मयोग का लक्षण इससे ठीक विपरीत ही है। इसमें फलकामना द्वारा कर्म में आसक्ति नहीं होनी चाहिए और फल मिलता नहीं, इस कारण कर्म में अनासक्ति या अरुचि भी नहीं होनी चाहिए। इसमें फलाफल की परवाह न करके केवल कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करना चाहिए, यही निष्कर्ष है।"

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंद)

और सिद्धि-असिद्धि में सम होकर तू कर्मों को कर। यह समता (ही) योग कहलाती है ॥ ४८ ॥

व्याख्या--कर्म की सिद्धि तथा असिद्धि का ख़्याल रखने से पुरुष में कर्म के साथ लगाव (संबंध या आसक्ति) उत्पन्न हो आता है, जिससे वह अपने परम उद्देश्य अथवा कर्म के लक्ष्य को भूल जाता है। फिर इस संग-दोष के कारण चित्त में निष्काम भाव भी नहीं रहता, और न उत्पन्न होने ही पाता है। और निष्कामता के अभाव होने से (सकाम) कर्म पुरुष को बंधन से मुक्त नहीं कराता, उलटा उसे मोहित करके जन्म-मरण दिलाता है, जिस परिणाम से मोक्ष का जिज्ञासु बचना चाहता है। इसलिए अर्जुन को (जो अब राज-पाट तो नहीं किंतु अपना पूर्ण कल्याण वा मुक्ति चाहता है) भगवान् यह उपदेश करते हैं कि हे धन के जीतनेवाले (अथवा पराक्रमी) अर्जुन ! कर्म की सिद्धि वा असिद्धि (जीत-हार) दोनों में समान होता हुआ (अर्थात् हानि-लाभ दोनों को चित्त से एक बराबर समझता हुआ), और किसी प्रकार के अहंकृत भाव या फल की कामना से कर्म के साथ लगाव न रखकर तू योग में स्थित हुआ (समताभाव से कर्म में युक्त होकर) कर्मों को कर, अर्थात् हाथ कार में और दिल यार में रखकर तू कर्म कर। हे प्यारे ! ऊपर श्लोक ३६वें में जो मैंने तुझे योग के विषय में (अर्थात् कर्म में युक्त होने के विषय में) विचार सुनने को कहा था, वह विचार व योग और कुछ नहीं है केवल यही (सिद्धि-असिद्धि में) समान रहने का नाम योग है; और कर्म-संग को त्यागकर केवल निष्कामभाव से (वा ईश्वर-अर्पण के उद्देश्य से) कर्म करना यह उस (योग) में विचार है, और इसी समताभाव में निरंतर स्थित वा युक्त रहना ही योगस्थ है। इस प्रकार चित्त

का विक्षिप्त न होना अर्थात् कर्म की सिद्धि-असिद्धि में चित्त का हर्ष-विषाद को प्राप्त न होना किंतु सर्वप्रकार की अवस्था में सम रहना योग है, चित्तवृत्ति का नाश वा अभाव होना योग नहीं, और न हठयोग से ही यहाँ अभिप्राय है ॥ ४८ ॥ *

संबंध—अब उक्त योग की काम्य कर्म से तुलना करते हुए भगवान् योग की श्रेष्ठता दर्शाते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

दूरेण[६], हि[४], अवरं[७], कर्म[५], बुद्धि[२], योगात्[३], धनंजय[१]	हे अर्जुन[१] ! बुद्धि[२] योग[३] से निःसंदेह[४] कर्म[५] अति[६] निकृष्ट[७] (या दूर[६] होने से निकृष्ट[७]) है	बुद्धौ[१], शरणं[२], अन्विच्छ[३]	तू बुद्धि[१]-योग में शरण[२] ढूँढ़[३]
		कृपणाः[३], फल[१]-हेतवः[२]	फल[१] के कारण (कर्म करने) वाले कृपण[३] हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! बुद्धियोग से (काम्य) कर्म निःसंदेह

---

* इसकी व्याख्या श्रीज्ञानदेवजी अपने निराले ढंग से यों करते हैं—"योगयुक्त होकर फल का संग छोड़ दो और फिर मन लगाकर कर्म करो। परंतु यदि आरंभ किया हुआ कर्म सदैव से सिद्ध हो जाय तो उसके विषय अधिक संतोष भी मत मानो, अथवा किसी कारण से वह कर्म सिद्ध न होते हुए रह जाय तो भी उस कारण असंतोष से क्षुब्ध मत होओ। कर्म करते-करते यदि सिद्ध हो जाय, तो निःसंदेह भला ही हुआ; परंतु न भी सिद्ध हो तथापि सफल ही हुआ सा समझो। जितना कुछ कम उत्पन्न होता है, उतना सब ईश्वर को समर्पण किया जाय तो सहज ही परिपूर्ण हुआ सा समझना चाहिए। ऐसी जो भले-बुरे कर्म के विषय मनोधर्म की समानता होती है, उसी योगस्थिति की श्रेष्ठजन प्रशंसा करते हैं।"

अत्यंत निकृष्ट है। तू बुद्धि में शरण ढूँढ़। फल के कारण (कर्म करने) वाले कृपण* होते हैं ॥ ४९ ॥

व्याख्या--पूर्व श्लोक में जो सिद्धि-असिद्धि में सम रहने की बुद्धि दी गई, उस समत्व-बुद्धि से कर्म में युक्त होने का नाम बुद्धियोग है। अथवा जिस तत्त्वविवेक वा समत्वबुद्धि की सहायता से कर्म करते हुए चित्तवृत्ति निष्काम वा सम होकर अपने परम स्वरूप में युक्त हो जाय, उस विवेक (बुद्धि) द्वारा कर्म में युक्त होने का नाम बुद्धियोग है। इस बुद्धियोग से अतिरिक्त अन्य कर्म निःसंदेह अत्यंत निकृष्ट हैं, अथवा अन्य कर्म (इस बुद्धियोगरूपी कर्म से) अत्यंत दूर होने से निकृष्ट हैं। अर्थात् जिस कर्म का कर्त्ता समत्व बुद्धियुक्त और निष्काम है, उस कर्म से वह कर्म अत्यंत निकृष्ट है कि जिसका कर्त्ता हर्ष-शोकयुक्त और सकाम है। अथवा तत्त्वसाक्षात्काररूप परम लक्ष्य को रखकर, या ईश्वरार्पण के उद्देश्य से जो कर्म किया जाय, उसकी अपेक्षा वह कर्म अत्यंत निकृष्ट है कि जो स्वर्गादि का लक्ष्य रखकर किया जाता है। संक्षेप से यह कि ज्ञान का अनुष्ठानरूप कर्म जो मोक्ष का हेतु है, उससे सकाम कर्म जो जन्ममरण का हेतु है अत्यंत तुच्छ वा दूर है। इसलिए हे अर्जुन! तू बुद्धि की शरण (पनाह) में आ, अर्थात् कर्म की सिद्धि और असिद्धि में सम

---

* कृपण=कृपा के पात्र। अर्थात् जो परमात्मा को लक्ष्य न बनाकर क्षुद्र कामनाओं को ही लक्ष्य बनाते हैं। उनकी दीन दशा पर तरस आता है, इसलिए वे सब कृपण हैं। जैसे बृहदारण्यक में आया है कि "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।" हे गार्गि! जो इस अविनाशी को जाने विना इस लोक से चल बसता है, वह कृपण है। (पूर्व श्लोक ७ का फ़ुटनोट देखो)

रहने की बुद्धि जो ऊपर कही गई है, उसका तू आश्रय ले। अथवा पूर्व श्लोक ४१ में जो कर्मयोग के विषय में निश्चयात्मिक बुद्धि वर्णन हुई है, उस एक बुद्धि की शरण पकड़ और उसी बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म कर, क्योंकि जो फल के कारण कर्म करते हैं, अथवा फल जिनका कर्म में प्रेरक होता है, वे लोग कृपण (दीन, नीच और कंजूस) होते हैं। पर तू कृपण मत बन ॥ ४९ ॥*

संबंध—इस बुद्धियोग में युक्त पुरुष की भगवान् अब महिमा वर्णन करते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धि^{1}-युक्तः^{2}, जहाति^{7}, इह^{3}, उभे^{4}, सुकृत^{5}- दुष्कृते^{6}	बुद्धि^{1} से युक्त^{2} पुरुष यहाँ^{3}(इस जन्म में) दोनों^{4} पुण्य^{5} और पाप^{6} को छोड़^{7} देता है	तस्मात्^{1}, योगाय^{2} युज्यस्व^{3}	इसलिए^{1} योग^{2} के लिए युक्त^{3} हो
		योगः^{2}, कर्मसु^{1}, कौशलम्^{3}	कर्मों^{1} में योग^{2} कल्याण^{3} रूप (निपुणता) है

---

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या ऐसे है—

"हे अर्जुन ! जहाँ मन और बुद्धि की एकता होती है, जहाँ चित्त की समता रहती है, सोई योग का सार है। हे पार्थ ! इस बुद्धियोग का अनेक रीति से विचार करने से कर्मयोग की योग्यता कम दिखाई देती है। परंतु कर्म का आचरण किया जाय, तभी यह योग सिद्ध होता है। कारण, कर्मोत्तर स्थिति ही स्वभावतः योग की स्थिति है। इसलिए हे अर्जुन ! श्रेष्ठ बुद्धियोग में स्थिर रहो और मन से फलाशा का तिरस्कार करो। जो बुद्धियोग में उद्युक्त हुए हैं, वे ही संसार के पार गये हैं, और वे ही संसार और स्वर्ग-संबंधी पाप-पुण्यों से छूटे हैं।"

अन्वयार्थ--(उक्त समत्व) बुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को यहाँ छोड़ देता है। इसलिए तू योग के लिए (कर्म में) युक्त हो। (क्योंकि) कर्मों में योग कल्याणरूप है ॥ ५० ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! समत्वबुद्धि से युक्त जो पुरुष है, अर्थात् कर्म को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर विना किसी फल की कामना के जो पुरुष कर्म करता है, और उस कर्म की सिद्धि पर प्रसन्न तथा असिद्धि पर अप्रसन्न या दुःखी नहीं होता, बल्कि इन दोनों को एक समान समझता हुआ इनमें हर्ष-शोक से रहित रहता है, वह यहाँ इस जन्म में ही कर्म के अच्छे या बुरे भाव वा फल को छोड़ देता है। अर्थात् वह पुरुष कर्म करते समय कर्म की पुण्य या पाप की दृष्टि अथवा अच्छे या बुरे फल के भाव को चित्त में नहीं रखता बल्कि इन दोनों को जीतेजी चित्त से परे रखते हुए और कर्म को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर अथवा ईश्वरार्पण के उद्देश्य से करता है, जिससे वह कर्म के पुण्य-पापरूपी फल से लिप्त होने नहीं पाता, बल्कि इसी जन्म में उन्हें त्यागता हुआ वह सदैव अलिप्त रहता है *। इस प्रकार कर्म में

---

* "धर्मेण पापमपनुदति"=धर्म से पाप को (पुरुष) दूर करता है (तैति०, आ० १०, ६३, ७), ऐसा श्रुति में आया है; फिर बुद्धियोग से युक्त पुरुष पुण्य को कैसे दूर कर सकता है, क्योंकि पुण्य पुण्य का विरोधी नहीं, पाप का विरोधी है ? इसमें प्राचीन आचार्य ऐसा कहते हैं कि धर्म से जब पाप दूर होता है, तो अंतःकरण की शुद्धि से पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर पुण्य को भी त्याग देता है। नवीन आचार्य ऐसा कहते हैं कि फल के त्याग के साथ पुण्यभाव का त्याग भी कर्मयोगी अर्थात् मोक्ष के जिज्ञासु के लिए आवश्यक है, क्योंकि पुण्य भी मोक्ष का प्रतिबंधक है (नीलकंठ)। वास्तव में पुण्य और पापभाव दोनों ही

समत्वबुद्धि से युक्त होना रूप जो योग है, वही सारे कर्मों में कल्याणरूप (या कल्याणकारक, निपुणता वा चतुराई) है, अथवा कर्म में कुशलकारक जो यह समत्वबुद्धि है, यही योग है । क्योंकि इस रीति से पुरुष कर्म के पुण्य-पापरूपी फल से निर्लिप्त हुआ कर्मबंधन से छूट जाता है और मोक्ष को प्राप्त होता है; इसलिए हे अर्जुन ! तू यदि और ख्याल से नहीं तो इस निपुणता, कुशलता वा कल्याण के ख्याल से ही कर्म में लग; यही निपुणता ही योग है, इससे तेरा अति कल्याण होगा ।। ५० ।। *

मोक्ष के प्रतिबंधक हैं । जब पुरुष फल की आकांक्षा को छोड़कर कर्म करता है, तो वह कर्म उसका केवल स्वाभाविक होता है, पुण्य या पाप की बुद्धि से नहीं । इसलिए ,वह कर्म उसके मोक्ष का प्रतिबंधक नहीं होता, और न वह पुरुष उसके कर्तृत्वादि संगदोष से रहित होने के कारण उस कर्म का कर्त्ता माना जाता है । यही इसमें निपुणता है । (टीकाकार)

* इन तीन श्लोकों पर कुछ अन्य विलक्षण व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

"इन श्लोकों में कर्मयोग का जो लक्षण बतलाया है, वह महत्त्व का है; पर इसमें भी कर्मयोग का जो तत्त्व—'कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है'—४९वें श्लोक में बतलाया है, वह अत्यंत महत्त्व का है । 'बुद्धि' शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण नहीं है, इसलिए इस श्लोक में उसका अर्थ 'वासना' या 'समझ' होना चाहिए । कुछ लोग बुद्धि का 'ज्ञान' अर्थ करके इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया चाहते हैं कि ज्ञान की अपेक्षा कर्म हल्के दर्जे का है; परंतु यह ठीक अर्थ नहीं है, क्योंकि पीछे ४८वें श्लोक में समत्व का लक्षण बतलाया है और ४९वें तथा अगले श्लोक में भी यही वर्णित है । इस कारण यहाँ बुद्धि का अर्थ समत्वबुद्धि ही करना चाहिए । किसी भी कर्म की भलाई-बुराई कर्म पर अवलंबित नहीं होती; कर्म एक ही क्यों न हो, पर करनेवाले की भली या बुरी बुद्धि के अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है; अतः कर्म की अपेक्षा

संबंध--(१) अब इस समत्वबुद्धियुक्त पुरुष के अंतिम परिणाम को भगवान् कहते हैं—

बुद्धि ही श्रेष्ठ है ।.......४१वें श्लोक में बतलाया ही है कि वासनात्मक बुद्धि को सम और शुद्ध रखने के लिए कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मक बुद्धि पहले ही स्थिर हो जानी चाहिए। इसलिए 'साम्यबुद्धि' इस एक शब्द से ही स्थिर व्यवसायात्मक बुद्धि और शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनों का बोध हो जाता है । यह साम्यबुद्धि ही शुद्ध आचरण अथवा कर्मयोग की जड़ है, इसलिए ३९वें श्लोक में भगवान् ने पहले जो यह कहा है कि कर्म करके भी कर्म की बाधा न लगनेवाली युक्ति अथवा योग तुझे बतलाता हूँ, उसी के अनुसार इस श्लोक में कहा है कि 'कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखना ही' 'युक्ति' या 'कौशल' है, और इसी को 'योग' कहते हैं—इस प्रकार योग शब्द की दो बार व्याख्या की गई है । ५०वें श्लोक में 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस पद का इस प्रकार सरल अर्थ लगने पर भी कुछ लोगों ने ऐसी खींचातानी से अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है कि 'कर्मसु योगः कौशलम्'—कर्म में जो योग है, उसको कौशल कहते हैं । पर कौशल शब्द की व्याख्या करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, 'योग' शब्द का लक्षण बतलाना ही अभीष्ट है, इसीलिए यह अर्थ सच्चा नहीं माना जा सकता । इसके अतिरिक्त जब कि 'कर्मसु कौशलम्' ऐसा सरल अन्वय लग सकता है, तब 'कर्मसु योगः' ऐसा औंधा-सीधा अन्वय करना ठीक भी नहीं है ।” (श्रीतिलक महाराज)

“इन श्लोकों में दो प्रकार से कर्मयोग के लक्षण कहे गये हैं, प्रथम 'समत्व' अर्थात् लाभ-अलाभ, सफलता-विफलता आदि सभी में समभाव रखकर कर्त्तव्यबुद्धि, भगवत्-प्रीति या भगवान् को सर्वत्र व्याप्त जानकर जीवसेवा द्वारा भगवत्-पूजा करना और फलाफल उन्हीं को समर्पण कर देना, यही कर्मयोग का लक्षण है । द्वितीयतः कर्म में जो कौशल है अर्थात् इस कौशल या चतुराई के साथ कार्य करना कि

अथवा (२) अब भगवान् इस समत्वबुद्धियोग का अंतिम फल बतलाते हैं—

अथवा (३) तुच्छ फल के त्याग से मोक्षफल की प्राप्ति भगवान् अब कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

कर्म^{१}-जं^{२},	कर्म^{१} से उत्पन्न^{२} हुए	जन्म^{१}-बन्ध^{२}-	जन्म^{१} के बंधन^{२} से
बुद्धि^{५}-युक्ताः^{६},	फल^{३} को त्याग^{४} कर	विनिर्मुक्ताः^{३}	मुक्त^{३} हुए हुए
हि, फलं^{३},	(समत्व) बुद्धि^{५} से		
त्यक्त्वा^{४},	युक्त^{६} विवेकी(ज्ञानी)	पदं^{२}, गच्छन्ति^{३},	निरुपद्रव^{१} पद^{२}
मनीषिणः	निःसंदेह	अनामयं^{१}	को प्राप्त^{३} होते हैं

अन्वयार्थ—(समत्व) बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष कर्मजन्य फल को त्यागकर जन्मरूप बंधन से मुक्त हुए निःसंदेह निरुपद्रव पद को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

वह कर्म बंधन का कारण न बनकर बंधन-नाश तथा मोक्ष का ही कारण बन जाय; उसे भी कर्मयोग कहते हैं। यह कौशल कर्म करने में निष्कामभाव रखने से ही हो सकता है, क्योंकि कामना ही बंधन का कारण है और निष्कामता मोक्ष का कारण है। फलाकांक्षा न रखने से 'सुकृत' 'दुष्कृत' किसी के साथ भी कर्मयोगी का संबंध नहीं रहेगा। और इस प्रकार पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मरूपी द्वंद्वों से परे ही ब्रह्म का राज्य है। अतः समत्वबुद्धि के साथ कर्मयोगी के अनुष्ठान द्वारा योगी अनायास ही आनंदमय मोक्षपद को पा सकता है, यह सिद्धांत हुआ।"

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंद)

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार समत्वबुद्धिवाले ज्ञानवान् (पंडित, विवेकी या मननशील) लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले (इष्ट-अनिष्ट) फल को त्यागकर जन्म के बंधन से छूट जाते हैं, अर्थात् आवागमन से रहित हो जाते हैं। और इस प्रकार मुक्त होकर वे फिर उस पद को प्राप्त होते हैं जो निःसंदेह सर्वप्रकार के उपद्रवों वा रोगों से रहित और शांतिदायक है। अर्थात् वे फिर निर्वाणपद या आनंद से भरे हुए अविनाशी स्थान वा कैवल्य-मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

संबंध—इस प्रकार बुद्धियोग को सहित उसकी महिमा के विस्तारपूर्वक दर्शाकर अब भगवान् दो श्लोकों में यह स्पष्ट करते हैं कि अर्जुन की बुद्धि इस योग में कब और कैसे स्थित होगी—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा[१], ते[२], मोह[४]-कलिलं[५], बुद्धिः[३], व्यतितरिष्यति[६]	जब[१] तेरी[२] बुद्धि[३] मोह[४] के दलदल[५] (कीच) को तर[६] जायगी	तदा[१], गन्तासि[६], निर्वेदं[५], श्रोतव्यस्य[३], श्रुतस्य[४], च[३]	तब[१] तू सुनने[२] योग्य और[३] सुने[४] हुए के वैराग्य[५] को प्राप्त होगा[६]

अन्वयार्थ—जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल (कीच) को तर जायगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा ॥५२॥

व्याख्या—यह नियम है कि जब तक पुरुष की बुद्धि इस मोह (देहासक्ति, अविवेक वा देहादि पदार्थों में आत्मभ्रांति) को, जो पहले एक शरीर में उत्पन्न होता है, फिर पुत्र-पौत्र इत्यादि में फैलता हुआ एक बड़ा भारी जंजाल बन जाता है, तर नहीं जाती;

या दूसरे शब्दों में ऐसे कि जब तक पुरुष की बुद्धि तत्त्वज्ञान के श्रवण और मनन से किंचित् देहाध्यास को छोड़कर अपने आत्मतत्त्व में संशयरहित या निश्चयात्मिक नहीं हो जाती, तब तक पुरुष न निष्कामभाव को प्राप्त होता है और न निष्कामता से किसी कर्म को करने के समर्थ होता है। यदि हठपूर्वक उसे किसी निष्कामकर्म में (अर्थात् किसी कर्म में निष्कामभाव सहित) नियुक्त भी किया जाय, तो भी समय-समय पर वह फिसल जाता है, और कामनाओं ही की ओर इतना झुक जाता है कि वारंवार अनेक प्रकार की पुष्पित वाणियों तथा स्वर्गादि की कथाओं के सुनने की जिज्ञासा करने लग पड़ता है. जिससे उसके चित्त में स्थिरता, धीरता, निष्कामता और निश्चयात्मिक अवस्था उत्पन्न होने नहीं पाती। इसलिए भगवान् इस नियम को अर्जुन के आगे ऐसे स्फुट करते हैं कि हे प्यारे! जब तक तेरी बुद्धि इस मोहरूपी दलदल (अर्थात् देह, पुत्र, पौत्रादि की ममता के जंजाल, उलझन या कीच) में फँसी रहेगी, तब तक वह न समताभाव वा निष्कामता को प्राप्त होगी, न आत्मस्वरूप के निश्चय में आरूढ़ होगी, और न ही सुनी हुई या सुनने योग्य बातों से उपराम वा वैराग्ययुक्त होगी। पर हाँ जब वह (बुद्धि) मोह की उलझनों से पार (अर्थात् निर्मोह) हो जायगी, तब वह निरासक्त, निश्चल निश्चयात्मिक और ऐसी निर्मल शीशा बन जायगी कि फिर तुझे न सुनी हुई बातों या वैदिक वाणी (श्रुति) की कुछ परवाह होगी, और न आगे सुनने की कुछ ज़रूरत। बल्कि सुने हुए और सुनने योग्य इन दोनों से तू उपराम हो जायगा ॥५२॥*

---

* वेदों में भी यह तात्पर्य इस ऋचा से स्पष्ट होता है कि "ऋचो अक्षरं परमे व्योमन् (ऋग् १, १६४, ३९)=जब वह (परमात्मदेव)

और—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुति^{१}-विप्रति^{२}-पन्ना, ते^{३}, यदा^{४}, स्थास्यति^{६}, निश्चला^{५}	श्रुति^{१} (सुनी हुई बातों)से घबराई^{२} हुई(भुलाई हुई) तेरी^{३} (बुद्धि) जब^{४} निश्चल^{५} स्थित^{६} होगी	समाधौ^{२}, अचला^{१}, बुद्धिः^{३},	अचल^{१} समाधि^{२} में बुद्धि^{३} (स्थिर होगी)
		तदा^{१}, योगं^{२}, अवाप्स्यसि^{३}	तब^{१} तू योग^{२} को प्राप्त^{३} होगा

अन्वयार्थ—जब श्रुति से घबराई हुई तेरी बुद्धि निश्चल होकर समाधि में अचल स्थित होगी, तब तू योग को प्राप्त होगा ॥५३॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अनेक साधनों तथा फलों के प्रतिपादन करनेवाली वैदिक श्रुतियों से, अथवा नाना प्रकार की पूर्व सुनी हुई बातों से जो तेरी बुद्धि विभ्रांत, चलायमान और संशयात्मिक हो रही है, जब यह मोह-जाल को उल्लंघन करके तत्त्वविवेक

जान लिया तो फिर वेद के पाठ से कोई प्रयोजन नहीं है ।" नदी से पार हो जाने पर नौका से कोई प्रयोजन नहीं रहता । ऐसे आत्मदेव के अनुभव हो जाने पर किसी और के सुनने-सुनाने की आवश्यकता और इच्छा नहीं रहती । ऐसा ही ब्राह्मण में भी सावित्राग्नि के लच्य से कहा है कि "न हवा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोस्ति, यः सावित्रं वेद ।" (तैति० ब्रा० ३, १०, ६) न इसको ऋचा से, न यजु से, और न साम से प्रयोजन है, जो सावित्र को जानता है । भागवत ४, २६, ४६ श्लोक भी इसी अभिप्राय को लिये हुए है ।

द्वारा इधर-उधर भटकने से बंद हो जायगी और फिर अपने एक लक्ष्य में या परमस्वरूप के निश्चय वा ध्यान में गड़कर स्थित होगी, तब ठीक उक्त समत्वबुद्धियोग को तू प्राप्त होगा। अर्थात् तब तेरी बुद्धि कर्म करते समय ठीक समत्वभाव में आरूढ़ हो सकेगी, जिस समता की निरंतर धारारूपस्थिति की बदौलत तू सर्वकाल और सब अवस्थाओं में आत्मध्यान में ही संपूर्ण युक्त हो सकेगा, और फिर आत्मसाक्षात्कार लाभ होगा ॥ ५३ ॥*

---

* कुछ विलक्षण रूप से अन्य व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

"जब तक बुद्धि में 'मैं', 'मेरा' आदि ममतामूलक अविवेक की मलिनता रहती है तब तक जीव प्रायः वैदिक सकाम कर्मों के चक्कर में ही फँसा रहता है। उसको व्यवसायात्मिक बुद्धि प्राप्त न होकर कामनामयी चंचल बुद्धि ही प्राप्त हुई रहती है। किंतु आत्मा में चित्त को ठहरा कर निष्कामभाव से जीव जितना ही वेदविहित कर्मों को करता जाता है, उतना ही उसके चित्त की सकामता तथा चंचलता नष्ट होकर अंत में आत्मा ही में बुद्धि एकांतरूप से निश्चल हो जाती है। उस समय वह बुद्धि साधारण बुद्धि न कहलाकर प्रज्ञा या ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। और इस प्रकार प्रज्ञा से युक्त पुरुष 'स्थितप्रज्ञ' कहलाते हैं। वे अपनी प्रज्ञा को ज्ञानमय ब्रह्म में लवलीन करते हुए सत्य ही बोलते हैं, सत्य ही सोचते हैं, और सत्य ही करते हैं। आनंदमय ब्रह्म में इस प्रकार से सदा प्रतिष्ठित रहने के कारण स्थितप्रज्ञ योगी को सदा आत्मप्रसाद अर्थात् आत्मा का असीम आनंद मिलता रहता है। यही योग का अंतिम फल होने के कारण श्री भगवान् ने इसी के लाभ को ही सच्चा योग का लाभ बताया है।" (भारतधर्ममहामंडल के स्वामी दयानंदजी)

"सारांश, द्वितीय अध्याय के ४४वें श्लोक के कथनानुसार, जो लोग वेद-वाक्य की फलश्रुति में भूले हुए हैं, और जो लोग किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ कर्म करने की धुन में लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती—और भी अधिक गड़बड़ा

संबंध—स्थितबुद्धि का फल "योगप्राप्ति" सुनकर अर्जुन के चित्त में स्थितबुद्धि पुरुष के लक्षण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो आई, जिससे वह अब भगवान् से ऐसे प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थित[४]-प्रज्ञस्य[५],	हे केशव[१] !	स्थित[१]-धी[२]:,	स्थित[१] बुद्धि[२] पुरुष
का[६], भाषा[७],	समाधि[२] निष्ठ[३]	किं[३], प्रभाषेत[४]	कैसे[३] बोलता[४] है
समाधि[२]-	स्थित[४] प्रज्ञ[५]-पुरुष	किं[१], आसीत[२].	कैसे[१] बैठता[२] है,
स्थस्य[३], केशव[१]	का क्या[६] लक्षण[७] है	व्रजेत[४], किं[३]	कैसे[३] विचरता[४] है

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे केशव * ! (पूर्वोक्त) समाधि-निष्ठ स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है ? स्थितबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, और कैसे विचरता है ? ५४ ॥

व्याख्या—स्थितबुद्धि का उत्तम परिणाम सुनकर अर्जुन ने पूछा कि हे सबके अंतःकरण में रहनेवाले (अथवा केशी दैत्य के मारनेवाले) भगवान् कृष्णचंद्रजी ! स्थितबुद्धि पुरुष दो प्रकार की अवस्थावाला होता है—एक समाधिस्थ, दूसरा

जाती है, इसलिए अनेक उपदेशों का सुनना छोड़कर चित्त को निश्चल समाधि अवस्था में रख, ऐसा करने से साम्यबुद्धिरूप कर्मयोग तुझे प्राप्त होगा और अधिक उपदेश की ज़रूरत न रहेगी; एवं कर्म करने पर भी तुझे उनका कुछ पाप न लगेगा। इस रीति से जिस कर्मयोगी की बुद्धि या प्रज्ञा स्थिर हो जाय, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।" (श्रीतिलक महाराज)

* केशव का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

समाधिरहित। सो जो पुरुष आत्मध्यानरूपी समाधि में गड़कर युक्त है और अचल (अर्थात् अडोल और सम) बुद्धि रखता है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ऐसे पुरुष के क्या चिह्न हैं ? अर्थात् किन लक्षणों वा विवरण से जाना जा सकता या कहा जा सकता है कि अमुक पुरुष (जो ऊपर से चाहे निश्चल व निष्क्रिय स्थित है, पर वास्तव में भीतर से भी) शांतचित्त, निर्विक्षिप्त वा समत्वबुद्धिवाला और समाधिस्थ है ? और जो समाधि से उत्थान हुआ हुआ (अर्थात् समाधिरहित) स्थितबुद्धि पुरुष है, वह स्थितधी कहलाता है। हे भगवन् ! लोगों में वह किस प्रकार बातचीत करता है, कैसे उठता-बैठता है वा किस अवस्था में रहता है, और कैसे चलता-फिरता है ? अर्थात् उसका भाषण, आसन वा स्थिति और विचरण ये तीनों दूसरों के भाषणादि से क्या विलक्षणता वा भेद रखते हैं ? (इस प्रकार अर्जुन अपने प्रश्न से चार बातें पूछता है) ॥ ५४ ॥

संबंध—इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् अब स्थितप्रज्ञ व स्थितधी पुरुष के लक्षण* सहित व्याख्या के दो श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

---

* सर्वत्र अध्यात्म-शास्त्र में जो सिद्ध (कृतार्थ) के लक्षण होते हैं, वही साधक के लिए साधन होते हैं, क्योंकि उसके लिए वे सब यत्न साध्य होते हैं। और जो साधक के साधन हैं, वही सिद्ध पुरुष के लक्षण होते हैं, क्योंकि उसमें वे सब स्वभाविक हो जाते हैं। इस प्रकार स्थितबुद्धि पुरुष के जो यहाँ लक्षण कहे जायँगे, वे सब बुद्धि की स्थिति के साधन भी हैं।

प्रजहाति^{७}, यदा^{२}, कामान्^{६}, सर्वान्^{५}, पार्थ^{१}, मनः^{३}-गतान्^{४}	हे अर्जुन^{१} ! जब^{२} मन^{३} में प्रविष्ट हुई^{४} सब^{५} कामनाओं^{६} को पुरुष परित्याग^{७} देता है	आत्मनि^{२}, एव^{३}, आत्मना^{१}, तुष्टः^{४}	आत्मा से^{१} आत्मा^{२} में ही^{३} संतुष्ट^{४} (होता) है
		स्थित^{२}-प्रज्ञः^{३}, तदा^{१}, उच्यते^{४}	तब^{१} वह स्थित^{२} प्रज्ञ^{३} कहलाता^{४} है

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जब पुरुष सब मनोगत * कामनाओं को परित्याग देता है, और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥ ५५ ॥

व्याख्या--उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा--हे अर्जुन ! जब यह पुरुष हृदय में प्रविष्ट हुई सारी की सारी कामनाओं को नितांत त्याग देता है, अर्थात् मन के काम-संकल्पादिक धर्मों से जब यह पुरुष नितांत निरासक्त हो जाता है, और फिर अपने आत्मा से अपने आत्मा में ही तृप्त होता है, अर्थात् जब यह न बाहर के विषयों की इच्छा करता है और न उनमें आनंद ढूँढ़ता है बल्कि अपने भीतर अपने आत्मिक बल से (अर्थात् निरंतर ध्यान द्वारा) अपना परमानंद भोगता हुआ तृप्त होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥ †

---

* विषय-कामनाएँ सारी मनोगत ही होती हैं, आत्मगत नहीं । यदि आत्मगत होतीं, तो स्वाभाविक होने से कभी त्यागी न जा सकतीं । इसलिए कामनाओं का यहाँ मनोगत विशेषण दिया है ।

† "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" (कठ० २-३-१४) अर्थ—इस पुरुष के हृदय में जो ये काम-संकल्पादिक हैं, जिस समय ये सब निःशेषतः निवृत्त होते हैं, उसी समय यह मरनेवाला पुरुष अमर होता हुआ फिर ब्रह्मानंद को भोगता है । (आगे फ़ुटनोट पृष्ठ २८२ पर देखो)

संबंध—अब भगवान् स्थितधी पुरुष के चित्त की दशा व लक्षण दर्शाते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखेषु^{1}, अनुद्विग्न-^{2}मनाः^{3}	दुःखों^{1} में न क्षुभित^2 (न घबराये हुए) मन^3 वाला	वीत^4-राग^1-भय^2-क्रोधः^{3}	राग^1, भय^2, क्रोध^3 से रहित^4
सुखेषु^{1}, विगत^2-स्पृहः^{3}	सुखों^{1} में दूर^2 हुई तृष्णा^{3} वाला	स्थित^2-धीः^{3}, मुनिः^{1}, उच्यते^{4}	मुनि^{1} स्थित^2-बुद्धि^{3} कहलाता^{4} है

अन्वयार्थ--दुःखों में न क्षुभित मनवाला, सुखों में दूर हुई इच्छावाला, और राग, भय, क्रोध से रहित मुनि स्थितबुद्धि कहलाता है ॥ ५६ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! दुःखों में जिसका मन क्षोभ को प्राप्त नहीं होता; अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों में जिसका मन न घबराता है, न चलायमान होता है, न दुःख या भय को प्राप्त होता है, और न उनके दूर करने का प्रयत्न करता है। विषय-सुखों में जिसकी तृष्णा निवृत्त हो चुकी है। अर्थात् इंद्रियभोगरूप सुखों के प्राप्त करने में जिसको किंचित् इच्छा नहीं, और न जिसमें उनके प्राप्त होने पर तृष्णा ऐसी भड़कती वा बढ़ती है, जैसे घृत या ईंधन के

जैसे—"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।" (मुण्डक० ३, १, ४) अर्थ—आत्मा में खेलता हुआ, आत्मा में रमण करता हुआ और उसी में व्यवहार करता हुआ ब्रह्मवेत्ता सबसे श्रेष्ठ है ।

पाने से अग्नि भड़कती और बढ़ती है। और जो मुनि (मननशील विद्वान्) इस रीति से राग, भय और क्रोध से रहित है, वह महात्मा स्थिरबुद्धिवाला कहा जाता है ॥ ५६ ॥

संबंध—दूसरा प्रश्न 'स्थितधी पुरुष कैसे बोलता है ?', इसका उत्तर अब भगवान् देते हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यः^{1}, सर्वत्र^{2}, अनभिस्नेहः$^{4\,3}$	जो^{1} सर्वत्र^{2} स्नेह^{3}-रहित^{4}	न^{1}, अभिनन्दति^{2}, न^{3}, द्वेष्टि^{4}	न^{1} हर्ष^{2} करता है, न^{3} द्वेष^{4} करता है
तत्^{1}, तत्^{1}, प्राप्य^{4}, शुभं^{2}-अशुभं^{3}	उस^{1} उस^{1} शुभ^{2}- अशुभ^{3} को प्राप्त^{4} होकर	तस्य^{1}, प्रज्ञा^{2}, प्रतिष्ठिता^{3}	उसकी^{1} बुद्धि^{2} ठहरी^{3} हुई है

अन्वयार्थ—जो सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ और अशुभ को प्राप्त होकर न हर्ष करता है और न द्वेष, उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! देह, पुत्र, पौत्रादि किसी भी वस्तु में अथवा स्वर्गादि किसी भी लोक में जिसको किंचित् स्नेह नहीं । और जो शुभ-अशुभ के प्राप्त होने पर हर्ष और द्वेष वा शोक नहीं करता, अर्थात् जो शुभ वस्तु (या प्रिय पदार्थ) के मिलने पर प्रसन्न नहीं होता, अथवा खुशी में आकर फ़व्वारे की तरह नहीं उछलता, और अशुभ (अप्रिय) वस्तु के मिलने पर अप्रसन्न (खिन्न-चित्त) नहीं होता (अथवा रोता-पीटता नहीं), किंतु दोनों की प्राप्ति पर एक समान चित्त रहता है, उस महात्मा की बुद्धि ठहरी हुई होती है ॥ ५७ ॥

संबंध--तीसरा प्रश्न 'स्थितधी पुरुष कैसे बैठता है ?', उसका उत्तर भगवान् अब देते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

यदा^{2}, संहरते^{9}, च^{1}. अयं^{3}, कूर्मः^{7}, अंगानि^{8}, इव^{6}, सर्वशः^{4}	और^{1} जब^{2} यह^{3} सर्व^{4} ओर से (ऐसे) खींच^{9} लेता है जैसे^{6} कछुआ^{7} अंगों^{8} को	इन्द्रियाणि^{1}, इन्द्रिय^{2}-अर्थेभ्यः^{3}	इंद्रियों^{1} को इंद्रियों^{2} के अर्थों^{3} से
		तस्य^{1}, प्रज्ञा^{2}, प्रतिष्ठिता^{3}	उसकी^{1} बुद्धि^{2} ठहरी^{3} हुई होती है

अन्वयार्थ—और जब यह (स्थितधी पुरुष) सब ओर से इंद्रियों को इंद्रियों के अर्थों से ऐसें खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को, तब उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है ॥ ५८ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! जैसे कछुआ अपने चारों पाद और मुख (इन पाँच अंगों) को आक्रमण वा दुःख के समय अपने भीतर खींच लेता अर्थात् समेट लेता है, इसी प्रकार जब यह स्थितबुद्धि पुरुष रागादि-दोषों की प्राप्ति पर, अथवा समाधि में विघ्न के भय से, सर्व ओर से अपनी इंद्रियों को उनके विषयों से खींच लेता अर्थात् हटा लेता वा अपने वश में कर लेता है, तब उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है ॥ ५८ ॥ *

---

* महाभारत (१२. २१. ३) में यही भाव ऐसे वर्णन है—

"यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात्स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥"

अर्थ—जब वह कछुए के अंगों के समान सब वासनाओं को खींच लेता है, तब उसके अंतःकरण के भीतर शीघ्र ही आत्मज्योति प्रकाशती है ।

संबंध--निराहारी वा रोगी पुरुष की इंद्रियाँ भी विषयों से निवृत्त हुई होती हैं, उसे भी तब स्थितप्रज्ञावाला कहना चाहिए। इस भ्रम के निवारणार्थ भगवान् अपने उक्त कथन को और स्पष्ट करते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

विषया^{3}, विनिवर्तन्ते^{4}, निराहारस्य^{1}, देहिनः^{2}	निराहारी^{1} जीव^{2} के विषय^{3} निवृत्त^{4} हो जाते हैं	रस^{1}-वर्जम्^{2}	रस^{1} (राग) को छोड़^{2} कर
		रसः^{2}, अपि^{3}, अस्य^{1}	इस^{1} (स्थिरबुद्धि-वाले) का रस^{2} भी^{3}
		परं^{1}, दृष्ट्वा^{2}, निवर्तते^{3}	परम^{1} स्वरूप (परमात्मा) को देखकर^{2} निवृत्त^{3} होता है

अन्वयार्थ---निराहारी जीव के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस को छोड़कर। और इस (स्थितधी पुरुष) का विषय-रस भी परमस्वरूप को देखकर निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

व्याख्या--शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच विषय इंद्रियों का आहार हैं, इस आहार से रहित यहाँ निराहार अभिप्रेत है। घोर तप में स्थित अथवा उपवास करते हुए अज्ञानी जीव के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर विषयों में जो रस (सूक्ष्म राग अथवा विषय-वासना) है, वह इस रीति से निवृत्त नहीं होता। इसलिए यह विषय-निवृत्ति तो रोगी पुरुषों की विषय-निवृत्ति के समान है; क्योंकि वे भी चित्त से तो विषयों को ध्याते ही रहते हैं, यद्यपि रोग के कारण उन्हें भोगते नहीं। और यह जो स्थिरबुद्धिवाला महात्मा है, इसका तो विषय-रस (विषय-तृष्णा या राग) भी अपने परमस्वरूप के भले प्रकार दर्शन से,

अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के कारण दूर हो जाता है। क्योंकि आत्मानंद की लटक के सामने विषयानंद नितांत तुच्छ और हलका पड़ जाता है, इसलिए हे अर्जुन! स्थिरबुद्धिवाला पुरुष विषय-रस की लालसा से भी रहित हुआ होता है। इतना दोनों (निराहारी और स्थिरबुद्धि पुरुष) में अंदर से भेद है ॥ ५६ ॥ *

---

* अन्य कुछ विलक्षण टीकाएँ इस श्लोक पर इस प्रकार हैं—

"अन्न से इंद्रियों का पोषण होता है। अतएव निराहार या उपवास करने से इंद्रियाँ अशक्त होकर अपने-अपने विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जाती हैं। पर इस रीति से विषयोपभोग का छूटना केवल ज़बरदस्ती की, अशक्तता की, बाह्य क्रिया हुई। इससे मन की विषयवासना (रस) कुछ कम नहीं होती, इसलिए यह वासना जिससे नष्ट हो उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना चाहिए; इस प्रकार ब्रह्म का अनुभव हो जाने पर मन एवं उसके साथ ही साथ इंद्रियाँ भी आप ही आप ताबे में रहती हैं। इंद्रियों को ताबे में रखने के लिए निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं,—यही इस श्लोक का भावार्थ है। और, यही अर्थ आगे छठे अध्याय के श्लोकों में स्पष्टता से वर्णित है (गीता ६. १६, १७ और ३. ६, ७ देखो) कि योगी का आहार नियमित रहे, वह आहार-विहार आदि को बिलकुल ही न छोड़ दे। सारांश, गीता का यह सिद्धांत ध्यान में रखना चाहिए कि शरीर को कृश करनेवाले निराहार आदि साधन एकांगी हैं, अतएव वे त्याज्य हैं; नियमित आहार-विहार और ब्रह्मज्ञान ही इंद्रिय-निग्रह का उत्तम साधन है। इस श्लोक में 'रस' शब्द का 'जिह्वा से अनुभव किया जानेवाला मीठा, कड़ुवा इत्यादि रस' ऐसा अर्थ करके कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि उपवासों से शेष इंद्रियों के विषय यदि छूट भी जायँ, तो भी जिह्वा का रस अर्थात् खाने-पीने की इच्छा कम न होकर बहुत दिनों के निराहार से और भी अधिक तीव्र हो जाती है। और भागवत में ऐसे

संबंध—(१) 'कैसे बैठता है' का उत्तर भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—अथवा (२) "स्थितबुद्धि पुरुष का इंद्रिय-संयम के साथ-साथ मन

अर्थ का श्लोक भी है (भाग० ११. ८, २०)। पर हमारी राय में गीता के इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि, दूसरे चरण से वह मेल नहीं खाता। इसके अतिरिक्त भागवत में 'रस' शब्द नहीं 'रसन' शब्द है और गीता के श्लोक का दूसरा चरण भी वहाँ नहीं है। अतएव भागवत और गीता के श्लोक को एकार्थक मान लेना उचित नहीं है।' (श्रीतिलक महाराज)

"निराहार शब्द का अर्थ जो आहरण अर्थात् संग्रह विषय का न करे। मनुष्य उपवास करे, बीमार हो जाय या विषय से दूर रहे, तो भी संग्रह का मौक़ा न आने से विषय रुक सकता है। अन्न के रस से इंद्रियों में तेज़ी आती है, इसलिए निराहार पुरुष की इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। यही कारण है कि पूजा आदि के पहले उपवास कराने की विधि शास्त्र में पाई जाती है। इसी प्रकार रुग्णावस्था में भी इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। और विषय के पास से हट जाने पर भी आकर्षण का मौक़ा नहीं मिलता है, अतः इन उपायों से मूर्ख व्यक्ति का भी विषय रुक सकता है। किंतु ऐसा विषय का रुकना स्थायी नहीं हो सकता है। क्योंकि इनके द्वारा विषय की सूक्ष्म चाह या संस्कार नष्ट नहीं होता है, जिसको 'रस-वर्जं' शब्द के द्वारा बताया गया है। यह तो केवल ऊपर के दबाव के द्वारा विषय का रोकना हुआ, इससे स्थायी फल नहीं हो सकता है। यही कारण है कि योगशास्त्र से 'निराहार' के बदले 'युक्ताहार' होने का ही उपदेश किया गया है। विषय का मूल सहित नाश परमात्मा के देख लेने पर हो जाता है। क्योंकि उस समय योगी को स्त्री-पुरुष सभी एक ही आत्मा पर स्थित दीखने लगते हैं, उनके चित्त में भेदभाव नहीं रह जाता है। और इसी कारण मुक्तात्मा स्थितप्रज्ञ में काम आदि विषय-वृत्ति नहीं उत्पन्न हो सकती हैं। इस अवस्था से पहले ध्यान आदि अथवा

का निग्रह भी (अर्थात् विषयानुराग भी) निवृत्त हुआ होता है'— ऐसा दर्शाकर भगवान् अब उस नियम को संक्षेप से वर्णन करने लगे हैं कि जिस पर मन का निग्रह और इंद्रियसंयम निर्भर है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

यततः[3], हि[2], अपि[4], कौन्तेय[1]	हे अर्जुन[1]! क्योंकि[2] यत्न[3] करते हुए के भी[4]	**तानि[1], सर्वाणि[2], संयम्य[3]**	उन[1] सबको[2] वश[3] में करके (रोककर)
पुरुषस्य[2], विपश्चितः[1]	बुद्धिमान्[1] (विवेकी) पुरुष[2] की	**युक्तः[3], आसीत[4], मत्[1]-परः[2]**	मेरे[1] परायण[2] युक्त[3] बैठता[4] (या बैठे[4] है)
इन्द्रियाणि[2], प्रमाथीनि[1]	क्षोभ[1] करनेवाली (धक्केबाज़, प्रबल) इंद्रियाँ[2]	**वशे[4], हि[1], यस्य[2], इन्द्रियाणि[3]**	निःसंदेह[1] जिसकी[2] इंद्रियाँ[3] वश[4] में (होती) हैं
हरन्ति[3], प्रसभं[1], मनः[2]	धक्के[1] (बल) से मन[2] को हर[3] लेती हैं	**तस्य[1], प्रज्ञा[2], प्रतिष्ठिता[3]**	उसकी[1] बुद्धि[2] ठहरी[3] हुई (होती) है

पहला अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष

उपवास आदि के द्वारा विषय की स्थूल वृत्ति नष्ट होने पर भी सूक्ष्म संस्कार चित्त में अवश्य ही रह जाता है, जो किसी प्रलोभन का मौक़ा पाकर पुनः स्थूलभाव को धारण कर सकता है ।''

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंदजी)

के भी मन को (ये) धक्केबाज इंद्रियाँ निःसंदेह धक्के से हर लेती हैं। (पर) उन सबको रोककर जो मेरे परायण युक्त बैठता है, और (इससे) इंद्रियाँ जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि निःसंदेह ठहरी हुई होती है ॥ ६०, ६१ ॥

दूसरा अन्वयार्थ——हे अर्जन ! क्योंकि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को (ये) धक्केबाज इंद्रियाँ धक्के से हर लेती हैं। (इसलिए पुरुष) उन सबको रोककर मेरे परायण युक्त बैठे। (ऐसे करने से) जिसकी इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं, उसकी बुद्धि निःसंदेह ठहरी हुई होती है ॥ ६०, ६१ ॥

पहली व्याख्या—हे कुंतीपुत्र अर्जुन ! अज्ञानी और निराहारी के विषय-रस का तो क्या ही कहना है, बुद्धिमान् पुरुष जो आचार्य के उपदेश से विषय-दोष जाननेवाले और मोक्ष के तीव्र ज़िज्ञासु होते हैं, वे भी जब बाह्य इंद्रियों को हठपूर्वक रोककर मन को वश में करने का यत्न करते हैं, तो ये धक्केबाज़ (सर्कश, प्रबल) इंद्रियाँ उन यत्नशीलों के मन को भी पूर्व अभ्यास के धक्के से निःसंदेह हर लेती हैं और विषय-चिंतन में लगा देती हैं। पर जो उन सबको रोककर मेरे परायण युक्त बैठता * है, अर्थात्

---

* “कैसे बैठता है” यह प्रश्न था, न कि यह कि “कैसे बैठे”; इसलिए “आसीत” का अर्थ यहाँ भी पूर्व श्लोक ५४ वत् “बैठता है” होना चाहिए, न कि “बैठे”। क्योंकि यहाँ बैठने के प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है, न कि उपदेश। परंतु श्रीशंकराचार्यजी ने मनोनिग्रह की विधि के विचार से इसका अर्थ “बैठे” किया है और उनको देखकर दो-चार और टीकाकारों ने भी वैसा ही कर दिया है, इसलिए हमने भी दूसरा अर्थसहित अपनी व्याख्या के आगे दे दिया है।” (टीकाकार)

का निग्रह भी (अर्थात् विषयानुराग भी) निवृत्त हुआ होता है'—ऐसा दर्शाकर भगवान् अब उस नियम को संक्षेप से वर्णन करने लगे हैं कि जिस पर मन का निग्रह और इंद्रियसंयम निर्भर है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

यततः, हि, अपि, कौन्तेय	हे अर्जुन ! क्योंकि यत्न करते हुए के भी	तानि, सर्वाणि, संयम्य	उन सबको वश में करके (रोककर)
पुरुषस्य, विपश्चितः	बुद्धिमान् (विवेकी) पुरुष की	युक्तः, आसीत, मत्-परः	मेरे परायण युक्त बैठता (या बैठे है)
इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि	क्षोभ करनेवाली (धक्केबाज़, प्रबल) इंद्रियाँ	वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि	निःसंदेह जिसकी इंद्रियाँ वश में (होती) हैं
हरन्ति, प्रसभं, मनः	धक्के (बल) से मन को हर लेती हैं	तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता	उसकी बुद्धि ठहरी हुई (होती) है

पहला अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष

उपवास आदि के द्वारा विषय की स्थूल वृत्ति नष्ट होने पर भी सूक्ष्म संस्कार चित्त में अवश्य ही रह जाता है, जो किसी प्रलोभन का मौक़ा पाकर पुनः स्थूलभाव को धारण कर सकता है।''

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीस्वामी दयानंदजी)

के भी मन को (ये) धक्केबाज़ इंद्रियाँ निःसंदेह धक्के से हर लेती हैं। (पर) उन सबको रोककर जो मेरे परायण युक्त बैठता है, और (इससे) इंद्रियाँ जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि निःसंदेह ठहरी हुई होती है ॥ ६०, ६१ ॥

दूसरा अन्वयार्थ——हे अर्जुन ! क्योंकि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को (ये) धक्केबाज़ इंद्रियाँ धक्के से हर लेती हैं। (इसलिए पुरुष) उन सबको रोककर मेरे परायण युक्त बैठे। (ऐसे करने से) जिसकी इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं, उसकी बुद्धि निःसंदेह ठहरी हुई होती है ॥ ६०, ६१ ॥

पहली व्याख्या—हे कुंतीपुत्र अर्जुन ! अज्ञानी और निराहारी के विषय-रस का तो क्या ही कहना है, बुद्धिमान् पुरुष जो आचार्य के उपदेश से विषय-दोष जाननेवाले और मोक्ष के तीव्र जिज्ञासु होते हैं, वे भी जब बाह्य इंद्रियों को हठपूर्वक रोककर मन को वश में करने का यत्न करते हैं, तो ये धक्केबाज़ (सर्कश, प्रबल) इंद्रियाँ उन यत्नशीलों के मन को भी पूर्व अभ्यास के धक्के से निःसंदेह हर लेती हैं और विषय-चिंतन में लगा देती हैं। पर जो उन सबको रोककर मेरे परायण युक्त बैठता * है, अर्थात्

---

* "कैसे बैठता है" यह प्रश्न था, न कि यह कि "कैसे बैठे"; इसलिए "आसीत" का अर्थ यहाँ भी पूर्व श्लोक ५४ वत् "बैठता है" होना चाहिए, न कि "बैठे"। क्योंकि यहाँ बैठने के प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है, न कि उपदेश। परंतु श्रीशंकराचार्यजी ने मनोनिग्रह की विधि के विचार से इसका अर्थ "बैठे" किया है और उनको देखकर दो-चार और टीकाकारों ने भी वैसा ही कर दिया है, इसलिए हमने भी दूसरा अर्थ-सहित अपनी व्याख्या के आगे दे दिया है।" (टीकाकार)

जो इंद्रियों का निरोध करके चित्त से मुझ आत्मदेव का ध्यान वा चिंतन करता रहता है, अथवा ज्ञानेंद्रियों को मन के वश करके कर्मेंद्रियों से जो मेरे परायण कर्म में युक्त रहता है—जो ईश्वरनिमित्त कर्म करता है, और इस रीति से सारी इंद्रियाँ जिसके वश में हो जाती हैं, उसकी बुद्धि निःसंदेह ठहरी हुई होती है। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि जैसे निराहारी पुरुष का मन बाह्य इंद्रियों को हठपूर्वक विषयरहित करने से विषय-वासना से नहीं टलता, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष का मन भी इंद्रियों को केवल निष्क्रिय करके वश में नहीं आता बल्कि उलटा विवश हुआ विषयों को ध्याने लग जाता है। पर जो पुरुष नित्य भगवत्-चिंतन करता रहता है, अथवा भगवत्-निमित्त कर्म में इंद्रियों को लगाता रहता है और इस रीति से इंद्रियों को शीघ्र वश में कर लेता है, उसकी बुद्धि ठीक ठहर जाती है॥६०, ६१॥ *

दूसरी व्याख्या—हे कुंतीपुत्र अर्जुन! अज्ञानी और निराहारी पुरुष का तो भला क्या ही कहना है, बुद्धिमान् पुरुष जो आचार्य

---

* इस ६१वें श्लोक पर हमारे उक्त अर्थानुसार श्रीज्ञानदेवजी ऐसे व्याख्या करते हैं—"इसलिए हे पार्थ! सुनो। जो इंद्रियों का सब विषयों की इच्छा छोड़कर सर्वथा संहार करता है, सोई योगनिष्ठा का हेतु जानो। उसका अंतःकरण विषय-सुख में नहीं फँसता। वह सर्वदा आत्मज्ञान से युक्त हो रहता है और अपने हृदय में मेरा ध्यान नहीं भूलता। यों तो कोई बाहर के विषय छोड़ दे। परंतु मन में विषय रह जाय तो उसे आदि से अंत तक संसार ही रहता है। जैसे विष का लेशमात्र खाने से उसका शरीर भर में विस्तार हो जाता है और निश्चय से जीवित का नाश हो जाता है, वैसे ही विषय की शंका मन में रहने से कुल विचार-समूह का नाश हो जाता है।"

के उपदेशवाले, विवेकी, विषयदोष के जाननेवाले और मोक्ष के अभिलाषी होते हैं, वे भी जब इंद्रियों के रोकने का यत्न करते हैं, या प्रथम विना इंद्रियों को वश में करने के सीधा मन के रोकने का यत्न करने लगते हैं, अथवा विना निष्काम कर्म में युक्त होने के सीधा स्थितबुद्धि होने के लिए यत्न करते हैं, तो ये धक्केबाज़ (प्रबल, सर्कश, प्रमथनशील, क्षोभ करनेवाली) इंद्रियाँ उन यत्नशील विवेकी पुरुषों के भी मन को धक्के (ज़बरदस्ती या बल) से हर लेती हैं। अर्थात् जैसे प्रबल डाकू मालिक के देखते हुए भी धक्के से धन को लूट ले जाते हैं, ऐसे प्रबल इंद्रियाँ धक्के से मन को हर लेती, अर्थात् तत्त्वज्ञान से हटाकर उसे विषयों में झुका देती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन सारी इंद्रियों को रोककर, अर्थात् विषयों से हटाकर अथवा अपने वश करके सावधान चित्त से मेरे परायण * स्थित होवे। अर्थात् "न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते

---

* मत्-पर=मेरे परायण हुआ, अर्थात् मुझमें अनन्य भक्तिवाला हुआ। मत् शब्द से यहाँ दो आशय हैं—एक तो मूर्तिमान् चतुर्भुज भगवान्, दूसरे कृष्णचंद्रजी का परम स्वरूप (परमात्मा)। भक्ति व्यक्त और अव्यक्त दोनों भावों के आधार पर होती है। जो अज्ञानी, द्वैत भावनावाले और साकारोपासक हैं, उनकी भक्ति तो व्यक्ति के आश्रय होती है। और जो ज्ञानवान्, अद्वैत भावनावाले और अक्षर परब्रह्म के उपासक हैं, उनकी भक्ति निराकार, अव्यक्त अर्थात् अपने निजस्वरूप के आश्रय होती है। पर दोनों को भक्ति का फल तभी मिलता है कि जब वे अपने उपास्य के ध्यान में ऐसे लीन हो जाते हैं कि दूई बीच में से सर्वथा जाती रहती है। अर्थात् जब तक उपास्य-उपासक भाव बना रहता है, तब तक भक्ति का रंग पूर्ण रीति से नहीं जमता, चाहे साकार का उपासक हो, वा चाहे निराकार का उपासक हो। पर हाँ जब उपासक अपने उपास्य देव में

क्वचित्" = सर्व प्राणियों का आत्मारूप जो वासुदेव है उसके अनन्य भक्त को किसी भी कार्य में अशुभ की प्राप्ति नहीं होती

ऐसा लवलीन होता है कि अपनी अहंकृत वृत्ति को नाश करके या खोकर अपने उपास्य के साथ अभेद वा तद्रूप हो जाता है, तभी भक्ति का रंग पूरा-पूरा जमता है। उसी समय वह भक्त अपने उपास्य के रंग में रँगा हुआ अथवा उपास्यस्वरूप हुआ ऐसे बोलता है कि "तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं"=पस जो मैं हूँ, सो वह है, और जो वह है, सो मैं हूँ (ऐतरेयी उप०)। "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" जो वह पुरुष है वही मैं हूँ (ईशावास्य उप०)। "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" हे भगवन् ! हे देव ! तू मैं हूँ, मैं तू है (जाबाल उप०), वास्तव में वह प्रेमी ही क्या जिसमें दूई बनी रहे। परमात्मा का सच्चा भक्त ही वह है कि जो अपनी खुदी (अहंकृति वा अहंता) को परमात्मा के प्रेम में ऐसा खो दे, अर्थात् विलीन कर दे कि सब ओर उसे अपना उपास्य (परमात्मा) ही भान हो, और किसी क्षण में भी वह उसे भूलने न पाये। इसी का नाम अनन्य भक्ति है। इसी अनन्य भक्ति से बुद्धि की स्थिरता, चित्त की शांति और मोह की निवृत्ति प्राप्त होती है। "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।"=जिस काल में सब पदार्थ अपना आत्मारूप ही जाने गये (भान हुए), तो ऐसी एकता के अनुभव करनेवाले को फिर कहाँ मोह और कहाँ शोक (ईशावास्य उप०)। अतएव भगवान् ने यहाँ मत्पर होने की शिक्षा दी है।

यह दृष्टि केवल भगवद्गीता में ही नहीं आई, किंतु यह दृष्टि शास्त्र-दृष्टि है—"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (वेदांतसूत्र १, १, ३०)=शास्त्र की दृष्टि से उपदेश है वामदेव की न्याईं। अर्थात् "तद्धैतत्पश्यन्नृपिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।" (बृह० १, ४, १०)=यह देखते हुए ऋषि वामदेव ने स्वीकार किया कि मैं मनु हुआ हूँ, मैं सूर्य।

किंतु सर्वकार्य उसके निर्विघ्न समाप्त होते हैं। इस निश्चय से युक्त होकर चित्त को सावधान रक्खे और इस प्रकार युक्त होता हुआ सारे कामों में मुझ वासुदेव के परायण रहे । अथवा मेरा अनन्य भक्त होकर बुद्धियोग में युक्त रहे । अर्थात् यह निश्चय करके कि "सर्वत्र वासुदेव ही है, इससे मैं भी सच्चिदानंदस्वरूप वासुदेव ही हूँ, विना सच्चिदानंदस्वरूप वासुदेव के तीन काल में भी कोई पदार्थ नहीं ।" सदैव ऐसे ध्यान के परायण होवे, और फिर ज्ञानेंद्रियों को नियम में लाकर कर्मेंद्रियों से वह निष्कामभाव से कर्म में युक्त होता रहे । इस प्रकार के अभ्यास से जिसकी इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं, उसकी बुद्धि निःसंदेह ठहरी हुई होती है ॥ ६०, ६१ ॥*

इसी प्रकार इंद्र ने इस अभेद दृष्टि (शास्त्र-दृष्टि) से राजा प्रतर्दन को यह उपदेश किया कि "मामुपास्व"=मेरी उपासना कर (कौषी० ३, ३, २) । "मामेव विजानीहि"=मुझे ही जान (३, ९) इत्यादि । इसी सर्वत्र अभेद दृष्टि के कारण श्रीभगवान् कृष्णचंद्र, जो सबको अपना आत्मा वा सबका अंतर्यामी भान (अनुभव) कर रहे हैं, अर्जुन को ऐसा उपदेश दे रहे हैं कि तू मुझ सच्चिदानंदस्वरूप (अर्थात् अपने आत्मस्वरूप) के परायण हो । इसी भगवत्-परायणरूपी साधन से इंद्रिय-संयम और मन का निग्रहलाभ होगा, जिससे तू स्थितबुद्धि हो जायगा, और फिर सर्वप्रकार का भटकना बंद हो जायगा ।

* इन दो श्लोकों पर श्रीतिलक महाराज ऐसे व्याख्या करते हैं—

"इस ६१वें श्लोक में कहा है कि नियमित आहार से इंद्रियनिग्रह करके साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मत्परायण होना चाहिए, अर्थात् ईश्वर में चित्त लगाना चाहिए; और ५९वें श्लोक का हमने जो अर्थ किया है, उससे प्रकट होगा कि इसका 'हेतु क्या है । मनु ने भी निरे

संबंध--(१) केवल बाह्य इंद्रियों को रोककर ही नहीं किंतु मन के निग्रह से स्थित-प्रज्ञा प्राप्त होती है, और बिना मन के निग्रह के जो बुरा परिणाम मिलता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) मनुष्य में विषय-वृत्ति उत्पन्न कैसे होती है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

इंद्रियनिग्रह करनेवाले पुरुष को यह इशारा किया है कि—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु० २, २१५) और उसी का अनुवाद ऊपर के ६०वें श्लोक में किया गया है । सारांश, इन तीन श्लोकों का भावार्थ यह है कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो, उसे अपना आहार-विहार नियमित रखकर ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहिए । ब्रह्मज्ञान होने पर ही मन निर्विषय होता है, शरीर-क्लेश के उपाय तो ऊपरी हैं—सच्चे नहीं । 'मत्परायण' प्रद से यहाँ भक्तिमार्ग का भी आरंभ हो गया है (गी० ९, ३४ देखो) । ऊपर के श्लोक में जो 'युक्त' शब्द है, उसका अर्थ 'योग से तैयार या बना हुआ' है । गीता ६. १७ में 'युक्त' शब्द का अर्थ 'नियमित' है । पर गीता में इस शब्द का सदैव का अर्थ है—'साम्यबुद्धि का जो योग गीता में बतलाया गया है उसका उपयोग करके तदनुसार समस्त सुख-दुःख को शांतिपूर्वक सहन कर, व्यवहार करने में चतुर पुरुष' (गीता ५, २३ देखो) । इस रीति से निष्णात हुए पुरुष को ही स्थितप्रज्ञ कहते हैं । उसकी अवस्था ही सिद्धावस्था कहलाती है और इस अध्याय के तथा पाँचवें एवं बारहवें अध्याय के अंत में इसी का वर्णन है । यह बतला दिया कि विषयों की चाह छोड़कर स्थितप्रज्ञ होने के लिए क्या आवश्यक है ।”

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

ध्यायतः[2], विषयान्[1], पुंसः[3], सङ्गः[4], तेषु[5], उपजायते[6]	विषयों[1] को ध्याते[2] हुए पुरुष[3] का संग[4] उनमें[5] उत्पन्न[6] हो जाता है
सङ्गात्[1], सञ्जायते[3],कामः[2]	संग[1] से काम[2] उत्पन्न[3] होता है
कामात्[1], क्रोधः[2], अभिजायते[3]	काम[1] से क्रोध[2] उत्पन्न[3] होता है
क्रोधात्[1], भवति[3], सम्मोहः[2]	क्रोध[1] से सम्मोह[2] (अविवेक) होता[3] है
सम्मोहात्[1], स्मृतिः[2], विभ्रमः[3]	सम्मोह[1] से स्मृति[2] का विभ्रंश[3] (नाश) होता है
स्मृति[1]-भ्रंशात्[2], बुद्धि[3]-नाशः[4]	स्मृति[1] के भ्रंश[2] से बुद्धि[3] का नाश[4] होता है
बुद्धि[1]-नाशात्[2], प्रणश्यति[3]	बुद्धि[1] के नाश[2] से नष्ट[3] होता है

अन्वयार्थ—विषयों को ध्याते हुए पुरुष का उनमें संग उत्पन्न हो जाता है, संग से काम उत्पन्न हो आता है, काम से क्रोध उत्पन्न हो आता है, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति का भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि के नाश से वह आप नष्ट हो जाता है ॥ ६२, ६३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! बाह्य इंद्रियों को रोकने पर भी पुरुष जब सावधान चित्त से मेरे परायण नहीं होता (अर्थात् न मेरे प्रेम में मग्न होता है, न मुझ आत्मा में निश्चय रखता है, और न मुझे नित्य ध्याता है) बल्कि मुझ आत्मस्वरूप को छोड़कर विषयों को ही ध्याता रहता है, तो ऐसे (विषयों को ध्यानेवाले) पुरुष

का उन विषयों में संग (लगाव, आसक्ति या प्रीति) उत्पन्न हो उठता है। विषय-संग उत्पन्न होने से फिर विषय-कामना उत्पन्न हो आती है। विषय-कामना के उत्पन्न होने पर यदि काम्य विषय न मिले, तो उसके रोकनेवाले पर या वैसे ही आसपास के लोगों पर क्रोध उत्पन्न हो आता है। क्रोध के उत्पन्न होने से सम्मोह (अविवेक, अविचार या अज्ञान) उत्पन्न हो आता है, अर्थात् क्रोध के प्रकट होने पर कार्य-अकार्य का विचार नहीं रहता बल्कि क्रुद्ध भया पुरुष माता-पिता वा गुरु को भी झिड़क देता है, और अपने आपको भी भूल जाता है। इस सम्मोह से स्मृति का भ्रंश (बिगाड़) होता है, अर्थात् स्मृति ऐसी भ्रष्ट हो जाती है कि शास्त्र और आचार्य के उपदेश भी भूल जाते हैं, और कुछ नवीन स्मरण करने की भी समर्थता नहीं रहती। स्मृति के बिगाड़ से बुद्धि (विवेक-शक्ति) नष्ट हो जाती है, अर्थात् सत्-असत् और उचित-अनुचित की विवेचनारूप शक्ति (तमीज़) जाता रहता है। और बुद्धि के नाश से पुरुष का अपना नाश हो जाता है, अर्थात् वह पुरुषत्व या मनुष्यत्व से जाता रहता है. और इस हेतु आत्मिक उन्नति से गिर जाता है। वास्तव में मनुष्य तब तक ही मनुष्य है जब तक उसमें कार्य-अकार्य तथा सत्-असत् की विवेचना की योग्यता है। इस योग्यता के दूर हो जाने से मनुष्य अपनी भलाई के योग्य नहीं रहता, बल्कि उलटा विषयों में लंपट होता पशुवत् अवस्था (अधोगति) को प्राप्त होता है, जिससे मनुष्यत्व नितांत जाता रहता है, यही उसका नाश है ॥ ६२, ६३ ॥*

श्रीज्ञानदेवजी विचित्र ढंग से इन श्लोकों की व्याख्या ऐसे करते हैं— "हृदय में यदि विषयों का स्मरण हो तो वैराग्यशील मनुष्य को भी

संबंध—(१) अर्जुन के चतुर्थ प्रश्न 'व्रजेत किम्' (स्थितधी कैसे विचरता है) का उत्तर भगवान् अब देते हैं—

अथवा (२) अनिरुद्ध (विषयासक्त) मनवाले का परिणाम दर्शाकर अब भगवान् निरुद्ध (वशवर्ती) मनवाले का परिणाम वर्णन करते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

उनकी प्रीति उत्पन्न होती है, और इस प्रीति से मूर्तिमान् काम प्रकट होता है। जहाँ काम उपजता है, वहाँ क्रोध पहले ही आता है। और क्रोध के संग अविचार रखा ही हुआ है। अविचार प्रकट होते ही जैसे प्रचंड वायु से ज्योति बुझ जाती है, वैसे ही स्मृति का नाश हो जाता है। और सूर्यास्त होने पर रात्रि जैसे सूर्य के तेज को ग्रास लेती है, वैसी ही दशा प्राणियों की स्मृति का भ्रंश हो जाने पर होती है। फिर जो केवल अज्ञानांधकार रह जाता है, उसमें मनुष्य सर्वथा डूब जाता है। उस समय हृदय में बुद्धि व्याकुल हो जाती है। जैसे जन्मांध को कभी दौड़कर भागना पड़े तो वह दीनता से इधर-उधर दौड़ता है, वैसे ही हे धनुर्धर ! बुद्धि भी चक्कर में पड़ती है। ऐसा जब स्मृति-भ्रंश होता है, तब बुद्धि बिलकुल उड़ जाती है, और सब ज्ञान उन्मूल हो जाता है। जीव के नाश से जैसी शरीर की दशा होती है, वैसे ही, देखो, मनुष्य की बुद्धि के नाश से होती है। इसलिए हे अर्जुन ! जैसे छोटी सी चिनगारी इंधन में लग जाय तो वह बढ़कर त्रिभुवन का नाश करने को बस हो सकती है, वैसे ही यदि मन कदाचित् विषयों को ध्यान में भी लावे, तो उपरोक्त पतन मनुष्य को ढूँढ़ते हुए आ पहुँचता है।

राग-द्वेष- वियुक्तैः, तु, विषयान्, इन्द्रियैः, चरन्, आत्म-वश्यैः	परंतु राग-द्वेष से रहित और अपने वश की हुई इंद्रियों से विषयों को भोगता हुआ	प्रसादे, सर्व-दुःखानां, हानिः, अस्य, उपजायते	प्रसन्नता में इसके सब दुःखों की हानि उत्पन्न होती है
विधेय-आत्मा, प्रसादं, अधिगच्छति	वशवर्ती मनवाला प्रसन्नता को प्राप्त होता है	प्रसन्न-चेतसः, हि, आशु, बुद्धिः, पर्यवतिष्ठते	प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि क्योंकि (निःसंदेह) शीघ्र स्थिर होजाती है

अन्वयार्थ—परंतु वशवर्ती मनवाला पुरुष राग-द्वेष से रहित और अपने वश में की हुई इंद्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्नता (शांति) को प्राप्त होता है। प्रसन्नता में इसके सब दुःखों की हानि हो जाती है, क्योंकि प्रसन्नचित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥ ६४, ६५ ॥

व्याख्या—परंतु हे अर्जुन ! जो मन का अनुचर नहीं किंतु जिसने अपने आपको अर्थात् अपने मन को पूर्ण रीति से अपने अधीन किया हुआ है, और जिसकी इंद्रियाँ भी राग-द्वेष (प्रीति-घृणा) से रहित हुई उसके अपने वश में हैं, ऐसा पुरुष अपनी आज्ञानुसार चलनेवाली इंद्रियों से विषयों में विचरता हुआ भी (इंद्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी) प्रसन्न वा शांतचित्त रहता है। अर्थात् ऐसे पुरुष के चित्त को विषय-भोग किंचित् लिपायमान और चलायमान वा क्षुभित नहीं करते, बल्कि वह इनके अंदर भी स्वच्छ, शांत और प्रसन्नचित्त रहता है। इस प्रकार चित्त के स्वच्छ, शांत और प्रसन्न रहने पर सर्व प्रकार के (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) दुःखों का नाश हो जाता है,

क्योंकि शुद्ध और प्रसन्नचित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही निश्चल वा स्थिर हो जाती है, जिस पर सर्व दुःखों की निवृत्ति नितांत निर्भर है ॥ ६४, ६५ ॥*

संबंध—(१) इंद्रिय-संयम और मन का निग्रह ही स्थितप्रज्ञता का साधन है। इस पूर्वोक्त कथन को भगवान् अब व्यतिरेक मुख से तीन श्लोकों में अधिक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) अब विरुद्ध शब्दों से उक्त विषय का समर्थन करके भगवान् स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को और भी अधिक व्यक्त करते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

---

* जो स्थिरधी व अस्थिरधी में भेद है, वही विवेकी और अविवेकी का भेद है। स्थिरधी वा विवेकी तो इंद्रियों को अपने अधीन रखकर विचरता है, और अस्थिरधी या अबिवेकी इंद्रियों के अधीन हुआ चलता है।

गीता के उक्त स्थितप्रज्ञ व स्थितधी के लक्षणों में कुछ भेद वा अंतर न समझते हुए और उनमें से एक को संन्यासमार्गवालों का स्थितप्रज्ञ और दूसरे को गीता का स्थितप्रज्ञ मानते हुए अपनी भावनानुसार तिलक महाराज इन दो श्लोकों पर अपनी टिप्पणी यों देते हैं—

"इन दो श्लोकों में स्पष्ट वर्णन है कि विषय या कर्म को न छोड़ स्थितप्रज्ञ केवल उनका संग छोड़कर विषय में ही निःसंग बुद्धि से वर्तता रहता है और उसे जो शांति मिलती है वह कर्म-त्याग से नहीं किंतु फलाशा के त्याग से प्राप्त होती है। क्योंकि इसके सिवा, अन्य बातों में, इस स्थितप्रज्ञ में और संन्यासमार्गवाले स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है। इंद्रिय-संयम, निरिच्छा और शांति यह गुण दोनों को ही चाहिए, परंतु इन दोनों में महत्त्व का भेद यह है कि गीता का स्थितप्रज्ञ कर्मों का संन्यास नहीं करता, किंतु लोकसंग्रह के निमित्त समस्त कर्म निष्काम बुद्धि से किया करता है और संन्यासमार्गवाला स्थितप्रज्ञ करता ही नहीं है।"

न[३], अस्ति[४], बुद्धिः[२], अयुक्तस्य[१]	अयुक्त[१] पुरुष की बुद्धि[२] नहीं[३] है[४]	न[४], च[१], अभावयतः[२], शान्तिः[३]	और[१] भावनारहित[२] को शांति[३] नहीं[४]
न[४], च[१], अयुक्तस्य[२], भावना[३]	और[१] अयुक्त[२] की भावना[३] नहीं[४] है	अशान्तस्य[१], कुतः[३], सुखं[२]	अशांत[१] को सुख[२] कहाँ[३]

अन्वयार्थ---अयुक्त पुरुष की बुद्धि नहीं होती और न अयुक्त पुरुष की भावना होती है। भावनारहित पुरुष को शांति नहीं, और अशांत को सुख कहाँ ? ॥ ६६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष पूर्वोक्त समत्वबुद्धि द्वारा कर्म में युक्त नहीं किंतु राग-द्वेष तथा फल-कामना से प्रेरित होकर कर्म में युक्त होता है, अथवा जिस पुरुष का मन एकाग्र नहीं, इधर-उधर विषयों में दौड़ता रहता है, वा जिसका मन अपने वश में नहीं, अर्थात् जो असावधान चित्त है, या जो मुझ वासुदेव की अनन्य भक्ति से युक्त नहीं, किंतु विषय-वासना में आसक्त है, ऐसे पुरुष को शास्त्र और आचार्य के उपदेश सुनकर भी आत्मा के विषय में (अथवा सत्-असत् के विवेक में) बुद्धि (निश्चयात्मिक बुद्धि या विवेचना) उत्पन्न होती ही नहीं, फिर उसकी स्थिरता का तो कहना ही क्या है। और न ऐसे अयुक्त पुरुष का इस तत्त्व-विचार में निश्चय वा ध्यान जमता है। जब अयुक्त पुरुष न तत्त्वबोध रखता है, न तत्त्व में उसका निश्चय या ध्यान जमता है, न उसमें आस्तिकता है, और न वह आत्मज्ञान के तत्पर ही है, तब ऐसे भावनारहित (नास्तिक, संशयात्मिक और ध्यानरहित) पुरुष को भला शांति (विषय-तृष्णा की निवृत्ति, या चित्त की विक्षेपरहित अवस्था) कैसे हो सकती है? अर्थात् कदापि नहीं होती। और अशांत डाँवाडोल, तृष्णा-युक्त,

या विक्षिप्त) चित्त को फिर सुख (आत्मानंद) कहाँ ? अर्थात् किसी प्रकार से नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥

संबंध--(१) अयुक्त पुरुष की बुद्धि क्यों नहीं होती, इसे भगवान् अब समझाते हैं—

अथवा (२) अयुक्त पुरुष की ऐसी दशा कैसे होती है, अब इसका वर्णन भगवान् करते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

इन्द्रियाणां, हि, चरतां	क्योंकि (विषयों में) विचरने वाला इन्द्रियों का
यत्, मनः, अनुविधीयते	जो मन अधीन होता है (पीछे लगता है)
तत्, अस्य, हरति, प्रज्ञां	वह इसकी बुद्धि को हर लेता है
वायुः, नावं, इव, अम्भसि	वायु जैसे जल में नौका को

अन्वयार्थ---क्योंकि जो मन विषयों में विचरनेवाली इंद्रियों के अधीन होता है, वह इस (अयुक्त पुरुष) की बुद्धि को ऐसे हर लेता है, जैसे जल में नौका को वायु ॥ ६७ ॥ *

व्याख्या--क्योंकि हे अर्जुन ! अपने-अपने विषयों में विचरती

---

* यह विषय महाभारत (५, १२९, २७) में ऐसे वर्णित है---

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवाऽदान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥

अर्थ—विवश इंद्रियाँ पुरुष को ऐसे नाश करती हैं, जैसे चंचल और दुष्ट घोड़े मार्ग में मूर्ख सारथी को नष्ट करते हैं ।

हुई इंद्रियों का जो मन अधीन वा अनुचर होता है, अर्थात् जो मन अपने वश में नहीं किंतु इंद्रियों के वश में या उनके पीछे लगता है, वह मन इस अयुक्त पुरुष की शास्त्र-जन्य आत्मविषयक प्रज्ञा को (अथवा विवेकशक्ति को) ऐसे हर ले जाता है जैसे जल में नौका को वायु। अर्थात् जैसे जल में पड़ी हुई नौका को वायु मार्ग से हटाकर कुमार्ग में लगा देता है, वैसे वह मन इस आत्मविषयक बुद्धि वा विवेकशक्ति को आत्मा से हटाकर इंद्रियों के विषय-सुख में लगा देता है, और जब १ मृग, २ हस्ती, ३ पतंग, ४ मच्छी, ५ भ्रमर का अपनी एक-एक इंद्रिय के अधीन होने से उसके अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से ही मरण हो जाता है, फिर जिस अज्ञानी की ये पाँचों (ज्ञानेंद्रियाँ मन से) प्रबल हो जायँ, अर्थात् जिसका मन इन पाँचों का अनुचर हो जाय, उसकी दुर्गति का तो भला क्या ही ठिकाना है ॥ ६७ ॥

संबंध—इस प्रकार युक्त और अयुक्त दोनों के परिणाम का परस्पर भेद दर्शाकर अंत में भगवान् अब इस स्थितबुद्धि पुरुष के प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात्[१], यस्य[३], महाबाहो[२], निगृहीतानि[५], सर्वशः[४]	इसलिए[१] हे अर्जुन[२]! जिसकी[३] सब[४] ओर से रुकी[५] हुई हैं	इन्द्रियाणि[१], इन्द्रिय[२]-अर्थेभ्यः[३]	इंद्रियाँ[१] इंद्रियों[२] के विषयों[३] से
		तस्य[१], प्रज्ञा[२], प्रतिष्ठिता[३]	उसकी[१] बुद्धि[२] ठहरी[३] हुई होती है

अन्वयार्थ——इसलिए, हे अर्जुन ! जिसकी इंद्रियाँ सब ओर से

इंद्रियों के अर्थों से रुकी हुई हैं, उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है ॥ ६८ ॥ *

व्याख्या—क्योंकि विषयों में आसक्त हुई इंद्रियों के पीछे मन का लगना ही सब खराबियों वा अस्थिरप्रज्ञता का मूल कारण है, इसलिए हे बड़ी भुजावाले अर्जुन ! स्थितप्रज्ञ पुरुष का निर्णीत लक्षण यह है कि जिस पुरुष की सारी इंद्रियाँ सर्वथा इंद्रियों के विषयों की प्रेरणा से निराकर्षित अर्थात् अपने वश में हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है, अन्य की नहीं ॥ ६८ ॥ †

---

* इसका वर्णन उपनिषदों व महाभारत में इस प्रकार है—

"यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।" (कठ. १, ३, ६)

अर्थ—जो पुरुष विज्ञानवान् है और जिसका मन (समता भाव वा निष्कामता में) युक्त है, उसकी इंद्रियाँ सारथी के श्रेष्ठ घोड़ों के समान वशीभूत होती हैं ।

"रथं शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥"
(म. भ. ५. ३४, ५६)

अर्थ—हे राजन् ! पुरुष का शरीर रथ है, मन सारथी और इंद्रियाँ घोड़े हैं । सावधान पुरुष इन इंद्रियों को वश में करके धीर रथी के समान सुखपूर्वक चलता है ।

† श्रीतिलक महाराज की टिप्पणी इस पर ऐसे है—

"सारांश, मन के निग्रह के द्वारा इंद्रियों का निग्रह करना सब साधनों का मूल है । विषयों में व्यग्र होकर इंद्रियाँ इधर-उधर दौड़ती रहें तो आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने की (वासनात्मक) बुद्धि ही नहीं हो सकती । अर्थ यह है कि बुद्धि न हो तो उसके विषय में दृढ़ उद्योग भी नहीं होता, और फिर शांति एवं सुख भी नहीं मिलता । यह पहले दर्शाया

संबंध—(१) युक्त और अयुक्त अर्थात् संयमी और असंयमी पुरुषों की बाह्य दशा (अर्थात् भाषण, आसनादि) का परस्पर भेद दर्शाकर अब भगवान् उनकी आंतर दशा का परस्पर भेद निरूपण करते हैं—

अथवा (२) स्थितप्रज्ञ पुरुष की स्वतः प्राप्त भीतरी स्थिति को भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

या^{1}, निशा^{4}, सर्व^2-भूतानां^{3}	जो^{1} सब^2 भूतों^{3} की रात^4 है	यस्यां^{1}, जाग्रति^{3}, भूतानि^{2}	जिसमें^{1} सब^2 भूत जागते^{3} हैं
तस्यां^{1}, जागर्ति^{3}, संयमी^{2}	उसमें^{1} संयमी^{2} जागता^{3} है	सा^{3}, निशा^{4}, पश्यतः^{1}, मुनेः^{2}	देखते^{1} हुए मुनि^{2} की वह^3 रात^4 है

अन्वयार्थ—-जो सब भूतों की रात है उसमें संयमी जागता है, और जिसमें सब भूत जागते हैं वह देखते हुए मुनि की रात है ॥ ६९ ॥

पहली व्याख्या—इंद्रियों का व्यवहार में प्रवृत्त होना जागना कहलाता है, और व्यवहारहीन होकर जड़वत् निष्क्रिय होना सोना कहलाता है। और जिस ओर या भाव में मन प्रवृत्त होता है वह ओर वा भाव मन के लिए दिन के समान है, और जिसमें प्रवृत्त नहीं होता, वह उसके लिए अंधकारवत् अर्थात् रात्रि के समान है। साधारण पुरुषों की इंद्रियाँ लौकिक वृत्ति

जा चुका है कि इंद्रियनिग्रह का यह अर्थ नहीं है कि इंद्रियों को एकाएक दबाकर सब कर्मों को बिलकुल छोड़ दे। किंतु गीता का अभिप्राय यह है कि ६४वें श्लोक में जो वर्णन है, उसके अनुसार निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहना चाहिए।"

अर्थात् पदार्थभाव से व्यवहार करती या व्यवहार में प्रवृत्त होती हैं, पारमार्थिक दृष्टि वा आत्मभाव से नहीं। इसलिए लौकिक दृष्टि वा पदार्थभाव उनके लिए दिन के समान है, अर्थात् उसी में वे जागते हैं. और तत्त्वदृष्टि या आत्मभाव उनके लिए रात्रि के समान है, अर्थात् उसमें वे सोये हुए होते हैं। परंतु संयमी पुरुष अर्थात् अपनी इंद्रियों को अपने वश में रखनेवाले विचारवान् लोग इस पदार्थभाव को मिटाकर आत्मभाव वा तत्त्वदृष्टि या समत्वबुद्धि से कर्म में प्रवृत्त होते हैं, अथवा वाह्य पदार्थों से इंद्रियों को रोककर उन्हें अपने आत्मध्यान में नियुक्त करते रहते हैं, जिससे वे पदार्थदृष्टि से विमुख हुए होते हैं। इसलिए तत्त्वदृष्टि वा आत्मभाव उनके लिए दिन के समान है, अर्थात् उसी में वे विचरते वा जागते हैं, और पदार्थदृष्टि वा लौकिक वृत्ति उनके लिए रात्रि के समान है। इस प्रकार हे अर्जुन! जो साधारण पुरुषों की रात है, अर्थात् जिस वृत्ति, भाव वा दृष्टि से साधारण लोगों की इंद्रियों के व्यापार वा व्यवहार बंद हैं, उसमें संयमी पुरुष जागता, अर्थात् व्यापार वा व्यवहार करता है। और जिसमें सर्वसाधारण लोग जागते हैं, अर्थात् जिस वृत्ति या दृष्टि में सर्वसाधारण व्यवहार करते हैं, वह संयमी पुरुष की रात है, अर्थात् उस वृत्ति या दृष्टि से संयमी पुरुषों के व्यवहार बंद हैं ॥६९॥

दूसरी व्याख्या—जहाँ अज्ञानरूपी तम छाया हुआ है वह रात के सदृश होता है, और जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य उदय है वह दिन के समान होता है, इसलिए अज्ञान को रात्रि और ज्ञान को दिन कहते हैं। सर्वसाधारण को अपने स्वरूप का तो अज्ञान होता है और वाह्य (अनात्म) पदार्थों का ज्ञान होता है। इसलिए स्वरूप की ओर से वे सोये होते हैं और संसार की ओर से वे जागे होते हैं; परंतु संयमी (तत्त्वदर्शी) को अपना स्वरूप

तो भूलता नहीं, उसके भीतर तो आत्मज्ञान का सूर्य उदय रहता है, और संसार अथवा लौकिक दृष्टि भूली रहती है, अर्थात् इस अनात्म दृष्टि या लौकिक वृत्ति से उसके व्यवहार बंद पड़ जाते हैं; इसलिए अपने स्वरूप की ओर से तो वह जागता है, और संसार की ओर से सोया होता है। इस प्रकार इन दोनों में अंतरंग भेद है जिसे भगवान् इस श्लोक से ऐसे स्पष्ट करते हैं कि—हे अर्जुन! जो सब भूतों की रात है, उसमें संयमी जागता है, और जिसमें सर्वसाधारण लोग जागते हैं, वह संयमी तत्त्वदर्शी की रात है। अर्थात् जिस आत्मतत्त्व की ओर से सर्वसाधारण लोग बेख़बर हैं, उसमें संयमी पुरुष प्रवृत्त रहता और बाख़बर (सबोध अर्थात् जागता) है, और जिस (संसार की) ओर से तत्त्वदर्शी संयमी बेख़बर है, उसमें सर्वसाधारण लोग प्रवृत्त रहते और बाख़बर (सबोध अर्थात् जागते) हैं॥ ६६ ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन! संयमी पुरुष और साधारण सोये हुए पुरुष यद्यपि बाहर से सदृश दिखाई देते हैं, तथापि भीतर से यह भेद रखते हैं कि साधारण पुरुष की निद्राकाल में जैसे बाह्य इंद्रियाँ रुकी हुई होती हैं, वैसे अंतःकरण भी जड़वत् निष्क्रिया अर्थात् संकुचित हुआ होता है, जिससे उसे न अपना ज्ञान होता है और न बाहर का, बल्कि वह आत्मा और अनात्मा दोनों के ज्ञान से हीन होता है। इसलिए ऐसी अज्ञानसे आच्छादित अवस्था उस पुरुष के लिए रात्रि है। परंतु संयमी और स्थितप्रज्ञ पुरुष की सब इंद्रियाँ जब विषयों से हटकर सोये हुए पुरुष के सदृश रुकी हुई होती हैं, तो उस समय उसका अंतःकरण जड़वत् निष्क्रिया वा संकुचित हुआ नहीं होता, बल्कि तत्त्वसाक्षात्काररूप ज्ञान का सूर्य वहाँ उदय हुआ होता है, जिससे उसे बाह्य पदार्थों (संसार) का तो अज्ञान होता है, परंतु अपने

निजस्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिए उसको यह रात्रि नहीं बल्कि दिन है, क्योंकि वह वास्तव में अंदर से जागता है, यद्यपि ऊपर से सोया हुआ वा जड़वत् दिखाई देता है। फिर इन दोनों (संयमी और साधारण पुरुषों) का व्यवहार-काल भी बाहर से यद्यपि एक समान दिखाई देता है, तथापि भीतर से यह भेद रखता है कि सर्वसाधारण लोग तो अपने स्वरूप का ज्ञान न रखने के कारण अनात्म पदार्थों में सुख की इच्छा से व्यवहार करते हैं और उन पदार्थों को नित्य वा सत्य समझते हैं; परंतु संयमी पुरुष अपने निजानंद में मस्त हुआ पारमार्थिक दृष्टि से सर्व ओर विचरता है, और पदार्थों को भोगते हुए भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता, बल्कि इन सांसारिक पदार्थों को मिथ्या समझता हुआ अपनी आत्मवृत्ति में निश्चल स्थित रहता है। इसलिए व्यवहार-काल में भी इसे (संयमी को) अपना स्वरूप नहीं भूलता बल्कि वह आत्मा में ही व्यवहार करता है; और सर्वसाधारण को अपना स्वरूप भूला रहता है, बल्कि नित्य वे अनात्मा में ही व्यवहार करते हैं। इस प्रकार संयमी तो तत्त्व में स्थित और उससे बाख़बर (सबोध) है, पर अनात्मा से बेख़बर है; और सर्वसाधारण लोग अनात्मा में स्थित, उसी में विचरते और उसी का बोध (ख़बर) रखते हैं, पर आत्मा से बेख़बर हैं। इसलिए जो साधारण पुरुषों की रात्रि है, अर्थात् जिस तत्त्व से वे बेखबर हैं, वह संयमी पुरुषों का दिन है, अर्थात् उसी तत्त्व में वे जागते, व्यवहार करते और बोध रखते हैं। और जिसमें साधारण लोग जागते हैं, अर्थात् जिस अनात्म पदार्थों का वे बोध रखते हैं, वह संयमी पुरुषों की रात्रि है, अर्थात् उस अनात्मभाव या दृष्टि से वे बेख़बर हैं ॥ ६९ ॥

चौथी व्याख्या—किसी वस्तु का विपरीत दर्शन उसके सम्यक्

दर्शन की अपेक्षा से भ्रमरूप वा स्वप्नमात्र (रात्रि) है, और उसका सम्यक् दर्शन उसके विपरीत दर्शन की अपेक्षा से साक्षात्काररूप वा जाग्रतिमात्र (दिन) है। फिर जिस समय जिस पुरुष को जिस वस्तु का विपरीत दर्शन होता है, उसी समय उसको उसका सम्यक् दर्शन नहीं होता, और उसी के सम्यक् दर्शनवाले को उसी समय उस वस्तु का विपरीत दर्शन नहीं होता। जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प देखनेवाले को उसी समय रस्सी दिखाई नहीं देती, और ठीक रस्सी देखनेवाले को उसी समय उसमें सर्प दिखाई नहीं देता। या जैसे निद्रा-काल में स्वप्न सत्य दिखाई देता है, जाग्रत्-काल में नहीं। और जाग्रति में प्रथम तो स्वप्न भासता ही नहीं, यदि स्मृतिरूप भासता भी है तो मिथ्या वा भ्रमरूप दिखाई देता है, परंतु स्वप्न में ऐसा नहीं। फिर वस्तु का जैसा दर्शन होता है दर्शक पर उसका प्रभाव भी वैसा ही पड़ता है, जैसे रस्सी का यथार्थ दर्शन दर्शक को डराता और भगाता नहीं, और उसका विपरीत (सर्परूप) दर्शन दर्शक को डराता और भगाता है। इसी प्रकार आत्मा की अज्ञानरूपी निद्रा से जब पुरुष जागता है, तो उसे यह संसार नानात्वरूप से या आत्मा के विपरीत दर्शन से नहीं किंतु अपने आत्मरूप से भासता (भान होता) है, जिससे यह संसार-स्वप्न (जो पहले अज्ञानरूपी निद्रा में सत्य और भयानक दिखाई देता था, पर अब मिथ्या और भ्रमरूप दिखाई देता है) तत्त्ववेत्ता के चित्त को न चलायमान करने पाता है, न मोहने और डराने पाता है, बल्कि इस जागने के कारण उसकी इंद्रियाँ तो संयमित और प्रज्ञा स्वतः स्थिर हो जाती और वैसी ही हुई रहती हैं। परंतु आत्मा के अज्ञानरूपी निद्रा में जब पुरुष होता है, तो उसे अपने आत्मा का सम्यक् दर्शन नहीं किंतु विपरीत दर्शन होता है, अर्थात् यह संसार नानात्वरूप से उसे

अपने से अन्य भासता है, जिससे यह संसार-स्वप्न (जो जागने पर तुच्छ और मिथ्या दिखाई देता है, पर अब सत्य और भयानक भासता है) अज्ञानी के चित्त को नित्य मोहता, डराता और चंचल वा चलायमान रखता है। इस हेतु से उसकी इंद्रियों का संयम तथा प्रज्ञा की स्थिरता केवल कष्टसाध्य ही नहीं किंतु अस्वाभाविक और अत्यंत यत्नसाध्य होते हैं। इस पर श्रुति भा ऐसा ही कहती है—"यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत् इति। यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् इति।" अर्थ—जिस काल में यह आत्मा द्वैत के समान भासता है, उस अविद्याकाल में पुरुष अपने को अन्य मानकर पदार्थों (संसार) को अपने से भिन्न देखता है। और जिस काल में यह सब जगत् ज्ञानवान् को अपना आत्मरूप ही भान होता है, उस विद्याकाल में फिर वह किस कारण से और किस पदार्थ को अपने से भिन्न देखे ? अर्थात् तब विद्वान् अपने से भिन्न किसी पदार्थ को देखता नहीं, इसलिए अविद्याकृत क्रियाकारक आदिक व्यवहार उसमें नहीं होते, जिससे इंद्रियों का संयम और प्रज्ञा की स्थिरता वा समता उसमें स्वाभाविक ही हो जाते हैं, अज्ञानी की न्याईं अत्यंत यत्नसाध्य नहीं।

इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि और अवस्था का अज्ञानी की दृष्टि और अवस्था से भेद है। सुरेश्वराचार्य वार्त्तिक ग्रंथ के कर्त्ता ने इन दोनों की दृष्टि और अवस्था में भेद काक और उल्लू पक्षी के दृष्टांत से दर्शाया है "काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः। या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः॥" अर्थ—जैसे काक पक्षी की जो यह लोक-प्रसिद्ध रात्रि है, वह उल्लू पक्षी की नहीं। क्योंकि उसी रात्रि में उल्लू पक्षी नाना प्रकार के खान-पानादि व्यवहार करता है; और उस उल्लू पक्षी की जो यह लोक-प्रसिद्ध

दिनरूप रात्रि है, वह दिन काक पक्षी की रात्रि नहीं क्योंकि काक उसी दिन में नाना प्रकार के खान-पानादिक व्यवहार करता है। ऐसे ही अज्ञानी और ज्ञानी पुरुष की दृष्टि का हाल है। ज्ञानी तो तत्त्वदृष्टि के कारण अपने स्वरूप में जागा होता है, और उसी आत्मदृष्टि से सब व्यवहार करता है। अज्ञानी अपने स्वरूप से बेख़बर होता है, इसलिए तत्त्वदृष्टि से नहीं, किंतु विपरीत दृष्टि से सब व्यवहार करता है, जो व्यवहार वा दृष्टि केवल अविद्यारूपी रात्रि में ही हो सकते हैं, और विद्यारूपी प्रकाश में नहीं। इसी को भगवान् ऐसे स्पष्ट करते हैं कि हे अर्जुन ! जो सर्वसाधारण (अज्ञानी वा चंचल मनवालों) की रात है, उसमें संयमी (ज्ञानवान्) जागता है, अर्थात् वह ज्ञानवान् के लिए दिन है। और जिसमें सर्वसाधारण पुरुष जागते हैं, अर्थात् जो चंचल मन और अस्थिरबुद्धि पुरुषों का दिन है, वह तत्त्वद्रष्टा की रात है। पस, जिस ओर सकल प्राणिमात्र अज्ञान में रहते हैं उस ओर में जिसे ज्ञान है, और जिस ओर सर्वप्राणि लोग जागते हैं उस ओर जो सोया हुआ है, हे अर्जुन ! उसे ही उपाधिरहित, उसे ही स्थिरबुद्धि और उसे ही गंभीर मुनीश्वर तू समझ ॥ ६९ ॥ *

---

* उक्त व्याख्याओं से कुछ विलक्षण अन्य व्याख्याएँ ऐसे हैं—

"देखो, जिस विषय सकल प्राणिमात्र अज्ञान में रहते हैं ; उस विषय जिसे ज्ञान है और जिस विषय में सब प्राणिगण जागृत हैं, उस विषय जो निंद्रित है, हे अर्जुन ! वही उपाधिरहित, वही स्थिरबुद्धि और वही गंभीर मुनीश्वर है, ऐसा समझो।" (श्रीज्ञानेश्वरी)

"यह विरोधाभासात्मक वर्णन आलंकारिक है। अज्ञान अंधकार को और ज्ञान प्रकाश को कहते हैं (गी० १४, ११); अर्थ यह है कि अज्ञानी

संबंध—(१) इस प्रकार स्थिरबुद्धि (संयमी) और अस्थिरबुद्धि (कामी) पुरुष का परस्पर भेद दर्शाकर अब भगवान् दृष्टांत से उनके फलों का भी भेद दर्शाते हैं—

अथवा (२) जैसे स्थितप्रज्ञ विद्वान् की इंद्रियों का संयम स्वतः सिद्ध है, वैसे सर्वविक्षेपों से शांति भी उसकी स्वाभाविक वा स्वतः सिद्ध है, ऐसा अब भगवान् दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) स्थितप्रज्ञ के समुद्रवत् गंभीर शांत हृदय का भगवान् अब वर्णन करने लगे हैं—

अथवा (४) स्थितप्रज्ञा की उपमा में भगवान् अब दृष्टांत देते हैं कि—

लोगों को जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है (अर्थात् उन्हें जो अंधकार है) वही ज्ञानियों को आवश्यक होती है; और जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते हैं—उन्हें जहाँ उजेला मालूम होता है—वहीं ज्ञानी को अँधेरा देख पड़ता है, अर्थात् वह ज्ञानी को अभीष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ, ज्ञानी पुरुष काम्य कर्मों को तुच्छ मानता है, तो सामान्य लोग उसमें लिपटे रहते हैं, और ज्ञानी पुरुष को जो निष्काम कर्म चाहिए, उसकी औरों को चाह नहीं होती।” (श्रीतिलक महाराज)

“इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन के द्वारा स्थितप्रज्ञ योगी की उत्तमा स्थिति बताई गई है। कौवे के लिए रात रात है, किंतु उल्लू के लिए वही दिन है, क्योंकि वह दिन में छिपा रहता है और रात्रि आने पर तब निकलता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व के विषय में योगी के जागे रहने पर भी विषयी उसमें लेटे ही रहते हैं, उसके लिए अंधकारमयी रात्रि की तरह वह वस्तु प्रच्छन्न ही रहती है। ठीक उसी प्रकार वैषयिक वस्तुओं में विषयी के जागते रहने पर भी योगी उसमें निंद्रित ही रहते हैं, अर्थात् उनके चित्त पर विषय का कोई भी प्रभाव नहीं रहता है। यही भोगी से योगी की विशेषता तथा संयमी स्थितप्रज्ञ पुरुष की दिव्य स्थिति है।”

(भारतधर्म-महामंडल के श्रीदयानंद स्वामी)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

आपूर्यमाणं, अचल- प्रतिष्ठं, समुद्रं	चारों ओर से भरे हुए (परिपूर्ण) अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र को	तद्वत्, कामाः, यं, प्रविशन्ति, सर्वे	वैसे सारी कामनाएँ जिसको प्राप्त होती हैं (प्रवेश करती हैं)
आपः, प्रविशन्ति, यद्वत्	जैसे जल (नदियाँ) प्रवेश करते हैं	सः, शान्तिं, आप्नोति, न, काम-कामी	वह शांति को पाता है, न कि कामनाओं का चाहनेवाला

अन्वयार्थ––जैसे परिपूर्ण और अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में जल (नद) प्रवेश करते हैं, वैसे जिसमें सारी कामनाएँ प्रवेश करती हैं, वह शांति को पाता है, न कि कामनाओं का चाहनेवाला ॥ ७० ॥

व्याख्या––हे अर्जुन! समुद्र जैसे अपने आपमें परिपूर्ण है, अचल स्थितिवाला है, अर्थात् उसकी मर्यादा एक समान स्थिर रहती है, नदियाँ चारों ओर से बहती हुई उसमें आ गिरती हैं; परंतु उनके आ मिलने से समुद्र में कोई विशेषता नहीं हो जाती, वह वैसे का वैसा ही बना रहता है, किसी विकार को प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार जो संयमी महात्मा अपने आपमें समुद्रवत् गंभीर, तृप्त और स्थिरबुद्धि होता है, जिसे कामनाएँ चारों ओर से बहते हुए जल के समान स्वतः आ प्राप्त होती हैं, और जिसमें प्राप्त होकर वे कोई विकार या क्षोभ उत्पन्न नहीं करतीं; विकार या क्षोभ तो क्या, बल्कि जिसमें वे प्रविष्ट होकर स्वयं वैसे ही शांत हो जाती हैं जैसे नदियाँ समुद्र में; ऐसा स्थिरबुद्धि महापुरुष

ही शांति को पाता है, न कि कामनाओं का चाहनेवाला (अस्थिर-बुद्धि पुरुष)। अर्थात् ऐसा महात्मा कामनाओं के स्वतः प्राप्त होने पर भी अपने निजानंद वा तत्त्वदृष्टि से चलायमान नहीं होता बल्कि उनको भोगता हुआ भी वह पूर्ववत् शांत और अचल रहता है। परंतु कामनाओं का चाहनेवाला, अथवा भोगों की इच्छा से कामनाओं में आसक्त पुरुष कदापि उक्त दशा को प्राप्त नहीं होता, बल्कि उन कामनाओं से चलायमान होकर वह दुःख का शिकार बना रहता है जिससे उसे न यहाँ (इस लोक में) शांति * वा सुख मिलता है; और न वहाँ (परलोक में)। पस. जो समुद्रवत् नित्य तृप्त रहता है और स्वतः कामनाओं की प्राप्ति जिसे किंचित्-मात्र चलायमान नहीं करती, बल्कि जो ऋद्धि-सिद्धि, लाभ-हानि इत्यादि सब अवस्था में एक समान शांत और प्रसन्न रहता है, उसे तू, हे अर्जुन ! स्थितप्रज्ञ और संयमी पुरुष समझ ॥ ७० ॥

---

* श्रीस्वामी हंसस्वरूपजी इस पर यों लिखते हैं कि—"जैसे सूर्य को दीपक की आवश्यकता नहीं है, जैसे अमृत पीनेवाले को छाछ की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मानंद से पूर्ण प्राणी को किसी भी कामना तथा ऋद्धि-सिद्धि की इच्छा नहीं होती है। क्योंकि जिसकी दृष्टि में स्वर्गसुख तुच्छ हो रहा है, उसकी दृष्टि में संसारी ऋद्धि-सिद्धि की क्या गणना है ? जैसे समुद्र में नहीं बढ़ने-घटने का अपूर्व चमत्कार है, इसी प्रकार सिद्ध पुरुषों में भी यह एक अपूर्व चमत्कार है। इसी कारण भगवान् ने समुद्र से उपमा दी है। इसी के प्रतिकूल भगवान् कहते हैं कि न कामकामी' जिसके हृदय में सहस्रों कामनाएँ लगी हुई हैं, जिसे संतोष लेशमात्र भी नहीं है; आज यह चाहिए कल वह चाहिए ऐसी कामनाओं के पीछे व्याकुल रहता है, उसे चाहे कितना भी कुछ प्राप्त क्यों न हो शांति नहीं होती।"

संबंध—(१) उक्त प्रकरण का निर्णीत सिद्धांत भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) स्थितबुद्धि की उत्तम स्थिति को बताते हुए भगवान् अब अंतिम प्रश्न 'स्थितधी कैसे विचरता है' का अंतिम उत्तर देते हैं—

अथवा (३) उक्त फल का कारण भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

विहाय^{4}, कामान्^{3}, यः^{1}, सर्वान्^{2}	जो^{1} सब^{2} कामनाओं^{3} को छोड़कर^{4}	निर्^{2}-ममः^{1}, निर्^{4}-अहंकारः^{3}	ममता^{1}-रहित^{2}, अहंकार^{3}-रहित^{4}
पुमान्^{1}, चरति^{4}, निः^{3}स्पृहः^{2}	पुरुष^{1} इच्छा^{2}-रहित^{3} विचरता^{4} है	सः^{1}, शान्ति^{2}, अधिगच्छति^{3}	वह^{1} शांति^{2} को पाता^{3} है

अन्वयार्थ—(पस) जो पुरुष सारी कामनाओं को छोड़कर इच्छा, ममता और अहंकाररहित हुआ विचरता है, वह शांति को पाता है ॥ ७१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! पस जो पुरुष सर्वप्रकार की इच्छा को लात मारता है, और फिर विना किसी लालसा, ममता और अहंकार के विचरता है, अर्थात् जो जब कुछ पास नहीं तो उसकी कामना नहीं करता, जब पास है तो उसमें ममत्व नहीं रखता, और जो अपने शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता बल्कि जीने की भी चाह से जो दूर है, और जो प्रारब्ध से स्वतः प्राप्त पदार्थों को भोगता हुआ आनंदपूर्वक विचरता अर्थात् व्यवहार करता है। वह पुरुष ही शांति को पाता है, अन्य नहीं ॥ ७१ ॥ *

---

* उक्त दो (७०, ७१) श्लोकों पर अन्य व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

संबंध--(१) पूर्व श्लोक ३९ से भगवान् ने जो कर्मयोग में बुद्धि सुनाना आरंभ किया था, और जिस बुद्धि से युक्त हुए पुरुष का माहात्म्य श्लोक ५१ तक दर्शाया। और फिर उस माहात्म्य के अनुभव का अधिकारी निश्चयात्मिक व निश्चल-बुद्धि पुरुष ठहराकर उसके लक्षण सहित फल

" हे पार्थ ! वह एक प्रकार से और पहचाना जा सकता है। जैसे समुद्र में निरंतर निश्चलता रहती है, यद्यपि वर्षाकाल में संपूर्ण नदियों के परवाह पूर्ण हो उसे आ मिलते हैं तथापि जैसे वह किंचित् भी नहीं बढ़ता और अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, अथवा ग्रीष्मकाल में सब नदियाँ सूख जाती हैं तथापि जैसे वह कुछ न्यून नहीं होता, वैसे ही ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति होने से उस पहुँचे हुए पुरुष की बुद्धि चंचल नहीं होती और उनके न प्राप्त होने से उसे अधीरता नहीं उपजती। कहो सूर्य के घर में क्या दिया लगाने से प्रकाश होता है, और न लगाने से क्या वह अँधेरे में बंद हो जाता है? उसी प्रकार जो ऋद्धि-सिद्धि के आने-जाने का स्मरण भी नहीं करता, उसी का अंतःकरण महासुख में निमग्न रहता है। जो अपने घर की सुंदरता के आगे इंद्र-भवन भी तुच्छ समझता है, उसे भीलों की पत्तों की मड़ैयों से कैसे आनंद होगा? जो अमृत को भी नाम रखता है, वह जैसे दरिया कभी न पीयेगा वैसे ही आत्मसुख का अनुभव लेनेवाला ऋद्धि-सिद्धि का उपभोग कभी नहीं लेता। हे पार्थ ! यह चमत्कार देखो; जहाँ स्वर्ग के सुख की भी परवाह नहीं है वहाँ ऋद्धि-सिद्धि क्या, केवल सामान्य ही है। ऐसा जो आत्मज्ञान से संतुष्ट हो, जो परमानंद से पुष्ट हो, वही सच्चा स्थिरप्रज्ञ जानो। वह अहंकार को छोड़, सकल मनोरथों का त्यागकर जगत् में जगदाकार हो संचार करता है।"

(श्रीज्ञानदेवजी)

"इस श्लोक ७० का यह अर्थ नहीं है कि शांति प्राप्त करने के लिए कर्म न करना चाहिए, प्रत्युत भावार्थ यह है कि साधारण लोगों का मन फलाशा से काम्य-वासना से घबड़ा जाता है और उनके कर्मों से उनके मन की शांति बिगड़ जाती है; परंतु जो सिद्धावस्था में पहुँच गया है,

के ७१ श्लोक तक सविस्तर वर्णन किये। अब उसी उक्त योग-माहात्म्य में स्थिति को ब्राह्मी स्थिति के नाम से स्तुति करते हुए भगवान् इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

उसका मन फलाशा से क्षुब्ध नहीं होता, कितने ही कर्म करने को क्यों न हों, पर उसके मन की शांति नहीं डिगती, वह समुद्र-सरीखा शांत बना रहता है और सब काम किया करता है; अतएव उसे सुख-दुःख की व्यथा नहीं होती।" (श्रीतिलक महाराज)

"स्थितप्रज्ञ योगी की उत्तमा स्थिति के वर्णन-प्रसंग में उनके अति विशाल हृदय का वर्णन इस श्लोक के द्वारा किया गया है....समुद्र में चाहे कितनी ही नदियाँ आकर गिर जायँ, समुद्र कभी अपने तट की मर्यादा को न उल्लंघन करता और न अपनी गंभीरता को ही छोड़कर चंचल होता है। अधिकंतु वे नदियाँ ही समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती हैं, उनका पृथक् अस्तित्व तथा चांचल्य सब कुछ नष्ट हो जाता है। मुक्तात्मा पुरुष ठीक ऐसे ही होते हैं, उनकी समुद्रवत् विशाल, धीर, गंभीर सत्ता में अपनी सकल कामनाएँ विलीन हो जाती हैं और उनकी शरण में आये हुए कामियों की भी कामनाएँ विलीन हो जाती हैं। वे सब उनके दिव्य संग से धन्य हो जाते हैं। ऐसे ही कामनाहीन आत्माराम योगी सदा शांतिमयी तथा नित्यानंदमयी ब्राह्मी स्थिति को लाभ करते हैं। विषय-चंचल जीव के भाग्य में कदापि यह शांति मिल नहीं सकती है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है....और श्लोक ७१ द्वारा स्थितप्रज्ञ योगी की इसी उत्तमा ब्राह्मी स्थिति का वर्णन 'व्रजेत किम्' इस प्रश्न के अंतिम उत्तर रूप से भगवान् कर रहे हैं। स्थितप्रज्ञ योगी समस्त विषयों का मन से भी परित्याग कर देते हैं और अप्राप्त विषयों के प्रति भी स्पृहा नहीं रखते, 'मैं मेरा' आदि भाव शरीर, कुटुंब आदि किसी के प्रति भी उनका नहीं रहता है, अविद्या का पूर्ण नाश हो जाने के कारण किसी वस्तु के प्रति उनका अहंभाव भी नहीं रहता है, वे केवल जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित रहकर अवशिष्ट प्रारब्धमात्र का भोग करते रहते हैं। इस दशा

अथवा (२) अब भगवान् इस विषय का उपसंहार करके बतलाते हैं कि स्थितबुद्धि पुरुष की इस स्थिति का क्या नाम है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

में विचरते हुए वे जो कुछ कार्य करते हैं वह सब या तो प्रारब्धभोग रूप में होता है या जगत्-कल्याण के लिए विराट केंद्र द्वारा चालित होकर होता है । वे सब कुछ करते हुए भी अनंत आनंदमय अनंत ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित रहते हैं । उनके लिए समस्त संसार उस समय प्रस्तर खोदित मूर्ति की तरह व्यापक आत्मा में ही भासमान दिखने लगता है । वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं । यही स्थितप्रज्ञ मुक्तात्मा पुरुष की ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्ममयी स्थिति है । (जिसका वर्णन अगले श्लोक ७२ में ऐसे है) प्रपंच से परे, माया-राज्य से बाहर विराजमान इस अनंतानंदमय अनुपम स्थिति को पाकर योगी पुनः संसार-जाल में नहीं फँस सकते हैं । क्योंकि उनके लिए उस समय अद्वैत से पृथक् कोई संसार-सत्ता ही नहीं रहती है । वे अद्वैतभाव में ही सकल द्वैतभाव का विलास देखकर उसी के द्वारा अद्वैतानंद का आस्वाद लाभ करते हैं । यदि समस्त जीवन पुरुषार्थ करते-करते शरीर-त्याग के समय भी यह ब्राह्मी स्थिति मिल जाय तो भी योगी ब्रह्म में ही लवलीन हो जाते हैं । इस श्लोक में 'अपि' शब्द का यही तात्पर्य है कि जब अंत समय में भी ब्राह्मी स्थिति मिलने पर योगी को ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में लवलीनता हो जाती है, तो जो अलौकिक प्रारब्धवान् साधक बाल्यकाल से ही ब्रह्मचारी तथा वैराग्यवान् होकर ब्रह्मनिष्ठ हो जाय उनकी मुक्ति तो करायत्त (अवश्य) ही है, इसमें संदेह नहीं । यही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की ब्रह्ममयी, आनंदमयी अंतिम दशा है, जिसको श्रीअर्जुन को निमित्त बनाकर श्रीभगवान् वासुदेव ने जगज्जनों के कल्याण के लिए उत्तम रीति से दर्शा दिया ।"

(भा. ध. म. मंडल के श्रीस्वामी दयानंद)

के ७१ श्लोक तक सविस्तर वर्णन किये। अब उसी उक्त योग-माहात्म्य में स्थिति को ब्राह्मी स्थिति के नाम से स्तुति करते हुए भगवान् इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

उसका मन फलाशा से क्षुब्ध नहीं होता, कितने ही कर्म करने को क्यों न हों, पर उसके मन की शांति नहीं डिगती, वह समुद्र-सरीखा शांत बना रहता है और सब काम किया करता है; अतएव उसे सुख-दुःख की व्यथा नहीं होती।" (श्रीतिलक महाराज)

"स्थितप्रज्ञ योगी की उत्तमा स्थिति के वर्णन-प्रसंग में उनके अति विशाल हृदय का वर्णन इस श्लोक के द्वारा किया गया है....समुद्र में चाहे कितनी ही नदियाँ आकर गिर जायँ, समुद्र कभी अपने तट की मर्यादा को न उल्लंघन करता और न अपनी गंभीरता को ही छोड़कर चंचल होता है। अधिकंतु वे नदियाँ ही समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती हैं, उनका पृथक् अस्तित्व तथा चांचल्य सब कुछ नष्ट हो जाता है। मुक्तात्मा पुरुष ठीक ऐसे ही होते हैं, उनकी समुद्रवत् विशाल, धीर, गंभीर सत्ता में अपनी सकल कामनाएँ विलीन हो जाती हैं और उनकी शरण में आये हुए कामियों की भी कामनाएँ विलीन हो जाती हैं। वे सब उनके दिव्य संग से धन्य हो जाते हैं। ऐसे ही कामनाहीन आत्माराम योगी सदा शांतिमयी तथा नित्यानंदमयी ब्राह्मी स्थिति को लाभ करते हैं। विषय-चंचल जीव के भाग्य में कदापि यह शांति मिल नहीं सकती है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है....और श्लोक ७१ द्वारा स्थितप्रज्ञ योगी की इसी उत्तमा ब्राह्मी स्थिति का वर्णन 'व्रजेत किम्' इस प्रश्न के अंतिम उत्तर रूप से भगवान् कर रहे हैं। स्थितप्रज्ञ योगी समस्त विषयों का मन से भी परित्याग कर देते हैं और अप्राप्त विषयों के प्रति भी स्पृहा नहीं रखते, 'मैं मेरा' आदि भाव शरीर, कुटुंब आदि किसी के प्रति भी उनका नहीं रहता है, अविद्या का पूर्ण नाश हो जाने के कारण किसी वस्तु के प्रति उनका अहंभाव भी नहीं रहता है, वे केवल जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित रहकर अवशिष्ट प्रारब्धमात्र का भोग करते रहते हैं। इस दशा

अथवा (२) अब भगवान् इस विषय का उपसंहार करके बतलाते हैं कि स्थितबुद्धि पुरुष की इस स्थिति का क्या नाम है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

में विचरते हुए वे जो कुछ कार्य करते हैं वह सब या तो प्रारब्धभोग रूप में होता है या जगत्-कल्याण के लिए विराट केंद्र द्वारा चालित होकर होता है। वे सब कुछ करते हुए भी अनंत आनंदमय अनंत ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उनके लिए समस्त संसार उस समय प्रस्तर खोदित मूर्ति की तरह व्यापक आत्मा में ही भासमान दिखने लगता है। वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। यही स्थितप्रज्ञ मुक्तात्मा पुरुष की ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्ममयी स्थिति है। (जिसका वर्णन अगले श्लोक ७२ में ऐसे है) प्रपंच से परे, माया-राज्य से बाहर विराजमान इस अनंतानंदमय अनुपम स्थिति को पाकर योगी पुनः संसार-जाल में नहीं फँस सकते हैं। क्योंकि उनके लिए उस समय अद्वैत से पृथक् कोई संसार-सत्ता ही नहीं रहती है। वे अद्वैतभाव में ही सकल द्वैतभाव का विलास देखकर उसी के द्वारा अद्वैतानंद का आस्वाद लाभ करते हैं। यदि समस्त जीवन पुरुषार्थ करते-करते शरीर-त्याग के समय भी यह ब्राह्मी स्थिति मिल जाय तो भी योगी ब्रह्म में ही लवलीन हो जाते हैं। इस श्लोक में 'अपि' शब्द का यही तात्पर्य है कि जब अंत समय में भी ब्राह्मी स्थिति मिलने पर योगी को ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में लवलीनता हो जाती है, तो जो अलौकिक प्रारब्धवान् साधक बाल्यकाल से ही ब्रह्मचारी तथा वैराग्यवान् होकर ब्रह्मनिष्ठ हो जाय उनकी मुक्ति तो करायत्त (अवश्य) ही है, इसमें संदेह नहीं। यही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की ब्रह्ममयी, आनंदमयी अंतिम दशा है, जिसको श्रीअर्जुन को निमित्त बनाकर श्रीभगवान् वासुदेव ने जगज्जनों के कल्याण के लिए उत्तम रीति से दर्शा दिया।"

(भा. ध. म. मंडल के श्रीस्वामी दयानंद)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो * नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

एषा^{2}, ब्राह्मी^{3}, स्थितिः^{4}, पार्थ^{1}	हे अर्जुन^{1} ! यह^{2} ब्राह्मी^{3} स्थिति^{4} है
न^{3}, एनां^{1}, प्राप्य^{2}, विमुह्यति^{4}	इसको^{1} पाकर^{2} नहीं^{3} भूलता^{4} है
स्थित्वा^{5}, अस्यां^{4}, अन्त^{1}-काले^{2}, अपि^{3}	अंत^{1} काल^{2} में भी^{3} इसमें^{4} स्थित^{5} होकर
ब्रह्म^{1}-निर्वाणं^{2}, ऋच्छति^{3}	ब्रह्म^{1} निर्वाण^{2} को पाता^{3} है

अन्वयार्थ——हे अर्जुन ! यह ब्राह्मी † स्थिति है, इसको पाकर

---

* इस अध्याय में नित्यात्मा विषयक सांख्यबुद्धि और उस बुद्धि के अनुसार कर्मों का अनुष्ठानरूप कर्मयोग बुद्धि और योग का साधनभूत स्थितप्रज्ञता प्रतिपादित हुई हैं। इसलिए इसका नाम तत्त्वविवेकामृत अध्याय भी प्रसिद्ध है, केवल सांख्ययोग नहीं।

† इस शब्द का अर्थ अन्य भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न रीति से ऐसे दर्शाया है—

ब्राह्मी=(१) ब्रह्म में निष्ठावाली अर्थात् सब कर्मों का संन्यास करके केवल ब्रह्मरूप से स्थित होना । (श्रीशंकराचार्य)

(२) ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली जो आत्मज्ञानपूर्वक कर्म में नित्य संग-रहित-स्थिति । (श्रीरामानुज)

(३) ब्रह्मविषयक । (श्रीमधुसूदन)

(४) "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" । ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है । इस श्रुति से यहाँ ब्रह्मवेत्ता ही ब्रह्मशब्द से अभिप्रेत है, उसकी यह स्थिति ब्राह्मी स्थिति कही जाती है । (श्रीनीलकंठ)

वास्तव में जैसे ब्रह्म से जगत् की रचना, पालना और संहार हो रहा है, और जगत् की यह उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्म को किंचित्-मात्र भी लिपायमान नहीं करते और न उसमें कोई विकार लाते हैं। इस

(मनुष्य फिर) भूलता नहीं है। अंतकाल * में भी इस (स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण † को वह प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

प्रकार संयमी और स्थितधी ब्रह्मवेत्ता से बुद्धियोग द्वारा जो कर्त्तव्य कर्म अथवा स्वाभाविक कर्म होते रहते हैं, वे उसे किंचित्-मात्र लिपायमान नहीं करते, और न उसमें कोई विकार उत्पन्न करते हैं, बल्कि वह इन सब कर्मों को करता हुआ और स्वतः प्राप्त हुए भोगों को भोगता हुआ भी अपने शुद्धस्वरूप में एकरस निर्विकार स्थित रहता है, उसकी ऐसी स्थिति ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। ब्रह्म की यह स्थिति स्वतः सिद्ध है, परंतु तत्ववेत्ता में यह स्थिति यत्न द्वारा प्राप्त होती है, इसलिए "एनां प्राप्य" 'इसको पाकर' ऐसा भगवान् ने कहा है। (टीकाकार)

* मरने के समय भी इस स्थिति में स्थित हुआ मनुष्य ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है। यह कथन इस अभिप्राय का सूचक है कि मृत्यु के समय में भी मनुष्य जब इस अवस्था में स्थित होने से मोक्ष पाता है, तो मृत्यु से पहले बाल्यावस्था इत्यादि में ही जो इसमें स्थित हो जाय, वह तो अवश्य ही मुक्त होगा, इसलिए हे अर्जुन ! तू इसी स्थिति की शरण में शीघ्र आ।

† ब्रह्मनिर्वाण=ब्रह्म में लीन होना।

"निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते॥" (योगवासिष्ठ २, १०, २१)

अर्थ—जिससे प्राणी इस संसार में फिर न उत्पन्न होता है न मरता है, उस परम सुख का नाम निर्वाण है, वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है।

"एषा विमुक्तिः परमा मम सायुज्यमुत्तमम्।
निर्वाणं ब्रह्मणा चैक्यं कैवल्यं कवयो विदुः॥" (कूर्म २०-१०-११)

अर्थ—वह जो परम मोक्ष और मेरा उत्तम सायुज्य है, उसी को कवि लोग ब्रह्मनिर्वाण और कैवल्य कहते हैं।

"निर्गतं वानं गमनं यस्मिन्प्राप्यते ब्रह्मणि तन्निर्वाणं"=निवृत्त हो गई हैं नाम रूप क्रिया जिसमें, उसका नाम निर्वाण है। (स्वामी चिद्घनानंद)

व्याख्या—उक्त समत्वबुद्धि से कर्म में प्रवृत्ति द्वारा निरुपद्रव पद की प्राप्तिरूप स्थिति, अथवा पूर्वोक्त स्थितधी द्वारा कर्मयोग में स्थिति, या स्थितप्रज्ञरूप स्थिति को ब्राह्मी स्थिति (ब्रह्ममयी स्थिति अथवा ब्रह्म-प्राप्ति-कारक स्थिति) कहते हैं, क्योंकि समताभाव से निष्कामकर्म में युक्त रहने से ब्रह्म-साक्षात्काररूप निरुपद्रव पद प्राप्त होता है, ऐसा उक्त श्लोक ५१ में दर्शाया गया है। ऐसी स्थिति को पाकर पुरुष फिर मोह को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् फिर न अपने स्वरूप को भूलने पाता है और न पदार्थों से धोखा खाता है। और मरने के समय भी यदि पुरुष इस स्थिति में स्थित हो जाय, तो वह ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) को पा लेता है; और जो मनुष्य सर्वकाल ही ऐसा स्थित रहे, उसकी मुक्ति के विषय में तो भला संदेह ही क्या हो सकता है ॥ ७२ ॥ *

ब्रह्म में आराम या निवृत्ति। (श्रीशंकराचार्य)

निर्वाण ब्रह्म=सुखरूप ब्रह्म। (यामुनाचार्य)

* इस पर श्रीतिलक महाराज अपनी टीका इस प्रकार करते हैं—

"यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोग की अंतिम और अत्युत्तम स्थिति है। और इसमें विशेषता यह है कि इसके प्राप्त हो जाने से फिर मोह नहीं होता। यहाँ पर इस विशेषता के बतलाने का कुछ कारण है। वह यह कि यदि किसी दिन दैवयोग से घड़ी-दो घड़ी के लिए इस ब्राह्मी स्थिति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ चिरकालिक लाभ नहीं होता। क्योंकि किसी भी मनुष्य की यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी, तो मरण काल में जैसी वासना रहेगी उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा। यही कारण है जो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्टतया कह दिया है कि 'अन्तकालेऽपि'=अंतकाल में भी स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था स्थिर बनी रहती है। अंतकाल में मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन उपनिषदों में (छां० ३. १४. १; प्र० ३. १०) और गीता में

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः । *

भी (गी० ८. ५. १०) है । यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मों के मिलने का कारण है, इसलिए प्रकट ही है कि अंततः मरने के समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिए । और फिर यह भी कहना पड़ता है कि मरण-समय में वासना शून्य होने के लिए पहले से ही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिए । क्योंकि वासना को शून्य करने का कर्म अत्यंत कठिन है, और विना ईश्वर की विशेष कृपा के उसका किसी को भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है, वरन् असंभव भी है । यह तत्त्व वैदिक धर्म में ही नहीं है कि मरण-समय में वासना शुद्ध होनी चाहिए; किंतु अन्यान्य धर्मों में भी यह तत्त्व अंगीकृत हुआ है ।"

* श्रीस्वामी चिद्घनानंदजी इस अध्याय के सर्व अर्थ या तात्पर्य को ऐसे श्लोकबद्ध करते हैं—

"ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम् ।
तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन् प्रकीर्तितम् ॥"

अर्थ—इस द्वितीय अध्याय में आत्मज्ञान का उपदेश और आत्मज्ञान की प्राप्तिनिमित्त उसका मुख्य साधन निष्कामकर्म का उपदेश किया गया, फिर इस निष्कामकर्म का फल अंतःकरण की शुद्धि और इस अंतःकरण की शुद्धि का फल ज्ञाननिष्ठा दर्शाकर अध्याय की समाप्ति की गई है ।

दूसरे अध्याय का संक्षेप

(१) प्रथम अध्याय में अर्जुन की उदासी और कृपणता वर्णन हुई। इस कारण अर्जुन को अति दुःखी अवस्था में देखकर भगवान् उसे ऐसे उत्साह देते हैं—

(क) ऐ प्यारे ! तुझे ऐसे नाजुक (संकट के) समय यह मलिनता, जो कमीनों की होती है और नरक तथा अपयश दिलाती है, कहाँ से उत्पन्न हो आई ?

(ख) मूर्खता से नपुंसकता मत कर, यह तेरे योग्य नहीं। इसलिए हार्दिक दुर्बलता को दूर कर और युद्ध के लिए उठ खड़ा हो।

(२) इस पर अर्जुन अपने न लड़ने के विषय में निम्नलिखित युक्तियाँ देता है—

(क) जो मेरे लिए पूजने योग्य हैं, उनको मैं तीरों से कैसे मारूँ ?

(ख) गुरुओं को मारने की अपेक्षा तो भिक्षान्न से निर्वाह करना अत्युत्तम है, क्योंकि गुरुओं को मारकर जो भोग मिलेंगे, वे (गुरुओं के) रुधिर से लिप्त होंगे।

(ग) फिर यह भी पता नहीं कि हमारी जय होगी, अथवा उनकी और हमारे लिए लड़ना उचित है या नहीं ?

(३) इस प्रकार युक्तियाँ देने के बाद अर्जुन अपनी व्याकुलता दर्शाता हुआ भगवान् से ऐसे प्रार्थना करता है—

जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते, उनको सामने युद्ध के लिए खड़े देखकर मैं कृपणता के दोष से दब गया हूँ, और धर्म-विषय में मूढ़ हो गया हूँ। इसलिए आपकी शरण लेता

हूँ। मुझे अपना शिष्य समझिए और उचित शिक्षा दीजिए। क्योंकि आपसे अतिरिक्त अन्य कोई भी मुझे ऐसा दिखाई नहीं देता कि जो मेरे इस भारी शोक को दूर कर सके।

(४) अर्जुन की ऐसी प्रार्थना पर गीतोपदेश आरंभ होता है और अब भगवान् उसे ऐसा उपदेश देते हैं—

(क) ऐ प्यारे! जिनका शोक नहीं करना चाहिए था उनका तू शोक करता है, और फिर पंडितों सरीखी बातें बनाता है। भला पंडित लोग भी कभी मरों और जीतों का शोक करते हैं?

(ख) फिर यह बात भी नहीं है कि मैं, तू, या ये राजे लोग कभी पहले न थे, और अब आगे न होंगे।

(ग) हमें तो पुनः पुनः देह की प्राप्ति ऐसे होती रहती है जैसे देह को लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा। इसलिए धीर पुरुष कभी मृत्यु से घबराते नहीं।

(घ) इसमें संदेह नहीं कि इंद्रियों का विषयों के साथ संबंध सर्दी-गरमी और सुख-दुःख का देनेवाला है। पर तू उन्हें वीरता से सहन कर, क्योंकि प्रथम तो ये आने-जानेवाले होते हैं, न दुःख एक सार रहता है, न सुख एक सार। दूसरे जो इनको सहन कर लेता है और इनसे चलायमान नहीं होता, वही अमृतरूप मोक्ष पाने के योग्य होता है, अन्य नहीं।

(ङ) और यह बात तत्त्वदर्शी पुरुषों के अनुभव में आ चुकी है कि जो सत् वस्तु होती है, उसका कभी भी नाश ही नहीं हुआ करता, और जो असत् होती है वह कभी नित्य रह ही नहीं सकती।

(च) केवल आत्मा एक सत् पदार्थ है जिससे वह नित्य, अविनाशी, अजर, अमर है। इससे इतर सब पदार्थ अनात्मा, असत्, नाशवान् और अस्थिर हैं।

(छ) क्योंकि जिससे सब जगत् व्याप्त है, वही आत्मा है, और उसका कोई नाश नहीं कर सकता।

(ज) इसलिए यह आत्मा (देही) तो अविनाशी और प्रमाणों का अविषय है, और इसके समस्त शरीर (देह) नाशवान् हैं।

(झ) पर जो इस आत्मा को ऐसा जानते हैं कि "यह मारता और मरता है" वे कुछ नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा न कभी मरता है न मारता है, न उत्पन्न होता है न नाश, न घटता है न बढ़ता, और नये-नये शरीरों को इस प्रकार धारण करता है जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को उतार नये पहन लेता है; इसलिए शरीर के मारे जाने पर यह मारा भी नहीं जा सकता, और इसीलिए न इसे तलवार काट सकती है, न अग्नि जला सकती है, न जल गिला सकता है और न वायु सुखा सकती है, अर्थात् कोई भी वस्तु इसमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकती।

)ञ) पस जिस पुरुष ने आत्मा को उक्त विशेषणों से जान लिया, फिर वह (ऐसी आत्म-दृष्टि के कारण) न किसी को मारता है और न मरवाता है। अतएव हे अर्जुन! तू भी इसी विचार वा आत्म-दृष्टि का आश्रय लेकर उठ और युद्ध कर।

(ट) और यदि तू आत्मा को उक्त धर्मोंवाला नहीं मानता

बल्कि इसके विपरीत उसे नित्य मरने-जन्मनेवाला समझता है, तब भी तुझे शोक करना उचित नहीं, और न युद्ध से हटना ही उचित, क्योंकि जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा ही, और जो मरा है वह अवश्य जन्मेगा ही। ऐसी अटल वार्ता पर भी रोना-धोना क्यों और किस काम का ?

(ठ) जिनके आरंभ का पता नहीं, अंत का पता नहीं, केवल मध्य-मध्य में जो दिखाई देते हैं। ऐसे मध्य-मध्य में दिखाई देनेवाले पदार्थों पर भला रोना-धोना कैसा ?

(ड) इस संसार अथवा आत्मा को कोई आश्चर्यवत् देखता है, कोई आश्चर्यवत् कहता है, कोई आश्चर्यवत् सुनता है, और फिर सुनते हुए भी कोई इसको (यथार्थ) जानता नहीं। ऐसी आश्चर्यमय स्थिति पर भी रोना-धोना किस काम का ?

(ढ) और हे प्यारे ! जब सब देहों में देही नित्य अवध्य है और देह के नाश होने पर नाश नहीं होता, तो सब प्राणियों का तुझे फिर क्यों शोक करना चाहिए ?

(५) इतना तो आत्मतत्त्व की दृष्टि से शोक की व्यर्थता दर्शाकर युद्ध के लिए उपदेश दिया गया। अब स्वधर्म की दृष्टि से शोक की व्यर्थता दर्शाते हुए भगवान् युद्ध-निमित्त ऐसा उपदेश देते हैं—

(क) यदि तू अपने धर्म को भी देखे, तो भी तुझे युद्ध से उपराम होना उचित नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से बढ़कर अधिक कोई श्रेष्ठ नहीं।

(ख) बड़े ही भाग्यवान् वे क्षत्रिय होते हैं जिनको ऐसे धर्म-युद्ध विना इच्छा वा यत्न के प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि ऐसा युद्ध तो खुला स्वर्गद्वार ही होता है।

(ग) यदि तू इस धर्म-युद्ध को न करेगा, तो स्वधर्म और यश का नाश करके पाप को ही प्राप्त होगा।

(घ) लोग भी तेरी इतनी बदनामी (अपकीर्ति) करेंगे कि जिसकी अपेक्षा तेरे जैसे माननीय वा प्रसिद्ध पुरुष के लिए मरना अत्युत्तम होगा।

(ङ) चाहे दया के कारण तू युद्ध से उपराम होगा, पर तेरे शत्रु लोग तुझको भय के कारण रण से भागा हुआ मानेंगे, और तेरे बल को निंदते हुए तुझे बहुत सी अनकहनी बातें कहेंगे। और जो तुझको बड़ा भारी योद्धा समझते थे, उनके आगे तू हलका पड़ जायगा। इससे अधिक दुःख तेरे जैसे माननीय को और भला क्या होगा ?

(च) यदि तू युद्ध में मारा गया तो सीधा स्वर्ग को प्राप्त होगा, और यदि जीत गया तो बड़े भारी राज्य को भोगेगा, इसलिए दृढ़ निश्चय से युद्ध के लिए तू उठ और लड़।

(६) उक्त दोनों (आत्म-तत्त्व और स्वधर्म की) दृष्टियों को हेतु में रखते हुए भगवान् अंत में अर्जुन को ऐसा उपदेश करते हैं—

'बस सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार, इनको एक समान समझते हुए तू युद्ध कर। ऐसा करने से तू किसी प्रकार के पाप को प्राप्त नहीं होगा।'

(७) उक्त तत्त्वदृष्टि को सांख्य नाम और उस दृष्टयानुसार कर्म करने को योग नाम देते हुए भगवान् अब इस योग के विषय में सविस्तर ऐसा कहते हैं—

(क) इतना तो तुझे सांख्य (तत्त्वविवेक) के विषय में समझाया गया, अब तू योग (उस विवेकानुसार कर्म करने, अर्थात् उसके अनुष्ठान करने के) विषय में मुझसे समझ, जिसको समझकर तू कर्म-बंधन तोड़ डालेगा।

(ख) इस योग के आरंभ और अंत में कोई हानि नहीं होती और न इसमें बुराई की कोई संभावना ही है, बल्कि इस (योग) का थोड़ा सा अंश किया हुआ भी बड़े भारी भय से बचा देता है।

(ग) संशयात्मा लोग इस मार्ग में नहीं लगते, और न उनका इसमें कुछ निश्चय ही होता है। उनको तो वेदों की पुष्पित वाणियाँ, स्वर्ग के भोग, और जन्म-मरणरूप फल देनेवाली तथा भोग और ऐश्वर्य के दिलानेवाली नाना प्रकार की वैदिक यज्ञादि क्रियाएँ रुचिकर और आकर्षक होती हैं। इसी कारण वे कभी सावधान, निश्चयात्मक और निरासक्त चित्त नहीं होते।

(घ) ऐसे मनुष्य त्रैगुण्यात्मिक वैदिक वाणियों में फँसे रहते हैं जिससे वे जन्म-मरणरूप संसारचक्र में भ्रमते फिरते हैं। पर तू तो इस चक्र से पार होना चाहता है, इसलिए तू इन वाणियों में मत फँस, बल्कि जैसे कोई प्यासा एक अति परिपूर्ण जलाशय से

उतना ही जल लेता है जितने से उसकी प्यास बुझे, सारे जल को नहीं लेने लग जाता; ऐसे ही तू भी इन वेदों में से उतना उपदेश ग्रहण कर ले जिससे तेरी निजानंद की प्यास बुझे और तू कर्म-बंधन में फँसने न पाये। सारे वेदों को सिर पर मत उठा, और न उनकी वाणियों से मोहित हो, बल्कि उनसे परे वर्तता हुआ तू अपने आप में आ, और सुख-दुःख, जीत-हार इत्यादि द्वंद्वों से रहित हो।

(ङ) पस तेरा अधिकार तो केवल कर्म में है फल में कभी नहीं। न फल के कारण तू कोई कर्म कर, और न नितांत निष्क्रिया (वेकार) हो वैठ। बल्कि केवल कर्तृत्वादि संग को छोड़कर, और सिद्धि-असिद्धि में समचित्त होकर तू कर्म में लग; क्योंकि इसी समता का नाम योग है, किसी अन्य का नहीं।

(च) इस उक्त (कर्मयोग की) रीति के विना जो कर्म किया जाता है, वह अत्यंत निकृष्ट होता है। इसलिए तू कर्मयोग में ही लग, क्योंकि फल के कारण कर्म करनेवाले कृपण होते हैं।

(छ) उक्त समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म करनेवाला (कर्मयोगी) कर्म में पुण्य और पापभाव दोनों ही त्याग देता है, और केवल अपना धर्म वा कर्त्तव्य समझकर कर्म करता है। इस रीति से तू भी कर्म कर, क्योंकि यही रीति कर्म में कल्याणकारी है।

(ज) और इसी समत्वबुद्धि से युक्त हुए विचारवान् लोग कर्मजन्य फल को छोड़ने से जन्म-बंधन से निर्मुक्त (आज़ाद) होकर निरुपद्रव पद को पाते हैं।

(झ) परंतु तेरी बुद्धि जब (उक्त रीति से कर्म करते-करते) मोह-दलदल को तर जायगी, तब तू पहली सुनी हुई बातों से उपराम होगा और आगे भी ऐसी पुष्पित वाणियों में न फँसेगा। इसीलिए सुनी-सुनाई बातों (या त्रैगुण्यात्मिक वैदिक श्रुतियों) से घबराई हुई तेरी बुद्धि जब तक उक्त उपदेश के निश्चयानुसार तत्त्वदृष्टि में गड़कर नहीं ठहरती, तब तक तू पूरी-पूरी योगावस्था को प्राप्त नहीं होगा।

(८) उक्त शर्त को सुनकर अर्जुन तब स्थितप्रज्ञ और स्थितधी पुरुष के लक्षण पूछता है, जिस पर भगवान् सविस्तर उत्तर ऐसे देते हैं—

(क) जब पुरुष मनोगत सब कामनाओं को त्यागकर आत्मा से आत्मा में संतुष्ट होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ अर्थात् पक्की निष्ठावाला कहलाता है।

(ख) दुःखों में मन जिसका घबराता नहीं, सुखों में जिसकी इच्छा नहीं, जो राग-भय-क्रोध से रहित होता है, वह स्थितधी अर्थात् ठहरी बुद्धिवाला कहलाता है।

(ग) जिसका कहीं भी स्नेह नहीं, बल्कि जो शुभ-अशुभ के पाने पर न प्रसन्न होता है न अप्रसन्न, उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है।

(घ) जब कछुए के समान यह कर्मयोगी अपनी इंद्रियों को विषयों से हटा लेता है, तो उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है।

(ङ) देखने में तो निराहारी पुरुष के भी विषय निवृत्त

हुए होते हैं, परंतु उनकी वासना या स्वाद नहीं दूर हुआ होता। हाँ, परमात्म-दर्शन से तो यह वासना वा स्वाद (विषय लटक) भी दूर हो जाता है।

(च) यत्न करते हुए विवेकी पुरुष की भी इंद्रियाँ जब ज़बरदस्ती से मन को हर लेती हैं; तो ऐसी दशा में जो मनुष्य उन सबको रोककर मुझ सच्चिदानंद के परायण हुआ युक्त बैठता है और इस रीति से जिसकी इंद्रियाँ वश में होती हैं, उसकी ही बुद्धि ठहरी हुई होती है।

(९) इस प्रकार स्थितबुद्धि पुरुष के लक्षण कहकर अब भगवान् स्थितबुद्धि तथा अस्थितबुद्धि दोनों की दशा का परस्पर भेद सहित फल के दर्शाते हैं—

(क) विषयों को ध्याने से उनमें लगाव उत्पन्न हो जाता है। लगाव (विषय-संग) से काम उत्पन्न हो आता है। काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति में बिगाड़, स्मृति के बिगाड़ से बुद्धि का नाश, और बुद्धि के नाश से पुरुष स्वयं नष्ट हो जाता (अर्थात् सर्वप्रकार से अधोगति को प्राप्त होता) है।

(ख) और जो राग-द्वेष से रहित होकर अपने वशीभूत इंद्रियों से विषयों में विचरता है। ऐसा वशवर्ती मनवाला पुरुष प्रसन्नता को पाता है, जिसके पाने से उसके दुःखों की हानि हो जाती है, और ऐसे प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है।

(ग) समत्वबुद्धि से जो युक्त नहीं; ऐसे पुरुष की न बुद्धि

होती है. न निश्चय। निश्चयरहित पुरुष को शांति नहीं, और शांतिरहित को सुख कहाँ ?

(घ) और जो मन इंद्रियों के अधीन हो जाता है, वह पुरुष की बुद्धि को ऐसे हर लेता है जैसे जल में नौका को वायु।

(ङ) इसलिए हे अर्जुन! जिसकी इंद्रियाँ विषयों से सर्वथा रुकी हुई हैं, उसकी ही बुद्धि ठहरी हुई होती है।

(१०) इस प्रकार युक्त और अयुक्त अर्थात् संयमी और असंयमी पुरुषों की बाह्य दशा व फल का परस्पर भेद दर्शाकर अब भगवान् उनकी आंतर दशा व फल का परस्पर भेद दर्शाते हैं——

(क) जो सब पुरुषों की रात है, संयमी उसमें जागता है। जो सर्वसाधारण (अयुक्त पुरुष) का दिन है, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात है।

(ख) जिस प्रकार चारों ओर से बहती हुई नदियाँ समुद्र में गिरते ही शांत हो जाती हैं, समुद्र को कोई अधिक या न्यून नहीं करतीं। ऐसे ही कामनाएँ जिसको प्राप्त होते ही शांति हो जाती हैं, वही पुरुष शांति पाता है, कामी पुरुष कदापि नहीं।

(ग) जो पुरुष सब कामनाओं को त्यागकर इच्छा, ममता और अहंकार से रहित हुआ विचरता है, वही शांति को पाता है।

(११) इस कामनारहित युक्त पुरुष की स्थिति को ब्राह्मी स्थिति नाम देकर भगवान् अब अंत में इस स्थिति की महिमा सहित फल के ऐसे वर्णन करते हैं——

"यह उक्त प्रकार की स्थिति (निष्ठा) ब्राह्मी स्थिति

है। इसको प्राप्त होकर पुरुष फिर मोह को प्राप्त नहीं होता, और मरने के समय भी इसमें स्थित होने से पुरुष ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।"

* * *

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, सांख्ययोग*-नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

---

* अध्याय के इस नाम पर श्रीतिलक महाराज अपनी ऐसी टिप्पणी देते हैं—"इस अध्याय में, आरंभ में सांख्य अथवा संन्यासमार्ग का विवेचन है, इस कारण इसको सांख्ययोग नाम दिया गया है। परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि पूरे अध्याय में वही विषय है। एक ही अध्याय में प्रायः अनेक विषयों का वर्णन होता है। जिस अध्याय में, जो विषय आरंभ में आ गया है, अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है, उसी के अनुसार उस अध्याय का नाम रख दिया जाता है।"

॥ ॐ ॥

तृतीयोऽध्यायः

संबंध—दूसरे अध्याय में संपूर्ण गीता-शास्त्र का अर्थ सूत्ररूप से भगवान् ने वर्णन किया है। पहले "न त्वेवाहं जातु नासं" (२, १२) से लेकर "देही नित्यमवध्योऽयं" (२, ३०) तक आत्मा का विवेक कराया, अर्थात् सांख्ययोग प्रतिपादन किया। इसके पीछे "बुद्धियोगे त्विमां शृणु" (२, ३९) से लेकर "कर्मजं बुद्धियुक्तो हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः" (२, ५१) तक कर्मयोग अर्थात् समत्वबुद्धि से कर्म में युक्त होने का विषय वर्णन किया, जिसमें पूर्णयुक्त होने से निरुपद्रव पद की प्राप्ति दर्शाई। फिर इस योग का साधनभूत स्थितप्रज्ञता, और स्थितप्रज्ञता के लक्षण तथा उसका साधनभूत इंद्रियों और मन का निरोध अध्याय पर्यंत निरूपण किया। परंतु इस स्थितिप्रज्ञ और संयमी पुरुष की ही अधिक प्रशंसा में अध्याय की समाप्ति होने से, और इसी की ही स्थिति को ब्राह्मी स्थिति सुनने से अर्जुन को यह संभावना हुई कि "भगवान् आप ही तो (श्लोक ५५ से ६७ तक) इंद्रियों के निरोध और स्थितप्रज्ञता की भारी प्रशंसा करते हैं, और फिर अंत में श्लोक ६८, ७० और ७१ द्वारा यह भी सिद्धांत निकालते हैं कि जिसकी इंद्रियाँ अपने-अपने अर्थों से संपूर्ण रुकी हुई हैं, वही स्थिर बुद्धिवाला होता है, वही शांति को पाता है, अन्य नहीं, और वही ब्राह्मी स्थितिवाला होता है।

परंतु मुझे फिर भी घोर कर्म में ही लगाते हैं।" इस प्रकार की संभावना में संशययुक्त और व्याकुल हुआ अर्जुन अब भगवान् से प्रश्न करता है, जिस पर तीसरा अध्याय आरंभ होता है—

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

ज्यायसी[६], चेत्[२], कर्मणः[३], ते[७], मता[५], बुद्धिः[४], जनार्दन[१]	हे जनार्दन[१]! यदि[२] कर्म[३] से बुद्धि[४] तेरी[७] (आपकी[७]) श्रेष्ठ[६] मानी[५] हुई है
तत्[१], किं[२], कर्मणि[४], घोरे[३]	फिर[१] क्यों[२] घोर[३] कर्म[४] में
मां[२], नियोजयसि[३], केशव[१]	हे केशव[१]! मुझे[२] लगाते[३] हो

व्यामिश्रेण[१], इव[२], वाक्येन[३],	मिले[१] हुए (मिले जुले) जैसे[२] वाक्य[३] से
बुद्धिं[३], मोहयसि[४], इव[१], मे[२]	मानों[१] मेरी[२] बुद्धि[३] को तू मोहता[४] है
तत्[१], एकं[२], वद[४], निश्चित्य[३]	वह[१] एक[२] (बात) निश्चय[३] करके कहो[४]
येन[१], श्रेयः[३], अहं[२], आप्नुयाम्[४]	जिससे[१] मैं[२] कल्याण[३] को प्राप्त[४] होऊँ

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे जनार्दन * ! यदि कर्म से बुद्धि को आप श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर मुझे क्यों (इस) घोर कर्म में लगाते हैं? हे केशव * ! (अपने इस) मिले-जुले जैसे † वाक्य से आप मेरी बुद्धि

---

* जनार्दन और केशव का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

† यहाँ 'इव' (जैसे) शब्द इसलिए कहा गया है कि वास्तव में तो आपका अभिप्राय मुझे संदेह में डालने का नहीं, और न आपके वचन ही वास्तव में ऐसे हो सकते हैं। पर मैं ही कम बुद्धि हूँ जिससे मैं उनको ठीक

को मानों मोह रहे हैं, (इसलिए) वह एक (बात) निश्चय करके कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ ॥ १, २ ॥

व्याख्या—दूसरे अध्याय के श्लोक ५५ से ७२ तक भगवान् ने स्थितबुद्धि की बड़ी ही प्रशंसा की है, और उसमें इंद्रियों का इंद्रियों के विषयों से निराकर्षित रहना, अर्थात् इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में न फँसने देना प्रतिपादन किया है। और उसी अध्याय के श्लोक ४७ में यह कहा है कि "हे अर्जुन ! तुझे कर्म में ही लगना चाहिए" इस प्रकार इन ऊपर से भिन्न-भिन्न वाक्यों (उपदेशों) को एक दूसरे से परस्पर विरुद्ध देखता हुआ अर्जुन अब यह सोच रहा है कि कर्म करने के लिए इंद्रियों का हिलाना-चलाना ज़रूरी है, और इनका हिलाना-चलाना विना विषय-संयोग के हो नहीं सकता, इसलिए विना विषय-संयोग के कर्म कदापि हो नहीं सकता। पर भगवान् कहते हैं कि विषयों में उन्हें न फसने देना अर्थात् उनका विषयों में न लगना ज़रूरी है, क्योंकि विना विषय-त्याग के स्थिरबुद्धित्व का पद प्राप्त नहीं होता, जो शांति का मूल कारण है। अब करना चाहिए तो क्या, और उपदेश ग्रहण करना चाहिए तो कौन सा ? कुछ पता नहीं लगता। इस प्रकार व्याकुल और मोहित हुआ अर्जुन अब भगवान् से ऐसे पूछता है कि हे मनुष्यों के दंड देनेवाले, अथवा हे मुक्तिप्रदाता कृष्णजी ! यदि कर्म करने की अपेक्षा स्थितबुद्धि होना (जो इंद्रियों को विषयों से नितांत रोकने से प्राप्त होती है) आप सबसे श्रेष्ठ समझते हैं, तो मुझे फिर युद्ध के इस घोर (भयानक) कर्म में क्यों लगाते हैं ? मुझे क्यों नहीं

नहीं समझ सका और स्वयं धोखे वा संदेह में पड़ रहा हूँ। सो मुझे स्पष्ट करके कहिए। यहाँ "मानों मोह रहे हो" का भी यही अभिप्राय है।

निष्कर्मता से इस स्थितप्रज्ञा को प्राप्त होने देते? मैं नहीं समझता कि ऐसा कराने में आपका क्या अभिप्राय है। फिर देखिए, कभी तो आप (त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन, इत्यादि वचनों से) वेद-निष्ठा का भी परित्याग सिखलाते हैं, और कभी (कर्मण्येवाधिकारस्ते, इत्यादि वचनों से) कर्म में लगना अर्थात् वेद-निष्ठा का ग्रहण सिखाते हैं। कभी आप (निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्, इत्यादि वाक्यों से) निवृत्ति-मार्ग का उपदेश देते हैं, और कभी (धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते, इत्यादि वाक्यों से) प्रवृत्तिमार्ग का। कभी-कभी आप वाक्य भी ऐसे कहते हैं कि जिससे स्पष्ट एक अर्थ नहीं, किंतु कई अर्थ निकल आते हैं। जैसे "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् धनञ्जय" इत्यादि वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि आप कर्म से हटा कर ज्ञान में प्रेरते हैं; और यह भी कि सकाम कर्म से हटाकर निष्काम कर्म में प्रेरते हैं। और कभी आप कर्म की प्रशंसा करते हैं, कभी स्थितबुद्धि व कर्मत्याग की। इस प्रकार के मिले-जुले जैसे वाक्यों से आप मानों मेरी बुद्धि को भ्रमा रहे या धोखे में डाल रहे हैं। यदि वैद्य पथ्य तो बता जाय और फिर आप ही विष दे, तो कहिए रोगी का क्या हाल होगा। मैं तो पहले से ही अज्ञानी हूँ, फिर मोहवश हुआ हूँ, और आपका मिला-जुला उपदेश मानों मुझे और उलझन में डाल रहा है, इसलिए हे देव! ऐसी गूढ़ भाषा में अथवा ऐसे अस्पष्ट भावार्थवाला कोई वाक्य जिससे मैं पहले से भी अधिक घबरा जाऊँ या धोखे में पड़ जाऊँ, आप न कहिए। किंतु भली भाँति विचारकर, स्पष्ट, सकल अर्थों से भरा हुआ और नितांत सरल भाषा में आप मुझे केवल एक तत्त्व (रहस्य) निश्चय करके बताइए कि जिसके अनुसार चलने से मेरा कल्याण हो जाय और त्रिविध दुःखों का नाश हो जाय॥ १, २॥

संबंध--अर्जुन के प्रश्न का उत्तर भगवान् अब ३५वें श्लोक तक सविस्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

लोके, अस्मिन्, द्वि-विधा, निष्ठा	इस लोक में दो प्रकार से निष्ठा	ज्ञान-योगेन, सांख्यानाम्	सांख्यों की ज्ञान-योग से
पुरा*, प्रोक्ता, मया, अनघ	हे निष्पाप (अर्जुन)! मुझ से पहले कही गई है	कर्म-योगेन, योगिनाम्	योगियों की कर्म-योग से

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा पहले मुझसे कही गई है। सांख्यों की ज्ञानयोग † से और योगियों की कर्मयोग से ॥ ३ ॥

---

* इस 'पुरा' शब्द पर तिलक महाराज की टीका इस प्रकार है—

"हमने 'पुरा' शब्द का अर्थ 'पहले' अर्थात् 'दूसरे अध्याय में' किया है। यही अर्थ सरल है, क्योंकि दूसरे अध्याय में पहले सांख्यनिष्ठा के अनुसार ज्ञान का वर्णन करके फिर कर्मयोगनिष्ठा का आरंभ किया गया है। परंतु 'पुरा' शब्द का अर्थ 'सृष्टि के आरंभ में' भी हो सकता है, क्योंकि महाभारत में नारायणीय या भागवत धर्म के निरूपण में यह वर्णन है कि सांख्य और योग (निवृत्ति और प्रवृत्ति) दोनों प्रकार की निष्ठाओं को भगवान् ने जगत् के आरंभ में ही उत्पन्न किया है (देखो शां० ३४० और ३४७)। 'निष्ठा' शब्द के पहले मोक्ष शब्द अध्याहृत हैं, 'निष्ठा' शब्द का अर्थ वह मार्ग है कि जिससे चलने पर अंत में मोक्ष मिलता है।"

† "युज्यते ब्रह्मणा अनेन स योगः" जिससे (कोई) ब्रह्म के साथ जुड़े, अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार करे, वह योग है। क्योंकि निष्काम कर्म

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ऐसे बोले—हे निष्पाप अर्जुन ! मुझ (सर्वज्ञ ईश्वर) से सृष्टि के आदि काल में (अथवा इससे पहले अध्याय दूसरे में) सबके कल्याणार्थ यही ब्राह्मी स्थिति (जो पूर्व अध्याय के अंत में स्पष्ट की गई है) दो प्रकार से वर्णन हुई है; अर्थात् जिन मार्गों वा साधनों से यह निष्ठा (जिसे ब्राह्मी स्थिति, या ब्रह्म में निष्ठा अथवा स्थिरबुद्धि से निजस्वरूप में स्थिति इत्यादि कहते हैं) प्राप्त होती है, वे दो हैं, ऐसा पूर्व मुझसे कहा गया है। एक ज्ञानयोग जिस मार्ग से तत्त्वचिंतन करनेवाले विवेकी (तत्त्ववेत्ता) पुरुष प्राप्त होते हैं, और दूसरा कर्मयोग जिस मार्ग से कर्मयोगी लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥*

व समत्वबुद्धि द्वारा अथवा तत्त्वचिंतन से ब्रह्म के साथ जुड़ना हो जाता है, अतएव कर्म और ज्ञान को योग शब्द से निरूपण किया है ।

* तात्पर्य इस सारे श्लोक का दो रीति से ऐसे है कि—

(१) इस संसार में बहुधा दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—एक तो तत्त्वविचार और उस विचारानुसार कर्म करने की आवश्यकतावाले और दूसरे (वाह्य कर्म से थक चुकने के कारण) एकांत स्थित हो तत्त्वचिंतन की आवश्यकतावाले । अर्थात् एक वे मनुष्य होते हैं, जिनको आत्मतत्त्व का तो विवेक नहीं, परंतु जो कामना वा स्वार्थबुद्धि से प्रेरित हुए विना सोचे-समझे कर्म करते हैं, जिससे कर्म की फाँस में फँस जाते हैं । इनके लिए तो कर्मारंभ से पूर्व आत्मतत्त्व के विवेक की आवश्यकता है, जिसके पाने पर वे अकर्तृस्वभाव तथा समत्वबुद्धि से कर्म करने के योग्य हो जाते हैं, जिस रीति द्वारा कर्म करने से वे फिर कर्मबंधन में नहीं आने पाते बल्कि स्थितप्रज्ञतारूपी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होते, और उसी स्थिति में निरंतर रहने से परमानंदरूप मोक्ष को पाते हैं । दूसरे वे (मनुष्य) होते

संबंध—(१) परंतु ज्ञानयोग से जब निष्ठा (सिद्धि) प्राप्त हो सकती है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि उस मार्ग पर चलनेवाला कर्म को नितांत छोड़ दे, क्योंकि—

हैं कि जिन्होंने शास्त्रों के अध्ययन तथा विचार वा सत्संग से आत्मतत्त्व को बुद्धि से तो पूरा-पूरा समझ लिया है, पर उस बुद्धि के पाने पर वे न वाह्य कर्म में प्रवृत्त होने की रुचि रखते हैं और न किसी अन्य रीति से उक्त तत्त्वविचार की परिपक्कता का प्रयत्न करते हैं, बल्कि चित्त में यह भाव उत्पन्न कर लेते हैं कि "अब तो हमें कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा," और इस भाव के अधीन होकर वे आलसी तथा निकम्मे बन बैठते हैं, जिससे वे न कर्म-फाँस से छूटने पाते हैं, और न ब्राह्मी स्थिति तथा मोक्ष ही को प्राप्त होने पाते हैं, बल्कि उलटा अधोगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए (इस तत्त्वविवेक के पाने पर) तत्त्वचिंतन अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि कर्म करने की आवश्यकता है ताकि अपने विवेक में वे परिपक्कता प्राप्त कर सकें और इसी तत्त्वचिंतनादि कर्म में निरंतर युक्त होते-होते वे प्रथम ब्राह्मी स्थिति और तत्पश्चात् उसी की परिपक्कता से निजानंदरूप मोक्ष को प्राप्त हो सकें। पहली आवश्यकतावाले मनुष्यों के लिए भगवान् ने कर्मयोग वर्णन किया है, और दूसरी आवश्यकतावाले मनुष्यों के लिए ज्ञानयोग कहा है। अर्जुन को तत्त्वविवेक और तदनुसार कर्म करने की आवश्यकतावाला देखकर भगवान् ने पहले (दूसरे अध्याय के श्लोक ३९ तक) उसे आत्मतत्त्व का विवेक कराया है और फिर (उसी अध्याय के अंत तक) उसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग इन दोनों उपायों को सहित फल के संक्षेप-पूर्वक कहा है। इन्हीं दो उपायों द्वारा ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति को भगवान् अब "लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।" ऐसा कहते हैं। दूसरी रीति से तात्पर्य ऐसे है कि—

(२) इस लोक में दो प्रकार के मनुष्य बहुधा होते हैं—एक शमप्रधान और दूसरे कर्मप्रधान। इस स्वभाव (प्रकृति वा अधिकार) के भेद से

अथवा (२) यदि यह तुम्हारा प्रश्न है कि जब ज्ञानयोग से ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो सकती है तो फिर मुझे ऐसे भयंकर (युद्ध के) कर्म में क्यों प्रवृत्त किया जाता है ? तो उसका कारण यह है कि—

एक ही ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के दो उपाय (साधन) कहे गये हैं । शमप्रधान विवेकी पुरुषों के लिए ज्ञानयोग जिसका वर्णन पूर्व अध्याय में (प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्....२, ५५ । तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।....२, ६८ इत्यादि श्लोकों से) किया है । और कर्मप्रधान योगी पुरुषों के लिए कर्मयोग जिसका वर्णन पूर्वाध्याय में (कर्मण्येवाधिकारस्ते....२, ४७ । योगस्थः कुरु कर्माणि....२, ४८ । इत्यादि श्लोकों से) किया है । शमप्रधान पुरुष दत्तात्रेय वा मुनि अष्टावक्र आदि हुए हैं, और कर्मप्रधान योगी राजा जनक, भगवान् रामचंद्र वा स्वयं भगवान् कृष्ण आदि हुए हैं ।

(एषा तेऽभिहिता सांख्ये....इत्यादि वचन से) यद्यपि दो प्रकार से निष्ठा (स्थिति वा भावना) वर्णन हुई है, तथापि यह दोनों प्रकार की निष्ठा वास्तव में एक है और इस एक ही के दो भेद हैं । इसलिए भगवान् आगे इनकी एकता को (एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति । ५, ५ । इत्यादि श्लोकों द्वारा) स्पष्ट करते हैं । और इसीलिए इस श्लोक में भी निष्ठा शब्द एकवचन से कहा गया है । यदि दोनों निष्ठा परस्पर विरुद्ध या स्वतंत्र होतीं, तो यहाँ इसी शब्द को 'निष्ठे' इस प्रकार द्विवचन से भगवान् वर्णन करते । शमप्रधान और कर्मप्रधान पुरुषों के कारण अथवा तत्त्वचिंतन और कर्मयोग की आवश्यकतावाले पुरुषों के कारण इस निष्ठा की प्राप्ति के मार्गों में चाहे परस्पर कुछ भेद हो, परंतु निष्ठा में किंचित्-मात्र भी भेद नहीं । जभी पुरुष जिस मार्ग से इस निष्ठा अर्थात् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ है, तभी निजानंद में ही कृतकृत्य हुआ है । ऐसा मस्त पुरुष चाहे ऊपर से (सांसारिक विषय या कुटुंबादि के त्याग से) संसारी पुरुषों के समान यज्ञादि कर्म अथवा अन्य काम्य कर्म न करता दिखाई दे, परंतु दुनिया के दुष्कर से दुष्कर कर्म इसी मस्त पुरुष से होते

अथवा (३) अधिकारानुसार कर्मयोग की आवश्यकता को भगवान् अब दर्शाते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न, कर्मणाम्, अनारम्भात्	न कर्मों के अनारंभ से	न, च, संन्यसनात्, एव	और न (कर्मों के नितांत) त्याग से ही
नैष्कर्म्यम्, पुरुषः, अश्नुते	निष्कर्मभाव को पुरुष भोगता (अनुभव करता) है	सिद्धि, समधिगच्छति	(पुरुष) सिद्धि को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—(परंतु) पुरुष न कर्मों के अनारंभ से निष्कर्मभाव को भोगता है, और न त्यागमात्र से ही सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥※

हैं । इसी से अपना वा संसार का उद्धार होता है । इसी से धर्म की वा संसार की रक्षा होती है, अन्य से नहीं । ऐसा मस्त पुरुष अपनी ब्रह्ममयी निष्ठा के कारण संसार से विरक्त होते हुए भी संसार में हलचल डाल देता है । इस निष्ठा को चाहे वह केवल तत्त्वचिंतन (एकांत अभ्यास) रूप क से प्राप्त हुआ हो, परंतु प्राप्त होने पर इसके बराबर कर्मी, धर्म-रक्षक, संसार के हिलानेवाला और सन्मार्ग में लगानेवाला कोई नहीं होता । श्रीरामचंद्र, जनक, अष्टावक्र, भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजी स्वयं, महात्मा बुद्ध और प्रसिद्ध श्रीशंकराचार्यजी इसमें स्पष्ट उदाहरण हैं । और आधुनिक काल के श्रीगुरुनानकजी, गुरु गोविंदसिंहजी, श्रीसमर्थ रामदासजी, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंदजी और बड़े एकांत निवासी परमहंस स्वामी रामतीर्थजी प्रसिद्ध उदाहरण हैं ।

※ इस श्लोक के उत्तरार्ध से यह बात झलकती है कि उस समय में भी कई लोगों में कर्म का नितांत त्याग रूप सन्यास प्रवृत्त था जिससे भगवान् को कहना पड़ा कि ख़ाली त्यागमात्र से ही सिद्धि नहीं मिलती ।

पहली व्याख्या—परंतु हे अर्जुन! कर्मों के न करने से कोई पुरुष निष्कर्मभाव को प्राप्त नहीं हो जाया करता; अर्थात् चित्त की वह निष्कर्म वा निष्काम अवस्था जिसके पाने से जन्म-मरण से छुटकारा होजाता है और कर्मफल बंधायमान करने नहीं पाताहै, ऐसी आंतर निष्कर्मता शारीरिक कर्मों के आरंभ ही न करने से कदापि प्राप्त नहीं हुआ करती। शारीरिक कर्मों के छोड़ने वा बंद करने से तो मन उलटा चंचल और अधिक कामनाओं वा संकल्प-विकल्पोंवाला हो जाया करता है, जिससे ज़िंदगी (जीवन) पहले से भी अधिक खराब हो जाती है। और न पुरुष संपूर्ण कर्म-त्याग से ही सिद्धि को पाता है। अर्थात् नियत वा आवश्यक अथवा लोकसंग्रह निमित्त इत्यादि सर्वप्रकार के कर्मों को नितांत छोड़ देने से किसी प्रकार की भी कायिक, वाचिक और मानसिक सिद्धि, अथवा लौकिक और पारलौकिक सिद्धि, अथवा धर्मार्थ-काम-मोक्षरूप सिद्धि को पुरुष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। पस, कर्म करते-करते ही पुरुष नैष्कर्म्य (निष्काम अथवा निष्कर्मता की अवस्था) को भोगता है और इस (भीतरी निष्कर्मता) की सिद्धि का अनुभव करता है, न कि कर्मों के नितांत त्याग से ऐसी अवस्था को वह प्राप्त कर सकता है। और जो ऐसा कहते हैं कि कर्म के छोड़ देने से ही निष्कर्मता प्राप्त होती है, सो व्यर्थ ही प्रलाप करते हैं; क्योंकि पार जाने का संकट जहाँ उपस्थित हो, वहाँ नौका का त्याग कैसे किया जा सकता है? अथवा उदर-तृप्ति हुई न हो तो रसोई बनानी कैसे छोड़ी जा सकती है? अथवा बनी हुई हो तो क्यों न खाई जानी चाहिए? जब तक निरिच्छता उत्पन्न नहीं होती, तब तक स्वार्थबुद्धि * से व्यापार होता ही रहता है, और

---

* संतुष्टता के प्राप्त होने पर शरीर के स्वाभाविक वा लोकोपकारार्थ व्यापार

संतुष्टता प्राप्त होने पर सहज ही में वह बंद पड़ जाता है। इसलिए हे पार्थ! तुझे आप कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। पर हाँ, जब कर्म करते-करते तुझे चित्त की निष्कर्मता (निष्काम अवस्था वा तृप्ति) प्राप्त होगी, तब (स्वार्थबुद्धि के) कर्म स्वतः बंद पड़ जायँगे, और तू फिर अपने स्वरूप में अचल स्थित हुआ सिद्धि को प्राप्त कर लेगा ॥ ४ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! कर्मों के न करने से कोई पुरुष निष्कर्मभाव को नहीं भोग सकता। अर्थात् शारीरिक कर्म को छोड़कर शरीर को केवल जड़वत् निष्क्रिया रखने से चित्त की निष्कर्मता न प्राप्त होती है और न कदापि भोगी जा सकती है, क्योंकि शरीर को क्रियाहीन करने से प्रथम तो मन अत्यंत चंचल, सकामी और रोगी हो जाताहै, जिससे वह वास्तव में निष्कर्मी होने ही नहीं पाता; और यदि आलस्य और रोग के कारण क्षणमात्र बिजली की चमक के समान वह निष्कर्म भाव को कभी प्राप्त हो भी जाय, तो क्षण भर से अधिक उसके भोगने का सौभाग्य वा समय ही उसे नहीं मिलता। और न संपूर्ण त्याग से ही पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है। अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के नितांत त्याग से अथवा किसी कारण से शरीर (देह) और अंतःकरण दोनों को नितांत जड़ वा निष्क्रिया रखने से ही किसी सिद्धि वा उन्नति की प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि जब हठपूर्वक अथवा मादक द्रव्यों के सेवन से शरीर और मन दोनों को जड़वत्

बंद नहीं पड़ जाया करते, केवल स्वार्थबुद्धि से कर्म करनेका भाव बंद पड़ जाता है; अर्थात् तृप्ति पर उसे कोई अर्थ-कामना नहीं रहती जिस कारण मरण पर्यन्त जो उससे कर्म होते हैं वे या तो स्वाभाविक या निःस्वार्थबुद्धि से, और या लोकोपकारार्थ होते हैं, उसका स्वार्थबुद्धि से कोई कर्म नहीं होता, इसलिए स्वार्थबुद्धि के व्यापार बंद पड़े कहे जाते हैं।

निष्कर्म अर्थात् क्रियाहीन किया जाता है, तब पुरुष स्वयं विवश वा अचेत होने से चित्त की निष्कर्म वा निष्काम अवस्था को नहीं किंतु जड़ अवस्था को प्राप्त हुआ होता है, जिससे न वह निष्कर्मभाव भोगने पाता है और न किसी प्रकार की लौकिक वा पारलौकिक अथवा व्यावहारिक वा पारमार्थिक सिद्धि ही पाता है, बल्कि सर्वप्रकार से हानि को ही प्राप्त होता है, जिससे ज़िंदगी पहले से भी अधिक दुःखी, व्याकुल और संकट-भरी हो जाती है। इसलिए हे अर्जुन ! यदि तू निष्कर्मभाव भोगना चाहता है और इस ज़िंदगी से कुछ लाभ उठाना चाहता है, तो पहले तू शारीरिक कर्म अर्थात् नियत वा आवश्यक कर्म को विना झजक के समत्वबुद्धि द्वारा कर। और जब कर्म करते-करते चित्त की निष्कर्मता (निष्कामता वा तृप्ति) प्राप्त होगी, तब कर्म स्वतः बंद पड़ जायगा और तू अपने स्वरूप में अचल स्थिति रूप सिद्धि को प्राप्त हो जायगा। संक्षेप से यह कि तू आप कर्म मत छोड़, क्योंकि कर्म छोड़ देने से नहीं छूटा करता। पर हाँ यदि कर्म द्वारा निष्कर्मता के दृढ़ प्राप्त होने पर कर्म अपने आप छूट जायँ, तो उस समय शोक मत कर, बल्कि अपने आपको तू धन्य वा कृतकृत्य समझ, क्योंकि उस अवस्था में कुछ हानि नहीं, उलटा सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४ ॥ *

---

* इस श्लोक और अगले श्लोक से ये तीन बातें स्पष्ट हो रही हैं कि (१) नैष्कर्म्य कोई शारीरिक कर्म शून्यता का नाम नहीं, किंतु चित्त की वह निष्कर्म अवस्था है कि जो समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते प्राप्त होती है और जिसमें स्थित हुआ पुरुष जब कोई कर्म करता है तो वह कर्म उसे बाँधता नहीं। (२) यह नैष्कर्म्य विना कर्म के प्राप्त नहीं होता। (३) कर्मों को नितांत त्यागने का कोई कितना ही यत्न क्यों न करे, पर वे त्यागे नहीं जा सकते। (इसका बाक़ी फ़ुट नोट पृष्ठ ३४५ पर देखो)

संबंध--(१) उक्त सिद्धांत का भगवान् अब हेतु कहते हैं—

अथवा (२) स्वेच्छा कर्मत्याग निष्फल ही नहीं किंतु असंभव भी है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) कोरे कर्मत्याग से क्यों सिद्धि नहीं मिलती, इसका कारण भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥*

न, हिं, कश्चित्, क्षणं, अपि	क्योंकि कोई क्षण भर भी नहीं	कार्यते, हिं, अवशः, कर्म, सर्वः, प्रकृति-जैः, गुणैः	क्योंकि (निःसंदेह) सब (प्राणिमात्र) को प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों से विवश होकर कर्म करना पड़ता है
जातु, तिष्ठति, अकर्म-कृत्	कभी विना कर्म किये के ठहरता (रहता) है		

अन्वयार्थ---क्योंकि कोई प्राणी क्षण भर भी विना कर्म किये के

इस 'नैष्कर्म्य' शब्द पर श्रीतिलक महाराज ऐसे टीका करते हैं—"यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि कर्म बंधक होता ही है। इसलिए पारे का उपयोग करने के पहले उसे मारकर जिस प्रकार वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं, उसी प्रकार कर्म करने के पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है कि जिससे उसका बंधकत्व या दोष मिट जाय। और, ऐसी युक्ति से कर्म करने की स्थिति को ही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं।

* किसी पुस्तक में यह श्लोक ऐसे छपा हुआ है—"कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैर्प्रकृतिजैर्गुणैः।" तब इसका अर्थ यह होगा कि—प्रकृति से उत्पन्न हुए सब गुणों से विवश होकर कर्म किया जाता है। अर्थात् प्रकृति के सब गुणों से मजबूर (लाचार) होकर पुरुष कर्म करता है।

कभी नहीं रहता है। कारण कि सब (प्राणिमात्र) को प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों से विवश होकर कर्म करना पड़ता ही है ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! कर्म के आरंभ न करने से निष्कर्मभाव क्यों नहीं भोगा जा सकता? अथवा कर्म को हठपूर्वक वा आलस्य से नितांत त्याग देने से क्यों पुरुष सिद्धि को नहीं प्राप्त होता? या मनुष्य को आप कर्म क्यों नहीं छोड़ना चाहिए? इसका मूल कारण यह है कि कोई प्राणी क्षणमात्र भी कभी क र्म किये के विना नहीं रह सकता, अर्थात् आप कर्म छोड़ देने से कभी नहीं छूटता, क्योंकि प्रकृति के जो सत्त्व, रजादि गुण हैं उनका नित्य स्वभाव कुछ न कुछ करते वा कराते रहना ही है। और शरीर इन्हीं गुणों से मिश्रित स्थित है। जब तक ये गुण इकट्ठे मिले रहते हैं, तब तक देह बनी रहती है। एक गुण के भी नितांत अभाव होने से देह का रहना असंभव है। इसलिए प्राणी इन गुणों से विवश हुआ कोई न कोई कर्म अवश्य करता ही रहता है। अर्थात् कर्म का नितांत त्याग प्राणी के अपने अधीन नहीं, बल्कि मृत्यु के अधीन है। और यदि संपूर्ण विहित वा कर्त्तव्य कर्मों को भी छोड़ दिया जाय, तो क्या इंद्रियों के स्वभाव तब बंद हो जायँगे? क्या कानों का सुनना, आँखों का देखना, नासिकाओं का सूँघना, मुख का बोलना, खाना-पीना अर्थात् क्षुधा, तृषा, प्राणापान की गति, सोना-जागना और पाँव का चलना-फिरना, इत्यादि तब बंद हो जायँगे? क्या इससे ये मन-बुद्धि संकल्प-विकल्प और इच्छा से रहित हो जायँगे? क्या इससे जन्म-मरण बंद हो जायगा? कदापि नहीं। जब ये बातें बंद नहीं हो सकतीं, तो त्याग किस कर्म का और कैसा? इसलिए मायाधीन मनुष्यों को कर्म का सर्व रूप से त्याग नितांत असंभव है। और जब पराधीनता के कारण प्रकृतिगुणों के हेतु कर्म का उपजना अवश्य है, तब "मैं कर्म करता

हूँ, या मैं कर्म का त्याग कर सकता हूँ" ऐसा मन में समझना नितांत व्यर्थ है। इस प्रकार प्रकृति-नियम के विरुद्ध चलकर कर्म को हठपूर्वक नितांत बंद कर देने से कोई सिद्धि वा उन्नति तो प्राप्त नहीं होती किंतु मृत्यु (अवनति) अवश्य लाभ होती है। अतएव कर्म को छोड़ने वा नितांत त्याग देने से नैष्कर्म्य और सिद्धि की आशा रखना सर्वथा अनुचित, असंभव और व्यर्थ है ॥ ५ ॥

संबंध—नैष्कर्म्य प्राप्त होने से पहले जो बाह्य कर्मों को छोड़ बैठता है, अथवा प्रकृति-नियम के विरुद्ध चलने का जो यत्न करता है, उस पुरुष की वास्तविक दशा को भगवान् अब कथन करते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

कर्म^{1}-इन्द्रियाणि^{2}, संयम्य^{3}	कर्म^{1}-इंद्रियों^{2} को रोक^{3} कर	विमूढ^{2}- आत्मा^{3}, मिथ्या^{4}- आचारः^{5}, सः^{1}, उच्यते^{6}	वह^{1} मूढ़^{2}-आत्मा^{3} (बेवक़ूफ़) झूठे^{4} आचार^{5}वाला अर्थात् कपटी कहलाता^{6} है
यः^{1}, आस्ते^{6}, मनसा^{2}, स्मरन्^{5}, इन्द्रिय^{3}-अर्थान्^{4}	जो^{1} मन^{2} से इंद्रियों^{3} के अर्थों^{4} (विषयों) को स्मरण^{5} करता हुआ बैठता^{6} है		

अन्वयार्थ—जो कर्मेंद्रियों को रोककर मन से इंद्रियों के विषयों को स्मरण करता हुआ बैठता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—और हे अर्जुन ! जो अभी नैष्कर्म्य को भी प्राप्त नहीं हुआ बल्कि जो मैले अंतःकरणवाला अर्थात् मलीन-चित्त है और

निज स्वभावविरुद्ध हाथ-पाँव आदि कर्मेंद्रियों को उनके अपने-अपने व्यापार से हठपूर्वक रोककर निष्क्रिय बैठता है, परंतु मन से विषयों का चिंतन करता रहता है, वह मूर्ख, कपटी, दंभी वा मिथ्याचारी कहलाता है। क्योंकि भीतर से चित्त तो काम करने को चाह रहा है, और मन विषयभोगों को स्मरण कर रहा है, परंतु बाहर से शरीर को बगले के समान जड़वत् स्थित करके ऐसा दिखला रहा है कि मानो चित्त समाधिस्थ है और नैष्कर्म्य को भोग रहा है। इसलिए ऐसे मूर्ख को लोग वा शास्त्र कपटी वा मिथ्याचारी कहते हैं ॥ ६ ॥

संबंध—(१) प्रकृति-विरुद्ध चलनेवाले मूढ़ात्मा (मूर्ख) पुरुष की वास्तविक दशा दर्शाकर अब भगवान् सच्चे निष्कर्मी वा निष्कामी पुरुष की दशा को स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) ऐसे बाहर से निष्कर्मी और भीतर से कर्मासक्त पुरुष की तुलना भगवान् भीतर से निष्कर्मी और बाहर से कर्मयुक्त के साथ यों करते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

यः^{२}, तु^{१}, इन्द्रियाणि^{४}, मनसा^{५}, नियम्य^{६}, आरभते^{७}, अर्जुन^{३}	और^{१} (परंतु^{१}) जो^{२}, हे अर्जुन^{३}! इंद्रियों^{४} को मन^{५} से रोक^{६} कर (कर्मयोग) आरंभ^{७} करता है	कर्म^{१}- इन्द्रियैः^{२}, कर्म^{३}-योगं^{४}	कर्म^{१}-इंद्रियों^{२} से कर्म^{३}-योग^{४} को (निरासक्त हुआ करता है)
		असक्तः^{२}, सः^{१}, विशिष्यते^{३}	वह^{१} निरासक्त^{२} (विशेषणवाला) कहा^{३} जाता है (या श्रेष्ठ होता है)

पहला अन्वयार्थ—और हे अर्जुन ! जो (ज्ञान) इंद्रियों को मन से रोककर कर्मेंद्रियों द्वारा कर्मयोग का आरंभ करता है, वह निरासक्त (विशेषणवाला) कहा जाता है ॥ ७ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—परंतु हे अर्जुन ! जो पुरुष (ज्ञान) इंद्रियों को मन से रोककर (स्वयं) निरासक्त हुआ कर्मेंद्रियों से कर्मयोग का आरंभ करता है, वह (उक्त मूढ़ात्मा से) श्रेष्ठ होता है ॥ ७ ॥ *

व्याख्या—और हे अर्जुन ! जो मनुष्य श्रोत्रादि ज्ञानेंद्रियों को मन से रोककर (अर्थात् मन के अधीन करके) कर्मेंद्रियों से कर्मयोग का आरंभ करता है, वह निरासक्त प्रसिद्ध होता है। अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा इन पाँचों ज्ञानेंद्रियों को जो पुरुष नित्य अपने मन के वश में रखता है और हाथ, पाँव, मुँह, गुदा तथा लिंग इन पाँच कर्मेंद्रियों से नियत वा आवश्यक कर्मों को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर करता रहता है, और उनके विकारों के अधीन नहीं होता, वह कर्मी निरासक्त रूप विशेषण से युक्त होता है, और वास्तव में निष्कर्मी कहलाता है । अथवा कर्म के फल को न चाहते हुए, या कर्म के साथ

---

* विषय के क्रमानुसार पहले अर्थ ठीक दीखते हैं, दूसरे वैसे ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व जब किसी वस्तु को अच्छा कह लें, तब उससे इतर को अधिक अच्छा वा श्रेष्ठ कहना ठीक होता है । परंतु श्लोक ६ में तो प्रकृति-विरुद्ध चलनेवाले पुरुष को अच्छा नहीं किंतु मूर्ख और कपटी कहा है, अर्थात् निषिद्ध पुरुष की उपाधि उसे दी है । ऐसी दशा में उससे अधिक अच्छे का भाव दूसरे श्लोक से स्पष्ट नहीं निकल सकता । पर श्रीशंकराचार्य और रामानुज आदि बहुत से टीकाकारों ने दूसरे अर्थ ही दिये हैं, और युक्त भी बैठाये जा सकते हैं, इसलिए वे भी सहित उनके भावों के दे दिये गये हैं ।

अहंकृत्वादि संबंध न रखते हुए जो पुरुष ज्ञानेंद्रियों को अपने वश में करके केवल कर्मेंद्रियों से कर्म में युक्त होता है, वह पुरुष श्रेष्ठ * होता है।

तात्पर्य इन दोनों श्लोकों का यह है कि हाथ-पाँव इत्यादि कर्मेंद्रियों से काम न लेने से तो लाभ कुछ भी नहीं होता, इनसे तो अवश्य काम लेना ही चाहिए (इसलिए अगले श्लोक में कहा है कि हे अर्जुन ! तू नियत कर्म अवश्य कर)। परंतु चक्षु, श्रोत्रादि ज्ञानेंद्रियों का वश में करना, अर्थात् इनको अपने-अपने विषयों से रोकना (आकर्षित वा चलायमान न होने देना) ज़रूरी और लाभदायक है, क्योंकि ऐसा करने से पुरुष न कर्म-फल में फँसने पाता है, न किसी भी कामना के वश में आता है, और न मोह-मल में लिप्त होने पाता है, बल्कि कँवल के पत्ते के समान निरासक्त और निर्मल ही रहता है, जिससे शीघ्र आत्म-साक्षात्काररूप मुक्ति को लाभ करता है। इसलिए ज्ञानेंद्रियों को अपने वश में करनेवाला और केवल कर्मेंद्रियों को कर्म में लगानेवाला तो निष्कर्मी वा निष्कामी नाम पाता है, और इससे उलटा चलनेवाला मूर्ख और मिथ्याचारी (कपटी) कहलाता है और इसीलिए यह (निष्कर्मी) उक्त मिथ्याचारी से श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ †

---

* कर्मयोग में इंद्रियों से वह उपयोग लिया जाता है जिसके लिए परमात्मा ने उन्हें रचा है। (प्रश्न) कर्मयोगी किससे बढ़ जाता है ? (उत्तर) मिथ्याचारी से (श्रीशंकराचार्य)। क्योंकि उसमें प्रमाद की संभावना ही नहीं रहती, इसलिए वह कर्मयोगी ज्ञाननिष्ठ पुरुष से भी बढ़कर होता है। (श्रीरामानुज)

† इस पर अन्य भाष्यकारों की कुछ विलक्षण व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—
"जिसका अंतःकरण निश्चल रहता है, जो परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहता है और बाह्यतः जैसा लोकाचार हो वैसा आचरण करता

संबंध—उक्त कथन को हेतु करके भगवान् अब अर्जुन को ऐसे उपदेश करते हैं—

हैं, वह इंद्रियों को आज्ञा नहीं करता, विषयों का भय नहीं रखता और जो उचित कर्म जिस समय करना अवश्य हो उसका त्याग नहीं करता। कर्मेंद्रिय कर्म में व्यापार करते हों तथापि वह उनका नियमन नहीं करता, परंतु उनके विकारों के अधीन नहीं होता। वह किसी भी कामना के वश नहीं होता और मोह-मल में लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता जल में रहते भी जल से नहीं भीगता, वैसे ही वह संसार में रहता है और सबके समान दिखाई देता है। जैसे पानी के संग से सूर्य का बिंब दिखाई देता है, वैसे ही सामान्यतः देखने से वह साधारण मनुष्य के समान दिखाई देता है। परंतु विचार कर देखने से उसकी स्थिति जान नहीं पड़ती। ऐसे लक्षणों से जो चिह्नित हो, उसी को मुक्त और आशापाश-रहित समझो। हे अर्जुन! जगत् में जिसकी विशेष कीर्ति होती है, ऐसा योगी वही है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम ऐसा बनो। मन का नियमन करो और अंतःकरण में निश्चल रहो, फिर चाहे कर्मेंद्रिय सुख से व्यापार करते रहें।" (श्रीज्ञानदेवजी)

"पिछले अध्याय में जो यह बतलाया गया है कि कर्मयोग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४९), उसी का इन दोनों (६, ७) श्लोकों में स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ साफ़-साफ़ कह दिया है कि जिस मनुष्य का मन तो शुद्ध नहीं है, पर केवल दूसरों के भय से या इस अभिलाषा से कि दूसरे मुझे भला कहें, केवल बाह्येंद्रियों के व्यापार को रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नहीं है, वह ढोंगी है। जो लोग इस वचन का प्रमाण देकर कि 'कलौ कर्त्ता च लिप्यते'—कलियुग में दोष बुद्धि में नहीं, किंतु कर्म में रहता है—यह प्रतिपादन किया करते हैं कि बुद्धि चाहे जैसी हो, परंतु कर्म बुरा न हो; उन्हें इस श्लोक में वर्णित गीता के तत्त्व पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सातवें श्लोक से यह बात प्रगट होती है कि निष्कामबुद्धि से कर्म करने के योग को ही गीता में

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियतं, कुरु, कर्म, त्वं	तू नियत कर्म कर	शरीर-यात्रा, अपि, च, ते	और तेरी शरीरयात्रा भी
कर्म, ज्यायः, हि, अकर्मणः	क्योंकि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ (बड़ा) है	न, प्रसिद्ध्येत्, अकर्मणः	अकर्म से नहीं सिद्ध होगी

अन्वयार्थ—(पस) तू नियत कर्म कर, क्योंकि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है। और तेरी शरीर-यात्रा भी अकर्म से सिद्ध नहीं होगी ॥ ८ ॥ *

'कर्मयोग' कहा है। संन्यासमार्गीय कुछ टीकाकार इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं कि यद्यपि यह कर्मयोग छटे श्लोक में बतलाये हुए दांभिक मार्ग से श्रेष्ठ है, तथापि यह संन्यासमार्ग से श्रेष्ठ नहीं है। परंतु यह युक्ति सांप्रदायिक आग्रह की है, क्योंकि न केवल इसी श्लोक में वरन् फिर पाँचवें अध्याय के आरंभ में और अन्यत्र भी, यह स्पष्ट कह दिया गया है कि संन्यासमार्ग से भी कर्मयोग अधिक योग्यता का या श्रेष्ठ है। इस प्रकार जब कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, तब अर्जुन को इसी मार्ग का आचरण करने के लिए उपदेश करते हैं।" (श्रीतिलक महाराज)

* इस निमित्त महाभारत (३, ३२, ३) में ऐसे लिखा है—

"कर्म खल्विह कर्त्तव्यं जानताऽमित्रकर्शन ।
अकर्मणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥"

अर्थ—हे शत्रुनाशक! ज्ञानी को अवश्य कर्म करना चाहिए; क्योंकि विना कर्म किये सिवाय अचर के और कोई भी नहीं जीता है।

पुनः—"अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्नहि काचन ।
तदेवाऽभिप्रपद्येत न विहन्यात्कदाचन ॥" (म. भा. ३, ३२, ८)

अर्थ—कोई कार्य न करनेवाले जीवों की कभी कोई जीविका नहीं

व्याख्या—और हे अर्जुन ! क्योंकि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है अर्थात् बेकार रहने से कर्म का करते रहना बहुत अच्छा है, और शरीर का निर्वाह भी बिना कर्म के कदापि हो नहीं सकता, जिससे कर्म अवश्य करना पड़ता है । इसलिए तू निषिद्ध वा अनुचित कर्मों को छोड़कर केवल उन कर्मों को निरासक्त चित्त से कर कि जो आवश्यक कर्त्तव्य हों, या जो शारीरिक प्रकृति के अनुसार नियत वा स्वाभाविक और उचित हों, या जो अवसर से स्वतः आ प्राप्त हों । ऐसा करने से तेरी शरीर-यात्रा (ज़िंदगी) भी सफल होगी और निष्कर्मभाव को भी तू ठीक भोग सकेगा ॥ ८ ॥ *

संबंध—(१) उक्त उपदेश देकर अब भगवान् यह स्पष्ट करने लगे हैं कि कौन सा कर्म किस रीति से किया हुआ पुरुष को बंधायमान करता है, और कौन सा कर्म किस रीति से किया हुआ बंधन से मुक्त करता है—

अथवा (२) जब कर्म बंधन का हेतु होता है, तो संभव है कि नियत कर्म भी पुरुष को बंधायमान कर दे । ऐसी संभावना की निवृत्ति के लिए भगवान् अब यह नियम स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) क्योंकि निष्कर्मी से कर्मयोगी श्रेष्ठ है और इसी से शरीर-यात्रा ठीक चल सकती है, इसलिए अर्जुन को भगवान् निम्नलिखित रूप से अब उपदेश करते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

हो सकती, इसलिए कर्म का अवलंबन अवश्य करे और उसका परित्याग कभी न करे ।

* यह "तदेकं वद निश्चित्य" (निश्चय करके एक बात कहो) का उत्तर दे दिया गया ।

यज्ञ-अर्थात्, कर्मणः, अन्यत्र	यज्ञ निमित्त कर्म से अतिरिक्त (अन्य कर्म)	तत्-अर्थं, कर्म, कौन्तेय, मुक्त-सङ्गः, समाचर	उस निमित्त कर्म, को, हे अर्जुन ! तू संग से रहित होकर कर
लोकः, अयं, कर्म-बन्धनः	यह लोक कर्म-बंधन है		

अन्वयार्थ—यज्ञ * निमित्त कर्म के सिवाय अन्य (कर्म) से यह लोक कर्म-बंधन है। उस (यज्ञ) निमित्त कर्म को, हे अर्जुन ! तू संग से रहित होकर कर ॥ ९ ॥

---

* "यज्ञो वै विष्णुः", इति श्रुति। यज्ञ निःसंदेह विष्णु है। इस श्रुति के अनुसार यज्ञ यहाँ ईश्वर का वाचक है। उस (ईश्वर) के निमित्त कर्म (श्रीशंकराचार्य)। (२) यज्ञ अर्थात् देवता का आराधन, क्योंकि "यज देवपूजायाम्" धातु है (श्रीनीलकंठ)। (३) यज्ञादि जो शास्त्रीय कर्म हैं, उनके लिए जो धन का उपार्जन आदि किया जाता है, वह बंधन में नहीं डालता। उसके सिवाय जो उपार्जन केवल अपना प्रयोजन साधन के लिए किया जाता है, वह बंधन का हेतु होता है। सो तू मुक्त संग होकर अर्थात् अपना प्रयोजन छोड़कर केवल यज्ञादि के लिए कर्म कर। ऐसा करने पर यज्ञादि कर्मों से प्रसन्न भया परमपुरुष कर्म-कर्त्ता की क्षुद्र वासनाओं को उखाड़कर अपना दर्शन देता है। (श्री-रामानुज)। (४) वेदों में यह स्पष्ट है कि यज्ञादि कर्मों से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है जिससे कल्प पर्यंत जीव मुक्त रहता है, और इस मनुष्य-लोक में कल्प तक वह पुनः आता नहीं, और यदि निरासक्त चित्त से ये यज्ञ केवल कर्त्तव्य समझकर किये जायँ, तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति पर ब्रह्मा से तत्वज्ञान मिलता है, जिसे पाते ही जीव कैवल्यमुक्ति को भी पा लेता है। और सर्वप्रकार का ईश्वरार्पणार्थ कर्म जो निरासक्त व समत्वबुद्धि पुरुष से किया जाता है, वह नैष्कर्म्यसिद्धि दिलाता हुआ सीधा कैवल्यमुक्ति को

व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू यह कहे कि (कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । इति स्मृति) "कर्म से यह जीव संसार में बँध जाता है और विद्या से छूट जाता है, इसलिए कोई कर्म न करना चाहिए" । तो यह स्मृति-वाक्य सर्वथा उपयोगी नहीं, क्योंकि यज्ञ निमित्त कर्म अर्थात् वैदिक कर्म अथवा ईश्वरार्पण निमित्त कर्म, अथवा देवताराधनार्थ कर्म, या वह कर्म जो देव, पितृ, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि की पूजा और परोपकार के उद्देश्य से वा आत्मोन्नति के लिए निरासक्त चित्त से किया जाय, ऐसे कर्म से अतिरिक्त जितने भी और कर्म हैं उनसे यह मनुष्य-लोक (जन्म-मरणरूप संसार) बँधा हुआ है । अर्थात् यज्ञ निमित्त कर्म के सिवाय अन्य कर्म से मनुष्य इस जन्म-मरणरूप संसार के साथ बँध जाता है जिस कारण जन्म-मरण से मुक्त होने नहीं पाता । इसलिए, हे कुंती-पुत्र अर्जुन ! तू अन्य कर्मों को छोड़कर यज्ञार्थ कर्म अवश्य कर, पर वह भी कर्म के संग को छोड़कर. अर्थात् कर्म-फल की तृष्णा और कर्तृत्वादि संग-दोष से रहित होकर, तू केवल यज्ञ निमित्त कर्म को कर ॥ ९ ॥ *

प्राप्त कराता है, कल्पपर्यंत मुक्ति को नहीं, जिससे जीव इस संसार के साथ नितांत निःसंबंध हो जाता है । इस प्रकार यज्ञ शब्द के दोनों अर्थों (वैदिक कर्मकांड, वा ईश्वरार्पण निमित्त कर्म) से मनुष्य इस संसार के साथ बँधता नहीं । इसलिए यज्ञ शब्द के दोनों अर्थ यद्यपि यहाँ ठीक बैठ सकते हैं तथापि पहला अर्थ अधिक सरल, बिना खैंचातानी का और स्पष्ट है । (टीकाकार)

* इस पर श्रीतिलक महाराज की सविस्तर व्याख्या इस प्रकार है—

"इस श्लोक के पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धांत बतलाया गया है । मीमांसकों का कथन है कि जब वेदों ने ही यज्ञ-यागादि कर्म मनुष्यों के लिए नियत कर दिये हैं और जब कि ईश्वर-निर्मित सृष्टि का व्यवहार ठीक-ठीक चलते रहने के लिए यह

संबंध—अब भगवान् इस यज्ञ निमित्त कर्म की आज्ञा वा कर्त्तव्यता को प्रजापति के वचन से दृढ़ करते हैं—

यज्ञ-चक्र आवश्यक है, तब कोई भी इन कर्मों का त्याग नहीं कर सकता ; यदि कोई इनका त्याग कर देगा तो समझना होगा कि वह श्रौतधर्म से वंचित हो गया । परंतु कर्मविपाक-प्रक्रिया का सिद्धांत है कि प्रत्येक कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है ; इसके अनुसार कहना पड़ता है कि यज्ञ के लिए मनुष्य जो-जो कर्म करेगा उसका भला या बुरा फल भी उसे भोगना ही पड़ेगा । मीमांसकों का इस पर यह उत्तर है कि वेदों की ही आज्ञा है कि 'यज्ञ' करना चाहिए ; इसलिए यज्ञार्थ जो-जो कर्म किये जावेंगे वे सब ईश्वरसम्मत होंगे ; अतः उन कर्मों से कर्त्ता बद्ध नहीं हो सकता । परंतु यज्ञों के सिवा दूसरे कर्मों के लिए—उदाहरणार्थ केवल अपना पेट भरने के लिए—मनुष्य जो कुछ करता है वह, यज्ञार्थ नहीं हो सकता ; उसमें तो केवल मनुष्य का ही निजी लाभ है । यही कारण है जो मीमांसक उसे 'पुरुषार्थ' कर्म कहते हैं, और उन्होंने निश्चित किया है कि ऐसे यानी यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्म अर्थात् पुरुषार्थ कर्म का जो कुछ भला या बुरा फल होता है, वह मनुष्य को भोगना पड़ता है—यही सिद्धांत उक्त श्लोक की पहली पंक्ति में है । कोई-कोई टीकाकार यज्ञ=विष्णु, ऐसा गौण अर्थ करके कहते हैं कि 'यज्ञार्थ' शब्द का अर्थ विष्णुप्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पणपूर्वक है ; परंतु हमारी समझ में यह अर्थ खैंचातानी का और क्लिष्ट है । यहाँ पर प्रश्न होता है कि यज्ञ के लिए जो कर्म करने पड़ते हैं, उनके सिवा यदि मनुष्य दूसरे कर्म कुछ भी न करे, तो क्या वह कर्म-बंधन से छूट सकता है ? क्योंकि यज्ञ भी तो कर्म ही है और उसका स्वर्गप्राप्ति रूप जो शास्त्रोक्त फल है वह मिले विना नहीं रहता । परंतु गीता के दूसरे ही अध्याय में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है कि यह स्वर्गप्राप्ति रूप फल मोक्षप्राप्ति के विरुद्ध है (देखो गी० २. ४०, ४४ और ९. २०, २१) । इसीलिए उक्त श्लोक के दूसरे चरण में यह बात फिर बतलाई गई है कि मनुष्य

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

को यज्ञार्थ जो कुछ नियत कर्म करना होता है उसे भी वह फल की आशा छोड़कर, अर्थात् केवल कर्त्तव्य समझकर, करे और इसी अर्थ का प्रतिपादन आगे सात्त्विक यज्ञ की व्याख्या करते समय किया गया है (देखो गीता. १७. ११ और १८. ६) । इस श्लोक का भावार्थ यह है कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और सो भी फलाशा छोड़कर करने से, (१) वे मीमांसकों के न्यायानुसार ही किसी भी प्रकार मनुष्य को बद्ध नहीं करते, क्योंकि वे तो यज्ञार्थ किये जाते हैं और (२) उनका स्वर्गप्राप्ति रूप शास्त्रोक्त एवं अनित्य फल मिलने के बदले मोक्ष-प्राप्ति होती है, क्योंकि वे फलाशा छोड़कर किये जाते हैं । आगे १९वें श्लोक में और फिर चौथे अध्याय के २३वें श्लोक में यही अर्थ दुबारा प्रतिपादित हुआ है । तात्पर्य यह है कि, मीमासकों के इस सिद्धांत—'यज्ञार्थ कर्म करना चाहिए क्योंकि बंधक नहीं होते'—में भगवद्गीता ने और भी यह सुधार कर दिया है कि 'जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हें भी फलाशा छोड़कर करना चाहिए ।' किंतु इस पर भी यह शंका होती है कि मीमांसकों के सिद्धांत को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न करके यज्ञ-यागादि गार्हस्थ्यवृत्ति को जारी रखने की अपेक्षा, क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि कर्मों की झंझट से छूटकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब कर्मों को छोड़-छाड़कर संन्यास ले ले ? भगवद्गीता इस प्रश्न का साफ़ यही एक उत्तर देती है कि 'नहीं' । क्योंकि यज्ञ-चक्र के बिना इस जगत् के व्यवहार जारी नहीं रह सकते । अधिक क्या कहें, जगत् के धारण-पोषण के लिए ब्रह्मा ने इस चक्र को प्रथम उत्पन्न किया है; और जब कि जगत् की सुस्थिति या संग्रह ही भगवान् को इष्ट है, तब इस यज्ञ-चक्र को कोई भी नहीं छोड़ सकता । अब यही अर्थ अगले श्लोक में बतलाया गया है । इस प्रकरण में, पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि

सह^{1}-यज्ञाः^{2}, प्रजाः^{3}, सृष्ट्वा^{4}	सहित^{1} यज्ञों^{2} के प्रजाओं^{3} को उत्पन्न^{4} करके
पुरा^{1}, उवाच^{3}, प्रजापतिः^{2}	पहले^{1} (आदि में) प्रजापति^{2} बोले^{3}
अनेन^{1}, प्रसविष्यध्वम्^{2}	इस^{1} (यज्ञ) से तुम बढ़ो^{2} (फलो-फूलो)
एषः^{1}, वः^{2}, अस्तु^{6}, इष्ट^{3}-काम^{4}-धुक्^{5}	यह^{1} तुम्हारी (तुम^{2}को) अभीष्ट^{3} कामनाओं^{4} का पूरा^{5} करनेवाला हो^{6}

अन्वयार्थ—पहले सहित यज्ञों के प्रजाओं को उत्पन्न करके प्रजापति यह बोले कि "इस (यज्ञ) से तुम फलो-फूलो, और यह (यज्ञ) तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं का पूरा करनेवाला हो" ॥१०॥

व्याख्या—इस संसार में प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे के तईं परस्पर अर्पण होने से वृद्धि को पाता है। जैसे वृक्ष अपनी वायु मनुष्यों को स्वतः अर्पण करता है और मनुष्य अपने मुँह की वायु सदा वृक्षों को अर्पण करता रहता है, जिससे दोनों की वृद्धि वा पुष्टि होती रहती है। ऐसे ही अन्न शरीर के अर्पण होकर उसकी पुष्टि करता है, शरीर अपनी विष्ठा खेती के अर्पण करने से अन्न की वृद्धि करता है। इसी प्रकार द्रव्यमय यज्ञ द्वारा देवताओं को आहुतियाँ देने से वे प्रसन्न और संतुष्ट होते हैं, और देवता वर्षा इत्यादि द्वारा अन्न (द्रव्यों) की वृद्धि करते हुए मनुष्यों को प्रसन्न और संतुष्ट करते हैं * अथवा

'यज्ञ' शब्द यहाँ केवल श्रौत यज्ञ के ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, किंतु उसमें स्मार्त यज्ञों का तथा चातुर्वर्ण्य आदि के यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मों का समावेश है।"

* मनुसंहिता (३. ७६) में ऐसे लिखा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

ईश्वरनिमित्त कर्म करने से ईश्वरभाव रिझता है, जिस भाव के रिझने पर मनुष्य का अंतःकरण शुभ और भगवद्दर्शन से जीवन सफल होता है। इस प्रकार इस प्रपंच (संसार) में सर्व वस्तु इस परस्पर अर्पण के नियम (यज्ञ) पर स्थिर है, और इसी से वृद्धि को पाती है। इस अर्पण रूप यज्ञ-कर्म को अटल और ईश्वरीय नियम दर्शाने के लिए भगवान् यह श्रुति वर्णन करते हैं कि "सृष्टि के आदि में ही प्रजापति (अर्थात् ब्रह्मा) सब प्रजाओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वा जीवजंतु इत्यादि) को सहित यज्ञों के रचकर (उत्पन्न करके) उन प्रजाओं से ऐसा बोले कि हे मनुष्यो (वा प्राणियो)! आप सब इस यज्ञ (अर्पण रूप नियम) के द्वारा फलो-फूलो, और यह अर्पण का नियम (यज्ञ) तुम्हारी मनमाँगी (अभीष्ट) कामनाओं का इस प्रकार से पूर्ण करनेवाला हो जैसे इंद्र की कामधेनु गाय माँगनेवाले को मनमाँगे पदार्थ देती है। यह मेरा आशीर्वाद है। अर्थात् जो कोई इस अर्पण के नियम रूप यज्ञ को पालता रहेगा, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण होती रहेंगी, और उसे वांछित फल अवश्य प्राप्त होते रहेंगे, ऐसी मेरी आशिष है।" ॥ १० ॥

संबंध—प्रजापति ने और जो कहा, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अर्थ—अग्नि में हवन करने पर वह आहुति सूर्यदेवता को प्राप्त होती है, और सूर्यदेवता की कृपा से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति है।

देवान्^{2}, भावयत^{3}, अनेन^{1}	इस^{1} (यज्ञ) से देवताओं^{2} को संतुष्ट^{3} करो	परस्परं^{1}, भावयन्तः^{2}, श्रेयः^{4}, परं^{3}, अवाप्स्यथ^{5}	परस्पर^{1}(एक दूसरे को) संतुष्ट^{2} करते हुए तुम दोनों परम^{3} कल्याण^{4} को प्राप्त^{5} होओ
ते^{1}, देवाः^{2}, भावयन्तु^{4}, वः^{3},	वे^{1} देवता^{2} तुम^{3} को संतुष्ट^{4} करें		

अन्वयार्थ—इस (यज्ञ) से तुम देवताओं को संतुष्ट करो, और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर (एक दूसरे को) संतुष्ट करते हुए तुम दोनों परम कल्याण को प्राप्त होओ ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इससे आगे प्रजापति ने ऐसा कहा कि ऐ प्रजा ! इस अर्पणरूप क्रिया अर्थात् यज्ञ से तुम इंद्र, वायु आदि सब देवता, * अथवा आचार्य, पितृ आदि देवताओं को संतुष्ट

---

* देवता दिव्य शक्ति को कहते हैं। इस एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न आविष्करण (अज़हार) होते हैं, जो नाना रूपों में प्रकट होते हैं। इन्हीं रूपों के कारण इस एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम (इंद्र, वरुण, वायु आदि) हैं। 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। अतिथिदेवो भव। आचार्यदेवो भव' (तै०, १, ११, १) ऐसे वाक्य भी वेदों में आये हैं, जिससे माता-पिता, आचार्य और अतिथि को भी देवता मानने की आज्ञा है। और देवता का अर्थ गीता और उपनिषदों में बहुत स्थान पर इंद्रिय भी आया है। इसलिए यह यज्ञरूप अर्पण का नियम नाना प्रकार से बर्ताव में लाया जाता है। यदि इसी नियम को ज्ञानयज्ञ के रूप में बरता जाय और ज्ञानयज्ञ से देवताओं को पुष्ट वा संतुष्ट करना अभिप्रेत हो, तो श्लोक की व्याख्या यह होगी—"तुम इंद्रियों के तईं उनका उचित और स्वाभाविक आहार अर्पण करके उनको पुष्ट वा संतुष्ट करो। और वे पुष्ट वा संतुष्ट हुई इंद्रियाँ तुम्हें अपने बल और गुणों से पुष्ट वा संतुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की सेवा से पुष्ट वा संतुष्ट होते हुए तुम दोनों परम

(प्रसन्न) करो। और वे (देवता) जल-वृष्टि आदि से अन्न की उत्पत्ति द्वारा, अथवा पुत्र-पौत्रादि समृद्धियों से तुम्हें संतुष्ट (पुष्ट) करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की वृद्धि, पुष्टि वा प्रसन्नता करते हुए तुम दोनों परम कल्याण को प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥*

कल्याण को प्राप्त होओ, जिससे परमानंद की प्राप्ति और दुःखों की निवृत्ति रूप फललाभ हो।" (टीकाकार)

* श्रीज्ञानदेवजी उक्त १०, ११ श्लोकों की व्याख्या ऐसे करते हैं—

"जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि इत्यादि की रचना की, उस समय संपूर्ण प्राणियों के साथ ही नित्य यज्ञ उत्पन्न किया। परंतु गूढ़ होने के कारण उन्होंने उस यज्ञ को नहीं पहचाना। तब प्रजागणों ने ब्रह्मदेव की विनती की कि हे देव! हमें यहाँ क्या आश्रय है? तब वे कमल-जन्मा ब्रह्मदेव प्राणियों से कहने लगे कि हमने तुम्हारी वर्णव्यवस्थानुसार स्वधर्म की रचना की है, इसकी उपासना करो तो तुम्हारे मनोरथ सहज ही पूर्ण होंगे। तुम व्रत नियमादि मत करो, शरीर को पीड़ा न दो, तीर्थ के लिए दूर कहीं मत जाओ, योगादिक साधन, कामनिक आराधन और तांत्रिक अनुष्ठान न करो, दूसरे देवताओं को न भजो, ये बातें बिलकुल कुछ भी न करो। किंतु विना कष्ट के स्वधर्मरूपी यज्ञ का यजन करो। इसका निष्काम चित्त से अनुष्ठान करो। जैसे पतिव्रता पति की सेवा करती है, वैसा स्वधर्मरूपी यज्ञ यही एक तुम्हारा सेव्य है। सत्य लोक-नायक ब्रह्मदेव ने और भी कहा कि हे प्रजागण! स्वधर्म की उपासना करोगे तो वह तुम्हारी कामधेनु बनेगा, और कभी तुम्हारा त्याग न करेगा। जब इस स्वधर्म की सेवा से संपूर्ण देवताओं को संतोष होगा, तब वे तुम्हारे इष्ट हेतु पूर्ण करेंगे। स्वधर्म का आदर करने से सब देवतागण निश्चय से तुम्हारा योग-क्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु का पालन) करेंगे। और तुम देवों का भजन करो, और देव तुम पर संतुष्ट हों। ऐसा जब आपस में प्रेम उपजेगा, तब तुम जो कुछ करना चाहोगे सो आप ही सिद्ध हो जायगा। मन की कामनाएँ

संबंध—और जो प्रजापति ने कहा, उसे भी भगवान् अब कहते हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

इष्टान्[3],	तुम्हें[1] निःसंदेह[2]	तैः[1], दत्तान्[2],	उन[1] (देवताओं)
भोगान्[4],	मन वांछित[3] भोगों[4]	अप्रदाय[4],	से दिये[2] हुओं को
हि[2], वः[1]	को	एभ्यः[3]	उनके[3] तईं न[4] देकर
देवाः[3],	यज्ञ[1] से संतुष्ट[2]		
दास्यन्ते[4],	(प्रसन्न) हुए	यः[1], भुंक्ते[2],	जो[1] भोगता[2] है
यज्ञ[1]-भाविताः[2]	देवता[3] देंगे[4]	स्तेनः[4], एव[5], सः[3]	वह[3] चोर[4] ही[5] है

अन्वयार्थ—यज्ञ * से संतुष्ट हुए देवता तुम्हें निःसदेह मन-वांछित भोगों को देंगे। और उन (देवताओं) से दिये हुए भोगों को जो उन (देवताओं) के तईं विना अर्पण किये के भोगता है, वह चोर ही है ॥ १२ ॥

पूर्ण हो जायँगी, वाचासिद्धि प्राप्त होगी, तुम आज्ञाकर्त्ता बनोगे, और महारिद्धि तुम्हारी आज्ञा माँगेगी ॥ १०, ११ ॥"

* यज्ञ, शतपथ ब्राह्मण में मुख्यतः पाँच भेद से वर्णन हुआ है—"पंच एव महायज्ञाः तान्येव महासूत्राणि । १ भूतयज्ञो, २ मनुष्ययज्ञः, ३ पितृयज्ञो, ४ देवयज्ञो, ५ ब्रह्मयज्ञ इति" । (१) पशु-पक्षी को बलि अर्थात् भोजन, जल देना भूतयज्ञ है । (२) अतिथियों का सत्कार मनुष्ययज्ञ है । (३) श्राद्ध, पिंडदान और तर्पण करना पितृयज्ञ है। (४) अग्निहोत्रादि करना देवयज्ञ है। (५) वेदों को पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, इसे ऋषियज्ञ भी कहा गया है । इन महायज्ञों के साधन से आत्मोन्नति होती है ।

व्याख्या--हे अर्जुन ! इससे आगे प्रजापति ने यह कहा कि हे प्रजा ! इस प्रकार श्रौत-स्मार्त यज्ञरूप धर्म से प्रसन्न हुए इंद्रादिक देवता तथा पितृ, आचार्यरूप देवता तुमको निःसंदेह (अवश्यमेव) मन-वांछित भोग (अर्थात् अन्न, पशु, सुवर्ण इत्यादि अभिलषित भोग) देंगे। और उन प्राप्त हुए भोगों को जो पुनः देवताओं (अर्थात् देनेवाले) के तईं अर्पण किये के बिना ही भोगता है, वह (देवऋण न चुकानेवाला) निःसंदेह चोर ही है। अर्थात् जो प्राप्त हुए भोगों से देवताओं की पूजा नहीं करता, अग्नि में हवन नहीं करता, यथाकाल ब्राह्मणों को भोजन नहीं देता; गुरुभक्ति से विमुख रहता है, अतिथि का सत्कार नहीं करता, और अपनी जाति को संतोष नहीं देता। ऐसा स्वधर्म-कर्मरहित पुरुष संपत्ति के कारण साभिमान होने से कृतघ्न वा चोर-स्वभाव ही होता है। अथवा जो पुरुष इंद्रियरूप देवताओं को पुष्ट वा संतुष्ट करने से उनकी सहायता द्वारा मन-वांछित भोग पाता है, और फिर उन प्राप्त हुए भोगों को सर्वजनों के इंद्रियरूपी देवताओं के तईं अर्पण किये बिना ही भोगता है, वह विचारदृष्टि से निःसंदेह चोर ही होता है ॥ १२ ॥*

---

* उक्त १०, ११, १२ श्लोकों पर श्री तिलक महाराज इस प्रकार टीका करते हैं—

"जब ब्रह्मा ने इस सृष्टि अर्थात् देव आदि सब लोकों को उत्पन्न किया, तब उसे चिंता हुई कि इन लोगों का धारण-पोषण कैसे होगा। महाभारत के नारायणीय धर्म में वर्णन है कि ब्रह्मा ने इसके बाद हज़ार वर्ष तक तप करके भगवान् को संतुष्ट किया; तब भगवान् ने सब लोगों के निर्वाह के लिए प्रवृत्ति-प्रधान यज्ञ-चक्र उत्पन्न किया, और देवता तथा मनुष्य दोनों से कहा कि इस प्रकार बर्ताव करके एक दूसरे की रक्षा करो। उक्त श्लोक (१०, ११) में इसी कथा का कुछ शब्द-भेद से अनुवाद

संबंध—अब भगवान् इस यज्ञ के नियम पर चलनेवालों व तोड़नेवालों (इन दोनों) के परिणाम (फल) में भेद दर्शाते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञ^{1}-शिष्ट^{2}-अशिन^{3}:, सन्त^{4}:	यज्ञ^{1} से बचा^{2} हुआ खानेवाले^{3} सत्पुरुष^{4} (भले पुरुष)	भुञ्जते^{5}, ते^{2}, तु^{1}, अघं^{4}, पापा^{3}:	परंतु^{1} वे^{2} पापी^{3} पाप^{4} को भोगते^{5} हैं
मुच्यन्ते^{3}, सर्व^{1}-किल्बिषै^{2}:	सब^{1} पापों^{2} से मुक्त^{3} होते हैं (छूट जाते) हैं	ये^{1}, पचन्ति^{4}, आत्म^{2}-कारणात्^{3}	जो^{1} अपने^{2} वास्ते^{3} पकाते^{4} हैं

किया गया है (देखो म० भा० शां० ३४०, ३८ से ६२)। इससे यह सिद्धांत और भी अधिक दृढ़ हो जाता है कि प्रवृत्ति-प्रधान भागवतधर्म के तत्त्व का ही गीता में प्रतिपादन किया गया है। परंतु भागवतधर्म में यज्ञों में की जानेवाली हिंसा गर्ह्य मानी गई है (देखो म० भा० शां० ३३६ और ३३७), इसलिए पशुयज्ञ के स्थान में प्रथम द्रव्यमय यज्ञ शुरू हुआ और अंत में यह मत प्रचलित हो गया कि जपमय यज्ञ अथवा ज्ञानमय यज्ञ ही सबमें श्रेष्ठ है (गी० ४, २३-३३)। 'यज्ञ' शब्द से मतलब चातुर्वर्ण्य के सब कर्मों से है; और यह बात स्पष्ट है कि समाज का उचित रीति से धारण-पोषण होने के लिए इस यज्ञ-कर्म या यज्ञ-चक्र को अच्छी तरह जारी रखना चाहिए (देखो मनु, १, ८७)। अधिक क्या कहें; यह यज्ञ-चक्र आगे बीसवें श्लोक में वर्णित लोक-संग्रह का ही एक स्वरूप है। इसी लिए स्मृतियों में भी लिखा है कि देवलोक और मनुष्यलोक दोनों के संग्रहार्थ भगवान् ने ही प्रथम जिस लोकसंग्रहकारक कर्म को निर्माण किया है, उसे आगे अच्छी तरह प्रचलित रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है; और यही अर्थ अब अगले श्लोक में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है।''

अन्वयार्थ---यज्ञ से बचे हुए (पदार्थों) को खानेवाले सत्पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। परंतु जो (केवल) अपने वास्ते पकाते हैं, वे पापी पाप को भोगते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या--यह स्पष्ट है कि जो अन्नादि प्रतिदिन पुरुष अपने यत्न से कमाता है, वह किसी न किसी के मुँह से छिनकर आता है, और विना किसी न किसी प्रकार की हिंसा हुए के (अर्थात् विना किसी न किसी को दुःख मिले के) कोई पदार्थ प्राप्त नहीं होता, इसलिए सर्वपदार्थ एक न एक पाप * से प्राप्त होता है। इन

---

* इस पर स्मृति ऐसा कहती है—“कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी। पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्ग न विन्दति॥ पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति”। अर्थ—गृहस्थियों के गृह में जीवों की हिंसा के पाँच स्थान होते हैं—(१) ओखली, (२) चक्की, (३) चूल्हा, (४) पानी के बर्तन (जिनमें जल भरने से जीवों की हिंसा हो जाती है), (५) झाड़ू (मिट्टी, जलादि से गृह की सफ़ाई करने) से जीव-हिंसा होती है। इन पाँच प्रकार की जीव-हिंसा के कारणों से पुरुष स्वर्ग को प्राप्त नहीं होता। और इन पाँच हिंसा-स्थानों से जो पाप उत्पन्न होता है, वे उक्त पाप (शतपथ ब्राह्मण में वर्णित) पंचयज्ञों (ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ) द्वारा निवृत्त होते हैं। और इन यज्ञों के न करने से दोष की प्राप्ति पाराशर स्मृति में ऐसे लिखी है—“वैश्वदेव विहीना ये आतिथ्येन विवर्जिताः। सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति ते॥ काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च। अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः।” अर्थ—जो गृहस्थ वैश्वदेव करने से रहित हैं, और जो अतिथि को भोजन देने से रहित हैं, वे सब मरकर नरक को प्राप्त होते हैं, और इसके अनंतर काकयोनि को पाते हैं। किंवा जिस गृहस्थी के घर से अतिथि पुरुष अन्नादिक की प्राप्ति के विना निराश हो चला जाता है, उस गृहस्थी का काष्ठों के सहस्र भारों से तथा घृत के सैकड़ों घड़ों से किया हुआ होम निरर्थक होता है.

पापोंसे बचनेके लिए यज्ञकर्म प्रजापतिसे पूर्व निर्वाचित हुआ कहा जा चुका है। इसलिए उक्त आज्ञानुसार अर्जुन को भगवान् ऐसे समझाते हैं कि हे प्यारे! जो सज्जन (संत, उत्तम वा भले पुरुष) यज्ञ से बचा हुआ भोजन खाते हैं, अर्थात् जो प्राप्त की हुई संपत्ति का निष्कामबुद्धि से कर्मानुष्ठान में उपयोग करते हैं; गुरु, गोत्र और अग्नि की पूजा करते हैं; यथाकाल ब्राह्मणों की सेवा करते हैं; पितरों के हेतु श्राद्धादिक यज्ञों का यजन करते हैं; और इस उचित यज्ञ-क्रिया से यज्ञ में जो कुछ सहज से रह जाय, उसे अपने घर सुख से कुटुंब के संग भोजन करते हैं; वे पुरुष उन सर्वपापों से (जो अन्नादि की प्राप्ति के समय उनसे हुए थे) छूट जाते हैं, अर्थात् वे उन पापों से लेश नहीं पाते, प्रत्युत उनसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो उस (कमाये हुए अन्नादिक) को केवल अपने उदर निमित्त ही पकाते हैं, और बिना किसी दूसरे के अर्पण किये केवल आप ही खाते हैं; वे पापी पुरुष केवल पापरूप भोजन (अर्थात् पापों से भरा हुआ भोजन) खाते हैं, अर्थात् केवल पाप ही सेवन करते हैं ॥ १३ ॥ *

---

* ऋग्वेद के १०, ११७, ६ मंत्र में भी यही अर्थ है। उसमें कहा है कि—

"नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।"

अर्थ—जो मनुष्य अर्यमा या सखा का पोषण नहीं करता, अकेला ही भोजन करता है, उसे केवल पापी समझना चाहिए। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा है कि—

"अघं स केवल भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्न विधीयते ॥" (३. ११८)

अर्थ—जो मनुष्य अपने लिए ही (अन्न) पकाता है, वह केवल पाप भक्षण करता है। (इसी का शेष फ़ुटनोट आगे पृष्ठ ३६७ पर देखिए)

संबंध—(१) उक्त यज्ञ से न केवल प्रत्येक पदार्थ की वृद्धि वा पुष्टि ही होती है, किंतु उत्पत्ति और स्थिति भी। इस प्रकार भगवान् अब इस यज्ञ के नियम को जगत्रूपी चक्र का चलानेवाला दर्शाने लगे हैं—

अथवा (२) यह यज्ञ-कर्म उक्त प्रजापति के वचनमात्र से ही नहीं, किंतु इस जगत्रूपी चक्र की प्रवृत्ति का हेतु होने से भी अवश्य करने योग्य है। इस अर्थ को भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) अब भगवान् इस बात का और भी स्पष्टीकरण करते हैं कि यज्ञ आदि कर्म न तो केवल तिल और चावलों को आग में झोंकने के लिए ही है और न स्वर्ग-प्राप्ति के लिए ही; वरन् जगत् के धारण-पोषणार्थ उनकी बहुत आवश्यकता है, अर्थात् यज्ञ पर ही सारा जगत् अवलंबित है—

अन्नाद्भवन्ति*भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

“विघसाशी भवेन्नित्यं वा अमृतभोजनम्।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥” (मनु० ३. २८५)

अर्थ—सदा विघस का भोजन करनेवाला हो और सदा अमृत का भोजन करनेवाला हो।

यज्ञ करने पर जो शेष रह जाता है उसे ‘अमृत’ और दूसरों के भोजन कर चुकने पर जो शेष रहता है (भुक्तशेष) उसे ‘विघस’ कहते हैं और भले पुरुषों के लिए यही अन्न विहित कहा गया है (देखो गी० ४, ३१)।

* “अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति”। ऐसा तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक २ में आया है=क्योंकि अन्न से ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं, और मरते हुए अन्न में प्रवेश करते हैं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५॥

अन्नात्, भवन्ति, भूतानि	अन्न से प्राणी होते हैं
पर्जन्यात्, अन्न-सम्भवः	वर्षा (मेघ) से अन्न की उत्पत्ति है
यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः	यज्ञ से वर्षा (मेघ) होती है
यज्ञः, कर्म-समुद्भवः	कर्म से उत्पत्तिवाला यज्ञ है
कर्म, ब्रह्म-उद्भवं, विद्धि	कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान
ब्रह्म, अक्षर-समुद्भवं	ब्रह्म अक्षर से उत्पत्ति वाला
तस्मात्, सर्व-गतं, ब्रह्म	इस लिए सर्व व्यापक ब्रह्म
नित्यं, यज्ञे, प्रतिष्ठितम्	नित्य यज्ञ में स्थित है

अन्वयार्थ—अन्न से सर्व प्राणी होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है, वर्षा यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है, कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान, और ब्रह्म अक्षर से उत्पत्तिवाला है, इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में स्थित है ॥ १४, १५ ॥

व्याख्या—अन्न से प्राणी होते हैं, अर्थात् अन्न खाने से प्राणियों की जीवन-रक्षा और उत्पत्ति होती है। क्योंकि अन्न जब पेट में पहुँचता है तो उसके रस से वीर्य, रक्त, मांस, अस्थि,

---

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।
आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।"
(तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली, १)

अर्थ—प्रथम उस आत्मा से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी। पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष। इस प्रकार यह पुरुष अन्नरसमय है।

मज्जा इत्यादि बनते हैं जो शरीर को धारण करते हैं, और इन्हीं की वृद्धि से शरीर की वृद्धि और इन्हीं के नाश से शरीर का नाश होता है, अतएव प्राणियों की जीवन-रक्षा अन्न पर निर्भर है। और अन्न से प्राप्त किया हुआ वीर्य जब पुरुष स्त्री के अर्पण करता है तो प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अतएव प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि का भी अन्न ही कारण है। अन्न वर्षा से होता है अर्थात् अन्न की उत्पत्ति नितांत वर्षा पर निर्भर है, क्योंकि यदि जल-वृष्टि न हो तो अन्न उत्पन्न ही न हो। जल-वृष्टि प्रायः यज्ञ से होती है, अर्थात् यज्ञाग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होकर मेघ बनाती और उससे वृष्टि कराती है, अथवा लाखों प्राणियों के पेटरूपी वैश्वानर में अन्न की आहुतियाँ देने से वैश्वानर की तृप्ति होती है जिसकी तृप्ति पर दिव्य शक्तियाँ (देवता) प्रसन्न हुई सुकाल और वृष्टि उत्पन्न करती हैं। यज्ञ फिर कर्म से होता है, अर्थात् ऋत्विक् और यजमान का जो व्यापाररूप कर्म है अथवा संसार में जो अर्पणरूप कर्म है उससे यज्ञ सिद्ध होता है, क्योंकि मनुष्य वा देवता (दिव्य शक्तियाँ) जब तक एक दूसरे के तईं अपने आपको परस्पर अर्पण वा स्वाहा न करें तब तक न कोई यज्ञ, न उत्पत्ति, न वृद्धि, और न स्थिति संसार की होती है। और अर्पण वा स्वाहा करना स्वयं एक कर्म है, अतएव यज्ञ बिना कर्म के नहीं होता। यह उक्त विषय मनुस्मृति में ऐसे आया है—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।" (मनु. ३. ७६)=वैदिक अग्नि में प्रातः-सायंकाल श्रद्धा-भक्तिपूर्वक घृतादिक पदार्थों की डाली हुई आहुति सूक्ष्मरूप से सूर्य में स्थित होती है। उस आहुति-विशिष्ट सूर्य से मेघ द्वारा जल-वृष्टि होती है। उस वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। और

यह कर्म तू ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान, अर्थात् यह जो ऋत्विक् और यजमान का व्यापाररूप (अग्निहोत्रादिक) कर्म है, अथवा यह जो परोपकारार्थ अर्पण * रूप कर्म है, इसको तू हे अर्जुन ! ब्रह्म † (प्रकृति, वेद, ब्रह्मा वा सजीव शरीर) से उत्पन्न हुआ जान । और इस ब्रह्म को अक्षर (अविनाशी परब्रह्म) से उत्पन्न हुआ समझ.

---

* इन श्लोकों से भगवान् का तात्पर्य उस सृष्टिक्रम के समझाने का है कि जो बृहदारण्यक, छांदोग्य और महानारायण इत्यादि उपनिषदों में विस्तारपूर्वक वर्णित है; और जो विस्तारपूर्वक तो गीता की प्रस्तावना में दिया गया है, परंतु संक्षेप से यहाँ लिखा जाता है । उपनिषदों में भूतों की उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति और पुनरावृत्ति पंचाग्नि अर्थात् पंच होम अग्नि से कही गई है । पहली आग होम की द्यु (आकाश) है, दूसरी पर्जन्य अर्थात् मेघ, तीसरी यह पृथिवी, चौथी पुरुष और पाँचवीं स्त्री । जब पहली आग (द्यु) में देवतागण (दिव्य शक्तियाँ) श्रद्धा की आहुति डालते हैं, तो सोमराज उत्पन्न होता है । और जब इस सोमराज को देवतागण दूसरी होमाग्नि (पर्जन्य) में होम अर्थात् अर्पण करते हैं, तो वर्षा होती है । और वर्षा को जब देवता तीसरी होमाग्नि (पृथिवी) में होम (अर्पण वा स्वाहा) करते हैं, तो अन्न उत्पन्न होता है । और जब इस अन्न को चौथी होमाग्नि (पुरुष) में देवता होम करते हैं, तो वीर्य बनता है । और जब उस वीर्य को ये देवता पाँचवीं होमाग्नि (स्त्री) में होम करते हैं, तो गर्भ उत्पन्न होता है, जिससे फिर संतति होती है । इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि पंचाग्नि द्वारा वेदों में दर्शायी गई है । इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि एक का दूसरे में अर्पण (होम) होना सृष्टि की स्थिति का मूल कारण है और विना इसके संसार-चक्र रह नहीं सकता ।

† ब्रह्म प्रकृति को भी कहते हैं, जैसा गीता में आगे आया है—"मम योनिर्महद्ब्रह्म" (१४, ३) यही अर्थ रामानुज भाष्य में है, और हमें भी यही ठीक मालूम होता है । यज्ञ-प्रकरण में महाभारत में भी ऐसे

अर्थात् इस ब्रह्मरूप (प्रकृति, वेद वा प्रजापति) को कि जिससे कर्म प्रकट हुआ है तू अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ समझ। इसलिए* सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में स्थित है; अर्थात्

आया है कि “अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा” (शां०, २६७, ३४)= यज्ञ के पीछे सारा जगत् है और जगत् के पीछे यज्ञ है। इस प्रकार ब्रह्म का अर्थ प्रकृति करने से शांतिपर्व के उक्त श्लोक से भी मेल खा जाता है, क्योंकि जगत् ही प्रकृति है और प्रकृति ही जगत् में सर्वगत है, और प्रकृति से ही विवश हुए सर्व कर्म इस संसार में हो रहे हैं, इसलिए ब्रह्म का अर्थ प्रकृति ही यहाँ युक्त है। परंतु बहुत टीकाकारों ने ब्रह्म के अर्थ यहाँ ब्रह्मा और वेद किये हैं। उन अर्थों की व्याख्या ऐसे हो सकती है—

उक्त पंचाग्निरूप सृष्टिक्रम से स्पष्ट है कि “देवता (दिव्य शक्तियाँ) अपनी श्रद्धारूप आहुतियों को होमाग्नि में डालते हैं, और इन देवता वा दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति अपने स्वामी प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा से होती है जिसलिए ये सब अर्पणरूप क्रियाएँ (या यज्ञकर्म) उसी (ब्रह्मा) से वास्तव में प्रकट होती हैं।” इसलिए भगवान् ने अर्जुन को कहा कि कर्म को तू ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान। और फिर श्रुति यह भी कहती है कि—“अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इति।”=ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वण वेद, ये चार वेद इस महान् परमात्मा के निःश्वासरूप हैं, और वे चारों वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान इन भेदों से आठ प्रकार के हैं। और इन वेदों में ही, जो परमात्मदेव के निःश्वासरूप हैं, यज्ञ-कर्म की व्याख्या वा आज्ञा है, इसलिए भी भगवान् ने अर्जुन को कहा कि तू कर्म को ब्रह्म (वेद) से उत्पन्न हुआ और इस वेद को महान् परमात्मदेव से उत्पन्न हुआ जान।

* “तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्”=यहाँ ‘तस्मात्’ का अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसलिए वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ

इस प्रकार कर्म का आधारभूत वा कारण होने से जो समस्त नामरूप प्रपंच में व्यापक प्रकृतिरूप ब्रह्म है, वह नित्य यज्ञ में स्थित है; अथवा परमात्मदेव का ही निःश्वासरूप होने से सर्व अर्थों का प्रकाशक तथा यज्ञ-कर्म का उत्पन्नकर्त्ता जो वेदरूप ब्रह्म है, वह यज्ञ में नित्य स्थित है. क्योंकि विना वैदिक मंत्रों के यज्ञ नहीं होता; अथवा इस वेदरूप ब्रह्म से भी परे जो महान् आत्मा है और जिसका निःश्वास ये वेद हैं, वह इन वेदों तथा वैदिक कर्मकांड का आधारभूत होने से सर्वदा यज्ञ में स्थित है; अथवा सब दिव्य शक्तियों (देवता) और उनकी अर्पणरूपी क्रियाओं (यज्ञ कर्म) का आधार वा अधिष्ठान होने से सर्वव्यापी प्रजापति नित्य सर्वप्रकार की अर्पणरूप क्रिया (यज्ञ) में आप स्थित है और वही प्रत्येक कर्म की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार कर्म का नियम तथा विस्तार साक्षात् परब्रह्म से प्रकट हुआ है। इसलिए हे अर्जुन! तुझे भी उस ईश्वरकृत सृष्टिक्रम के अनुसार चलना चाहिए ॥ १४, १५ ॥*

है, इसलिए सर्वगत अर्थात् सब विषयों का प्रकाशक जो वेद है वह अतींद्रिय धर्मरूप यज्ञ में अपने तात्पर्य से स्थित है, अर्थात् यज्ञ इसका प्रधान उद्देश्य है। यज्ञ वास्तव में वह कर्म है जिससे दूसरों का उपकार हो। मनुष्य को आत्मा, देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इन सबका उपकारक होना चाहिए। (देखो बृह०, १ । ४ । १६)

* संक्षिप्त तात्पर्य इन श्लोकों का यह है कि प्रकृति के गुणों से विवश होकर, अथवा परमेश्वर से प्रकाशित हुए वेदों से, पुरुषों की कर्म में प्रवृत्ति, उस प्रवृत्ति से यज्ञ की सिद्धि, उस सिद्धि से मेघ, मेघ से अन्न, अन्न से प्राणधारी, और प्राणधारियों की फिर वैसे कर्म में प्रवृत्ति होती है; इस प्रकार चलाया हुआ चक्र है। इस चक्र के अनुसार प्रत्येक पुरुष को चलना चाहिए।

संबंध—इस उक्त चक्र के विरुद्ध चलनेवाले पुरुष की दशा को भगवान् अब दर्शाते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

एवं^{1}, प्रवर्तितं^{2}, चक्रं^{3}	इस^{1} प्रकार प्रचलित^{2} चक्र^{3} को	अघ^{1}-आयुः^{2}, इन्द्रिय^{3}-आरामः^{4}	पाप^{1} की आयु^{2}वाला, इंद्रियों^{3} में रमण^{4} करनेवाला
न^{3}, अनुवर्तयति^{4}, इह^{2}, यः^{1}	जो^{1} यहाँ^{2}(उसके अनुसार) नहीं^{3} चलता^{4} है	मोघं^{3}, पार्थ^{1}, सः^{2}, जीवति^{4}	हे अर्जुन^{1}! वह^{2} व्यर्थ^{3} जीवता^{4} है

अन्वयार्थ—इस प्रकार प्रचलित चक्र के अनुसार जो यहाँ नहीं चलता है, वह पाप की आयुवाला और इंद्रियों में रमण करनेवाला (प्राणी) हे अर्जुन ! व्यर्थ जीवता है ॥ १६ ॥

व्याख्या--हे पृथापुत्र अर्जुन ! ऊपर जो वर्णन हुआ कि परमेश्वर से प्रकृति (वेद), प्रकृति (वेद) से कर्म, कर्म से यज्ञ की सिद्धि, यज्ञ की सिद्धि से मेघ (जल की वृष्टि), मेघ से अन्न, अन्न से प्राणिलोग, और प्राणी जब फिर यज्ञादिक कर्म करते हैं तो पुनः यज्ञ से जल-वृष्टि और अन्नादिक होते हैं; इस प्रकार सर्वजगत् के निर्वाह वा स्थिति निमित्त जो परमेश्वर से प्रवृत्त किया हुआ यह चक्र है, इस चक्र के अनुसार जो पुरुष यहाँ नहीं चलता, अर्थात् जो पुरुष जीतेजी इस सृष्टिक्रम के अनुसार यज्ञनिमित्त (वा ईश्वरार्पणार्थ) कर्म करने छोड़ बैठता है, वह पुरुष, हे अर्जुन ! पाप की आयुवाला, अर्थात् पापरूप जीवनवाला, और इंद्रियों में ही आनंद लेनेवाला होता है। और उसका जीना व्यर्थ ही है।

तात्पर्य यह कि ऐसा विषय-लंपटी पुरुष अपनी आयु को पाप ही में व्यतीत करता और केवल विषयानंद में खोता है। ऐसे पापी और मूढ़ का जीना नितांत निष्फल है, क्योंकि—

"मरना भला है उसका जो अपने लिए जिए।
जीता है वह जो मर चुका है औरों के लिए ॥ १६ ॥"*

संबंध—(१) परंतु जो इंद्रियों में रमण करनेवाला नहीं, किंतु अपने स्वरूप में रमण करता और मग्न है, उस पर इस चक्र के हेतु भूत कर्मों का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है या नहीं, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (२) अब इस चक्र का दायित्व कब तथा किस अधिकारी में नहीं रहता, उसे भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) आत्मवेत्ता सन्यासी व परमहंस इत्यादि मस्त महानुभाव भी तो इन यज्ञादि कर्मों को करते नहीं, तो क्या वे भी उक्त पाप (प्रत्यवाय) के भागी होंगे ? क्या उनका जीवन भी व्यर्थ समझा जायगा ? इस संदेह वा आपत्ति की निवृत्ति भगवान् अब करते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।†
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

---

* उक्त श्लोकों से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मा ने लोगों के धारण-पोषण के लिए जो यज्ञमय कर्म या चातुर्वर्ण्य वृत्ति उत्पन्न की है, वह सृष्टिक्रम की प्रवृत्ति (श्लोक १४) और साथ ही साथ पुरुष के अपने निर्वाहनिमित्त वृत्ति (श्लोक ८) उत्पन्न की है। इसलिए जब तक देहाध्यास वा निर्वाहनिमित्त वृत्ति से पुरुष युक्त है, तब तक उसे यज्ञनिमित्त कर्म अथवा अर्पण रूप या दूसरों के कल्याणनिमित्त कर्म अनासक्त बुद्धि से अवश्य करते रहना चाहिए।

† यहाँ मानवः पद कहकर भगवान् ने यह भाव दर्शाया है कि कृतकृत्य भाव की प्राप्ति में ब्राह्मणत्व आदिक उत्तम जाति का किंचित्-मात्र भी

यः[2], तु[1], आत्म[3]-रतिः[5], एव[4], स्यात्[6]	पर[1] जो[2] आत्मा[3] में ही[4] प्रीतिवाला[5] (रमणकरनेवाला) हो[6]	आत्मनि[2], एव[3], च[1], सन्तुष्टः[4]	और[1] आत्मा[2] में ही[3] संतुष्ट[4] (हो)
आत्म[3]-तृप्तः[4], च[1], मानवः[2]	और[1] (जो) मनुष्य[2] आत्मा[3] में तृप्त[4] (हो)	तस्य[1], कार्यं[2], न[3], विद्यते[4]	उसका[1] (या उसके लिए) करने[2] योग्य कुछ नहीं[3] रहता है[4]

अन्वयार्थ——परंतु जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीतिवाला, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट हो, उसे कुछ (अवश्य) करने योग्य नहीं रहता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—परंतु हे अर्जुन ! जो मनुष्य निष्काम कर्म करते-करते अथवा सृष्टिचक्र के हेतु भूत कर्म को निष्कामभाव वा समताबुद्धि से करते-करते उस अवस्था को प्राप्त हो गया हो कि अब उसे विषय-भोग तो आकर्षण करने में, अन्न इत्यादि भोजन तृप्त करने में, और बाह्य धन, संपत्ति इत्यादि संतुष्ट करने में नितांत असमर्थ और अशक्त हों; अर्थात वह अब केवल अपने आत्मा (अपने आप) में ही प्रीति वा रमण करता हो (न कि विषय-भोगों में), और तृप्ति भी वह अपने आत्मा में ही पाता हो (न कि अन्नपानादि में), और संतुष्ट भी वह अपने आत्मानुभव से ही होता हो (न कि बाह्य धन-संपत्ति इत्यादि से); इस प्रकार ऐसी हालत को वह पहुँच गया हो कि अब नित्य अपने स्वरूप में ही उसके चित्त की निष्ठा हो, बाह्य अनात्म-पदार्थों में न हो, और लौकिक दृष्टि

उपयोग नहीं किंतु जो भी कोई मनुष्य (चाहे किसी जाति का क्यों न हो) जब भी वह आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट होता है, तब वह कृतकृत्य होता हुआ कर्त्तव्यातीत हो जाता है ।

भी उसकी नष्ट हो गई हो, तो ऐसे ज्ञानवान् (मस्त) पुरुष के लिए कुछ भी अवश्य कर्त्तव्य नहीं रहता। अर्थात् जैसे बहिर्मुख पुरुषों के लिए अमुक कर्म अवश्य कर्त्तव्य रूप से नियत होता है, वैसे इसके लिए नहीं ॥ १७ ॥*

संबंध—उक्त कथन में भगवान् अब हेतु वर्णन करते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

न[1], एव[2], तस्य[3], कृतेन[4], अर्थः[5]	न[1] ही[2] उसका[3] किये[4] हुए से (कोई) प्रयोजन[5]	न[2], च[1], अस्य[3], सर्व[4]-भूतेषु[5]	और[1] न[2] उसका[3] सब[4] भूतों[5] में
न[1], अ[4]-कृतेन[5], इह[3], कश्चन[2]	और न[1] कोई[2] इस लोक[3] में न[4] किये[5] हुए से	कश्चित्[1], अर्थ[2]-व्यापाश्रयः[3]	किसी[1] प्रयोजन[2] का आश्रय[3]

अन्वयार्थ—उसका इस लोक में न कुछ किये हुए से ही प्रयोजन है, न न किये हुए से। और न सब भूतों में उसका किसी प्रयोजन का आश्रय है ॥ १८ ॥

---

* रति, तृप्ति, तुष्टि तीनों मन की वृत्ति विशेष हैं। और विद्वान् द्वैत-दर्शन और विषयसुखों की इच्छा से रहित है, इसलिए वह केवल आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट है, जैसा श्रुति कहती है कि—"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।" (मुण्ड, खंड ३, श्लोक ४)= ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ यह विद्वान् अपने आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, आत्मा में ही रति (प्यार वा रमण) करता है और आत्मा में ही क्रियावान् होता है, अर्थात् आत्मदृष्टि से ही सब क्रिया करता है, लौकिक वा व्यावहारिक वा अर्थदृष्टि से नहीं।

व्याख्या--हे अर्जुन! इस आत्मरत, आत्मतृप्त तथा आत्मसंतुष्ट पुरुष को इसलिए कुछ अवश्य कर्त्तव्य नहीं होता कि आत्मसाक्षात्कार होने से उसकी स्वार्थबुद्धि नष्ट हो चुकी होती है और उसे अपने आत्मा के सिवाय और किसी वस्तु से भी कुछ प्रयोजन नहीं रहता, और न उसके किये हुए अथवा न किये हुए से उसका अपना कोई प्रयोजन वा मंतव्य ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें अहंकार वा कर्तृत्वबुद्धि का भी अभाव हुआ होता है। और अपने आत्मानंद में तृप्त होने के कारण उसे अब लोक-परलोक के सुखों की किंचित् वांछा भी नहीं होती, इसलिए न वह अपने किसी कृत और न किसी अकृत में कुछ प्रयोजन, संबंध वा हित ही रखता है, और न सब भूतों वा पदार्थों में उसे किसी प्रयोजन (मतलब वा सिद्धि) का आश्रय ही होता है। वह तो अब नितांत निराश्रय, निरावलंब और अपने आपमें ही प्रसन्न, मग्न, संतुष्ट और तृप्त रहता है।

तात्पर्य इस सारे का यह है कि जब तक पुरुष अज्ञानी, विषयासक्त और आत्मानुभवरहित अर्थात् बहिर्मुख है, तब तक उसे उपदेश होता रहता है कि "तेरे लिए यह कर्त्तव्य है और यह अकर्त्तव्य है।" पर जब समत्वबुद्धि से अपना कर्त्तव्य पालन करते-करते वह आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, अर्थात् निजानंद को प्राप्त होता है, और उसकी स्वार्थबुद्धि नष्ट हो चुकी होती है, फिर उसे किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती, अर्थात् फिर उसे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का उपदेश नहीं दिया जा सकता, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार होने से उसका तुच्छ अहंकार नष्ट हो चुका होता है, वह प्रवृत्तिमार्ग के विधि-निषेध से सर्वथा अतीत हो जाता है और चेष्टा उसकी स्वाभाविक हो जाती है, किसी फल वा प्रयोजन की इच्छा से नहीं होती। इसलिए

उसके वास्ते न कोई अवश्य कर्त्तव्य और न अकर्त्तव्य रह जाता है। और जैसे उसको कर्म में स्वार्थ नहीं होता वैसे अकर्म में भी आग्रह नहीं होता, वह तो निःस्वार्थी पुरुष वा बालक के समान संसार में विचरता और स्वाभाविक चेष्टा करता रहता है। अथवा जैसे तृप्ति पाने पर पुरुष के सब साधन आप ही आप बंद हो जाते हैं, वैसे ही स्वरूपानंद के प्राप्त होने पर सब आवश्यक वा अर्थदृष्टि के कर्म स्वतः बंद पड़ जाते हैं। इस प्रकार जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक मन को साधनों के आचरण की आवश्यकता है, और साक्षात्कार होने पर फिर स्वार्थबुद्धि ही नहीं रहती, उस पर कर्म का अवश्य करना और न करना, इस विषय में भला क्या कहना हो सकता है॥ १८ ॥*

---

* इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मानुभव के बाद पुरुष सदा के लिए क्रियाहीन वा जड़मूक आलसी हो जाता है, बल्कि पूर्वापर के संबंध से यह स्पष्ट होता है कि "ऐसा पुरुष भी मरणपर्यंत प्रारब्ध-भोगानुसार कुछ न कुछ करता ही रहता है, यद्यपि स्वार्थबुद्धि से नहीं।" इस पर भगवान् का केवल इतना ही कहना है कि जब ज्ञानवान् पुरुष को भी कुछ न कुछ करते ही रहना है (क्योंकि शरीर-यात्रा बिना कुछ न कुछ करने के हो ही नहीं सकती), तब उसे भी जो कुछ शास्त्रानुसार वा लोकोपकार निमित्त कर्म स्वतः प्राप्त होते जायँ, अपनी आग्रहविहीन बुद्धि से निःस्वार्थतापूर्वक करते रहना ही उचित है, यद्यपि आवश्यक नहीं। इसी बात को भगवान् अपने आदर्श से आगे दिखायेंगे। और यहाँ प्रसंग भी यही चल रहा है कि किस रीति से किये हुए कर्म, वा किस प्रकार के कर्म, बंधायमान नहीं करते, यह नहीं कि "कैसे कर्म बंद होते हैं।"

इस विषय पर योगवासिष्ठ (६, १९९, ४ और ६, २१६, १४) में ऐसा लिखा है—(बाक़ी नोट पृष्ठ ३७९ पर देखो)

संबंध—(१) क्योंकि यज्ञनिमित्त कर्म अथवा अपने कर्त्तव्य कर्म समत्वबुद्धि से करते रहने से चित्त-वृत्ति अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में स्वतः स्थिर होती है जिससे आत्मसाक्षात्कार-लाभ होता है, और जिसके उपरांत फिर उसे कुछ अवश्य कर्त्तव्य रूप से करना बाक़ी नहीं रहता। इसलिए भगवान् अब अर्जुन को पुनः यह परमानंद की प्राप्ति का हेतुभूत उपदेश देते हैं—

अथवा (२) जनकादि के दृष्टांत को हेतु में रखकर भगवान् अब अर्जुन को ऐसे उपदेश करते हैं—

अथवा (३) आत्माराम आदि पदवी का रहस्य दर्शाकर अब भगवान् उसकी प्राप्ति का साधन बताने लगे हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १६॥

तस्मात्[१], अ[३]-सक्तः[२], सततं[४], कार्यं[५], कर्म[६], समाचर[७]	इस[१] लिए संग[२]-रहित[३] हुआ लगातार[४] करने[५] योग्य कर्म[६] को तू करे[७]	अ[३]-सक्तः[२], हि[१], आचरन्[५], कर्म[४], परम्[६], आप्नोति[८], पूरुषः[७]	क्योंकि[१] संग[२]-रहित[३] कर्म[४] करता[५] हुआ परम[६] (गति वा मुक्ति) को पुरुष[७] प्राप्त[८] होता है

"ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥" (६, १६६, ४)

अर्थ—ज्ञानी को न कर्म त्यागने में कोई लाभ है और न कर्म करने में कोई अर्थ, अतएव वह जो जैसा प्राप्त हो जाय उसे वैसा ही किया करता है।

"मम नास्ति कृते नार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथा प्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥ (६, २१६, १४)

अर्थ—मुझे यहाँ न करने में कोई लाभ है और न कुछ न करने में।

अन्वयार्थ—इसलिए लगातार संगरहित होकर तू करने योग्य कर्म को कर, क्योंकि निरासक्त होकर कर्म करता हुआ पुरुष परम (गति व स्वरूप) को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तब तक मन भटकता ही रहता है, अर्थात् तब तक बिना किसी न किसी कर्म में लगने के निचल्ला नहीं बैठता, और तब तक ही उसे साधनों के आचरण की आवश्यकता होती है । इसलिए हे प्यारे ! तू जो अभी परमानंद वा तत्त्वसाक्षात्कार का प्यासा है, तुझे अपने कर्त्तव्य कर्मों को उनके फल की इच्छा और कर्तृत्वादि लगाव से रहित होकर लगातार करते ही रहना चाहिए, क्योंकि कर्त्ताभाव से रहित होकर निष्काम चित्त से कर्त्तव्य कर्म करते रहने से पुरुष कर्मातीत अवस्था अथवा निष्कर्मता को प्राप्त होता हुआ परमस्वरूप का अनुभव कर लेता है, जिससे वह परमानंदरूप परमगति वा कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है, और जिसके पीछे फिर उसे कुछ अवश्य कर्त्तव्य रूप से करना बाक़ी नहीं रहता, बल्कि स्वार्थबुद्धिपूर्वक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य दोनों से वह पार टप जाता है ॥ १९ ॥

संबंध—(१) पूर्व ऋषि लोग जो इसी प्रकार कर्म द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उनका दृष्टांत देकर भगवान् अब अर्जुन को परोपकार के उद्देश्य से भी कर्म में प्रेरते हैं—

अथवा (२) अब दृष्टांत द्वारा उक्त सिद्धांत को भगवान् प्रतिपादन करने लगे हैं—

अर्थात् किसी बात का करना या न करना मुझे एक सा ही है, जैसा कुछ प्राप्त होता है, उसी से मैं संतुष्ट रहता हूँ । तब फिर मुझे कुछ न करने में आग्रह या हठ ही क्यों ?

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मणा^{2}, एव^{3}, हि^{1}	निःसंदेह^{1} कर्म^{2} से ही^{3}	लोक^{1}-संग्रहं^{2}, एव^{3}, अपि^{5}, संपश्यन्^{4}	लोक^{1}-संग्रह^{2} ही^{3} को देखता^{4} हुआ भी^{5}
संसिद्धिं^{3}, आस्थिताः^{4}, जनक^{1}-आदयः^{2}	जनक^{1} आदि^{2} परम सिद्धि^{3} को प्राप्त^{4} हुए हैं	कर्तुम्^{1}, अर्हसि^{2}	तू (कर्म) करने^{1} योग्य^{2} है

अन्वयार्थ—निःसंदेह कर्म से ही जनकादि परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। (पस) लोकसंग्रह * ही को देखते हुए भी तुझे कर्म करना योग्य है ॥ २० ॥ †

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! और देखो, जनकादि पूर्व राजऋषि भी संपूर्ण कर्मों को त्यागने से नहीं किंतु कर्त्तव्य कर्मों को समत्व-बुद्धि से लगातार निरासक्त होकर करते रहने से ही परम सिद्धि

---

* लोकसंग्रह=लोकाचार, लोक-मर्यादा, लोगों की भलाई। या लोगों को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त करना तथा अधर्म से निवृत्त करना लोक-संग्रह कहलाता है। अथवा मनुष्य-समाज में जो एक दूसरे का संबंध तथा बर्ताव धर्म और नीति (क़ानून) के अनुसार है ताकि मनुष्य-समाज स्थापित रहे, और तितर-बितर न होने पावे, उस संबंध वा बर्ताव को भी लोकसंग्रह कहते हैं।

† "अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्ते कर्महेतवे ।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥"

अर्थ—इसलिए मुनि लोग भी मोक्ष के निमित्त पहले कर्म करते हैं, क्योंकि निष्काम कर्म करनेवाला पुरुष ही प्रायः वासनारहित होता है।

को प्राप्त हुए हैं। अर्थात् जनक, अजातशत्रु, अश्वपति, भगीरथ, श्रीरामचंद्र, इक्ष्वाकु इत्यादि ऐसे बहुत से राजे हुए हैं कि जिन्होंने कर्म नितांत नहीं त्यागा बल्कि इस (कर्म) के बल से ही आत्मसाक्षात्काररूप सिद्धि को पाया है। यदि इन महापुरुषों के केवल अनुभव अथवा लोकाचार, मर्यादा और रीति को भी देखा जाय, अथवा लोगों की भलाई वा जनसमूह को भी देखा जाय, तो भी तुझे कर्म करना अवश्य उचित है।

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन ! उक्त सांख्ययोग वा आत्मतत्त्व सुनने के बाद यदि तू यह समझे कि मैं अब ज्ञानवान् हो गया हूँ और ज्ञान होने के पीछे मुझको अब कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा, क्योंकि शारीरिक कर्म (प्रवृत्ति) मेरे ध्यान वा निश्चय इत्यादि में बाधा डालेगी, तो यह तेरा विचार वा मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि जनकादि ऐसे बीसियों अनुभवी पुरुष हुए हैं, जो आत्मानुभवी होने के पीछे भी लोगों के कल्याणार्थ कर्म करते रहे हैं, और उन कर्मों से वे अपने आत्मध्यान से विचलित नहीं हुए, बल्कि स्वरूप में ही स्थिर रहे हैं। और यद्यपि अनुभव के बाद उनके लिए कुछ भी अवश्य कर्त्तव्य न था और न उन्हें किसी प्रकार की लालसा वा वासना ही थी, तथापि जब तक ज्ञान की आँधी ने उन्हें स्वयं क्रियारहित नहीं कर दिया (अर्थात् मस्ती की अधिकता से जब तक स्वयं उनके कर्म बंद नहीं पड़े), तब तक राज्य पालनादि तथा धर्मोपदेशादि लोगों की भलाई के कर्म वे करते ही रहे हैं। ऐसा पूर्व ब्रह्मवेत्ताओं के केवल आचरण को सुनते वा जानते हुए और उस आचरण से लोगों का कल्याण देखते हुए भी तुझे कर्म करना उचित है॥ २०॥

संबंध—(१) आत्मवेत्ताओं के कर्म करने से कैसे लोगों की भलाई होती है, इसे भगवान् अब अर्जुन के तईं दर्शाते हैं—

अथवा (२) लोकसंग्रह करने का यह कर्त्तव्य या अधिकार ज्ञानी पुरुष का ही क्यों है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यत्^{1}, यत्^{1}, आचरति^{3}, श्रेष्ठः^{2}	जो^{1} जो^{1} श्रेष्ठ^{2} पुरुष करता^{3} है	सः^{1}, यत्^{2}, प्रमाणं^{3}, कुरुते^{4}	वह^{1} जिसे^{2} प्रमाण^{3} करता^{4} है
तत्^{1}, तत्^{1}, एव^{2}, इतरः^{3}, जनः^{4}	वह^{1} वह^{1} ही^{2} दूसरा^{3} पुरुष^{4} (करता है)	लोकः^{1}, तत्^{2}, अनुवर्तते^{3}	संसार^{1} उसके^{2} पीछे^{3} चलता है

अन्वयार्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो करता है, दूसरा पुरुष वह-वह ही (करता है)। और जिसको वह प्रमाण करता है, संसार उसी के पीछे चलता है ॥ २१ ॥*

व्याख्या—हे अर्जुन! यद्यपि आत्मवेत्ता को कुछ भी अवश्य कर्त्तव्य नहीं होता, परंतु वे जानते हैं कि अवश्य कर्त्तव्य के न रहने पर भी कार्य के बंद कर देने से इतर जन उनकी नक़ल करके गिर जायँगे। इसलिए केवल दूसरों के कल्याणार्थ अथवा धर्म और मर्यादा की स्थापनार्थ वे कर्म करते हैं. क्योंकि श्रेष्ठ लोग संसार में जैसा-जैसा आचरण करते हैं, उसी को सर्वसाधारण पुरुष अपना धर्म समझ लेते हैं, और वैसा ही आचरण करने लग जाते हैं। और जिस कथन वा श्लोक तथा वाणी को श्रेष्ठ पुरुष प्रमाण करते हैं, उसी को इतर जन प्रमाण बना लेते हैं, अर्थात्

---

* "यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ।" (भागवत ५. ४. १५)
अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करते हैं, उसी को और लोग भी करते हैं ।

उसी के अनुसार अन्य लोग भी चलने लग पड़ते हैं। इसलिए हे अर्जुन! यदि तू अपने आपको ज्ञानवान् भी समझता है, तो भी जनकादि श्रेष्ठ पुरुषों की रीति से तुझे कर्म करना ही चाहिए, जिससे अन्य लोग तेरी देखादेखी कर्म छोड़कर अपनी हानि न कर लें ॥ २१ ॥

संबंध—(१) उक्त अर्थ के संबंध में भगवान् अब अपना दृष्टांत तीन श्लोकों से देते हैं—

अथवा (२) अब अपने दृष्टांत से भी भगवान् उक्त उपदेश की ओर अर्जुन का ध्यान खींचते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

न^{1}, मे^{2}, पार्थ^{3}	न^{1} मुझे^{2}, हे अर्जुन^{3} !
अस्ति^{5}, कर्त्तव्यं^{4}, त्रिषु^{1}, लोकेषु^{2}, किञ्चन^{3}	तीनों^{1} लोकों^{2} में कोई^{3} कर्त्तव्य^{4} है^{5}
न^{1}, अनवाप्तं^{2}, अवाप्तव्यं^{3}	न^{1} अप्राप्त^{2} (वस्तु) प्राप्त^{3} करने योग्य है
वर्त्ते^{4}, एव^{3}, च^{1}, कर्मणि^{2}	और^{1} कर्म^{2} में ही^{3} मैं वर्तता हूँ^{4}

अन्वयार्थ——हे अर्जुन ! मेरे लिए तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य नहीं है, और न अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को है, (तथापि) मैं कर्म में वर्तता ही हूँ ॥ २२ ॥

व्याख्या——हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! फिर तू मुझे देख कि तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्त्तव्य नहीं, और न किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त ही करना है, क्योंकि मैं अपने परमस्वरूप में नित्य तृप्त वा मग्न हूँ। परंतु फिर भी मैं कर्म में प्रवृत्त ही रहता हूँ ताकि अन्य लोग मेरी देखादेखी कर्म में प्रवृत्त हों, और अज्ञान से कुमार्ग में न जाने पायें ॥ २२ ॥

संबंध—इस प्रकार कर्म में न प्रवृत्त होने से लोकों का नाश होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि^{2}, हि^{1}, अहं^{3},	क्योंकि^{1} यदि^{2} मैं^{3}	उत्सीदेयुः^{3},	ये^{1} लोक^{2} नाश^{3}
न^{8}, वर्त्तेयं^{5}, जातु^{6},	आलस्य^{4}-रहित^{5}	इमे^{1}, लोकाः^{2}	हो जायँ
कर्मणि^{7}, अ-	हुआ कभी^{6} कर्म^{7} में	न^{4}, कुर्यां^{5}, कर्म^{3},	यदि^{1} मैं^{2} कर्म^{3}
तन्द्रितः^{4}	न^{8} प्रवृत्त^{5} होऊँ	चेत्^{1}, अहम्^{2}	न^{4} करूँ^{5}
मम^{4}, वर्त्म^{5},	हे अर्जुन^{1}, सर्वप्रकार^{2}	सङ्करस्य^{2} च^{1},	और^{1} (वर्ण) संकर^{2}
अनुवर्त्तन्ते^{6},	से मनुष्य^{3} मेरे^{4} मार्ग^{5}	कर्त्ता^{3}, स्याम्^{4}	का मैं कर्त्ता^{3} बनूँ^{4}
मनुष्याः^{3}, पार्थ^{1},	का अनुवर्तन^{6}(अनुस-	उपहन्यां^{3},	इन^{1} प्रजाओं^{2} को
सर्वशः^{2}	रण)करने लग जायँ	इमाः^{1}, प्रजाः^{2}	मैं बिगाड़ूँ^{3}

अन्वयार्थ—क्योंकि अगर मैं आलस्यरहित होकर कभी कर्म में प्रवृत्त न होऊँ, तो हे अर्जुन! सब मनुष्य सर्वप्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करने लग जायँ। और अगर मैं कर्म न करूँ, तो ये लोक नाश हो जायँ, और मैं फिर वर्णसंकर का कर्त्ता बनूँ और इन प्रजाओं को बिगाड़ूँ ॥ २३, २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो मैं कभी आलस्य त्याग कर कर्म न करूँ, तो लोग ऐसा कहने लग जायँगे कि "यदि कर्म करना श्रेष्ठ होता तो श्रीकृष्ण ही आप करते, कर्म करना अच्छा नहीं था तभी तो श्रीकृष्ण ने भी उसे नहीं किया", और इस प्रकार कहते हुए

सब मेरे ही मार्ग पर सर्वप्रकार से चलने लग जायँगे। अर्थात् मेरे हृदय को पूरी तरह न जानकर केवल मेरी बाह्य कर्मरहित अवस्था को देखकर मेरी नक़ल करते हुए सब लोग कर्म को छोड़ बैठेंगे, जिससे किंचित्-मात्र भी उनका उद्धार न होगा। और यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक अवश्य नाश हो जायँ। क्योंकि कर्म ही सिद्धि को प्राप्त कराता और कर्म ही लोक-स्थिति का कारण है, और जब मेरी देखादेखी लोग भी कर्म छोड़ बैठेंगे, तब कर्म के लोप से धर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। धर्म के नष्ट-भ्रष्ट होने से लोग आत्म-विमुख हो जायँगे, जो फिर उनके नाश वा अधोगति का मूल कारण होगा। इस प्रकार मेरे कर्म के छोड़ने से लोकों का नाश हो जायगा। फिर इस धर्म के भ्रष्ट होने से लोक-मर्यादा टूट जायगी, किसी को किसी का भय न रहेगा, 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' वाला हाल हो जायगा। इस लोक वा धर्म की मर्यादा के टूटने से कुकर्म और दुराचार बढ़ जायगा, जिससे वर्णसंकर जन्म लेने लग जायँगे। इस तरह कर्म को छोड़ देने से "मैं अपनी ही प्रजाओं का आप नाश वा बिगाड़ करनेवाला और वर्णसंकर के उत्पन्न करनेवाला बना हूँ।" ऐसा दोष मेरे सिर पर आ जायगा। इन्हीं दोषों को दूर करने और प्रजा को मर्यादा पर चलाने के लिए मैं भी कर्म करता ही रहता हूँ॥ २३, २४॥ *

---

* कर्म से ही सारे जगत् की ठीक स्थिति है, और कर्म से ही मानव-समाज भी ठीक स्थित रहता है। ऐसा प्रजापति के पूर्वोक्त वचनों से स्पष्ट है, और स्वयं श्रीकृष्ण ने भी उद्योगपर्व (२९, ७, ८६) में ऐसा कहा है; और यह स्पष्ट भी है कि किसी अधम, तुच्छ वा हीन पुरुष की धर्म वा कर्म में अप्रवृत्ति दूसरों को इतना नहीं बिगाड़ती जितना कि किसी महान् पुरुष की अप्रवृत्ति, क्योंकि उसको प्रमाण मानकर दूसरे भी अपने

संबंध—(१) पस, "ज्ञानवान् को यद्यपि कुछ अवश्य कर्त्तव्य और प्राप्तव्य नहीं, तथापि लोगों के कल्याणार्थ उसे कर्म करना उचित है" ऐसा उपसंहार करते हुए भगवान् अब ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म की विधि और उपयोगिता का भेद दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब ज्ञानियों और अज्ञानियों के कर्मों का भेद दर्शाकर भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि अज्ञानियों को सुधारने के लिए ज्ञानियों का क्या कर्त्तव्य है—

अथवा (३) लोक-संग्रहार्थ कर्म भी किस रीति से किया जाना चाहिए, उसे भगवान् अब पुनः स्पष्ट करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

सक्ताः^{5}, कर्मणि^{4}, अविद्वांसः^{2}, यथा^{3}, कुर्वन्ति^{6}, भारत^{1}	हे अर्जुन^{1} ! अ^{2}- ज्ञानी जैसे^{3} कर्म^{4} में आसक्त^{5} हुए कर्म करते^{6} हैं	कुर्यात्^{4}, विद्वान्^{1}, तथा^{2}, असक्तः^{3}	ज्ञानी^{1} वैसे^{2} निरासक्त^{3} हुआ कर्म^{4} करे
		चिकीर्षुः^{3}, लोक^{1}- संग्रहम्^{2}	लोगों^{1} की भलाई^{2} चाहता^{3} हुआ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अज्ञानी जैसे कर्म में आसक्त हुए कर्म करते हैं, ज्ञानी वैसे निरासक्त होकर (केवल) लोगों की भलाई चाहता हुआ कर्म करे ॥ २५ ॥

धर्म-कर्म को छोड़ बैठते हैं, जो उनके नाश का हेतु हो जाता है । अतएव ज्ञानवान् को भी कर्म करने के लिए भगवान् ने कहा है ।

दूसरा तात्पर्य भगवान् के इस कथन से यह भी है कि वर्णसंकर युद्ध करने या कर्त्तव्य-पालन करने से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि कर्महीन होने अर्थात् कर्त्तव्य को छोड़ देने व धर्म की रक्षा न करने से होता है । अतः यह कथन अर्जुन के भय को व्यर्थ दर्शाने के लिए है ।

व्याख्या—हे भरत की संतान (अर्जुन) ! जिस भाँति अज्ञानी पुरुष कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं, अर्थात् यह बुद्धि रखते हुए कर्म करते हैं कि "इस कर्म को मैं ही करता और कर सकता हूँ, और इसका फल मुझे यह चाहिए इत्यादि"। उसी भाँति विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष को चाहिए कि वह कर्म में अनासक्त हो कर (अर्थात् कर्म के कर्तृत्वादि अभिमान तथा स्वर्गादि फल की इच्छा से रहित होकर) केवल लोक-संग्रह के उद्देश्य से (अर्थात् लोगों के कल्याणार्थ) कर्म करे, जिससे धर्ममार्ग चलता रहे और लोक-मर्यादा बनी रहे । तात्पर्य यह कि विद्वान् को यद्यपि अपने लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, परंतु जब तक वह संसार में सचेत (होश में) विचरता है, तब तक उसे अज्ञानियों की न्याईं किंतु निरासक्त और सर्वहितैषी चित्त से केवल लोगों के कल्याणार्थ कर्म करना ही उचित है ॥ २५ ॥

संबंध—(१) लोक-संग्रह-निमित्त विद्वान् न केवल आप ही कर्म करे, किंतु अज्ञानी कर्म-संगियों को भी अपने उदाहरण से कर्म में प्रेरे और उन्हें ज्ञान बतलाकर कर्म से न हटावे, ऐसे सिद्धांत का भगवान् अब उपदेश देते हैं—

अथवा (२) विद्वान् पुरुष तो लोगों का भला तत्त्वोपदेश से भी कर सकता है, केवल कर्म के अनुष्ठान से नहीं । तो फिर उसे साधारण पुरुषों के समान कर्म ही क्यों करना चाहिए, तत्त्वोपदेश क्यों नहीं ? इस शंका वा भ्रम का निवारण भगवान् अब ऐसे करते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

न,^{६} * बुद्धि^{४}-भेदं^{५}, जनयेत्^{७}, अज्ञानां^{१}, कर्म^{२}-सङ्गिनाम्^{३}	अज्ञानी^{१} कर्म^{२}-संगियोंकी^{३} बुद्धि^{४} में भेद^{५} न^{६} उत्पन्न^{७} करे	जोषयेत्^{६}, सर्व^{४}-कर्माणि^{५}, विद्वान्^{१}, युक्तः^{२}, समाचरन्^{३}	विद्वान्^{१} योग^{२}-युक्त होकर कर्म^{३} करता हुआ सब^{४} कर्मों^{५} में उकसावे^{६} (लगावे या प्रेरे)

अन्वयार्थ——विद्वान् अज्ञानी कर्म-संगियों की बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे, (किंतु आप) योगयुक्त होकर कर्म करता हुआ उन्हें सब कर्मों में प्रेरे ॥ २६ ॥

पहली व्याख्या—ज्ञानी पुरुषों के लिए कर्म करने की रीति दर्शाकर अब भगवान् यह उपदेश करते हैं कि जैसे अनाड़ी वा तुच्छ-बुद्धि लोग अपने से विरुद्ध निश्चय अथवा मतिवाले पुरुषों पर आक्षेप करके उनके निश्चय वा मति में बिगाड़ डाल देते हैं, ऐसे ज्ञानवान् पुरुषों को कभी न चाहिए कि वे भोलेभाले और कर्म-फल की लालसा से प्रेरित होकर कर्म में लगनेवाले पुरुषों के चित्त में भेद-बुद्धि उत्पन्न करें। अर्थात् जिस निश्चय वा बुद्धि से अज्ञानी लोग कर्म कर रहे हों, विद्वान् को किसी आक्षेप, कटाक्ष वा खंडन से उनके निश्चय में कोई बिगाड़, भेद और विक्षेप न डालना चाहिए; और न ऐसा उपदेश देकर कि "मोक्ष केवल आत्मसाक्षात्कार से ही मिलता है, कर्म से कदापि नहीं" उनको कर्म से हटाना चाहिए; और न किसी अनुचित प्रमाणों से उन्हें अपने निश्चय से अश्रद्धालु और चलायमान करना

---

* बुद्धिभेद=किसी को बुद्धि को विचलित करने का नाम बुद्धिभेद है। अथवा किसी के अधिकार-विरुद्ध बात करने वा आचरण करने को बुद्धिभेद कहते हैं।

चाहिए। बल्कि उचित यह है कि विद्वान् आप समत्वबुद्धि से कर्म में युक्त होकर (अथवा सावधान चित्त से स्वयं कर्म में निष्कामभाव के साथ प्रवृत्त होता हुआ) अपने उदाहरण से अज्ञानियों को सब कर्मों में प्रेरे, और उनसे खूब कर्म करावे। इस प्रकार उनके निश्चय वा मार्ग में वह ज्ञानवान् रुकावट डालनेवाला नहीं, किंतु सहायता देनेवाला बने। यदि ज्ञानवान् ऐसा नहीं करता, और स्वयं कर्मों को बंद करके अपने उदाहरण से उन्हें भी कर्म से हटा देता है, तो कर्म को छोड़ देने से और ज्ञान की उत्पत्ति के न होने से वे अज्ञानी उभयतोभ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥ ※

※ इस पर कुछ विलक्षण रूप से अन्य व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

"जो बालक कठिनता से स्तन-पान करता है वह पक्वान्न का भोजन कैसे कर सकता है। इसलिए, हे धनुर्धर ! उसे जैसे पक्वान्न नहीं देना चाहिए, वैसे ही कर्म के विषय जिनका अधिकार है उन्हें "नैष्कर्म्यता श्रेष्ठ है" ऐसा हँसी में भी न कहना चाहिए, उन्हें सत्कर्म ही बताना चाहिए। उसी एक बात की प्रशंसा करनी चाहिए, तथा निष्कर्म लोगों को भी उस सत्कर्म का आचरण करके बताना चाहिए। वर्णाश्रमधर्म की रक्षा के हेतु कर्म का व्यवहार करने से उन्हें कर्मबंधन नहीं लगता, जैसे राजा-रानी वेषधारी बहुरूपिया पुरुष-स्त्री-भाव मन में नहीं लाते, परंतु केवल लोगों की समझ ही वैसे कर देते हैं।" (ज्ञानेश्वरी)

"इस श्लोक का यह अर्थ है कि अज्ञानियों की बुद्धि में भेदभाव उत्पन्न न करे और आगे चलकर २९वें श्लोक में भी यही बात फिर से कही गई है। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि लोगों को अज्ञान में बनाय रखे। २५वें श्लोक में कहा है कि ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह करना चाहिए, और लोकसंग्रह का अर्थ ही लोगों को चतुर बनाना है। इस पर कोई शंका करे कि, जो लोकसंग्रह ही करना हो, तो फिर यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म करे; लोगों को

दूसरीव्याख्या--हे अर्जुन! ऊपर जो मैंने कहा कि "लोकसंग्रह-निमित्त ज्ञानवान् को भी निरासक्त चित्त से कर्म करना चाहिए",

---

समझा देने—ज्ञान का उपदेश कर देने—से ही काम चल जाता है। इसका भगवान् यह उत्तर देते हैं कि जिनको सदाचरण का दृढ़ अभ्यास हो नहीं गया है, (और साधारण लोग ऐसे ही होते हैं) उनको यदि केवल मुँह से उपदेश किया जाय—सिर्फ़ ज्ञान बतला दिया जाय—तो वे अपने अनुचित बर्ताव के समर्थन में ही इस ब्रह्मज्ञान का दुरुपयोग किया करते हैं। और वे उलटे, ऐसी व्यर्थ बातें कहते-सुनते सदैव देखे जाते हैं कि "अमुक ज्ञानी पुरुष तो ऐसा कहता है"। इसी प्रकार यदि ज्ञानी पुरुष कर्मों को एकाएक छोड़ बैठे, तो वह अज्ञानी लोगों को निरुद्योगी बनने के लिए एक उदाहरण ही बन जाता है। मनुष्य का इस प्रकार बातूनी, गोंचपेंच लड़ानेवाला अथवा निरुद्योगी हो जाना ही बुद्धिभेद है, और मनुष्य की बुद्धि में इस प्रकार से भेद-भाव उत्पन्न कर देना ज्ञाता पुरुष को उचित नहीं है। अतएव गीता ने यह सिद्धांत किया है कि जो पुरुष ज्ञानी हो जाय, वह लोकसंग्रह के लिए—लोगों को चतुर और सदाचरणी बनाने के लिए—स्वयं संसार में रहकर निष्कामकर्म अर्थात् सदाचरण का प्रत्यक्ष नमूना लोगों को दिखलावे और तदनुसार उनसे आचरण करावे। इस जगत् में उसका यही बड़ा महत्वपूर्ण काम है। किंतु गीता के इस अभिप्राय को बे-समझे-बूझे कुछ टीकाकार इस श्लोक का यों विपरीत अर्थ किया करते हैं कि 'ज्ञानी पुरुष को अज्ञानियों के समान ही कर्म करने का स्वांग इसलिए करना चाहिए, जिसमें कि अज्ञानी लोग नादान बने रहकर ही अपने कर्म करते हैं।' मानों दंभाचरण सिखलाने अथवा लोगों को अज्ञानी बने रहने देकर जानवरों के समान उनसे कर्म करा लेने के लिए ही गीता प्रवृत्त हुई है। जिनका यह दृढ़ निश्चय है कि ज्ञानी पुरुष कर्म न करे, संभव है कि उन्हें लोकसंग्रह एक ढोंग सा प्रतीत हो, परंतु गीता का वास्तविक अभिप्राय ऐसा नहीं है। भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष के कामों में

इस पर यदि तू यह कहे कि लोकसंग्रह को ज्ञानवान् केवल ज्ञानोपदेश से भी कर सकता है, उसे फिर कर्म की आवश्यकता क्या ? तो यह तेरा कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो विषयासक्त और अज्ञानी पुरुषों को जब केवल तत्त्वोपदेश दिया जाय और उनके आचरण को पहले ठीक न किया जाय (अर्थात् जब उनकी योग्यता और अधिकार से बढ़कर उन्हें उपदेश दिया जाय और पहले उन्हें दुराचार से न हटाया जाय), तो वे उस तत्त्वोपदेश का दुरुपयोग कर लेते हैं, जैसे आजकल के वाचिक ज्ञानियों और साधारण लोगों की ऐसे उपदेशों से दुर्दशा हो रही है। और दूसरे, यदि शुभ आचरण का भी उपदेश तो दिया जाय पर अपने उदाहरण से उसको न दिखलाया जाय, तो सुननेवाले के चित्त पर उस उपदेश का ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए ज्ञानवान् को चाहिए कि आसक्त चित्त से कर्म करनेवाले जो अज्ञानी वा साधारण जन हैं, उनकी बुद्धि और योग्यता के विरुद्ध उनमें वह यह ख़्याल न उत्पन्न करे कि "कर्म तो बंधन का हेतु है, तुम मूर्ख हो जो कर्म कर रहे हो, तुम्हें चाहिए कि मेरे समान निष्क्रिया हो बैठो, क्योंकि निष्क्रिया होने वा चुपचाप बैठने से ही समाधि लगती है जिस पर आत्मसाक्षात्कार होता है, और जिस (साक्षात्कार) पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्य रीतियों से तो केवल जन्म-मरणरूप बंधन ही मिलता है, इत्यादि"। बल्कि इसके विपरीत स्वयं निरासक्त चित्त से (सावधान होकर) सब कर्म (जो उन अज्ञानियों के योग्य हों) करता हुआ वह ज्ञानवान्

लोकसंग्रह एक महत्त्वपूर्ण काम है; और ज्ञानी पुरुष अपने उत्तम आदर्श के द्वारा उन्हें (अज्ञानियों को) सुधारने के लिए—नादान वा मूर्ख बनाये रखने के लिए नहीं—कर्म ही किया करे।" (श्रीतिलक महाराज)

अपने उदाहरण से उन आसक्त चित्त से कर्म करनेवाले अज्ञानियों को उन कर्मों में जोड़े (लगावे) ॥ २६ ॥ *

संबंध—(१) कर्म में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की आभ्यंतर विलक्षणता दर्शाने के बाद भगवान् अब तीन श्लोकों से उनके कर्मों के परिणाम वा फल को स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् उक्त कथन को तीन श्लोकों में गुणभेद व प्रकृतिभेद से स्पष्ट करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

प्रकृतेः[१], क्रियमाणानि[३], गुणैः[२], कर्माणि[४], सर्वशः[५]	प्रकृति[१] के गुणों[२] से किये[३] हुए कर्म[४] सर्व[५] ओर से होते हैं	तत्त्व[६]-वित्, तु[१], महाबाहो[२], गुण[३]-कर्म[४]-विभागयोः[५]	परंतु, हे अर्जुन[२] ! गुण[३]-कर्म[४]-विभाग[५] के तत्त्व[६] को जानने वाला
अहङ्कार[१]-विमूढ[२]-आत्मा[३]	अहंकार[१] से मूढ़[२]-आत्मा[३]	गुणाः[१], गुणेषु[२], वर्त्तन्ते[३]	गुण[१] गुणों[२] में वर्तते[३] हैं
कर्त्ता[२], अहं[१], इति[३], मन्यते[४]	मैं[१] करनेवाला[२] हूँ ऐसा[३] मानता[४] है	इति[१], मत्वा[२], न[३], सज्जते[४]	ऐसा[१] समझ[२] कर नहीं[३] फँसता[४] है

---

* यह वार्ता अन्य शास्त्र में ऐसे है—"अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् । महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ।" अर्थ—अर्द्ध प्रबुद्ध अर्थात् कच्ची बुद्धि, अशुद्ध चित्त और विषयासक्त अज्ञानी जन को जो विद्वान् पुरुष यह उपदेश करता है कि "यह सर्व जगत् ब्रह्मरूप ही है ।" इससे वह अज्ञानी महारौरव नरकादि को प्राप्त कराया जाता है ।

अन्वयार्थ——सर्व ओर से प्रकृति के गुणों से किये हुए कर्म होते हैं, और अहंकार से मूढ़ात्मा "मैं करनेवाला हूँ," ऐसा मानता है। परंतु गुण-कर्म-विभाग के तत्त्व को जाननेवाला, हे अर्जुन ! "गुण गुणों में बर्त रहे हैं" ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता॥ २७, २८॥

व्याख्या—हे अर्जुन! भेद केवल इतना है कि अच्छे-बुरे समस्त कर्म वास्तव में तो प्रकृति के गुणों से किये हुए होते हैं; अर्थात् प्रकृति के सत्त्वरजादि गुण अथवा प्रकृति के कार्यरूप जो इंद्रियाँ हैं उनसे ही सारे कर्म किये जाते हैं। किंतु अहंकार से जिसका अंतःकरण मूढ़ वा मलिन हो गया है, अथवा बुद्धि जिसकी भ्रष्ट हो गई है, वह मूढ़चित्त वा भ्रष्ट-बुद्धि पुरुष ऐसा समझने लग जाता है कि "इन कर्मों का करनेवाला और नहीं बल्कि मैं हूँ।" इसलिए वह इस कर्तृत्वादि संग-दोष में फँस जाता है, जिसके कारण कर्म-फल भोगने के लिए उसे पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होना पड़ता है। परंतु हे बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन! गुण * और कर्म

---

* प्रकृति के सत्त्वरजादि तीन गुण, उनका जो बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय और विषयरूप (कार्यरूप) से भिन्न-अभिन्न अवस्थान है उसका नाम गुण-कर्म-विभाग है। अथवा 'अहं' अभिमान का विषयरूप जो देह-इंद्रियाँ वा अंतःकरण है, इनका नाम गुण है। और 'मम' अभिमान के विषयरूप जो इन देह-इंद्रियों वा अंतःकरण के व्यापार हैं, इन व्यापारों का नाम कर्म है। और जो वस्तु सब जड़ विकारों का प्रकाशक होने से इन सब जड़ विकारों से पृथक् हो, उसका नाम विभाग है। ऐसा स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप असंग आत्मा है। गुणकर्म तो भास्य जड़ विकाररूप हैं, और यह विभागरूप आत्मा तो भासक, चेतन और निर्विकाररूप है। इस प्रकार गुण, कर्म और विभाग, अथवा दोनों के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला जो विद्वान् पुरुष है, वह गुण-कर्म-विभाग का तत्त्ववेत्ता है।

के विभाग के तत्त्व को भली प्रकार जाननेवाला (ज्ञानी) ऐसा समझता है कि प्रकृति के गुणों का यह खेल आपस में हो रहा है, अथवा गुण * (इंद्रियाँ) गुणों (अपने-अपने विषयों) में वर्त रहे हैं, और आत्मा सदा असंग, निर्लेप और उनका साक्षी है। ऐसा निश्चय रखता हुआ ज्ञानवान् कर्म के कर्तृत्वादि संग-दोष तथा उनके फल-भोग में फँसने नहीं पाता, बल्कि इन कर्मों को करते हुए भी वह निःसंग, निर्लिप्त, मुक्त और साक्षी ही रहता है ॥ २७, २८ ॥ †

संबंध—"न बुद्धिभेदं जनयेत्" इस उक्त कथन का भगवान् अब उपसंहार करते हैं—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

---

* गुण=इंद्रियाँ । गुणों में=अपने-अपने विषयों में (श्रीशंकराचार्य)। गुण=सत्त्वादि गुण । गुणों में=अपने-अपने कार्यों में वर्तते हैं (श्रीरामानुज)।

† इस श्लोक की विचित्र ढंग से व्याख्या श्रीज्ञानदेवजी ऐसे करते हैं—"हे अर्जुन ! देखो, यदि दूसरे का बोझा अपने सिर पर लिया जाय तो क्या वह भारी न लगेगा ? वैसे ही प्रकृति के धर्म से जो भले-बुरे कर्म उपजते हैं, उनका मूर्ख लोग बुद्धि के भ्रम के कारण निज को कर्त्ता समझते हैं। ऐसे जो अहंकार से भरे हुए केवल देह ही को आत्मा समझनेवाले मूर्ख हैं, उन्हें यह गहन परमार्थ प्रकट नहीं करना चाहिए।........पर जिन तत्त्वज्ञानियों का कर्मोत्पत्तिकारक प्रकृतिभाव नहीं रहता, वे देह का अभिमान छोड़कर और गुण तथा कर्म के परे होकर देह में प्रकृति के साक्षी हो व्यवहार करते हैं। इसलिए यद्यपि वे शरीरधारी हैं, तथापि कर्म से बद्ध नहीं होते, जैसे कि सब प्राणियों की चेष्टा से सूर्य लिप्त नहीं होता।" (ज्ञानेश्वरी)

प्रकृतेः^{1}, गुण^{2}-सम्मूढाः^{3}	प्रकृति^{1} के गुणों^{2} से धोखा^{3} खाये हुए (मोहित) पुरुष	तान्^{1}, अ-कृत्स्न^{2}-विदः^{3}, मन्दान्^{4}	उन^{1} अकम^{2} जाननेवाले मंद^{4} बुद्धि पुरुषों को
सज्जन्ते^{3}, गुण^{1}-कर्मसु^{2}	गुण^{1} कर्मों^{2} में फँसे^{3} जाते हैं	कृत्स्न^{1}-वित्^{2}, न^{3}, विचालयेत्^{4}	पूर्ण^{1} जानने^{2}वाला (पूर्णवेत्ता) न^{3} चलायमान^{4} करे

अन्वयार्थ—प्रकृति के गुणों से मोहित पुरुष गुण-कर्मों में फँस जाते हैं। उन कम जाननेवाले मंदबुद्धि पुरुषों को पूर्ण जाननेवाला (तत्त्ववेत्ता) चलायमान न करे॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रज, तम, या देहादि विकार) से बहके हुए, धोखा खाये हुए या भूले हुए जो पुरुष हैं, वे मोह के कारण इन गुण और कर्मों में अथवा गुणों के कार्यों में फँस जाते हैं। अर्थात् वे देहादि में आत्मबुद्धि रखकर स्वर्गादि फल के लिए कर्म करते हैं जिससे कर्म-बंधन में फँसते हैं, अथवा प्रकृति के कार्य जो इंद्रियाँ उनके कर्मों में अर्थात् विषय-भोगों में फँस जाते हैं। ऐसे मोहासक्त, पूरा न जाननेवाले, अथवा लघु-दृष्टि रखनेवाले जो मंदमति अज्ञानी हैं उन्हें पूर्ण जाननेवाला (सम्यक् द्रष्टा वा तत्त्ववेत्ता) पुरुष अपने निश्चयों वा भावों से चलायमान न करे, अर्थात् जब तक उनमें ठीक-ठीक समझने की अथवा सूक्ष्म विचार तक पहुँचने की बुद्धि प्राप्त नहीं हुई है, तब तक उनसे वह सकाम कर्म न छुड़ावे और न उनको अपने निश्चय से डाँवाडोल करे, बल्कि आप स्वयं ऊपर से उनके समान कर्म करता हुआ उन्हें अपने उदाहरण से कर्म में लगाय रक्खे॥ २९ ॥

संबंध—(१) कर्म की ठीक रीति और आवश्यकता को दर्शाकर अब

उसी ठीक रीति और आवश्यकता को हेतु में रखकर अर्जुन को भगवान् यों उपदेश करते हैं—

अथवा (२) पूर्व प्रसंग में ज्ञानी और अज्ञानी के शुभ कर्मों के अनुष्ठान की समानता होते हुए भी ज्ञानी में तो कर्तृत्व अभिमान का अभाव और अज्ञानी में कर्तृत्व का अभिमान रहता है, ऐसा दोनों का अंतर भेद दर्शाया। अब अज्ञानी पुरुष भी दो प्रकार के होते हैं, एक मुमुक्षु, और दूसरे अमुमुक्षु। मुक्ति को न चाहनेवाले किंतु स्वर्गादि फल की इच्छावाले अज्ञानी तो काम्य कर्म करते ही हैं, जिससे वे लोक-परलोक में जन्मते-मरते हैं; परंतु मुक्ति की इच्छावाले अज्ञानी पुरुष को कैसे कर्म करना चाहिए जिससे जन्म-मरण से उसका छुटकारा हो, उस रीति को दर्शाते हुए भगवान् उसी रीति के अनुसार चलने के लिए अब मुमुक्षु अर्जुन को उपदेश देते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् उक्त विवेचन (कथन) के सार का अर्जुन को उपदेश करते हैं—

अथवा (४) देहादि में आत्म-भ्रांति से कर्म बंधक होते हैं, ऐसा दर्शाकर जिस रीति से वे ही कर्म मोक्ष के हेतु हो जाते हैं, उस रीति का भगवान् अब अर्जुन को उपदेश देते हैं—

अथवा (५) उक्त सिद्धांत-निरूपण के बाद अर्जुन के लिए जो उचित और आवश्यक है, उसका भगवान् अब उपदेश देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मयि^{१}, सर्वाणि^{२}, कर्माणि^{३}, संन्यस्य^{६}, अध्यात्म^{४}-चेतसः^{५}	मुझ^{१} में सब^{२} कर्मों^{३} को अध्यात्म^{४} चित्त^{५} से समर्पण^{६} करके
निर्^{३}-आशीः, निर्-ममः, भूत्वा	आशा ममता रहित होकर
युद्ध्यस्व, विगतज्वरः	शोक (संताप) रहित हुआ युद्ध कर

अन्वयार्थ—अध्यात्म चित्त से मुझमें सब कर्म समर्पण करके,

आशा, ममता और संताप से रहित हुआ तू युद्ध कर ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी दोनों के लिए कर्म करना उचित ही है; और निरासक्त होकर कर्म करने से पुरुष किसी प्रकार से बंधायमान तो होता नहीं, किंतु मुक्ति को प्राप्त होता है। अतएव तुझे अब यह उचित है कि तू अध्यात्म चित्त से, अर्थात् देहादिकों में अहंभाव को त्यागकर केवल अपने आत्मा में चित्त देकर, या चित्त को आत्मा के ध्यान में स्थापन करके, अथवा विवेकबुद्धि से, या आत्मा के प्रतिपादन करनेवाले जो शास्त्र वा श्रुति-वाक्य हैं, उनमें चित्त देकर सर्व लौकिक और वैदिक, अथवा कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों को मुझ सच्चिदानंद भगवान् के समर्पण करता हुआ कर। और इस समर्पण के नियम का आश्रय लेकर तू सर्वप्रकार की सांसारिक कामनाओं और ममत्व से रहित होकर विना ज्वर (शोक, संताप, झिझक और डर) के युद्ध कर, और स्वयं आचरण करता हुआ अपने दृष्टांत से लोगों को भी अपने-अपने कर्त्तव्यकर्म में लगानेवाला बन। इस प्रकार कर्म करने से तू उनसे बंधायमान या लिपायमान कदापि नहीं होगा ॥ ३० ॥

संबंध—(१) उक्त रीति के अनुसार कर्म करनेवालों के अंतिम परिणाम वा फल को भगवान् अब स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् यह बतलाने लगे हैं कि उक्त उपदेश पर बर्ताव करने से क्या फल मिलता है और न बर्ताव करने से क्या गति वा हानि होती है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये^{1}, मे^{3}, मतं^{5}, इदं^{4}, नित्यं^{6}, अनुतिष्ठन्ति^{7}, मानवाः^{2}	जो^{1} लोग^{2} मेरे^{3} इस^{4} मत^{5} का नित्य^{6} अनुष्ठान^{7} करते हैं	श्रद्धावन्तः^{1}, अनसूयन्तः^{2}	श्रद्धावान्^{1} और अनिंदक^{2} हुए
		मुच्यन्ते^{4}, ते^{1}, अपि^{2}, कर्मभिः^{3}	वे^{1} भी^{2} कर्मों^{3} से छूट^{4} जाते हैं

पहला अन्वयार्थ—जो लोग श्रद्धावान् और अनिंदक हुए मेरे इस नित्य मत का अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्मों से छूट जाते हैं ॥३१॥

दूसरा अन्वयार्थ—जो लोग श्रद्धावान् और अनिंदक हुए मेरे इस मत का नित्य अनुष्ठान करते हैं वे कर्मों से भी छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! अध्यात्म चित्त से सर्व कर्मों को मुझ भगवान् के समर्पण करके आशा, ममता और संतापसे रहित होकर कर्म करने की विधि जो मैंने ऊपर कही है, वह मेरा अपना निश्चित मत है, जो परंपरा से अनादि काल से प्रतिपादित होने के कारण नित्य है, अथवा जो अधिकारी पुरुषों से अवश्य करने योग्य होने के कारण नित्य है। मेरे इस नित्य मत (निश्चय, सिद्धांत वा उपदेश) को जो मुमुक्षुजन अत्यंत आदर के साथ स्वीकार करते हैं, और श्रद्धाभक्ति से युक्त होकर इस मत का विना कुड़कुड़ाने, निंदा वा ईर्ष्या के आचरण करते हैं, वे भी (चाहे वे अज्ञानी ही हों) कर्म की फाँस से छूट जाते हैं। अर्थात् इस उक्त मत के अनुसार कर्म करने से अज्ञानी मुमुक्षु पुरुष भी कर्म के बंधन से मुक्त हो जाते हैं । और यह ज़रूरी नहीं कि वे अज्ञानी मुमुक्षु ब्राह्मण या द्विज ही हों, बल्कि कोई भी व्यक्ति हों, चाहे वे किसी ही जाति वा किसी ही आश्रम के क्यों न हों, इस मेरे उक्त मतानुसार चलने से वे भी कर्म-बंधनों से निर्लिप्त वा मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सिद्धांत रूप उपदेश मैंने ऊपर

३० श्लोक तक दिया, अर्थात् फल की इच्छा से रहित होकर ममत्वबुद्धि से अथवा भगवत्-अर्पण बुद्धि से कर्म में निरासक्त मन से युक्त होने का उपदेश जो मैंने ऊपर किया है; उस मेरे मत (उपदेश वा निश्चय) के अनुसार जो भी पुरुष श्रद्धा और आदर से नित्य चलते हैं, अर्थात् श्रद्धावान् होकर विना कुड़कुड़ाने, निंदा वा ईर्ष्या के जो भी पुरुष मेरे उक्त सिद्धांत को नित्य अपने बर्तावों में लाते हैं, वे चाहे ज्ञानी हों वा अज्ञानी, चाहे आत्मानुभवी हों वा जिज्ञासु, वे सब (उक्त उपदेश के अनुसार चलने से) कर्मों से भी छूट जाते हैं। अर्थात् भगवत्-अर्पण बुद्धि से और निरासक्त मन से कर्म का करनेवाला (चाहे वह ज्ञानवान् हो, चाहे जिज्ञासु) कर्म के पुण्य-पापरूपी फल से तो पहले ही छूटा होता है, केवल इंद्रियों से ही कर्म में युक्त (वा बंधायमान) हुआ होता है; परंतु इस उक्त रीति के अनुसार कर्म करते रहने से वह नितांत कर्म से भी छूट जाता है। अर्थात् निरंतर निष्कामकर्म करते करते मस्ती (निजानंद) की वह अवस्था आच्छादित हो जाती है कि इंद्रियों के व्यवहार भी बंद पड़ जाते हैं, और चित्त को संसार इतना फीका भान होने लगता है कि किसी प्रकार के कर्म में वह नियुक्त होने ही नहीं पाता। इस प्रकार संपूर्ण रीति से कर्म उसको छोड़ जाते या उससे छूट जाते हैं। तात्पर्य इस सारे का यह है कि पुरुष चाहे ज्ञानवान् हो चाहे अज्ञानी, जब वह मारे आलस्य के या कर्म को दुःखरूप समझकर उसे छोड़ना चाहता है, तो कर्म न उससे नितांत छूटते ही हैं और न उसे नितांत छोड़ते ही हैं। पर हाँ, जब वह उक्त रीति से कर्म में प्रवृत्त रहता है, तो समय आने पर कर्म उसे स्वयं छोड़ जाते हैं, और वह नितांत कर्म से भी रहित वा मुक्त हो जाता है, जिससे वह अंदर-बाहर से कर्मातीत होता है॥ ३१॥

संबंध—अब उक्त मत के अनुसार न चलनेवाले के विषय में भगवान् कहते हैं—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

ये^{2}, तु^{1}, एतत्^{3}, अभ्यसूयन्तः^{4} *	पर^{1} जो^{2} इसे^{3} निंदते^{4} हुए	सर्व^{2}-ज्ञान^{3}- विमूढान्^{4}, तान्^{1}, विद्धि^{7}, नष्टान्^{5}; अचेतसः^{6}	उन^{1} सारे^{2} ज्ञानों^{3} से मूढ़ों^{4} और नष्टों^{5} (मुरदों) को तू अविवेकी^{6} जान^{7}
न^{3}, अनु^{4}तिष्ठन्ति, मे^{1}, मतम्^{2}	मेरे^{1} मत^{2} को नहीं^{3} धारण^{4} करते हैं		

अन्वयार्थ—पर जो मेरे इस मत को निंदते हुए धारण नहीं करते हैं, उन सर्व-ज्ञान से मूढ़ (मुरदों) को तू अविवेकी जान (अथवा उनको तू सर्व-ज्ञान से मूढ़, मुरदे और बदतमीज़ समझ) ॥ ३२ ॥

व्याख्या—परंतु हे अर्जुन ! जो उलटा मेरे इस मत की निंदा करते हैं और मेरी वाणी को कपोलकल्पित समझकर, या "केवल यह स्तुति-वाक्य है" ऐसा मानते हुए मेरे मत का अनुष्ठान नहीं करते हैं, वे सब ज्ञानों † से मूढ़ अर्थात् घोर मूर्ख हैं, और

---

* किसी के गुणों में अवगुण की कल्पना करने को असूया कहते हैं, जैसा कि शुभ उपदेशक को बकवादी, मौनी को पाखंडी, संतोषी को आलसी, उद्यमी को लोभी कहना। अर्थात् ऐसा कोई गुण विद्वानों का नहीं जिसको दुष्टचित्त दूषित नहीं करते।

† सर्व-ज्ञान-विमूढ़—कर्म के ज्ञान और आत्मा के ज्ञान, सबमें वे धोखा खाये हुए हैं। या कर्म-विषयक ज्ञान, सगुण ब्रह्म-विषयक ज्ञान तथा निर्गुण ब्रह्म-विषयक ज्ञान इन सबसे अनभिज्ञ (बेख़बर) वा मूढ़ (बेवक़ूफ़, मूर्ख वा धोखा खाये हुए) हैं।

नष्ट * हुए स्वभाववाले अथवा भ्रष्टबुद्धि होते हैं, और विचार-शक्ति से नितांत शून्य हैं, ऐसा समझ। अथवा ऐसे मूढ़ और मुरदों को तू अविवेकी वा मलिन-चित्त या बदतमीज़ जान, अर्थात् ऐसा समझ कि उनमें अभी विचार या तमीज़ का नाममात्र भी नहीं। अथवा इन घोर मूर्खों और अविवेकियों को तू नष्ट हुए समझ, अर्थात् ऐसा समझ कि ये महामूर्ख और अविवेकी तो केवल देखने में जीवित पुरुष हैं, वास्तव में (भीतर से) मुरदा (नष्ट वा भ्रष्ट चित्त) हैं ॥ ३२ ॥

संबंध—(१) जब यह मत ऐसा सुगम, सरल और मुक्तिदायक है, और इसके विरुद्ध चलने से भय तथा नाश है, तो फिर सब मनुष्य क्यों नहीं इसके अनुसार चलते ? क्यों इसके विरुद्ध चलते हैं ? क्यों न इन विरुद्ध चलनेवालों को कुमार्ग से रोककर इस मत में नियुक्त किया जाय ? इन सब उक्तियों का कारण (वा उत्तर) भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) वे मेरे मतानुसार न चलनेवाले घोर मूर्ख, भ्रष्टबुद्धि और अविवेकी क्यों हैं ? इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) मनुष्य की प्रकृति के स्वाभाविक वेग को दर्शाकर भगवान् अब संयम की विधि बताते हैं—

अथवा (४) इतना तत्त्व ज्ञान, धर्म और शास्त्र की दृष्टि से उपदेश देने के बाद अब भगवान् मनुष्य की अपनी-अपनी प्रकृति के नियम को सम्मुख रखते हुए अर्जुन का उक्त उपदेश की ओर ध्यान आकर्षण करने लगे हैं—

अथवा (५) अपने उक्त उपदेश वा मत की पूर्ति के हेतु भगवान् अब मानुषी प्रकृति की प्रबलता का और फिर उसके दुरुपयोग से बचने के लिए इंद्रिय-निग्रह का वर्णन करते हैं—

---

* नष्ट हुए स्वभाववाले, अर्थात् उनकी प्रारब्ध में नष्ट होना ही लिखा है अथवा उनकी बुद्धि और चित्त नष्ट-भ्रष्ट हो गये हुए हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

सदृशं^{5}, चेष्टते^{6}, स्वस्याः^{3}, प्रकृतेः^{4}, ज्ञानवान्^{1}, अपि^{2}	ज्ञानवान्^{1} भी^{2} अपनी^{3} प्रकृति^{4} के सदृश^{5} चेष्टा^{6} करता है
प्रकृतिं^{2}, यान्ति^{3}, भूतानि^{1}	सब प्राणी^{1} (अपनी) प्रकृति^{2} को प्राप्त^{3} होते हैं
निग्रहः^{1}, किं^{2}, करिष्यति^{3}	निग्रह^{1} क्या^{2} करेगा^{3}?

अन्वयार्थ--ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के सदृश चेष्टा करता है। सब प्राणी (अपनी) प्रकृति को प्राप्त हो रहे हैं। निग्रह * क्या करेगा? ॥ ३३ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन! क्यों ये दुष्ट चित्त लोग मेरे मत की निंदा करते और उसे ग्रहण नहीं करते? क्यों उसके विरुद्ध चलते हैं? क्यों इस कुमार्ग से उन्हें ज़बरदस्ती से रोकना और सन्मार्ग में लगाना उचित और आवश्यक नहीं? कारण इस सबका यह है कि पूर्वजन्म में किये हुए धर्माधर्मादि से उपजे हुए भिन्न-भिन्न संस्कार जो इस वर्तमान जन्म में प्राणी का स्वभाव वा प्रकृति होते हैं, वह स्वभाव (प्रकृति) अति बलवान् होता है।

---

* 'निग्रह' शब्द का अर्थ यहाँ 'निरा संयमन' ही नहीं है, किंतु उसका अर्थ 'ज़बरदस्ती' अथवा 'हठ' है। इंद्रियों का योग्य संयमन तो गीता को इष्ट है, किंतु यहाँ पर कहना यह है कि हठ से या ज़बरदस्ती से इंद्रियों की स्वाभाविक वृत्ति को ही एकदम मार डालना संभव नहीं है। उदाहरण लीजिए, जब तक देह है, तब तक भूख-प्यास आदि धर्म,

प्रत्येक प्राणी स्वतः अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही आचरण करता है। यहाँ तक कि ज्ञानवान् भी जो शम-दम-संपन्न है, अर्थात् जिसके वश में इंद्रियाँ होतीं और जो इंद्रियों के वश में नहीं कहा जाता है, वह भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। जब ज्ञानवान् का यह हाल है, तब अज्ञानी का तो भला कहना ही क्या है। इस प्रकार जब सब प्राणी अपनी-अपनी नैसर्गिक प्रकृति से विवश हुए उसके अनुसार ही चेष्टा करते हैं, तो किसी का ऐसी दशा में फिर हठपूर्वक अथवा ज़बरदस्ती से रोकना-थामना किस काम का? तात्पर्य यह है कि जब पूर्वजन्म के संस्कारों से क्षत्रिय का स्वभाव ही युद्ध करना और प्रजारक्षादि है; ब्राह्मण का स्वभाव ही वेद पढ़ना-पढ़ाना, शील, संतोष और क्षमा करना इत्यादि है; वैश्य का जन्मजात स्वभाव ही पशुपालन, कृषि और वणिज करना इत्यादि है; और शूद्र का स्वभाव ही सबकी सेवा करना है; और प्रत्येक पुरुष को अपने-अपने स्वभावानुसार अवश्य चेष्टा करनी ही होती है, तो ऐसी स्थिति में फिर किसी को अपने स्वभाव के विरुद्ध ज़बरदस्ती से चलने वा चलाने का यत्न करना व्यर्थ नहीं तो और क्या है? या किसी के स्वभाव के अनुकूल मार्ग में कोई रुकावट डालना अनर्थ की प्राप्ति कराना नहीं तो क्या है? ॥ ३३ ॥

प्रकृति सिद्ध होने के कारण छूट नहीं सकते। मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, भूख लगते ही भिक्षा माँगने के लिए उसे बाहर निकलना पड़ता है। इसलिए चतुर पुरुषों का यही कर्त्तव्य है कि ज़बरदस्ती से इंद्रियों को बिलकुल ही मार डालने का वृथा हठ न करें; और योग्य संयम के द्वारा उन्हें अपने वश में करके उनकी स्वभावसिद्ध वृत्तियों का लोकसंग्रहार्थ उपयोग किया करें। (श्रीतिलक महाराज)

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! वे मेरे मत के अनुसार न चलनेवाले, अर्थात् सकाम और निष्काम कोई प्रकार का कर्म न करनेवाले घोर मूर्ख और नष्टात्मा इसलिए हैं कि वे प्रकृति-नियम के विरुद्ध चलते हैं, क्योंकि पूर्वजन्मकृत धर्माधर्म से बना हुआ संस्काररूप स्वभाव, अथवा इंद्रियों का अपने-अपने विषय में लगने का स्वभाव जो प्रकृति कहलाता है, इसके वश में प्रत्येक प्राणी है। यहाँ तक कि ज्ञानवान् भी जो शम-दम-संपन्न है, अर्थात् जिसके वश में इंद्रियाँ होती हैं, और जो इंद्रियों के वश में नहीं होता है, वह भी अपनी प्रकृति के अनुसार अवश्य चेष्टा करता है, फिर अज्ञानी का तो भला कहना ही क्या है। इस प्रकार जब सब प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति से मजबूर हुए उसके अनुसार चेष्टा करते हैं, तो इसमें फिर निग्रह क्या करेगा? अर्थात् इस अटल चेष्टा में फिर किसी की हठपूर्वक रोकथाम किस काम की? तात्पर्य यह है कि कर्मेंद्रियों का तो स्वभाव ही उठना, बैठना, चलना, फिरना और बोलना इत्यादि (किसी न किसी कर्म के करने का) है, और इसी प्रकार ज्ञानेंद्रियों का स्वभाव ही अपने-अपने विषय में लगने का है। और पूर्वजन्म के संस्कारों से क्षत्रिय का स्वभाव ही युद्ध करना तथा रण में मरना-मारना है। ऐसे ही ब्राह्मण का स्वभाव ही पढ़ना-पढ़ाना, शील, संतोष और क्षमा इत्यादि है। और प्रत्येक को अपने-अपने स्वभावानुसार अवश्य चेष्टा करनी ही होती है। ऐसा होते हुए फिर जो मानुषी स्वभाव के विरुद्ध चलने का यत्न करता है, और इंद्रियों के स्वाभाविक कर्मों को हठपूर्वक बंद करना चाहता है, दूसरे शब्दों में मेरे मत के विरुद्ध चलना चाहता है, वह महामूर्ख नहीं तो और क्या है? ऐसे ही नष्टात्मा और अविवेकी नहीं तो क्या है? अर्थात् अवश्य वह ऐसा ही है ॥ ३३ ॥

संबंध—(१) जब कि अपने-अपने स्वभावानुकूल सबको चेष्टा करनी ही है, और यह स्वभाव (प्रकृति) न नितांत रुकता ही है, और न इस जन्म में नाश वा बदला ही जा सकता है; तब ऐसी दशा में मनुष्य के लिए क्या कर्त्तव्य है जिससे यह स्वभाव उसका उसे हानि न दे; उस कर्त्तव्य का भगवान् अब उपदेश देते हैं—

अथवा (२) यदि सभी जीव अपनी प्रकृति के अनुरूप ही चेष्टा करते हैं, प्रकृति से रहित कोई है ही नहीं, और प्रकृति का निग्रह किसी प्रकार से हो नहीं सकता, तो ऐसी दशा में वेद-शास्त्र का उपदेश नितांत निरर्थक होगा, इस आपत्ति को भगवान् अब निम्न लिखित कथन से दूर करते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियस्य^{1}, इन्द्रियस्य^{2}, अर्थे^{3}	इंद्रिय^{1} का इंद्रिय^{2} के अर्थ^{3} में	तयोः^{1}, न^{3}, वशं^{2}, आगच्छेत्^{4}	उन^{1} दोनों के वश^{2} में न^{3} आवे^{4}
राग^{1}-द्वेषौ^{2}, व्यवस्थितौ^{3}	राग^{1}-द्वेष^{2} दोनों स्थित^{3} हैं	तौ^{2}, हि^{1}, अस्य^{3}, परिपन्थिनौ^{4}	क्योंकि^{1} वे^{2} दोनों इसके^{3} बटमार^{4} हैं

अन्वयार्थ—इंद्रिय का इंद्रिय के अर्थ में राग-द्वेष रहता है। उन दोनों के वश में (पुरुष) न आवे, क्योंकि वे दोनों इस (पुरुष) के बटमार हैं ॥ ३४ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन! श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं; और वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु ये पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं। इन ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेंद्रियों के जो क्रमानुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध वचन, आदान, गमन, आनंद और मल-विसर्जन ये दस अर्थ वा विषय हैं, इनमें जो-जो विषय इंद्रियों के अपने-अपने स्वभाव (प्रकृति) के अनुकूल हैं (चाहे वे शास्त्र-निषिद्ध ही हों, तो भी) उनमें इंद्रियों का राग

(प्रीति) और जो-जो प्रतिकूल हैं (चाहे वे शास्त्रानुकूल ही हों, तो भी) उनमें इंद्रियों का द्वेष (अप्रीति) रहता है। अर्थात् इंद्रियों को अपने स्वभावानुकूल पदार्थों में तो प्रीति और स्वभाव-विरुद्ध में अप्रीति होती है। इस प्रकार मनुष्य की शारीरिक प्रकृति के अनुसार इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष स्थित है। परंतु स्वभाव इंद्रियों के वा मनुष्यों के नाना हैं। आँख देखती है, सुनती नहीं; कान सुनता है, देखता नहीं; इसी प्रकार नासिका सूँघती है, जिह्वा चखती है इत्यादि। एक इंद्रिय अपने अर्थ में प्रवृत्त होती अर्थात् प्रीति रखती है, दूसरे के अर्थ में नहीं। दूसरे के अर्थ में उसे स्वतः अप्रवृत्ति वा अप्रीति होती है। इसी तरह एक मनुष्य का स्वभाव दूसरे के स्वभाव से सर्व प्रकार से मेल नहीं खाता। किसी को कोई वस्तु और मार्ग रुचिकर है, और किसी को कोई। धार्मिक स्वभावयुक्त पुरुष की रुचि आरंभ से ही धर्म-ओर होती है। उसकी इंद्रियाँ भी धर्मोपदेशों के सुनने, कथन करने, ग्रहण करने और धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन में बड़ी प्रीति करतीं अर्थात् उसी ओर प्रवृत्त रहना पसंद करती हैं, दूसरी ओर लगना नहीं चाहतीं। और अधार्मिक स्वभावयुक्त पुरुष की रुचि धर्म-ओर नहीं किंतु अधर्म वा शास्त्र-निषिद्ध मार्ग में होती है, जिससे उस की इंद्रियाँ भी कुमार्ग वा शास्त्र-निषिद्ध उपदेशों, बातों और विषयों में प्रीति करतीं, अर्थात् उधर रुचि से प्रवृत्त होती हैं, और धार्मिक उपदेशों वा पुस्तकों में अरुचि रखतीं, अर्थात् उनसे द्वेष करती हैं। और यह भी ज़रूरी नहीं कि जिसमें हमारी रुचि हो उसमें सब प्राणियों की हो, और जिसमें सब प्राणियों की हो उसमें हमारी भी अवश्य हो। प्राणियों के स्वभाव के भिन्न-भिन्न होने से रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न अवश्य होती हैं।

मनुष्य का स्वभाव अन्न खाने का है, पशु का घास, सुअर का मैला (लीद), और सिंह का मांस खाने का होता है। और प्रत्येक प्राणी की इंद्रियाँ अपने-अपने स्वभावानुकूल भोजन में रुचि और स्वभाव के प्रतिकूल में अरुचि रखती हैं । फिर मनुष्यों में किसी का स्वभाव आयु-भेद से केवल दूध पीने का, किसी का स्थूल अन्न, और किसी का सूक्ष्म अन्न (पतली खिचड़ी, चावल इत्यादि) खाने का होता है, ऐसे ही वृत्ति भी किसी की धर्म-ओर, किसी की अधर्म-ओर, किसी की ईश्वरमुख और किसी की ईश्वरविमुख होती है, इसलिए इंद्रियाँ भी प्रत्येक मनुष्य की अपने-अपने स्वभाव और वृत्ति के अनुकूल पदार्थों वा विषयों में रुचि (प्रीति), और प्रतिकूल में अरुचि (अप्रीति वा द्वेष) रखती हैं। जब यह हाल है, तो मनुष्य को कदापि नहीं चाहिए कि जिस पदार्थ वा विषय में उसकी इंद्रियाँ (अपने स्वभाव के अनुकूल होने से) रुचि वा राग करें, मन को वह उससे लगन, प्रीति वा आसक्ति उत्पन्न करने दे, और जिससे वे (अपने स्वभाव के विरुद्ध होने से) अरुचि वा द्वेष करें, उससे मन को वह अप्रीति वा घृणा या द्वेष उत्पन्न करने दे । अन्यथा वह मन शत्रुता-मित्रताभाव के वशीभूत हुआ अधोगति को प्राप्त होगा, जिससे मनुष्य-योनि से गिरकर उसे पशु-योनि में आना पड़ेगा, जहाँ ईश्वर-प्राप्ति वा आत्म-साक्षात्कार कठिन ही नहीं, किंतु नितांत असंभव है । इसलिए इंद्रियों की इस अटल दशा में मनुष्य को यह चाहिए कि वह अपने स्वभावानुकूल इंद्रियों से काम तो ले, परंतु अपने आपको वा अपने मन को उन इंद्रियों के राग-द्वेष के वश में न होने दे । जैसे मार्ग चलते हुए के नेत्र विना राग-द्वेष के देखते हैं, वा जैसे सेवक मालिक की आज्ञा को आज्ञा मानकर पालन करता है, न कि रागद्वेष के अधीन होकर।

इसी प्रकार रागद्वेष से रहित होकर, अर्थात् इंद्रियों के रागद्वेष के वश में न आकर, मनुष्य को अपने स्वभाव-सिद्ध कर्मों को अपना कर्त्तव्य समझकर करना चाहिए। यदि रागद्वेष के वश में वह या उसका मन हो गया, तो ये रागद्वेष उसके मनुष्यत्व को हर लेंगे और उसे सर्व प्रकार से निकम्मा कर देंगे, क्योंकि ये रागद्वेष मनुष्य की उन्नति के मार्ग में विघ्न डालनेवाले वा डाकू हैं। चूँकि इंद्रियों के इन स्वाभाविक रागद्वेष में मन का फँसना और न फँसना उसकी शिक्षा वा संगति पर निर्भर है, इसलिए शास्त्रोपदेश और सत्संग की आवश्यकता उसके लिए नियत है, इसी कारण भगवान् ने अर्जुन को उक्त शिक्षा दी है ॥ ३४ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व अध्याय (श्लोक १४) में यह कहा जा चुका है कि मात्रास्पर्श (इंद्रियों का विषयों से संबंध) शीतोष्ण और सुख-दुःख का देनेवाला होता है, जिससे इंद्रियों का अपने-अपने विषय में रागद्वेष स्थित है, जैसे नेत्र का सुन्दर दृश्य देखने में तो राग और भयानक दृश्य देखने में द्वेष होता है, इत्यादि। मनुष्य को इन (राग-द्वेष) के वश में न आना चाहिए अर्थात् इंद्रियों का यह स्वभाव होता है कि किसी वस्तु को वे चाहती हैं और किसी को नहीं, किसी से उनकी प्रीति होती है, किसी से अप्रीति। अपने अनुकूल पदार्थों से वे प्रेम रखती हैं और प्रतिकूल से वैर। या ऐसे कहा जाय कि अच्छे वा अनुकूल पदार्थों को वे ग्रहण करती हैं और बुरे वा प्रतिकूल को विसर्जन। यह स्वभाव इंद्रियों का मनुष्य के मरण पर्यंत रहता है जो न बलपूर्वक बदला ही जा सकता है, और न जीते जी नाश ही किया जा सकता है। पर हाँ, इस स्वभाव का उपयोग और विषय अवश्य बदला जा सकता है। अर्थात् बुरी वस्तु में प्रीति और अच्छी से अप्रीति अथवा व्यावहारिक विषयों में प्रीति और पारमार्थिक

विषयों से अप्रीति के स्थान पर इनकी अच्छी वस्तु में प्रीति और बुरी से अप्रीति अथवा पारमार्थिक विषयों में प्रीति (राग) और व्यावहारिक विषयों से अप्रीति (द्वेष) की जा सकती है। परंतु इंद्रियों के रागद्वेष का यह उत्तम उपयोग तभी हो सकता है जब यह दोनों (रागद्वेष) मन और बुद्धि के वश में हों, न कि इनके वश में मन और बुद्धि हों। अर्थात् जब मन और बुद्धि इन इंद्रियों और उनके रागद्वेषरूपी स्वभाव के मालिक तो हों, किंतु अनुचर न हों, तब इंद्रियों का अपने-अपने विषय में रागद्वेष ठीक मार्ग पर लगाया जा सकता है और मुक्ति का साधन हो सकता है, अन्य दशा में नहीं। इसलिए पुरुष को चाहिए कि मन और बुद्धि, अर्थात् अपने आपको इंद्रियों के स्वभाव के वश में न होने दे, बल्कि नित्य इस स्वभाव को योग्य संयम द्वारा मन बुद्धि के वश में रखता हुआ उत्तम आचरण (मार्ग) में इंद्रियों को लगावे। इस रीति से वह (पुरुष) इन इंद्रियों के स्वभाव से अत्यंत लाभ उठा सकेगा, बल्कि इन्हीं की सहायता से वह ईश्वर-मुख होता हुआ शांति वा निजानंद को प्राप्त हो सकेगा। और यदि पुरुष बुद्धि वा मन को इंद्रियों के स्वभाव के अधीन कर देगा, तो वह अत्यंत हानि वा नाश को प्राप्त होगा, क्योंकि इस रीति से ये रागद्वेष पुरुष को वाह्य विषयों में अत्यंत आसक्त करके ईश्वर-विमुख कर देंगे, जिससे ये एक ओर तो उसकी बुद्धि और निजानंद को हर लेंगे, और दूसरी ओर उसके मन को निर्बल और दुःखी कर देंगे। इसलिए ये रागद्वेष मुमुक्षु के मार्ग में विघ्न डालनेवाले वा बटमार कहलाते हैं। इसी उक्त आशय को अन्य रूप से श्रुति भी स्पष्ट करती है कि—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते

मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥ (कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली ४)।" अर्थ—(यमराज कहता है) स्वयंभू (परमात्मा) ने इंद्रियों के छिद्रों को बहिर्मुख रचा है, इसलिए पुरुष बाहर को देखता है, भीतर (अंदर) कोई नहीं। कोई ही धीर पुरुष, जिसने अमृतत्व की इच्छा की, वह अपनी आँखों को मूँद कर (इंद्रियों को विषयों से हटाकर या निरासक्त करके) अंतरात्मा को (उस आत्मा को जो इंद्रियों का आधार भूत वा इंद्रियों के पीछे है) देखता है ॥ १ ॥ बालक (मूर्ख) बाहर की कामनाओं के पीछे जाते हैं और वे मृत्यु की फाँस (क़ैद) में पड़ते हैं, अर्थात् इंद्रियों के अधीन पुरुष बाह्य विषयों में फँसते हैं, और जन्म-मरण के बंधन से छूटने नहीं पाते हैं। पर हाँ, धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर अस्थिर वस्तुओं में स्थिर वस्तु को नहीं माँगते हैं। अर्थात् विचारवान् पुरुष अमृतत्व को अपने भीतर जानते हुए बाह्य क्षणभंगुर वा अस्थायी पदार्थों में नित्य स्थिर वस्तु की आशा कदापि नहीं रखते हैं, अतएव वे न इंद्रियों के अधीन होते हैं और न बाह्य विषयों में ही आसक्त होते हैं ॥ ३४ ॥

संबंध— (१) इस प्रकार प्रकृति-अनुकूल धर्म को अवश्य अनुष्ठेय दिखलाकर अब भगवान् परधर्म से उसकी श्रेष्ठता और परधर्म पर चलने से हानि दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब उपसंहार रूप से प्रकृति-अनुकूल स्वधर्म-पालन की विशेष उपयोगिता भगवान् दर्शाते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

श्रेयान्^{९}, स्व^{५}-धर्मः^{८}, वि^{७}-गुणः^{६}, पर^{१}-धर्मात्^{४}, सु^{२}-अनुष्ठितात्^{३}	पराये^{१} अच्छे^{२} अनु^{३}ष्ठान किये हुए धर्म^{४} से अपना^{५} गुण^{६}-रहित^{७} धर्म^{८} श्रेष्ठ^{९} है
स्व^{१}-धर्मे^{२}, निधनं^{३}, श्रेयः^{४}	अपने^{१} धर्म^{२} में मृत्यु^{३} श्रेष्ठ^{४} है
पर^{१}-धर्मः^{२}, भय^{३}-आवहः^{४}	पराया^{१} धर्म^{२} भय^{३} कारक^{४} है

अन्वयार्थ—अच्छे अनुष्ठान किये हुए पराये धर्म से अपना गुणरहित धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मृत्यु श्रेष्ठ है, पराया धर्म भयकारक है ॥ ३५ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! अपनी प्रकृति, वर्ण व आश्रम के अनुकूल जो भी धर्म (कर्त्तव्य या स्वभाव) है, वह चाहे अन्य पुरुष की प्रकृति, वर्ण वा आश्रम के धर्म से कितना ही गुणरहित (तुच्छ) और सर्व अंगों से अपूर्ण क्यों न हो, तथापि वह (स्वधर्म) पराये धर्म से श्रेष्ठ और आचरण किये जाने योग्य है। और स्वधर्मानुसार आचरण करने में यदि मृत्यु भी प्राप्त हो जाय, तो अति लाभदायक वा कल्याणकारी होती है। परंतु अपनी प्रकृति, वर्ण वा आश्रम के विरुद्ध धर्म (कर्त्तव्य वा स्वभाव) चाहे दूसरे के लिए अति कल्याणकारी, गुणदायक और सुगमता से किया जानेवाला हो, तथापि अपने वास्ते अति हानिकारक और भय लानेवाला होता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू भी अपनी योधाओंवाली प्रकृति, क्षात्रवर्ण और गृहस्थाश्रम के अनुसार आचरण कर, अर्थात् युद्ध के लिए उठ। अन्य (वानप्रस्थ आदि ब्राह्मण या विरक्त) पुरुषों की प्रकृति, वर्ण और आश्रम के अनुसार आचरण मत कर, अर्थात् युद्ध-धर्म को छोड़कर भीख माँगने पर तैयार मत हो ॥ ३५ ॥

दूसरी व्याख्या—पूर्व कई श्लोकों में वर्णन हो चुका है कि मनुष्य का निजधर्म मन के धर्म से विलक्षण, मन का निजधर्म बुद्धि के धर्म से भिन्न, और इंद्रियों का इन सबके धर्मों से विलक्षण

धर्म है। मनुष्य का निजधर्म वास्तव में अकर्त्ता, अभोक्तापन और साक्षित्व है; मन का धर्म संकल्प-विकल्प करना है; बुद्धि का धर्म सत्-असत् की विवेचना करना है ; और इंद्रियों का धर्म देखना, सुनना, सूँघना, चखना, छूना, चलना, पकड़ना, बोलना इत्यादि, और इन विषयों में राग-द्वेष करना है। इस प्रकार एक का धर्म दूसरे के धर्म से परस्पर विलक्षण वा भिन्न है। यद्यपि इन इंद्रियों आदि के अपने-अपने धर्म प्राणी के अंतकाल तक भी नाश नहीं होते (बल्कि ज्ञानवान् की भी इंद्रियाँ और मन अपने-अपने धर्मानुसार चेष्टा करते रहते हैं), तथापि अज्ञान के कारण ये अपने-अपने धर्म को बुरा और दूसरे के धर्म को अच्छा, अथवा अपने स्वभाव को कठिन (धर्म) और दूसरे के स्वभाव को सरल समझने लगते हैं। जिससे अपने धर्म को छोड़कर दूसरे के अनुसार चलने में यत्न करने लग जाते हैं, जिसका परिणाम अत्यंत हानिकारक और दुःखदायी होता है। विशेषतः जब मन और बुद्धि मारे अज्ञान के अपने धर्मों को भूलकर इंद्रियों के धर्म (स्वभाव) के अनुचर हो जाते हैं, तब वे ज़िंदगी (जीवन) को अत्यंत ही निकृष्ट, दुःखपूर्ण और नरकगामी बना देते हैं। जैसे कि अर्जुन के मन-बुद्धि की दशा है। क्योंकि अर्जुन ने धर्म-अधर्म के विवेक से (अथवा अपने क्षात्र स्वभाव के अनुसार) तो धर्म-युद्ध करने का संकल्प किया था, और खूब विचारदृष्टि से इस धर्म-युद्ध को अपना मुख्य कर्त्तव्य वा निजधर्म भी समझा था। पर जब वह रण-भूमि में पहुँचा और अपने संबंधियों वा गुरुओं पर उसकी दृष्टि पड़ी, तो झट आँखें यह राग-द्वेष उत्पन्न करने लगीं कि—"अपने संबंधियों को मारकर रुधिर से लिप्त भोग भोगने पड़ेंगे। इन पूजनीय गुरुओं और वृद्धों को मारने की अपेक्षा तो भीख माँगकर (भिक्षान्न) खाना अत्यंत श्रेष्ठ है, इत्यादि।"

कान शंखों की कर्णकटु वा भयंकर ध्वनियों से भयभीत हो गये। हाथों ने भी धोखा दे दिया (अर्थात् गांडीव हाथ से फिसलने लग पड़ा)। त्वचा जलने लग पड़ी, और मन इन बाह्य इंद्रियों के रागद्वेषरूपी धर्मों का अनुचर होने से इतना शोक में डूब गया कि चारों ओर भ्रमण करने लग पड़ा, अपने युद्ध के संकल्प को खो बैठा, बल्कि इसके कारण अर्जुन को निर्लज्ज होकर स्पष्ट बोलना पड़ा कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा।" बुद्धि की विचारशक्ति जाती रही जिससे धर्म-युद्ध के अंदर अपने संबंधियों को मारने में उसे कल्याण दिखाई नहीं दिया। इस ऐसे (इंद्रियों के) अधीन, और अपने धर्म से फिसले हुए वा विमुख हुए (या स्वधर्म भूले हुए) अर्जुन को अपने निजधर्म पर दृढ़ स्थिर करने के लिए तथा उसके मन-बुद्धि को सर्वप्रकार से सावधान करने के लिए भगवान् से यह गीता का उपदेश आरंभ हुआ। और पहले कई बार ऐसा कहने पर भी पूर्व श्लोक ३४ में भगवान् ने यह पुनः स्पष्ट कहा कि 'इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में रागद्वेष नित्य रहता है (क्योंकि यह उनका अटल स्वभाव वा धर्म है) और इस रागद्वेष के वश में मनुष्य को कदापि न आना चाहिए, क्योंकि ये दोनों उसकी उन्नति के मार्ग में विघ्न डालनेवाले अर्थात् बटमार होते हैं।" और अब भगवान् इसी निजधर्मानुसार चलने के नियम का ऐसे उपदेश करते हैं कि हे अर्जुन! इंद्रियों का रागद्वेषादि धर्म (स्वभाव) चाहे कितना ही सरल और सुगमता से अनुकरण किये जाने योग्य क्यों न हो, तथापि मन, बुद्धि को वा स्वयं तुझे अपना धर्म (स्वभाव वा कर्त्तव्य) छोड़कर इन इंद्रियों के धर्मों के वशीभूत (या अनुचर) कभी नहीं होना चाहिए। क्योंकि अपना (उनकी अपेक्षा) निकृष्ट और गुणरहित धर्म दूसरे के अर्थात् इन इंद्रियों के अपने उत्तम और सुनिष्ठित धर्म से भी श्रेष्ठ है। क्या लोगों

के मनोहर महल देखकर अपने बने-बनाये फूस के झोंपड़े को तोड़ डालना चाहिए ? यद्यपि अपनी स्त्री कुरूप हो तथापि, जैसे उसी को भोगना भला है; वैसे ही स्वधर्म चाहे कितना ही कठिन हो, चाहे आचरण के लिए दुर्घट ही हो, तथापि अंत में वही लाभकारी होता है। यह स्पष्ट ही है कि जब तक नामरूप संसार विद्यमान है, तब तक (अच्छा-बुरा, उत्तम-मध्यम इत्यादि) सापेक्षक धर्म अवश्य दिखाई देते रहेंगे, क्योंकि एक ही पदार्थ वा धर्म एक की अपेक्षा से उत्तम होता है और वही किसी दूसरे की अपेक्षा से निकृष्ट, बुरा वा मध्यम हो जाता है। यदि मनुष्य ऐसा करता रहे कि आज वह अपने निश्चित कर्त्तव्य अथवा अपनी प्रकृति वा वर्ण के अनुकूल स्वभाव (धर्म) को किसी दूसरे की अपेक्षा से बुरा समझकर छोड़ दे, और किसी दूसरे के कर्त्तव्य या प्रकृति वा वर्णानुकूल धर्म को अच्छा समझकर उसे अपना बनाने लग जाय। और कल फिर उस दूसरे के धर्म वा कर्त्तव्य को भी किसी और तीसरे के धर्म वा कर्त्तव्य की अपेक्षा से बुरा समझकर उस पहले को नितांत छोड़ दे, और इस नवीन (तीसरे) को ग्रहण करने लगे; तो इस रीति से न वह एक धर्म वा कर्त्तव्य का पालन कर सकेगा और न अपने निजधर्म में दृढ़ रह सकेगा। और यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक की निज प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार धर्म तो नष्ट हो नहीं सकता, जिससे वह अपने प्रकृति-सिद्ध धर्म का कभी नितांत नाश तो कर सकेगा नहीं, और यह नवीन (धर्म) पूर्ण रीति से उसका अपना होने का नहीं, और इसीलिए अपना निजधर्म छोड़ने से भी उससे नितांत छूटेगा नहीं, बल्कि पुनः-पुनः भड़काकर या विवश करके वह उसे अपनी ओर खींचेगा ही, जिससे उस (दूसरे के धर्मपथ पर चलनेवाले) का चित्त डाँवाडोल और दुःखी रहेगा; और उसका अपना हाल इस

दृष्टांत के अनुसार हो जायगा कि "काक चला हंस की चाल और वह अपनी भी खो बैठा।" इसलिए मनुष्य को यह उचित है कि वह अपना निश्चित कर्त्तव्य वा निजधर्म ही (जो दूसरे की अपेक्षा चाहे कैसा ही हो) अपने वर्त्ताव में लावे और किसी दूसरे के धर्म में कदापि फँसने न पावे। और अपने धर्म का अनुष्ठान (पालन) करते-करते यदि मृत्यु भी प्राप्त हो जाय, तो उसे वह अत्युत्तम समझे (क्योंकि स्वधर्म-निष्ठ पुरुष की मृत्यु इस लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्गादि की प्राप्ति कराती है और परधर्म में मृत्यु इस लोक में अपकीर्ति और परलोक में नरकादि की प्राप्ति कराती है) । परंतु अपना धर्म * वा कर्त्तव्य छोड़कर दूसरे के धर्म वा कर्त्तव्य में प्रवृत्ति सर्वदा हानिकारक और भय में डालनेवाली होती है, ऐसा वह निश्चय करके जाने ॥ ३५ ॥

संबंध – उक्त उपदेश सुनने पर अर्जुन को संदेह हुआ कि जब मनुष्य का कल्याण अपने निजधर्म वा कर्त्तव्य-पालन करने में ही है, और वह

---

* धर्म के अर्थ यहाँ कोरे ईसाईधर्म, इस्लामधर्म अथवा हिंदुधर्म इत्यादि नहीं, और न केवल वर्णाश्रमधर्म ही है। यद्यपि बहुत भाष्यकारों ने धर्म का अर्थ यहाँ केवल अर्जुन का वर्णाश्रमधर्म ही लिया है, तथापि पूर्वापर के संबंध से केवल इतने ही अर्थ नहीं निकलते हैं। धर्म शब्द 'धृ' धातु से निकला माना जाता है, जिसके अर्थ धारण करना या ग्रहण करना है, इसलिए मन की धारणा, संकल्प, कर्त्तव्य वा फ़र्ज़ (duty) को बहुधा धर्म कहा जाता है। किंतु यहाँ स्वधर्म से तात्पर्य प्रायः पूर्वजन्मकृत प्रारब्ध कर्मों से बना हुआ स्वभाव है। अर्थात् उस स्वभाव को उल्लंघन करके जो पुरुष वर्तता है, वह ठीक नहीं करता। इसलिए धर्म के अर्थ यहाँ न केवल वर्णाश्रमधर्म ही हैं, किंतु मन तथा इंद्रियों के स्वभाव और निज कर्त्तव्य भी हैं।

स्वयं भी अपना कल्याण इसी में चाहता है, तो फिर किस कारण से विवश हुआ मनुष्य निजधर्म को छोड़कर परधर्म में लग जाता है? । इस संशय से प्रेरित हुआ अर्जुन अब भगवान् से इस प्रकार पूछता है—

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अथ^{1}, केन^{2}, प्रयुक्तः^{3}	फिर^{1} किससे^{2} प्रेरा^{3} (उकसाया) हुआ	अनिच्छन्^{2}, अपि^{3}, वार्ष्णेय^{1} *	हे कृष्ण^{1} ! न चाहते^{2} हुए भी^{3}
अयं^{1}, पापं^{3}, चरति^{4}, पूरुषः^{2}	यह^{1} पुरुष^{2} पाप^{3} को करता^{4} है	बलात्^{1}, इव^{2}, नियोजितः^{3}	धक्के^{1} से मानों^{2} जोड़ा^{3} गया है

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे कृष्णजी ! फिर किससे प्रेरा हुआ यह पुरुष न चाहता हुआ भी पाप करता है ? मानों, धक्के से (उसमें) लगाया गया है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त उपदेश सुनकर अर्जुन ने पूछा कि हे वृष्णि-कुलोत्पन्न भगवान् कृष्णजी ! यथार्थ विवेक होने पर और सावधान मन से भली भाँति निजधर्म का आचरण करते हुए भी फिर किससे प्रेरित हुआ, अर्थात् किसकी प्रेरणा के वश में आकर, यह पुरुष (चाहे महात्मा हो, चाहे लघु आत्मा) चित्त से न चाहते हुए भी पाप को कर बैठता है ? अर्थात् किस ज़बरदस्त कारण से मनुष्य अपने निज स्वभाव के विरुद्ध चलने लग जाता है ? और अपनी इच्छा के विरुद्ध पाप करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों किसी अति बलवान् प्रेरक से विवश (मजबूर) होकर वह उस पाप में लग रहा है ॥ ३६ ॥

---

* वार्ष्णेय का सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

संबंध—अर्जुन के प्रश्न का उत्तर भगवान् अब विस्तारपूर्वक इस अध्याय के अंत तक देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

कामः[2], एषः[1], क्रोधः[4], एषः[3]	यह[1] काम[2] है, यह[3] क्रोध[4] है	महा[1]-अशनः[2], महा[3]-पाप्मा[4]	बड़ा[1] खानेवाला[2], बड़ा[3] पापी[4]
रजः[1]-गुण[2]- समुद्भवः[3]	रजोगुण[2] से उत्पन्न[3] हुआ हुआ है	विद्धि[4], एनं[2], इह[1], वैरिणं[3]	यहाँ[1] इसको[2] तू वैरी[3] जान[4]

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—(हे अर्जुन!) यह काम * है,

---

* "तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥" (म० भा० ३. २. २५)

अर्थ—तृष्णा निःसंदेह सब पापों से युक्त है, नित्य उद्वेग उत्पन्न करती रहती है, और बहुत अधर्म तथा घोर पापों से बाँधती है ।

"अनाद्यन्तातु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ॥ (म० भा० ३. २. ३७)

अर्थ—वह तृष्णा आदि-अंत-रहित है और प्राणियों के अंतःकरण में प्रवेश करके अग्नि के समान उन्हें नाश करती है ।

"मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च ।
छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च ॥ ११ ॥
तस्या ज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च ।
सर्वदोषास्तथा लोभात्तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥ १२ ॥"
(म० भा० १२. १५६. ११-१२)

अर्थ—मोह ही लोभ का मूल है और वह उसका फल भी है । और दोनों की एक साथ गति है । लोभ के नष्ट होने से उसका कारण अज्ञान

यह क्रोध * है जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ-हुआ है, बहुत खानेवाला और महापापी है। इसको तू यहाँ वैरी जान ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कृष्णचंद्र ऐसे बोले—हे अर्जुन ! जिस बलवान् प्रेरक को तुम पूछते हो, उसे मैं यद्यपि पूर्व अध्याय के श्लोक ६२, ६३ में ऐसे बतला आया हूँ कि "विषयों को ध्याते रहने से पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है, इस आसक्ति से उस पुरुष में काम (विषय-वासना) उत्पन्न हो आता है, काम से क्रोध, क्रोध से संमोह (अविवेक), संमोह से स्मृति का भ्रंश

भी नष्ट हो जाता है। अज्ञान से लोभ और लोभ से अज्ञान तथा अन्य सब दोष उत्पन्न हो आते हैं, इसलिए लोभ का त्याग करना चाहिए।

* "क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसञ्चितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥" (म० भा० १.४२.८)

अर्थ—निःसंदेह क्रोध यतियों के दुःखपूर्वक बटोरे हुए धर्म को हर लेता है। और धर्मविहीन पुरुषों की गति इष्ट (उचित वा ठीक) नहीं होती।

"क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि ॥"(म०भा० ५.५५.५)

अर्थ—इस संसार में प्राणियों के नाश का कारण क्रोध देखा जाता है। क्रोधी पुरुष (यहाँ तक) पाप करता है कि अपने गुरु तक को मार डालता है।

"यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ॥ (म० भा० ३.२६.२)
तस्याऽभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥"

अर्थ—हे सुंदरी ! जो क्रोध को वश में करता है, उसका कल्याण होता है। जो नित्य क्रोध के वश में रहता है, उसका यह परम दारुण क्रोध ही नाश का कारण होता है।

(बिगाड़), स्मृति-भ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से पुरुष का अपना नाश (मनुष्यत्व वा पुरुषत्व का ध्वंस) उत्पन्न हो आता है।" जिससे यह स्पष्ट हो रहा है कि इस सब अधोगति और विवशी (बेबसी) का मूल कारण विषयों में आसक्ति, काम और क्रोध हैं। पर अब तुम पुनः पूछ रहे हो, इसलिए तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में पुनः उसे दोहराते हुए मैं कहता हूँ कि—यह काम अर्थात् कामना वा विषयों की अभिलाषा है, जो विषयों में आसक्ति के कारण तथा रजोगुण से उत्पन्न हो आता है, जो फिर लोगों को अपने वश में करके सब अनर्थों के करानेवाला होता है। और जब यह (काम) किसी कारण से रुक जाता है. अर्थात् किसी कामना की पूर्ति में जब कोई विघ्न पड़ जाता है, तो यही फिर क्रोधाकार हो जाता है। इसलिए क्रोध जो काम ही की दोहरी तह है वास्तव में काम ही है, उससे वस्तुतः भिन्न नहीं। इसलिए उसकी उत्पत्ति भी पूर्व मैंने काम से वा रजोगुण से ही कही है। यह काम और क्रोध दोनों ज्ञानरूपी धन के सर्प हैं, भजनमार्ग के घातक हैं। इनसे प्रेरा हुआ पुरुष विषयों और पाप में प्रवृत्त होता है। इनकी प्रेरणा (उकसावट) ऐसी बलवान् और वशीकर है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् इसके वशीभूत हुए ऐसे रुदन और प्रलाप करते हैं कि "हाय ! हमने इस कामना के वश में आकर यह अनर्थ किया, वह पाप किया, इत्यादि।" यह काम बड़े भारी आहार-वाला है, अर्थात् इसकी तृष्णा इतनी बड़ी है कि कभी पूरी ही नहीं होती। इस विषय में स्मृति भी ऐसे कहती है—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ १ ॥ यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥ २ ॥"=यह काम पदार्थों के भोगों से कभी भी शांति को नहीं प्राप्त होता,

किंतु जैसे घृत काष्ठादि से अग्नि वृद्धि को पाती है, वैसे यह काम भी बहुत पदार्थों के भोगों से प्रतिदिन वृद्धि को पाता है। और इस पृथिवी में जितने जौ इत्यादि अन्न, जितने स्वर्णादि धन, जितने गौ, घोड़ा आदि पशु और जितनी सुंदर स्त्रियाँ हैं, वे सब पदार्थ भी किसी एक कामनावाले पुरुष को प्राप्त हो जायँ तो भी उसके काम को तृप्त करने में वे असमर्थ होंगे। ऐसा जान कर पुरुष काम के वश में न जावे, किंतु शांति को प्राप्त होवे। (मनु० २, ६४, ६५; और महाभारत आदिपर्व ७५, ४६)। और यह काम अति नीच है, क्योंकि इसी से प्रेरित होकर प्राणी पाप को करता है, और यही उसे उन्नति से हटाता वा नीचे गिराता है, और यही इस रीति से पुरुष के पुरुषत्व वा मनुष्यत्व का ध्वंस कर देता है। इसलिए हे अर्जुन! तू इस काम को संसार में वैरी (शत्रुरूप) जान ॥ ३७ ॥*

---

* स्वभाव (प्रकृति) और काम (वासना) में बहुत भेद है—( ) स्वभाव तो जन्म के साथ उत्पन्न होता है और काम जन्मने के बहुत काल पीछे विषयों में आसक्ति इत्यादि से प्रकट हो आता है। (२) स्वभाव तो न नाश किया जा सकता है और न नितांत रोका ही जा सकता है, क्योंकि इसके नाश वा नितांत रोकने से प्राणी का अपना नाश हो जाता है। परंतु काम का पूर्ण निरोध हो सकता है, बल्कि इसके पूर्ण निरोध से ही तो मनुष्यों का कल्याण और इसके अनिरोध से मनुष्यों की सर्व प्रकार से हानि होती है। (३) स्वाभाविक कर्म न प्राणी को हानि पहुँचाते हैं और न उसे बंधायमान ही करते हैं, क्योंकि स्वाभाविक कर्म प्रारब्ध नहीं बनाते, और न पुनः जन्म के दिलानेवाले होते हैं। ये काम-जन्य कर्म हैं जो मनुष्य की प्रारब्ध बनाते, उसे पुनः-पुनः जन्म-मरण संसारचक्र में घुमाते रहते हैं, जिससे मनुष्य को बंधायमान और लिपायमान करनेवाला काम होता है। (४) पशुओं में स्वाभाविक कर्म होते हैं,

संबंध—यह काम वा क्रोध मनुष्य का कैसे शत्रु है ? इसे भगवान् अब तीन दृष्टांतों से स्पष्ट करते हैं—

काम-जन्य, अर्थात् वासना की प्रेरणा से नहीं, इसलिए पशु भोग-योनि हैं। और मनुष्यों में स्वाभाविक और काम-जन्य दोनों कर्म होते हैं, जिससे वे कर्म-योनि कहलाते हैं।

दृष्टांत—भूख-प्यास का लगना प्राणी का स्वाभाविक धर्म, और उस पर अपनी-अपनी शारीरिक प्रकृति के अनुसार वस्तु का खाना-पीना प्राणी का स्वाभाविक कर्म है। जैसे (भूख-प्यास लगने पर) पशु तो अपने स्वभाव के अनुसार घास खाता और जल पीता है, और मनुष्य अपने स्वभावानुसार अन्न खाता और जल पीता है। परंतु स्वभाव तो है अन्न खाने का, और जी चाहता है तम्बाकू, गाँजा, मिसाले वा चटपटी वस्तुओं के खाने को, और उस चाह के कारण फिर वह अपने जन्मोत्पन्न स्वाभाविक आहार को छोड़कर निषिद्ध (अर्थात् प्रकृति-विरुद्ध) पदार्थों तथा मादक द्रव्यों को खाने लग जाता है, तो ये उस मनुष्य के काम-जन्य कर्म हैं, स्वाभाविक कर्म नहीं। इन काम-जन्य कर्मों से निवृत्त और स्वाभाविक कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए ही गीताशास्त्र आरंभ हुआ है। इसलिए भगवान् बारंबार अर्जुन को अपने स्वभावानुसार कर्म में लगने का उपदेश देते हैं, और यह अटल नियम बारंबार स्पष्ट करते हैं कि स्वाभाविक कर्मों का नित्य निग्रह कभी हो नहीं सकता, और यदि तू अपने स्वभाव के विरुद्ध चलेगा तो तू सर्व प्रकार से हानि को प्राप्त होगा। और अपने-अपने स्वभाव के विरुद्ध चलने की प्रेरणा करनेवाले मनुष्य के भीतर यह काम है जो विषयासक्ति तथा रजोगुण से उत्पन्न हो आता है, यही सब पापों की जड़ (मूल) है, इसी के कर्म काम-जन्य कर्म कहलाते हैं, जो पुनः-पुनः जन्म-मरण दिलाने का मूल कारण होते हैं। इसी से यह काम मनुष्य का भारी शत्रु है। इसी को हे अर्जुन ! तू जीत, जिससे यह तेरे स्वाभाविक कर्मों में बाधा न डालने पावे।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

धूमेन[2], आव्रियते[4], वह्निः[3], यथा[1]	जैसे[1] धुएँ[2] से अग्नि[3] ढक[4] आती है	यथा[1], उल्बेन[2], आवृतः[4], गर्भः[3]	जैसे[1] झिल्ली[2] से गर्भ[3] ढका[4] हुआ है
आदर्शः[2], मलेन[3], च[1]	और[1] दर्पण[2] मैल[3] से	तथा[1], तेन[2], इदं[3], आवृतम्[4]	वैसे[1] उस[2] (काम) से यह[3] (ज्ञान) ढका[4] हुआ है

अन्वयार्थ–जैसे धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढक जाता है, (या) जैसे झिल्ली से गर्भ ढका हुआ होता है, वैसे उस (काम) से यह (ज्ञान) ढका हुआ है ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे अग्नि के साथ उत्पन्न हुआ (अप्रकाश रूप) धुआँ प्रकाशरूप अग्नि को ढक लेता है, या जैसे दर्पण के पश्चात् उत्पन्न हुआ मैल दर्पण को ढक लेता है, या जैसे माता के उदर में स्थित गर्भ को झिल्ली ढक लेती है ; वैसे उस काम ने इस सारे विश्व (प्राणिमात्र) को अथवा मनुष्य के अंतःकरण वा ज्ञान को अपने आवरण से ढक रक्खा है ।

(१) पहला तात्पर्य यह है कि जैसे अग्नि धुएँ के कारण, दर्पण मैल के कारण और गर्भ झिल्ली के कारण अन्यथा प्रतीत होने लगते हैं (यद्यपि वे स्वरूप से नहीं बदल जाते), वैसे तत्त्वज्ञान अर्थात् मनुष्य को अपना असली स्वरूप भी इस काम के कारण अन्यथा प्रतीत होने लगता है, जिससे पुरुष भ्रांति में डूबा हुआ

भ्रमता रहता है । इसलिए यह काम मनुष्य का शत्रु है और त्याज्य है । इसीलिए यह उक्ति लोक प्रसिद्ध है कि—

"चाह चमारी चूहड़ी अति नीचन की नीच ।
तू तो पूर्ण ब्रह्म था जो चाह न होती नीच ॥"

(२) दूसरा तात्पर्य यह है कि जैसे धुएँ से ढकी हुई अग्नि अपने दाहादि रूप कार्य को, मैल से ढका हुआ दर्पण अपने प्रतिबिंब-ग्रहण रूप कार्य को, और झिल्ली से ढका हुआ गर्भ अपने हाथ-पाँव फैलाने रूप कार्य को नहीं करते (यद्यपि उनके ये स्वभाव नष्ट नहीं हुए होते), वैसे ही इस काम से ढका हुआ ज्ञान वा अंतःकरण मनुष्य के अपने आत्मसाक्षात्कार में सहायतारूपी कार्य को नहीं करता, यद्यपि उसकी यह शक्ति नाश नहीं हुई होती । इसलिए यह काम शत्रु है और नाश करने योग्य है ।

(३) तीसरा तात्पर्य यह है कि जैसे प्रकाश के बिना सूर्य, धुएँ के विना अग्नि, मल के विना दर्पण और झिल्ली के विना गर्भ प्रायः नहीं रहता, वैसे ही काम के विना ज्ञान प्रायः अकेला नहीं देखा जाता । पर हाँ, जब सूर्य का तेज मध्याह्न काल में अति तीव्र होता है, तो उस समय उसमें कुछ नहीं दिखाई देता, बल्कि अल्प काल तक लगातार देखने से उसमें अंधकार दिखाई देने लग जाता है, या अग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे धुआँ लोप हो जाता है, या दर्पण के ठीक साफ़ करने पर जैसे मैल दूर हो जाता है, अथवा उदर से गर्भ के बाहर आने पर झिल्ली फूटकर जैसे अलग हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञानरूपी सूर्य के प्रचंड होने पर यह काम तत्काल दूर हो जाता वा जीता जाता है । विना जीता जाने के यह काम महादुःख का कारण है, अतएव इस शत्रु को अवश्य दूर करना वा जीतना चाहिए ॥ ३८ ॥ *

---

* इन उक्त तीन (धुआँ, मैल, झिल्ली) दृष्टांतों के क्रमानुसार कहने

संबंध—उक्त आशय को भगवान् पुनः स्पष्ट करते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

आवृतं[६], ज्ञानं[५], एतेन[२], ज्ञानिनः[१], नित्य[३]-वैरिणा[४]	ज्ञानी[१] के इस[२] नित्य[३] वैरी[४] से ज्ञान[५] ढका[६] हुआ है
काम[५]-रूपेण[६], कौन्तेय[२], दुष्[३]-पूरेण[४], अनलेन[७], च[१]	और[१] हे अर्जुन[२] ! कठिनता[३] से तृप्त[४] होनेवाली काम[५] रूप[६] अग्नि[७] से

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! ज्ञानी के इस नित्य वैरी और कठिनता से तृप्त होनेवाली कामरूप अग्नि से यह ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह काम यद्यपि अज्ञानी पुरुषों को भोगकाल में तो सुख का हेतु होता है जिससे उन्हें शत्रुवत् दिखाई

में एक विशेष अभिप्राय प्रकट करते हुए श्रीमधुसूदनस्वामीजी इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"शरीर के आरंभ से पूर्ण काम सूक्ष्मरूप से सूक्ष्म शरीर में रहता है, (१) वही काम स्थूल शरीर के बनने पर अंतःकरण में प्रकट होता हुआ स्थूल होता है । (२) वही फिर विषयों के चिंतन की अवस्था में और बढ़कर स्थूलतर होता है । (३) वही विषय-भोग की अवस्था में अत्यंत बढ़ा हुआ स्थूलतम होता है । पहली अवस्था में सहज अप्रकाशरूप धुएँ का दृष्टांत है, जो प्रकाशरूप अग्नि से उठकर अग्नि को ढक लेता है । दूसरी अवस्था में दर्पण का दृष्टांत है जो अपनी उत्पत्ति के अनंतर बढ़े हुए मैल से ढक जाता है । तीसरी अवस्था में झिल्ली का दृष्टांत है जो (झिल्ली) अत्यंत स्थूल है और गर्भ को ढकी हुई होती है । इस प्रकार काम से यह ज्ञान ढका हुआ है । यहाँ धुएँ से ढकी हुई भी अग्निदाहादि रूप अपना कार्य करती है । पर मैल से ढका हुआ दर्पण

नहीं देता, तथापि अंत में यह अज्ञानी का भी वैरी ही होता है। परंतु यह (काम) ज्ञानवान् का तो भोगकाल में और तत्पश्चात् भी अर्थात् नित्य वैरी * ही है। और जैसे काष्ठ वा घृतादि से अग्नि कदापि तृप्त वा शांत नहीं होती—शांत तो क्या, उलटा अधिक बढ़ जाती है—ऐसे ही यह कामरूपी अग्नि भी काम्य वस्तु (विषय-भोग) की प्राप्ति पर कदापि तृप्त नहीं होती, बल्कि उलटी अधिक ही बढ़ जाती है। इस ऐसे अति कठिनता से (कदापि न) तृप्त होनेवाले और ज्ञानियों के नित्य वैरी काम से यह तत्त्वज्ञान ढका हुआ है, जिसके कारण मनुष्य बंधन में फँसता और संतप्त चित्त रहता है। अतएव पहले इसको वश में करना वा जीतना आवश्यक है ॥ ३९ ॥

संबंध—किसी शत्रु को जीतने के लिए पहले उसके रहने का स्थान जानना ज़रूरी है, अतएव भगवान् अब इस काम के रहने का स्थान पहले कथन करते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

प्रतिविंब का ग्रहण रूप अपना कार्य नहीं करता, यद्यपि स्वरूप से उपलब्ध होता है। और झिल्ली से ढका हुआ गर्भ न स्वरूप से ही उपलब्ध होता है और न हाथ-पाँवों का फैलाना आदि अपना कार्य ही करता है।"

* प्रकाशात्मक अंतःकरण को यदि रजोगुण का विकाररूप काम ढक न दे, तो वह विवेक की ओर झुककर आत्मसाक्षात्कार में शीघ्र सहायता दे। इसलिए यह काम, जो अंतःकरण को अपने वश करके मनुष्य की बुद्धि पर परदा डाल देता है, ज्ञान का नित्य वैरी होने से ज्ञानी का नित्य वैरी कहलाता है। अथवा, अज्ञानी को तो काम यद्यपि भोग के समय

इन्द्रियाणि[1], मनः[2], बुद्धिः[3], अस्य[4], अधिष्ठानं[5], उच्यते[6]	इंद्रियाँ[1], मन[2], बुद्धि[3] इसका[4] अधिष्ठान[5] कहलाता[6] है	एतैः[1], विमोहयति[6], एषः[4], ज्ञानं[2], आवृत्य[3], देहिनम्[5]	इन[1] (इंद्रियादि) द्वारा ज्ञान[2] को ढककर[3] यह[4] देही[5] को मोहता[6] है

अन्वयार्थ—इंद्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) का अधिष्ठान कहा जाता है । इन (तीनों) द्वारा ज्ञान को ढककर यह (काम) देही को मोहता है ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस कामरूप शत्रु को मारने वा जीतने के लिए इसका पहले तू अधिष्ठान समझ ले । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँचों को यथाक्रम से विषय करनेवाले श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण ये जो पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं; और वचन, आदान, गमन, आनंद, विसर्जन इन पाँच क्रियाओं के यथाक्रम से जनक वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु ये जो पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं; ये दसों इंद्रियाँ, संकल्परूप जो मन, और निश्चयरूप जो बुद्धि है, ये तीनों काम के रहने का स्थान कहे जाते हैं। अर्थात् विषयों के देखने, सुनने, ग्रहण करने इत्यादि से तथा संकल्प और निश्चय-द्वारा काम प्रकट होता है, इसलिए ये तीनों काम के अधिष्ठान कहलाते हैं। इन्हीं तीनों के आश्रय (बल वा सहायता) से यह कामरूप शत्रु प्राणियों के ज्ञान को ढँककर उन्हें अनेक प्रकार के मोह, भ्रम तथा धोखों में डाल देता है ॥ ४० ॥

संबंध—अब उक्त कथन को हेतु करके भगवान् इस (काम) के मारने अर्थात् जीतने का पुनः उपदेश करते हैं—

सुख का हेतु होता है, तथापि परिणाम में उसका भी वैरी ही होता है । परंतु ज्ञानी को तो भोग-काल में भी आनेवाले अनर्थ के ध्यान से दुःख का हेतु ही भासता है, अतएव ज्ञानी का नित्य वैरी कहा गया है ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

तस्मात्[१], त्वम्[४], इन्द्रियाणि[६], आदौ[५], नियम्य[७], भरत[२]-ऋषभ[३]	इसलिए[१], हे भरतों[२] में श्रेष्ठ[३] (अर्जुन) तू[४] पहले[५] इंद्रियों[६] को रोक[७] कर	पाप्मानं[५], प्रजहि[७], हि[६], एनं[१], ज्ञान[२]-विज्ञान[३]-नाशनम्[४]	इस[१] ज्ञान[२] विज्ञान[३] के नाश[४] करनेवाले पापी[५] को तू निश्चय[६] करके मार[७]

अन्वयार्थ—इसलिए हे अर्जुन ! तू पहले इंद्रियों को रोककर इस ज्ञान-विज्ञान * के नाश करनेवाले पापी (काम) को निःसंदेह मार ॥ ४१ ॥

व्याख्या—क्योंकि कामरूपी शत्रु नित्य पुरुष को मोह (अर्थात् आत्मभ्रांति वा धोखे) में डालता है और उसे अपने वश में करके सब पापों में प्रेरता है, जिससे वह ज्ञान-विज्ञान, अर्थात् आत्मा का परोऽक्ष और अपरोऽक्ष ज्ञान, अथवा आत्मज्ञान और प्राकृत पदार्थों का तत्त्वदर्शन, दोनों का ही नाशक और घोर पापी (वा पापों का मूल) कहलाता है, और विशेषतः इंद्रियों के आश्रय ही वह सब अनर्थ का हेतु होता है; इसलिए हे

---

* जो शास्त्र वा आचार्य के उपदेश से आत्मादि पदार्थों का पता लगे, उस युक्तियुक्त परोऽक्ष ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। और उनका विशेष करके अनुशीलन अर्थात् हृदय में अनुभव (आत्मसाक्षात्कार) विज्ञान कहलाता है। अथवा प्राकृत पदार्थों का तत्त्वदर्शन (Empirical Science) तो विज्ञान, और आत्मा का ज्ञान (Metaphysical Science) केवल ज्ञान कहलाता है।

भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! तू पहले अपनी सारी इंद्रियों * को अपने वश में कर, और फिर इस ज्ञान-विज्ञान के नाश करनेवाले पापी को अवश्य मार ॥ ४१ ॥ †

संबंध—(१) काम का प्रभाव बताकर अब भगवान् उसके दमन के विषय में उपदेश देते हैं—

अथवा (२) काम जिस जीवात्मा को मोहता दीखता है, वह आत्मा

---

* पूर्व इंद्रियाँ, मन और बुद्धि ये तीनों अधिष्ठान काम के बताये गये। अब केवल इंद्रियों का ही रोकना क्यों कहा? मन और बुद्धि का वश में करना क्यों नहीं कहा गया? कारण यह है कि मन और बुद्धि को वश में करने से पूर्व इंद्रियों का प्रथम वश में करना ज़रूरी और सहकारी है। अर्थात् मन और बुद्धि को वश में करने का प्रथम साधन इंद्रियों का वश में करना है, और इसीलिए समझा जाता है कि इंद्रियों का वश में आ जाना ही मानों मन और बुद्धि का वश में आ जाना है, क्योंकि संकल्प-विकल्परूप मन तथा निश्चयरूप बुद्धि ये दोनों तो बाह्य इंद्रियों की प्रवृत्ति से ही अनर्थ के हेतु होते हैं, स्वतः नहीं। अतएव पूर्व रागद्वेष भी इंद्रियों के आश्रित कहे गये हैं। और ये रागद्वेष ही वास्तव में काम-क्रोध हैं। अथवा मन और बुद्धि इंद्रियों से सूक्ष्म वा प्रबल हैं; विना स्थूल इंद्रियों को वश में करने के पहले ही सूक्ष्म मन बुद्धि का वश में करना नितांत कठिन व असंभव सा है, अतएव 'पहले इंद्रियों को रोकना' कहा है। पर यह ध्यान रहे कि यहाँ इंद्रियों का रोकना कहा है, हठ से नाश करना नहीं।

† इसका मारना यही है कि वाह्य विषयों से हटा कर इसे आत्म-साक्षात्कार में लगा देना। "अथ योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति" (बृह०)=इंद्रियों को वश में करने से; और इंद्रियों में रहनेवाले काम के त्याग अर्थात् सदुपयोग से पुरुष निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है। यही मनुष्य का काम को जीतना वा मारना है।

इस काम के सारे अधिष्ठानों से परे है । ऐसा दर्शाते हुए भगवान् इस काम को जीतने में प्रोत्साहित करते हैं—

अथवा (३) ऊपर जिस काम के अधिष्ठान बताये हैं, वह काम अपने अधिष्ठानों से भी परे (अलग), उनसे प्रबल और दुर्जय है । ऐसा (काम को) सर्वोपरि प्रबल और दुर्जय दर्शाते हुए भगवान् अब उसके मारने वा जीतने का उपाय वर्णन करते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

इन्द्रियाणि^{१}, पराणि^{२}, आहुः^{३}	इंद्रियों^{१} को पर^{२} (परे. प्रबल^{२} वा श्रेष्ठ^{२}) कहते^{३} हैं
इन्द्रियेभ्यः^{१}, परं^{२}, मनः^{३}	इंद्रियों^{१} से पर^{२} (परे.प्रबल) मन^{३} है
मनसः^{२}, तु^{१}, परा^{३}, बुद्धिः^{४}	और^{१} मन^{२} से पर^{३} बुद्धि^{४} है
यः^{२}, बुद्धेः^{३}, परतः^{४}, तु^{१}, सः^{५}	और^{१} जो^{२} बुद्धि^{३} से भी पर^{४} है वह^{५} (आत्मा वा काम) है
एवं^{१}, बुद्धेः^{२}, परं^{३}, बुद्ध्वा^{४}	इस प्रकार^{१} बुद्धि^{२} से पर^{३} को जान^{४} कर
संस्तभ्य^{३}, आत्मानं^{२}, आत्मना^{१}	आत्मा^{१} से आत्मा^{२} को रोक^{३} कर
जहि^{८}, शत्रुं^{७}, महा^{१}-बाहो^{२}, काम^{३}-रूपं^{४}, दुर^{५}-आसदम्^{६}	हे बड़ी^{१} भुजोंवाले^{२} (अर्जुन) काम^{३}-रूपी^{४} दुःख^{५} से जीता^{६} जाने-वाले (दुर्जय) शत्रु^{७} को तू मार^{८}

पहला अन्वयार्थ—इंद्रियों को (स्थूल देह वा विषयों से) परे कहते हैं। इंद्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि, और बुद्धि से भी अधिक परे जो है वह (अंतरात्मा) है। इस प्रकार बुद्धि से भी परेवाले को जानकर और आत्मा से आत्मा को रोककर, हे अर्जुन ! तू इस दुर्जय कामरूपी शत्रु को मार ॥ ४२, ४३ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—कहते हैं कि इंद्रियाँ (स्वयं) प्रबल हैं। इंद्रियों से प्रबल मन है। मन से प्रबल बुद्धि है। और बुद्धि से भी प्रबल जो है वह (काम) है। इस प्रकार इस दुर्विजय कामरूप शत्रु को बुद्धि से भी प्रबल जानकर, हे अर्जुन ! आत्मा से आत्मा को रोककर तू इसे मार ॥ ४२, ४३ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! स्थूल, जड़, परिच्छिन्न और बाह्य जो ये देहादि अर्थ हैं इनकी अपेक्षा से इंद्रियाँ सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक और अंतरस्थित हैं, जिससे वेद की श्रुतियाँ वा वेदवेत्ता पुरुष इन इंद्रियों को अपने-अपने अर्थों से परे अर्थात् पृथक् वा सूक्ष्म कहते हैं। इन इंद्रियों से परे अर्थात् अधिक दूर, सूक्ष्म, प्रकाशक व्यापक और अंतरस्थित संकल्प विकल्परूप मन है, क्योंकि मन ही इंद्रियों का प्रवर्त्तक है। मन के विना इंद्रियों की प्रवृत्ति होती नहीं। बल्कि जैसे इंद्रियों के विना नामरूप पदार्थ किसी काम के नहीं, और न विना इंद्रियों के वे विद्यमान होते या किसी प्रकार का चित्त पर प्रभाव डालते हैं, वैसे विना मन के ये इंद्रियाँ भी किसी काम की नहीं, और न वे विद्यमान हो सकती वा प्रभाव डाल सकती हैं। मन से परे (अधिक दूर, सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक और अंतरस्थित) निश्चयरूप बुद्धि है, क्योंकि निश्चय के

विना संकल्परूप धर्म मन का दृढ़ होता नहीं । और मन की मालिक होने से ही वह (बुद्धि) मनीषा कही जाती है। और बुद्धि से भी परे (अधिक दूर, सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक और अंतरस्थित) जो है, वह (सः) है जिसे श्रुति आत्मा नाम देती है; जैसे—"आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविधः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् । सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्, ततोऽहं नामाभवत् ।" (बृह० १, ४, १)="आरंभ में केवल आत्मा ही था, वह पुरुष की मानिंद अर्थात् पुरुष की आकृति पर था । उसने चारों ओर देखकर अपने सिवाय कुछ नहीं देखा । उसने 'मैं हूँ' पहले यह कहा, इसलिए उसका नाम 'मैं' हुआ ।" "स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् ।" (बृह० १, ४, ३)="पर वह (अकेला) खुश नहीं हुआ । इसलिए (कोई पुरुष) अकेला खुश नहीं होता है । उसने दूसरे की इच्छा की ।" ऐसा कहकर फिर अनेक पदार्थों का वर्णन करके उसके अनंतर "स एष इह प्रविष्टः" (बृह० १, ४, ७)="सो यह यहाँ प्रविष्ट हुआ," ऐसा श्रुति ने कहा है, जिससे "स" शब्द से यहाँ आत्मा अभिप्रेत है । दूसरी श्रुति—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥"=श्रोत्रादि इंद्रियों से शब्दादि अर्थ परे हैं, अर्थों से परे मन है, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) है । महत् से परे अव्यक्त है, और अव्यक्त से परे पुरुष है। पुरुष से परे कोई नहीं है। वह ही काष्ठा (हद) है, वह ही सबसे (ऊँची) गति है ॥ (कठोपनिषद् १. ३, श्लो० १०, ११) फिर आगे चलकर उसी उपनिषद् में श्रुति पुनः ऐसे कहती है कि—"इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा

महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यज् ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥" (कठ० २, ६, ७-८) अर्थात् "इंद्रियों से परे मन है, मन से परे सत्त्व (बुद्धि) है, सत्त्व (बुद्धि) से परे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) है, इस महान् से परे अव्यक्त, और इस अव्यक्त से परे पुरुष है जो सर्वव्यापक है, जिसका कोई चिह्न नहीं, बल्कि जिसको जानकर अर्थात् जिसके अनुभव से मनुष्य (जन्म-बंधन से) मुक्त होता है और अमृततत्व को प्राप्त होता है।" इस प्रकार इस सबसे अधिक परे वा सूक्ष्मतम, प्रकाशक, व्यापक और अंतरस्थित आत्मा को जानकर, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करके, आत्म से आत्मा को * रोककर, अर्थात् अपने आपसे अपने आपको थामकर अथवा अपने आपका

---

* "आत्मा से आत्मा को रोककर" यह दो आत्मा कैसे ? आत्मा शब्द के अर्थ उस तत्त्व से लिये जाते हैं कि जो किसी वस्तु में व्यापा हुआ उसका कारण हो और उस पर अपना प्रभाव डालकर उसमें कोई विकार उत्पन्न करने की शक्ति रखता हो । पहला आत्मा परमतत्त्व पुरुषोत्तम है, जिसमें सारे ब्रह्मांड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की शक्तियाँ हैं । दूसरा आत्मा बुद्धि है जिसमें सब व्यक्त ब्रह्मांड की अवस्थाओं के निश्चय करने की शक्ति है । तीसरा आत्मा अहंकार है जिसमें व्यक्ति प्रतिपादन करने की शक्ति है । चौथा आत्मा मन और इंद्रियों का समूह है जिसमें संकल्प तथा तन्मात्राओं के रूप वा रूपांतर विधान (अर्थात् नमूने इत्यादि) बनाने की शक्ति है । इसी प्रकार ज्यों-ज्यों परमात्मतत्त्व नीचे-नीचे कोषों में उतरता जाता है, उतना ही कोशोपाधि से शांत होता जाता है । स्थूल में आकर यह आत्मशक्ति ऐसी बद्ध हो जाती है कि आगे को अपनी शक्ति से कोई विकार अपने आप में से उत्पन्न ही नहीं कर सकती । यही अनात्मतत्त्व का प्रकाश है, इसलिए बाह्य जड़ पदार्थों को तो अनात्मा, और देह इंद्रियाँ मन बुद्धि इत्यादि के लिए समय-समय पर आत्मा शब्द गीता में वर्ता गया है। यहाँ भी आत्मा से आत्मा को

निरोध करके, हे अर्जुन! इस अति कठिनता से जीता जानेवाले अर्थात् दुर्जय कामरूप शत्रु को तू मार (जीत), क्योंकि उक्त अध्याय २, ५९ में यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि (रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते) मनुष्य का विषय-रस (काम) भी इस परमात्मा को देखने से निवृत्त (नाश) हो जाता है ॥ ४२, ४३ ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या--हे अर्जुन! वेद-शास्त्र कहते हैं कि इंद्रियाँ स्वयं अपने अर्थों (विषयों) की अपेक्षा सूक्ष्म, प्रबल और मनुष्य की शत्रु हैं। प्रथम तो इनका जीतना ही कठिन है, अर्थात् बड़े यत्न से पुरुष इनको अपने वश में कर सकता है। बहुत बार तो यत्न करनेवाले पुरुष के भी वश में ये अति दुःख से आती हैं, जैसा कि पूर्व अध्याय के श्लोक ६० में कहा है कि "यत्न करते हुए विवेकी पुरुष की भी ये धक्केबाज़ (प्रबल) इंद्रियाँ धक्के से उसके मन को हर लेती हैं।" फिर, मन इंद्रियों से भी सूक्ष्म और बलवान् शत्रु है, क्योंकि बाह्य इंद्रियाँ यदि किसी कारण से रुक भी जायँ, तब भी अनिरुद्ध मन उनके रुकने पर संकल्प-विकल्प करना नहीं छोड़ता। जैसा कि स्वप्नकाल में मन की दशा है, या जैसा कि पूर्व अध्याय के श्लोक ५९ में कहा है कि "निराहारी वा तपस्वी पुरुष की इंद्रियाँ यदि विषयों से निवृत्त हो भी जायँ, तथापि विषय-रस अर्थात् मन

रोकने से तात्पर्य है कि इंद्रियों को मन से रोके, मन को बुद्धि से, इत्यादि। इस प्रकार अपने आपको अपने आपसे रोके। (टीकाकार)

इस पर श्रीतिलक महाराज अपनी ऐसी टीका करते हैं——

"कामरूपी आसक्ति को छोड़कर स्वधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त कर्म करने के लिए इंद्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिए, वे अपने क़ाबू में रहें; बस, यहाँ इतना ही इंद्रिय-निग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नहीं है कि इंद्रियों को ज़बरदस्ती से एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे।"

की विषय-वासना निवृत्त नहीं होती।" इस प्रकार अनिरुद्ध मन इंद्रियों के रुकने पर भी विषयों का संकल्प-विकल्प करता ही रहता है, अतएव मन का वश में करना इंद्रियों से भी अधिक कठिन है। इसीलिए मन इंद्रियों से भी प्रबल शत्रु है। फिर, मन से भी सूक्ष्म और बलवान् शत्रु बुद्धि है, क्योंकि विना बुद्धि वा निश्चय-शक्ति के संकल्परूप धर्म मन का उत्पन्न नहीं होता। और मन किसी कारण (हठ क्रिया वा मादक द्रव्यों) से यदि रुक भी जाय, तो भी अस्थिर वा अव्यवस्थित बुद्धि पदार्थों में अच्छा वा बुरा निश्चय करना छोड़ती ही नहीं, और न इससे असत्य पदार्थों में सत्यभाव ही उसका दूर होता है। ग़लत निश्चय वा अनात्म-पदार्थों में सत्यभाव तो केवल तत्त्वविचार वा आत्मज्ञान से ही ठीक दूर हो सकता है। अतएव बुद्धि का वश में करना मन और इंद्रियों को वश में करने से भी अधिक कठिन है, जिससे वह मन और इंद्रियों से भी भारी शत्रु है। फिर बुद्धि से भी अति सूक्ष्म वा प्रबल शत्रु जो है, वह काम है। उसी से बुद्धि इत्यादि सारी सृष्टि की उत्पत्ति है, उसी से स्थिति है, और उसी के नाश होने पर सृष्टि का नाश है। जैसे श्रुति स्पष्ट कहती है कि—"काममय एवायं पुरुषः इति।" "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत, 'जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति'।" (बृह० अ० १, ब्रा० ४, मं० १७)। अर्थ—"काममय ही यह पुरुष है", इति। "इस जगत् की उत्पत्ति से पहले केवल एक आत्मा ही था। उसने इस प्रकार की कामना की कि मेरी स्त्री हो, मेरी प्रजा (संतान) हो, मेरे धन-संपत्ति हो, और मैं कर्म को करूँ।" इति श्रुति। और स्मृति भी कहती है कि—"अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य

चेष्टितम्।"="इस लोक में कामनारहित पुरुष की कोई भी क्रिया देखने में नहीं आती। क्योंकि जिस-जिस कर्म को जीव-जंतु करता है, वह सब इस काम की ही चेष्टा है।" इति स्मृति। इस प्रकार यह काम उक्त बुद्धि इत्यादि सबसे सूक्ष्म और इन सबका आदि कारण है। इसका रोकना मन, बुद्धि इत्यादि के रोकने से भी अत्यंत कठिन है, क्योंकि बुद्धि यदि विवेक के बल से पदार्थों में सत्यभावना त्यागकर तत्त्वविचार में प्रवृत्त होने भी लग जाय, तो भी यह निरवग्रह काम (नफ़्से अम्मारा) बुद्धिमान् पुरुष को समय-समय पर फुसला देता है; और जब तक चित्तवृत्ति आत्मसाक्षात्कार में आरूढ़ न हो ले, तब तक यह निरवग्रह काम पुरुष का पीछा नहीं छोड़ता बल्कि उसको अपने वशीभूत करता हुआ भड़काता ही रहता है। और न यह काम विषय-भोग से ही तृप्त वा शांत होता है। शांत तो क्या उलटा बढ़ जाता है, जैसा कि स्मृति स्पष्ट कहती है—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ १॥ यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥ २॥"="यह काम भोगों से कभी शांत नहीं होता, बल्कि जैसे घृत, काष्ठादि से अग्नि वृद्धि को पाती है, वैसे यह काम भी बहुत पदार्थों के भोग से वृद्धि को पाता है। और इस पृथिवी के जितने अन्न, स्वर्णादि धन, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब पदार्थ यदि कामनायुक्त एक पुरुष को भी प्राप्त हो जायँ, तो भी ये उसके काम को तृप्त करने में असमर्थ होंगे। ऐसा विचारकर पुरुष कामरूप शत्रु के वश में न होवे, बल्कि कामना से रहित होने का यत्न करे।" पस, यह काम न तो विषय-भोगों से ही शांत होता है, और न केवल मन-बुद्धि के बल से ही शांत होता है, क्योंकि मन-बुद्धि की उत्पत्ति इसके पीछे की है, वे भला अपने कारण (काम)

पर कैसे प्रबल (ग़ालिब) हो सकते हैं ? पर हाँ, यदि पुरुष को अपने आत्मा का साक्षात्कार हो जाय, अर्थात् यदि पुरुष अपने आपको अपने ही बल से रोककर (अर्थात् चित्त का निरोध करके) अपने आपको काम का उत्पन्न और नाश करनेवाला (अर्थात् काम का सर्वप्रकार से आधार, स्वामी वा मालिक) अनुभव कर ले, तो काम उसके अधीन होता उसका सेवक हो जाता है। और विचारदृष्टि से देखा जाय तो श्रुतियों से तत्त्व भी यही निकलता है, क्योंकि यदि आत्मा आप जगत् के रचने की कामना न करता, तो यह जगत् पसारा कदापि प्रकट न होता। पस, उसी का अपने आपको रोकना और जानना ही काम को जीतना है, अन्यथा नहीं। इसीलिए पहले कहा जा चुका है कि उस परम तत्त्व के अनुभव पर काम (विषय-रस) भी निवृत्त हो जाता है। और श्रुति में भी कहा है कि--

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"=(मुंड० २.२.८)

अर्थ—"जब वह इस परे से परे को (अर्थात् शुद्ध ब्रह्म को) और छोटे से छोटे को (अर्थात् शबल ब्रह्म वा जीवात्मा को) देख लेता है, अर्थात् 'इस अनोरणीयां महतो महीयां' छोटे से छोटे व महान् से महान् आत्मदेव का जब मनुष्य को अनुभव हो जाता है, तब उसके हृदय की ग्रंथि खुल जाती है, सारे संशय मिट जाते हैं और उसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।' और, इसी उपनिषद् में आगे चलकर कहा है--"स यो ह वैतत् परमं ब्रह्मवेद, ब्रह्मैव भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥" (मुंडक ३.२.९)="वह जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। वह फिर शोक को तर जाता है। पापों को तर जाता है और हृदय की गाँठों से

विमुक्त हुआ अमृत होता है।" और इसी आशय को उत्तम रीति से गिरधर कविराय ने ऐसे प्रकट किया है—

"झगड़ा तू ने पाया, तू ही इसे निबेड़ ।
औरों से निबड़े नहीं, यही अटपटो फेर ॥
यही अटपटो फेर, आप सुरझायें तो सुरझे ।
और लगावे हाथ, तो उलटो दुगणों उरझे ॥"

इस प्रकार इस अत्यंत कठिनता से जीता जानेवाले (दुर्जय) काम को इन इंद्रिय, मन और बुद्धि की हद से भी परे, इनका कारण, और इनसे भी अधिक सूक्ष्म तथा बलवान् जानकर पुरुष अपने आपको अपने आपसे रोके *। अर्थात् इंद्रियों को मन से,

---

* "अपने आपको अपने आपसे रोके", इस कथन से चार बातें सिद्ध होती हैं—

(१) प्रथम यह कि आधार (कारण वस्तु) अपने आधेय (कार्य वस्तु) की अपेक्षा सदा सूक्ष्म, प्रबल और प्रकाशक अधिक होता है, जिससे आधेय पदार्थ आप स्वयं चाहे कितना ही बलवान् और सूक्ष्म क्यों न हो, पर अपने आधार के सामने तुच्छ, निर्बल और तत्काल में जीता जानेवाला ठहरता है। इसलिए आधेय वस्तु का जीतना उसके आधार से वा उसके आधार के द्वारा ही हो सकता है, अन्य रीति से केवल कठिन ही नहीं किंतु असंभव भी है। पस, यह काम भी (जो कि इंद्रिय, मन और बुद्धि से अधिक प्रबल, अधिक सूक्ष्म, इनके अंतरीव स्थित, और प्रेरक है, जिससे यह इन सबका आधार है) इन आधेयरूप इंद्रियों से जीता नहीं जा सकता है। इसके ठीक जीतने का उपाय (उक्त आधार-आधेयरूप की रीति से) यह है कि—चक्षु, श्रोत्रादि इंद्रियाँ जो अपने कार्यरूप पदार्थों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के नाना विकाररूप पदार्थों) की अपेक्षा चाहे प्रबल और अधिक सूक्ष्म हैं, पर अपने आधाररूप मन

मन को बुद्धि से, बुद्धि को अपने तत्त्वविचार से रोककर अपने आपको काम का उत्पन्न और नाश करनेवाला स्वामी (मालिक)

(जिसकी प्रेरणा और स्थिति के विना ये कोई चेष्टा भी नहीं कर सकतीं) के सामने तुच्छ, निर्बल और अधिक स्थूल ठहरती हैं; पहले इन (इंद्रियों) को अपने मन से जीता जाय, अर्थात् अपने वश में किया जाय। फिर मन जो इन आधेयरूपी इंद्रियों से चाहे प्रबल और अधिक सूक्ष्म है, पर अपने आधाररूपी बुद्धि (जिस निश्चय व विवेकरूपी शक्ति के विना यह मन कुछ संकल्प-विकल्परूप चेष्टा नहीं कर सकता) के सामने निर्बल और अधिक स्थूल ठहरता है; इस (मन) को बुद्धि से जीता जाय, अर्थात् विवेक, विचार तथा दृढ़ निश्चय द्वारा इस मन को अपने वश में किया जाय। फिर बुद्धि जो इस मन से चाहे प्रबल और अधिक सूक्ष्म है, पर काम (इच्छा वा कामना=will or wish) जो समस्त सृष्टि वा रचना का कारण (Main or the visible head-channel of power) है जिससे इंद्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि सबका यह प्रेरक तथा संकल्प-विकल्प और निश्चय का उत्पन्नकर्त्ता कहलाता है (Wish is too often father to the thought), उस (काम) के सामने यह बुद्धि निर्बल और अधिक स्थूल है; इस बुद्धि को उस काम से जीता जाय। अर्थात् कामनारूप शक्ति का दुरुपयोग जो बुद्धि को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, उसे छोड़कर उसका उचित और ठीक उपयोग किया जाय जिससे बुद्धि ठीक विचार और निश्चय में युक्त होकर आत्मसाक्षात्कार में सहकारी हो; अथवा दूसरे शब्दों में ऐसे कहा जा सकता है कि विषय-वासना वा बाह्य पदार्थों की कामनाओं को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार वा परमानंद की प्राप्ति की कामना की जाय, जिससे अनात्म पदार्थों में आत्म-बुद्धि दूर होकर आत्मा में निश्चयात्मिक बुद्धि दृढ़ स्थित हो। इस प्रकार काम द्वारा बुद्धि को अपने वश किया जाय। फिर, काम यद्यपि आधेयरूप इंद्रियों आदि से प्रबल और अधिक सूक्ष्म है, पर अपने आदि कारण, आधार वा स्वामी आत्मा (जिसके विषय में श्रुति ने ऐसा कहा है कि "उस आत्मा ने

निश्चय करता हुआ चिंतन करे। इस प्रकार अपने आपको काम का स्वामी चिंतन करते हुए, अपने वास्तव स्वरूप में दृढ़

ऐसे कामना की कि मेरी स्त्री हो, मेरी संतान हो इत्यादि," जिस कामना की उत्पत्ति के उपरांत यह सब सृष्टि विद्यमान हुई, और जिस कामना के कारण वह समस्त प्रपंच का आदि वा मूल कारण—the invisible source of power—कहलाया) के सामने निर्बल वा अधिक स्थूल है। उस आत्मा (अर्थात् आत्मज्ञान वा आत्मसाक्षात्कार) से इस सबसे प्रबल काम को अपने आपसे अपने आपको रोककर मारा जाय, अर्थात् इंद्रियों को मन से, मन को बुद्धि से और बुद्धि को काम से रोककर इस दुर्जय तथा सबको अपने वश में करनेवाले कामरूप शत्रु को सबके आदि कारण (अपने परम आत्मस्वरूप) के साक्षात्कार से जीता जाय, अर्थात् आत्मज्ञान से इसे वश में किया जाय। इसलिए भगवान् अर्जुन को अंत में ऐसा उपदेश देते हैं कि आत्मा को आत्मा से रोककर तू उस सबसे परेवाले (प्रबल काम वा आत्मस्वरूप) को जानकर अपने निजस्वरूप के ज्ञान अर्थात् आत्मसाक्षात्कार द्वारा इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार अर्थात् अपने वश कर।

(२) दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि आधेय वस्तु यद्यपि अपने आधार को जीत तो नहीं सकती, पर उसे क्षुभित अवश्य कर देती है; इसलिए जब तक आधेय वस्तु पहले ठीक जीत न ली जाय, अर्थात् जब तक आधेय वस्तु का ठीक-ठीक प्रयोग वा निरोध न किया जाय, तब तक आधार का पूरा क्षोभरहित होना असंभव होता है। अर्थात् सापेक्षिक आधार में क्षोभ दो कारण से प्रकट होता है—एक तो अपने भीतर से, अर्थात् अपने ऊपर के आधार से और दूसरा बाहर से, अर्थात् अपने आधेय के प्रभाव से। जैसे इंद्रियों को एक ओर से तो बाह्य (शब्द-स्पर्श-रूप) विषय क्षुभित करते हैं, और दूसरी ओर से मन, जो उनके भीतर उनका आधार है। ऐसे ही मन को एक ओर से उसकी आधेयरूप इंद्रियाँ क्षुभित करती हैं, और दूसरी ओर से बुद्धि, काम इत्यादि (जो उसके भीतर उसके आधार हैं)। इस प्रकार आधार के जीतने से पहले

स्थित होते हुए वह अपने आपका अर्थात् आत्मदेव का अनुभव करे। इस प्रकार अपने आपको अपने ही आत्मिक बल से रोक-

---

आधेय का जीतना अर्थात् निग्रह करना अत्यावश्यक और युक्त है।

(३) तीसरी बात यह है कि—आधेय का जीतना आधार के निरोध में सहकारी तो हो सकता है, पर मूल कारण नहीं, क्योंकि मूल कारण उसके भीतर ही होता है, बाहर नहीं। जैसे इंद्रियों को जब विषयों से अलग किया जाय, तो विषयों की अनुपस्थिति इंद्रियों के निरोध में सहायता तो देती है, पर जब तक इंद्रियों का निग्रह उनके आधाररूप मन से नहीं किया जाता, तब तक इंद्रियाँ ठीक-ठीक वशीभूत नहीं होतीं। इसी प्रकार इंद्रियों का निग्रह मन के निरोध में सहकारी तो होता है, पर जब तक मन का निरोध भीतर के तत्त्व-विचार (निश्चयात्मिक बुद्धि) से नहीं होता, तब तक मन पूर्ण निरुद्ध वा समाहित नहीं होता। इसलिए जहाँ एक ओर आधेय का जीतना अत्यावश्यक है, वहाँ दूसरी ओर आधार का अपने आपको जीतना भी आवश्यक है, इसीलिए यहाँ कहा गया है कि "अपने आपको अपने आपसे निग्रह करके काम को वश में करो।"

(४) चौथी बात यह है कि—आधेय वस्तु आधार पर तब तक ही प्रभाव डाल सकती है जब तक कि आधार भीतर से आप पूर्ण शांत और निरुद्ध न हो; अर्थात् विषय अपने प्रभाव इंद्रियों पर तब तक ही डाल सकते हैं जब तक कि इंद्रियाँ स्वयं अपने आधाररूप मन से निगृहीत न हो चुकी हों, या इंद्रियाँ मन पर तभी तक प्रभाव डाल सकती हैं जब तक कि मन स्वयं भीतर के तत्त्व-विचार से निरोध को प्राप्त न हो चुका हो। इसलिए निगृहीत इंद्रियों पर विषयों का प्रभाव तथा निरुद्ध मन पर इंद्रियों का प्रभाव कुछ नहीं पड़ता। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि अपना आप जीत लेने (अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर लेने) से विषय-वासना निवृत्त, मन शांत, बुद्धि स्थिर और चित्त प्रसन्न हो जाते हैं।

कर तू, हे बड़ी भुजाओंवाले (वा बलवान्) अर्जुन ! इस दुष्ट काम को मार, अर्थात् अपने अधीन कर, जिससे सारे अनर्थों की निवृत्ति हो, शोक-मोह दूर हो, और तुझे अपना स्वराज्य (निजानंद) भोगना मिले ॥ ४२, ४३ ॥

इस तृतीय अध्याय के सर्व अर्थ को संक्षेप से कथन करनेवाला यह श्लोक है--

"उपायः कर्मनिष्ठात्र प्राधान्येनोपसंहृता ।
उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्त्तिता ॥*

अर्थ—ज्ञाननिष्ठा (तत्त्वसाक्षात्कार) का उपाय रूप जो निष्काम कर्मनिष्ठा है, वह इस तृतीय अध्याय में प्रधान रूप से वर्णन की गई है। और फलरूप ज्ञाननिष्ठा अर्थात् आत्मसाक्षात्कार जो है, उसका गौण रूप से वर्णन किया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे कर्मयोगो † नाम
तृतीयोऽध्यायः ।

---

* इसी अध्याय के सर्व अर्थ वा तात्पर्य को श्रीयामुनाचार्यजी ऐसे श्लोकबद्ध करते हैं—

असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम् ।
सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्म कार्यता ॥

अर्थ—इस तीसरे अध्याय में निरासक्ति से केवल लोकोपकारक कर्म की कार्यता वा कर्त्तव्यता कही गई है। और यह भी कहा गया है कि कर्मों के कर्तृत्व को या तो प्रकृति-जन्य गुणों में आरोपण करके और या सर्वेश्वर भगवान् के ऊपर डाल करके (अर्थात् थोप करके) ही कर्म करना चाहिए। इस रीति से किये हुए कर्म कभी भी पुरुष को लिपायमान वा बंधायमान नहीं करते ।

† क्योंकि, इस अध्याय में कर्म की ही कर्त्तव्यता दर्शायी गई है, इसलिए इसका नाम कर्मयोग पड़ा है ।

तीसरे अध्याय का संक्षेप

(१) दूसरे अध्याय में भगवान् ने सांख्य और योग अर्थात् ज्ञान और कर्म का तत्त्व और उन दोनों की अपने-अपने स्थान पर उपयोगिता और महिमा दर्शायी। पर इनकी महिमा को पूरा-पूरा न समझने से अर्जुन ऐसे प्रश्न करता है कि--

"हे भगवन् ! यदि आप कर्म से बुद्धि (समत्वबुद्धि वा तत्त्वविचार) श्रेष्ठ मानते हैं, तो मुझे फिर क्यों घोर कर्म में लगाते हैं ? आपकी मिली-जुली बातों से मेरी बुद्धि मानों भ्रम रही है। इसलिए निश्चयपूर्वक एक बात कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ।"

(२) इस पर भगवान् यह उत्तर देते हैं—

इस संसार में दो प्रकार से निष्ठा मैंने बताई हैं, तत्त्व-विवेकियों (सांख्यों) की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की कर्मयोग से। परंतु यह याद रखना चाहिए कि—

(क) विना कर्म के पुरुष निष्कर्म भाव को प्राप्त नहीं होता, और न कर्म के नितांत छोड़ देने अर्थात् त्याग-मात्र से ही पुरुष सिद्धि को पाता है।

(ख) विना कर्म के कोई प्राणी क्षण भर भी कभी नहीं रहता, क्योंकि प्रकृति के गुणों से विवश होकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता ही है।

(ग) और जो बाहर से कर्मेंद्रियों को रोककर भीतर मन से विषयों का स्मरण करता है, वह यद्यपि ऊपर से कर्मरहित वा निष्कर्मी दीखता है, पर भीतर से अगणित कर्म करता होता है, जिससे वह कपटी वा मिथ्याचारी कहलाता है।

(घ) परंतु जो पुरुष ज्ञानेंद्रियों को मन के वश करके कर्मेंद्रियों से कर्म करता रहता है, वही निरासक्त वा वास्तव में निष्कर्मी विशेषणवाला होता है। अथवा वह निरासक्त पुरुष उक्त मिथ्याचारी से उत्तम होता है।

(ङ) इसलिए तू भी नियत कर्म कर, क्योंकि अकर्म (बेकारी) से कर्म अति श्रेष्ठ है। और तेरी यह शरीर-यात्रा भी बेकारी से सिद्ध न होगी।

(च) परंतु हे अर्जुन! तू जो कर्म कर, वह यज्ञार्थ वा ईश्वरार्पण-निमित्त कर, क्योंकि यज्ञ-निमित्त कर्म से अतिरिक्त अन्य सब कर्म बंधन का हेतु होते हैं।

(३) इस प्रकार कर्म की आवश्यकता और कर्म को यज्ञ-निमित्त करना बताकर अब भगवान् यज्ञ के विषय में सविस्तर ऐसे कहते हैं—

(क) ब्रह्माजी ने जब सृष्टि रची तो यज्ञों और प्राणियों को एक साथ रचकर यह कहा कि "तुम इस यज्ञ से अर्थात् अर्पण के नियम से फलो-फूलो, और यह यज्ञ तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं का पूरा करनेवाला हो।"

(ख) "इस यज्ञविधि से तुम देवताओं को प्रसन्न करो और वे देवता तुम्हें प्रसन्न करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए तुम दोनों परम कल्याण को प्राप्त होओ।"

(ग) "जो पुरुष यज्ञ से बचा हुआ, अर्थात् देवताओं को अर्पण करने के पीछे, भोजन करता है, वह सब

पापों से बचा रहता है। परंतु जो विना अर्पण किये के कुछ खाता है, वह निःसंदेह चोर और पापी होता है, और पाप-भरा ही भोजन करता है।"

(घ) फिर यह यज्ञकर्म संसारचक्र की प्रवृत्ति का भी हेतु है, क्योंकि अविनाशी ब्रह्म से ब्रह्म (वेद, ब्रह्मा वा प्रकृति), ब्रह्म से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से सर्व प्राणी होते हैं। इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञ में नित्य स्थित है।

(ङ) ऐसे प्रवृत्त हुए चक्र के अनुसार जो पुरुष नहीं चलता है, वह पाप की आयुवाला विषय-लंपट (इंद्रियों का गुलाम) होता है, और यहाँ वृथा ही जीता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू इन पापियों के समान मत आचरण कर, बल्कि यज्ञ-निमित्त कर्म करके अपना और दूसरों का कल्याण कर।

(४) इस प्रकार सर्वसाधारण के लिए कर्म की आवश्यकता और उसके न करने से पाप दर्शाकर अब भगवान् जिनके लिए आवश्यकता की दृष्टि से कुछ भी करना नहीं है, उनके विषय में कहते हैं——

(क) पर हाँ, जो आत्मा में ही प्रीतिमान्, आत्मा में ही तृप्त (मग्न), और आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए स्वार्थबुद्धि से या आवश्यकता की दृष्टि से करने योग्य कुछ नहीं रहता।

(ख) ऐसे पुरुष का न तो कुछ किये से प्रयोजन, न न किये से, और न उसे इस संसार में किसी से किसी वस्तु का ही आश्रय वा प्रयोजन होता है।

(ग) पर ये लोग भी कर्मयोग द्वारा ही इस परम अवस्था (आत्म-तृप्ति) को प्राप्त हुए हैं, कर्म छोड़ कर नहीं, जैसे कि जनक आदि राजे। इसलिए हे अर्जुन! तू भी यदि इस परम अवस्था को प्राप्त होना चाहता है, तो जनक आदि राज-ऋषियों के समान निरासक्त होकर नित्य करने योग्य कर्मों को कर।

(५) यद्यपि आत्मतृप्त पुरुषों के लिए आवश्यकता की दृष्टि से कोई कर्त्तव्य नहीं होता, तथापि वे भी नितांत निकम्मे नहीं हो बैठते, किंतु लोगों की भलाई के निमित्त उनसे भी कर्म प्रायः होते ही रहते हैं। कारण यह है कि—

(क) प्रथम तो विना कर्म के क्षण भर भी कोई पुरुष नहीं रह सकता।

(ख) फिर जैसे-जैसे श्रेष्ठ पुरुष चलते हैं, उसी के अनुसार इतर जन भी चलते हैं।

(ग) जिसको वे प्रमाण मानते हैं, उसी को दूसरे लोग भी मानने लग जाते हैं।

(घ) इसीलिए यद्यपि तीन लोकों में मुझे कुछ भी कर्त्तव्य नहीं और न किसी वस्तु के पाने की इच्छा है, तथापि मैं कर्म में प्रवृत्त रहता हूँ, जिससे लोग निकम्मे और आलसी न हो बैठें, और मुझे कर्म-रहित देखकर ये सब अधोगति वा हानि को प्राप्त न हो जायँ।

(ङ) इसलिए मेरा ज्ञानवानों से भी ऐसा ही कहना है कि—

१. जैसे अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे निरासक्त होकर वे (ज्ञानवान्) भी लोगों की भलाई के निमित्त कर्म करें।

२. उन (आसक्त होकर कर्म करनेवाले) अज्ञानियों के निश्चय में वे (ज्ञानवान्) विगाड़ न डालें और न उनका उत्साह भंग करें, बल्कि आप स्वयं कर्म करते हुए अपने दृष्टांत से कर्म में उनका उत्साह बढ़ायें ।

३. और यह स्पष्ट है कि सब पुरुष अपनी-अपनी प्रकृति से विवश होकर कर्म करते हैं, किंतु अज्ञानी पुरुष उन कर्मों का अपने आपको कर्त्ता मान लेता है, और ज्ञानवान् ऐसा नहीं मानता, जिससे अज्ञानी तो उन कर्मों में फँस जाता है और ज्ञानी नहीं । परंतु ऐसा होते हुए भी ज्ञानवान् अज्ञानियों को उनके निश्चय और उत्साह से चलायमान न करे ।

(६) इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी को कर्म की योग्यता और आवश्यकता दर्शाकर भगवान् फिर अर्जुन को ऐसे उपदेश करते हैं--

(क) पस, हे अर्जुन ! क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी सबके लिए (निःस्वार्थबुद्धि से) कर्म करना उचित, स्वाभाविक वा आवश्यक है, और (निष्काम) कर्म से ही परम अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए तू सारे कर्मों को अपने चित्त से मेरे अर्पण करके आशा, ममता और संताप से रहित हुआ युद्ध कर ।

(ख) जो पुरुष मेरे उक्त उपदेश वा निश्चय के अनुसार श्रद्धा और भक्ति से आचरण करते हैं, वे कर्मों से भी छूट जाते हैं, अर्थात् पूर्वोक्त परम अवस्था को

प्राप्त हो जाते हैं। और जो अश्रद्धा और घमंड के कारण इसके प्रतिकूल चलते हैं, उन मूढ़ों को तू नष्ट बुद्धि समझ।

(ग) अपनी-अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ज्ञानवान् भी चेष्टा करते हैं, और अन्य सब प्राणी भी अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं। ऐसी दशा में हठपूर्वक किसी की रोक-थाम (ज़बरदस्ती) भला किस काम की ?

(घ) हाँ, इतना ध्यान तुझे अवश्य रखना चाहिए कि—

१. इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष रहता है; उनके वश में तू न आने पावे, क्योंकि ये दोनों पुरुष के रास्ते में विघ्न डालनेवाले हैं।

२. अपना धर्म (कर्त्तव्य वा स्वभाव) यदि गुण-रहित भी हो, तो भी पराये गुणवान् धर्म (कर्त्तव्य वा स्वभाव) से श्रेष्ठ है, और इस अपने में तो मृत्यु भी भली है, परंतु पराया धर्म वा कर्त्तव्य भय और हानिकारक होता है।

(७) इस उपदेश को सुनकर अर्जुन संदेहयुक्त हुआ भगवान् से ऐसे पूछता है कि—

"हे भगवन् ! जब प्रत्येक प्राणी का अपनी-अपनी प्रकृति वा धर्म के अनुसार चलने से ही कल्याण है, और निज धर्म को छोड़कर परधर्म में लगने से हानि ही है; तो फिर पुरुष किससे उकसाया जाकर अपनी इच्छा, प्रकृति, विचार और धर्म के विरुद्ध चलने लग जाता है ?"

(८) इस प्रश्न पर भगवान् ऐसे उत्तर देते हैं कि—

(क) हे अर्जुन ! यह काम और क्रोध है जिनकी उत्पत्ति रजोगुण से है। और इस काम को तू यहाँ बड़ा पेटू, पापी और भारी शत्रु समझ।

(ख) जैसे धुएँ से अग्नि, मल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका होता है, वैसे काम से यह विश्व ढका हुआ है। इसके वश में होकर पुरुष नाना प्रकार के उपद्रव कर बैठता है।

(ग) हे अर्जुन ! ज्ञानी के इस नित्य वैरी काम से आत्मज्ञान भी ढका होता है।

(घ) इंद्रियाँ, मन और बुद्धि इसका अधिष्ठान अथवा रहने का स्थान हैं। इन्हीं के द्वारा यह काम पुरुष के विचार को ढककर उसे मोहता वा धोखा देता है।

(ङ) इसलिए पहले तू हे अर्जुन ! इन इंद्रियों को अपने वश कर, और फिर इस ज्ञान-विज्ञान के शत्रु काम को मार, अर्थात् इस पर क़ाबू पा।

(९) इस प्रकार काम को सब उपद्रवों का मूल और दुर्जय दर्शाकर अब भगवान् उसके मारने का (जीतने) का उपाय इस प्रकार बताते हैं--

(क) इंद्रियाँ स्वयं सूक्ष्म और विषयों से परे हैं, इंद्रियों से परे वा सूक्ष्म मन है, मन से परे वा सूक्ष्म बुद्धि है, और बुद्धि से सूक्ष्म वा परे वह (काम, वा सर्वाधार आत्मा) है।

(ख) इसीलिए विषयों की अपेक्षा इंद्रियाँ स्वयं प्रबल हैं, इंद्रियों से अधिक प्रबल मन, मन से अधिक प्रबल बुद्धि, और बुद्धि से अधिक प्रबल काम और सर्वोपरि अधिक प्रबल आत्मा है।

(ग) इस प्रकार काम को सबसे ऊपर सूक्ष्मतम और अति दुर्जय समझकर तू पहले इंद्रियों को, फिर मन को और फिर बुद्धि को जीत। ऐसे अपने आपको अपने अधीन करके तू फिर आत्मसाक्षात्कार से इस दुष्ट काम को भी जीत। अथवा

(घ) इस प्रकार अपने आत्मा को सर्वोपरि सूक्ष्म व प्रबल जानकर तू क्रमशः इंद्रियों, मन और बुद्धि के संयम से आत्मसाक्षात्कार द्वारा इस दुष्ट और दुर्जय काम को जीत।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, कर्मयोग-नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

❀ ॐ ❀

चतुर्थोऽध्यायः

संबंध—तीसरे अध्याय के आरंभ (श्लोक ३) में भगवान् ने जो कहा कि "सृष्टि के आदिकाल में दो प्रकार से निष्ठा मुझसे इस लोक में कही गई है, सांख्यों की ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से।" और तत्पश्चात् ज्ञानी और अज्ञानी अथवा विवेकी और कर्मयोगी सबके लिए कर्मयोग की आवश्यकता वा उपयोगिता दर्शायी। अब १. "यह कर्मयोग सनातन कैसे है ?" २. "इसका स्वरूप क्या है ?" ३. "अकर्म अथवा विकर्म से इसका क्या भेद है ?" ४. "दोनों प्रकार (कर्मयोग वा ज्ञानयोग) से निष्ठा एक कैसे है ?" ५. "कर्मयोग ज्ञानयोग का और ज्ञानयोग कर्मयोग का परस्पर सहकारी कैसे है ?" ६. "ज्ञान-सहित कर्म का ज्ञानरहित कर्म से क्या गौरव है ?" और ७. "तत्त्वविचारयुक्त कर्मयोगी को आत्मसाक्षात्कार-निमित्त क्या कर्त्तव्य है ?" इन हेतुओं से पूर्व अध्याय के विषय को भगवान् अपनी दयालुता से स्वयं विस्तारपूर्वक कहने लगे हैं, जिस पर चौथा अध्याय आरंभ होता है—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इमं^{1}, विवस्वते^{5}, योगं^{3}, प्रोक्तवान्^{6}, अहं^{4}, अव्ययम्^{2}	इस^{1} अविनाशी^{2} (सनातन) योग^{3} को मैंने^{4} विवस्वान्^{5} से कहा^{6}।	विवस्वान्^{1}, मनवे^{2}, प्राह^{3}	विवस्वान्^{1} ने मनु^{2} से कहा^{3}।
		मनुः^{1}, इक्ष्वाकवे^{2}, अब्रवीत्^{3}	मनु^{1} ने इक्ष्वाकु^{2} से कहा^{3}।

अन्वयार्थ——श्रीभगवान् बोले——इस सनातन योग * को मैंने विवस्वान् से कहा, विवस्वान् † ने मनु ‡ से कहा, और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा ॥ १ ॥

व्याख्या—श्रीभगवान् बोले कि हे अर्जुन! जो युक्ति उक्त सांख्ययोग और कर्मयोग के नाम से मैंने ऊपर कही है, अथवा

---

* योग शब्द के अर्थ यहाँ आयु को कुशलतापूर्वक बताने की वह युक्ति है कि जो पूर्व अध्यायों में कर्मयोग और सांख्ययोग के नामों वा मार्गों से वर्णन हुई है।

† विवस्वत् के अर्थ सूर्य देवता के हैं जो क्षत्रियवंश का बीजरूप अर्थात् आदिपिता कहा जाता है।

‡ मनु प्रति कल्प में चौदह होते हैं, जिनके नाम ये हैं——१. स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. देवसावर्णि, १४. इंद्रसावर्णि। इनमें से पूर्व के ६ मनु तो बीत चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मनु वर्तमान है और शेष आठ से लेकर १४ तक अभी आगे होंगे।

यहाँ उस वैवस्वत मनु से अभिप्राय है कि जो सातवाँ मनु है, जो सूर्य से उत्पन्न हुआ माना जाता है, और जिससे सूर्यवंशी-कुल आरंभ हुआ है, अर्थात् जो सूर्यवंशियों का मूल पुरुष है। यही विद्यमान मन्वंतर का नियंता माना जाता है, और इसी को विष्णुभगवान् ने मत्स्यावतार लेकर समुद्र के तूफ़ान (प्रवाह) से बचाया कहा जाता है।

जो कर्मयोग पूर्वाध्याय में मुझसे वर्णन हुआ है, वह केवल आज युद्धोत्साहार्थ ही नहीं कहा गया किंतु इस मन्वंतर से पहले भी प्रत्येक मन्वंतर में (वा प्रत्येक कल्प के आदि में) कहा जा चुका है, इसलिए यह योग * सनातन और अविनाशी है। जिस क्रम से सृष्टि के आदि में मुझ से यह अविनाशी योग प्रतिपादित हुआ है, उस क्रम को तू अब सुन—सबसे पहले तो इस सनातन योग को मैंने सारी सृष्टि के आदिपुरुष विवस्वान् (सूर्य) से सविस्तर कहा। सूर्य भगवान् जो यम का पिता, सृष्टि का रक्षक और सारे (१४) मनुओं का आदिपुरुष वा आदिकारण है, उसने वर्त्तमान मन्वंतर अर्थात् सातवें मन्वंतर के नियंता वैवस्वत मनु अपने पुत्र को यह योग कहा। वैवस्वत मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को (जो सूर्यवंशियों में आदि और अति प्रसिद्ध राजा था उसे) कहा, जिसके द्वारा यह (योग) प्रजा तक पहुँचा ॥ १ ॥ †

---

* इस निष्काम कर्मयोग से ज्ञान द्वारा जन्म-मरणरहित मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है, अर्थात् इस योग का फल नाशरहित है, इसलिए भी यह योग अव्यय कहलाता है; अथवा इस कर्मयोग का प्रतिपादक वा मूल कारण नाशरहित वेद हैं, अतएव भी यह योग अविनाशी कहलाता है।

† इस विषय में महाभारत में ऐसे लिखा है कि ब्रह्मा के सब सात जन्म हैं। इनमें से पहले छः जन्मों की परंपरा का वर्णन हो चुकने पर जब ब्रह्मा के सातवें, अर्थात् वर्त्तमान, जन्म का कृतयुग समाप्त हुआ, तब—

“त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥

और—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयोऽविदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

एवं[2], परम्परा[3]-प्राप्तं[4], इमं[1]	इस[1] ऐसे[2] परंपरा[3] से प्राप्त[4] (योग) को	सः[1], कालेन[4], इह[5], महता[3], योगः[2], नष्टः[7], परन्तप[6]	वह[1] योग[2] बहुत[3] काल[4] से यहाँ[5] (इस लोक में) हे अर्जुन[6] ! नष्ट[7] (लोप) हो गया था
राज[1]-ऋषयः[2], अविदुः[3]	राज[1]-ऋषियों[2] ने जाना[3]		

अन्वयार्थ—इस ऐसे परंपरा से प्राप्त योग को राजऋषियों ने जाना । वह योग, हे अर्जुन ! बहुत काल से इस लोक में लोप हो गया था ॥ २ ॥

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥"

त्रेतायुग के आरंभ में विवस्वान् ने मनु को (यह धर्म) दिया, मनु ने लोकधारणार्थ अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया, और इक्ष्वाकु से आगे सब लोगों में फैल गया । हे राजा ! सृष्टि के क्षय होने पर (यह धर्म) पुनः नारायण के यहाँ चला जायगा । और यतियों का धर्म (अर्थात् संन्यासधर्म) जो इससे पूर्व तुझे हरिगीता में संक्षिप्त कहा गया है वह भी उक्त धर्म के साथ ही चला जायगा (म० भा० शां० ३४८, ५१, ५२, ५३) । ऐसा नारायणीय धर्म में वैशंपायन ने जनमेजय से कहा है । इस कथन से विदित होता है कि जिस द्वापरयुग के अंत में भारतीय युद्ध हुआ था, उससे पहले के त्रेतायुग भर की ही भागवत धर्म की परंपरा गीता में वर्णित है । विस्तार के भय से अधिक वर्णन नहीं किया गया ।

व्याख्या--हे अर्जुन ! इस उक्त क्रम से प्राप्त हुए योग को फिर कई एक राजऋषियों * ने जाना । अर्थात् इस प्रकार सूर्य से आदि लेकर परंपरा से प्राप्त हुए कर्मयोग को निमि, जनक, अजातशत्रु और कैकेय इत्यादि राजऋषियों ने जाना । परंतु बहुत काल से तथा समय के प्रभाव से यह सुखदायक योग, हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! इस लोक से अब लोप हो गया था । अर्थात् लोगों के आहार, व्यवहार और रुचि के निकृष्ट हो जाने से इस उत्तम योग का नाम वा निशान मिट गया था ॥ २ ॥

संबंध—इस सनातन और लोप हुए योग के पुनः उपदेश किये जाने का भगवान् अब कारण कहते हैं—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सः^{१}, एव^{२}, अयं^{३}, मया^{७}, ते^{८}, अद्य^{६}, योगः^{५}, प्रोक्तः^{९}, पुरातनः^{४}	वह^{१} ही^{२} यह^{३} पुरातन^{४} योग^{५} आज^{६} मुझसे^{७} तेरे^{८} तई कहा^{९} गया है	भक्तः^{२}, असि^{५}, मे^{१}, सखा^{४}, च^{३}, इति^{६}	तू मेरा^{१} भक्त^{२} और^{३} सखा^{४} है^{५}, इस^{६} हेतु से (कहा गया है)
		रहस्यं^{४}, हि^{१}, एतत्^{२}, उत्तमम्^{३}	क्योंकि^{१} यह^{२} अति उत्तम^{३} रहस्य^{४} है

---

* राजऋषि वे लोग होते हैं जो पहले तो राजकुल में उत्पन्न होने के कारण वा अन्य उपायों से राजा हो गये हों और फिर तप से ऋषि हो जायँ । यह याद रहे कि ब्रह्मविद्यारूप निष्काम कर्मयोग पहले पहल राजाओं में ही प्रचलित था, ब्राह्मण लोग तो बहुधा सकाम कर्मकांड में ही फँसे रहते थे, जैसा कि आजकल उनका हाल है । ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक, पालक व रक्षक पुरातन काल से बहुधा क्षत्रिय राजा ही होते चले आये हैं ।

अन्वयार्थ—तू मेरा भक्त और सखा है, इस हेतु से वह ही यह पुरातन योग आज मुझसे तेरे तईं कहा गया है, क्योंकि यह अति उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि यह योग बहुत काल से लोगों की अरुचि के कारण लुप्त हो रहा था, परंतु तुझसे मैं कैसे इस उत्तम योग को गुप्त रख सकता हूँ; जब कि तू मेरा परम भक्त और सखा है । इसीलिए वही यह सनातन और अविनाशी योग आज मैंने तुझसे कह सुनाया है। यह योग निःसंदेह अति उत्तम रहस्य है, इसलिए भी तुझे अपना प्यारा भक्त और सखा जानकर इसे कहा है ॥ ३ ॥

संबंध—भगवान् के इन उक्त वाक्यों को सुनकर और भगवान् को शारीरिक दृष्टि से अभी थोड़े काल से उत्पन्न हुआ जानकर अर्जुन को संदेह हुआ कि श्रीकृष्णजी ने अपने जन्म से पहले पूर्व पुरुषों को भला इस योग का उपदेश कैसे दिया । ऐसे संशययुक्त हुआ अर्जुन अब भगवान् से प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अपरं[3], भवतः[1], जन्म[2]	आपका[1] जन्म[2] पीछे[3] (हुआ)	कथं[1], एतत्[2], विजानीयां[3]	कैसे[1] यह[2] मैं जानूँ[3]
परं[3], जन्म[2], विवस्वतः[1]	विवस्वान्[1] का जन्म[2] पहले[3] (हुआ)	[1]त्वं, आदौ[2], प्रोक्तवान्[4], इति[3]	तू[1] (आप) ने आदिमें[2] यह[3] कहा[4]

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—(हे भगवन् !) आपका जन्म

पीछे हुआ और विवस्वान् का जन्म पहले। यह मैं कैसे जानूँ कि आपने आदिकाल में यह (योग) कहा ? ॥ ४ ॥

व्याख्या–“श्रीकृष्ण तो वासुदेव और देवकी के पुत्र हैं, सर्वसाधारण के समान यह भी अपने प्रारब्ध भोगवश उत्पन्न हुए हैं, और थोड़े काल से इस संसार में प्रकट हुए हैं,” ऐसी भावना वा दृष्टि से युक्त हुआ अर्जुन अब यह पूछता है कि हे श्रीकृष्णजी ! आपका जन्म तो अभी वर्तमान काल में हुआ है, और विवस्वान् का जन्म आपसे बहुत पहले बल्कि सृष्टि के आदिकाल में हुआ है; फिर आपका जन्म तो मनुष्यत्व जातिवाला होने से निकृष्ट है और विवस्वान् (सूर्य) का जन्म देवत्व जातिवाला होने से उत्कृष्ट है। ऐसी अवस्था में यह मुझे कैसे निश्चय हो कि आपने ही विवस्वान् इत्यादि को सबसे पहले यह उत्तम रहस्य (योग) बतलाया ? अर्थात् आपका वचन मुझे विरुद्ध प्रतीत होता है, जिससे मेरे मन में बैठता नहीं है। आप कृपा करके बतलावें कि इसमें मैं निश्चय कैसे करूँ ? ॥ ४ ॥

संबंध—इस प्रश्न को सुनकर भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंन्तप ॥ ५ ॥

बहूनि[५], मे[२], व्यतीतानि[७], जन्मानि[६], तव[४], च[३], अर्जुन[१]	हे अर्जुन[१] ! मेरे[२] और[३] तेरे[४] बहुत[५] से जन्म[६] बीत[७] चुके हैं
तानि[१], अहं[३], वेद[४], सर्वाणि[२]	उन[१] सबको[२] मैं[३] जानता[४] हूँ
न[३], त्वं[२], वेत्थ[४], परन्तप[१]	हे अर्जुन[१] ! तू[२] नहीं[३] जानता[४] है

अन्वयार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ। हे अर्जुन ! तू नहीं जानता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—"श्रीकृष्णजी ईश्वर और सर्वज्ञ नहीं, किंतु मनुष्य के समान जन्म लेनेवाले अल्पज्ञ और परिच्छिन्न जीव हैं," ऐसा जो अज्ञानी पुरुषों को अनुमान और संदेह हो रहा था जिसके कारण अर्जुन को भी उनका उक्त कथन समझ में नहीं आया था। इस संदेह और भ्रम को दूर करने के निमित्त भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तेरे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, पर तू हे शत्रुओं के सतानेवाले (अर्जुन) ! अविद्या-उपाधि करके परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है, इसलिए तू इन सब जन्मों को नहीं जानता; और मैं अपनी माया-उपाधि करके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव हूँ, जिससे उन सबको जानता हूँ ॥ ५ ॥ *

संबंध—और यदि यह कहा जाय कि जब मैं अपरिच्छिन्न और सर्वज्ञ ईश्वर हूँ, तो फिर यह जन्म कैसे ? तो—

---

* इस श्लोक से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) यह जीव अविनाशी तो है, परंतु प्रारब्ध कर्मों से बारम्बार चोला बदलता है। पुराना चोला छोड़कर जब नया लेता है, तो पुराने को भूल जाता है, कारण यह है कि जीवात्मा पर अज्ञान अथवा अविद्या का परदा पड़ा होता है, जिससे उसे पहला चोला वा जन्म प्रायः भूला रहता है। (२) परंतु ईश्वर न केवल अविनाशी और सर्वज्ञ ही है बल्कि अपनी माया से अवतार लेता अर्थात् चोला धारण करता है, जिससे वह अपने और दूसरों के सारे (अगले-पिछले) जन्मों को जानता है, क्योंकि वहाँ अविद्या का परदा नहीं है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजः[१], अपि[५], सन्[४], अव्यय[२]-आत्मा[३]	अजन्मा[१] और अविनाशी[२] आत्मा[३] होते[४] हुए भी[५]
भूतानां[१], ईश्वरः[२], अपि[४], सन्[३]	भूतों[१] का ईश्वर[२] होता[३] हुआ भी[४]
प्रकृतिं[२], स्वां[१], अधिष्ठाय[३]	अपनी[१] प्रकृति[२] को आश्रय[३] करके
सम्भवामि[३], आत्म[१]-मायया[२]	अपनी[१] माया[२] से उत्पन्न[३] होता हूँ

अन्वयार्थ—अजन्मा, अविनाशी आत्मा और भूतों का ईश्वर *

---

* वास्तव में ईश्वर-जीव में कोई भेद नहीं, दोनों निज स्वरूप से अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव हैं। परंतु उपाधि-भेद से उनमें यह अंतर है कि ईश्वर मायोपाधि करके स्वतंत्र, नित्य, मुक्त, सर्वज्ञ, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। जीव अविद्या की उपाधि करके परतंत्र, बद्ध, अल्पज्ञ, कर्माधीन, असत्यकाम और असत्यसंकल्प है। यह वेद-शास्त्र का निर्णीत सिद्धांत है, इसलिए जीव तो प्रारब्ध-भोग के वश में आकर देहादि का ग्रहण और त्याग करता है, और ईश्वर अपने पूर्व कर्मों के अधीन होकर नहीं बल्कि अपनी इच्छा से अपनी प्रकृति को अपने वश में रखते हुए कोई विशेष कार्य करने के लिए अथवा भक्तों और धर्म की रक्षा करने के लिए मनुष्य-लोक में अवतार लेता है। अर्थात् इसका जन्म (देह धारण करना) साधारण पुरुषों का सा नहीं होता (कि जो अपने प्रारब्ध कर्मों से बँधे हुए, कामना के जाल में फँसे हुए अपने कर्मों के फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं) बल्कि अपनी इच्छा के अनुसार प्रकृति के भंडार में से सब मसालह और शक्तियाँ लेकर होता है। (इसका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तावना में देखो)

अन्वयार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ। हे अर्जुन ! तू नहीं जानता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—"श्रीकृष्णजी ईश्वर और सर्वज्ञ नहीं, किंतु मनुष्य के समान जन्म लेनेवाले अल्पज्ञ और परिच्छिन्न जीव हैं," ऐसा जो अज्ञानी पुरुषों को अनुमान और संदेह हो रहा था जिसके कारण अर्जुन को भी उनका उक्त कथन समझ में नहीं आया था। इस संदेह और भ्रम को दूर करने के निमित्त भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तेरे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, पर तू हे शत्रुओं के सतानेवाले (अर्जुन) ! अविद्या-उपाधि करके परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है, इसलिए तू इन सब जन्मों को नहीं जानता; और मैं अपनी माया-उपाधि करके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव हूँ, जिससे उन सबको जानता हूँ ॥ ५ ॥ *

संबंध—और यदि यह कहा जाय कि जब मैं अपरिच्छिन्न और सर्वज्ञ ईश्वर हूँ, तो फिर यह जन्म कैसे ? तो—

---

* इस श्लोक से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) यह जीव अविनाशी तो है, परंतु प्रारब्ध कर्मों से बारम्बार चोला बदलता है। पुराना चोला छोड़कर जब नया लेता है, तो पुराने को भूल जाता है, कारण यह है कि जीवात्मा पर अज्ञान अथवा अविद्या का परदा पड़ा होता है, जिससे उसे पहला चोला वा जन्म प्रायः भूला रहता है। (२) परंतु ईश्वर न केवल अविनाशी और सर्वज्ञ ही है बल्कि अपनी माया से अवतार लेता अर्थात् चोला धारण करता है, जिससे वह अपने और दूसरों के सारे (अगले-पिछले) जन्मों को जानता है, क्योंकि वहाँ अविद्या का परदा नहीं है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अज^{1}ः, अपि^{5}, सन्^{4}, अव्यय^{2}-आत्मा^{3}	अजन्मा^{1} और अविनाशी^{2} आत्मा^{3} होते^{4} हुए भी^{5}
भूतानां^{1}, ईश्वरः^{2}, अपि^{4}, सन्^{3}	भूतों^{1} का ईश्वर^{2} होता^{3} हुआ भी^{4}
प्रकृतिं^{2}, स्वां^{1}, अधिष्ठाय^{3}	अपनी^{1} प्रकृति^{2} को आश्रय^{3} करके
सम्भवामि^{3}, आत्म^{1}-मायया^{2}	अपनी^{1} माया^{2} से उत्पन्न^{3} होता हूँ

अन्वयार्थ—अजन्मा, अविनाशी आत्मा और भूतों का ईश्वर *

---

* वास्तव में ईश्वर-जीव में कोई भेद नहीं, दोनों निज स्वरूप से अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव हैं। परंतु उपाधि-भेद से उनमें यह अंतर है कि ईश्वर मायोपाधि करके स्वतंत्र, नित्य, मुक्त, सर्वज्ञ, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। जीव अविद्या की उपाधि करके परतंत्र, बद्ध, अल्पज्ञ, कर्माधीन, असत्यकाम और असत्यसंकल्प है। यह वेद-शास्त्र का निर्णीत सिद्धांत है, इसलिए जीव तो प्रारब्ध-भोग के वश में आकर देहादि का ग्रहण और त्याग करता है, और ईश्वर अपने पूर्व कर्मों के अधीन होकर नहीं बल्कि अपनी इच्छा से अपनी प्रकृति को अपने वश में रखते हुए कोई विशेष कार्य करने के लिए अथवा भक्तों और धर्म की रक्षा करने के लिए मनुष्य-लोक में अवतार लेता है। अर्थात् इसका जन्म (देह धारण करना) साधारण पुरुषों का सा नहीं होता (कि जो अपने प्रारब्ध कर्मों से बँधे हुए, कामना के जाल में फँसे हुए अपने कर्मों के फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं) बल्कि अपनी इच्छा के अनुसार प्रकृति के भंडार में से सब मसालह और शक्तियाँ लेकर होता है। (इसका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तावना में देखो)

होते हुए भी मैं अपनी प्रकृति को आश्रय करके अपनी माया * से उत्पन्न होता हूँ ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वास्तव में यद्यपि मैं जन्मरहित और नाशरहित स्वभाव हूँ, और सब स्थावर-जंगम भूतों का ईश्वर (मालिक) भी हूँ, परंतु मायोपाधि से मैं ईश्वर अपनी प्रकृति (जो त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया है, जिसके वश में सब जगत् वर्त रहा है, और जिससे मोहित हुआ जीव अपने आपको वासुदेव

---

* माया ईश्वर की उस आश्चर्यरूप शक्ति को कहते हैं कि जो अपने मालिक (ईश्वर) के आश्रय होकर सारी सृष्टि को रचती और मोहती है, और उसी को कई स्थान पर त्रिगुणात्मिक प्रकृति कहा गया है ।

श्रीरामानुज के अनुसार माया शब्द के अर्थ यहाँ ज्ञान के हैं । जैसे—“मायावयुनं ज्ञानमिति ज्ञानपर्यायोत्र माया शब्दः ।”=माया, वयुन, ज्ञान, ये एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं । अर्थात् माया उस ज्ञान विशेष का नाम है कि जो किसी वस्तु के बनाने से पहले दिमाग़ (मस्तिष्क) में चित्र (design) के आकार खींचा जाता है । श्रीकृष्ण ने अपनी स्वतंत्रता से अपने सत्यसंकल्प द्वारा आप ही अपने दिमाग़ में अपने जन्म-कर्म का चित्र (नक़शा) खींचकर तदनुरूप जन्म लिया है, इसलिए “आत्ममायया” कहा है ।

तात्पर्य यह है कि प्रथम चैतन्य शक्ति बहुत नीचे काम करती है और फिर चढ़ते-चढ़ते ऊपर-ऊपर चली जाती है । स्थूल से लेकर सूक्ष्म प्रकृति तक जब चैतन्य शक्ति सारा मार्ग तै कर लेती है, तब सारे लोकों, सब शक्तियों और मोक्षपद का पुरुष को पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है । जो महात्मा शरीर के होते हुए ही इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं । पातंजल दर्शन में लिखा है कि ईश्वर भी एक पुरुष है कि जिसका अन्य पुरुषों से यह भेद है कि वह नित्य शुद्ध-मुक्त स्वभाव है, न वह कभी कर्मबद्ध हुआ, न है, और न होगा । और अन्य पुरुष अभी कर्मबद्ध हैं,

स्वरूप नहीं जानता बल्कि जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमता रहता है, उस) को आश्रय करके, अर्थात् उसके अधीन होकर नहीं

पर भविष्यत् में ज्ञान पाकर मुक्त होंगे। जो जीवन्मुक्त हैं, वे पहले बद्ध थे, अब मुक्त हैं। जब ये शरीर को छोड़ते हैं, तो इनके व्यष्टि प्राण ईश्वर के समष्टि प्राणों में लीन हो जाते हैं, और वे फिर स्वतः सत्यकाम सत्यसंकल्प हो जाते हैं। अर्थात् वे तब सर्वशक्तिमान् हो जाते हैं, जो चाहते हैं करते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होकर यदि वे अपने निज स्वरूप (सच्चिदानंद परब्रह्म) में लीन होना चाहते हैं, तो उसी में लीन हुए शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं; और यदि धर्म वा धार्मिक पुरुषों की रक्षार्थ अथवा परोपकारार्थ पुनः देह धारण करना चाहते हैं, तो झट अपने सत्यसंकल्प से अपनी माया द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक शरीर को रच लेते हैं। वे अवतार कहलाते हैं। अर्थात् वे पुरुष ही ईश्वररूप होकर पुनः सत्यकाम और सत्यसंकल्प से कोई विशेष कर्म पूरा करने के लिए इस मनुष्यलोक में अवतार लेते (देह धारण करते) हैं। इनका अवतार (जन्म) मायामात्र होता है, किसी कर्म के बंधन वा भ्रम के कारण नहीं, और न उन पुरुषों के समान ही होता है कि जो अभी कर्मबद्ध हैं और प्रारब्ध के अधीन हुए तथा कामरूप जाल में फँसकर अपने कर्मफल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं।

इसलिए श्रुति में आया है कि "अजायमानो वहुधा विजायते।"

अर्थात् उत्पन्न न होकर भी अनेक रूप से प्रकट होते हैं। यही विषय स्मृति शास्त्र में ऐसे आया है—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

अर्थ—श्रीकृष्ण साक्षात् आत्माओं के आत्मा अर्थात् परमात्मास्वरूप हैं। जगत् के हित के लिए माया को आश्रय करके ये देहवान् की तरह दीखते हैं।

पुराणों में आया है कि भगवान् का ऐसा शरीर धारण प्रायः दो

किंतु उसे अपने वश में करके उत्पन्न हुए देहवान् के सदृश प्रकट होता हूँ; और वह भी कर्माधीन वा परतंत्र रूप से नहीं, बल्कि अपनी माया से और अपनी ही इच्छा से प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥*

प्रकार से होता है—एक अचानक किसी रूप में प्रकट होना जैसा कि नृसिंहावतार का, दूसरा—क्रमोन्नत किसी शरीर के द्वारा भगवत्-कला का आंशिक या पूर्ण विकास, जैसा कि महाभारत के वनपर्व के १२वें अध्याय में श्रीकृष्णचंद्रजी ने कहा है—

"नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥"

अर्थ—हे वीर अर्जुन ! तुम पूर्व जन्म में नर थे और मैं नारायण था। अब इस जन्म में श्रीकृष्णरूप से मेरा जन्म और अर्जुनरूप से तुम्हारा जन्म हुआ है ।

फिर मोक्षधर्म में भगवान् ने नारद के प्रति कहा कि—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद !
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥"

अर्थ—हे नारद ! जिस मेरे शरीर को तू अपने नेत्रों से देखता है, वह मेरा शरीर मेरी माया से रचा हुआ है । पर मुझ सर्वभूत गुणों से युक्त को तू नहीं देख सकता ।

* प्रसिद्ध महाशय तिलकजी उक्त श्लोक ६ पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"इस श्लोक के अध्यात्मज्ञान में कापिल सांख्य और वेदांत दोनों ही मतों का मेल कर दिया गया है । सांख्य-मतवालों का कथन है कि प्रकृति आप ही स्वयं सृष्टि निर्माण करती है; परंतु वेदांती लोग प्रकृति को परमेश्वर का ही एक स्वरूप समझकर यह मानते हैं कि प्रकृति में परमेश्वर के अधिष्ठित होने पर प्रकृति से व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है । अपने अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत् को निर्माण करने की परमेश्वर की इस अचिंत्य शक्ति को ही गीता में 'माया' कहा है। और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसा वर्णन है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं

संबंध—फिर मेरा वह जन्म (देह-धारण) कब होता है ? उसे भगवान् अब कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

यदा^{2}, यदा^{2}, हि^{1}, धर्मस्य^{4}, ग्लानिः^{5}, भवति^{6}, भारत^{3}	निः^{1}संदेह जब^{2}- जब^{2} हे अर्जुन^{3} ! धर्म^{4} की ग्लानि^{5} होती^{6} है	अभ्युत्थानं^{2}, अधर्मस्य^{1}	अधर्म^{1} की वृद्धि^{2}
		तदा^{1}, आत्मानं^{3}, सृजामि^{4}, अहं^{2}	तब^{1} मैं^{2} अपने^{3} आपको रचता^{4} हूँ

अन्वयार्थ——निःसंदेह जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब, हे अर्जुन ! मैं अपने आपको रच लेता हूँ ॥७॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वैसे तो मेरे जन्म लेने में काल का कोई नियम ही नहीं, पर हाँ, जिस समय धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है, अर्थात् जिस समय लोग अपना कर्त्तव्य-पालन करना छोड़ बैठते हैं (किंतु दिन-रात अनर्थ करने पर तत्पर रहते हैं), जिससे अधर्म की वृद्धि होती जाती है; ठीक उस समय मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ, अर्थात् तब मैं अपने आपको अपनी माया से एक देह में निःसंदेह रच लेता हूँ ॥ ७ ॥ *

तु महेश्वरम् ।' अर्थात् प्रकृति ही माया है, और उस माया का अधिपति परमेश्वर है (श्वे० ४, १०), और 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्'= इससे माया का अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे० ४, ९)।....... अब भगवान् इस बात का खुलासा करते हैं कि वह (परमेश्वर) ऐसा कब और किसलिए करता है ।"

* यही सिद्धांत महाभारत (३, १८९, २८-२९ और ३१) में ऐसे वर्णित है—

संबंध—"यह अवतार क्यों लेता हूँ ?" इसे भगवान् अब कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

परित्राणाय^{2}, साधूनां^{1}	साधुओं^{1} (भलों) की रक्षा^{2} के लिए	धर्म^{1}-संस्थापन^{2}- अर्थाय^{3}	धर्म^{1} की स्थापना^{2} के^{3} लिए
विनाशाय^{3}, च^{1}, दुष्कृतां^{2}	और^{1} ^{2}दुःष्टों के नाश^{3} के लिए	सम्भवामि^{2}, युगे^{1}, युगे^{1}	युग^{1} युग^{1} में मैं प्रकट^{2} होता हूँ

"दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः ॥ २८ ॥
तदाऽहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २९ ॥"

अर्थ—जब भयानक और हिंसक दैत्य और राक्षस इस पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, जिन्हें प्रधान देवता भी नहीं मार सकते, तब मैं धर्मात्माओं के कुल में जन्म लेता हूँ और मनुष्य-शरीर धारण करके शांति स्थापित करता हूँ ।

"कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् ॥ ३१ ॥"

अर्थ—जब समय आता है, मैं आप ही जन्म लेता हूँ और धर्म व नीति की रक्षा के लिए मैं मनुष्य-शरीर को धारण करता हूँ ।

श्रीभागवत (९, २४, ५६) में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥"

अर्थ—जब-जब धर्म का नाश और पाप की वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् ईश्वर वा हरि आप अवतार लेते हैं ।

अन्वयार्थ——साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के नाश के लिए मैं युग-युग में धर्म की स्थापनार्थ प्रकट होता हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरा अवतार लेना कोई निरर्थक नहीं, किंतु जो साधु स्वभाव, भले पुरुष वा धर्मात्मा हैं, उनकी तो रक्षा के लिए और जो दुराचारी (दुष्टात्मा) हैं उनके नाश के लिए प्रति युग में मैं केवल धर्म * को भले प्रकार स्थापन करने के लिए अपनी ही माया से आप अवतार लेता हूँ, अर्थात् देह धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

संबंध—भगवान् कृष्णचंद्र के इन दिव्य मायारूपों और कर्मों को जाननेवाले पुरुष की अंतिम गति को भगवान् अब वर्णन करते हैं——

---

* इन दोनों (७, ८) श्लोकों में "धर्म" शब्द का अर्थ केवल वैदिक वा पारलौकिक धर्म ही नहीं, किंतु चारों वर्णों के धर्म, न्याय और नीति-धर्म भी इसमें समावेश होते हैं। श्लोक का तात्पर्य यह है कि जगत् में जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अँधाधुंधी मच जाने से साधु लोगों को कष्ट होने लगता है, और जब दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है, तब अपने निर्माण किये हुए जगत् की सुस्थिति को स्थिर रखकर उसके कल्याणनिमित्त तेजस्वी और पराक्रमी पुरुष के रूप से (गी० १०, ४१) अवतार लेकर भगवान् समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार लेकर भगवान् जो काम करते हैं, उसी को "लोकसंग्रह" भी कहते हैं। (श्रीतिलक महाराज)

आजकल भी जो दुष्टता की वृद्धि हो रही है, और अपनी नीच वा केवल लौकिक कामनाओं के लिए साधु लोगों को दुःख दिया जा रहा है, जिससे दुष्टों का दबदबा बढ़ रहा है, इससे भी स्पष्ट होता है कि या तो ईश्वर का अवतार हो गया है, या होनेवाला है। और इसीलिए थियासोफ़िकल सुसाइटी वा अन्य मत-मतांतरों के लोग अवतार के आगमन का शोर मचाते सुनाई दे रहे हैं। (टीकाकार)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

जन्म[3], कर्म[5], च[4], मे[1], दिव्यं[2]	मेरे[1] दिव्य[2] जन्म[3] और[4] कर्म[5] को	त्यक्त्वा[2], देहं[1],	देह[1] को त्याग[2] कर
एवं[2], यः[1], वेत्ति[4], तत्त्वतः[3]	जो[1] इस[2] प्रकार तत्त्व[3] से जानता[4] है	पुनः[3], जन्म[4], न[5], एति[6], मां[8], एति[9], सः[7], अर्जुन[10]	फिर[3] जन्म[4] को नहीं[5] प्राप्त[6] होता, वह[7] मुझको[8] प्राप्त[9] होता है, हे अर्जुन[10] !

अन्वयार्थ—मेरे ऐसे दिव्य * जन्म और कर्म को जो तत्त्व से जानता है, वह देह को त्याग कर, हे अर्जुन ! फिर जन्म को नहीं पाता, (बल्कि) मुझको ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ऐसे मेरे दिव्य (अलौकिक व असाधारण या स्वेच्छाकृत) जन्म को और (भक्तों की रक्षादि परानुग्रहमात्र) कर्म को जो पुरुष तत्त्व से अर्थात् यथार्थ वा ठीक-ठीक जानता है; अर्थात् जो यह जानता है कि "भगवान् स्वरूप से तो मुक्त स्वरूप वा शुद्ध ब्रह्म हैं, मायोपाधि से सृष्टि के कर्त्ता-हर्त्ता और धर्त्ता हैं, माया के मालिक होते हुए फिर माया से ही अवतार लेकर धर्म-संस्थापन करते हैं।" वह शरीर को छोड़कर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझको ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जिसको मेरे स्वरूप का, मेरे नाना दिव्य रूपों में

---

* दिव्य (अलौकिक वा असाधारण) जन्म-कर्म इसलिए हैं कि अभी और सारी मनुष्य जाति उस अवस्था को नहीं पहुँची जिसे जीवन्मुक्ति की वा ईश्वररूपी अवस्था कह सकें। और ऐसे जन्म-कर्म उस पुरुष के होते हैं जो ईश्वररूप हो चुका है, अथवा ईश्वरावस्था में स्थित है; मनुष्यावस्था अथवा जीव की अवस्था में वे नहीं होते।

प्रकट होने का तथा धर्म-संस्थापनार्थ मेरे दिव्य कर्मों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह तत्त्ववेत्ता होने से मरकर पुनः वापस नहीं लौटता बल्कि मुझ ईश्वर को ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

संबंध*-- (१) केवल मेरे दिव्य जन्म-कर्म को यथार्थ जाननेवाला पुरुष तो मुझको प्राप्त होता है, पर जो मेरे तद्रूप होते हैं, अर्थात् मेरा स्वरूप ही हो जाते हैं, उनके विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) केवल मेरे दिव्य जन्म-कर्म को यथार्थ जाननेवाला पुरुष ही नहीं किंतु अन्य प्रकार से भी जो मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, उनका भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जगत् के उद्धार में प्रवृत्त अन्य मुक्त पुरुष भी हैं जो मेरा ही स्वरूप हो चुके हैं । इस आशय को भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (४) मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जाननेवाले पुरुष जिस रीति से मुझ सच्चिदानंदस्वरूप को (अर्थात् मोक्ष को) प्राप्त होते हैं, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (५) यह नई बात नहीं है, क्योंकि पहले भी ऐसे बहुत से मुक्त हुए मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं, इस भाव को भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

---

* पाँचों संबंध भिन्न-भिन्न विचार से यहाँ ठीक बैठ सकते हैं, इसलिए पाँचों ही यहाँ दे दिये गये हैं ।

वीत[1]-राग[2]-भय[3]-क्रोधाः[4]	दूर[1] हुए राग[2], भय[3], क्रोध[4]वाले, अर्थात् राग[2], भय[3] और क्रोध[4] से शून्य[1]
मत्[1]-मयाः[2], मां[3], उपाश्रिताः[4]	मुझ[1] से भरे[2] हुए और मेरे[3] आश्रित[4] हुए
बहवः[1], ज्ञान[2]-तपसा[3],* पूताः[4]	बहुत[1] ज्ञान[2]-तप[3] से शुद्ध[4] हुए
मत्[1]-भावं[2], आगताः[3]	मेरे[1] भाव[2] का पहुँचे[3] हुए

अन्वयार्थ——राग, भय और क्रोध से शून्य, मुझसे भरे हुए, मेरा ही आश्रय लिये हुए, और ज्ञानरूप तप से शुद्ध हुए बहुत से पुरुष मेरे भाव † को प्राप्त हुए हैं ॥ १० ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे दिव्य जन्म-कर्म को पूरा-पूरा जाननेवाले तो मुझे, अर्थात् मेरे समीप वा मेरे लोक को ही प्राप्त होते हैं, परंतु बहुत से पुरुष जो राग-भय-क्रोध से शून्य हैं, अर्थात् जिनको न किसी में मोह है, न किसी से भय है और न किसी पर क्रोध है, जो मुझसे भरे हुए हैं, अर्थात् मेरी प्रीति, निश्चय वा ध्यान में मग्न व लीन हैं, जो मेरा ही आश्रय लिये हुए हैं, अर्थात् जो बात-बात में सर्वप्रकार से अपनी वृत्ति को मेरे ही आश्रय वा अर्पण किये रहते हैं, और जो ज्ञानरूप तप अर्थात् ज्ञानाग्नि से शुद्ध पवित्र हो चुके हैं; वे न केवल मुझे, अर्थात्

---

* ज्ञानतपसा=ज्ञान के तप से वा ज्ञानाग्नि से (श्रीशंकराचार्य)। ज्ञान और तप से (आर्य-समाज के पं० राजाराम)।

† मेरे भाव=मोक्ष (श्रीशंकराचार्य)। मेरे सायुज्य (श्रीधर)। मुझमें प्रेम वा मेरा साक्षात्कार (बलदेव)। मेरे वास्तव स्वरूप को (टीकाकार)।

मेरे समीप वा विष्णुलोक को ही प्राप्त होते हैं किंतु मेरे वास्तविक स्वरूप को भी प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! केवल मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जाननेवाला ही नहीं मुझे प्राप्त होता किंतु और बहुत से पुरुष जो राग-भय-क्रोध से शून्य, मुझसे भरे हुए, मेरे आश्रित और ज्ञानरूप तप से शुद्ध हुए होते हैं, वे भी मुझे वा मेरे भाव को प्राप्त होते हैं। अथवा बहुत से और भी हैं जो उक्त रीति से मेरा स्वरूप हुए जगत् के उद्धार में मेरे समान तत्पर हैं ॥ १० ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जो लोग मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जानकर मेरी ही ओर आते हैं, उनमें से फिर बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं कि जो राग-भय-क्रोध से शून्य हुए, मेरे ही प्रेम वा ध्यान में पूर्ण युक्त होकर, मेरे ही आश्रय सब कुछ छोड़कर, और मेरे ज्ञानरूप तप से (आत्मज्ञान और तप से) सर्वप्रकार से पूर्ण शुद्ध होते हुए मेरे वास्तव स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सालोक्य मुक्ति को पाकर बहुत से पुरुष सारूप्य व सायुज्य मुक्ति पाते हुए अंत में कैवल्य मुक्ति को पा लेते हैं ॥ १० ॥ *

---

* विचित्र ढंग से श्रीतिलक महाराज ने उक्त श्लोक ९, १० पर ऐसे व्याख्या की है—"भगवान् के दिव्य जन्म को समझने के लिए यह जानना पड़ता है कि अव्यक्त परमेश्वर माया से सगुण कैसे होता है; और इसके जान लेने से अध्यात्मज्ञान हो जाता है, एवं दिव्य कर्म को जान लेने पर कर्म करके भी अलिप्त रहने का, अर्थात् निष्कामकर्म के तत्त्व का, ज्ञान हो जाता है। सारांश, परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को पूरा-पूरा जान लें, तो अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की पूरी-पूरी पहचान हो जाती है; और मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसकी आवश्यकता होने के कारण ऐसे मनुष्य को अंत में भगवत्-प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अर्थात् भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने में सब कुछ आ

संबंध—(१) जब राग-भय-क्रोध से रहित और भगवत्-परायण पुरुष को ही भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं, तो इसमें भगवान् का अपने भक्तों में राग और अभक्तों में द्वेष कहा जा सकता है। इस दोष की निवृत्ति के निमित्त भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) जो पुरुष राग-भय-क्रोध से शून्य भगवत्-परायण और ज्ञानाग्नि से शुद्ध हैं, उन्हें तो भगवान् के स्वरूप की ही प्राप्ति होती है। पर जो ऐसे नहीं हैं और नाना प्रकार की लिप्सा वा कामना से भगवत्-भजन करते हैं, उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है ? इस विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) अब उक्त ज्ञानवानों की अपेक्षा निचले दर्जे के उपासकों का फल आदि भगवान् वर्णन करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

ये[1], यथा[2], मां[3], प्रपद्यन्ते[4]	जो[1] जैसा[2] मुझे[3] प्राप्त[4] होते हैं	मम[4], वर्त्म[5], अनुवर्त्तन्ते[6], मनुष्याः[2], पार्थ[1], सर्वशः[3]	हे अर्जुन[1] ! मनुष्य[2] सर्व[3] प्रकार से मेरे[4] मार्ग[5] पर चलते[6] हैं
तान्[1], तथा[2], एव[3], भजामि[5], अहं[4]	उनको[1] वैसा[2] ही[3] मैं[4] भजता[5] हूँ		

अन्वयार्थ—जो जैसा मुझे प्राप्त होते हैं, उनको वैसा ही मैं

गया; फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग दोनों का अलग-अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता। अतएव वक्तव्य यह है कि भगवान् के जन्म और कृत्य का विचार करो, एवं उसके तत्त्व को परखकर वर्ताव करो; भगवत्-प्राप्ति होने के लिए दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है। भगवान् की यही सच्ची उपासना है। अब इसकी अपेक्षा नीचे के दर्जे की उपासनाओं के फल और उपयोग बतलाते हैं।"

भजता (सेवता) हूँ । हे अर्जुन ! सर्वप्रकार से मनुष्य मेरे मार्ग* पर चलते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मेरे परायण और ज्ञानाग्नि से शुद्ध हुए हैं, वे तो मेरे आत्मभाव को ही प्राप्त होते और सीधे मेरी ओर ही आ रहे होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है । पर जो अन्य अज्ञानी जन वा कामात्मा पुरुष हैं, वे यद्यपि सीधे मेरी ओर नहीं आते और न मरने के पीछे मेरे आत्मस्वरूप को ही प्राप्त होते हैं, तथापि सर्व व्यापारों में स्थित होने से मैं ही चूँकि उनकी कामनाओं, फलों, संकल्पों और मनों में स्थित हुआ होता हूँ, इसलिए वे सब पुरुष सर्वप्रकार से (येन केन उपाय से) सीधे

---

* "मेरे मार्ग" से दो अर्थ निकलते हैं—(१) वह मार्ग जो मेरी ओर आ रहा हो, अर्थात् जिस मार्ग से पुरुष भगवान् तक पहुँच सके । (२) वह मार्ग जो मुझसे बनाया गया वा रचा गया हो, अर्थात् जो मार्ग भगवान् से अपने स्वरूप के साक्षात्कार-निमित्त सबके लिए निर्माण किया गया हो । यहाँ प्रथम अर्थ ठीक बैठते हैं । परंतु दूसरे अर्थ भी नितांत अयुक्त नहीं होते हैं, क्योंकि जो मार्ग भगवान् तक पहुँचनेवाला होता है, वह भगवान् का ही रचा हुआ कहलाता है । कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इत्यादि अपने मार्ग भगवान् ने गीता में कहे हैं । तीसरे अध्याय में भगवान् ने यद्यपि निष्कामकर्म की अधिक प्रशंसा की है, परंतु वैदिक (सकाम यज्ञादि) कर्मों का नितांत निषेध वा खंडन नहीं किया, क्योंकि सकामकर्म (वैदिक यज्ञादि) करते-करते ही पुरुष निष्कामकर्म करने के योग्य होता है, इसलिए निष्कामकर्म के योग्य बनानेवाला होने के कारण सकामकर्म (वैदिक यज्ञादि) भी भगवान् का मार्ग कहा जा सकता है । इसीलिए सर्वप्रकार के मार्गों को भगवान् ने अपना ही मार्ग कहा है, और उन पर चलनेवालों को अपनी ही ओर आनेवाला कहा है ।

या टेढ़े मेरे मार्ग पर ही चल रहे होते हैं, अर्थात् मेरी ओर ही आ रहे होते हैं। इसीलिए जो जैसे मुझे प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिस भावना, कामना वा इच्छा से, अथवा जिस अर्थ के लिए या जिस भाव से जो मेरे पास आते अर्थात् मेरा स्मरण वा ध्यान करते हैं, उनको वैसे ही मैं भजता हूँ, अर्थात् उनको वैसे ही फलों से मैं सेवता वा प्राप्त होता हूँ। तात्पर्य यह है कि जो जिस अभिप्राय से भगवान् की शरण लेता है, भगवान् उस पर वैसा ही अनुग्रह करते हैं। दुःखी के दुःख को दूर करते हैं; अर्थी के अर्थ को पूरा करते हैं; मुमुक्षु को ज्ञान, ज्ञानी को मोक्ष और जगत् का उद्धार करने की इच्छावाले को जगत् के उद्धार का सामर्थ्य देते हैं। इस प्रकार ज्ञानी तो ज्ञान से, कर्मी कर्म से और प्रेमी प्रेम से सब उनके ही मार्ग पर चलते हैं; क्योंकि ये सब उन्हीं के मार्ग हैं ॥ ११ ॥

संबंध--जब सब फल मुझ प्रभु से ही सब लोगों को प्राप्त होते हैं, और येन केन रीति से सबको मेरे ही मार्ग पर चलना होता है, तो फिर सब लोग सीधे मेरी ही उपासना क्यों नहीं करते? क्यों इधर-उधर टक्करें मारते हैं? क्यों छोटे-छोटे देवी-देवता, शिवलिंग, भूत, प्रेत, मीरां, मदार आदि की उपासना करते हैं? इसका कारण भगवान् अपने आप अब वर्णन करते हैं—

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त* इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

---

* "यजन्त इह" इस शब्द से स्पष्ट होता है कि देव-पूजा से अभिप्राय यहाँ यज्ञ-कर्म द्वारा ही देवताओं का आराधन है, जो यज्ञ-कर्म किसी न किसी लौकिक फल-निमित्त ही किये जाते हैं, और जिनका फल बहुधा इसी जन्म में यहीं प्रत्येक यज्ञी को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि पारलौकिक फल के यज्ञ भी वेदों में वर्णित हैं, परंतु पुरुष की जब तक उदर-पूर्त्ति

कांक्षन्तः, कर्मणां, सिद्धिं	कर्मों की सिद्धि चाहते हुए
यजन्ते, इह, देवताः	यहाँ देवताओं को पूजते हैं (यजन करते हैं)

क्षिप्रं, हि, मानुषे, लोके, सिद्धिः, भवति, कर्म-जा	क्योंकि मनुष्य लोक में कर्म-जन्य सिद्धि शीघ्र होती है

अन्वयार्थ–कर्मों की सिद्धि चाहते हुए यहाँ (लोग) देवताओं को पूजते हैं। क्योंकि मनुष्यलोक में कर्म-जन्य सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

पहली व्याख्या–हे अर्जुन ! निःसंदेह मैं सब फलों की प्रतिष्ठा हूँ; परंतु ऐसा होते हुए फिर भी लोग जो मुझे नहीं उपासते, बल्कि इंद्रादि देवताओं को पूजते हैं, उसका कारण यह है कि इस मनुष्यलोक में कर्म से उत्पन्न होनेवाली सिद्धि ज्ञान-जन्य सिद्धि की अपेक्षा बहुत जल्द प्राप्त होती है; और सर्वसाधारण लोग तो कामनाओं के ही जाल में फँसे हुए होते हैं जिससे किसी न किसी कर्म द्वारा वे अपनी-अपनी कामनाओं की ही सिद्धि चाहते हैं। ऐसे कर्मों द्वारा सिद्धि चाहनेवाले पुरुष जिस-जिस कर्म के लिए जो-जो देवता नियत हैं उन-उनको पूजते वा उपासते

इत्यादि कामनाओं की तृप्ति वा निवृत्ति नहीं हो लेती, तब तक पारलौकिक फलों की ओर उसकी वृत्ति नहीं जाती। तब तक पुरुष लौकिक फलों को ही चाहता रहता है। और इन (धन-धान्य, पुत्र-कलत्र, विभूति इत्यादि) लौकिक फलों की प्राप्ति-निमित्त अगणित यज्ञ वेदों में विस्तृत हैं (बल्कि वेद बहुधा इसी प्रकार के यज्ञों से भरपूर हैं), इसलिए पुरुष अपनी प्रत्येक लौकिक कामनाओं के लिए वैदिक यज्ञ करते हैं जिनमें देवताओं का आराधन करना होता है। इसीलिए भगवान् ने यहाँ कहा है कि कर्म-फल के चाहनेवाले यहाँ देवताओं की उपासना करते हैं।

हैं, सीधा मुझ ईश्वर को नहीं भजते, यद्यपि टेढ़ी रीति से वह भी मेरी ही उपासना वा पूजा है. क्योंकि वे देवता भी मेरे ही दूसरे रूप और मेरे ही आश्रय स्थित हैं ॥ १२ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मैं सब फलों का दाता वा प्रतिष्ठा हूँ, तथापि लोग जो अन्य देवताओं ही की उपासना करते हैं और मुझ अपने आत्मस्वरूप की नहीं, उसका कारण यह है कि कर्म से उत्पन्न होनेवाली सिद्धि ज्ञानजन्य सिद्धि की अपेक्षा शीघ्र प्राप्त होती है, और एक दूसरे को प्रत्यक्ष दिखाई भी देती है। फिर कर्म का संबंध इंद्रियों वा स्थूल शरीर के साथ अधिक होता है, और ज्ञान का संबंध अंतःकरण वा सूक्ष्म शरीर के साथ अधिक होता है, जिससे एक दूसरे के बाह्य कर्म का फल तो सब लोगों को दीख जाता है, परंतु ज्ञान का फल अपने-अपने अंतःकरण में ही भान (अनुभव) होता है, दूसरों को दिखाई नहीं देता। और यह भी स्पष्ट है कि लोग बहुधा स्थूल शरीर में आसक्त अधिक होने से कामनाग्रस्त तो बहुत ही होते हैं, और विचारग्रस्त कोई विरला ही। इसलिए जिस-जिस इंद्रिय के कर्म से उनकी कामना पूर्ण होती है, उसी-उसी इंद्रिय (देव) की वे उपासना करते हैं, अर्थात् नाना प्रकार की औषधियों वा भोजनों से उसी-उसी इंद्रिय (देवता) की वे पुष्टि करते हैं, दिन-रात इसी स्थूल शरीर के पुष्ट करने में तत्पर रहते हैं, मुझ अपने आत्मस्वरूप का तो ध्यान तक नहीं करते, और न अपने आत्मिक बल को वास्तव रूप से बढ़ाते ही हैं, यद्यपि इंद्रियों की पुष्टि वा पूजा भी टेढ़ी रीति से सब मेरी ही है, क्योंकि सब इंद्रियों वा शरीरों में मैं ही स्थित हूँ, और वे सब मेरे ही आश्रय स्थित हैं, विना मेरे वे क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकतीं ॥ १२ ॥

संबंध—(१) ऊपर जो कहा कि कर्म की सिद्धि के लिए लोग

देवताओं का यज्ञ करते हैं, पर यज्ञ वर्णाश्रम द्वारा हुआ करता है, और वर्णाश्रम सब भगवान् से ही रचे हुए हैं। तो ऐसी दशा में अनुमान हो सकता है कि जैसे भगवान् लोगों के कर्मों के फल-प्रदाता हैं, वैसे उन कर्मों के कर्त्ता भी होंगे, इस अनुमान की निवृत्ति स्वयं भगवान् अब ऐसे करते हैं—

अथवा (२) ऊपर कहा है कि कर्मों की सिद्धि के लिए लोग देवताओं का यज्ञ करते हैं। पर यज्ञ की पूर्ति चारों वर्ण द्वारा ही होती है, जो वर्ण और यज्ञादि कर्म भगवान् से ही लोगों के गुण-कर्मानुसार रचे गये हैं। इस रीति से अपने-अपने वर्णानुसार जो-जो भी कर्म अपने-अपने स्वभाव के वशीभूत होकर लोग करते हैं, उनका गुण-दोष भगवान् में ही माना जायगा (क्योंकि भगवान् ही उन वर्णों और वर्णों के कर्मों के रचनेवाले हैं)। इस आपत्ति वा दोष की निवृत्ति भगवान् अब ऐसे करते हैं—

अथवा (३) उक्त सभी यज्ञादि कर्म वर्णधर्म के अंतर्गत हैं, इसलिए वर्णधर्म-विज्ञान कहते हुए भगवान् उसके साथ अपना संबंध बताते हैं—

अथवा (४) ऊपर जो कहा कि धर्मसंस्थापनार्थ भगवान् अवतार लेते हैं, तो उस संस्थापनार्थ भगवान् और क्या-क्या करते हैं, उसे संक्षेप से भगवान् अब बतलाते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्[४]-वर्ण्यं[५], मया[६], सृष्टं[७], गुण[१]-कर्म[२]- विभागशः[३]	गुण[१]-कर्म[२] के विभाग[३] से चारों[४] वर्ण[५] मुझसे[६] रचे[७] गये हैं	तस्य[१], कर्त्तारं[२], अपि[३], मां[४], विद्धि[७], अकर्त्तारं[६], अव्ययं[५]	उसका[१] कर्त्ता[२] होता हुआ भी[३] मुझे[४] अविनाशी[५] अकर्त्ता[६] तू जान[७]

पहला अन्वयार्थ—गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। उसका कर्त्ता होता हुआ भी मुझे तू अविनाशी अकर्त्ता समझ ॥ १३ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—गुण-कर्म के विभागानुसार चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। उसका तू मुझे कर्त्ता भी और अविनाशी अकर्त्ता भी समझ ॥ १३ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन! निःसंदेह गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। अर्थात् जिस मनुष्य में जैसा गुण देखा, उसी के अनुसार उसके कर्म नियत कर दिये गये, और उसका वैसा ही नाम रख दिया गया। जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता देखी, उसके शम, दम आदि कर्म नियत कर दिये गये, और उसका नाम ब्राह्मण रख दिया गया। जिसमें सत्त्वगुण गौण रूप से और रजोगुण प्रधान रूप से देखा, उसके प्रजापालन, पृथिवी-रक्षा और युद्ध करना आदि कर्म नियत कर दिये गये, और उसका नाम क्षत्रिय रख दिया गया। जिसमें रजोगुण गौण रूप से और तमोगुण प्रधान रूप से देखा, उसके खेती, पशुपालन, वाणिज्य, व्यापार आदि कर्म नियत कर दिये गये, और उसका नाम वैश्य रख दिया गया। जिसमें केवल तमोगुण की प्रधानता देखी, उसके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (इन तीनों वर्णों) की सेवा करने का कर्म नियत कर दिया गया, और उसका नाम शूद्र रख दिया गया। इस प्रकार यद्यपि मैं (ईश्वर) ने ही ये सब वर्ण रचे हैं जिससे मैं इनका कर्त्ता कहलाता हूँ; तथापि तू, हे अर्जुन! मुझे वास्तव रूप से अविनाशी-अकर्त्ता जान, क्योंकि मायोपाधि करके मैं इनके रचनेवाला होता हूँ, पर वास्तव (सच्चिदानंद) रूप से तो मैं रचता-रचाता कुछ भी नहीं हूँ ॥ १३ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! निःसंदेह मुझसे चारों वर्ण गुण-कर्म के विभाग (तफ़रीक़, भेद) से रचे गये हैं। अर्थात् जिस मनुष्य में जैसे-जैसे गुण, कर्म और स्वभाव देखे, तदनुसार उसका नाम रख दिया गया। जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता और उसके कारण, उसके सात्त्विक स्वभाव तथा शम, दम आदि कर्म देखे, उसका नाम ब्राह्मण रख दिया गया; जिसमें सत्त्वगुण गौण रूप से रजोगुण प्रधान रूप से और उस कारण उसके सत्त्वमिश्रित राजस स्वभाव तथा प्रजापालन, पृथिवी-रक्षा व युद्ध करना इत्यादि कर्म देखे, उसका नाम क्षत्रिय रख दिया गया; जिसमें रजोगुण गौण रूप से और तमोगुण प्रधान रूप से और उस कारण उसके रजोमिश्रित तामस स्वभाव तथा खेती, पशु-पालन, वाणिज्य, व्यापार आदि कर्म देखे, उसका नाम वैश्य रख दिया गया; जिसमें केवल तमोगुण की प्रधानता और उस कारण उसके तामस स्वभाव तथा उक्त तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा करना इत्यादि कर्म देखे, उसका नाम शूद्र रख दिया गया। इस प्रकार यद्यपि मैं (ईश्वर) ने ही ये चारों वर्ण प्राणियों के अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभावानुसार रचे हैं (जिससे मैं इनका कर्त्ता कहलाता हूँ), तथापि वास्तव में मैं इनका कर्त्ता नहीं हूँ। क्योंकि आरंभ * में ये सब प्राणी एक

---

* महाभारत शांतिपर्व (१८८, १०–१३) में इन चार वर्णों के विषय में मुनि भरद्वाज के प्रश्न पर भृगु ऋषि ने ऐसे कहा है कि—"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् । ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्" ॥ १० ॥ वर्णों का कोई भेद नहीं, क्योंकि यह सारा जगत् पहले ब्रह्माजी से ब्राह्मण जाति का ही रचा गया था, फिर कर्मों से वर्णता को प्राप्त हुआ। "कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः

ही अवस्था में थे; इनमें वर्ण इत्यादि का भेद नहीं था; ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सब प्राणी पहले ब्राह्मण ही कहलाते थे;

प्रियसाहसाः । त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः" ॥ ११ ॥ जिन द्विजों (ब्राह्मणों) को कामभोग प्यारा हो गया, उग्र स्वभाव और क्रोधी और जो बिना विचारे निर्भयता से कर्म करनेवाले तथा अपने धर्म को छोड़कर रक्तवर्ण हो गये, वे (ब्राह्मण) क्षत्रिय वर्ण को प्राप्त हुए "गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः । स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः" ॥ १२ ॥ जो गोवृत्ति में प्रवृत्त, पीतवर्ण, खेती से निर्वाह करनेवाले और अपने धर्म को त्यागनेवाले हुए, वे द्विज (ब्राह्मण) वैश्य वर्ण को प्राप्त हुए । "हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः । कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः" ॥ १३ ॥ जो (ब्राह्मण) हिंसा व झूठ से अनुरागी, लोभी, सब कर्मों से जीविका करनेवाले, पवित्रता से भ्रष्ट, अर्थात् शौचरहित, और कृष्णवर्ण हो गये, वे (द्विज) शूद्र वर्ण को प्राप्त हुए । इस प्रकार कर्मों की व्यवस्था से द्विज (ब्राह्मण) ही भिन्न-भिन्न वर्णों को प्राप्त हुए । आगे चलकर (अध्याय १८९ में) जब भरद्वाज ने वर्णों की पहचान के लिए उनके भिन्न-भिन्न धर्म सहित उनके लक्षणों के पूछे, तो भृगुजी बोले—कि जो पुरुष जात-कर्मादि संस्कारों से संस्कार किया हुआ, पवित्र, वेदाध्ययन-संपन्न, अपने छे कर्मों (स्नान-संध्या, जप, होम, देव-पूजा, अतिथि-पूजा और बलिवैश्वदेवपूजा) में सावधान, शौचाचार में स्थित, देवता और ब्राह्मणों से बचे हुए अन्नादि पर निर्वाह करनेवाला, गुरु में प्रीतिमान्, नित्य व्रत धारण करनेवाला, और सत्यपरायण है, वह ब्राह्मण कहलाता है । और जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, अहिंसा, लज्जा, घृणा, (रहम, दया) और तप देखा जाता है, वह ब्राह्मण कहा जाता है । जो क्षात्रधर्म-जन्य कर्मों को सेवन करता है, वेदाध्ययन में प्रवृत्त, दान देने और राज्य का कर लेने में आनंद लेता है, वही क्षत्रिय कहा जाता है । जो वाणिज्य, पशुरक्षा, खेती और दान देने में आनंद मानता है, पवित्र और

जब अपने-अपने आचरण (आचार, आहार और व्यवहार) से उन्होंने अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उत्पन्न कर लीं तब उनके

वेदाध्ययन-संपन्न है, वही वैश्य कहलाता है। जो सदैव सब वस्तुओं के भोजन में प्रीतिमान्, सर्व कर्मों का करनेवाला, अपवित्र, वेद-त्यागी, और आचाररहित है, वही शूद्र कहलाता है। यदि ब्राह्मण के गुण वा लक्षण शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न पाये जायँ, तो ऐसी दशा में शूद्र शूद्र नहीं और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं होगा, (१८९, १—८)। विष्णु-पुराण के अनुसार वर्णों का चलानेवाला सबसे पहले शौनक हुआ है जैसे—"गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत्"=गृत्समद का शौनक चारों वर्णों का चलानेवाला हुआ, (विष्णु० ४, ८, १०)। वर्णों के विभाग होने पर भी गुण-कर्म के अनुसार वर्ण का परिवर्तन होता रहा है, जैसे "पृषध्र अपने गुरु की गौ को मारने से शूद्र हो गया" (विष्णु० ४, १, १३) इत्यादि। और शांतिपर्व (१८८। ८) तथा वनपर्व (३१२। १०६—१०९; २११, ११, १२) में निचले वर्ण से ऊपर चढ़ना भी स्पष्ट कहा है। "शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः। वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च। आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते। गुणास्ते कथिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।"=हे ब्रह्मन्! शूद्रयोनि में उत्पन्न होकर भी सद्गुणों का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष वैश्यत्व को और ऐसे ही क्षत्रियत्व को लाभ करता है। और सरलता में वर्तमान हुए के ब्राह्मणत्व उत्पन्न हो जाता है। तुझे ये सारे गुण कह दिये हैं, अन्य क्या सुनना चाहता है? और भागवत के कथनानुसार भी ब्राह्मणादि व्यवहार मुख्य गुण कर्म से ही हो सकता है, जैसा कि—"यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्"=जिसके वर्ण का प्रकाशक जो लक्षण कहा है, वह यदि अन्यत्र भी देखा जाय, तो उसको उसी वर्ण से पुकारना चाहिए, (भागवत० ७, ११, ३५)।

अब यह समझ में नहीं बैठता कि जब ब्राह्मण नीच स्वभाव ग्रहण करने अथवा निषिद्ध कर्म करने से ब्राह्मणत्व से गिर जाता है, अर्थात् ब्राह्मण

भिन्न-भिन्न गुण, कर्म और स्वभाव हो गये; और उनके निज गुण-कर्म-स्वभावानुसार मैंने उनके भिन्न-भिन्न नाम रख दिये। इस

से क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो जाता है, तो फिर निचली जाति के पुरुष उत्तम कर्म करने से ऊपर की उत्तम जातिवाले क्यों नहीं हो सकते? जहाँ गिरना है, वहाँ चढ़ना भी है, यह कहीं भी देखने में नहीं आया कि केवल गिरना ही गिरना हो, और चढ़ना न हो, या केवल चढ़ना ही चढ़ना हो, और गिरना न हो। जब ब्राह्मण अपने आचार और धर्म से भ्रष्ट होने से क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र जाति में गिना जा सकता है, तो वैश्य उत्तम आचार और ब्राह्मणों के धर्म-पालन करने से क्यों ब्राह्मण नहीं गिना जा सकता? यदि ऐसा कहा जाय कि ब्राह्मण अपने धर्म-विरुद्ध चलने से ब्राह्मण ही रहता है, (चाहे कैसा ही भ्रष्ट आचार वा धर्म करे, उसके ब्राह्मणत्व में फ़र्क़ नहीं आता), तब तो क्षत्रिय भी उत्तम कर्म करने से ब्राह्मण, और निषिद्ध कर्म करने से वैश्य नहीं हो सकता! ऐसी दशा में तो जो भी ब्राह्मण आज ईसाई-धर्म को ग्रहण कर ले, या मुसलमान हो जाय, तो उसे ब्राह्मण ही कहना चाहिए, और उसे वेद-अध्ययन का अधिकार इत्यादि वैसे ही दिया जाना चाहिए जैसा कि उसको जन्म से था। पर अधिकार तो दूर रहा, उस नवीन मत वा धर्म को ग्रहण करनेवाले ब्राह्मण के साथ आहार, व्यवहार, विवाह इत्यादि करना भी सब ब्राह्मण लोग छोड़ बैठते हैं, जिससे बर्ताव में उस नवीन मतानुयायी (वा धर्मी) को शूद्र से भी अधिक नीच वा अधम समझते हैं। जब किसी नवीन धर्म वा मत के अनुयायी तथा दुष्टाचारी ब्राह्मण के साथ उसके गुणकर्मानुसार शूद्रवत् बर्ताव किया जाता है, तब हमें कोई कारण नहीं दिखाई देता कि उन क्षत्रियों वा वैश्यों के साथ कि जो अत्यंत श्रेष्ठाचरण और धर्म में उन्नति कर रहे हों, उनके उत्तम गुणकर्मानुसार ब्राह्मणवत् बर्ताव क्यों न किया जाय। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि जो जन्म और कर्म दोनों से ब्राह्मण है, वह तो सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहा जाना चाहिए। जो केवल कर्म से है, जन्म से नहीं, वह कर्म-श्रेष्ठ ब्राह्मण

प्रकार में उनमें गुण-कर्म-स्वभाव का डालनेवाला नहीं हुआ, किंतु उनके अपने स्वकृत गुणकर्मानुसार उनका वर्ण वा नाम नियत

कहा जाना चाहिए। और जो केवल जन्म से ब्राह्मण है, और कर्म से नहीं, वह केवल नाम वा चाम का ब्राह्मण अर्थात् अत्यंत निकृष्ट ब्राह्मण ही गिना जाना चाहिए, और जो जन्म से ब्राह्मण होता हुआ भी अपने धर्म-कर्म से नितांत गिर गया है, वह तो नाम का ब्राह्मण भी नहीं बल्कि कुछ और ही वर्णवाला कहा जाना उचित है। इस प्रकार ब्राह्मणादि व्यवहार पूर्वजन्मकृत संस्कार तथा इस जन्म के गुण-कर्म-विभाग से प्रचलित है। (टीकाकार)

भारतधर्म-महामंडल के स्वामी दयानंदजी इस विषय पर अपने उच्च भाव, इस श्लोक की व्याख्या में, इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

“इस श्लोक के प्रथम चरण में वर्णधर्म का रहस्य बताया गया है, क्योंकि चार वर्ण के अनुसार ही ऊपर कथित सकाम-निष्काम यागयज्ञादि लोग करते हैं। वर्णधर्म के तत्त्व-वर्णन में श्लोकोक्त ‘सृष्टं’ पद विशेष विचार करने योग्य है। ‘मया सृष्टं’ अर्थात् मैंने बनाया, इससे यही तात्पर्य निकलता है कि पूर्वजन्मकृत गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मणादि जाति बनती है। श्रीभगवान् पतञ्जलि ने भी योगदर्शन में कहा है—‘सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।’ अर्थात् पूर्व कर्म के अनुसार ही ब्राह्मणादि जाति, आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं। सत्त्व, रज, तम प्रकृति के ये तीन गुण हैं, इनमें से सत्त्वगुणप्रधान प्राक्तन कर्मवाले ब्राह्मणवर्ण में उत्पन्न होते हैं, और उनमें शम-दमादि सत्त्वगुण के ही कर्म स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं। रजःसत्त्वप्रधान प्राक्तन कर्मवाले क्षत्रियवर्ण में उत्पन्न होते हैं, और उनमें युद्ध राज्यशासनादि क्षत्रिय के ही कर्म स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं। रजस्तमप्रधान प्राक्तन कर्मवाले वैश्यवर्ण में उत्पन्न होते हैं, और उनमें कृषि, वाणिज्यादि वैश्य जाति के ही कर्म स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार तमोगुणप्रधान प्राक्तन कर्मवाले शूद्रवर्ण में उत्पन्न होते हैं और उनमें सेवादि शूद्रजाति के कर्म स्वभावतः प्रकट हो जाते हैं। यही गुणकर्मानुसार चार वर्णों की व्यवस्था का रहस्य

करनेवाला अर्थात् रचनेवाला हुआ, जिससे मैं उन चारों वर्णों का कर्त्ता कहलाया; पर वास्तव में वर्णभेद तथा वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव के कर्त्ता (वा उत्पन्न करनेवाले) वे लोग स्वयं थे। इसलिए हे अर्जुन! मैं यद्यपि इन चारों वर्णों का कर्त्ता कहलाता हूँ, पर तू मुझे सर्वदा अटल अकर्त्ता ही जान। और फिर गुण-कर्मानुसार जो मैं ये नाम रचता हूँ, वे भी मायोपाधि करके रचता हूँ, और वैसे अपने वास्तविक (सच्चिदानंद) रूप से तो

है। अतः जन्मकर्म दोनों के साथ वर्णधर्म का स्वाभाविक संबंध है, यही सिद्ध हुआ। महाभाष्य में भी लिखा है—

'तपः श्रुतश्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥'

अर्थ—तप अर्थात् कर्म, श्रुत अर्थात् ज्ञान और योनि अर्थात् जन्म ये तीन ब्राह्मण के लक्षण हैं। जिसमें कर्म तथा ज्ञान नहीं है, वह केवल जन्ममात्र से ब्राह्मण है, अर्थात् अधूरा ब्राह्मण है। ऐसा ही मनुसंहिता में भी लिखा है—

'यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥'

जिस प्रकार काठ का हाथी और चमड़े का मृग नाममात्र का कहलाता है, ऐसा ही ज्ञानकर्महीन ब्राह्मण, जाति ब्राह्मण मात्र ही है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र होने से एक वर्ण का मनुष्य दूसरे वर्ण का कर्म कर सकता है, किंतु गुण के साथ पूर्वजन्म का संबंध रहने से वह एकाएक नहीं बदलता है, और इसलिए जाति साधारणतः नहीं बदल सकती। केवल महर्षि विश्वामित्र आदि की तरह असाधारण तपस्यादि द्वारा गुण का भी परिवर्तन होकर जाति बदल सकती है, किंतु यह सब असाधारण कोटि की वस्तु होने के कारण साधारण सामाजिक जीवन में इसका प्रयोग या आदर्श स्थापन नहीं हो सकता है।"

मैं रचता-रचाता कुछ भी नहीं हूँ। इसलिए भी वास्तव में तू मुझे अविनाशी अकर्त्ता ही निश्चय कर॥ १३॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन! लोगों के गुणकर्म के विभागानुसार मुझसे चारों वर्ण रचे गये हैं, अपने आप स्वतः नहीं। अर्थात् जैसा-जैसा पूर्वजन्मकृत स्वभाव मनुष्य में देखा गया, वैसा-वैसा कर्म और वर्ण उसका नियत कर दिया गया। विना मनुष्य का निज स्वभाव देखे मैंने कोई वर्ण वा कर्म नियत नहीं किया। इस लिए इन वर्णों वा कर्मों के कारण तो मनुष्य आप हैं (जिससे वास्तव में वे स्वयं इन वर्णों के कर्त्ता हैं), परंतु उन भिन्न-भिन्न वर्णों को भिन्न-भिन्न नाम देनेवाला होने से मैं ही इन वर्णों का कर्त्ता कहलाता हूँ। फिर मैं अपने वास्तव स्वरूप से तो यह (वर्ण रचने वा वर्णों को भिन्न-भिन्न नाम देने का) काम भी नहीं करता हूँ, केवल मायोपाधि से ऐसे काम करता हूँ, जिससे बाह्य रूप से तो मैं कर्त्ता कहलाता हूँ, और अपने वास्तविक रूप से अकर्त्ता होता हूँ। इसलिए हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि मैं अपने बाह्य (मायोपाधिक) रूप से तो इन चारों वर्णों का कर्त्ता हूँ, और अपने आभ्यंतर (वास्तविक) रूप से इनका अकर्त्ता भी हूँ॥ १३॥

संबंध—(१) "उक्त कर्मों का तू मुझे अकर्त्ता समझ" इस कथन का हेतु और फल भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) "कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता हूँ" इस विरोध का परिहार करते हुए भगवान् उक्त उपदेश (मुझे अकर्त्ता समझ) के अनुसार चलनेवाले का अब फल वर्णन करते हैं—

अथवा (३) उक्त कर्मों का कर्त्ता होकर भी अपने को अकर्त्ता वर्णन किया, इस रहस्य का मर्म भगवान् अब बतलाते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् दो श्लोकों में अपना निर्लिप्त स्वरूप दर्शाते हुए कर्त्तव्य निर्देश करने लगे हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

न^{1}, मां^{2}, कर्माणि^{3}, लिम्पन्ति^{4}	न^{1} मुझे^{2} कर्म^{3} लिपायमान^{4} करते हैं	इति^{1}, मां^{3}, यः^{2}, अभिजानाति^{4}	ऐसा^{1} जो^{2} मुझे^{3} जानता^{4} है
न^{1}, मे^{2}, कर्म^{3}-फले^{4}, स्पृहा^{5}	न^{1} मुझे^{2} कर्म^{3}-फल^{4} में इच्छा^{5} है	कर्मभिः^{1}, न^{2}, सः^{3}, बध्यते^{4}	कर्म^{1} से नहीं^{2} वह^{3} बंधायमान^{4} होता है

अन्वयार्थ——"न मुझे कर्म लिपायमान करते हैं, और न मुझे कर्म-फल में इच्छा है"; इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह कर्मों से बंधायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

व्याख्या——हे अर्जुन ! जैसा मेरा जन्म दिव्य है, अज्ञानी पुरुषों के समान कर्मबंधन से नहीं; वैसे मेरे कर्म भी दिव्य हैं, अज्ञानी पुरुषों के समान आसक्त मन से कोई इच्छा लिये हुए नहीं होते, किंतु स्वतः निरासक्त मन से विना फल-कामना के होते हैं, जिससे वे मुझे लिपायमान करने नहीं पाते, और न ऐसी दशा में कर ही सकते हैं। और जैसे मेरे दिव्य जन्म-कर्म को यथार्थ जाननेवाला पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता बल्कि सीधा मेरे को प्राप्त होता है, वैसे ही जो इस प्रकार जानता * है कि "मैं जो सबका अंतरात्मा हूँ, न कुछ कर्म करता हूँ और न किसी कर्म-फल की इच्छा ही रखता हूँ" वह फिर कर्मों से कभी बंधायमान नहीं होता। अथवा दूसरे शब्दों में यह कि——"जो मन, वाणी, शरीर से कर्म होते समय अपने आत्मा अर्थात् अपने आपको

---

* "जानता है" से अभिप्राय यहाँ जानकर तदनुसार बर्त्ताव में लाना है।

मेरे समान साक्षी, निर्विकार, अकर्त्ता, अभोक्ता और असंगात्मा जानता है, और इच्छारहित रहता है, उसे कर्म नहीं बाँधते, बल्कि शरीर से कर्म करते हुए भी वह मेरे समान निर्लिप्त और मुक्त ही रहता है ॥ १४ ॥*

संबंध—उक्त रीति से (अपने आपको अकर्त्ता जानकर) पूर्व मुमुक्षुजनों ने भी कर्म किये हैं। ऐसा शिष्टाचार दर्शाते हुए भगवान् अब तदनुसार आचरण के लिए अर्जुन को उपदेश करते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

एवं^{1}, ज्ञात्वा^{2}, कृतं^{7}, कर्म^{6}, पूर्वैः^{3}, अपि^{5}, मुमुक्षुभिः^{4}	इस^{1} प्रकार जान^{2} कर पहले^{3} मुमुक्षुओं^{4} से भी^{5} कर्म^{6} किया^{7} गया है	कुरु^{5}, कर्म^{3}, एव^{4}, तस्मात्^{1}, त्वं^{2}	इसलिए^{1} तू^{2} कर्म^{3} ही^{4} कर^{5}
		पूर्वैः^{1}, पूर्व^{2} तरं^{3}, कृतम्^{4}	पहले^{1} लोगों से बहुत^{2} पुराने^{3} काल में किया^{4} गया

---

* इस श्लोक की अन्य रीति से ऐसे व्याख्या भी हो सकती है कि—"ऊपर श्लोक ९ में जो सिद्धांत निरूपण हुआ कि मेरे 'जन्म' और 'कर्म' (इन दोनों) को तत्त्व से जाननेवाला मुझे प्राप्त होता अथवा मेरा ही हो जाता है। इस सिद्धांत का एक अंग (जन्म) तो ऊपर सविस्तर स्पष्ट किया गया, अब दूसरे अंग (कर्म) के तत्त्व का स्पष्टीकरण इस श्लोक में भगवान् ऐसे करते हैं कि हे अर्जुन ! मुझे न कर्म लिपायमान करते हैं और न कर्म के फल में मेरी इच्छा ही है। ऐसा जो मुझे जानता है, वह भी मेरे अनुसार कर्म-फल की इच्छा न रखता हुआ कर्म करता है, जिससे वह कर्मों से बंधायमान होने नहीं पाता।

अन्वयार्थ—इस प्रकार जानकर पहले मुमुक्षुओं से भी कर्म किया गया है । इसलिए तू भी कर्म ही कर, (जैसा कि) पहले लोगों से बहुत पुराने समयों में किया गया है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! "न मैं कर्म करता हूँ, न मुझे कर्म-फल की इच्छा है, और न कर्म मुझे बाँध सकता है; क्योंकि मैं अपने निज स्वरूप से अकर्त्ता हूँ" ऐसे निश्चय से पूर्वकाल के मुमुक्षुओं ने भी कर्म किये हैं । इसलिए तुझे भी उन पूर्व मुमुक्षुओं के समान कर्म ही करना उचित है । इसी में तेरा कल्याण है ।

तात्पर्य यह है कि द्वापर में राजा ययाति और यदु आदि हुए, जो मोक्ष की इच्छा रखते थे । त्रेता में जनक आदि राजे हुए, जिन को मुक्ति की तीव्र अभिलाषा थी । उनसे पहले सतयुग में जो राजे हुए, वे भी मुक्ति पाना चाहते थे । उन सबने कर्म नहीं छोड़े । बल्कि कर्म करते हुए मोक्ष पाया । इसका कारण यह है कि वे शारीरिक कर्मों के होते समय अपने आपको किसी कर्म का कर्त्ता वा भोक्ता नहीं समझते थे, और न उन कर्मों के फलों में वे किंचित्-मात्र इच्छा वा आसक्ति ही रखते थे । और यह निर्णीत सिद्धांत है कि "जो पुरुष शरीर से कर्म करते हुए भी अपने निज (आत्म-) स्वरूप से अपने आपको कर्म का कर्त्ता वा भोक्ता चित्त से नहीं मानता वा समझता है, वह कर्म-बंधन में नहीं आने पाता, अर्थात् उसको वह कर्म बंधायमान नहीं कर सकता ।" इस प्रकार उक्त निश्चय से कर्म करते हुए पूर्वोक्त मुमुक्षु भी कर्म-बंधन में नहीं फँसे, बल्कि परमपद को प्राप्त हुए थे । और तू भी हे अर्जुन ! मुमुक्षु है । यद्यपि तुझे अब आत्मा का परोऽक्षज्ञान तो हो गया है, पर इतने पर कर्म छोड़ देना तुझे उचित और लाभदायक नहीं, बल्कि पूर्व मुमुक्षुओं के समान कर्म करना ही

उचित और आवश्यक है, क्योंकि इसी में तेरा कल्याण है, इस लिए तू भी उनके समान कर्म कर ॥ १५ ॥

संबंध—कर्म की सर्वप्रकार से आवश्यकता और उपयोगिता दर्शाकर अब भगवान् "कर्म क्या है" और "अकर्म क्या है" इन दोनों के तत्त्व और परस्पर भेद को समझाने लगे हैं। पर समझाने से पूर्व इस तत्त्व का दुर्विज्ञेय दो श्लोकों में कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

किं^{2}, कर्म^{1}, किं^{4}, अकर्म^{3}, इति^{5}	कर्म^{1} क्या^{2} है, अकर्म^{3} क्या^{4} है, ऐसा^{5}	तत्^{1}, ते^{2}, कर्म^{3}, प्रवक्ष्यामि^{4}	वह^{1} तुझे^{2} कर्म^{3} बतलाऊँगा^{4}
कवयः^{2}, अपि^{3}, अत्र^{1}, मोहिताः^{4}	इस^{1} विषय में कवि^{2} लोग भी^{3} धोखा^{4} खा गये (चकरा गये) हैं	यत्^{1}, ज्ञात्वा^{2}, मोक्ष्यसे^{4}, अशुभात्^{3}	जिसको^{1} जान^{2} कर तू अशुभ^{3} (संसार) से छूट^{4} जायगा

अन्वयार्थ—'कर्म क्या है', 'अकर्म क्या है', इस विषय में तो कवि लोग भी चकरा गये हैं। सो मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा, जिसको जानकर तू अशुभ से छूट जायगा ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! "कर्म क्या वस्तु है" और "अकर्म क्या वस्तु है" अर्थात् किसको कर्म कहते हैं, और किसको अकर्म कहते हैं, यह जो विषय है, इसमें तो कवियों (बड़े-बड़े बुद्धिमानों वा पंडितों) की भी बुद्धि चकरा गई है। अर्थात् कितने लोग कहते हैं कि जिस कर्म के करने की आज्ञा वेद और शास्त्र में है, वह "कर्म" है; और जिसकी आज्ञा नहीं, वह "अकर्म" है। बहुत लोग वेद की ओर ध्यान न देते हुए यह कहते हैं कि धर्म-शास्त्र

में जिस कर्म के करने की आज्ञा है, वह "कर्म" है, और शास्त्रोक्त कर्मों का छोड़ देना ही "अकर्म" है। कोई-कोई यह कहते हैं कि इंद्रियों का जो व्यापार है, अर्थात् इंद्रियाँ जो कुछ करती हैं, वह "कर्म" है, और इंद्रियों के सब व्यापार को बंद करके चुपचाप बैठ जाना "अकर्म" है। और कोई केवल प्रवृत्ति को "कर्म" और निवृत्ति को "अकर्म" कहते हैं। अर्थात् जो पुरुष संन्यास का अर्थ कर्म का संपूर्ण रूप से त्याग समझते हैं, वे गीता के "अकर्म" शब्द का अर्थ संपूर्ण रूप से कर्म का त्याग ले लेते हैं; मीमांसकों को यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म इष्ट हैं, इसलिए उन्हें इनके अतिरिक्त और सभी कर्म "विकर्म" वा "अकर्म" जँचते या भान होते हैं। इसके सिवा मीमांसकों के नित्य-नैमित्तिक कर्मभेद भी इसी में शामिल करके धर्मशास्त्री इसी में अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाना चाहते हैं। इस प्रकार इस कर्म और अकर्म के विषय में बड़े-बड़े पंडितों वा ज्ञानियों में भी मतभेद है, जिससे कर्म-अकर्म का जानना कठिन हो रहा है, और इस विषय में सबको बड़ा धोखा हो रहा है। इसलिए मैं अब तुझे वह कर्म (कर्म का वह लक्षण वा रहस्य) सविस्तर कहता हूँ कि जिसको जानकर तू अशुभ* (बुराइयों वा अशुभ संसार) से छूट जायगा, अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

संबंध—(१) क्योंकि कर्म और अकर्म के तत्त्व को यथार्थ न जानकर कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होने से उसमें धोखा खा जाने और फिसल जाने का डर रहता है, इसलिए भगवान् अब ऐसा कहते हैं—

---

* "संसार में बाँध देना", यही अशुभ फल कर्म का है। इसलिए यह जन्म-मरणरूप संसार (कर्म का कार्य) ही अशुभ है, और इस अशुभ से छूटना ही जन्म-मरणरूप संसार से छूटना वा मुक्त होना है।

अथवा (२) "कार्य करने का नाम कर्म और कुछ न करने का नाम अकर्म" केवल ऐसे लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही मानकर संतुष्ट न होना चाहिए, बल्कि कर्म-अकर्म के रहस्य को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति (तत्त्व) बहुत गहन है, ऐसा भगवान् अब स्पष्ट कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥ *

कर्मणः^{2}, हि^{1}, अपि^{3}, बोद्धव्यं^{4}	निःसंदेह^{1} कर्म^{2} का (तत्त्व) भी^{3} जानने^{4} योग्य है	अकर्मणः^{2}, च^{1}, बोद्धव्यं^{3}	और^{1} अकर्म^{2} का (तत्त्व) जानने^{3} योग्य है
बोद्धव्यं^{2}, च^{1}, विकर्मणः^{2}	और^{1} विकर्म^{2} का (तत्त्व) जानने^{3} योग्य है	गहना^{3}, कर्मणः^{1}, गतिः^{2}	कर्म^{1} की गति^{2} (मार्ग) गहन^{3} है

अन्वयार्थ—निःसंदेह कर्म का (तत्त्व) भी जानने योग्य है, विकर्म का (तत्त्व) भी जानने योग्य है, और अकर्म का भी (तत्त्व) जानने योग्य है । कर्म की गति गहन है ॥ १७ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! क्योंकि कर्माकर्म के तत्त्व को पूर्णतया जानने के विना पुरुष कर्म-मार्ग में चलने से प्रायः हानि को प्राप्त

---

* भागवत (११-३-४३) में इस विषय का मंत्र ऐसे है—
"कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥"

अर्थ—कर्म, अकर्म और विकर्म इस प्रकार ये तीन भेद वेद के कहे हैं, लोक के नहीं हैं, अर्थात् लौकिक प्राणियों के बनाये हुए भेद नहीं हैं । वेद की उत्पत्ति ईश्वर से है, इस विषय में ज्ञानी भी भ्रमते वा धोखा खा जाते हैं ।

होता है, इसलिए इस मार्ग में प्रवृत्त होने से पहले तुझे निःसंदेह यह जान लेना चाहिए कि कर्म वास्तव में क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है। और यह भी ध्यान रहे कि कर्म की गति, अथवा कर्म, अकर्म और विकर्म की गति गहन, अर्थात् बड़ी गंभीर, कठिन, टेढ़ी, दुर्विज्ञेय वा दुर्बोध और रहस्य से भरी हुई है, इसलिए भी इस विषय का पहले ठीक-ठीक जान लेना उचित है ॥ १७ ॥*

---

* कर्म, विकर्म और अकर्म के अर्थ श्रीशंकराचार्य तथा अन्य बहुत टीकाकारों ने तो यह लिये हैं कि—"कर्म=शास्त्रोक्त वा निज धर्मानुसार कर्म; विकर्म=शास्त्रविरुद्ध वा निज धर्मविरुद्ध कर्म और अकर्म=कुछ न करना अथवा चुपचाप बैठे रहना।" और थोड़ों ने ऐसे लिये हैं—"कर्म के ही दो भेद कर्म और विकर्म हैं, जिनके अर्थ अच्छा कर्म और बुरा कर्म हैं, और इन दोनों के फलों में भी यही भेद है कि अच्छे का फल अच्छा और बुरे का बुरा। और कुछ न करना अकर्म नहीं किंतु कर्म में लिप्त न होना अकर्म है।" हमारे विचार में यद्यपि पहले अर्थ की अपेक्षा यह दूसरे अर्थ उत्तम और युक्त हैं, तथापि भगवान् के आशय को ये दोनों अर्थ पूर्ण रीति से प्रकट नहीं करते दीखते, क्योंकि यह गीता-शास्त्र कोई शास्त्रोक्त और शास्त्र-निषिद्ध कर्म के भेद दर्शाने के लिए, अथवा एक के प्रचार और दूसरे के खंडन वा निषेध के लिए आरंभ नहीं हुआ, और न इसलिए ही हुआ है कि वह मुमुक्षु के लिए तो कर्म की आवश्यकता और उपयोगिता दिखलावे और केवल ज्ञानी के लिए निरावश्यकता वा निरुपयोगिता दर्शावे। बल्कि वास्तव में यह शास्त्र इसलिए आरंभ हुआ है कि वह मनुष्यों को कर्म का मर्म बतावे, और कर्म की विधि, आवश्यकता, तथा उपयोगिता स्पष्ट रूप से दर्शावे, जिससे कर्म का करनेवाला (चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी) कर्म के बंधन में फँसने न पावे।

जहाँ तक गीता को निष्पक्षता और गंभीर दृष्टि से आद्योपांत पढ़ा

संबंध—(१) उक्त कर्म तथा अकर्म आदि का जानने योग्य तत्व वा स्वरूप क्या है, उसे भगवान् अब दृष्टांत रूप से स्पष्ट करते हैं—

गया, हमें उससे यही स्पष्ट हुआ है कि—"भगवान् कर्म को केवल मुमुक्षु के लिए ही नहीं, किंतु सबके लिए आवश्यक वा उचित समझते हैं, और कर्म तथा कर्मत्याग का संबंध शरीर के साथ नहीं किंतु मन के साथ मानते हैं, इसलिए जो कर्म केवल शरीर से तो हो और मन से न हो, उसे भगवान् वास्तव में कर्म नहीं मानते (यद्यपि बाहर से देखने में वह कर्म अवश्य आता है), और न ऐसे कर्म को बंधायमान कर सकनेवाला ही समझते हैं।" और जब पूर्वापर के संबंध को विचार से देखा जाय, तो यही स्पष्ट होता है कि भगवान् की प्रतिज्ञा यहाँ पर यह दर्शाने को नहीं हुई कि—"कौन सा कर्म शास्त्रोक्त है, और कौन सा शास्त्र-निषिद्ध है, और न इसका कोई यहाँ प्रसंग ही चला हुआ है।" बल्कि कर्म का मर्म वा रहस्य समझाने के लिये यों हुई है कि—"मैं तुझे अब वह कर्म बतलाता हूँ अर्थात् कर्म का वह लक्षण वा मर्म बतलाता हूँ कि जिसको जानकर तू संसार से मुक्त हो जायगा।" दूसरे शब्दों में यह कि भगवान् की प्रतिज्ञा केवल यह दर्शाने के लिए हुई है कि—"कौन सा कर्म अर्थात् किस रीति से किया हुआ कर्म मनुष्य के कल्याण वा मोक्ष का हेतु है, और कौन सा कर्म अर्थात् किस रीति से किया हुआ कर्म मनुष्य के बंधन वा हानि का हेतु है।" और गीता में यह स्पष्ट ही है कि बंध तथा मोक्ष का संबंध भगवान् मन के साथ लगाते हैं, जैसा कि उपनिषदों में आया है—

"मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥"
(मैत्र्यु० ६. ३४; अमृतबिन्दु. २)

अर्थ—निःसंदेह मन दो प्रकार का कहा जाता है—(१) शुद्ध और

अथवा (२) अब भगवान् कर्म-अकर्म के मर्म को और उसके जाननेवाले की दशा को स्पष्ट करते हैं—

---

(२) अशुद्ध । कामना और संकल्प से युक्त वा आसक्त मन अशुद्ध कहलाता है और कामना वा संकल्प से रहित अथवा निरासक्त मन शुद्ध कहलाता है । इसलिए मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण है क्योंकि विषयासक्त मन बंधन की ओर ले जानेवाला और निर्विषय अर्थात् विषयों में निरासक्त मन मुक्ति दिलानेवाला माना गया है । इसलिए मन की अवस्था के कारण ही यह शारीरिक कर्म पुरुष के बंध वा मोक्ष का हेतु होता है । इसीलिए कर्म, विकर्म और अकर्म से भगवान् का आशय मन की उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के दर्शाने का है कि जिनके कारण यह मनुष्य (१) कर्मासक्त=कर्मी, (२) कर्म से निरासक्त=निष्कर्मी वा अकर्मी, (३) कर्मरहित=आलसी, जड़ व विकर्मी, और (४) कर्मातीत=समाधिस्थ कहलाता है, और भिन्न-भिन्न फल पाता है । इस प्रकार (१) कर्म उसको कहते हैं कि जब शरीर बाहर से चाहे कुछ कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, पर भीतर से मन कामना और कर्तृत्वादि भाव से युक्त होकर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प शरीर के अंदर उठा रहा हो और कर्म में प्रेर रहा अथवा लगा रहा हो । मन की यह अवस्था कर्मी (कर्मासक्त) कहलाती है, जो मनुष्य के प्रत्येक कर्म से पुण्य वा पापरूप फल उत्पन्न करके उसे बंधायमान करती है । (२) अकर्म उसे कहते हैं, जब शरीर बाहर से तो कर्म कर रहा हो, पर मन के भीतर कर्तृत्वादि भाव कुछ न हो ; अर्थात् भीतर से न कर्म में आसक्ति हो और न कर्मफल की इच्छा । मन की ऐसी अकर्म अवस्था के कारण पुरुष भी निष्कर्मी वा अकर्मी कहलाता है, और ऐसे किसी कर्म से भी वह बंधायमान वा लिपायमान होने नहीं पाता है । इसी अकर्म (निष्कर्म) मार्ग में अर्जुन को भगवान् लगाना चाहते हैं । (३) विकर्म अर्थात् कर्मरहित वह अवस्था है जब घोर आलस्य अथवा सुषुप्ति या मादक द्रव्यों के कारण न शरीर ही कुछ काम कर रहा हो, और

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

न मन ही कोई संकल्प-विकल्प उठा रहा हो, बल्कि दोनों जड़वत्, निश्चेष्ट वा निष्क्रिय स्थित हों । मन की यह अवस्था विकर्मी व कर्महीन है । इसका परिणाम कर्मी अवस्था से भी अत्यंत निकृष्ट निकलता है । यह अवस्था मनुष्य को न केवल जन्म-मरण के बंधन में ही डाले रखती है, किंतु अज्ञान की फाँस में भी फँसाये रखती है । इसमें और अकर्म में इतना भेद है कि विकर्म में शरीर और मन दोनों क्रियारहित होते हैं । और अकर्म में शरीर तो कर्म कर रहा होता है, पर मन कर्तृत्वादि भाव तथा वासना से रहित होने के कारण निष्कर्मी वा अकर्मी होता है । फिर इस विकर्मावस्था में मन और शरीर दोनों जड़ होने के कारण स्वाधीन नहीं, किंतु आलस्य, सुषुप्ति वा मादक द्रव्यों के प्रभाव के अधीन हुए होते हैं ; पर अकर्मावस्था में ये दोनों स्वाधीन होते हैं, जिससे शरीर तो आज्ञानुसार कर्म में प्रवृत्त रहता है, और मन नियमित होने के कारण कर्तृत्वादि भाव और वासना के वश में होने नहीं पाता है । (४) कर्मातित वह अवस्था है कि जब निष्काम और अकर्तृस्वभाव से कर्म करते-करते योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर मन अपने स्वरूप के ध्यान में अडोल स्थित अर्थात् इतना तल्लीन वा समाधिस्थ हो जाय कि इंद्रियों के सब कर्म भी स्वतः बंद पड़ जायँ । इस प्रकार जब शरीर और मन आलस्य, सुषुप्ति, अज्ञान वा मादक द्रव्यों के वश में आकर नहीं बल्कि स्वाधीनता से कर्म करते-करते अपने आत्मसाक्षात्कार के तूफ़ान के वश में आकर कर्म छोड़ बैठें, तो उस स्वतः प्राप्त नितांत निष्क्रियावस्था को कर्मातीत कहते हैं । इसमें और विकर्म अवस्था में इतना भेद है कि विकर्मावस्था तो स्वरूप के अज्ञान तथा आलस्यादि से उत्पन्न होती है, और यह (कर्मातित अवस्था) स्वरूप के ज्ञान वा निजानंद के प्रभाव से प्राप्त होती है । यद्यपि ऊपर से ये दोनों अवस्थाएँ एक समान दिखाई

कर्मणि[1], अकर्म[3] यः[2], पश्येत्[4]	कर्म[1] में जो[2] अकर्म[3] देखे[4]	सः[1], बुद्धिमान्[3] मनुष्येषु[2]	वह[1] मनुष्यों[2] में बुद्धिमान्[3] है
अकर्मणि[2], च[1], कर्म[4], यः[3]	और[1] अकर्म[2] में जो[3] कर्म[4] (देखे)	सः[1], युक्तः[2], कृत्स्न[3]-कर्म[4]-कृत्[5]	वह[1] युक्त[2] और समस्त[3] कर्म[4] का करनेवाला[1]

देती हैं, परंतु एक तो अज्ञान का कार्य होने से मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार से रहित वा आत्मविमुख रखती है और जन्म-मरणरूप संसार-चक्र में घुमाती-फिराती है, और दूसरी ज्ञान का कार्य होने से जीते जी तो निजानंद में तृप्त कराती है और शरीर छूटने पर परब्रह्म में लीन कराती अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार-चक्र से मोक्ष दिलाती है। एक इस पार (संसार में) रखती है, और दूसरी उस पार (संसार से परे) ले जाती है। एक कर्महीन अवस्था (Lawlessness or actionlessness state) है, और दूसरी कर्मातीत अवस्था (State beyond Laws or beyond actions) है। एक (विकर्म) पर धर्मशास्त्र का दंडा खड़क रहा है, दूसरी (कर्मातीत) शास्त्र पर अपना दंडा रखती और उसके ऊपर वर्तती है। इस कर्मातीत पुरुष के विषय में श्रुति स्वयं ऐसा कहती है कि—"ब्रह्मविद्-श्रुतिमूर्ध्नि"=ब्रह्मवेत्ता श्रुति के ऊपर चलता होता है, अर्थात् श्रुति से परे वर्तता होता है, अथवा श्रुति उसके मस्तिष्क से टपकती है, अथवा श्रुति उससे निकलती और उसके अधीन होती है, वह श्रुति के स्वयं अधीन नहीं हुआ होता। और भगवान् भी इसके विषय में ऐसा कहते हैं कि "तस्य कार्यं न विद्यते"=उस आत्मानुभवी पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य बाक़ी नहीं रहता है (३, १७)। और इसी अवस्था को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने दूसरे अध्याय में अर्जुन को ऐसे उपदेश किया—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"=हे अर्जुन ! त्रैगुण्य-विषयक ये वेद (श्रुतियाँ) हैं, तू इन तीनों गुणों से परे हो (२, ४५)। इन उक्त चारों प्रकार की अवस्था का विवेक कराना भगवान् का यहाँ अभिप्राय व उद्देश्य दिखाई देता है। चतुर्थ अवस्था इन पूर्व की तीन अवस्थाओं का अंतिम फल है;

अन्वयार्थ—जो (भी पुरुष) कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, और वही युक्त तथा समस्त कर्मकृत् है ॥ १८ ॥

और इन तीनों में से क्रमशः गुज़र कर मनुष्य उस चौथी अवस्था को प्राप्त होता है, इसलिए इन तीनों (कर्म, विकर्म और अकर्म) के ही तत्त्व को यथार्थ समझाने के लिए भगवान् मनुष्यमात्र को उपदेश देते हैं, ताकि बिना इनके तत्त्वबोध किये मनुष्य इनके पहचानने में धोखा न खा जाय, और एक को दूसरे से समझकर भ्रमजाल में न फँसने पाये। वास्तव में कर्म का मार्ग (अथवा कर्म, विकर्म और अकर्म का विषय) अति गंभीर, कठिन वा टेढ़ा या दुर्बोध्य है, इसलिए भी यह विषय अति विचारने योग्य है। और जब बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग इसके समझने में धोखा खा गये या चकरा गये हैं, तो भोलेभाले साधारण मनुष्यों का फिर कहना ही क्या है।

उक्त (कर्म के) विषय में श्रीतिलक महाराज की व्याख्या (जो उन्होंने श्लोक १७, १८ पर इकट्ठी दी है) यद्यपि बहुत अंशों में हमारे सहमत है, तथापि अपने ढंग की निराली है, इसलिए उसे भी यहाँ दे दिया जाता है—"पहले से ही इस बात पर ध्यान दिये रहना चाहिए कि गीता में जिस तात्त्विक दृष्टि से इस प्रश्न (कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है तथा विकर्म क्या है) का विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्कामकर्म करनेवाले कर्मयोगी की है, काम्य कर्म करनेवाले मीमांसकों की या कर्म छोड़नेवाले संन्यासमार्गियों की नहीं है। गीता की इस दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर पहले तो यही कहना पड़ता है कि 'कर्मशून्यता' के अर्थ में 'अकर्म' इस जगत् में कहीं भी नहीं रह सकता, अथवा कोई भी मनुष्य कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता (गीता ३, ५; १८, ११); क्योंकि सोना, उठना-बैठना और जीवित रहना तक किसी से भी छूट नहीं जाता। और यदि कर्मशून्यता होना संभव नहीं है, तो यह निश्चय करना पड़ता है कि अकर्म कहें किसे। इसके लिए गीता का यह उत्तर है कि

(१) पहली व्याख्या--पूर्व श्लोक के फ़ुटनोट में दर्शाया गया है कि कर्म का न करना अकर्म (नैष्कर्म्य) नहीं, किंतु स्वार्थ को

कर्म का मतलब निरी क्रिया न समझकर उससे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामों का विचार करके कर्म का कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टि के मानी ही कर्म हैं, तो मनुष्य जब तक सृष्टि में है, तब तक उससे कर्म नहीं छूटते। अतः कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो, वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अर्थात् बंधकत्व नष्ट हो गया; और यदि किसी भी कर्म का बंधकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय, तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ। अकर्म का प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता ठीक है, परंतु शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता। क्योंकि हम देखते हैं कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करना भी कई बार कर्म ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, अपने माता-पिता को कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोककर चुप्पी मारे बैठा रहना, उस समय व्यावहारिक दृष्टि से अकर्म अर्थात् कर्मशून्यता हो तो भी, कर्म ही—अधिक क्या कहें, विकर्म—है; और कर्म-विपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा। अतएव गीता अगले श्लोक १८ में विरोधाभास की रीति से बड़ी ख़ूबी के साथ कहती है कि ज्ञानी वही है जिसने जान लिया कि अकर्म में भी (कभी-कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है, और कर्म करके भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से मरा सा, अर्थात् अकर्म, होता है; तथा यही अर्थ अगले श्लोक में भिन्न-भिन्न रीतियों से वर्णित है। कर्म के फल का बंधन न लगने के लिए गीताशास्त्र के अनुसार यही एक सच्चा साधन है कि निःसंग बुद्धि से, अर्थात् फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से, कर्म किया जाय। अतः इस साधन का उपयोग कर निःसंग बुद्धि से जो कर्म किया जाय, वही गीता के अनुसार प्रशस्त—सात्त्विक—कर्म है (गीता १८, ९);

त्यागकर स्वभावतः वा परार्थ कर्म करना और उसके कर्तृत्वादि संग-दोष से रहित रहने का नाम अकर्म है। अथवा अंतःकरण

और गीता के मत में वही सच्चा 'अकर्म' है, क्योंकि उसका कर्मत्व अर्थात् कर्म-विपाक की क्रिया के अनुसार बंधकत्व निकल जाता है। मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और 'करते हैं' पद में चुपचाप निठल्ले बैठे रहने का भी समावेश करना चाहिए) उनमें से उक्त प्रकार के अर्थात् 'सात्त्विक कर्म', अथवा गीता के अनुसार अकर्म घटा देने से बाक़ी जो कर्म रह जाते हैं, उनके दो भाग हो सकते हैं—एक राजस और दूसरा तामस। इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं, इसलिए उन्हें विकर्म कहते हैं—फिर यदि कोई कर्म मोह से छोड़ दिया जाय तो भी वह विकर्म ही है, अकर्म नहीं (गीता १८, ७)। अब रह गये राजस कर्म। यह कर्म पहले दर्जे के अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं, अथवा ये वे कर्म भी नहीं हैं, जिन्हें गीता सचमुच 'अकर्म' कहती है। गीता इन्हें राजस कर्म कहती है; परंतु यदि कोई चाहे तो ऐसे राजस कर्मों को केवल 'कर्म' भी कह सकता है। तात्पर्य, क्रियात्मक स्वरूप अथवा कोरे धर्म-शास्त्र से कर्म-अकर्म का निश्चय नहीं होता, किंतु कर्म के बंधकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि कर्म है या अकर्म। अष्टावक्रगीता संन्यास-मार्ग की है, तथापि उसमें भी कहा है—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अर्थात् मूर्खों की निवृत्ति (अथवा हठ से या मोह के द्वारा कर्म से विमुखता) ही वास्तव में प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है, और पंडित लोगों की प्रवृत्ति (अर्थात् निष्काम कर्म) से ही निवृत्ति यानी कर्मत्याग का फल मिलता है (अष्टा० १८, ६१)। गीता के उक्त श्लोक में यही अर्थ विरोधाभासरूपी अलंकार की रीति से बड़ी सुन्दरता से बतलाया गया है। गीता के अकर्म के इस लक्षण को भली भाँति समझे विना गीता के कर्म-अकर्म के विवेचन का मर्म कभी भी समझ में आने का नहीं। अब इसी अर्थ को अगले श्लोकों में अधिक व्यक्त करते हैं।"

को उस अवस्था का नाम अकर्म है कि जिसमें मन तो कर्तृत्वादि भाव से रहित और निष्काम हो, और शरीर कर्म कर रहा हो। इसी प्रकार कर्म केवल शारीरिक चेष्टा का ही नाम नहीं बल्कि बाहर से चेष्टा चाहे हो वा न हो किंतु भीतर से मन का कर्तृत्वादि भाव से युक्त होकर नाना प्रकार की कामना रूप चेष्टा करते रहना कर्म है। अथवा अंतःकरण की वह अवस्था कर्म कहलाती है कि जिस में मन तो कर्तृत्वादि भाव से युक्त होकर नाना प्रकार की संकल्प-विकल्प रूप चेष्टा कर रहा हो, और शरीर चाहे क्रियारहित हो वा क्रियावान् हो। इस भेद को जाननेवाला पुरुष न तो कर्म में कर्तृत्वबुद्धि रखता है, न फल-कामना से युक्त होकर कर्म करता है, और न कर्म को दुःखरूप समझकर नितांत त्याग ही देता है; बल्कि कर्म को अपना कर्त्तव्य समझकर निरासक्त और निष्काम भाव से करता रहता है,. जिससे एक ओर तो उससे समस्त कर्म हुए जाते हैं, और दूसरी ओर वे कर्म उसे आसक्त और लिपायमान नहीं करने पाते, बल्कि सर्व कर्म करते हुए भी वह भीतर से सावधान (युक्त) और निर्लिप्त ही रहता है। इस गुह्य रहस्य को समझाने वा स्पष्ट करने के लिए भगवान् ऐसा कहते हैं कि—"हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है।" अर्थात् जो किसी को कर्म करते देखकर उसके भीतर की अकर्तृत्वावस्था को भाँप लेता है, अथवा अपने ही शारीरिक कर्म में जो अपने आपको भीतर से अकर्त्ता-अभोक्ता भान करता वा देखता है। और जो किसी को निकम्मा (निष्क्रिय) देखकर उसके भीतर की कर्तृत्वावस्था को भाँप जाता है, अथवा अपने शरीर की ही क्रियारहित अवस्था में जो अपने आपको कर्तृत्वभाव से युक्त वा आसक्त जान लेता वा देख लेता है, ऐसा पुरुष ही संसार में बुद्धिमान् वा विचारवान्

होता है, अन्य नहीं; और ऐसा पुरुष ही कर्मयोग में युक्त तथा समस्त कर्मों का करनेवाला होता है, अथवा ऐसा पुरुष ही सर्व प्रकार के कर्म करता हुआ भी सावधान रहता है ॥ १८ ॥

दूसरी व्याख्या—शारीरिक कर्म का नाम ही कर्म नहीं किंतु शारीरिक कर्म में अपने आपको अर्थात् आत्मा को उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता मानना कर्म है। ऐसे ही शारीरिक कर्म के त्याग का नाम अकर्म नहीं किंतु इंद्रियों से कर्म करते हुए अपने आपको अर्थात् आत्मा को उस कर्म का अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी मानना अकर्म है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जो पुरुष कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है, अर्थात् जो शारीरिक कर्म में नित्य अपने आप (आत्मा) को साक्षी, अकर्त्ता और अभोक्ता जानता (महसूस करता रहता) है, और किसी आलसी वा अज्ञानी पुरुष को बाहर से निकम्मा (क्रियारहित) देखकर उसके भीतर नाना प्रकार के संकल्प (विकल्पों में) अज्ञानजन्य कर्त्तात्मा का भाव भाँप लेता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, और वही समस्त कर्म शरीर से करता हुआ भी अपने आपमें कृतकृत्य और सावधान रहता है ॥ १८ ॥

तीसरी व्याख्या—देह, इंद्रियाँ, बुद्धि आदि का जो व्यापार है, उसका नाम कर्म है। और इस व्यापार के अभाव का नाम अकर्म है। अथवा इन इंद्रियों, बुद्धि इत्यादि का अधिष्ठान (साक्षी आत्मा) जिसके साक्षित्व में इंद्रियों इत्यादि का व्यापार होता है, उसकी इस कर्म से अज्ञान-जन्य संगता का नाम कर्म है और ज्ञान-जन्य असंगता का नाम अकर्म है। यद्यपि इंद्रियों का व्यापार रूप कर्म, अथवा उनके व्यापार का अभाव रूप अकर्म, इंद्रियों में ही रहता और इंद्रियों से ही संबंध रखता

है, असंग आत्मा में न वह कर्म होता है, और न उससे संबंध ही रखता है ; तथापि अहंकार के अध्यास से मूर्ख पुरुष इंद्रियों इत्यादि के व्यापाररूप कर्म को असंग आत्मा में आरोपण कर लेता है ; और जब इंद्रियों के व्यापार निद्रा वा सुषुप्ति के कारण बंद पड़ जाते हैं, तो वह उस व्यापार के अभाव अर्थात् कर्मशून्यता को असंग आत्मा में आरोपण कर लेता है। अर्थात् इंद्रियाँ जब कोई काम कर रही हों, तो मूर्ख यही समझता है कि आत्मा काम कर रहा है, और जब निद्रा के कारण इंद्रियाँ काम करना छोड़ बैठें, तो वह यह समझता है कि आत्मा ने कर्म करना छोड़ दिया है, यद्यपि इस कर्म और कर्म-त्याग का कर्त्ता वे इंद्रियाँ ही हैं। पस, जो विद्वान् इंद्रियों के कामों को आत्मा का काम नहीं समझता, बल्कि उनके कामों में भी आत्मा को असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी जानता है, अर्थात् कर्म में अकर्म देखता है ; और जो इंद्रियों के कर्म बंद हो जाने पर उस अक्रियावस्था या कर्म-त्याग का भी कर्त्ता-भोक्ता इंद्रियों को ही समझता है, आत्मा को नहीं, बल्कि आत्मा को इंद्रियों की इस अवस्था में भी वैसा का वैसा ही असंग, साक्षी और अकर्त्ता इत्यादि मानता है, अर्थात् अकर्म में भी (इंद्रियों का) कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त और समस्त कर्म-कृत् है, अथवा वही समस्त कर्म करता हुआ भी अपने आपमें सावधान रहता है। इंद्रियकर्म के संगदोष से रहित होने के कारण कर्म से वह लिपायमान नहीं होता ॥ १८ ॥

चौथी व्याख्या—प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान का जो विषय हो, अर्थात् सर्व नामरूप जगत् वह कर्म, और जो प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान का विषय न हो, अर्थात् स्वप्रकाश साक्षी आत्मा, वह अकर्म कहलाता है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है,

अर्थात् जो आत्मा (अपने आप) में सर्व नामरूप जगत् को और सर्व नामरूप प्रपंच में आत्मा (अपने आप) को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त है और सर्व कर्म का करनेवाला है। इसी के विषय में श्रुति भी ऐसा कहती है—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजगुप्सते।"=जो सब भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता (ईश उप० ६)॥ १८॥ *

---

* चारों व्याख्याएँ अपने-अपने स्थान पर उचित बैठती हैं, और प्रथम व्याख्या (जो बहुत स्पष्ट है और हमारे विचार में सर्वोपरि युक्त ठहरती है, उस) के साथ बाक़ी की तीन भी कई अंशों में मेल खाती हैं, इसलिए चार प्रकार से इस श्लोक की व्याख्या की गई है। तिस पर भी श्री ज्ञानदेव की व्याख्या, जो अपने ढंग की निराली है और बहुत अंशों में उक्त व्याख्याओं के अभिप्राय से मेल खाती है, नीचे दी जाती है।

"जो सर्व कर्मों में व्यवहार करते हुए निज को निष्कर्म जानता है, और कर्म का संग होते हुए फल की निराशा रखता है, तथा कर्त्तव्यता के लिए संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है, इस प्रकार उत्तम निष्कर्मता के ज्ञान से जो युक्त हुआ है; तथापि संपूर्ण क्रिया-समूहों का उत्तम आचरण करते हुए दिखाई देता है; वही इन लक्षणों के द्वारा ज्ञानी समझना चाहिए। जैसे जल के तट पर खड़े रहने से यदि अपना ही प्रतिबिंब जल में दिख जाय, तो वह मनुष्य निश्चय से पहचान सकता है और कह सकता है कि मैं इस प्रतिबिंब से भिन्न हूँ; अथवा जो नौका में बैठकर चलता है, सो तीर पर के वृक्ष वेग से दौड़ते हुए देखता है, किंतु यही बात यदि वह सत्यतः देखने लगे तो कहेगा कि वृक्ष अचल हैं; वैसे ही सब कर्मों में व्यवहार करना नितांत असत्य मानकर जो निज को निष्कर्म समझता है, और उदय-अस्त होने के कारण सूर्य जैसे

संबंध—(१) उक्त (कर्म के तत्त्व को जाननेवाले वा परमार्थदर्शी) पुरुष के विषय में भगवान् अब आगे चौबीसवें श्लोक तक और वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब उक्त अकर्मरूपी कर्म की स्तुति भगवान् आगे चौबीसवें श्लोक तक करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

यस्य[1], सर्वे[2], समारम्भाः[3]	जिसके[1] सारे[2] कर्म[3]	ज्ञान[1]-अग्नि[2]-दग्ध[3]-कर्माणं[4]	ज्ञान[1] की अग्नि[2] से दग्ध[3] हुए कर्मोंवाले[4] को
* काम[1]-सङ्कल्प[2]-वर्जिताः[3]	कामना[1] और संकल्प[2] से रहित[3] हैं	तम्[2], आहुः[4], पण्डितं[3], बुधाः[1]	बुद्धिमान्[1] उसको[2] पंडित[3] कहते[4] हैं

स्थिर होते भी चलता सा दिखाई देता है, वैसा ही जो कर्म करते हुए निष्कर्मता का तत्त्व जानता है; सो मनुष्य, मनुष्य के समान तो दिखता है, परंतु जैसे सूर्य का बिंब जल में नहीं डूबता, वैसे वह मनुष्य मनुष्यत्व से लिप्त नहीं होता। वह नेत्र से न देखते सब विश्व देख चुका है, कुछ भी न करते सब कर चुका है, और कुछ भी न भोगते सब भोग्य वस्तुओं का भोग ले चुका है। एक ही स्थान बैठा हो, परंतु सर्वत्र भर गया है; और तो क्या, वह स्वयं विश्व हो गया है।"

* "कामसङ्कल्पवर्जिताः" इस पद पर भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है—"कामैस्तत्कारणैश्च सङ्कल्पैर्वर्जिताः।"=काम (अभिलाषा) और उसका कारणरूप संकल्प इन दोनों से रहित जिसके कर्म हैं (श्रीशंकराचार्य)। "काम्यते इति कामः। फलं तत्सङ्कल्पेन वर्जिताः।"=

पहला अन्वयार्थ—जिसके सारे कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं। उस ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए कर्मोंवाले को बुद्धिमान् पुरुष पंडित कहते हैं ॥ १९ ॥

जो चाहा गया, वह काम है, और उसके फल का संकल्प, इन दोनों से रहित जिसके कर्म हैं (श्री श्रीधर स्वामी)। "कामः फलतृष्णा। सङ्कल्पोऽहं करोमीति कर्तृत्वाभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः।"=काम अर्थात् फल की अभिलाषा और संकल्प अर्थात् 'यह कर्म मैं करता हूँ' ऐसा कर्तृत्वादि अभिमान, इन सबसे रहित जिसके कर्म हैं (श्री मधुसूदनस्वामी)। इस प्रकार भाष्यकारों के नाना मत हैं। मधुसूदन स्वामी का किया हुआ संकल्प शब्द का अर्थ यद्यपि अधिक प्रचलित नहीं, परंतु अभिप्राय ऐसा इस शब्द के सब अर्थों से प्रायः निकल आता है, और यह अर्थ वा अभिप्राय यहाँ युक्त भी बैठता है। श्रीशंकराचार्य के जो अर्थ (काम और उसके कारण संकल्प से रहित कर्म) हैं, उससे यह तात्पर्य नहीं कि उसकी सब इच्छाएँ ही नितांत बंद हो जाती हैं, या फल की इच्छा के न होने से वह फिर कर्म ही कोई नहीं करता; बल्कि भाव यह है कि उसके कर्म तो सब होते रहते हैं, परंतु उसमें कर्मत्व वा बंधकत्व तथा कर्तृत्वादि अभिमान, स्वार्थबुद्धि वा फलाशा नहीं होते, जिससे वे कर्म वास्तव में अकर्म रूप होते हैं। इसीलिए श्रीशंकराचार्यजी इसी श्लोक में आगे चलकर ऐसा लिखते हैं—"मुधैव चेष्टामात्रा अनुष्ठीयन्ते प्रवृत्तेन चेल्लोकसंग्रहार्थं निवृत्तेन चेत् जीवनमात्रार्थम्।" विना निजी प्रयोजन वा स्वार्थ के ही उसके कर्म केवल चेष्टामात्र होते हैं। यदि प्रवृत्ति द्वारा उससे कोई कर्म होता है, तो केवल लोकसंग्रहार्थ (जिससे कि लोगों को उसके उदाहरण से शिक्षा मिले) और यदि निवृत्ति द्वारा कोई कर्म होता है, तो केवल जीवन निर्वाहमात्रार्थ (जिससे शरीर मृत्युवश अर्थात् आत्मघात न हो) और श्रीमधुसूदन स्वामी ने भी 'लोकशिक्षार्थ' और 'जीवनमात्रार्थ' ये दोनों बातें अपनी व्याख्या में कामसङ्कल्प-वर्जिताः के अर्थ के साथ रक्खी हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि फल की लालसा

दूसरा अन्वयार्थ—जिसके सारे कर्म इच्छा और संकल्प विना आरंभ होते हैं, उसको बुद्धिमान् पुरुष (ऐसा) पंडित कहते हैं कि जिसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं ॥ १९ ॥

(काम) और कर्तृत्वादि अहंकाररूप संकल्प से रहित जो कर्म का अनुष्ठान है, वही विहित और वही अकर्मत्व वा कर्मशून्यता है, और इन्हीं कर्मों से पुरुष को कोई बंधन प्राप्त नहीं होता, ऐसे कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं, अर्थात् ज्ञान के कारण ऐसे कर्मों के बंधन नितांत नाश हुए होते हैं ।

स्पष्ट अभिप्राय उक्त पद का यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं, अर्थात् इन चारों में से किसी न किसी की प्रेरणा से ही कर्म होता है । इनको छोड़कर न कोई कर्म होता है और न ऐसे कर्म से कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है, बल्कि स्वाभाविक कर्म भी जो शरीर-रक्षा का धर्मपालनार्थ किया जाता है वह भी आत्मघात से बचने वा बचाने के प्रयोजन से होता है । अलबत्ता जो कर्म काम की प्रेरणा से होते हैं, वे काम्य कर्म कहलाते हैं, इनका फल स्वर्गादि लोकों के भोगों की प्राप्ति और व्यक्तिगत अपने आपका सुख है । ऐसे कर्म परिच्छिन्न दृष्टि, अभिमान आदि तुच्छ संकल्पों और स्वार्थबुद्धि से होते हैं, जिससे बंधन का हेतु होते हैं । और केवल धर्म (कर्त्तव्य बुद्धि), अर्थ (सांसारिक लाभ वा लोकसंग्रहार्थ) तथा मोक्ष की प्रेरणा से जो कर्म होते हैं, वे इस परिच्छिन्न दृष्टि, मलिन अहंकार की अर्थ-सिद्धि और आत्म-सुख अर्थात् विषय सुख के उद्देश्य से नहीं होते, बल्कि इन कर्मों का उद्देश्य वा प्रयोजन निजानंद की प्राप्ति, परिच्छिन्न दृष्टि का नाश, मलिन अहंकार का अभाव, सबसे अभेदता और समत्व दृष्टि, और इसी के कारण लोकोपकार वा लोकसंग्रह होता है, जिससे ये कर्म बंधन का हेतु नहीं होते । पर जब ये धर्म, अर्थ और मोक्ष-निमित्त कर्म भी अपने यश, मान, अहंकार की तृष्णा की पूर्ति और केवल अपने (व्यक्तिगत अपने आपके) हित अर्थात्

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसके सारे आरंभ (कर्म) विषय-भोग की कामना और उसके कार्यरूप संकल्प से रहित हैं, अथवा स्वर्गादि लोकों की प्राप्तिरूप फल के संकल्प से रहित हैं; अर्थात् जो स्वार्थरूप फल की कामना और कर्तृत्वादि अभिमानरूप संकल्पों से रहित होकर सारे कर्म करता है, अथवा जो सर्वप्रकार के कर्मों के भीतर अपने आपको अकर्त्ता-अभोक्ता निश्चय करता हुआ केवल लोकोपकारार्थ या शरीरयात्रार्थ कर्म करता है, और इसी ज्ञानाग्नि के कारण जिसके सारे कर्म जल गये होते हैं, अर्थात् सारे कर्म-बंधन नाश हो गये होते हैं, जिससे वह किये हुए कर्मों से बंधायमान होने नहीं पाता। ऐसे महात्मा को बुद्धिमान् पुरुष पंडित * कहते हैं ॥ १९ ॥

स्वार्थ के लिए किये जायँ, तो ये भी काम्य अर्थात् सकाम कर्म हो जाते हैं, निष्काम नहीं रहते। बस, काम का अर्थ यहाँ केवल स्वार्थ अर्थात् व्यक्तिगत हित और विषयभोग की कामना है, और जो संकल्प इसी प्रयोजन वा उद्देश्य के निमित्त हों, वे काम-संकल्प कहलाते हैं। और जिन कर्मों का उद्देश्य और प्रयोजन दूसरों का हित वा मंगल हो, वे सब निष्काम हैं, और इनके कारण रूप संकल्प भी काम-संकल्प नहीं किंतु निष्काम-संकल्प कहलाते हैं। पहली प्रकार के (सकाम) कर्म पुरुष को बंधायमान करते अर्थात् जन्म-मरण दिलाते रहते हैं। और दूसरी प्रकार के (निष्काम) कर्म पुरुष को मोक्ष दिलाते और निर्लिप्त रखते हैं। इसलिए जिनके समस्त कर्म कामसंकल्प से रहित होते हैं, उन्हीं को बुद्धिमान् पुरुष तत्ववेत्ता पंडित कहते हैं, और उन्हीं के कर्मों के बंधन (इस ज्ञानाग्नि के कारण) सब जले हुए होते हैं।

* ज्ञानवान् पुरुष कर्म करने से पूर्व वा कर्म करते समय किसी प्रकार का कर्तृत्व अभिमानरूप संकल्प नहीं करता और न आप फल भोगने की इच्छा ही रखता है। ज्ञानवान् जो भी कर्म करता है, वह या तो

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष," ये चार पुरुषार्थ वा कर्म के उद्देश्य और प्रयोजन हैं। इनमें से किसी एक, दो या तीन की प्रेरणा से ही सब कर्म मनुष्य से अपनी चेतन अवस्था में होते हैं। "काम" का प्रयोजन वा फल स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति अर्थात् विषय-सुख और केवल व्यक्तिगत हित (अहंकार की तृष्णा की तृप्ति) है; इसलिए जो भी कर्म इस 'काम' और इसी के अनुसार इसके कार्यरूप 'संकल्प' की प्रेरणा से होते हैं, वे सब सकाम कर्म कहलाते हैं, और पुरुष के बंधन का हेतु होते हैं। और 'धर्म', 'अर्थ' तथा 'मोक्ष' रूप पुरुषार्थ का फल व प्रयोजन तुच्छ स्वार्थ वा हित ही नहीं किंतु निजानंद की प्राप्ति, लोकसंग्रह वा धर्म-रक्षा, और मुक्ति भी है; इसीलिए जो भी कर्म इस निजानंद आदि उद्देश्य से तथा तदनुसार कामना वा संकल्प की प्रेरणा से होते हैं, वे निष्काम कर्म (वा अकर्मरूप कर्म) कहलाते हैं, और पुरुष को बंधायमान नहीं करते बल्कि बंधनों से मुक्त करते अर्थात् जन्म-मरण से रहित करते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं कि जिसके कर्म उक्त 'काम' और उसके कार्यरूप 'संकल्प' से रहित हैं; अर्थात् जो पुरुष स्वर्गादि लोकों के भोगों की कामना और तदनुसार संकल्पों की प्रेरणा से कोई कर्म नहीं करता, बल्कि जो समस्त कर्म निजधर्म की रक्षा, निजानंद की प्राप्ति, मुक्ति और लोकोपकार के उद्देश्य और तदनुसार कामना वा संकल्पों से

स्वाभाविक होता है, या शरीर-यात्रा के निमित्त, और या संसार की भलाई के निमित्त होता है। वह किसी भी किये हुए कर्म को आत्मा का कर्म नहीं समझता और न किसी कर्म में कर्तृत्व अभिमान ही रखता है, जिससे उसके समस्त कर्म यहीं जल जाते हैं, और उसे नहीं बाँधते हैं। ऐसा ज्ञानवान् सचमुच "पंडित" है।

प्रेरित होकर करता है, वह पुरुष पूर्ण पंडित, अर्थात् तत्त्ववेत्ता वा मुनि या ऋषि है, और उसके समस्त कर्म उक्त ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं, अर्थात् निष्काम कर्म करने के कारण उन कर्मों के बंधन नितांत नाश हुए होते हैं, जिससे वह पुरुष कर्मों से बंधायमान होने नहीं पाता। इसी के विषय में श्रुति ऐसा कहती है--"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" अर्थ--जब सारी विषय-कामनाएँ, जो इस (मनुष्य) के हृदय में रहती हैं, नितांत छूट जाती हैं, तब वह मर्त्य (मरनेवाला पुरुष) अमृत बन जाता है, और यहीं ब्रह्म को प्राप्त होता अर्थात् ब्रह्मानंद भोगता है (कठवल्ली ६, श्लोक १४) ॥ १९ ॥*

तीसरी व्याख्या--वेदांत की प्रक्रिया से इसकी व्याख्या यों होगी कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह अंतःकरण-चतुष्टय है, अर्थात् अंतःकरण की मुख्य चार वृत्तियाँ हैं। इसमें मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि विवेक करती है, चित्त चिंतवन करता और अहंकार अभिमान करता है। अंतःकरण की उक्त वृत्तियों के ये व्यापार मनुष्य के जीवन पर्यंत उसकी जाग्रत् व स्वप्न अवस्था में कदापि बंद नहीं होते। केवल सुषुप्ति व समाधि काल में ही बंद पड़ते हैं। और आगे चलकर ये वृत्तियाँ ही कर्मेंद्रियाँ वा

---

* श्रीज्ञानदेव अपने निराले ढंग से परंतु संक्षेप रूप से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—"जिस पुरुष को कर्म के विषय कुछ विषाद नहीं होता, परंतु कोई फल की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होती; और 'मैं यह कर्म करूँगा', अथवा 'यह आरंभ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा', ऐसे संकल्प से जिसका मन दूषित नहीं होता; जिसने संपूर्ण कर्म ज्ञानरूपी

ज्ञानेंद्रियाँ रूप होकर शरीर का कुल व्यापार करती हैं। और इस अंतःकरण का देह के साथ संबंध तब तक बना ही रहता है जब तक कि उसके प्रारब्ध-भोग खतम नहीं हो लेते। इस प्रकार जब तक किसी देह के प्रारब्ध-भोग खतम नहीं होते, तब तक अंतःकरण अपनी अनेक वृत्तियों से मनुष्य के जीवन पर्यंत संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, शोक-मोह, कर्तृत्वादि भावना करता ही रहता है। ये व्यापार अंतःकरण की वृत्तियों के नष्ट नहीं किये जा सकते; क्योंकि ये सब उन वृत्तियों के स्वभाव वा धर्म हैं। आत्मा का प्रतिबिंब जब अंतःकरण में पड़ता है और अंतःकरण जब पूर्व भाग्य के अनुसार अनेक वृत्तिरूप से लहराता है, तो उसके साथ आभास भी लहराता दीखता है। यद्यपि बिंबरूप आत्मा अपने स्वरूप में अचल, कूटस्थ और निर्विकार स्थित है, तथापि अविद्या की उपाधि से जब आत्मा (अंतःकरण और उस में अपने आभास अथवा प्रतिबिंब के साथ अभेद होने से) अपने आपको वही आभास व अंतःकरण भान करने लगता है, तो अंतःकरण की उक्त वृत्तियों के सब स्वभाव व धर्म भी वह अपने में भान करने लग जाता है। इस प्रकार वृत्तियों के धर्मों व स्वभावों को अपने धर्म व स्वभाव समझना यही उसकी भ्रांति व अज्ञान है, और इस भ्रांति का दूर होना ही ज्ञान है। और जब तक यह भ्रांति उसकी अपने स्वरूप के बोध व तत्त्वचिंतन से दूर नहीं हो लेती, तब तक वह दूसरों के धर्म व स्वभावों को अपने ही मानता और उनके साथ दुःख-सुख भोगता जन्ममरण के बंधन में अपने को पाता है। और जब वह अपने स्वरूप के बोध से

अग्नि की ज्वाला में जला डालें हैं; सो मनुष्य मनुष्य के रूप में परब्रह्म ही है, ऐसा समझो।"

अंतःकरण की वृत्तियों के सारे व्यापार (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) अंतःकरण ही के समझने लगता है, अपने में नहीं समझता बल्कि 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते' (गी० ३. २८.) इंद्रियाँ वा वृत्तियाँ अपने-अपने स्वभाव में वर्त रही हैं, इस प्रकार सारे कर्म व संकल्प आदि को केवल इंद्रियों वा अंतःकरण के समझता हुआ अपने आपको अकर्त्ता-अभोक्ता साक्षी व असंगात्मा भान करता है, तो समस्त कर्मों के कर्तृत्व आदि संकल्प-विकल्प और उनकी फल-कामनाओं से उसका संबंध नितांत टूट जाता है। इस प्रकार जिस मनुष्य के भीतर इंद्रियों के सब व्यापारों में आत्म-भ्रांति दूर हो गई होती है, और उसके सब व्यापार इस रीति से वास्तव में (अपने स्वरूप की दृष्टि से) काम-संकल्प से रहित हैं, वही पंडित विचारवान् व तत्त्ववेत्ता कहलाता है और उसी के समस्त कर्म उक्त ज्ञानाग्नि से जल गये होते हैं। और उसी के विषय में श्रुतियाँ ऐसे कहती हैं कि—

> "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
> अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (कठ, ६. १४)

जब सर्वप्रकार की कामनाएँ जो उसके हृदय में स्थित हैं, दूर हो गई होती हैं, अथवा जब हृदय (अंतःकरण) की समस्त कामनाओं के साथ उसका संबंध नितांत टूट गया होता है, तो वह (देखने में) मरनेवाला पुरुष अमरभाव को प्राप्त होता इसी जन्म में ब्रह्मानंद लूटता है और जीवन्मुक्ति का आनंद उठाता है॥ १९॥

संबंध—कहे हुए अर्थ को भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

त्यक्त्वा^{4}, कर्म^{1}-फल^{2}-आसङ्गं^{3}	कर्म^{1} फल^{2} में आसक्ति^{3} को त्याग^{4}कर
नित्य^{1}-तृप्तः^{2}, निर्^{4}-आश्रयः^{3}	सदा^{1} तृप्त^{2}, आश्रय^{3} रहित^{4}
कर्मणि^{1}, अभि^{2}-प्रवृत्तः, अपि^{3}	कर्म^{1} में प्रवृत्त^{2} हुआ भी^{3}
न^{4}, एव^{3}, किञ्चित्^{2}, करोति^{5}, सः^{1}	वह^{1} (पुरुष) कुछ^{2} ही^{3} नहीं^{4} करता^{5} है

अन्वयार्थ—कर्मफल में आसक्ति को त्यागकर, नित्य तृप्त और निराश्रय * पुरुष कर्म में प्रवृत्त हुआ भी कुछ ही नहीं करता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जिसको न कर्म में और न उसके फल में आसक्ति है; अर्थात् जो कर्म में कर्तृत्वादि अभिमानरूप संग नहीं रखता, और उसके फल में उसके भोगने की अभिलाषारूप संग नहीं रखता। जो तुच्छ स्वार्थबुद्धि और तदनुसार कामना वा संकल्प से नितांत निःसंबंध होने से अपने में ही नित्य तृप्त और निराश्रय रहता है; अर्थात् जिसको कर्म में न कर्तृत्व अभिमान है, न उसके फल की कामना है, और न उस द्वारा स्वार्थ वा आत्म-सुख की तृष्णा ही है बल्कि जो अपने आपमें ही सदा संतुष्ट वा तृप्त रहता है; और जो किसी अनात्म वस्तु

---

* 'निराश्रय' शब्द का अर्थ कई एक ने 'घर-गृहस्थी न करनेवाला' (संन्यासी) किया है, पर यह यहाँ युक्त नहीं बैठता । आश्रय का अर्थ निःसंदेह घर, ठिकाना, डेरा और सहारा है, पर इससे अभिप्राय यहाँ कर्त्ता के रहने का स्थान वा ठिकाना नहीं किंतु कर्म का हेतु रूप (तृष्णा, वा फल, अर्थात् स्वार्थ रूप) ठिकाना वा आश्रय है । इसलिए जिसके कर्म विना स्वार्थबुद्धि वा तुच्छ कामनाओं के आश्रय वा हेतु के होते हैं, वह निराश्रय है । इसी को आगे (गीता ६, १ में) 'अनाश्रितः कर्मफलं' इन शब्दों से स्पष्ट कहा गया है ।

वा तृष्णा का सहारा नहीं लिये हुए है, बल्कि जो केवल दूसरों की भलाई अथवा देहयात्रा-निमित्त ही कर्म करता है। ऐसा पुरुष यदि चारों ओर से भी कर्म में प्रवृत्त हो रहा हो, तो वह शरीर से सब कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ ही नहीं करता होता। अर्थात् वह ऊपर से कर्म का कर्त्ता तो दीखता है, परंतु वास्तव में वह अकर्त्ता और अभोक्ता ही होता है, क्योंकि कर्म में उसकी किसी प्रकार से (अभिमानरूप से अथवा फल की कामनारूप से) आसक्ति नहीं होती ॥ २० ॥*

संबंध—(१) कहे हुए को भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त तृप्तात्मा और निराश्रय पुरुष वास्तव में अकर्त्ता होने से कर्म के बंधन में नहीं फँसता, इसे भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निर्-आशीः, यत-चित्त-आत्मा	आशा-रहित वश किये चित्त, और आत्मावाला	† शारीरं, केवलं, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम्	केवल शरीर से कर्म करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता
त्यक्त-सर्व-परिग्रहः	सब परिग्रह (सकबूज़ात) को त्यागा हुआ		

---

* महाभारत (१४, १६, १३) में इस विषय पर यह श्लोक है—

“सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥”

अर्थ—जो सर्वप्रकार के संस्कारों (संकल्प-विकल्पों) से रहित है, द्वंद्वों से परे और परिग्रहरहित है और तप से इंद्रियों को अपने वश में किये हुए विचरता है, वही मुक्त नर है।

† “शारीरं केवलं कर्म” के अर्थ प्रायः केवल शरीर के निर्वाहमात्र

अन्वयार्थ—आशारहित, वश किये हुए चित्त और आत्मावाला, सब परिग्रह को त्यागा हुआ (पुरुष) केवल शरीर से कर्म करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सर्वप्रकार की आशा से रहित हो, अर्थात् जो स्वार्थबुद्धि से सर्वप्रकार के फलों की आशा, तथा लोक-परलोक के पदार्थों की इच्छा से रहित हो; अंतःकरण और शरीर जिसके वश में हों, अथवा जिसका चित्त अपने आत्मा के वश में हो, या जिसने मन और इंद्रियों को अपने अधीन किया हुआ हो; और जिसने विषय-भोग के सब साधनों (धन, भूमि, स्त्री इत्यादि, अथवा बंधनकारक सब वस्तुएँ वा मक़बूज़ात) के साथ अपना संबंध तोड़ रक्खा हो; ऐसा पुरुष यदि केवल शरीर से कर्म कर रहा हो, अर्थात् केवल शरीर संबंधीय या शरीर के निर्वाहनिमित्त कर्म कर रहा हो, अथवा कर्म का संग त्यागकर केवल शरीर द्वारा कोई कर्म कर रहा हो, तो उन कर्मों से उसे पाप नहीं लगता; अर्थात् ऐसे पुरुष के कर्म उसके लिए न कोई पाप उत्पन्न करते हैं, और न बंधन का ही हेतु होते हैं ॥ २१ ॥

संबंध—केवल मक़बूज़ात के त्यागने पर यह आवश्यक नहीं कि उसे

भिक्षाटन आदि कर्म ही होते हैं, पर ऐसे कर्मों से भी अभिप्राय यही है कि जो निरासक्त मन से, समत्वबुद्धि से और लोकोपकार के उद्देश्य से शरीर द्वारा किये जाते हैं। इसी को आगे (५, ११ में) भगवान् ऐसे कहते हैं कि "शरीर, मन और बुद्धि से बल्कि केवल इंद्रियों से भी योगी लोग कर्म का संग त्यागकर केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।"

कोई पाप न लगे, क्योंकि संभव है कि फिर वह उदरपूर्ण की तुच्छ इच्छाओं से प्रेरित होकर कुछ ऐसे यत्न करने लग जाय कि जिससे वह कर्म-बंधन में आ जाय। इस अनुमान वा भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् अपने उक्त कथन को अब और स्पष्ट करते हैं—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

यदृच्छा[1]-लाभ[2]- सन्तुष्टः[3]	यदृच्छा[1] लाभ[2] से संतुष्ट[3]	समः[4], सिद्धौ[1], असिद्धौ[3], च[2]	सिद्धि[1] और[2] असिद्धि[3] में सम[4]
द्वन्द्व[1]-अतीतः[2], वि[4]-मत्सरः[3]	द्वंद्व[1] से परे[2], ईर्ष्या[3] (वैर) रहित[4]	कृत्वा[1], अपि[2], न[3], निबध्यते[4]	(कर्म) करके[1] भी[2] वह नहीं[3] बद्ध[4] होता है

अन्वयार्थ—यदृच्छा* लाभ से संतुष्ट, द्वंद्वातीत, ईर्ष्यारहित और

---

* "यदृच्छालाभ" से यह तात्पर्य नहीं कि "मूर्खता से जड़ मूक आलसी बनकर, अथवा जान-बूझकर पुरुषार्थहीन (वा समस्त कर्मों से रहित) होकर, और पूर्ण उल्लू बनकर बैठे रहने से जो वस्तु प्राप्त हो।" इस प्रकार प्राप्त हुई वस्तु संतोष तो नहीं किंतु असंतोष और विषय-कामना उत्पन्न कर देती है। इसलिए तात्पर्य इस पद से यह है कि "स्वार्थ की इच्छा के बिना यत्न करने से या स्वतः जो प्राप्त हो, उस पर संतुष्ट होनेवाला"। अर्थात् जब पुरुष स्वार्थ-कामना न रखकर केवल शरीर-निर्वाहार्थ वा लोकसंग्रहार्थ कर्म कर रहा हो, उस निःस्वार्थ अवस्था में जो प्राप्त हो, अथवा बिना दौड़धूप और इच्छा के जो स्वतः प्राप्त हो, उस पर संतुष्ट रहनेवाला। वास्तव में गीता का रहस्य भी यही है कि जो स्वार्थ की कामना से कर्म किया जाता है, उसका फल असंतोष, विषय-कामना की वृद्धि और हर्ष-शोक वा सुख-दुःखरूपी द्वंद्वों की अधीनता बढ़ाता है। और जो निःस्वार्थबुद्धि वा निष्कामभाव से कर्म

सिद्धि-असिद्धि में सम पुरुष (कर्म) करके भी बंधायमान नहीं होता ॥ २२ ॥ *

व्याख्या—हे अर्जुन ! स्वतः वा विना इच्छा के प्राप्त हुई, अर्थात् दैवयोग से अथवा समयानुसार, या विना स्वार्थबुद्धि द्वारा यत्न के, वा विना स्वार्थकामना के प्राप्त हुई वस्तु पर संतोष करनेवाला; और उस स्वतः प्राप्त हुई वस्तु के कारण, अथवा किसी अन्य कारण से जब ये शीतोष्ण, सुख-दुःख इत्यादि द्वंद्व उठें, तो उन द्वंद्वों से किंचित्-मात्र भी चलायमान न होनेवाला, अर्थात् द्वंद्वों से परे टपा हुआ; ईर्ष्या (हसद) से रहित, अर्थात् निर्वैर; और कर्म की सिद्धि वा असिद्धि में एक समान रहनेवाला; अर्थात् लाभ-हानि और जीत-हार में एक समान चित्त रखनेवाला पुरुष जब कोई कर्म करने लगता है, तो

किया जाता है, उससे भी फल तो (सकाम कर्मवत्) प्राप्त होता है, परंतु वह फल संतोष, निष्कामता की वृद्धि, और सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से अचल और निराधीन अवस्था उत्पन्न करता है, और किसी प्रकार की लिपायमानता, आसक्ति और ईर्ष्या भी उस फल के भोगनेवाले में उत्पन्न होने नहीं पातीं। इसीलिए भगवान् ने "यदृच्छा-लाभसन्तुष्टः" के साथ 'द्वन्द्वातीतः', 'विमत्सरः' और 'समः सिद्धावसिद्धौ' विशेषण भी दिये हैं। और इसी निष्कामभाव और निरासक्ति से कर्म करने का परिणाम भी भगवान् स्वयं यहाँ अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

* इस पर महाभारत (१४, १६, ९) में ऐसे वर्णन है—

"न कस्यचित् स्पृहयते न च जानाति कञ्चनम् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥"

अर्थ—जो (अपने आत्मा से इतर) कुछ नहीं चाहता, कुछ नहीं जानता, निर्द्वंद्व और सबसे संगरहित है, वह नित्य मुक्त ही है।

वह करते हुए भी कर्म-बंधन में फँसने नहीं पाता, अर्थात् ऐसे पुरुष के कर्म उसे बंधायमान कदापि नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

संबंध—ऐसे पुरुषों के कर्म का परिणाम फिर क्या होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

गत-सङ्गस्य, मुक्तस्य	दूर हुए संगवाले मुक्त पुरुष का	यज्ञाय, आचरतः,	यज्ञार्थ आचरण करनेवाले का
ज्ञान-अवस्थित- चेतसः	ज्ञान में स्थित चित्तवाले का	कर्म, समग्रं, प्रविलीयते	समग्र कर्म विलीन हो जाता है

अन्वयार्थ—दूर हुए संगवाले, मुक्त, ज्ञान में स्थित चित्तवाले और यज्ञार्थ आचरण करनेवाले पुरुष का कर्म समग्र विलीन हो जाता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसकी कर्म तथा कर्मफल में किंचित् भी आसक्ति नहीं, अथवा जिसका मन लोक और परलोक के पदार्थों में नितांत आसक्त नहीं, बल्कि जो देहाध्यास, अर्थात् "मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ", इस प्रकार के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अध्यास से छूटा हुआ (मुक्त) है; या जो रागद्वेष, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों के संबंध से मुक्त (आज़ाद) है। जिसका चित्त अपने आत्मज्ञान में स्थित (टिका हुआ) है। और (आगे जो कहे जायँगे १२ प्रकार के यज्ञ केवल इन) यज्ञों की सिद्धि वा रक्षा के लिए जो कर्म करता है; अथवा "यज्ञो वै विष्णु" इत्यादि वाक्यों के

अनुसार केवल ईश्वरार्पणार्थ जो कर्म करता है। इस प्रकार जो पुरुष केवल यज्ञ-निमित्त कर्म (ईश्वरार्पण-निमित्त, लोगों के हित में या सर्व प्राणियों के भले और रक्षा के निमित्त कर्म) को भी विना किसी प्रकार की आसक्ति, स्वार्थकामना और राग-द्वेष के करता है। ऐसे महापुरुष का कर्म सहित फल के सारे का सारा विलीन हो जाता है। अर्थात् तत्त्व-ज्ञानरूप अग्नि के कारण उसकी कर्मवासना, जो बंधन का कारण होती है, नितांत नाश हो गई होती है। संक्षिप्त तात्पर्य यह कि उक्त विशेषणोंवाले * महात्मा के सब कर्म विना कोई बंधन उत्पन्न किये ही नितांत नाश हो जाते हैं, इसलिए ऐसा पुरुष कदापि कर्मबंधन में फँसने नहीं पाता। इसी आशय को भगवान् पहले (अध्याय ३, श्लो० ९ में) ऐसे स्पष्ट कर चुके हैं कि "यज्ञार्थ कर्मों के सिवाय अन्य सब कर्मों से यह लोक बंधन को प्राप्त होता है। इसलिए हे अर्जुन! तू कर्म के संग से रहित होकर केवल यज्ञार्थ कर्म कर।" इसी को अब दूसरे रूप से यहाँ दर्शाया है ॥ २३ ॥

संबंध—भला उक्त पुरुषों का कर्म क्यों विलीन हो जाता है? उक्त पुरुष कर्म करते हुए भी बंधन को क्यों प्राप्त नहीं होते? और क्यों ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं? इस रहस्य को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

---

* "गतसङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः" ये जो तीन पाद से तीन विशेषण कहे हैं। इनमें पूर्व-पूर्व विशेषण की सिद्धि में उत्तर-उत्तर विशेषण कारण है। क्योंकि विना आत्मज्ञान में निरंतर स्थितचित्त होने के देहाध्यास अथवा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अध्यास वास्तव में दूर होता नहीं। और विना अध्यास के दूर हुए कर्मों के साथ कर्तृत्व संबंध, अथवा उनकी फल-कामना का संबंध अथवा लोक-परलोक के पदार्थों में संग-दोष दूर होते ही नहीं। इसलिए ये तीनों विशेषण परस्पर कारण-कार्यभाव रखते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्म^1, अर्पणं^{2}, ब्रह्म^3, हविः^{4}	ब्रह्म^1 अर्पण^2 है, ब्रह्म^3 हवि^{4} है	ब्रह्म^1, एव^2, तेन^3, गन्तव्यं^{4}	ब्रह्म^1 ही^{2} उससे^{3} प्राप्त^4 होना है
ब्रह्म^1-अग्नौ^{2}, ब्रह्मणा^{3}, हुतम्^{4}	ब्रह्म^1 अग्नि^{2}में ब्रह्म^{3}से होम^4 किया गया है	ब्रह्म^1-कर्म^2- समाधिना^{3}	ब्रह्म^1-कर्म^2 में समाधि^{3} से

अन्वयार्थ — अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म से होम किया गया है, इस प्रकार ब्रह्मरूप कर्म में समाधान चित्त से ब्रह्म ही प्राप्त होगा ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त पुरुष को यज्ञ-कर्म भी बंधायमान इसलिए नहीं करते, बल्कि ऐसे कर्म करते हुए भी ज्ञानवान् पुरुष ब्रह्म (मुक्ति) को प्राप्त इसलिए होता है कि कर्म करते समय उसकी दृष्टि वा निश्चय में कर्त्ता, कर्म और करण सब ब्रह्म ही हुए होते हैं । अर्थात् उसके ध्यान में अर्पण (स्रुवादि करण जिससे आहुति दी जाती है) है तो ब्रह्म; हवि (घृत, तिल इत्यादि द्रव्य जो यज्ञाग्नि में डाले जाते हैं) है तो ब्रह्म; ब्रह्मरूप अग्नि में होता (होम करनेवाला) है तो ब्रह्म; और कर्म है तो ब्रह्म । इस प्रकार ब्रह्मरूप कर्म में ब्रह्मध्यान द्वारा चित्त की एकाग्रता वा निरोध से वह ज्ञानवान् अवश्य ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, और किंचित्-मात्र भी कर्म से लिपायमान व बंधायमान होने नहीं पाता । उलटा उसके कर्म सहित फल के नितांत यहीं विलीन हो जाते हैं ॥२४॥*

---

* इसी आशय को लिये हुए वेदों में ऐसे मंत्र आये हैं—"ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरगाश्मितो । अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मण्यन्तर्हितं

संबंध—सर्वत्र ब्रह्मदर्शन को यज्ञ का रूपक बाँधकर अब उसी ज्ञानयज्ञ की पुनः स्तुति करने के लिए तथा अन्य यज्ञों से उसकी श्रेष्ठता

हविः ॥ १ ॥ ब्रह्मस्रुवो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदि रुद्धिता । ब्रह्म यज्ञस्य तत्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । संमिताय स्वाहा ॥ २ ॥"=ब्रह्म होता है, ब्रह्म यज्ञ है, ब्रह्म से स्वर् (स्वर्लोक) को प्राप्त होता है । अध्वर्यु ब्रह्म से प्रकट होता है, ब्रह्म में हवि लीन होती है ॥ १ ॥ ब्रह्म ही घी वाला स्रुवा है, ब्रह्म से वेदि बनाई गई है, ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व है, और जो हवि बनानेवाले ऋत्विज् हैं, वे भी ब्रह्म ही हैं । सबका तद्रूप हुए ब्रह्म (अथवा सबके सदृश हुए ब्रह्म) के तईं स्वाहा ॥ २ ॥ (अथर्व १९ । ४२)

उक्त श्लोक का आशय इस श्रुति से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है—"ब्रह्मप्रतिष्ठा मनसो ब्रह्मवाचः ब्रह्म यज्ञानां हविषामाज्यस्य"=ब्रह्म प्रतिष्ठा है मन की, ब्रह्म ही वाणी की, ब्रह्म ही यज्ञों की, और ब्रह्म ही हवियों और आज्य की प्रतिष्ठा है । (तै० ब्राह्मण ; ३ । ७ । ११ । १) इस प्रकार जब कोई पुरुष अपना कर्म ब्रह्ममय बना लेता है, अर्थात् समस्त कर्म में ब्रह्म ही देखता है, तो उसका फल ब्रह्मप्राप्ति ही होता है, न कि संसार ; क्योंकि इस रीति से उसके चित्त की एकाग्रता, स्थिति वा समाधि ब्रह्मध्यान में है, अर्थात् अभेदता ब्रह्म से है, न कि नामरूप संसार से । और क्योंकि "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"=ब्रह्म का जाननेवाला ब्रह्म ही होता है, इसलिए वह सर्व व्यवहार में ब्रह्म देखनेवाला इन कर्मों द्वारा भी ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, अन्य दशा को नहीं । और दूसरे कर्मी लोग कर्म करते समय ऐसा ध्यान नहीं रखते, इसलिए वे नामरूप संसार को ही प्राप्त होते रहते हैं।

श्रीज्ञानदेवजी इस श्लोक की अपने निराले ढंग से ऐसे व्याख्या करते हैं—

उक्त पुरुष के कर्म क्यों विलीन हो जाते हैं ? कारण, "यह यज्ञ है और मैं यज्ञ-कर्त्ता हूँ, अथवा इस यज्ञ में यह भोगता है ।" इस प्रकार उसके बुद्धि की भिन्नता नहीं रहती । जिस इष्ट यज्ञ का वह हवन करता है,

दर्शान के आशय से भगवान् अन्य प्रकार के यज्ञों को भी ९ श्लोकों में अर्थात् श्लोक ३३ तक वर्णन करते हैं—

अथवा (२) सीधा ब्रह्म में लीन करानेवाले ब्रह्मयज्ञ को यथार्थ रूप से दर्शाकर अब भगवान् अधिकारी भेद से ब्रह्मप्राप्ति के उपाय भूत अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हैं कि जिससे अर्जुन को ब्रह्मयज्ञ और अन्य नाना प्रकार के यज्ञों में परस्पर भेद मालूम हो जाय, और ब्रह्मयज्ञ की महिमा प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाय—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दैवं[3], एवं[5], अपरे[1], यज्ञं[4], योगिनः[2], पर्यु- पासते[6]	कई[1] एक योगी[2] दैवं[3] यज्ञ[4] को ही[5] उपासते[6] हैं	ब्रह्म[2]-अग्नौ[3], अपरे[1], यज्ञं[4], यज्ञेन[5], एवं[6], उपजुह्वति[7]	दूसरे[1] ब्रह्म[2]ाग्नि[3] में यज्ञ[4] को यज्ञ[5] से ही[6] होमते[7] हैं

अन्वयार्थ——कई एक योगी * दैवयज्ञ को ही उपासते हैं, और

और जिस होम, मंत्र और द्रव्यों से यजन करता है, सो वह आत्मरूप जान अविनाशी समझता है । इसलिए हे धनुर्धर ! जो ब्रह्म सोई कर्म है, ऐसी जिसकी सम बुद्धि हो गई है, उसे कर्त्तव्य ही निष्कर्मता है ।

* यहाँ यह बात याद रखने योग्य है कि जो पुरुष आत्मोन्नति-निमित्त स्वार्थबुद्धि से दैवयज्ञ करनेवाले हैं, उनको भी भगवान् ने योगी कहा है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो लोग आत्मोन्नत्ति-निमित्त अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि के लिए अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मरूप से दैवयज्ञ करा करते थे, वे भी उन दिनों योगी माने जाते थे । और योगी माने क्यों न जायँ ? निष्कर्म योग को प्राप्त होनेवाले तो पहले ये सकामी

दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ * को यज्ञ से ही होमते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अग्नि, इंद्र, वायु आदिक देवता जिस कर्म से संतुष्ट किये जायँ, उसका नाम यहाँ दैवयज्ञ है। कई एक कर्मयोगी जो उक्त ब्रह्मदृष्टि से रहित हैं, और केवल आत्मशुद्धि के लिए यज्ञकर्म-परायण रहते हैं, वे देवताओं का आराधन करते हैं, और उनकी पुष्टि के लिए उनके लई उनका आहार देते हैं, अर्थात् दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ से वे अन्न, वृष्टि, पशु, पुत्रादि अर्थात् गृहस्थियों की अर्थ साधक वस्तुएँ और चित्तशुद्धिरूप फल पाते हैं । और दूसरे जो कर्म में ब्रह्मदृष्टि रखते हैं (जैसा कि पूर्व श्लोक में दर्शाया गया है), अथवा जो सकाम यज्ञ करते-करते अब निष्काम चित्त अर्थात् शुद्ध अंतःकरण हो गये हैं, वे ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ को ही होमते हैं; अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि में ब्रह्मरूप यज्ञ को ब्रह्मध्यानरूपी यज्ञकर्म से होमते हैं; अथवा ब्रह्मध्यानरूपी अग्नि में आत्मसमर्पण रूप यज्ञ को मन-बुद्धि अर्पित रूप यज्ञकर्म से होमते हैं; अर्थात्

(स्वार्थसिद्धि-निमित्त कर्म करनेवाले) योगी ही होते हैं, न कि उल्लू बनकर बैठनेवाले अज्ञानी और आलसी पुरुष । आलस्य-अवस्था तो कर्म-रहित दशा (Lawlessness state) है, और कर्म-अवस्था कर्मपथपरायण (Lawful state, or state through Laws) है, और निष्कर्म-अवस्था (beyond Laws) अकर्म है । यह नियम है कि आलसी पुरुष इस कर्म-अवस्था द्वारा ही निष्कर्म वा निष्काम-अवस्था को प्राप्त होता है (From Lawlessness, through Laws and then beyond Laws) । इसलिए स्वार्थसिद्धि-निमित्त कर्म करनेवाला कर्मी पुरुष निःस्वार्थ-अवस्था की प्राप्ति का प्रथम अधिकारी होने से योगी नाम से कहा गया है ।

* यज्ञ शब्द के अर्थ श्रीशंकराचार्य ने यहाँ आत्मा के लिए हैं ।

अपने आपका अपने आपमें अपने आत्मिक बल से हवन करते हैं, जिससे वे ब्रह्मप्राप्तिरूप फल को पाते हैं ॥ २५ ॥ *

---

* इस श्लोक में भगवान् ने दो प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं जो पूर्वोक्त ब्रह्मकर्मरूप यज्ञ से भिन्न समझे जाते हैं। पहला यज्ञ जो दैवयज्ञ नाम से वर्णन किया है उससे अभिप्राय वह श्रौतयज्ञ है कि जो देवताओं की पुष्टि के निमित्त किया जाता है, जिसके करने से गृहस्थियों को अर्थसाधक वस्तुओं की वृद्धि व चित्तशुद्धि होती है। अथवा "देव इज्यते येन तद्दैवं।' दैवयज्ञ वह है जिससे देवता अर्थात् अग्नि, इंद्र, वायु आदि साकार देवता की उपासना की जाती है, और जिस उपासना का उद्देश्य वा फल केवल चित्तशुद्धि है। दूसरा यज्ञ जो ब्रह्माग्नि में किया जाता कहा गया है, उक्त दैवयज्ञ से एक रीति से तो कुछ-कुछ भिन्न है, और दूसरी रीति से नितांत भिन्न है। जब उक्त श्रौतयज्ञ इस रीति से किया जाता है कि उसमें न केवल इंद्र आदि साकार देवताओं का ही आवाहन होता है किंतु उन द्वारा निराकार ब्रह्म का भी आवाहन होता है, अर्थात् (पहले) श्रौतयज्ञ में तो केवल स्वार्थसिद्धि व चित्तशुद्धि के लिए साकार देवताओं की ही उपासना होती है, और इस (दूसरे) श्रौतयज्ञ में ब्रह्मप्राप्ति-निमित्त इंद्र आदि देवताओं द्वारा निराकार ब्रह्म की उपासना होती है, तो वह ब्रह्मयज्ञ कहलाता है, क्योंकि इस विधि से ब्रह्म वा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती मानी जाती है। और इस यज्ञ द्वारा ऐसा ध्यान बाँधा जाता है कि—

"आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥"

जैसे आकाश से जो जल गिरता (बरसता) है, वह सबका सब समुद्र में चला जाता है, वैसे सब देवताओं के तईं किया हुआ नमस्कार अंत में विष्णु भगवान् को पहुँच जाता है। क्योंकि इस यज्ञ वा ध्यान से निराकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिस ब्रह्मप्राप्ति रूप ज्ञान को शास्त्र अग्नि के तुल्य महिमा देते हैं, इसलिए इस यज्ञ में भगवान् ने यज्ञ को यज्ञ से ब्रह्माग्नि में होम किया गया कहा है। इस रीति से ये दोनों हैं तो श्रौतयज्ञ,

दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ * को यज्ञ से ही होमते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अग्नि, इंद्र, वायु आदिक देवता जिस कर्म से संतुष्ट किये जायँ, उसका नाम यहाँ दैवयज्ञ है। कई एक कर्मयोगी जो उक्त ब्रह्मदृष्टि से रहित हैं, और केवल आत्मशुद्धि के लिए यज्ञकर्म-परायण रहते हैं, वे देवताओं का आराधन करते हैं, और उनकी पुष्टि के लिए उनके लई उनका आहार देते हैं, अर्थात् दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ से वे अन्न, वृष्टि, पशु, पुत्रादि अर्थात् गृहस्थियों की अर्थ साधक वस्तुएँ और चित्तशुद्धिरूप फल पाते हैं। और दूसरे जो कर्म में ब्रह्मदृष्टि रखते हैं (जैसा कि पूर्व श्लोक में दर्शाया गया है), अथवा जो सकाम यज्ञ करते-करते अब निष्काम चित्त अर्थात् शुद्ध अंतःकरण हो गये हैं, वे ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ को ही होमते हैं; अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि में ब्रह्मरूप यज्ञ को ब्रह्मध्यानरूपी यज्ञकर्म से होमते हैं; अथवा ब्रह्मध्यानरूपी अग्नि में आत्मसमर्पण रूप यज्ञ को मन-बुद्धि अर्पित रूप यज्ञकर्म से होमते हैं; अर्थात्

(स्वार्थसिद्धि-निमित्त कर्म करनेवाले) योगी ही होते हैं, न कि उल्लू बनकर बैठनेवाले अज्ञानी और आलसी पुरुष। आलस्य-अवस्था तो कर्म-रहित दशा (Lawlessness state) है, और कर्म-अवस्था कर्मपथपरायण (Lawful state, or state through Laws) है, और निष्कर्म-अवस्था (beyond Laws) अकर्म है। यह नियम है कि आलसी पुरुष इस कर्म-अवस्था द्वारा ही निष्कर्म वा निष्काम-अवस्था को प्राप्त होता है (From Lawlessness, through Laws and then beyond Laws)। इसलिए स्वार्थसिद्धि-निमित्त कर्म करनेवाला कर्मी पुरुष निःस्वार्थ-अवस्था की प्राप्ति का प्रथम अधिकारी होने से योगी नाम से कहा गया है।

* यज्ञ शब्द के अर्थ श्रीशंकराचार्य ने यहाँ आत्मा के लिए हैं।

अपने आपका अपने आपमें अपने आत्मिक बल से हवन करते हैं, जिससे वे ब्रह्मप्राप्तिरूप फल को पाते हैं ॥ २५ ॥ *

---

* इस श्लोक में भगवान् ने दो प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं जो पूर्वोक्त ब्रह्मकर्मरूप यज्ञ से भिन्न समझे जाते हैं। पहला यज्ञ जो दैवयज्ञ नाम से वर्णन किया है उससे अभिप्राय वह श्रौतयज्ञ है कि जो देवताओं की पुष्टि के निमित्त किया जाता है, जिसके करने से गृहस्थियों की अर्थसाधक वस्तुओं की वृद्धि व चित्तशुद्धि होती है। अथवा "देव इज्यते येन तद्दैवं।' दैवयज्ञ वह है जिससे देवता अर्थात् अग्नि, इंद्र, वायु आदि साकार देवता की उपासना की जाती है, और जिस उपासना का उद्देश्य वा फल केवल चित्तशुद्धि है। दूसरा यज्ञ जो ब्रह्माग्नि में किया जाता कहा गया है, उक्त दैवयज्ञ से एक रीति से तो कुछ-कुछ भिन्न है, और दूसरी रीति से नितांत भिन्न है। जब उक्त श्रौतयज्ञ इस रीति से किया जाता है कि उसमें न केवल इंद्र आदि साकार देवताओं का ही आवाहन होता है किंतु उन द्वारा निराकार ब्रह्म का भी आवाहन होता है, अर्थात् (पहले) श्रौतयज्ञ में तो केवल स्वार्थसिद्धि व चित्तशुद्धि के लिए साकार देवताओं की ही उपासना होती है, और इस (दूसरे) श्रौतयज्ञ में ब्रह्मप्राप्ति-निमित्त इंद्र आदि देवताओं द्वारा निराकार ब्रह्म की उपासना होती है, तो वह ब्रह्मयज्ञ कहलाता है, क्योंकि इस विधि से ब्रह्म वा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती मानी जाती है। और इस यज्ञ द्वारा ऐसा ध्यान बाँधा जाता है कि—

"आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥"

जैसे आकाश से जो जल गिरता (बरसता) है, वह सबका सब समुद्र में चला जाता है, वैसे सब देवताओं के तईं किया हुआ नमस्कार अंत में विष्णु भगवान् को पहुँच जाता है। क्योंकि इस यज्ञ वा ध्यान से निराकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिस ब्रह्मप्राप्ति रूप ज्ञान को शास्त्र अग्नि के तुल्य महिमा देते हैं, इसलिए इस यज्ञ में भगवान् ने यज्ञ को यज्ञ से ब्रह्माग्नि में होम किया गया कहा है। इस रीति से ये दोनों हैं तो श्रौतयज्ञ,

और—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

जिससे परस्पर एक समान हैं; पर भेद इनमें इतना है कि एक से तो स्वार्थसिद्धि अर्थात् स्वर्गादि भोगों व चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है, और दूसरे से ब्रह्मप्राप्ति वा ब्रह्मलोक की प्राप्ति; एक में तो साकार देवताओं की उपासना होती है, और दूसरे में निराकार परमात्मदेव, अर्थात् ब्रह्म, की । दूसरी रीति से यज्ञ शब्द के अर्थ आत्मा के हैं, जैसे कि निरुक्त के कर्त्ता श्रीयास्काचार्य ने किये हैं । यह आत्मा ही ब्रह्म है जो “आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” इत्यादि वाक्यों से स्वतः प्रकाशरूप होने के कारण अग्निरूप वर्णन किया जाता है । उस ब्रह्मरूप अग्नि में कई लोग आत्मा को समर्पण करते हैं, अर्थात् आत्मसमर्पण रूप यज्ञ को करते हैं । इसमें केवल आत्मा ही का काम है, बाहर के और काम इसमें कुछ करने नहीं पड़ते । अर्थात् इस यज्ञ में ब्रह्म-ध्यानरूप अग्नि है जिसमें मन-बुद्धिरूप आत्मा की आहुति दी जाती है, श्रौतयज्ञ के समान लकड़ियों की अग्नि नहीं जिसमें कि द्रव्यों की आहुति की जाती है । इसलिए यह यज्ञ उक्त श्रौतयज्ञ अर्थात् दैवयज्ञ से नितांत भिन्न है ।

यदि यज्ञ शब्द के साधारण अर्थ भी लिये जायँ, तो भी अंत में यही अर्थ होते हैं । ऊपर जो दैवयज्ञ वर्णन हुआ है, उससे स्पष्ट है कि साधारण यज्ञ करते-करते मन की शुद्धि होती है । और मन (अंतःकरण) की शुद्धि से पुरुष ज्ञान का अधिकारी होता है, जिस ज्ञान के पाने पर पुरुष नितांत निष्काम चित्त हो जाता है । इस प्रकार जब स्वार्थसिद्धि की समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं, और पुरुष ज्ञानारूढ़ हो जाता है, तो फिर उसे स्वार्थबुद्धि से कर्मों (यज्ञों) की आवश्यकता नहीं रहती । मानों यज्ञ ही फिर ब्रह्माग्नि, अर्थात् ज्ञान, में उक्त दैवयज्ञ द्वारा समाप्त हो जाता है, वही यहाँ हवन है । (इससे आगे का फ़ुटनोट पृष्ठ ५२३ पर देखो)

श्रोत्र^{1}-आदीनि^{2}, इन्द्रियाणि^{3}	श्रोत्र^{1} आदि^{2} इंद्रियों^{3} को
अन्ये^{1}, संयम^{2}-अग्निषु^{3}, जुह्वति^{4}	कई^{1} एक संयम^{2}रूपी अग्नियों^{3} में होमते^{4} हैं
शब्द^{2}-आदीन्^{3}, विषयान्^{4}, अन्ये^{1}	कई^{1} एक शब्द^{2} आदि^{3} विषयों^{4} को
इन्द्रिय^{1}-अग्निषु^{2}, जुह्वति^{3}	इन्द्रिय^{1}रूपी अग्नियों^{2} में होमते^{3} हैं

इसी आशय को लेकर श्रीशंकराचार्य वा अन्य कई एक टीकाकारों ने इस यज्ञ की ऐसे व्याख्या की है कि "कर्मयज्ञ को कहकर अब अंतःकरण की शुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाला (कर्मयज्ञ का फलभूत) जो ज्ञानयज्ञ है उसे भगवान् ऐसे वर्णन करते हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २, १) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३, ९, २८) इत्यादि श्रुतियों से वर्णित जो तत्पदार्थरूप ब्रह्म है, वह (साक्षात्कार होने पर) सब काम्य कर्मों (वा स्वार्थ कामनाओं) का दाहक होने से अग्नि के समान अग्निरूप है, उस ब्रह्माग्नि में कई एक तत्ववेत्ता त्वंपदार्थरूप प्रत्यक् आत्मा (वा परिच्छिन्न अपने आप) को अभिन्न रूप से होम करते हैं, अर्थात् त्वंपदार्थरूप प्रत्यक् आत्मा को तत्पदार्थरूप ब्रह्म करके अनुभव करते हैं । इस प्रकार यज्ञ से यज्ञ को ब्रह्माग्नि में होमते हैं ।"

इस ब्रह्मयज्ञ पर श्रीतिलक महाराज अपना विचार ऐसे प्रकट करते हैं—"पुरुषसूक्त में विराटरूपी यज्ञ-पुरुष के, देवताओं द्वारा, यजन होने का जो वर्णन है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० १०, ९०, १६), उसी को लक्ष्य कर इस श्लोक २५ का उत्तरार्ध कहा गया है । 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेद के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' से समानार्थक ही देख पड़ते हैं । प्रकट है कि इस यज्ञ में, जो सृष्टि के आरंभ में हुआ था, जिस विराटरूपी पशु का हवन किया गया था, वह पशु, और जिस देवता का यजन किया गया था वह देवता, ये दोनों ब्रह्मस्वरूपी होंगे । सारांश, चौबीसवें श्लोक का यह वर्णन ही तत्त्व-दृष्टि से ठीक है कि सृष्टि के सब पदार्थों में सदैव ही ब्रह्म भरा हुआ है, इस कारण इच्छारहित

अन्वयार्थ—कई एक श्रोत्रादि इंद्रियों को संयमरूपी अग्नियों में होमते हैं। और कई एक शब्दादि विषयों को इंद्रियरूपी अग्नियों में होमते हैं॥ २६ ॥

व्याख्या—कई पुरुष प्रत्याहार-परायण होकर चक्षु-श्रोत्रादि पंच ज्ञानेंद्रियों को विषयों से हटाकर उन्हें संयमरूपी * अग्नियों में होमते हैं, अर्थात् इंद्रियों को अपने वश में करते हैं; और इस प्रकार इंद्रियों को अपने वश में रखना होम कहलाता है। अथवा † धारणा, ध्यान और समाधि, योग के इन तीन

बुद्धि से सब व्यवहार करते-करते ब्रह्म से ही सदा ब्रह्म का यजन होता रहता है, केवल बुद्धि वैसी होनी चाहिए। पुरुषसूक्त को लक्ष्य कर गीता में यही एक श्लोक नहीं है, प्रत्युत आगे दसवें अध्याय (१०, ४२) में भी इस सूक्त के अनुसार वर्णन है।

* प्रत्येक इंद्रिय में संयम का भेद होने से, अथवा धारणा, ध्यानादि संयमों के भेद से "संयमाग्निषु" संयम अग्नियाँ करके बहुवचन दिया है।

† (१) धारणा=किसी विषय में उसका विचारपूर्वक ज्ञान उत्पन्न करने के लिए हृदय स्थान में जो चित्त का चिरकाल तक स्थापन करना है, उसे धारणा कहते हैं।

(२) ध्यान=इस प्रकार धारण किये हुए चित्त की भगवत्-आकार सजातीय वृत्तियों का प्रवाह ध्यान कहलाता है। अथवा धारणा से जो किसी विषय में विचार द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसी तत्त्व पर धारण किये हुए चित्त का लगातार लगना अर्थात् मनन वा चिंतन करना ध्यान कहलाता है।

(३) समाधि=तत्त्व के ध्यान में डूब जाना जिससे वह तत्त्व खुल जाय, अर्थात् साक्षात्कार हो जाय, समाधि कहलाता है। इस समाधि के दो भेद हैं, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात।

(क) संप्रज्ञात=चित्त की तत्त्व के ध्यान में ऐसी एकाग्रता कि जिसमें

पिछले अंगों को संयम कहते हैं; इन तीनों में इंद्रियों का लय करना संयमरूपी अग्नियों में होम करना है, कई एक ऐसा यज्ञ करते हैं। और कई एक इसके विरुद्ध शब्द-स्पर्शादि विषयों को इंद्रियों की अग्नि में होमते हैं, अर्थात् इंद्रियों को शास्त्रोक्त विषयों में लगाते हैं, जिससे विषय तो भोगते हैं; परंतु चित्त पर उन विषयों का किंचित् प्रभाव नहीं पड़ने देते, जिससे विषयों के वश इंद्रियों को नहीं होने देते, और विषयों का प्रभाव इंद्रियों से आगे (चित्त तक) न बढ़ने के कारण, अर्थात् इंद्रियों तक ही रहने के कारण, वे विषय मानों इंद्रियों में ही स्वाहा होते हैं। अथवा नाना पुरुषों की इंद्रियों के योग्य विषयों को उनकी इंद्रियों के अर्पण करते हैं, अर्थात् नाना पुरुषों को योग्य भोजन देते हैं, जिससे भारी यज्ञ करते हैं। इस प्रकार विषयों के वश में न होकर इंद्रियों से विषय भोगना, अथवा औरों की इंद्रियों को भोजन देना भी यज्ञ है, जो भगवान् ने चौथा वर्णन किया है ॥ २६ ॥ *

ध्येयाकार वृत्ति का लोप न हो, उस अवस्था का नाम संप्रज्ञात समाधि होता है।

(ख) असंप्रज्ञात=जिस एकाग्रता में ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाय, उस अवस्था का नाम असंप्रज्ञात समाधि होता है।

* तात्पर्य इस सबका यह है कि ये जो पाँच कर्मेंद्रियाँ और पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं, साधारणतः इनका झुकाव विषयों की ओर ही होता है, जिससे ये दो काम देती हैं; एक यह कि इनके द्वारा ब्रह्मांड जाना जाय, और दूसरा यह कि नित्यप्रति विषयों के परिचय या भोग से ये मन को सुख पहुँचायें। संसार में बहुधा दूसरा काम ही इंद्रियों से लिया जाता है, जो अंत में बड़ी बुराइयों का कारण होता है। इस काम से इंद्रियाँ चित्त को विषयों का दास कर देती हैं और आत्मोन्नति की जड़ काट डालती हैं। परंतु जो पहला काम (इंद्रियों द्वारा विषयों के तत्त्व जानने का) है,

और—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

उससे चित्त संकल्प वा विचारशक्ति द्वारा नये-नये नमूने ब्रह्मांड के उत्पन्न कर लेता है, जिससे विषयों का यथार्थ ज्ञान होने से न चित्त उन विषयों का दास होने पाता है और न उसे कुछ फिर कर्त्तव्य ही बाक़ी रहता है। यह ध्यान, जिससे इंद्रियों का और इंद्रियों द्वारा विषयों का तत्त्व जाना जाय, संयम कहलाता है। इस संयम का यह परिणाम होता है कि इंद्रियाँ विषयों के रस बढ़ाने का काम करने के योग्य नहीं रहतीं। यही उनकी (सांसारिक) शक्ति का संयम की अग्नि में होम है।

यह तो रहा इंद्रियों का तत्त्व। अब विषयों का तत्त्व यह है कि इनके संयोग से इंद्रियों की अग्नि की तृप्ति और उससे सुख की प्राप्ति होती है। यदि यह समझ लिया जाय कि ये शब्द-स्पर्शादि विषय इंद्रियों के लिए सुख के द्वार हैं तो इस समझ से ये विषय इंद्रियों को अपना दास बना लेते हैं। और इंद्रियाँ अपना ठीक-ठीक काम करने के योग्य नहीं रहतीं। इस रीति से तो इंद्रियाँ विषयों की अग्नि में होम होती हैं, न कि इंद्रियों की अग्नि में विषय। परंतु जब इस समझ को दूर करके विषय-वासना के प्रचार को रोका जाय, तो इंद्रियाँ विषयों की दास नहीं होतीं, और फिर स्वाभाविक नियम से तत्त्वज्ञान की ओर ही झुकती हैं। इस रीति से विषय भोगते हुए भी इंद्रियों का विषयों के वश में न आना मानों इंद्रियों की अग्नि में विषयों का होम होना है। इस विधि से इंद्रियों की शक्ति आत्मज्ञान में सहायता देने के लिए तो बढ़ती है पर विषयों की ग़ुलामी से छुड़ाती है।

इस रहस्य के दर्शाने का उदाहरण पुस्तकों में ऐसा आया है कि "एक दिन एक पाठशाला के दो विद्यार्थियों को आधे दिन की छुट्टी जंगल की सैर करने के लिए दी गई। जब वे सैर से वापस आये, तो गुरु ने उनसे

सर्वाणि^{२}, इन्द्रिय^{३}-कर्माणि^{४}, प्राण^{६}-कर्माणि^{७}, च^{५}, अपरे^{१}	कई^{१} एक सारे^{२} इन्द्रियों^{३} के कर्मों^{४} और^{५} प्राण^{६}-कर्मों^{७} को	आत्म^{३}-संयम^{४}-योग^{५}-अग्नौ^{६}, जुह्वति^{७}, ज्ञान^{१}-दीपिते^{२}	ज्ञान^{१} से प्रज्वलित^{२} आत्म^{३} संयम^{४}-रूपी योग^{५} की अग्नि^{६} में होमते^{७} हैं

अन्वयार्थ—और कई एक सर्व इंद्रिय-कर्मों तथा प्राण-कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या—इस श्लोक से तीन आशय प्रकट होते हैं, जो अपने-अपने स्थान पर सब ठीक बैठते हैं—

(१) पहला आशय यह है कि सदसत् के विवेक द्वारा अपने आपको, अर्थात् अपने मन, बुद्धि इत्यादि को वश में करने से शुद्ध अंतःकरण में जो परोऽत्तज्ञान वा संप्रज्ञात समाधि होती है, और उस (परोऽत्तज्ञान वा संप्रज्ञात समाधि) में चित्तवृत्ति

सैर का हाल पूछा । एक ने सारा हाल जंगल का कह सुनाया । जो वृक्ष-लता, पुष्प इत्यादि देखे थे, सब सविस्तर कह सुनाये । दूसरे से कुछ न कहा गया । यद्यपि उसने भी सब वे ही वस्तुएँ देखी थीं, परंतु वह कुछ न बता सका । कारण इसका यह है कि पहले विद्यार्थी ने विषयों को इंद्रियों की अग्नि में हवन कर दिया था जिससे उसका चित्त विवेक की ओर झुका रहा, और वस्तु के ज्ञान में उसे सहायता देता रहा । दूसरे का चित्त विषयों का दास हो रहा था । उसने यद्यपि सब वस्तुएँ देखीं, परंतु देखने से केवल इतना ही हुआ कि उसका चित्त प्रसन्न तो हो गया, पर इससे आगे उसे कुछ विवेक न हुआ । बस, योगी और साधारण मनुष्यों में इतना ही भेद है ।

के पूर्ण स्थिर तथा अत्यंत निरुद्ध होने से जो अपरोऽक्षज्ञान वा असंप्रज्ञात समाधि होजाती है, उसको ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम योगाग्नि कहते हैं, इस आत्म-संयमरूपी योगाग्नि के प्रचंड होने पर सारे इंद्रियों के कर्म तो भस्मीभूत हो जाते हैं, और प्राणों के कर्म शिथिल पड़ जाते हैं। अर्थात् जैसे सर्वसाधारण पुरुष यहाँ जीने की इच्छा तथा अर्थों की इच्छा के अधीन होकर श्वासादि लेते और कर्म करते रहते हैं (जिससे इंद्रियों और प्राणों के कर्मों को वे इच्छारूपी अग्नि में होमते हैं), ऐसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं करते। उनके भीतर तो ज्ञानाग्नि के प्रचंड होने पर लोक-परलोक की इच्छा तथा जीने की भी इच्छा जाती रहती है। यदि वे कर्म करते हैं तो स्वाभाविक, या भगवत्-निमित्त, अथवा लोगों के कल्याण-निमित्त करते हैं; यदि वे प्राण लेते हैं तो जीने की इच्छा से नहीं, किंतु प्रारब्धानुसार स्वाभाविक लेते हैं; और संसार वा जीने से इतने उपराम हुए होते हैं कि शरीर छूटने की घड़ी की बाट ताकते रहते हैं। ऐसे महात्मा के मरने पर प्राण उत्क्रांत नहीं होते बल्कि समष्टि प्राणों में लीन हो जाते हैं, और न उनके कर्म पुनर्जन्म बनाते हैं, बल्कि जो कुछ वे करते हैं, वे सब ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं, क्योंकि कर्म के समय उनके भीतर कोई कर्तृत्वादि भाव नहीं होता बल्कि हृदय में दृढ़ निश्चय वा ज्ञान यह होता है कि "मैं अजन्मा, अविनाशी, अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी हूँ"। इस प्रकार कई एक महात्मा आत्मज्ञान से प्रचंड की हुई आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में इंद्रियों के और प्राणों के कर्मों को होमते रहते हैं।

(२) दूसरा आशय यह है कि आत्मा में जो संयम, अर्थात् ज्ञानेंद्रियों का मन के वश करना है, और फिर समत्वबुद्धि द्वारा जो कर्मेंद्रियों से कर्म में युक्त होना है, वही आत्म-संयम-योगाग्नि

है। और समत्वबुद्धि से कर्म करते समय जो यह भाव कि "मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी आत्मा हूँ," चित्त में आता है, यह आत्मा के विवेक वा ज्ञानाग्नि से ही प्रचंड होता है। अथवा कर्म की सिद्धि-असिद्धि में समताभाव (समत्वबुद्धि) रूप अग्नि आत्मा के (अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षीरूप) ज्ञान से ही प्रज्वलित होती है, इसलिए इस आत्म-संयम-योगाग्नि को ज्ञानाग्नि से प्रज्वलित हुई कहा है। इस प्रकार जो पुरुष ज्ञानेंद्रियों को अपने वश करके चित्त में यह भाव रखकर कि "मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग आत्मा हूँ" समत्वबुद्धि और निरासक्त मन से कर्मेंद्रियों द्वारा कर्म करता है और प्राणों द्वारा श्वासादि लेता है, वह मानों इंद्रियों के कर्मों और प्राणों के कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में हवन करता है; क्योंकि ऐसे कर्मयोगी के समस्त कर्म वहीं लीन हो जाते हैं, किसी प्रकार के पुनर्जन्म का हेतु नहीं बनते।

(३) तीसरा आशय यह है कि संपूर्ण कर्मेंद्रियाँ तथा ज्ञानेंद्रियाँ मन के आश्रय अपना सारा व्यवहार करती हैं, इसलिए मन ही इनके रोकने (दमन करने) का द्वार है। जो ध्यानयोगी पुरुष आत्म-साक्षात्कार के यत्न में लगे हुए हैं, वे पहले इन दस इंद्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर मन द्वारा दमन करते हैं। फिर मन को अंतर्मुख करते हैं, अर्थात् वाह्य विषयों से हटाकर मन को आत्मचिंतन में लगाते हैं, जिस पर मन शांत अर्थात् साम्यावस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार इंद्रियों के दमन द्वारा मन के शुद्ध और शांत होने पर चित्तवृत्ति अपने स्वरूप के ध्यान में एकाग्र और आरूढ़ होने लग जाती है। जब वृत्ति पूर्ण एकाग्र, ध्येयाकार और आरूढ़ होती है, तो उस अवस्था को संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में इंद्रियाँ तो रुकी

हुई होती हैं, चित्त समता और एकाग्रता भाव को प्राप्त हुआ होता है, और ध्याता ध्यान ध्येय तीनों बने रहते हैं, परंतु पाँचों प्राण अपने-अपने व्यापार से अभी बंद नहीं पड़ते। जब यह संप्रज्ञात समाधि बढ़ते-बढ़ते असंप्रज्ञात समाधि में बदलती है, तो चित्त इतना निरोधावस्था को प्राप्त हो जाता है कि यह ध्येयाकार वृत्ति (वा त्रपुटि) भी जाती रहती है, और उस समय पाँचों प्राणों के व्यवहार भी कुछ रुक जाते हैं। इस अवस्था में तो एक आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञानाग्नि ही प्रचंड हुई होती है जिसमें सारी इंद्रियाँ और प्राण सहित अपने व्यापार के लय हुए होते हैं। यह आत्मानुभवरूपी ज्ञानाग्नि क्योंकि अपनी इंद्रियों, मन इत्यादि के रोकने से, अर्थात् अपने आप को अपने बल से अपने वश में करने से और फिर स्वरूप के ध्यान में दृढ़ युक्त होने से प्रज्वलित होती है, इसलिए इसको आत्म-संयम-योगाग्नि कहा है। इसी आत्म-संयमरूपी योगाग्नि का सविस्तर वर्णन भगवान् ने आगे छठे और अठारहवें अध्याय में स्वयं किया है। यहाँ केवल उदाहरणमात्र से वे ऐसा कहते हैं कि कई पुरुष सारी इंद्रियों के (देखना, सुनना तथा गमनागमन इत्यादि) कर्मों को और प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच प्राणों के (वहिर्गमन, अधोगमन, आकुञ्चन, प्रसारणादि) कर्मों को आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में, जो ज्ञान से प्रज्वलित हुई है, स्वाहा करते हैं। अर्थात् स्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त होने से जो आत्मसाक्षात्काररूपी योगाग्नि * प्रचंड होती है,

---

* मूर्च्छाकाल, मृत्यु और केवल हठयोग की समाधि में भी मनुष्य की इंद्रियाँ और प्राणों के व्यापार बंद से पड़ जाते हैं, और आत्मानुभवी पुरुष की समाधिस्थावस्था के समान सब व्यापार रुके हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए बाहर से ये दोनों अवस्थाएँ एक समान दिखाई देती हैं, परंतु भीतर

उसमें सब प्राणों और इंद्रियों के समस्त व्यापारों को लय करते वा होमते हैं ॥ २७ ॥ *

और—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्य^{1}-यज्ञाः^{2}, तप^{3}ः, यज्ञाः^{4}	द्रव्य^{1} यज्ञवाले^{2}, तप^{3} यज्ञवाले^{4}	स्वाध्याय^{1}-ज्ञान^{3}- यज्ञाः^{4}, च^{2}	स्वाध्याय^{1} और^{2} ज्ञान^{3} यज्ञवाले^{4}
योग^{3}-यज्ञाः^{4} तथा^{1}, अपरे^{2}	ऐसे^{1} कई और^{2} योग^{3} यज्ञवाले^{4}	यतयः^{1}, संशित^{2}- व्रताः^{3}	ये यति^{1} तीक्ष्ण^{2} व्रतवाले^{3} हैं

से यह भेद है कि आत्मानुभवी पुरुष की इंद्रियों तथा प्राणों के व्यापार तो केवल आत्मसाक्षात्कार के समय बंद पड़ते हैं, अर्थात् ज्ञानाग्नि में स्वाहा वा लय हुए होते हैं; और अन्य पुरुषों के केवल अज्ञान में। इसलिए इस अग्नि को ज्ञान से प्रज्वलित हुई कहा है।

* प्रसिद्ध महाशय तिलकजी इन दो श्लोकों (२६, २७) पर अपने निराले ढंग की व्याख्या ऐसे करते हैं कि—"इन श्लोकों में दो-तीन प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन है; जैसे (१) इंद्रियों का संयमन करना, अर्थात् उनको योग्य मर्यादा के भीतर अपने-अपने व्यवहार करने देना; (२) इंद्रियों के विषय अर्थात् उपभोग के पदार्थ सर्वथा छोड़कर इंद्रियों को बिलकुल मार डालना; (३) न केवल इंद्रियों के व्यापार को, प्रत्युत प्राणों के भी व्यापार को बंद कर पूरी समाधि लगा करके केवल आत्मानंद में ही मग्न रहना। अब इन्हें यज्ञ की उपमा दी जाय, तो पहले भेद में इंद्रियों को मर्यादित करने की क्रिया (संयमन) अग्नि हुई, क्योंकि दृष्टांत से यह कहा जा सकता है कि इस मर्यादा के भीतर जो कुछ आ जाय, उसका उसमें हवन हो गया। इसी प्रकार दूसरे भेद में साक्षात् इंद्रियाँ होम-द्रव्य हैं, और

पहला अन्वयार्थ---ऐसे ही कई एक तीक्ष्ण व्रतोंवाले यति द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

दूसरा अन्वयार्थ---इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले यति (संयमी) पुरुष कोई द्रव्य-यज्ञ, कोई तप-यज्ञ, कोई योग-यज्ञ, कोई स्वाध्याय-यज्ञ और कोई ज्ञान-यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

तीसरा अन्वयार्थ---ऐसे ही कई एक द्रव्ययज्ञवाले, तपयज्ञवाले, योगयज्ञवाले, स्वाध्याययज्ञवाले और ज्ञानयज्ञवाले हैं। (ये सब) तीक्ष्ण व्रतोंवाले यति हैं ॥ २८ ॥

चौथा अन्वयार्थ---इस प्रकार कई एक पुरुष द्रव्य-यज्ञ, कई एक तप-यज्ञ, कई एक योग-यज्ञ, कई एक स्वाध्याय-यज्ञ, कई एक ज्ञान-यज्ञ और कई एक यत्नशील पुरुष अत्यंत दृढ़ व्रतरूप यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

पाँचवाँ अन्वयार्थ---इस प्रकार कोई एक द्रव्ययज्ञ, कोई एक तपयज्ञ और कोई एक योगयज्ञ करते हैं। और तीक्ष्ण व्रतवाले यति लोग स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥*

तीसरे भेद में इंद्रियाँ एवं प्राण दोनों मिलकर होम करने के द्रव्य हो जाते हैं, और आत्मसंयम आग है।"

* ये पाँचों अन्वयार्थ अभिप्राय रूप से तथा व्याकरण से अपने-अपने स्थान पर ठीक बैठते हैं; केवल पहले और तीसरे अर्थ बहुत टीकाकारों ने दिये हैं, परंतु दूसरे, चौथे और पाँचवें अर्थ उनकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट, सरल और युक्त बैठते हैं, इसलिए पाँचों ही यहाँ दे दिये गये हैं। इनके तात्पर्य में किंचित्-मात्र भेद है, जो व्याख्या के अंतर्गत दर्शाया गया है।

व्याख्या--हे अर्जुन! ऐसे ही बहुत से लोग द्रव्ययज्ञ * करते हैं; अर्थात् न्याय से कमाये हुए धन को प्रसन्नचित्त से समय-समय पर किसी सुपात्र को देना रूप जो यज्ञ है, उसे करते हैं; अथवा पूर्त्तदत्त † नाम के स्मार्त्त कर्मों का करना रूप जो यज्ञ है, उसको करते हैं। बहुत से लोग तपयज्ञ करते हैं; अर्थात् कृच्छ्र-चांद्रायणादि रूप तप करते हैं, या शीतोष्ण आदि द्वंद्वों का सहनरूपी तप करते हैं; या व्रत, नियम, मौनादि का पालनरूप तप करते हैं; या मन सहित इंद्रियों का निग्रहरूप जो तप है, उसे करते हैं। बहुत से प्राणी योगयज्ञ करते हैं; अर्थात् फल की कामना को त्यागकर और

---

* 'यज्ञ' शब्द का मूल अर्थ तो द्रव्यात्मयज्ञ ही है, पर इसके लक्षण को विस्तार और व्यापकता देकर, तप, संन्यास वा सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, स्वाध्याय और ध्यानयोग इत्यादि भगवत्प्राप्ति के सब प्रकार के साधनों का इस (यज्ञ शब्द) में समावेश कर दिया गया है। भगवद्गीता की यह कल्पना कुछ अपूर्व नहीं है। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में गृहस्थाश्रम के प्रकरण में पहले यह बताया गया है कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ, इन स्मार्त पंचमहायज्ञों को कोई गृहस्थ न छोड़े। और फिर यह कहा है कि इनके बदले कोई-कोई पुरुष "इंद्रियों में वाणी का हवन कर और वाणी में प्राणों का हवन करके अंत में ज्ञानयज्ञ से परमेश्वर का यजन करते हैं।" (मनुस्मृति ४. २१--२४)

† 'पूर्त्तदत्त' नाम के कर्मों का स्वरूप स्मृति में ऐसे कहा है--
"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते।
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते।"
अर्थ--बावली, कूप, तालाब, देवताओं के मंदिर बनवाने; भूखों को अन्न प्रदान करना और मनुष्यों के निवास करने के निमित्त धर्मशाला वा बागीचे इत्यादि बनवाना, ये सब कर्म 'पूर्त्त' नाम से कहे जाते हैं। और शरणागत प्राणियों की रक्षा करनी, किसी की भी हिंसा न करनी और वेदी से बाह्य जो दान है, इत्यादिक कर्म 'दत्त' नाम से कहे जाते हैं।

समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म का अनुष्ठानरूप योगयज्ञ करते हैं। अथवा अष्टांग योग *(१. पाँच यम, २. पाँच नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. ध्यान, ७. धारणा और ८. समाधि, इस भेद से आठ अंगों का योग) रूप यज्ञ करते हैं; कई एक स्वाध्याययज्ञ करते हैं; अर्थात् वेदों तथा अन्य धर्मग्रंथों का विधिपूर्वक पाठ वा अभ्यास करना और कराना रूप जो यज्ञ है, अथवा प्रणवमंत्र का जाप रूप जो यज्ञ है, उसे करते हैं। कई एक ज्ञानयज्ञ करते हैं; अर्थात् वेद-शास्त्र के यथावत् अर्थ का विचार करना और कराना रूप जो यज्ञ है, अथवा तत्त्वों के अनुसंधानादि से विविध विद्याओं का उपार्जन करना और फिर सुपात्र के तईं उनका दान देना रूप जो यज्ञ है,

---

* यद्यपि 'योग' शब्द के अर्थ यहाँ 'कर्मयोग' ही युक्त बैठते हैं; क्योंकि अष्टांग योग का वर्णन अगले श्लोक में किया गया है, तथापि श्रीशंकराचार्य और अन्य कई एक टीकाकारों ने इसके अर्थ यहाँ भी केवल अष्टांग योग ही किये हैं। इसलिए उस आशय से भी अर्थ यहाँ निरूपण कर दिये गये हैं। यम और नियम इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं। (२) शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं। अहिंसा=किसी को दुःख न देना। सत्य=सच बोलना। अस्तेय=चोरी न करना। ब्रह्मचर्य=परस्त्रीगमन न करना और अपनी स्त्री के पास भी ऋतुकाल में जाना। अपरिग्रह=शरीर-यात्रा के निर्वाह से अधिक साधनों का स्वीकार न करना, वा किसी के धन का लालच न करना। शौच=बाहर-भीतर की शुद्धि; अर्थात् देह, स्थान और भोजन की सफ़ाई रखना, और ऐसे ही मैत्री, करुणा इत्यादि से चित्त की शुद्धि करना। संतोष=यत्न से जितना मिले उसी पर ख़ुश रहना, अधिक की इच्छा न करना। तप=क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण इत्यादि द्वंद्वों का सहन करना, अथवा काष्ठमौन और आकारमौन इत्यादि व्रतों का पालन करना। स्वाध्याय=

उसे करते हैं। ये सब उक्त यज्ञों के करनेवाले लोग वास्तव में यत्न करने के स्वभाववाले अथवा अपने आपको वश में करनेवाले और तीव्र व्रतों के धारण या पालन करनेवाले होते हैं। अथवा जो इंद्रियजित् और व्रत में तत्पर हैं, वे सब उक्त यज्ञों को कर सकते हैं। अथवा यत्नशील और तीव्र व्रतधारी पुरुष जो हैं, वे पिछले दो यज्ञ (स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ) करते हैं। अथवा जो यत्नशील और तीव्र व्रतवाले होते हैं, उनमें से कई एक द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, कई एक तपयज्ञ, कई एक योगयज्ञ, कई एक स्वाध्याययज्ञ और कई एक ज्ञानयज्ञ करते हैं। संक्षिप्त तात्पर्य इस सारे का यह है कि धन दान करना, तप करना, योग करना, वेद पढ़ना और शास्त्र-विचार से ज्ञान प्राप्त करना, ये पाँचों भी यज्ञ ही हैं, जिन्हें यति लोग करते हैं, या जिन्हें करनेवाले लोग यति होते हैं ॥ २८ ॥

और—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपाने^{1}, जुह्वति^{3}, प्राणं^{2}	अपाने^{1} में प्राण^{2} को होमते^{3} हैं	प्राण^{1}-अपान^{2}-गती^{3}, रुद्ध्वा^{4}	प्राण^{1} और अपान^{2} की गति^{3} को रोककर^{4}
प्राणे^{3}, अपानं^{4}, तथा^{1}, अपरे^{2}	ऐसे ही^{1} कई एक^{2} प्राण^{3} में अपान^{4} को	प्राणायाम^{1}-परायणाः^{2}	प्राणायाम^{1} परायण^{2} हुए

आत्मतत्त्व के विवेकार्थ वेद-शास्त्र का अध्ययन, अथवा प्रणव मंत्र का जप। ईश्वरप्रणिधान=निष्कामभाव से सब कर्मों को भगवदर्पण करना, अथवा सर्वत्र सब वस्तुओं में ईश्वर देखना।

अन्वयार्थ—कई एक पुरुष प्राणायाम-परायण हुए प्राणापान की गति को रोककर प्राण को अपान में और अपान को प्राण में होमते हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कई एक पुरुष जो प्राणायाम * में तत्पर हैं, अर्थात् जो लोग प्राणशक्ति को अपने अधीन करने वा नियम में लाने के पीछे लगे हुए हैं, वे प्राण † और अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति (चाल) को रोककर प्राण को

---

* प्राणायाम उस अभ्यास को कहते हैं कि जिससे प्राणशक्ति नियम में लाई जाती है, अर्थात् वह शक्ति पुरुष के अपने अधीन हो जाती है। इसके विषय पातंजल योगसूत्र में ऐसे लिखा है—"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायाम इति।"=आसन के स्थिर होने पर प्राण और अपान की गति का निरोध ही प्राणायाम का लक्षण वा स्वरूप है।

† प्राण उस शक्ति को कहते हैं जो फेफड़ों में काम करती है और वायु को बाहर से भीतर खींचती है। इसे श्वास (inspiration) भी कहते हैं। अपान उस शक्ति का नाम है जो शरीर के भीतर से निरावश्यक वा अनुपयोगी वस्तुओं को बाहर निकाल देती है। यहाँ उस शक्ति से अभिप्राय है जो श्वास को बाहर की ओर निकाल देती है। इसलिए इसे प्रश्वास (expiration) भी कहते हैं। जिस समय प्राण प्रकट होता अर्थात् अपने आपको प्रकाश करता है, उस समय अपान की गति रुक जाती है। और जिस समय अपान प्रकट होता है, उस समय प्राण की गति रुक जाती है। मानों प्राण की आहुति अपान में और अपान की आहुति प्राण में हो जाती है। जो योगी इस प्रकार प्राण और अपान की गति को रोकते रहते हैं, वे प्राणायामपरायण कहलाते हैं।

अपान में और अपान को प्राण में होमते हैं, अर्थात् पूरक, * रेचक और कुम्भक प्राणायाम करते हैं ॥ २९ ॥

और—

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अपरे^{1}, नियत^{2}-आहाराः^{3}	कई^{1} एक नियत^{2} आहारी^{3}
प्राणान्^{1}, प्राणेषु^{2}, जुह्वति^{3}	प्राणों^{1} को प्राणों^{2} में होमते^{3} हैं
सर्वे^{2}, अपि^{3}, एते^{1}, यज्ञ^{4}-विदः^{5}	ये^{1} सब^{2} ही^{3} यज्ञ^{4} के जानने^{5}वाले हैं
यज्ञ^{1}-क्षपित^{2}-कल्मषाः^{3}	यज्ञ^{1} से नष्ट^{2} हुए पापों^{3}वाले हैं

यज्ञ^{1}-शिष्ट^{2}-अमृत^{3}-भुजः^{4}	यज्ञ^{1} से बचे^{2} हुए अमृत^{3} को खाने^{4}वाले
यान्ति^{3}, ब्रह्म^{2}, सनातनम्^{1}	सनातन^{1} ब्रह्मको^{2} प्राप्त^{3} होते हैं
न^{5}, अयं^{3}, लोकः^{4}, अस्ति^{6}, अ^{2}यज्ञस्य^{1}	यज्ञ^{1} रहित^{2} का यह^{3} लोक^{4} नहीं^{5} है^{6}
कुतः^{4}, अन्यः^{3}, कुरु^{1}-सत्तम^{2}	हे कुरुओं^{1} में श्रेष्ठ^{2} (अर्जुन) ! दूसरा^{3} कहाँ^{4}

अन्वयार्थ——कई एक नियत आहारी प्राणों को प्राणों में होमते हैं। ये सब ही यज्ञ के जाननेवाले (लोग), यज्ञ से नष्ट हुए पापोंवाले तथा यज्ञ से बचे हुए अमृत को खानेवाले होकर

---

* प्राण को अपान में होमना (डालना) पूरक, और अपान को प्राण में होमना रेचक कहलाता है। इन दोनों (प्राणापान अर्थात् श्वास और प्रश्वास) की गति को रोकना कुम्भक कहलाता है।

सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञरहित (पुरुष) का यह लोक नहीं है, तो हे अर्जुन ! दूसरा कहाँ ? ॥ ३०, ३१॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! कई लोग ऐसे हैं कि जो नियत आहार करके, अर्थात् अंदाज़े से थोड़ा भोजन करके, प्राणों * को प्राणों में होमते हैं। अर्थात् बहुत से प्राणी, यह समझकर कि प्राणों की गति (जठराग्नि वा इंद्रिय-बल) के कम होने से मन का निरोध हो जाता है, अपने आहार को दिन-प्रतिदिन थोड़ा करते हैं, जिससे शारीरिक बल व जठराग्नि को शिथिल करते हैं। ये (उक्त बारह यज्ञों के पुरुष) सब ही यज्ञ जाननेवाले अर्थात् यज्ञ करनेवाले होते हैं। यज्ञ से ही इनके सारे पाप वा दोष दूर हो जाते हैं। ऐसे नष्ट हुए पापोंवाले पुरुष यज्ञों से बचे हुए अमृतरूप भोजन को खाते हुए सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं †। और हे अर्जुन ! किसी प्रकार के भी यज्ञ न करनेवाले पुरुष को तो यह अल्प सुखवाला लोक भी नहीं

---

* प्राणों में प्राणों का हवन ऐसे होता है कि खाना जब कम खाया जाता है, अथवा व्रतादि जब रखे जाते हैं, तब आहार कम पहुँचने से प्राणों का वेग बहुत भड़कता है, जो इंद्रियों के बल को ही खाने लग जाता है, जिससे प्राण (जठराग्नि वा इंद्रिय-बल) शिथिल पड़ जाते हैं; इस प्रकार प्राणों में इंद्रिय-बल का स्वाहा होना प्राणों में प्राणों का हवन कहा जाता है।

† अभिप्राय यह है कि जो कुछ औरों को देने के पीछे बचता है, वह खाना अमृत भोजन के समान होता है, क्योंकि जब कोई पहले दूसरे को देकर कुछ खाता है, तो इस अर्पणरूपी पुण्यकर्म से उसके चित्त पर उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिससे उसका अंतःकरण शुद्ध होता है। और यह शुद्धि फिर आत्मज्ञान की प्राप्ति का हेतु होती है, जिससे फिर

मिलता, तब महान् पुण्यकर्मों से प्राप्त होनेवाला बहुत सुखों का परलोक भला कैसे मिल सकता है ? अर्थात् प्राप्त नहीं होता; अथवा अयज्ञी पुरुष का तो यह लोक ही नहीं सुधरता, परलोक भला कैसे सुधर सकता है ? अथवा अयज्ञी पुरुष का यह लोक ही सिद्ध नहीं होता, तो परलोक भला कैसे सिद्ध हो सकता है ? अथवा जो यज्ञ नहीं करता, अर्थात् जो विना दूसरों के तईं अर्पण किये के आप ही खाता-पीता है, उसका अंतःकरण तुच्छ और स्वार्थी होने से फिर न वह यहाँ के योग्य रहता है, न परलोक के। हे अर्जुन ! ऐसे को जब इस लोक में ही सुख नहीं मिलता, तो परलोक में फिर कैसे मिल सकता है ?॥ ३०, ३१ ॥ *

आत्मसाक्षात्कार होता है, और जिस साक्षात्कार पर पुरुष जन्म-मरण से छूटकर ब्रह्म को प्राप्त होता ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

* उक्त श्लोक २३ से ३१ तक का सारांश यह है कि यज्ञ करना यद्यपि वेद की आज्ञा के अनुसार मनुष्य के लिए कर्त्तव्य कर्म है, तथापि यह यज्ञ केवल एक प्रकार का नहीं होता, बल्कि प्राणायाम करना, तप करना, वेदाध्ययन करना, तत्त्वविचार करना, तिल-चावल और घी आदि से हवन करना, पूजा-पाठ करना, बलिवैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करना, और कोई निष्काम कर्म आसक्ति से रहित होकर करना इत्यादि, ये सारे कर्म भी यज्ञ ही हैं। इसलिए गीता के अनुसार न केवल द्रव्ययज्ञ का करनेवाला ही यज्ञी है बल्कि प्राणायामी, तपी, तीव्रव्रती, वेदपाठी, तत्त्वविवेकी वा ज्ञानी, कर्मयोगी, ध्यानयोगी भक्त वा ईश्वरनिमित्त कर्म करनेवाला, अग्निष्टोम करनेवाला, और बलिवैश्वदेव का करनेवाला, ये सब भी यज्ञी ही हैं। और यज्ञ-शेष के भक्षण-विषय में मीमांसकों के जो सिद्धांत हैं, वे सब इनमें से प्रत्येक यज्ञ के लिए उपयुक्त हो जाते हैं। मीमांसकों का और गीता का पहला सिद्धांत यह है कि "यज्ञार्थ किया हुआ कर्म बंधक नहीं होता।" इस नियम को

संबंध—उक्त यज्ञों का उपसंहार करते हुए भगवान् अब उनको उत्पत्ति-स्थान कहते हैं—

भगवान् ने गीता (३, ९ । ६, २३) में स्पष्ट वर्णन किया है। और दूसरा सिद्धांत यह है कि प्रत्येक गृहस्थ पंचमहायज्ञ कर अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर फिर भोजन करे, तो ऐसे आचरण से गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। इस विषय स्मृति ऐसे कहती है—"विघसं भुक्तशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्" (मनु० ३, २८५)। अर्थ—अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर जो बचे, उसे 'विघस' कहते हैं, और यज्ञ करने से जो बचे, उसे 'अमृत' कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या करके उस अध्याय में ऐसा भी दर्शाया है कि यह 'अमृत' और 'विघस' अन्न ही गृहस्थ के लिए विहित और श्रेयस्कर हैं। ऐसा न करके जो कोई केवल अपने पेट के लिए ही भोजन पकाकर खा जाय, तो वह अघ अर्थात् पाप का भक्षण करता है, और ऐसा पुरुष क्या मनुस्मृति, क्या ऋग्वेद, और क्या गीता, सभी ग्रंथों में 'अघाशी' कहा गया है (देखो मनु० ३, १८; ऋ० १०, ११७, ६; गीता ३, १३)। अब भगवान् यह दर्शाते हैं कि यह सिद्धांत केवल सामान्य गृहयज्ञ को ही उपयोगी नहीं, किंतु उक्त सब यज्ञों को उपयोगी है। यज्ञनिमित्त कर्म (पुरुष का) बंधक नहीं होता। और "विना यज्ञ के यह लोक भी सिद्ध नहीं होता" यह वाक्य रहस्यपूर्ण है। इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि यज्ञ के विना जल नहीं बरसता, और जलवृष्टि न होने से लोकनिर्वाह नहीं होता; किंतु यह भी है कि कुछ अपना स्वार्थ वा प्यारी वस्तु छोड़े विना न तो अपना कल्याण होता है, न सबको एक सी सुविधा मिल सकती है, और न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। और जब अपनी स्वार्थवासना तथा स्वतंत्रता के कुछ अंश को भी अर्पण किये विना मनुष्य यह लोक सिद्ध नहीं कर सकता, तो परलोक वह खाक सिद्ध कर सकेगा? इसलिए भगवान् ने यह नियम स्पष्ट किया है कि अयज्ञी पुरुष को यह लोक सिद्ध नहीं तो परलोक भला कैसे सिद्ध हो सकता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवं, बहु- विधाः, यज्ञाः	ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ	कर्म-जान्, विद्धि, तान्, सर्वान्	उन सबको कर्म-जन्य जान
* वितताः, ब्रह्मणः, मुखे	ब्रह्मा के मुख (वेद) में फैले हुए हैं	एवं, ज्ञात्वा, विमोक्ष्यसे	ऐसे जानकर तू मुक्त हो जायगा

अन्वयार्थ——इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञ ब्रह्मा के मुख अर्थात्

---

* "वितता ब्रह्मणः मुखे" का अर्थ बहुत टीकाकारों ने तो "वेद द्वारा प्रकट हुए" किया है, और कुछ ने "ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए" किया है। इन दोनों का अभिप्राय अंत में एक ही है, क्योंकि वेद ब्रह्मा की वाणी माने जाते हैं, और यज्ञ भी वेदों में ही निरूपण हुए हैं; इसलिए यज्ञ ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए कहे जा सकते हैं। तीसरा अर्थ इस पद का वेदांत की रीति से ऐसे है कि "ये यज्ञ सर्व प्रपंच के आधारभूत साक्षात् ब्रह्म से ही प्रकट हुए हैं"। क्योंकि इसी अध्याय के श्लोक ११ में भगवान् ने यह सिद्धांत निरूपण किया है कि "जो जैसा मुझे भजते हैं, मैं वैसा ही उनको प्राप्त होता हूँ, अर्थात् जिस किसी मार्ग वा रीति से लोग मुझ सच्चिदानंदस्वरूप तक पहुँचने का यत्न करते हैं, उसी रीति वा मार्ग से मैं उन्हें प्राप्त हो जाता हूँ, जिससे ये समस्त मार्ग वा उपाय मुझ तक ही पहुँचानेवाले हैं", इसलिए साक्षात् ब्रह्म जो उक्त सर्वप्रकार के यज्ञों का आधारभूत होने से उनके द्वारा प्राप्तव्य है, उसके मुख से, अर्थात् उस आधारभूत ब्रह्म द्वारा, ही ये सब यज्ञ सविस्तर प्रकट हुए हैं। ये तीनों अर्थ यहाँ किये जा सकते हैं। बहुत टीकाकारों की सम्मति के कारण व्याख्या में केवल एक अर्थ दिये हैं, परंतु हमें तीनों ही ग्राह्य हैं, अर्थात् उचित और उपयोगी दीखते हैं। (टीकाकार)

वेद में फैले हुए हैं। उन सबको तू कर्म-जन्य जान। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन! इस प्रकार (जैसे कि श्लोक २४ से यहाँ तक वर्णन हुआ है) भाँति-भाँति के यज्ञ ब्रह्मा के मुख से विस्तार-पूर्वक कहे गये हैं; अर्थात् वेदों में सविस्तर वर्णित हैं। इन सबको तू कर्म से उत्पन्न हुआ जान। क्योंकि कायिक, वाचिक वा मानसिक कर्म से ही इन सब यज्ञों की उत्पत्ति होती है, इसलिए ये सब यज्ञ कर्म-जन्य * हैं, नैष्कर्म्य रूप नहीं; अथवा ये सब कर्म से उत्पन्न हुए हैं, निर्व्यापार आत्मा से नहीं। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जायगा। अर्थात् "उक्त सब यज्ञ कामना और कर्तृत्वभाव से रहित पुरुष से किये जाने के कारण यज्ञी के अंतःकरण की शुद्धि करते हुए उसे ज्ञान प्राप्त कराकर फिर मुक्त करा देते हैं," ऐसा जानकर यज्ञ करने से तू मुक्त हो जायगा। अथवा "ये सब यज्ञ कर्म-जन्य हैं, मुझ निर्विकार आत्मा से उत्पन्न नहीं होते; मैं (आत्मा) तो सर्वदा व्यापाररहित, उदासीन,

---

* 'कर्म-जन्य' से अभिप्राय केवल कायिक कर्म-जन्य ही नहीं (जैसे कि ज्योतिष्टोमादि वैदिक यज्ञ), किंतु वाचिक वा मानसिक कर्म-जन्य भी है (जैसे प्राणायाम और ज्ञानयज्ञ इत्यादि)। क्योंकि सर्वप्रकार के उक्त यज्ञ यत्न-साध्य हैं, विना यत्न के सिद्ध नहीं होते (चाहे वह यत्न मानसिक हो, चाहे कायिक वा वाचिक हो), इसलिए इन्हें कर्म-जन्य कहा है, नैष्कर्म्य रूप नहीं। परंतु इन कर्मों में अकर्म देखना ही बुद्धिमत्ता है। जो ऐसा जानता है, वही इन कर्मों के बंधन में नहीं आता। इसलिए ऐसा जाननेवाला ही इन कर्मों से निर्लिप्त होता मुक्त होता है, न कि केवल कर्मकांडी या केवल कर्मत्यागी, जैसा कि पूर्व १८ से २४ तक श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।

असंग, अकर्त्ता और अभोक्ता हूँ," इस प्रकार (सर्व कर्मों में) अपने आपको अकर्त्ता और साक्षी जानकर तू, हे अर्जुन ! इस संसार-बंधन से मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

संबंध—(१) उक्त सब यज्ञों की कर्म से उत्पत्ति दर्शाकर अब भगवान् जो उनमें श्रेष्ठ है, उसे दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त युक्ति के आशय को भगवान् अब अधिक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) सब यज्ञों को कर्म-जन्य कहकर भगवान् अब द्रव्यमय यज्ञ (ज्ञानरहित कर्म) से ज्ञानयज्ञ (ज्ञानसहित कर्म) की श्रेष्ठता और परिणाम दर्शाते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

श्रेयान्^{७}, द्रव्यमयात्^{३}, यज्ञात्^{४}, ज्ञान^{५}-यज्ञः^{६}, परं^{१}तप^{२}	हे शत्रु^{१}-तापन^{२} (अर्जुन) ! द्रव्य^{३}-मय यज्ञ^{४} से ज्ञान^{५}-यज्ञ^{६} श्रेष्ठ^{७} है
सर्वं^{२}, कर्म^{३}, अखिलं^{४}, पार्थ^{१}	हे अर्जुन^{१} ! सब^{२} (प्रत्येक) कर्म^{३} पूरा^{४}-पूरा
ज्ञाने^{१}, परिसमाप्यते^{२}	ज्ञान^{१} में समाप्त^{२} होता है

अन्वयार्थ—हे परंतप ! * द्रव्यमय यज्ञ † से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, हे पार्थ ! * प्रत्येक कर्म पूरा-पूरा ज्ञान में समाप्त होता है ॥ ३३ ॥

---

* परंतप और पार्थ के सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

† द्रव्यमय यज्ञ से अभिप्राय केवल होम दानादि (material sacrifice) और ज्ञानयज्ञ से केवल कर्म-संग वा संकल्पों का त्याग (moral sacrifice) भी है । द्रव्यमय यज्ञ से तो स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति और चित्तशुद्धि होती है, और तत्पश्चात् ज्ञान की प्राप्ति होकर आत्मसाक्षात्कार रूप मोक्षपद प्राप्त होता है; परंतु ज्ञानयज्ञ से सीधा यह पद मिलता है । इसलिए भी द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ।

व्याख्या--जितने यज्ञ ऊपर वर्णन हुए हैं, उनमें एक ज्ञानयज्ञ है, शेष सब द्रव्यमय यज्ञ हैं। जो यज्ञ बाह्य (लौकिक) पदार्थों से किसी लौकिक फल के लिए किया जाता है, अथवा जिस यज्ञ से कुछ ऐसा फल मिलता है कि जो नरक-स्वर्गादि तथा पुनर्जन्म द्वारा भोगना पड़ता है, अथवा जो ज्ञान से शून्य कर्मरूप यज्ञ है, वह द्रव्यमय यज्ञ कहलाता है। और जो ज्ञान सहित कर्मरूप यज्ञ है, अर्थात् जिस कर्म वा यज्ञ से अपने स्वरूप का मनन और साक्षात्कार होता है, उसे ज्ञानयज्ञ (wisdom winning-sacrifice) कहते हैं। इन उक्त द्रव्यमय यज्ञों से तो, हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन! ज्ञानयज्ञ बहुत श्रेष्ठ वा कल्याणकारी है, क्योंकि इससे तो साक्षात् मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है, और अन्य यज्ञों से प्रायः केवल संसाररूप फल की प्राप्ति होती है। हे पृथा-पुत्र अर्जुन! ज्ञान में सब कर्म अर्थात् प्रत्येक कर्म संपूर्ण रूप से समाप्त * हो जाता है। अर्थात् अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, सोमयज्ञ और चयनयज्ञादि श्रौत कर्म तथा उपासनादिरूप स्मार्त्त कर्म, ये

---

* समाप्त हो जाने से यह भी आशय है कि कर्म का उद्देश्य वा परिणाम अंतःकरण की शुद्धि करके ज्ञान की प्राप्ति कराना वा कर्त्ता को ज्ञान का अधिकारी बनाना होता है, इसलिए कर्म का अंत ज्ञान की प्राप्ति में होता है। अर्थात् कर्म साधन वा बीज है, और ज्ञान उसका परिणाम वा फल है। इस प्रकार बीजरूप कर्म का अंत पूर्ण रूप से अपने फलरूप ज्ञान में ही होता है, और कहीं नहीं। श्रुति में भी आया है—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन इति। धर्मेण पापमपनुदति। अर्थ—यह ब्राह्मण वेदों के अध्ययन से, यज्ञ, दान और तप से उस आत्मदेव को जानने की इच्छा करते हैं। और धर्म से वह पाप को दूर कर देते हैं या पापों से छुटकारा पा जाते हैं।

सबके सब सहित फल के इस ज्ञानाग्नि में समाप्त वा दग्ध हो जाते हैं ; अथवा ज्ञान में पहुँचकर ही कर्म परिपूर्ण होता है, और विना ज्ञान के कर्म अधूरा ही रहता है, इसलिए प्रत्येक कर्म पूरा-पूरा ज्ञान में ही समाप्त होता है ; अथवा जो-जो फल अन्य कर्मों से मिलते हैं, वे सबके सब मोक्ष के अंतर्गत होने के कारण ज्ञानरूपी समुद्र में समाये होते हैं, इसलिए उक्त सारे कर्मों के समस्त फल केवल एक ज्ञानयज्ञ से स्वतः आ प्राप्त होते हैं ; और इस ज्ञानयज्ञ के करनेवाले को अन्य किसी कर्म के करने की आवश्यकता नहीं रहती । वह तो सीधा इस ज्ञानयज्ञ से आत्मसाक्षात्कार करता हुआ जन्म-मरणरूप संसार से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होता है । और "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"=ज्ञान से ही कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति ने भी कहा है, इसलिए ज्ञानयज्ञ सर्व यज्ञों से श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥ *

---

* श्रीयुत तिलक महाराज ने इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या की है—"गीता में 'ज्ञानयज्ञ' शब्द दो बार आगे भी आया है (गी० ९, १५ और १८, ७०) । हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिए किया करते हैं । (वेदों में ऐसे यज्ञों का उद्देश्य वा फल प्रायः स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति है, न कि ईश्वरप्राप्ति, और इसलिए लोकों की प्राप्तिनिमित्त ये यज्ञ प्रायः किये जाते हैं, न कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए । टीकाकार) । परंतु परमेश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप का ज्ञान हुए विना नहीं होती । अतएव परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान के अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के इस मार्ग या साधन को 'ज्ञानयज्ञ' कहते हैं । यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है, अतः द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है । मोक्षशास्त्र में ज्ञानयज्ञ का यह ज्ञान ही मुख्य है, और इसी ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाता है । कुछ भी हो, गीता का

संबंध—यह ज्ञान (जिसके अंतर्गत समस्त कर्मों के फल हैं, और जिसके द्वारा ही कर्म परिपूर्ण होता है) कैसे और कहाँ से प्राप्त होता है ? इस विषय में भगवान् अब कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तत्^{4}, विद्धि^{5}, प्रणिपातेन^{1}, परिप्रश्नेन^{2}, सेवया^{3}	दंडवत्^{1} प्रणाम से, प्रश्न^{2} से और सेवा^{3} से तू उस^{4} (ज्ञान) को जान^{5} (सीख)	उपदेक्ष्यन्ति^{6}, ते^{4}, ज्ञानं^{5}, ज्ञानिनः^{1}, तत्त्व^{2}-दर्शिनः^{3}	ज्ञानी^{1} तत्त्व^{2}-दर्शी^{3} तुझे^{4} ज्ञान^{5} उपदेश^{6} करेंगे

पहला अन्वयार्थ—उस (ज्ञान) को तू दंडवत् प्रणाम से, प्रश्न से और सेवा से सीख। (तब) तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—और यह ध्यान में रख कि तत्त्वदर्शी ज्ञानी (तेरे) प्रणिपात से, प्रश्न से और सेवा करने से तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यह स्थिर सिद्धांत है कि अंत में परमेश्वर का ज्ञान होना चाहिए, बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता । तथापि "कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होता है" इस वचन का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों को छोड़ देना चाहिए । अपने लिए नहीं, तो केवल लोकसंग्रह के निमित्त कर्त्तव्य समझकर सभी कर्म करना ही चाहिए, और जब कि वे (कर्म) ज्ञान एवं समबुद्धि से किये जाते हैं, तब उनके पाप-पुण्य की बाधा कर्त्ता को नहीं होती (देखो आगे श्लोक ३७), और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है । अतः गीता का सब लोगों को यही उपदेश है कि यज्ञ करो, किंतु उन्हें ज्ञानपूर्वक निष्काम बुद्धि से करो ।"

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह सर्वोत्तम और मोक्षरूप फल का देनेवाला आत्मज्ञान तत्त्ववेत्ता आचार्यों के पास जाकर प्राप्त होता है। इसलिए तू पहले तत्त्वदर्शी ज्ञानवानों के पास जा; वहाँ पहुँच कर उन्हें बड़ी नम्रता से दंडवत् प्रणाम कर; अपने सच्चे हृदय से (शिष्यभाव से) उनकी सेवा कर; और फिर प्रश्न करके उस ज्ञान को सीख। अर्थात् जब वे तेरी सेवा और भक्ति से प्रसन्न हुए तुझे दिखाई दें, तब तू अत्यंत अधीनता से पूछ कि "बंध-मोक्ष, तथा ज्ञान-अज्ञान, वा विद्या-अविद्या क्या है।' इस प्रकार तुझसे भक्तिपूर्वक प्रणाम, सेवा, प्रश्न और सीखने की जिज्ञासा के प्रकट होने पर तत्त्वदर्शी * ज्ञानवान् प्रसन्न होकर तुझे उस आत्मज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥ †

---

* जो पुरुष पदों के ज्ञान में, वा वाक्यों के ज्ञान में, तथा नाना प्रकार की युक्तियों के ज्ञान में अति कुशल हों, उनका नाम यहाँ ज्ञानी है। और जिनको संशय व विपरीत भावना से रहित आत्मा का साक्षात्कार हुआ हो, उनका नाम तत्त्वदर्शी है। ऐसे तत्त्वदर्शी ज्ञानवानों से ही उपदेश किया हुआ ज्ञान मोक्षरूप फल की प्राप्ति कराता है और प्रत्येक कार्य की सिद्धि में समर्थ होता है, अन्य पुरुषों से उपदिष्ट ज्ञान ऐसा फल नहीं देता। इसलिए ज्ञानी का तत्त्वदर्शी विशेषण दिया है। ऐसे 'ज्ञानी' को वेदों में ब्रह्मश्रोत्रिय और 'तत्त्वदर्शी' को ब्रह्मनिष्ठ कहा है। ऐसे श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के पास जाकर आत्मज्ञान का उपदेश लेने को श्रुति ने इस प्रकार कहा है—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति।" अर्थ—इस आत्मसाक्षात्कार के लिए वह जिज्ञासु (अधिकारी) यथाशक्ति भेंट हाथ में लेकर (अथवा समिधा हाथ में लेकर) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय।

† अभिप्राय इस श्लोक का यह है कि जहाँ शिष्य के लक्षण—"प्रणिपात, नम्रता और जिज्ञासा से प्रश्न, और पूर्ण श्रद्धा वा भक्ति से सेवा करना"—

संबंध—अब उक्त उपदिष्ट ज्ञान की प्राप्ति का फल भगवान् श्लोक ३८ तक वर्णन करते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

यत्, ज्ञात्वा, न, पुनः, मोहं, एवं, यास्यसि, पाण्डव	जिसको जानकर हे अर्जुन ! तू फिर ऐसे मोह को नहीं प्राप्त होगा	येन, भूतानि, अशेषेण, द्रक्ष्यसि, आत्मनि, अथो, मयि	जिससे समस्त भूतों को तू आत्मा (अपने) में और मुझमें देखेगा

अन्वयार्थ—जिस (ज्ञान) को जानकर तू, हे अर्जुन ! फिर ऐसे मोह को प्राप्त नहीं होगा । और जिससे समस्त भूतों को तू अपने में तथा मुझमें देखेगा ॥ ३५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उस उपदिष्ट ज्ञान को प्राप्त होकर फिर तुझे ऐसा मोह (अपने संबंधियों में आसक्ति वा भ्रमरूप शोक), जो इस समय हो रहा है, प्राप्त नहीं होगा । और उस ज्ञान के कारण तू सर्व प्राणियों (अथवा समस्त पदार्थों) को अपने * (आत्मस्वरूप) में तथा मुझ (सच्चिदानंदस्वरूप वासुदेव) में

होने उचित हैं, वहाँ गुरु के लक्षण भी यदि "ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मश्रोत्रिय" हों, तब उक्त ज्ञान की प्राप्ति होती है, नहीं तो पूर्ण रीति से प्राप्ति नहीं होती ।

* "अपने आत्मा में देखेगा, और मुझ परमेश्वर में देखेगा, इस प्रकार जीव और ईश्वर की एकता जो सारी उपनिषदों में प्रसिद्ध है, उसको तू देखेगा" (श्रीशंकराचार्य) । "सारे आत्मा ज्ञानस्वरूप हैं, उनके स्वरूप में कोई भेद नहीं, भेद सारा प्रकृति के संसर्ग से है ; सो जब तू इस संसर्ग से विमुक्त अपने शुद्धस्वरूप को देखेगा, तब सब भूतों को अपने आत्मा में देखेगा ; अर्थात् प्रकृति के संसर्ग को छोड़कर सब

साक्षात् देखेगा। तात्पर्य यह कि भाई, ताया, चाचा इत्यादि की द्वैत दृष्टि, जो मोह (अपने स्वरूप के अज्ञान) से उत्पन्न होकर दुःख और घबराहट का कारण हो रही है, वह सब आत्मज्ञान के पाने पर नाश हो जायगी, और फिर इस ज्ञान के अभ्यास से तू उन से वा मुझसे इतनी अभेदता अनुभव करलेगा कि उन सब बांधवों के शरीररूप से अदृष्ट होने पर भी तू उन्हें नाश हुए नहीं समझेगा बल्कि सब दशा में तू उन्हें अपने में वा मुझमें साक्षात् स्थित पावेगा, जिससे तू फिर स्वार्थता और आसक्ति को त्यागकर युद्ध को केवल अपना स्वाभाविक धर्म (कर्त्तव्य) समझकर अथवा केवल लोकोपकारार्थ की दृष्टि से करेगा ॥ ३५ ॥

भूत सम हैं।" "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (५, १६), यह बात अपने आत्मा के उदाहरण से तू जान लेगा। और मुझमें देखेगा ; अर्थात् परिशुद्ध हुआ आत्मतत्त्व प्रत्येक परमात्मा के सदृश हो जाता है, जैसा कि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डक० ३, ३) इत्यादि में नाम-रूप से "निर्मुक्त आत्मवस्तु की परमात्मा के साथ स्वरूप की समता कही है। इसलिए प्रकृति से निर्मुक्त प्रत्येक आत्मतत्त्व परस्पर सम होता है, और सर्वेश्वर के सम होता है।" यह आशय है (श्रीरामानुजाचार्य)। "सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखने का, समस्त प्राणिमात्र में एकता का जो ज्ञान आगे वर्णित है (गी० ६, २६), उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। मूल में आत्मा और भगवान् दोनों एक रूप हैं, अतएव आत्मा में सब प्राणियों का समावेश होता है ; अर्थात् भगवान् में भी उनका समावेश होकर आत्मा (मैं) अन्य प्राणी और भगवान्, यह त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है। इसीलिए भागवत पुराण में भगवद्भक्तों का लक्षण देते हुए कहा है, 'सब प्राणियों को भगवान् में और अपने में जो देखता है, उसे उत्तम भागवत कहना चाहिए' (भाग०, ११, २, ४५)।" (श्रीतिलक महाराज)

और—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अपि[4], चेत्[1], असि[7], पापेभ्यः[3], सर्वेभ्यः[2], पाप[6]-कृत्तमः[5]	यदि[1] सारे[2] पापियों[3] से भी[4] तू बढ़कर[5] पाप[6] करनेवाला है[7]	सर्वं[1], ज्ञान[3]-प्लवेन[4], एव[5], वृजिनं[2], सन्तरिष्यसि[6]	सारे[1] पाप[2] को तू ज्ञान[3] की नौका[4] से ही[5] तर जायगा[6]

अन्वयार्थ—और यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी इस ज्ञान की नौका से तू सारे पाप को तर जायगा ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस ज्ञान से और फल यह है कि अगर तू सब पापियों से भी अधिक पापी (पापिष्ठ) है, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका से सर्व पापरूप समुद्र को तू तर जायगा। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने पर तुझे कोई पाप नहीं छू सकेगा, पहली वासनाएँ * जो जन्म-मरणरूप संसार का हेतु हैं, वे सब

---

* पाप अथवा पुण्यकर्म करने का दोहरा फल होता है। एक तो कर्म की वासना चित्त में उत्पन्न हो जाती है जिससे चित्त सदा जन्म-जन्मांतर में उसी कर्म करने की ओर बारंबार झुकता है। दूसरा, शारीरिक और मानसिक तत्त्वों की कुछ न्यूनाधिकता शरीर और मन में हो जाती है। पिछला फल तो अच्छी-बुरी अवस्था के भोग से जाता रहता है। परंतु पहला फल जो वासनारूपी होकर चित्त में रहता है, वह बारंबार उन्हीं कर्मों में लगाता है, और पुनः वैसे ही भोग उत्पन्न करता है। यह वासना भोग से दूर नहीं हो सकती। इसका इलाज तो केवल एक ज्ञान ही है। बुरे

दग्ध हो जायँगी, कोई कर्म लिपायमान वा बंधायमान नहीं कर सकेगा । और "तरति शोकमात्मवित्"=आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है, ऐसा श्रुति कहती है, इस प्रकार तेरे सब शोक-मोह भी दूर हो जायँगे ॥ ३६ ॥

संबंध—(१) यह आत्मज्ञान कैसे सर्व पापों को नाश कर देता है और कैसे उनसे निर्लेप रखता है ? इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) नौका द्वारा समुद्र तर जाने से यद्यपि समुद्र के दूसरी ओर तो पहुँचना हो जाता है, पर समुद्र वैसे का वैसा ही बना रहता है । इससे समुद्र कोई नाश नहीं हो जाता । वैसे ही ज्ञानरूपी नौका से भी पाप का समुद्र तरा तो जायगा, पर पाप वैसा का वैसा ही बना रहेगा, इससे पाप नाश नहीं हो जायगा । उक्त दृष्टांत से अपना आशय पूर्ण रूप से स्पष्ट होता न देखकर भगवान् अब जलती अग्नि के दृष्टांत से अपना आशय स्पष्ट करने लगे हैं—

अथवा (३) ज्ञान द्वारा पाप के नष्ट होने के उक्त दृष्टांत से भी उत्तम दूसरा दृष्टांत भगवान् अब दिखलाते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

से बुरे पापी को जब ज्ञान का प्रकाश होने लगता है, तब उसको बुरे-भले का विवेक होता है, और इस विवेक से पुरुष से विज्ञानमय कोश की योगशक्ति बढ़ती है, जिससे चित्त की सब वृत्तियाँ वश में आ जाती हैं, इसी से वासना दूर हो सकती है । इसलिए ज्ञान की नौका से ही पाप के सारे समुद्र को तरना होता है ।

यथा[४], एधांसि[५], समिद्धः[२], अग्निः[३], भस्मसात्[६], कुरुते[७], अर्जुन[१]	हे अर्जुन[१]! जलती[२] हुई अग्नि[३] जैसे[४] लकड़ियों[५] को भस्मीभूत[६] कर[७] देती है
ज्ञान[२]-अग्निः[३], सर्व[४]-कर्माणि[५], भस्मसात्[६], कुरुते[७], तथा[१]	वैसे[१] ज्ञान[२] अग्नि[३] सारे[४] कर्मों[५] को भस्मीभूत[६] कर[७] देती है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जलती हुई अग्नि जैसे लकड़ियों को भस्मीभूत कर देती है, वैसे ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्मीभूत कर देती है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे अत्यंत प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख बना देती है, वैसे ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मों * को भस्मीभूत

---

* कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रारब्ध=जो अपना फल दे रहे हैं, (२) संचित=जो किये जा चुके हैं, पर फल अभी देने नहीं लगे, यूँ ही पड़े हैं, (३) क्रियमाण=जो किये जा रहे हैं । इनमें प्रारब्ध तो फल दे रहे हैं, वे भुक्त लिये जाते हैं । वे ज्ञानाग्नि से नाश नहीं होते, किंतु भोगने से नाश होते हैं । ऐसा ही श्रुति कहती है—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये"=उस विद्वान् की विदेह मुक्ति तब तक ही नहीं होती जब तक कि प्रारब्ध कर्म भोगकर ख़तम नहीं हो लेते; अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के भोग ख़तम होने तक ही ज्ञानवान् का शरीर बना रहता है, और प्रारब्ध कर्म विना भोगे नाश नहीं होते । ब्रह्मसूत्र (४. १. १६) में भी ऐसा ही कहा है—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यन्ते"=संचित और क्रियमाण वा आगामी कर्मों के अतिरिक्त पुण्य-पापरूप प्रारब्ध कर्मों को भोग लेने से (उनका) नाश करके विद्वान् पुरुष विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रारब्ध कर्म तो भोग कर नाश किये जाते हैं, और संचित तथा वर्तमान (क्रियमाण) कर्म आत्मानुभवरूप ज्ञानाग्नि के प्रभाव से भस्मीभूत अर्थात् निर्बीज हो जाते हैं; वे फिर न दूसरा जन्म दिलाने के, और न लिपायमान व बंधायमान करने के समर्थ होते हैं । इस प्रकार ज्ञानाग्नि

अर्थात् निर्बीज कर देती है। तात्पर्य यह है कि ईंधन से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रत्यक्ष होकर तो ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म

सर्व कर्मों को भस्म करनेवाली कही जाती है। इस विषय को ब्रह्मसूत्र अधिक स्पष्ट ऐसे करता है—“तदधिगम उत्तमपूर्वार्द्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।” (४, १, १३) अर्थ—“मैं ब्रह्म हूँ” इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार के होने पर उत्तर (आगामी) और पूर्व (पहले के अर्थात् संचित) पापों का अश्लेष और विनाश हो जाता है; अर्थात् (आगामी, वर्तमान वा क्रियमाण) पापकर्म का स्पर्श नहीं होता, और पहले संचित पापकर्मों का नाश हो जाता है। क्योंकि ऐसा श्रुति द्वारा उपदेश है—“यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते।” (छां०, ४, १४, ३)=जैसे कमलपत्र को जल नहीं चिमटते (स्पर्श नहीं करते), वैसे ही (इस ब्रह्मविद्या के) जाननेवाले (ब्रह्मज्ञानी) को पापकर्म नहीं चिमटते। ऐसे ही श्रुति संचित कर्म का नाश भी कहती है—“तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।” (छां०, ५, २४, ३)=जैसे इषीका की (सरकंडे के ऊपर की) रूई अग्नि में डाली हुई जल जाती है, वैसे ही इसके सब पापकर्म दग्ध हो जाते हैं। फिर आगे चलकर सूत्र ऐसे कहता है कि—“इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।” (४, १, १४)=पापकर्म ही नहीं किंतु इससे इतर कर्म अर्थात् पुण्यकर्म भी वैसे ही (ब्रह्मज्ञानी को) नहीं चिमटते। और कर्म के नाश के कारण शरीरपात होने पर निश्चय मुक्ति होती है, अथवा (रामानुजमत से) शरीरपात पर निश्चय कर्म का क्षय होता है। पर इतना ध्यान इस विषय अवश्य रखना चाहिए कि—“अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।” (४, १, १५)=जिन कर्मों के फल का आरंभ नहीं हुआ है, अर्थात् जो प्रारब्धकर्म नहीं किंतु संचित कर्म हैं, उनका ही क्षय होता है, प्रारब्धकर्म का नहीं। पर हाँ, जिस कर्म के फल का आरंभ हो गया है, अर्थात् जो प्रारब्धकर्म है, उसकी अवधि शरीरपात

करने की सामर्थ्य नहीं रखती, किंतु सम्यग् आत्मदर्शन से कर्मों को निर्बीज करने में कारण होती है। इस विषय में श्रुतियाँ ऐसे कहती हैं--"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः"=आत्मदेव को जानकर सब बंधन टूट जाते हैं, और सब क्लेशों के क्षीण होने से जन्म-मृत्यु की फाँस नाश हो जाती है (श्वेताश्वतर उप०)॥ "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।"=उस परब्रह्म के साक्षात्कार होने पर पुरुष की (आत्मा-अनात्मा की अध्यासरूप) हृदय की ग्रंथि नाश को प्राप्त होती है, संशय सब नष्ट हो जाते हैं, और उसके कर्म नाश को प्राप्त होते अर्थात् निर्बीज हो जाते हैं (मु० २, २, ८)॥ ३७ ॥

संबंध— (१) इसी ज्ञान की महिमा भगवान् अब और वर्णन करते हैं—

अथवा (२) यह ज्ञान कब और किसको मिलता और किसको नहीं मिलता है, उसे भगवान् अब ४०वें श्लोक तक स्पष्ट करते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

तक है। प्रारब्धकर्म के भोग के लिए ही शरीर है। जो ज्ञान प्राप्त होते ही उस (प्रारब्धकर्म) का भी क्षय माना जाय, तो शरीर भी उसी क्षण छूट जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। अतः प्रारब्धकर्म तो केवल भोगने से ही नाश होते हैं, और संचित तथा क्रियमाण कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध और निर्बीज हो जाते हैं।

मेरठ नगर के लाला रामप्रसाद 'कर्म' से तात्पर्य कर्मों की वासनाएँ; और श्रीतिलक महाराज 'कर्म' से तात्पर्य 'कर्मबंधन' यहाँ लेते हैं।

न[६], हि[१], ज्ञानेन[३], सदृशं[४], पवित्रं[५], इह[२], विद्यते[७]	निःसंदेह[१] इस[२] संसार में ज्ञान[३] के सदृश[४] पवित्र[५] (कोई और) नहीं[६] है[७]	तत्[३], स्वयं[५], योग-संसिद्धः[२], कालेन[४], आत्मनि[६], विन्दति[७]	योग[१] से सिद्ध[२] हुआ पुरुष उसे[३] समय[४] पर स्वयं[५] अपने[६] में पा लेता[७] है

अन्वयार्थ—इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र निःसंदेह अन्य कोई नहीं है। योग से सिद्ध हुआ पुरुष समय पर उसे स्वयं अपने में पा लेता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला और कोई साधन यहाँ निःसंदेह नहीं है। अथवा ज्ञान के तुल्य उत्तम वस्तु निःसंदेह यहाँ कोई नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान से भिन्न और जितने भी कर्म उपासनादि उपाय वा उत्तम-उत्तम पदार्थ हैं, वे यत्किञ्चित् पाप की निवृत्ति और शरीर वा अंतःकरण की शुद्धि तो कर सकते हैं, मूल-सहित अज्ञान की निवृत्ति नहीं कर सकते; परंतु ज्ञान से न केवल पाप की निवृत्ति और देह वा अंतःकरण की शुद्धि ही होती है, बल्कि मूल-सहित अज्ञान की निवृत्ति और निजानंद की प्राप्ति भी होती है, जिससे सर्व कर्म निर्बीज पड़ जाते हैं, और वह (ज्ञानवान्) इन कर्मों से लिपायमान वा बंधायमान न होता हुआ सीधा मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला वा उत्तम पदार्थ संसार में कोई नहीं है। और जो पुरुष योग से सिद्ध हुआ है; अर्थात् जो पुरुष समत्वबुद्धि से कर्म में पूर्ण युक्त होने से शुद्ध अंतःकरणवाला हो गया है, अथवा जो उक्त कर्मयोग से अंतःकरण की शुद्धिपूर्वक आत्मज्ञान की योग्यता को प्राप्त हुआ है; अथवा जो ध्यानयोग आगे वर्णन होगा, उस योग से आत्मध्यान में

जो शुद्ध अंतःकरणवाला योगी पुरुष पूर्ण युक्त हो गया है, वह अधिकारी पुरुष इस ज्ञान को समय पाकर स्वयं अपने आत्मा में, अर्थात् अपने आपमें वा अंतःकरण में, पा लेता है। अर्थात् विना किसी वाह्य परिश्रम, यत्न और सहायता के बल्कि केवल अपने अंतःकरण की शुद्धि के बल से वह अधिकारी पुरुष उचित समय पाकर स्वयं उस आत्मानुभवरूप ज्ञान को अपने भीतर पा लेता अर्थात् साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३८ ॥ *

---

* उक्त श्लोक ३६, ३७ और ३८ पर श्रीज्ञानदेव विचित्र रूप से व्याख्या ऐसे करते हैं—"तुम यदि पाप की खानि भी हो, भ्रांति के समुद्र हो, और भ्रम के पर्वत हो, तथापि ज्ञानशक्ति की तुलना से ये सब अल्प हैं। इस ज्ञान में ऐसा उत्तम सामर्थ्य है। देखो विश्वाभास जैसी जो निराकार स्वरूप की परछाईं है सो जिसके प्रकाश के आगे नहीं टिकती, उसके सामने मन के अज्ञान की क्या कथा है! इसकी बात निकालना ही अयोग्य है। संसार में ज्ञान के समान बड़ी वस्तु दूसरी नहीं है। अहो तीनों भुवनों का जो आकाश में धुआँ उड़ा देता है, उस प्रलयकाल के तूफ़ान के सामने क्या मेघ टिक सकते हैं? अथवा पवन के कोप से जो पानी भी जला डालता है, सो प्रलयाग्नि क्या घास और इंधन से बुझ सकता है? बहुत क्या कहा जाय, ये बातें हो नहीं सकतीं। उनका विचार ही असंगत दिखाई देता है, ज्ञान के समान कोई भी वस्तु पवित्र दिखाई नहीं देती। इस संसार में ज्ञान ही एक उत्तम वस्तु है। जैसे चैतन्य जैसी दूसरी वस्तु नहीं होती, वैसे ही इसके जैसी दूसरी वस्तु कहाँ है? यदि सूर्य के तेज की कसौटी से प्रतिबिंब उज्ज्वल दिखाई दे सकता हो, अथवा यदि आकाश चपेटने से चपेटा जा सकता हो, अथवा पृथिवी के बराबरी का कोई माप मिल सकता हो, तो ही हे पांडुकुँवर! ज्ञान की कोई उपमा मिल सकती है। अतएव अनेक प्रकार से देखने से और बारंबार विचार करने से इस ज्ञान की पवित्रता ज्ञान ही में है। जैसे अमृत की रुचि बखानी जाय तो अमृत जैसी ही कही जावेगी; वैसे ही

संबंध—पूर्व श्लोक ३४ तक तो आत्मज्ञान को दूसरों (आचार्यों) से साखने और समझने के साधन वर्णन हुए, फिर ज्ञान की महिमा वर्णन की गई। अब भगवान् (१) उस ज्ञान के अधिकारी पुरुषों के लक्षण वर्णन करते हैं—

अथवा (२) गुरुओं से उपदिष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभव करने के साधन वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जो पुरुष स्वयं ज्ञान को प्राप्त न कर सके, उसके लिए श्रद्धा इत्यादि का दूसरा मार्ग वर्णन करते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

श्रद्धावान्^{1}, लभते^{7}, ज्ञानं^{6}, तत्^{2}-परः^{3}, संयत^{4}- इन्द्रियः^{5}	श्रद्धावान्^{1}, उस^{2} परायण^{3} हुआ, जित^{4}-इंद्रिय^{5} पुरुष ज्ञान^{6} को पाता^{7} है	ज्ञानं^{1}, लब्ध्वा^{2}, परां^{3}, शांतिं^{4}, अचिरेण^{5}, अधिगच्छति^{6}	ज्ञान^{1} को पाकर^{2} परम^{3} शांति^{4} को वह शीघ्र^{5} प्राप्त^{6} होता है

अन्वयार्थ—श्रद्धावान्, तत्पर और जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है। और ज्ञान को पाकर (फिर वह) परम शांति को शीघ्र प्राप्त होता है॥ ३९॥

व्याख्या—हे अर्जुन! ज्ञान की महिमा उसका फल और उसके सीखने का स्थान और विधि दर्शाकर अब मैं यह दर्शाता हूँ कि "कौनसा पुरुष, किन-किन लक्षणों से युक्त हुआ-हुआ, अथवा

ज्ञान की उपमा ज्ञान ही हो सकती है। अब इस पर और जो कुछ कहा जाय, वह सब समय वृथा खोना है।"

किन-किन उपायों से, उस ज्ञान का साक्षात्कार करता है,' उसे सुन। जो पुरुष प्रथम तो श्रद्धावान् हो; फिर उस (ज्ञान) के परायण हो, अर्थात् जो कुछ श्रद्धा से सुने, उसको बर्ताव में लाने के लिए पूर्ण प्रवृत्त रहनेवाला हो; और अपनी इंद्रियों के वश में न हो बल्कि जो इंद्रियों को अपने वश में किये हुए हो; ऐसा पुरुष ज्ञान को पाकर अनुभव द्वारा परम शांतिरूप मोक्ष को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥*

संबंध--ज्ञान का अधिकारी वर्णन करके अब उसके विपरीत गुणों वाले (अनधिकारी) को सहित उसके फल के भगवान् कथन करते हैं---

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

---

* तात्पर्य यह है कि श्रद्धालु होने पर भी कोई पुरुष मंद गति (आलसी) हो सकता है; परंतु विना उस ज्ञान के परायण हुए कोई उस ज्ञान को अनुभव नहीं कर सकता है; इसलिए 'तत्पर' उसका विशेषण कहा है। फिर 'तत्पर पुरुष' भी अजितेंद्रिय हो सकता है; विना अपनी इंद्रियों को वश में किये कोई पुरुष उस पवित्र ज्ञान का साक्षात्कार नहीं कर सकता, अतएव उसका जितेंद्रिय विशेषण भी कहा है। अर्थात् इन तीन विशेषणोंवाला पुरुष ही ज्ञान को साक्षात्कार कर सकता है, उससे अतिरिक्त नहीं। अथवा इन तीन उपायों से ही मनुष्य आत्मानुभव कर सकता है, इनसे अतिरिक्त उपायों द्वारा नहीं; अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के ये न चूकनेवाले साधन हैं। पूर्व जो श्लोक २४ में प्रणिपात इत्यादि उपाय कहे गये थे, वे तो गुरु के चित्त को अपनी ओर झुकाने के लिए थे, न कि आत्मानुभव के लिए।

अज्ञः, च,	अज्ञानी[१] (मूर्ख),	न[२], अयं[३], लोकः[४],	संशयात्मा[१] को
अश्रद्दधानः[२], च[३],	अश्रद्धावान्[२]	अस्ति, न[५],	न[२] यह[३] लोक[४], न[५]
संशय-आत्मा[४],	और[३] संशयात्मा[४]	परः[६], न[७], सुखं[८],	परलोक[६] और
विनश्यति[५]	नष्ट[५] होता है	संशयात्मनः[१]	न[७] सुख है[९]

पहला * अन्वयार्थ—अज्ञानी, अश्रद्धावान् और संशयात्मा (पुरुष) नष्ट होता है । संशयात्मा का न यह लोक है, न परलोक और न (उसको) सुख है ॥ ४० ॥

दूसरा अन्वयार्थ—(परंतु) जिसे न ज्ञान है और न श्रद्धा है, उस संशयात्मा मनुष्य का नाश हो जाता है । संशयात्मा को न यह लोक है, न परलोक और न सुख ही है ॥ ४० ॥

तीसरा अन्वयार्थ—संशयग्रस्त पुरुष अज्ञानी और अश्रद्धावान् हुआ नष्ट होता है । संशयग्रस्त को न यह लोक, न परलोक और न सुख ही है ॥ ४० ॥

चौथा अन्वयार्थ—अज्ञानी और अश्रद्धावान् पुरुष संशयात्मा हुआ नाश हो जाता है । संशयात्मा को न यह लोक सिद्ध होता है, न परलोक और न सुख ही है ॥ ४० ॥†

---

* पहले और दूसरे अर्थ तो बहुत टीकाकारों ने दिये हैं, और तीसरे वा चौथे किसी एक-दो ने । परंतु पूर्वापर के संबंध और व्याकरण की रीति से अपने-अपने स्थान पर चारों ही अर्थ युक्त हो सकते हैं, इसलिए हमने यहाँ चारों ही दे दिये हैं, जिसको जो उत्तम दीखें, वही ग्रहण कर ले ।

† इस विषय का श्लोक महाभारत (३, २००, ११२) में इस प्रकार है—

"नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥"

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष अज्ञानी अर्थात् मूर्ख है; जो श्रद्धा-रहित है, अर्थात् शास्त्र, गुरु वा महात्मा के वाक्य पर जो पूर्ण विश्वास नहीं रखता है; और जो संशयात्मा है, अर्थात् अपने चित्त के भीतर अनंत संशय भरे रखता है; ऐसे विशेषणोंवाले पुरुष का अवश्य नाश होता है। अर्थात् जिस प्रयोजन के लिए मनुष्य-शरीर मिला है, उससे भ्रष्ट हुआ वह मरे के तुल्य होता है। यह अज्ञानी और अश्रद्धावान् तो केवल नाश अर्थात् अधोगति को ही प्राप्त होता है; परंतु संशयात्मा (वहमी, भ्रमी, शक्की वा संदेहवान्) पुरुष का न केवल नाश (अधोगति) ही होता है, बल्कि उसका न यह लोक सिद्ध होता है, न परलोक, और न उसे कोई सुख ही मिलता है। अर्थात् संशयात्मा का न व्यवहार सिद्ध होता है, न परमार्थ, अतएव उसे कोई सुख ही नहीं होता ॥ ४० ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष अज्ञानी और अश्रद्धावान् होने के कारण संशयात्मा अर्थात् संशयग्रस्त हो गया है, अथवा जो पुरुष संशयग्रस्त (वहमी, भ्रमी और शक्की) होने के कारण, श्रद्धा और ज्ञान से हीन हुआ होता है। ऐसे संशयात्मा पुरुष का नाश होता है, अर्थात् मनुष्यत्व से उसका गिरना वा अधोगमन होता है। अर्थात् यह संभव है कि केवल मूर्ख कभी बुद्धिमान् और केवल अविश्वासी कभी विश्वासी हो जाय। पर जब वह मूर्ख और अविश्वासी मनुष्य संदेहों में डूबा रहनेवाला होकर संशयात्मा (पक्का भ्रमी) हो जाता है, तो उसकी किसी

अर्थ—वृद्ध ज्ञानियों ने कहा है कि संशय करनेवाले को न यह लोक, न परलोक और न सुख प्राप्त होता है, बल्कि निश्चय (विश्वास) ही मोक्ष का लक्षण है।

प्रकार से ऊर्ध्वगति नहीं बल्कि सर्वप्रकार से अधोगति ही होती है, और इसी प्रकार अधोगति को वह प्राप्त हुआ नष्ट हो जाता है । ऐसे संशयात्मा पुरुष का न यह लोक सुधर सकता है, न परलोक और न उसे कहीं भी सुख मिल सकता है; बल्कि दर-बदर भटकता हुआ वह अशांत, दुःखी और असंतुष्ट ही रहता है ॥ ४० ॥*

---

* ज्ञानेश्वर महाराज इस श्लोक की व्याख्या विचित्र रूप से विस्तारपूर्वक ऐसे करते हैं कि—"सुनो, जिस प्राणी को इस ज्ञान की रुचि नहीं है, उसके जीवित के विषय क्या कहा जाय ? उससे मृत्यु भला है । जैसे कोई सूना घर अथवा प्राणरहित शरीर हो, वैसे ही ज्ञान के बिना मोहयुक्त जीवित है । अथवा ज्ञान तो निश्चय से प्राप्त न हो किंतु उसकी इच्छा हो तो भी कुछ प्राप्ति की संभावना हो सकती है, परंतु यदि ज्ञान की बात ही क्या है, किंतु मन में आस्था भी नहीं है, तो वह मनुष्य संशयरूप अग्नि में पड़ा हुआ जानो । कारण, जब अमृत भी नहीं भाता, ऐसी अरुचि (उस अमृत से) उत्पन्न होती है, तब निश्चय से मृत्यु आया समझा जाता है । वैसे ही विषयों के सुख से जो सुखी होता है, ज्ञान के विषय जो बेपरवाह है, वह संशय के वश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं । और एक बार संशय में जा पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है, और यह लोक तथा परलोक के सुख से हाथ धो बैठता है । जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है, वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है ; वैसे वह संशय से व्याकुल मनुष्य सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता । जन्मांध को रात और दिन जैसे मालूम नहीं पड़ते, वैसे ही संशय में रहने से कुछ भी नहीं जान पड़ता । इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है । प्राणियों को यह नाश का जाल है । इसलिए इसका त्याग करना चाहिए । यह ज्ञान के अभाव

संबंध—(१) अब पूर्वोक्त उपदेश (कर्मयोग और ज्ञानयोग) का समुच्चय भगवान् उपसंहार रूप से दो श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब प्रकरण की समाप्ति करते हुए भगवान् दो श्लोकों में कर्त्तव्य बताते हैं—

अथवा (३) यहाँ तक ज्ञानप्राप्ति के दो मार्ग स्पष्ट किये गये, एक बुद्धि का और दूसरा श्रद्धा का। अब ज्ञान और कर्मयोग का पृथक्-पृथक् उपयोग दर्शाते हुए भगवान् इस सारे विषय का उपसंहार करते हैं—

अथवा (४) अब विषय की समाप्ति में भगवान् अपना मुख्य वक्तव्य ज्ञान, कर्म और भक्ति का समुच्चय स्पष्ट करते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१॥

योग^1-संन्यस्त^2-कर्माणं^{3}	योग^1 से त्यागे^{2} हुए कर्मों^{3}वाले को	आत्म^1-वन्तं^{2}, न^5, कर्माणि^{4}, निबध्नन्ति^{6}, धनञ्जय^3	आ^{1}त्मवा^{2}न् को हे अ^{3}र्जुन ! कर्म^4 न^{5}हीं बाँध^{6}ते हैं
ज्ञान^1-संछिन्न^2-संशयं^{3}	ज्ञान^1 से कट^2 गये संशयों^{3}वाले को		

अन्वयार्थ—योग * से त्यागे हुए कर्मोंवाले, ज्ञान से कट गये

में रहता है। इसी को प्रथम जीतना चाहिए। जब अज्ञान का अँधेरा पड़ता है, तब मन में इस संशय की अत्यंत वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही टूट जाता है, और यह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी खोज कर ग्रास लेता है। तब तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते हैं।"

* "परमार्थ-दर्शनरूप ज्ञानयोग से जिसने समस्त धर्माधर्म रूप कर्म त्याग रक्खे हैं" (श्रीशंकराचार्य)। इस कथन से भाष्यकार का अभिप्राय

संशयोंवाले और आत्मवान् * पुरुष को, हे अर्जुन ! कर्म नहीं बाँधते हैं ॥ ४१ ॥

यही समझा जा सकता है कि जिसने धर्माधर्म रूप कर्म स्वार्थबुद्धि से त्याग रक्खे हैं, न कि निःस्वार्थबुद्धि से। और यदि संपूर्ण रूप से कर्म का त्याग अभिप्राय लिया जाय, अर्थात् इस कथन से अर्थ यदि निःस्वार्थबुद्धि के भी कर्मों का त्याग लिया जाय, तो इस अर्थ में "कर्म नहीं बाँधते" यह कहना भगवान् का नितांत व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि जब सर्वप्रकार से कर्म नितांत त्याग ही दिये गये, तो फिर उनका बाँधना वा न बाँधना क्या ? इसलिए योग का अर्थ यहाँ ऐसा ज्ञानयोग अर्थात् संपूर्ण रूप से कर्म-त्याग ठीक नहीं बैठता है। भगवान् का अभिप्राय योग से यहाँ स्पष्ट "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" के प्रकार ईश्वरार्पण रूप कर्म से है, या "योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय" के अनुसार केवल कर्म-संग छोड़ने से है।

* आत्मवान् पद का अर्थ तो आत्मावाला है; परंतु इससे यह तात्पर्य नहीं कि जो पुरुष संशयवान् वा कर्मासक्त है, वह आत्मा से रहित है, और जो निश्चयवान् वा कर्मयोगी है वही आत्मा के सहित है; बल्कि अभिप्राय उस पुरुष से है कि जो अपने आपमें स्थित (self-possessed), प्रमाद से रहित, सावधान वा अपने आपको अपने वश किये हुए है। और यह ज़रूरी नहीं कि आत्मानुभवी (ब्रह्मवित्) पुरुष ही इस लक्षणवाला हो सकता है, बल्कि जो निष्काम चित्त से कर्म करते-करते और सत्-असत् के विवेक से अपने भीतर के संशय निवारण करते-करते आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी हो गया है, वह (अधिकारी अर्थात् परोऽक्ष ज्ञानी) भी आत्मवान् लक्षणवाला हो सकता है। इसलिए आत्मवान् से अभिप्राय यहाँ केवल आत्मज्ञानी नहीं, किंतु आत्मज्ञान का अधिकारी भी है। परंतु श्रीतिलक महाराज ने इस पद का अभिप्राय केवल आत्मज्ञानी लेकर श्लोक के अर्थ ऐसे किये हैं—"हे धनंजय !

व्याख्या--हे अर्जुन ! योग से जिसने कर्म त्यागे हुए हैं, अर्थात् जिसने शारीरिक कर्म तो नहीं त्यागे, परंतु समत्वबुद्धि में युक्त होने से कर्म में कर्तृत्वभाव, आसक्ति और फल-कामना त्यागी हुई है। दूसरे शब्दों में यूँ कि जिसके बाह्य शारीरिक कर्म नहीं किंतु भीतर के कर्म (समत्व भाव में युक्त होने से) त्यागे हुए हैं; अथवा समत्वबुद्धि में युक्त होकर निरासक्त मन से, या ईश्वरार्पण भाव से कर्म करते-करते जिसकी वृत्ति अपने स्वरूप के ध्यान में ऐसी लीन हो गई है कि उसके सब शारीरिक और मानसिक कर्म स्वतः बंद पड़ गये हैं; अथवा परमार्थ-दर्शनरूप योग से जिसने धर्माधर्मरूप भाव तो कर्मों में त्याग दिया हुआ है, पर जो स्वतः प्राप्त या लोकसंग्रह-निमित्त कर्म अथवा स्वाभाविक कर्म को उसका कर्तृत्वादि संग छोड़कर करता रहता है। और आत्मज्ञान से जिसने अपने सब संशयों को काट रक्खा है, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने पर जिसके सब संशय (भ्रम वा शक) निवृत्त हो गये हैं (जैसा कि पूर्व "भिद्यते हृदयग्रंथि०" इत्यादि श्रुतियों से ३७वें श्लोक की व्याख्या में दर्शाया है)। और जो आत्मवान् अर्थात् आत्मनिष्ठ, सावधान, अप्रमत्त, वा अपने आप को अपने बल से अपने वश में रखनेवाला है, ऐसे पुरुष को किसी प्रकार के इष्ट और अनिष्ट कर्म कदापि नहीं बाँधते, अर्थात् उसे किसी प्रकार के बंधन में नहीं डाल सकते हैं ॥ ४१ ॥

संबंध—उक्त कथन को हेतु बनाकर भगवान् अब अंत में अर्जुन को ऐसे उपदेश करते हैं—

उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बद्ध नहीं कर सकते कि जिसने (कर्म-) योग के आश्रय से कर्म अर्थात् कर्म-बंधन त्याग दिये हैं और ज्ञान से जिसके (सब) संदेह दूर हो गये हैं ।"

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे यज्ञ-विभागयोगो नाम (अथवा ज्ञान-कर्म-संन्यास * योगो नाम) चतुर्थोऽध्यायः ।

तस्मात्,	इसलिए अज्ञान से	छित्त्वा, एनं,	इस संशय को
अज्ञान-सम्भूतं	उत्पन्न हुए को	संशयं	काट कर
हृत्-स्थं, ज्ञान-	हृदय में स्थित	योगं, आतिष्ठ,	हे अर्जुन !
असिना,	को आत्मा के ज्ञान	उत्तिष्ठ,	(कर्म-) योग
आत्मनः	के खड्ग से	भारत	में लग और उठ

अन्वयार्थ---इसलिए, हे अर्जुन ! अज्ञान से उत्पन्न और हृदय में स्थित इस संशय को आत्मा के ज्ञानरूपी खड्ग से काटकर योग में लग और उठ ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि संशयात्मा अज्ञानी को न इस लोक में सुख है, न परलोक में; और निश्चयात्मा ज्ञानवान् को कोई कर्म बंधायमान ही नहीं करता, बल्कि वह कर्म करते-

---

* यहाँ "ज्ञान-कर्म-संन्यास" पद में संन्यास शब्द से अभिप्राय स्वरूपतः 'कर्मत्याग' नहीं किंतु आत्मज्ञान के बल से कर्मसंग का त्याग अथवा निष्कामबुद्धि से परमेश्वर में कर्म का संन्यास अर्थात् अर्पण करना है । और आगे अठारहवें अध्याय के आरंभ में इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है ।

करते सीधा परम शांति ही को पाता मुक्त होता है। इसलिए तू भी हे भरत की संतान (अर्जुन)! इस संशय को (कि "मैं युद्ध करूँ वा न करूँ", "मैं सदा निर्विकार हूँ वा नहीं", या "मैं गुरुओं तथा बांधवों को मारकर पाप को ही प्राप्त हूँगा", इत्यादि संशय को) जो आत्मा के अविवेक से उत्पन्न हुआ है और जो तेरे हृदय में घर कर बैठा है, इसे आत्मज्ञान के खड्ग से काटकर तू योग में लग और उठ। अर्थात् आत्मा के विवेक से इस नीच और सब अनर्थों के मूल संशय को निवृत्त करके कर्मफल की कामना छोड़कर, सिद्धि और असिद्धि को सम समझते हुए, तू निरासक्त मन से कर्म का अनुष्ठान कर; इस रीति से कर्म करने को धर्मयुद्ध के लिए उठ। इस प्रकार संशय और आसक्ति से रहित होकर कर्म करने से तू कदापि पाप को प्राप्त नहीं होगा, और न वह कर्म तुझे किंचित् बंधायमान ही करने पायेगा ॥ ४२ ॥*

---

* इन दो श्लोकों (४१, ४२) पर श्रीतिलक महाराज ने ऐसे व्याख्या की हैं—"ईशावास्य उपनिषद् में 'विद्या' और 'अविद्या' का पृथक् उपयोग दिखलाकर जिस प्रकार दोनों को विना छोड़े ही आचरण करने के लिए कहा गया है (ईश ११); उसी प्रकार गीता के इन दो श्लोकों में ज्ञान और (कर्म-) योग का पृथक् उपयोग दिखलाकर उनके अर्थात् ज्ञान और योग के समुच्चय से ही कर्म करने के विषय में अर्जुन को उपदेश दिया गया है। इन दोनों का पृथक्-पृथक् उपयोग यह है कि निष्काम बुद्धियों के द्वारा कर्म करने पर उनके बंधन टूट जाते हैं और वे मोक्ष के लिए प्रतिबंधक नहीं होते, एवं ज्ञान से मन का संदेह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अतः अंतिम उपदेश यह है, अकेले कर्म या अकेले ज्ञान को स्वीकार न करो, किंतु ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक कर्मयोग का आश्रय करके युद्ध करो।"

इस अध्याय के सारे अर्थ को श्रीमधुसूदन स्वामी ने ऐसे श्लोकबद्ध किया है—

“स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते।
धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता ॥”

अर्थ—इस अध्याय में भगवान् ने अपने अनीश्वरपने की निवृत्ति करके अर्जुन में भक्ति और श्रद्धा दृढ़ की। फिर ज्ञान का हेतु जो कर्म-निष्ठा है, उसका उपसंहार किया। ※

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे यज्ञ-विभागयोगो नाम (अथवा ज्ञान-कर्म-संन्यासयोगो नाम) चतुर्थोऽध्यायः।

* * *

---

* श्रीयामुनाचार्य ने इस अध्याय के सार को ऐसे श्लोकबद्ध किया है—

“प्रसङ्गात् स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मतास्य च।
भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाध्याय उच्यते।”

अर्थ—इस चौथे अध्याय में प्रसंगपूर्वक अपने (ईश्वरीय) स्वभाव का भगवान् ने वर्णन किया। फिर कर्म का अकर्मपना और उसके भेद कहे, और फिर ज्ञान का माहात्म्य कहा है।

चौथे अध्याय का संक्षेप

(१) पूर्व अध्याय में कर्मयोग की सबके लिए आवश्यकता व उपयोगिता दर्शायी गई। अब चौथे अध्याय में उसी योग की सनातनता, उसका स्वरूप और ज्ञान-सहित करने की उसकी विधि और गति का सविस्तर वर्णन होता है। पहले भगवान् उस योग की सनातनता इस प्रकार दर्शाते हैं—

(क) मैंने यह सनातन कर्मयोग सारी सृष्टि के आदि (मूल) पुरुष विवस्वान् को बताया, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को। इस प्रकार होते-होते राजऋषियों ने इसको जाना।

(ख) बहुत काल से यह योग लोप हो गया हुआ था, इसलिए पुनः इसको नये सिरे से ताज़ा करने के लिए मैंने आज तुझे बताया।

(२) इस कथन पर अर्जुन संदेहयुक्त हुआ पूछता है कि—

आपका जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् का पहले। मैं क्योंकर जानूँ कि आपने इस योग को पहले कहा?

(३) इस संशय पर भगवान् उत्तर देते हैं कि—

(क) मेरे और तेरे बहुत से जन्म हुए हैं, तू (अज्ञान के कारण) उन्हें नहीं जानता, परंतु मैं जानता हूँ।

(ख) पर साधारण जीवों के समान मेरे जन्म नहीं हुआ करते, क्योंकि—

१. मैं अजन्मा और सबका ईश्वर होता हुआ भी अपनी माया से जन्म लेता हूँ, साधारण पुरुषों के समान कर्मबद्ध होकर नहीं।

२. कोई कर्मफल भोगने के लिए मैं देह धारण नहीं करता, किंतु जब कभी धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं साधु-महात्माओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के नाश के लिए अपने आपको रच लेता (देह धारण करता) हूँ। इस प्रकार सृष्टि की रचना और रक्षा के लिए अपनी ही माया से मैं जन्म लेता हूँ, कोई कर्माधीन होकर नहीं।

(४) फिर भगवान् अपने दिव्य जन्मकर्मों के ज्ञाता और उपासक के विषय तथा अपनी वास्तविक अवस्था के विषय कहते हैं—

(क) जो मेरे दिव्य जन्मकर्मों को यथार्थ जानता है, वह पुनर्जन्म को नहीं पाता, बल्कि सीधा मुझे ही प्राप्त होता है।

(ख) और जो राग-भय-क्रोध से रहित, मेरे ही आश्रित हुए, मेरे ध्यान में मग्न होकर, बहुत से तपों व ज्ञान से शुद्ध अंतःकरण होते हैं, वे सीधा मेरा ही स्वरूप हो जाते अर्थात् मुक्ति लाभ करते हैं।

(ग) जो जिस भावना से मेरे पास आते अर्थात् मेरी उपासना करते हैं, उसी भावना से मैं उनको मिलता (अनुग्रह करता) हूँ। अर्थात् दुःखी के दुःख को दूर करता हूँ, अर्थी के अर्थ को पूरा करता हूँ, मुमुक्षु को ज्ञान, ज्ञानी को मोक्ष और जगत् के उद्धार करने की इच्छावाले को जगत् के उद्धार का सामर्थ्य देता हूँ।

(घ) गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझसे ही रचे गये हैं। उनका कर्त्ता होता हुआ भी तू मुझे

अविनाशी और अकर्त्ता समझ। क्योंकि न मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न कर्मफल की मुझे कोई इच्छा है।

(५) अपनी वास्तविक दशा और उसके ज्ञाता का फल दर्शाकर भगवान् फिर अर्जुन को ऐसे उपदेश देते हैं—

(क) इस प्रकार मेरी वास्तविक दशा को जानकर पूर्व मुमुक्षुओं ने भी कर्म किये हैं, और अब तू भी उनके समान कर्म कर।

(ख) परंतु कर्म करने से पहले तू यह जान ले, अर्थात् यह समझ ले कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है, क्योंकि कर्म की गति गहन है और इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी धोखा खा गये हैं। और जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म को पहचान लेता है, वही वास्तव में बुद्धिमान् होता है, और वही ठीक रीति से समस्त कर्म कर सकता है, अन्य नहीं।

(ग) और जिन्होंने कर्म के तत्त्व और मेरी वास्तविक दशा को जान लिया है, और इस कारण से जिनके सारे कर्म स्वार्थ-कामना और स्वार्थ-संकल्पों से रहित हैं; उनके तो समस्त कर्म उक्त ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं। उन्हीं को विचारवान् महात्मा लोग पंडित कहते हैं।

(घ) वे (पंडित) कर्म-फल को त्यागकर नित्य तृप्त और निराश्रय रहते हैं, और कर्म करते हुए भी वास्तव में कुछ नहीं करते होते।

(ङ) वे तो सर्वप्रकार के त्याग से युक्त हुए, अर्थात्

आशा, ममता और अधीनता से रहित हुए केवल शरीर से कर्म करते हैं, और इसी कारण से किसी पाप को वे प्राप्त नहीं होते ।

(च) जो स्वतः प्राप्त हो उस पर संतुष्ट रहनेवाले, द्वंद्वातीत, ईर्ष्यारहित और सिद्धि-असिद्धि में समपुरुष कर्म करते भी कर्म से बंधायमान नहीं होने पाते ।

(छ) ऐसे निरासक्त, निष्कामी और समत्वभाव से युक्त ज्ञानवान् पुरुष के कर्म तो यज्ञ-निमित्त वा भगवदर्पण-निमित्त होते हैं, जिससे कर्त्ता को विना बंधायमान किये वे समग्र विलीन हो जाते हैं ।

(६) इसके बाद भगवान् अब तेरह प्रकार के यज्ञ वर्णन करते हैं——

सबसे पहले "सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रूप सम्यक् दर्शन" की यज्ञरूप से स्तुति करते हैं। फिर (२) दैवयज्ञ, (३) ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ का हवनरूप ब्रह्मयज्ञ, (४) संयमाग्नि में श्रोत्रादि इंद्रियों का हवनरूप इंद्रिययज्ञ, (५) इंद्रियाग्नि में शब्दादि विषयों का हवनरूप विषययज्ञ, (६) आत्मसंयमाग्नि में सब इंद्रियों और प्राणों के कर्मों का हवनरूप कर्मयज्ञ, (७) द्रव्ययज्ञ अर्थात् धनयज्ञ, (८) तपयज्ञ, (९) योगयज्ञ, (१०) स्वाध्याययज्ञ, (११) ज्ञानयज्ञ, (१२) प्राण का अपान में और अपान का प्राण में हवनरूप प्राणायामयज्ञ और (१३) प्राणों का प्राणों में हवनरूप प्राणयज्ञ। इन से अतिरिक्त और भी कर्म जिनसे कुछ उपकार वा आध्यात्मिक उन्नति होती हो उसे भी यज्ञ नाम देते हैं, और इन सब नाना प्रकार के यज्ञों का सविस्तर वर्णन वा उपदेश वेदों में दिया बतलाते हैं ।

(७) फिर भगवान् इन यज्ञों के फल और उनकी उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि—

(क) इन यज्ञों के जाननेवाले अर्थात् करनेवाले और यज्ञों से बचा हुआ अमृत खानेवाले समस्त पापों से निवृत्त हुए सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

(ख) जो अयज्ञी (यज्ञ न करनेवाले) हैं, उनके लिए तो यह लोक भी सिद्ध नहीं फिर परलोक कहाँ? अर्थात् वे दोनों लोकों की सिद्धि से हाथ धो बैठते हैं।

(ग) ये यज्ञ स्वतः आकाश से नहीं प्रकट हो जाते, बल्कि इन सबकी उत्पत्ति, हे अर्जुन! तू कर्म से जान।

(घ) इन सारे यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि समस्त कर्म सहित फल के ज्ञान में आ प्राप्त होते हैं, अर्थात् ज्ञानयज्ञ के अंतर्गत हैं।

(८) इस प्रकार ज्ञानयज्ञ को सर्वोपरि श्रेष्ट कहकर भगवान् फिर उस ज्ञान के सीखने की विधि, ज्ञान के अधिकारी के लक्षण, तथा ज्ञान के अनुभव करने के उपाय सहित फल के वर्णन करते हैं कि—

(क) जब कोई तत्त्वदर्शियों के पास बड़े नम्रभाव से जाकर दंडवत् प्रणाम करता है, सच्चे हृदय से उनकी (शिष्यभाव से) सेवा करता है, और अपनी भक्ति-पूर्वक सेवा से प्रसन्न करके उनसे इस तत्त्व को पूछता है, तो वे बड़े आनंद से इस ज्ञान का उपदेश करते हैं। ऐसे तू भी जाकर सीख।

(ख) यह ज्ञान ऐसा है कि इसके जानने के पीछे फिर कुछ

जानना बाक़ी नहीं रहता, और इसको जानकर मनुष्य फिर धोखा नहीं खाता, बल्कि सब पदार्थों को अपने में वा भगवान् में देखता है।

(ग) यदि कोई पापियों से भी अधिक पापी होता है, तो वह भी इस ज्ञानरूपी नौका से समस्त पापों को तर जाता है।

(घ) जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को भस्म कर देती है, वैसे यह ज्ञानाग्नि मनुष्य के सब (संचित और आगामी कर्मों को भस्मीभूत कर देती है।

(ङ) संसार में इस ज्ञान से बढ़कर पवित्र करनेवाला साधन (अथवा पवित्र वस्तु) और कोई भी नहीं है।

(च) कर्मयोग में युक्त होने से, अर्थात् समता भाव से और निरासक्त मन के साथ नित्य कर्म करते-करते, जिसका अंतःकरण अत्यंत शुद्ध हो चुका है, वह विना कोई अन्य यत्न के इस ज्ञान को अंतःकरण में (वा अपने भीतर) समय पर स्वयं पा लेता अर्थात् अनुभव कर लेता है।

(छ) श्रद्धावान्, तत्पर और जितेंद्रिय पुरुष इस ज्ञान को पाता है, और पाकर फिर परम शांति को शीघ्र प्राप्त होता है।

(ज) अज्ञानी, अश्रद्धावान् और संशयात्मा पुरुष नष्ट होता है, बल्कि संशयात्मा पुरुष का तो न यह लोक सिद्ध होता है, न परलोक; अर्थात् न उसका व्यवहार सिद्ध होता है और न परमार्थ, इसलिए उसे कोई सुख नहीं होता।

(झ) पस, जिसने कर्मयोग द्वारा कर्म छोड़ दिये हैं,

अर्थात् जिसने कर्मों में आसक्ति त्याग दी है, और आत्मज्ञान से जिसने अपने सब संशय छिन्न-भिन्न कर दिये हैं; ऐसे सावधान पुरुष को कर्म कभी लिपायमान नहीं करते।

(९) इस प्रकार ज्ञान-सहित कर्मयोग की महिमा और फल दर्शा कर भगवान् अब अर्जुन को यह उपदेश देते हैं कि—

तू भी इसी प्रकार ज्ञानरूप खड्ग से हृदय के सब संशयों को (जो अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं) काटकर कर्मयोग में लग, और इसी कर्मयोग में लगने को तू धर्म-युद्ध के लिये उठ खड़ा हो।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, यज्ञ-विभाग-योग नामक (अथवा ज्ञान-कर्म-संन्यास-योगनामक) चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ

पञ्चमोऽध्यायः

संबंध-- चौथे अध्याय के श्लोक १५ (कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं) में अर्जुन को भगवान् ने उपदेश दिया कि--"पूर्व मुमुक्षुओं के समान तू भी कर्म ही कर", और फिर श्लोक १८ से २३ तक, अर्थात् "कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः"। १८। "यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः" । १९। "त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः" । २० । इत्यादि श्लोकों से यह स्पष्ट किया कि "कर्मों को निष्कामता से करता हुआ पुरुष कर्म में प्रवृत्त हुआ भी अकर्त्ता ही रहता है; साधारण पुरुषों के समान उसके कर्म बंधन का हेतु नहीं होते; वह तो उलटा (ऐसे कर्मों वा पापों से) मुक्त होता है।" इस प्रकार कर्मयोग की महिमा की। फिर श्लोक २४ से ३४ तक नाना प्रकार के यज्ञ वर्णन करते हुए भगवान् ने ज्ञानयज्ञ को सबसे श्रेष्ठ और कल्याणकारी दर्शाया। फिर ("सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" । ३३ । "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"।३८। "ज्ञानं लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।"३९ इत्यादि श्लोकों से) ज्ञान की यहाँ तक प्रशंसा की कि संपूर्ण कर्मों की समाप्ति इसी में सिद्ध की, और इस (ज्ञान) से बढ़कर किसी और को पवित्र करनेवाला नहीं दर्शाया बल्कि "इसी द्वारा शीघ्र शांति को पाता है," ऐसा सिद्धांत निरूपण किया। और फिर अंत में यह उपदेश

दिया कि (योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत) "हे अर्जुन! कर्मयोग में लग और उठ।" इस प्रकार कभी कर्मयोग की महिमा और आज्ञा सुनकर, और कभी ज्ञान अथवा योग से कर्म-संन्यस्त (जिसे भोला अर्जुन स्वरूप से कर्म-संन्यास समझता है) की सर्वोपरि प्रशंसा सुनकर अर्जुन (जैसे तीसरे अध्याय के आरंभ में संशययुक्त हो गया था वैसे अब उस) के चित्त में संदेह उठा, जिसके निवारणार्थ भगवान् से वह प्रश्न करता है, और उस पर पाँचवाँ अध्याय आरंभ होता है।

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

संन्यासं^{3}, कर्मणां^{2}, कृष्ण^{1}, पुनः^{5}, योगं^{6}, च^{4}, शंससि^{7}	हे कृष्ण^{1}! कर्मों^{2} के संन्यास^{3} को और^{4} फिर^{5} (कर्म-) योग^{6} को तू सराहता^{7} है	यत्^{2}, श्रेयः^{4}, एतयोः^{1}, एकं^{3}	इन^{1} दोनों में जो^{2} एक^{3} श्रेष्ठ^{4} (हो)
		तत्^{1}, मे^{2}, ब्रूहि^{5}, सु^{3}-निश्चितम्^{4}	वह^{1} मुझे^{2} ठीक^{3} निश्चय^{4} से कहो^{5}

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे कृष्णजी! आप (कभी) कर्मों के संन्यास को और फिर (कर्म-) योग को सराहते हो। इन दोनों में से जो एक श्रेष्ठ हो, वह ठीक निश्चय से मुझे आप कहिए॥ १॥

व्याख्या—चौथे अध्याय में कर्म और ज्ञान की अपने-अपने स्थान पर प्रशंसा करके भगवान् ने जो अध्याय के अंत (श्लोक ४१, ४२) में "योगसंन्यस्तकर्माणं" और "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" वर्णन किया, उसका तात्पर्य तो यह था कि "जिस पुरुष के कर्म शरीर से तो नहीं किंतु योग से छूटे हुए हैं, अर्थात् जिस पुरुष ने शारीरिक कर्म तो नहीं किंतु कर्म में संग-दोष त्याग रक्खा है, अथवा दूसरे शब्दों में यह कि जो ऐसी युक्ति से

कर्म करता है कि मन से न कर्म के कर्त्ताभाव अर्थात् कर्तृत्व में और न फल-कामना में आसक्त होता है, बल्कि कर्म करते समय भी जो मन से अपने अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग और साक्षीभाव वा निश्चय में युक्त रहता है; ऐसा योग से छोड़े हुए कर्मवाला आत्मवान् पुरुष कर्मों में बंधायमान होने नहीं पाता। इसलिए हे अर्जुन! तू उठ और इस प्रकार के कर्मयोग में युक्त हो।" पर भोला अर्जुन भगवान् के इस गुह्य आशय को न समझकर इन दोनों वाक्यों अर्थात् "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ" और "योगसंन्यस्तकर्माणं" के तात्पर्य को एक दूसरे के परस्पर विरुद्ध देखता है, जिससे ऐसा प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्णजी *! कभी तो आप कर्म-संन्यास की प्रशंसा करते हैं और कभी कर्मयोग की, अर्थात् कभी तो कर्म को छोड़ने के लिए आप कहते हैं, और कभी आप कर्म में लगने की आज्ञा देते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध वाक्यों से मुझे भ्रम हो रहा है, और एक में भी मन युक्त होने को उद्यत नहीं होता; और न एक ही समय में एक ही पुरुष से ये दोनों एक साथ हो सकते हैं। इसलिए कृपापूर्वक आप ठीक-ठीक निश्चय करके कहिए कि उन दोनों में से कौन सा एक श्रेष्ठ है, और मेरे लिए कौन सा (मार्ग) उपयोगी है; अथवा मुझे आपके कौन से वाक्य वा उपदेश पर चलना चाहिए कि जिसके अनुसार चलने से मुझे श्रेय की प्राप्ति हो॥ १॥

संबंध - अर्जुन के प्रश्न का भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

---

* कृष्ण के सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

संन्यासः,	संन्यास और कर्म-	तयोः, तु,	परंतु उन दोनों में
कर्म-योगः, च	योग	कर्म-संन्या-	कर्म-संन्यास से
निःश्रेयस-	दोनों कल्याण	सात्, कर्मयोगः,	कर्म-योग
करौ, उभौ	(मोक्ष) करनेवाले हैं	विशिष्यते	विशेष है

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—संन्यास और कर्म-योग दोनों कल्याण करनेवाले हैं। परंतु उन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्म-योग विशेष है ॥ २ ॥

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न का भगवान् ऐसे उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! यद्यपि संपूर्ण कर्मों का छोड़ना नितांत असंभव है, तथापि तेरे ख़याल में जो सब कायक, वाचक (वैदिक कर्मकांडादि) बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत में चुपके बैठे हुए तत्त्वचिंतन करना रूप संन्यास * है, जिसको सर्वसाधारण सांख्य-योग कहते हैं ;

---

* साधारण बोलचाल में वा अर्जुन के ख़याल में तो सब बाह्य कर्मों का त्याग संन्यास कहलाता है ; अर्थात् सर्वप्रकार के (कायक और वाचक) कर्मों को जान-बूझकर त्यागकर और संसार से विरक्त होकर किसी एकांत स्थान वा गुहा में बैठ केवल जड़ मूक आलसी की सी दशा को धारण कर तत्त्वचिंतन करना, संन्यास का ऐसा अर्थ अर्जुन वा साधारण लोग मानते हैं। पर भगवान् का अपना अभिप्राय संन्यास शब्द से ऐसा नहीं। वह अपने आशय को चौथे अध्याय के अंत (श्लोक ४१) में संक्षेप से प्रकट कर चुके हैं और आगे अधिक स्पष्ट करेंगे। श्लोक ४१ में भगवान् ने कर्म-संन्यास का लक्षण "योगसंन्यस्तकर्माणं" योग से त्यागे हुए कर्मोंवाला वर्णन किया है और इसी (पाँचवें) अध्याय के श्लोक ३ में वे स्पष्ट करके कहते हैं कि "उसे नित्य संन्यासी जानो, जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा।" अर्थात् कर्म-योग में युक्त होने से, अथवा सारे कर्मों को ईश्वर-परायण करने से जब पुरुष का मन अपने स्वरूप के ध्यान में ऐसा लीन वा स्थिर हो जाता है कि उसके अंतःकरण में

और यह जो निष्काम चित्त से कर्मों में युक्त होना रूप कर्म-योग है; ये दोनों ही कल्याणकारी वा मोक्ष दिलानेवाले हैं। परंतु पूर्व

कर्तृत्व का भाव नहीं रहता, समत्वबुद्धि प्राप्त हुई होती है, और चित्त किसी प्रकार की कामना वा राग-द्वेष में तरंगें नहीं उठाता, तो उस अवस्था का नाम भगवान् संन्यास लेते हैं।

परंतु अर्जुन के कर्म-संन्यास के भाव को सम्मुख रखकर उसको उत्तर देने की दृष्टि से भगवान् अब संन्यास शब्द से सांख्यमार्ग के संन्यास को ही यहाँ लेते हैं! अथवा अन्य रीति से उनका अभिप्राय उस कर्म-संन्यास अवस्था से भी हो सकता है कि जो कर्मातीत अवस्था होती है, अर्थात् जो तत्वचिंतन द्वारा (वृत्ति के निज स्वरूप में लीन वा आरूढ़ होने से) सर्वप्रकार के कायक, वाचक और मानसिक कर्मों का स्वतः बंद पड़ जाना रूप कर्म-संन्यास होता है।

वास्तव में कर्मों का छोड़ना मन वा चित्त की अवस्था पर निर्भर है, शरीर वा इंद्रियों पर नहीं। इसीलिए भगवान् कर्मों के छोड़ने और न छोड़ने को चित्तवृत्ति पर नियत करते हैं, शरीर वा बाह्य इंद्रियों पर नहीं। यह शरीर जो बाहर से चलता-फिरता, हिलता-जुलता दिखाई देता है, जब मरता है, तो यही मन वा चित्त है जो उसे यहाँ के और वहाँ के (दोनों लोकों के) भोगों को दिलाने का कारण होता है। इसलिए सारी गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि जो पुरुष मन से कर्मों को छोड़ देता है और न कर्म-फल की कामना रखता है, वह चाहे ऊपर से कर्मेंद्रियों द्वारा कर्म करता हो, पर वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता होता। वह ठीक निष्कर्मी वा संन्यासी होता है। और जो कोई शरीर के कर्म तो छोड़ बैठता है, पर मन से नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करता अनेक कामनाओं से युक्त होता है, तो वह पुरुष संन्यासी नहीं किंतु कपटी वा झूठा होता है, जिससे हानि हो हानि उठाता है और किंचित्-मात्र भी लाभ को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि ऐसा करने से न तो चित्त की कामनाएँ ही पूरी रीति से दूर होती हैं, और न मन ही

(अध्याय ३. ४ में) यह दर्शाया जा चुका है कि "प्रारंभ में बाह्य कर्म के बिना निष्कर्मावस्था वास्तव में भोगी ही नहीं जा सकती,

---

संकल्प-विकल्प तथा कर्तृत्वादि संग-दोष से रहित होने पाता है। और यह स्पष्ट है कि बल रखनेवाला (वीर्यवान्) ही ब्रह्मचारी हो सकता है, निर्बल (वीर्यहीन या नपुंसक) भला ब्रह्मचारी कैसे ? ईमानदारी उसी की है जिसके पास बहुत बड़ी अमानत रखी जाय, और वह फिर बिना पूछे उस अमानत को वापस लौटा दे, उसकी नहीं कि जिसके पास कोई अमानत छोड़ी ही न जाय और उसे बेईमानी करने का अवसर ही न प्राप्त हो। क्या नंगी नहायेगी और क्या निचोड़ेगी। ऐसे ही सच्चा त्यागी वा संन्यासी तो वह है कि जो ऊपर से तो अगणित कर्म कर रहा हो, अर्थात् इंद्रियों से नाना प्रकार के उपकाररूप व्यवहार कर रहा हो, परंतु भीतर चित्त से सब कर्म छोड़े हुए हो, और अगणित प्राप्त पदार्थों के होते हुए भी जो किंचित्-मात्र उनमें आसक्त न हो। और वह संन्यासी नहीं कि जो कर्म को वा संसार को दुःख या भय के कारण छोड़ दे, और जड़ मूक आलसी होकर एक स्थान में जा बैठे। ऐसे पुरुष को तो अपने चित्त के संतोष दिखाने का अवसर ही नहीं मिलता फिर उन्नति कैसे कर सकता है, और संतोष भी उसे कैसे हो सकता है। और न इस रीति से कर्म या संसार ही ठीक छूट सकता या छोड़ा जा सकता है (जैसा कि चौथे अध्याय के श्लोक १७ से १९ की व्याख्या तथा फ़ुटनोट में स्पष्ट दर्शाया गया है)। कर्म का वा संसार का ठीक-ठीक छोड़ना या छूटना यह है कि पुरुष संसार में रहे, सर्व कर्म जैसे चाहिए वैसे करे, पर इस रीति से करे कि चित्त का संतोष प्रकट हो, और कामना उत्पन्न न हो, ईमान ठीक रहे, दूसरों का उपकार भी हो, अपनी कामना के कारण दलदल में न फँसे, दूसरों को दुःख न पहुँचावे, अर्थात् दूसरों को दुःख पहुँचाने के उद्देश्य से कोई काम न करे, और न अपने तुच्छ आनंद, लौकिक सुख और लाभ के लिए ही कर्म करे। कर्म को केवल कर्त्तव्य समझकर ही करे,

और न त्यागमात्र से सिद्धि ही मिलती है", अतएव इन दोनों में कर्म-संन्यास अर्थात् बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत में तत्त्व-

---

और ऐसी विचारबुद्धि वा युक्ति से कर्म करने पर फल कुछ ही क्यों न प्राप्त हो, उसमें वह सुख-दुःख न माने। इस प्रकार निरासक्त मन से और समत्वभाव से कर्म करने का नाम कर्म-संन्यास है। इसी रीति से प्रथम भीतर के कर्म बंद हो जाते हैं, फिर बाहर के कर्म भी स्वतः बंद पड़ जाते हैं। इसी रीति से पुरुष संसार से ऊपर वर्तनेवाला वा पूर्ण विरक्त हो जाता है, अन्य रीति से ठीक नहीं होता। और इसी रीति के पूर्व भाग का नाम गौण रूप से कर्म-संन्यास और मुख्य रूप से कर्म-योग है, और इसी के अंतिम भाग का नाम कर्मातीत अवस्था अर्थात् मुख्य रूप से कर्म-संन्यास है; अर्थात् समत्वबुद्धि और तत्त्वविवेक के कारण जब भीतर मन से तो सब कर्म छोड़े गये हों और केवल शरीर से कर्म किये जा रहे हों, तो उस अवस्था का नाम बाह्य रूप से कर्म-योग है और आंतर रूप से कर्म-संन्यास है, क्योंकि भीतर से कर्म छूटे हुए होते हैं; और यही "योगसंन्यस्तकर्माणं" है। पर जब तत्त्वविवेक और समत्वबुद्धि के अधिक बढ़ जाने से बाहर के कर्म भी बंद पड़ जायँ, अर्थात् निजानंद के बढ़ने पर सर्वप्रकार के व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्म अनायास बंद पड़ जायँ, तो इस अवस्था का नाम बाह्याभ्यंतर रूप से कर्म-संन्यास है, केवल भीतर से नहीं। यही कर्मातीत अवस्था है। इसी उक्त रीति के ये दोनों भाग वा पक्ष मोक्ष दिलानेवाले हैं। पर जान-बूझकर कर्म छोड़ने का नाम जो संन्यास है; वह मोक्ष का साधन नहीं किंतु नरक का साधन होता है। इसलिए संन्यास से अपना अभिप्राय भगवान् का तो यूँ ही कर्म का त्याग नहीं किंतु कर्म में फलासक्ति का त्याग है, अथवा राग-द्वेष से रहित निर्द्वंद्व अवस्था संन्यास है, अथवा आत्मचिंतनार्थ बाह्य कर्म का त्याग, या ज्ञानयोग में अभिरत होकर कर्म का त्याग है, जो योग से भिन्न नहीं और न वास्तव में भिन्न फल ही दिलाता है। परंतु अर्जुन

चिंतन द्वारा चित्त निरोध करने की अपेक्षा कर्मयोग (चित्त से कामना वा कर्म-संग त्यागकर कर्मेंद्रियों से कर्मों में युक्त होकर चित्त का निरोध करना, अथवा आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता

संन्यास का अर्थ संपूर्णतः कर्म-त्याग या सांख्य-योग का कर्म-संन्यास लेकर प्रश्न करता है, जिसकी दृष्टि को लेकर भगवान् अब उत्तर देते हैं।

श्रीयुत तिलक महाराज इस श्लोक का आशय ऐसा प्रकट करते हैं—“कर्मों का करना और छोड़ देना, ये दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदाता हैं....इन दोनों मार्गों में कर्म छोड़ने के मार्ग की अपेक्षा कर्म करने का पक्ष ही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है; तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि भगवान् को यही मत ग्राह्य है कि साधनावस्था में ज्ञानप्राप्ति के लिए किये जानेवाले निष्काम कर्मों को ही ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोकसंग्रह के अर्थ मरण पर्यंत कर्त्तव्य समझकर करता रहे। यही अर्थ गीता ३, ७ में वर्णित है, यही ‘विशिष्यते’ पद वहाँ भी है; और उसके अगले श्लोक में अर्थात् गीता ३, ८ में ये स्पष्ट शब्द फिर भी हैं कि ‘अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है।’ इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों में कई स्थलों पर (बृ. ४. ४. २२) वर्णन है कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रखकर भिक्षा माँगते हुए घूमा करते हैं। परंतु उपनिषदों में भी यह नहीं कहा है कि ज्ञान के पश्चात् यह एक ही मार्ग है—दूसरा नहीं है। अतः केवल उल्लिखित उपनिषद्-वाक्य से ही गीता की एकवाक्यता करना उचित नहीं है। गीता का यह कथन नहीं है कि उपनिषदों में वर्णित यह संन्यास-मार्ग मोक्षप्रद नहीं है; किंतु यद्यपि कर्मयोग और संन्यास, दोनों मार्ग एक से ही मोक्षप्रद हैं, तथापि (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक ही होने पर भी) जगत् के व्यवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है कि ज्ञान के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है।”

और साक्षीरूप निश्चय करके कर्म में युक्त होकर मन का निष्क्रिय करना) विशेष अर्थात् अधिक लाभकारी है ॥ २ ॥ *

---

* कर्म-योग और कर्म-संन्यास दोनों का उद्देश्य और लक्ष्य (चित्त का निरोध और मोक्ष) एक ही है, इसलिए दोनों ही कल्याणकारी हैं। परंतु कर्म-योग इसलिए विशेष है कि—

(१) कर्म-योग से आत्म-चिंतन भी होता है और धर्मकार्य भी, जिससे अपना और दूसरों का अर्थात् दोहरा कल्याण होता है, परंतु बाह्य कर्म-त्याग से (तत्त्वचिंतन द्वारा) केवल अपना ही कल्याण होता दिखाई देता है, दूसरों का नहीं।

(२) कर्म-योग द्वारा ही कर्म-त्याग का पद प्रायः प्राप्त होता है, अर्थात् कर्म-योग का परिणाम ही संन्यास (अनायास कर्मातीत होना) है। इस हेतु से भी कर्म-योग मुख्य है, और अपरोऽक्ष ज्ञान की प्राप्ति का प्रथम और सुगम साधन होने से मोक्ष के दिलानेवाला या कल्याणकारी विशेष है।

(३) कर्म-योग से दोहरा चिंतन परमात्मा का होता है। प्रथम तो कर्म ईश्वरनिमित्त करने से परमात्मचिंतन स्वतः होता है, और फिर कर्म के समय अपने आपको स्वरूप से अकर्त्ता, अभोक्ता निश्चयपूर्वक मनन करने से परमात्मचिंतन होता है। और कर्म-त्याग में केवल (एकांत में चुपचाप बैठकर) ध्यान द्वारा ही आत्मचिंतन होता है।

(४) कर्म-त्याग में तो फिसलने का भी भय है, और कर्म-योग में फिसलने का भय भी नहीं, बल्कि इसका थोड़ा अंश किया हुआ भी बड़े भारी भय से बचा देता है।

(५) पूर्व अध्याय ३ के श्लोक ४ में यह दर्शाया जा चुका है कि विना कर्म के निष्कर्म भाव ठीक भोगा ही नहीं जा सकता, और न त्यागमात्र से किसी प्रकार की सिद्धि ही ठीक प्राप्त होती है। और यह देखने में भी आ रहा है कि बाह्य (इंद्रियों के) कर्म के विना न मन को संतोष होता है और न अपने को वश में करने की शक्ति प्राप्त होती

संबंध—अर्जुन के उक्त संन्यास शब्द के अभिप्राय की दृष्टि से उत्तर देने के बाद अब भगवान् का जो अपना अभिप्राय संन्यास शब्द से था और है, उसे अधिक स्पष्ट करके कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञेयः^{4}, सः^{1}, नित्य^{2}-संन्यासी^{3}	वह^{1} नित्य^{2} संन्यासी^{3} समझा^{4} जाना चाहिए	निर्^{3}-द्वन्द्वः^{2}, हि^{1}, महाबाहो^{4}, सुखं^{5}, बन्धात्^{6}, प्रमुच्यते^{7}	क्योंकि^{1} द्वन्द्व^{2} से रहित^{3} पुरुष, हे अर्जुन^{4} ! सुख^{5}- पूर्वक बंधन^{6} से छूट^{7} जाता है
यः^{1}, न^{2}, द्वेष्टि^{3}, न^{4}, काङ्क्षति^{5}	जो^{1} न^{2} द्वेष^{3} करता है, न^{4} इच्छा^{5} करता है		

अन्वयार्थ—वह नित्य संन्यासी समझा जाना चाहिए कि जो न द्वेष करता है और न इच्छा करता है। क्योंकि द्वंद्व से रहित पुरुष, हे अर्जुन ! सुखपूर्वक बंधन से छूट जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि संन्यास और योग दोनों कल्याणकारी हैं, तथापि वह पुरुष जो जान-बूझकर कर्म करना छोड़ बैठता है, या जो ऐसा समझकर "कि किंचित्-मात्र भी कर्त्तव्य के न रहने का नाम संन्यास है, और मैं संन्यासी हूँ, इसलिए

है, इंद्रियाँ बेकार और इसी प्रकार से बेलगाम रहती हैं, और समय-समय पर अवसर पाकर मन को ऐसा धक्का देती हैं कि ज्ञान भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, अर्थात् सुधबुध दूर हो जाती है, जिससे मन फिर झट काम क्रोधादि के वश में आ जाता है। इस प्रकार इस (कर्म-योग) के विना ज्ञान की नींव भी ठीक नहीं पड़ती ; जब नींव ही ठीक नहीं, तो स्थिरता कैसे हो सकती है। अतएव कर्म-संन्यास से कर्म-योग विशेष लाभदायक अर्थात् अच्छा है।

अब मुझे कुछ भी करना उचित नहीं," कर्म करना छोड़ बैठता है, और साधारण पुरुषों में संन्यासी माना जाता है, ऐसे जान-बूझकर कर्म छोड़नेवाले, अथवा कर्म के दुःख से डरकर कर्म न करनेवाले, अथवा आलस्य व अज्ञान के कारण कर्महीन होनेवाले संन्यासी से मेरा अभिप्राय नहीं है। मेरे मतानुसार तो वह पुरुष संन्यासी है कि जो चाहे ऊपर से (कर्मेंद्रियों से) कर्म कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, किंतु भीतर चित्त में न कोई राग-द्वेष रखता हो और न कर्म-फल की आकांक्षा, अर्थात् चित्त से न प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष और न अनुकूल पदार्थों में प्रीति रखता हो, बल्कि सब कर्मों में तथा सब पदार्थों वा अवस्थाओं में समबुद्धि और शांत चित्त रहता हो। इसलिए जो भी मनुष्य सुख-दुःख, कर्म-अकर्म, शीतोष्णादि द्वंद्वों से रहित हुआ निर्द्वंद्व हो, उसे नित्य संन्यासी समझना चाहिए। अर्थात् ऐसा निर्द्वंद्व पुरुष जब इंद्रियों से कोई कर्म कर रहा हो, तो कर्म करता दिखाई देने से यद्यपि कर्म-योगी कहलाता है, पर वास्तव में वह कुछ नहीं करता होता ; इसलिए कर्म के समय भी उसे कर्म-त्यागी ही समझना चाहिए। अर्थात् एकांत-सेवन के समय अपनी वाह्य अकर्म-अवस्था में तो वह कर्म-संन्यासी दिखाई देता ही है, परंतु कर्म के समय भी भीतर से निष्कर्मी होने के कारण उसे (कर्म, अकर्म सब अवस्थाओं में) नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए। और ऐसा समदर्शी व स्थिरधी पुरुष जान-बूझकर, अथवा दुःख, भय, अज्ञान और आलस्य के कारण, कर्मों को तथा कर्मों के फलरूपी बंधनों को नहीं छोड़ता बल्कि उक्त कर्म-योग में युक्त होने से, अथवा तत्त्वचिंतन द्वारा एकांत में आत्म-ध्यान में लीन होने से वह अनायास ही कर्मों वा कर्म-बंधनों से छूट जाता है, जिससे सुखपूर्वक मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कारण से भी ऐसे

निर्द्वंद्व सांख्य-योगी वा कर्म-योगी को नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए ॥ ३ ॥

संबंध—(१) उक्त संन्यास अवस्था क्योंकि सांख्य-योग और कर्म-योग इन दोनों से प्राप्त होती है, इसलिए इन दोनों की फलरूप से एकता भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त सांख्य (तत्त्वचिंतन वा ज्ञान-योग) और योग (कर्म-योग) जो परस्पर आधार-आधेयरूप से अंग-अंगी भाव रखते हुए मोक्ष के साधन हैं, इन दोनों की एकता इनके अंतिम फल और उद्देश्य से भगवान् अब दर्शाते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य[1]-योगौ[2], पृथक्[4], बालाः[3], प्रवदन्ति[5], न[6], पण्डिताः[7]	सांख्य[1] और योग[2] को बालक[3] अलग[4] कहते हैं[5], न[6] कि पंडित[7]	एकं[1], अपि[2], आस्थितः[4], सम्यक्[3]	एक[1] को भी[2] ठीक[3]-ठीक पकड़े[4] हुए, अर्थात् एक में भी पूरा-पूरा स्थित पुरुष
		उभयोः[1], विन्दते[3], फलम्[2]	दोनों[1] के फल[2] को पा[3] लेता है

अन्वयार्थ—सांख्य और योग को बालक अलग कहते हैं, न कि पंडित । एक में भी पूरा-पूरा स्थित पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—"सांख्यायन्ते ज्ञातव्यविषया येन तत् सांख्यं"=जिससे जानने योग्य विषयों का वर्णन किया जाय, उसका नाम सांख्य है। अथवा संख्या नाम सम्यक् बुद्धि (यथार्थ आत्माकार बुद्धि) का है, जो उसको प्राप्त करावे वह सांख्य है। इस प्रकार सांख्य नाम

आत्मविवेक (तत्त्व-ज्ञान, speculative abstract thought, *viz.*, theory) का है। और उस विवेकानुसार कर्म में युक्त होना (the practical process of the application of such abstract thought to actual life, *viz.*, practice) योग है; परंतु यहाँ के प्रकरणानुसार सब बाह्य (व्यावहारिक अर्थात् काम्य वा लोकसंग्रह-निमित्त) कर्मों को त्यागकर और एकांत स्थान में चुपचाप क्रियारहित स्थित होकर आत्मचिंतन वा तत्त्व-विवेक में लगना सांख्य है। और समत्वबुद्धि से कर्म करना, अर्थात् बाह्य (व्यावहारिक वा पारमार्थिक) कर्म द्वारा आत्मध्यान में युक्त होना योग है। लक्ष्य वा उद्देश्य इन दोनों का एक (राग-द्वेष से रहित निर्द्वंद्वरूप संन्यास की प्राप्ति, अथवा आत्मध्यान में लीन होना वा आत्मसाक्षात्कार) ही है। इस प्रकार उक्त आशय को दृष्टि में रखते हुए भगवान् अब कहते हैं कि हे अर्जुन ! सांख्य * और योग को अलग-अलग अर्थात्

---

* अध्याय के आरंभ में तो कर्म-संन्यास और कर्म-योग का प्रश्न था, और उसी का अब तक वर्णन था। अब यहाँ चौथे श्लोक में सांख्य और योग का वर्णन कैसे आ गया। कारण यह कि आरंभ में जो कर्म-संन्यास का वर्णन हुआ, वह तो अर्जुन की दृष्टि को लेकर हुआ था, भगवान् की अपनी दृष्टि से नहीं; क्योंकि संन्यास शब्द का अर्थ तत्त्व-चिंतन-निमित्त बाह्य कर्म का त्याग अर्थात् सांख्य-योग तो अर्जुन लेता था, भगवान् नहीं। भगवान् के अपने विचार में तो कर्म का नितांत त्याग जीते दम तक कदापि हो ही नहीं सकता, इसलिए वे संन्यास शब्द से अभिप्राय चित्त की वह निर्द्वंद्व अवस्था लेते हैं कि जिसको प्राप्त होकर पुरुष न फिर किसी से राग करता है न द्वेष, बल्कि सर्वत्र समबुद्धि वा समदृष्टि रहता है। इस प्रकार की निर्द्वंद्वरूप संन्यासावस्था तो सांख्य और योग दोनों उपायों से प्राप्त होती है; अर्थात् या तो बाह्य कर्म छोड़कर

भिन्न-भिन्न फल वा लक्ष्यवाला मूर्ख बालक कहते हैं, पंडित वा विचारवान् पुरुष नहीं। विचारवानों के मत में तो यह

संसार से तीव्र उपराम हुए चित्त से एकांत स्थान में बैठकर निरंतर परमात्मध्यान वा तत्त्वचिंतन (श्रवण, मनन और निदिध्यासन) द्वारा यह निर्द्वंद्वरूप संन्यास प्राप्त होता है, और या समत्वबुद्धि तथा निरासक्त चित्त से निष्काम कर्म करते-करते यह (संन्यास) प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् यहाँ ऐसा कहते हैं कि सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक हैं, क्योंकि इन दोनों में से एक में भी पूर्ण स्थित होने से एक ही फल (निर्द्वंद्वरूप संन्यास) मिलता है। परंतु एकांत-अभ्यास अर्थात् सांख्य-योग का मार्ग बड़ा कठिन और फिसलाहटवाला (तिलकना) है, जिसलिए इस मार्ग से संन्यास पाना सर्वसाधारण के लिए अति कठिन ही नहीं किंतु असंभव सा है, और निष्काम कर्म अर्थात् कर्म-योग का मार्ग केवल सुगम ही नहीं किंतु फिसलने के भारी भय से भी बचानेवाला है, जिसलिए सर्वसाधारण लोग इस मार्ग से उस निर्द्वंद्वरूप संन्यास को शीघ्र और सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए भगवान् आगे ऐसा कहते हैं कि कर्म-योग के बिना संन्यास का पाना अति कठिन है और कर्म-योगी पुरुष इस संन्यास को सुगमता से पाकर इस द्वारा शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त हो जाता, अर्थात् अनुभव कर लेता है।

अन्य टीकाकार जो संन्यास शब्द का अभिप्राय सांख्य लेकर इन श्लोकों पर अपना-अपना विचार प्रकट करते हैं। उनके विचारों का समुच्चय निम्नलिखित है—

"अध्याय के आरंभ में तो कर्म-संन्यास और कर्म-योग का प्रश्न था और उसी का अब तक वर्णन था। अब यहाँ चौथे श्लोक में भगवान् ने सांख्य और योग का वर्णन कर दिया। यह क्या बात है। अभिप्राय इससे यह है कि कर्म-संन्यास अर्थात् कर्म का छोड़ना ज्ञान की आकांक्षा विना भी हो सकता है, और ज्ञान की आकांक्षा से भी हो सकता है।

सिद्ध हो चुका है कि सांख्य और योग दोनों से एक ही प्रकार का फल (नैष्कर्म्य वा निर्द्वंद्वरूप संन्यास वा मोक्ष) मिलता है,

---

जो कर्म-संन्यास ज्ञान की आकांक्षा से होता है वह सांख्य है, और दूसरे को केवल कर्म-संन्यास कहते हैं । अर्थात् संसार से उपराम होकर केवल आत्मचिंतन के लिए जो बाहर के कर्मों का छोड़ना है अथवा आत्मध्यान में वृत्ति के आरूढ़ होने पर जो इंद्रियों के कर्मों का स्वतः बंद पड़ जाना रूप कर्म-त्याग है, वह सांख्य है । और जो बिना आत्मचिंतन के उद्देश्य के केवल अज्ञान और आलस्य के वश होकर कर्मों का छोड़ना है, वह केवल कर्म-संन्यास है, सांख्य नहीं । जैसे संन्यास दो प्रकार के हो सकते हैं, ऐसे ही योग भी दो प्रकार के होते हैं, एक परमार्थ-योग जिसे सांख्य-योग वा ध्यान-योग भी कहते हैं, और दूसरा कर्म-योग । यूँ तो योग का अर्थ "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"=चित्त-वृत्ति का निरोध है । पर जब बाहर के कर्मों को छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि से चित्त का निरोध किया जाता है, तो वह परमार्थ-योग वा ध्यान-योग कहलाता है, और वही सांख्य भी है । और जब समत्व-बुद्धि से निरासक्त मन द्वारा कर्म करने से चित्त का निरोध किया जाता है, तो वह कर्म-योग कहलाता है, और यही (कर्म-योग) सांख्य वा परमार्थ-योग की अपेक्षा सुगम और अधिक लाभदायक वर्णन हुआ है । चूँकि कर्म-योग और परमार्थ-योग अर्थात् योग और सांख्य, दोनों का लक्ष्य और फल एक ही है, इसलिए भगवान् ने कहा है कि जो एक में भी पूरा स्थित होता है, वह दोनों के फल को पा लेता है; और इसीलिए भगवान् आगे श्लोक ५ में कहते हैं कि जो स्थान सांख्य से प्राप्त होता है, वही योग से भी मिलता है । हाँ, इतना भेद अवश्य है कि बाहर के सब कर्मों को त्यागकर केवल तत्त्वचिंतन से आत्मध्यान में युक्त होना और इस रीति से चित्त की निरोधावस्था वा कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होना सर्वसाधारण के लिए अति कठिन ही नहीं किंतु असंभव सा है, और निरासक्त मन से कर्म करते-करते निज स्वरूप

भिन्न-भिन्न फल वा लक्ष्यवाला मूर्ख बालक कहते हैं, पंडित वा विचारवान् पुरुष नहीं। विचारवानों के मत में तो यह

संसार से तीव्र उपराम हुए चित्त से एकांत स्थान में बैठकर निरंतर परमात्मध्यान वा तत्त्वचिंतन (श्रवण, मनन और निदिध्यासन) द्वारा यह निर्द्वंद्वरूप संन्यास प्राप्त होता है, और या समत्वबुद्धि तथा निरासक्त चित्त से निष्काम कर्म करते-करते यह (संन्यास) प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् यहाँ ऐसा कहते हैं कि सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक हैं, क्योंकि इन दोनों में से एक में भी पूर्ण स्थित होने से एक ही फल (निर्द्वंद्वरूप संन्यास) मिलता है। परंतु एकांत-अभ्यास अर्थात् सांख्य-योग का मार्ग बड़ा कठिन और फिसलाहटवाला (तिलकना) है, जिसलिए इस मार्ग से संन्यास पाना सर्वसाधारण के लिए अति कठिन ही नहीं किंतु असंभव सा है, और निष्काम कर्म अर्थात् कर्म-योग का मार्ग केवल सुगम ही नहीं किंतु फिसलने के भारी भय से भी बचानेवाला है, जिसलिए सर्वसाधारण लोग इस मार्ग से उस निर्द्वंद्वरूप संन्यास को शीघ्र और सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए भगवान् आगे ऐसा कहते हैं कि कर्म-योग के विना संन्यास का पाना अति कठिन है और कर्म-योगी पुरुष इस संन्यास को सुगमता से पाकर इस द्वारा शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त हो जाता, अर्थात् अनुभव कर लेता है।

अन्य टीकाकार जो संन्यास शब्द का अभिप्राय सांख्य लेकर इन श्लोकों पर अपना-अपना विचार प्रकट करते हैं। उनके विचारों का समुच्चय निम्नलिखित है—

"अध्याय के आरंभ में तो कर्म-संन्यास और कर्म-योग का प्रश्न था और उसी का अब तक वर्णन था। अब यहाँ चौथे श्लोक में भगवान् ने सांख्य और योग का वर्णन कर दिया। यह क्या बात है। अभिप्राय इससे यह है कि कर्म-संन्यास अर्थात् कर्म का छोड़ना ज्ञान की आकांक्षा विना भी हो सकता है, और ज्ञान की आकांक्षा से भी हो सकता है।

सिद्ध हो चुका है कि सांख्य और योग दोनों से एक ही प्रकार का फल (नैष्कर्म्य वा निर्द्वंद्वरूप संन्यास वा मोक्ष) मिलता है,

---

जो कर्म-संन्यास ज्ञान की आकांक्षा से होता है वह सांख्य है, और दूसरे को केवल कर्म-संन्यास कहते हैं । अर्थात् संसार से उपराम होकर केवल आत्मचिंतन के लिए जो बाहर के कर्मों का छोड़ना है अथवा आत्मध्यान में वृत्ति के आरूढ़ होने पर जो इंद्रियों के कर्मों का स्वतः बंद पड़ जाना रूप कर्म-त्याग है, वह सांख्य है । और जो विना आत्मचिंतन के उद्देश्य के केवल अज्ञान और आलस्य के वश होकर कर्मों का छोड़ना है, वह केवल कर्म-संन्यास है, सांख्य नहीं । जैसे संन्यास दो प्रकार के हो सकते हैं, ऐसे ही योग भी दो प्रकार के होते हैं, एक परमार्थ-योग जिसे सांख्य-योग वा ध्यान-योग भी कहते हैं, और दूसरा कर्म-योग । यूँ तो योग का अर्थ "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"=चित्त-वृत्ति का निरोध है । पर जब बाहर के कर्मों को छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि से चित्त का निरोध किया जाता है, तो वह परमार्थ-योग वा ध्यान-योग कहलाता है, और वही सांख्य भी है । और जब समत्व-बुद्धि से निरासक्त मन द्वारा कर्म करने से चित्त का निरोध किया जाता है, तो वह कर्म-योग कहलाता है, और यही (कर्म-योग) सांख्य वा परमार्थ-योग की अपेक्षा सुगम और अधिक लाभदायक वर्णन हुआ है । चूँकि कर्म-योग और परमार्थ-योग अर्थात् योग और सांख्य, दोनों का लक्ष्य और फल एक ही है, इसलिए भगवान् ने कहा है कि जो एक में भी पूरा स्थित होता है, वह दोनों के फल को पा लेता है; और इसीलिए भगवान् आगे श्लोक ५ में कहते हैं कि जो स्थान सांख्य से प्राप्त होता है, वही योग से भी मिलता है । हाँ, इतना भेद अवश्य है कि बाहर के सब कर्मों को त्यागकर केवल तत्त्वचिंतन से आत्मध्यान में युक्त होना और इस रीति से चित्त की निरोधावस्था वा कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होना सर्वसाधारण के लिए अति कठिन ही नहीं किंतु असंभव सा है, और निरासक्त मन से कर्म करते-करते निज स्वरूप

और इन दोनों में से एक में भी पूरा स्थित होनेवाला, अर्थात् एक को भी पूरा-पूरा पकड़नेवाला पुरुष दोनों * के फल को पा लेता है ॥ ४ ॥

के निश्चय में चित्त का लगाना और इस रीति से निरोध अवस्था को प्राप्त होना सरल और सर्वसाधारण के लिए सुगमतम है । इसलिए भगवान् आगे छठे श्लोक में कहते हैं कि योग-युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म अर्थात् नैष्कर्म्य रूप संन्यास अथवा कर्मातीत रूप परमार्थ अवस्था को पा लेता है ।''

* आत्मा के परोऽक्षज्ञान को पाकर पुरुष जब उसके पुनः-पुनः श्रवण द्वारा तीव्र वैराग्य से युक्त हुआ बाह्य कर्मों को छोड़कर और एकांत-स्थान में स्थित होकर आत्मध्यान में तत्त्वचिंतन द्वारा तीव्र वेग से युक्त होता है और इस रीति से आत्मसाक्षात्कार करता है, तब वह (सांख्य-योगी) जन्म भर के लिए क्रियारहित वा कर्महीन नहीं हो जाया करता, बल्कि तब उसकी अपने स्वरूप के निश्चय में निश्चल स्थिति हो जाती है, और बाह्य विषय इत्यादि उसे आकर्षण करने में असमर्थ हो जाते हैं । ऐसे निराकर्षित और निश्चल चित्त से वह (तत्त्ववेत्ता सांख्य-योगी) फिर लोकोपकारार्थ वा धर्मसंस्थापनार्थ कर्म अनंत वेग से करने लग जाता है, जैसे कि श्री स्वामी शंकराचार्य, वेदव्यास, भगवान् कृष्णचंद्र, राजा जनक, गुरु नानक और स्वामी रामतीर्थ इत्यादि अनेक महात्माओं ने किये । इस रीति से वह सांख्य-योगी पुरुष कर्म-योगी की दशा और फल को स्वतः प्राप्त हो जाता है। और ऐसे ही कर्म-योगी जब समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते चित्त की निश्चलावस्था को प्राप्त होकर अपने अकर्त्ता-अभोक्तास्वरूप के निश्चय में आरूढ़ होता आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त हो जाता है, तब उसे इस साक्षात् की लटक इतनी बढ़ जाती है कि वह संसार से उपराम होता कर्म की ओर से वृत्ति हटाकर एकांत-सेवन की ओर झुकता है जिस (एकांत-अभ्यास) में तीव्र वेग से प्रवृत्त हो जाने से उसके बाह्य कर्म स्वतः बंद पड़ जाते हैं । इस रीति से कर्म-योगी उक्त सांख्य-योगी की दशा और

संबंध—अपने उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

यत्^{१}, सांख्यैः^{३}, प्राप्यते^{४}, स्थानं^{२}	जो^{१} स्थान^{२} सांख्यवालों^{३} से प्राप्त^{४} किया जाता है	एकं^{५}, सांख्यं^{१}, च^{२}, योगं^{३}, च^{२}, यः^{४}, पश्यति^{६}, सः^{७}, पश्यति^{८}	सांख्य^{१} और^{२} योग^{३} को जो^{४} एक^{५} देखता^{६} है, वह^{७} (ठीक) देखता^{८} है
तत्^{१}, योगैः^{२}, अपि^{३}, गम्यते^{४}	वह^{१} योगवालों^{२} से भी^{३} प्राप्त^{४} किया जाता है		

अन्वयार्थ—जिस स्थान को सांख्यवाले प्राप्त होते हैं, उसको योगी भी प्राप्त होते हैं। (इस प्रकार) सांख्य और योग को जो एक देखता है, वह (ही ठीक) देखता है ॥ ५ ॥ *

फल को स्वतः प्राप्त हो जाता है। अर्थात् एकांत-अभ्यास से आत्मसाक्षात्कार करनेवाला सांख्य-योगी अनुभव के पीछे कर्म-योगी की तरह कर्म में तीव्र वेग से लग जाता है ; और निष्काम कर्म द्वारा चित्तशुद्धि से आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होनेवाला कर्म-योगी आत्मानुभव के बाद सांख्य-योगी की तरह बाह्य कर्म को छोड़कर एकांत में रहने लग जाता है। इस प्रकार एक रीति में भी पूर्ण स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को पा लेता है।

* इस विषय पर अद्भुत (११. ४३, ४४) में निम्नलिखित श्लोक हैं—

योगात्संजायते ज्ञान ज्ञानाद्योगः प्रजायते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥
यदेव योगिनो यान्ति सांख्यैस्तदभिगम्यते ।
एक सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४४ ॥

अर्थ—योग से ज्ञान होता है और ज्ञान से योग होता है; योग और ज्ञान से युक्त पुरुष को कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता। जो योगी

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस स्थान (निरोधावस्था, निष्कर्मता, निरुपद्रव पद, या निर्द्वंद्व तथा कर्मातीत अवस्था) या जिस अंतिम परिणाम को सांख्यवाले, अर्थात् कर्मेंद्रियों के सब कर्मों को छोड़कर एकांत में निष्क्रिय स्थित हुए श्रवण-मनन द्वारा तत्त्वचिंतन करनेवाले पुरुष प्राप्त होते हैं, उसी स्थान को योगी पुरुष; अर्थात् ज्ञानेंद्रियों को अपने मन के वश में करके समत्व-बुद्धि द्वारा निरासक्त चित्त से कर्म करनेवाले, अथवा ईश्वर-निमित्त सब कर्म करनेवाले पुरुष भी पा लेते हैं। अर्थात् सांख्य-मार्ग से जो स्थान (निरोधावस्था वा मोक्ष) मिलता है, वही कर्म-योग से अर्थात् कर्मों के न छोड़ने पर भी मिलता है। इसलिए ये दोनों मार्ग एक ही स्थान वा परिणाम को प्राप्त * करानेवाले हैं, इस प्रकार जो पुरुष इस सांख्य और योग की फलरूप से एकता समझकर इन दोनों को एक देखता है, वही वास्तव में सम्यग्दर्शी है। ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५ ॥ †

पाता है, वही ज्ञानी को मिलता है। योग और ज्ञान को जो (वास्तव में) एक देखता है, वही तत्त्ववेत्ता है।

* अन्य रीति से यों है कि सांख्य-मार्ग में ज्ञान को प्रधान मान लेने पर भी उस ज्ञान की सिद्धि कर्म किये विना नहीं होती ; और कर्म-मार्ग में यद्यपि कर्म किया करते हैं, तथापि वे कर्म ज्ञानपूर्वक करने से ही निष्कर्मतारूपी सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इस कारण एक दूसरे की परस्पर सहायता करते दोनों से ब्रह्म-प्राप्ति में कोई वाधा नहीं होती, अतएव ये दोनों एक हैं।

† श्रीज्ञानदेव ने इस श्लोक की व्याख्या विचित्र रूप से ऐसे की है कि—“जो वस्तु ज्ञान-मार्ग से भी प्राप्त होती है वही कर्म-योग से भी मिल सकती है। अतएव दोनों मार्गों की इस प्रकार स्वाभाविक एकता है। देखो आकाश और अवकाश में जैसा भेद नहीं है, वैसे ही जो योग और

संबंध—(१) इस प्रकार सांख्य और कर्म-योगरूप मार्गों की फलरूप से एकता दर्शाकर इनमें से जिस मार्ग द्वारा उस फल (असली निष्कर्मता वा संन्यास) की प्राप्ति अति कठिनता से और जिस द्वारा सुगमता से होती है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त सांख्य अर्थात् संन्यास, और कर्म-योग, इनमें जो सुगम और जो कठिन है, उसे भगवान् अब अधिक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) इस प्रकार दोनों के फलों में एकता दर्शाकर अब भगवान् योग में विशेषता दर्शाने लगे हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

संन्यासः^{3}, तु^{1}, महाबाहो^{2}	पर^{1} हे अर्जुन^{2} ! संन्यास^{3}
दुःखं^{4}, आप्तुं^{3}, अ^{1}योगतः^{2}	विना^{1} योग^{2} (में युक्त हुए) के पाना^{3} कठिन^{4} है
योग^{1}-युक्तः^{2}, मुनिः^{3}, ब्रह्म^{6}, न^{5}, चिरेण^{4}, अधिगच्छति^{7}	योग^{1}-युक्त^{2} मुनि^{3}, चिर^{4} से नहीं^{5} (अर्थात् शीघ्र) ब्रह्म^{6} को प्राप्त^{7} होता है

अन्वयार्थ—पर संन्यास, हे अर्जुन ! विना योग के पाना कठिन है। और योग-युक्त मुनि शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि जो स्थान (उक्त निर्द्वंद्वरूप संन्यास) सांख्य-मार्ग से प्राप्त होता है, वही योग से मिलता है, जिससे ये दोनों वास्तव में एक हैं; परंतु वह स्थान अर्थात् निर्द्वंद्व-रूप संन्यास, हे विशालबाहु (अर्जुन) ! विना कर्म-योग में युक्त

संन्यास का ऐक्य पहचानता है, जिसे सांख्य और योग का भेदरहित ज्ञान हुआ है, उसी को संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है, उसी ने निज को पहचाना है।”

होने के पाना अति कठिन या असंभव सा है। अर्थात् हठ से कर्मों को छोड़कर किसी एकांत स्थान में निष्क्रिय स्थित होकर केवल तत्त्व-चिंतन अर्थात् सांख्य-योग (Speculative abstract thought) से निर्द्वंद्वरूप संन्यासावस्था का पाना अत्यंत कठिन और चिरकाल में होता है; पर समत्वबुद्धि तथा निरासक्त चित्त से निष्काम कर्म अर्थात् कर्म-योग (The practical process of the application of such thought to actual life.) द्वारा उसका पाना अति सुगम, सरल और शीघ्र होता है। इसलिए कर्म-योग में युक्त हुआ मुनि सुगमता से ब्रह्म * अर्थात् निर्द्वंद्वरूप संन्यास को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! यद्यपि जो स्थान (मोक्षपद) सांख्य-योग (संन्यास-मार्ग) से मिलता है, वही (स्थान) कर्म-योग से अंतःकरण की शुद्धि पाकर अभ्यंतर संन्यास द्वारा प्राप्त हो जाता है; परंतु हे विशालबाहु अर्जुन! यह अभ्यंतर संन्यास, जो कर्म-योग का परिणाम है, कर्मों को त्यागकर केवल हठमात्र से सुगमतापूर्वक पाया नहीं जा सकता, अर्थात् विना कर्म-योग में युक्त होने के इसका पाना अति कठिन और असंभव सा है। इसलिए हठपूर्वक संन्यासमात्र से पुरुष को कभी सुगमता से सुख नहीं मिलता है। पर हाँ, जो मुनि कर्म-योग में पूर्ण युक्त हो गया है, वह इस अभ्यंतर संन्यास को प्राप्त होकर इस द्वारा शीघ्र ब्रह्म (मोक्ष) को पा लेता अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेता है ॥ ६ ॥

---

* श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्म के अर्थ यहाँ संन्यास के लिए हैं। जैसे श्रुति कहती है—"न्यास इति ब्रह्म ब्रह्महि परः" (नारायण. उप० २, ७८)= न्यास अर्थात् संन्यास ब्रह्म है और ब्रह्म ही परम है।

तीसरी व्याख्या--हे अर्जुन ! यद्यपि संन्यास और योग दोनों ही कल्याणकारी या अंत में एक ही फल देनेवाले हैं, जिससे दोनों वास्तव में एक हैं; तथापि हे विशालबाहु अर्जुन ! विना योग के नैष्कर्म्यरूप या कर्मातीतरूप संन्यास का पाना अति कठिन है। अर्थात् हठ से कर्मों को छोड़कर वास्तव में कर्म-त्याग वा कर्मातीत अवस्था प्राप्त नहीं होती, किंतु समत्वबुद्धि से और निरासक्त मन द्वारा निष्काम कर्म करते-करते ठीक प्राप्त होती है। और यह प्रसिद्ध नियम है कि--"When body is at work, the mind is at rest; and when the body is at rest, (*viz.*, without any work), the mind roams about and turns restless."=जब शरीर निष्कामकर्म में युक्त हो; तब मन सावधान, निष्कर्मी, शांत और एकाग्र हो जाता है (जो वास्तव में नैष्कर्म्य वा संन्यास अवस्था है); और जब शरीर आलस्य, दुःख, भय या अज्ञान के कारण अथवा हठ से कर्म करना छोड़ बैठता है, तब इस कर्महीन अवस्था में मन चारों ओर दौड़ने वा भटकने लग जाता है जिससे वह चंचल, दुःखी, डाँवाडोल वा क्षुभित हो जाता है, जो वास्तव में कर्मावस्था है, चाहे ऊपर से उसकी निष्कर्मावस्था दीखती है। तात्पर्य यह है कि प्रारंभ में शारीरिक कर्म का आश्रय न लेकर केवल (एकांत में हठ-पूर्वक निष्क्रिय बैठकर) आत्मचिंतन से मन निष्कर्मी, एकाग्र और सावधान शीघ्र और सुगमता से नहीं होता। और यदि बड़ी कठिनता तथा भारी परिश्रम से कदापि हो भी जाय, तो किंचित् काल के लिए होता है, जिससे वास्तव में निरंतर कर्म-त्याग वा कर्मातीत रूप संन्यास अवस्था प्राप्त होने नहीं पाती। यही सिद्धांत पहले (अध्याय ३, श्लोक ४ में) ऐसे स्पष्ट किया जा चुका है कि "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥"=कर्मों के आरंभ न करने से पुरुष निष्कर्म भाव (चित्त की कर्मरहित वा कर्मातीत अवस्था) को नहीं भोगता, और न त्यागमात्र से अर्थात् हठपूर्वक सब कर्म छोड़ देने से कोई सिद्धि ही पाता है। और इसी को पूर्व श्लोक २ में ऐसा कहा है कि—"संन्यास और योग यद्यपि दोनों ही कल्याणकारी हैं, तथापि कर्म-संन्यास से अर्थात् हठपूर्वक कर्म छोड़ने से कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म में युक्त होना अधिक सुगम, लाभकारी वा अच्छा है।" और इसी नियम को अब सिद्धांत रूप से मैं पुनः ऐसे स्पष्ट करता हूँ कि—"बिना कर्म-योग में युक्त होने के अर्थात् केवल कर्म-त्याग से, या प्रारंभ में ही सांख्य से इस कर्मातीत रूप संन्यास वा नैष्कर्म्य रूप संन्यास अवस्था का पाना अति कठिन है।" और कर्म-योग में युक्त हुआ मुनि तो ब्रह्म (मोक्ष) अथवा इस संन्यास अवस्था को शीघ्र ही पा लेता है। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसे कि "कर्म-निष्ठ पुरुष तो ज्ञान-निष्ठा को शीघ्र प्राप्त हो सकता है, अन्य पुरुष शीघ्र और सुगमता से नहीं" ॥ ६ ॥*

---

* उक्त सिद्धांत से यह स्पष्ट हुआ कि आरंभ में सबको कर्म-योग में युक्त होना चाहिए, क्योंकि इसी मार्ग से शीघ्र निष्कर्मता प्राप्त होती है। और जब प्रथम कर्म-योग से निष्कर्म भाव प्राप्त होने लग जाय, तब फिर वह यदि बाह्य कर्म छोड़कर एकांत में तत्त्वचिंतन से ही उस (नैष्कर्म्य रूप संन्यास) को पाने का यत्न करे, तो सुगमता से पा सकता है; अन्य रीति से अर्थात् प्रथम में ही बाह्य कर्म-त्याग से पाना सुगम और शीघ्र नहीं। दूसरे शब्दों में ऐसे कि कर्म-निष्ठ पुरुष तो ज्ञान-निष्ठा से उस संन्यास को शीघ्र और सुखपूर्वक पा सकता है, अन्य पुरुष नहीं।

संबंध—(१) "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इत्यादि वचनों से कर्म तो बंधन का हेतु होते हैं, फिर कर्म-योगी कैसे इन बंधनों से छूट जाता है ? अथवा कर्म-योगी कैसे कर्म-बंधन से निर्लिप्त अवस्था अथवा निर्द्वंद्व वा नैष्कर्म्य रूप संन्यास को प्राप्त होता है ? इसे भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (२) यदि यह कहा जाय कि "कर्म करना ही बंधक है" तो यह आक्षेप भी निष्काम कर्म के विषय में नहीं किया जा सकता, ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) कर्म-योग किस प्रकार कर्म-त्यागरूप हो जाता है, इसे भगवान् अब स्फुट करते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा * विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योग^{1}-युक्तः^{2}, विशुद्ध^{3}-आत्मा^{4}	योग^{1} से युक्त^{2}, शुद्ध^{3} आत्मा^{4}	सर्व^{2}-भूत^{3}-आत्म^{4}भूत^{5}-आत्मा^{1}	आत्मा^{1} करके सब^{2} भूतों^{3} का आत्मा^{4} रूप^{5} हुआ
विजित^{2}-आत्मा^{1} जित^{4}-इन्द्रियः^{3}	अपने^{1} आपको जीता^{2} हुआ, इन्द्रियों^{3} को जीता^{4} हुआ	कुर्वन्^{1}, अपि^{2}, न^{3}, लिप्यते^{4}	(कर्म) करता^{1} हुआ भी^{2} नहीं^{3} लिप्त^{4} होता है

---

* "विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः" इन तीन पदों से भगवान् ने मनोदंड, कायदंड, वाग्दंडवाले (इन तीन दंडों से युक्त त्रिदंडी) का वर्णन किया है । इस विषय में मनु भगवान् ऐसे कहते हैं—"वाग्दण्डोथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च । यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥"

अन्वयार्थ—(कर्म-) योग से युक्त, शुद्धात्मा, अपने आपको जीता हुआ, जितेंद्रिय और अपने आत्मा करके सब भूतों का आत्मा हुआ पुरुष कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यद्यपि साधारण पुरुषों के कर्म सकाम होने के कारण उनके बंधन का हेतु हो जाते हैं, परंतु जो पुरुष कर्मयोग से युक्त है, अर्थात् समत्वबुद्धि और निरासक्त मन करके निष्काम कर्म में जो प्रवृत्त होता है, उसका चित्त वा अंतःकरण इस रीति से कर्म करते-करते अवश्य शुद्ध हो जाता है, इससे वह अपने आपको तथा सारी इंद्रियों को जीत जाता है; अर्थात् शुद्ध अंतःकरण, निष्काम कर्म और समत्वबुद्धि के प्रभाव से उसकी इंद्रियाँ और मन इत्यादि अपने वश में हो जाती हैं; और उसका आत्मा फिर सब प्राणियों का आत्मरूप * हो जाता है।

अर्थ—वाग्दंड, मनोदंड, कायदंड, यह तीन दंड जिस पुरुष के नियमपूर्वक हैं, सो त्रिदंडी नाम से कहलाता है।

* "जिसका आत्मा सारे भूतों का आत्मा हुआ हुआ है, जो सब प्राणियों में अपने ही स्वरूप को व्याप्त देख रहा है, अर्थात् जिसका अंतरात्मा ब्रह्मा से लेकर स्तंबपर्यंत संपूर्ण भूतों का आत्मरूप हो गया है, ऐसा सम्यग्दर्शी वा अभेददर्शी (श्रीशंकराचार्य)। सारे भूतों का आत्मभूत है आत्मा जिसका, अर्थात् जो आत्मा की यथार्थता का चिंतन कर रहा है, उसको सारे भूतों का और अपना आत्मा एक तुल्य प्रतीत होता है; जो देव मनुष्यादि भेद हैं, वे प्रकृति के परिणाम विशेष होने से आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते, प्रकृति से अलग आत्मा सर्वत्र ज्ञानरूप होने से एक रूप है, जैसा कि कहेंगे 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (५, १९), (श्रीरामानुज)। जिसका आत्मा सारे भूतों का आत्मा हुआ हुआ है, अर्थात् जिसको सबमें अपने आत्मा के तुल्य प्रेम है, जैसा कि आगे (५, १८)

अर्थात् कर्म-योग के नियमानुसार "मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी और सर्वव्यापक आत्मा हूँ" इस निश्चय से कर्म करते-करते जब निश्चय की परिपक्वता को वह पहुँचता है, तब सब प्राणी उसको अपना आत्मा ही भान होने लग जाते हैं, या सब प्राणियों में वह फिर अपना आत्मा ही देखता वा महसूस करता है, अर्थात् वह फिर समदर्शी और अभेददर्शी हो जाता है। ऐसा शुद्धात्मा, वशी, जितेंद्रिय और समदर्शी वा अभेददर्शी कर्म-योगी पुरुष कर्तृत्वभाव से रहित होने के कारण कर्म करते हुए भी कर्म के बंधन में फँसने नहीं पाता, बल्कि सदा कर्म-फल से निर्लिप्त ही रहता है॥ ७॥ *

में कहेंगे। अथवा सारे भूतों का प्रेम-स्थान, जिसको सब भूत चाहते हैं (देखो बृह०, १, ४, १६) (आर्यसमाजी पं० राजाराम)। सब भूतों का आत्मभूत जो परमेश्वर, वह है आत्मा जिसका, अर्थात् उसको ही अपने आत्मवत् जो प्रिय मानता है (आर्यसमाजी पं० आर्यमुनि)। सब प्राणियों वा मनुष्यों में योग के बल ऐश्वर्य तथा तेज प्रतापों से जिसका स्वरूप प्रसिद्ध वा प्रकाशित है ऐसा पुरुष (आर्यसमाजी पं० भीमसेन)। जिसने सकल जीवों के आत्मा के साथ अपने आत्मा की अभिन्नता देख ली है (भा० ध० म० मंडल के श्री स्वामी दयानंद)। सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका आत्मा हो गया है (श्रीतिलक महाराज)।

* इस श्लोक में आत्मा शब्द तीन स्थान पर अलग-अलग अर्थ रखता है। आत्मा उसको कहते हैं जिससे जगत् की सर्वप्रकार की चेष्टा करनेवाली शक्ति का विकास होता है। इसलिए प्राण भी आत्मा है, मन भी आत्मा है; क्योंकि इन दोनों की शक्ति से शरीर में चेष्टा होती है। शरीर भी आत्मा है, इंद्रियाँ भी आत्मा हैं, क्योंकि इनके द्वारा जगत् के अन्य पदार्थों में चेष्टा हो जाती है। परमेश्वर को परमात्मा इसलिए कहते हैं कि इस ब्रह्मांड में व्यष्टि रूप और समष्टि रूप जितनी चेष्टा है, उस सबका

संबंध—(१) उक्त अर्थ को, वा उक्त फल के हेतु को, दो श्लोकों से भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जो कर्म-योगी उक्त लक्षणों से युक्त तो नहीं किंतु कर्म से निर्लिप्त होना चाहते हैं, उनको भगवान् (उक्त लक्षणों वा फल की प्राप्ति-निमित्त) ऐसे उपदेश करते हैं—

अथवा (३) कर्म-योगी सिद्ध पुरुष की निर्लिप्तता के लक्षण भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् यह दर्शाने लगे हैं कि वह कौनसी युक्ति वा बुद्धि है जिसके अनुसार सब कर्म करता हुआ भी प्राणी कर्म से लिपायमान वा बंधायमान नहीं होता—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन् श्वसन् ८
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥ *

आदिकारण ईश्वर है । पहले स्थान पर यहाँ आत्मा का अर्थ चित्त वा अंतःकरण है, दूसरे स्थान पर शरीर वा मन (वा मन सहित अहंकार) है, और तीसरे स्थान पर सर्वव्यापक आत्मतत्त्व है जो प्रति प्राणी का वास्तविक स्वरूप अर्थात् अपना आप है ।

* योगवासिष्ठ (३. ६. ५) में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्त्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥"

अर्थ—जो सब कर्म करता हुआ भी यह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता और जगत् में सुषुप्त के समान रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

न[३], एव[२], किञ्चित्[१], करोमि[४], इति[५]	मैं कुछ[१] ही[२] नहीं[३] करता[४] हूँ, ऐसा[५]	प्रलपन्[१], विसृजन्[२], गृह्णन्[३], उन्मिषन्[४], निमिषन्[५], अपि[६]	बोलता[१] हुआ, त्यागता[२] हुआ, ग्रहण[३] करता हुआ, (नेत्र) खोलता[४] हुआ, मीचता[५] हुआ भी[६]
युक्तः[३], मन्येत[४], तत्त्व[१]-वित्[२]	तत्त्व[१]-वेत्ता[२] कर्म[३]-योगी मानता[४] है (अथवा माने[४])		
पश्यन्[१], शृण्वन्[२], स्पृशन्[३], जिघ्रन्[४], अश्नन्[५], गच्छन्[६], स्वपन्, श्वसन्	देखता[१] हुआ, सुनता[२] हुआ, स्पर्श[३] करता हुआ, सूँघता[४] हुआ, खाता[५] हुआ चलता[६] हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ	इन्द्रियाणि[१], इन्द्रिय[२]-अर्थेषु[३], वर्तन्ते[४], इति[५], धारयन्[६]	इन्द्रियाँ[१] इन्द्रियों[२] के विषयों[३] में वर्तती[४] हैं, ऐसा[५] धारण[६] करता हुआ

पहला अन्वयार्थ—तत्त्ववेत्ता * कर्मयोगी पुरुष देखता, सुनता,

---

* अज्ञानी पुरुष भी कर्म करने से लोगों में कर्मयोगी कहलाता है। परंतु वह बहुधा सकाम कर्म करता है, निष्काम नहीं; और यदि कोई निष्काम कर्म वह आरंभ कर भी ले, तो अज्ञान के कारण उसमें पुनः-पुनः किसी न किसी प्रकार की नाम इत्यादि की कामना व आसक्ति उत्पन्न हो आती है, जिससे उसके कर्म उसे निर्लिप्त नहीं होने देते। परंतु आत्मा के तत्त्व को समझा हुआ कर्मयोगी ज्ञान के कारण आसक्ति से रहित होकर निष्काम कर्म करता है, जिससे वह लिपायमान होने नहीं पाता। इसलिए कर्मयोगी के साथ तत्त्ववेत्ता विशेषण भगवान् ने दिया है।

छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, (नेत्र) खोलता और मीचता हुआ भी (चित्त में) यह धारण करके कि "इंद्रियाँ इंद्रियों के अर्थों में वर्तती हैं" ऐसा समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८, ९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ——तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी पुरुष देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, आँखें खोलते और मीचते हुए भी (चित्त में) ऐसा धारण करते हुए कि "इंद्रियाँ इंद्रियों के विषयों में वर्तती हैं" यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८, ९ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी क्यों कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है, ऐसा जो कहा गया है ? इसका कारण यह है कि वह योगी देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, मल त्यागते, कुछ पकड़ते, नेत्र खोलते, मीचते इत्यादि सर्वप्रकार के शारीरिक व्यवहार करते हुए भी चित्त में यह धारण किये हुए होता है कि "इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं, मुझे क्या ? मैं तो इनके कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, इत्यादि" । और इसी निश्चय के कारण वह (इन सारे इंद्रियों के कर्मों में) ऐसा कभी नहीं मानता कि "मैं कुछ भी कर रहा हूँ," * बल्कि नित्य इन सब चेष्टाओं के

---

* "मैं कुछ भी नहीं करता हूँ" इस पर श्रीतिलक महाराज ऐसे व्याख्या करते हैं कि "इसका यह मतलब नहीं कि इंद्रियों को चाहे जो करने दे ; किंतु मतलब यह है कि 'मैं' इस अहंकार-बुद्धि के छूट जाने से अचेतन इंद्रियाँ आप ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं——और वे आत्मा के क़ाबू में रहती हैं । सारांश, कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय तो भी

भीतर वह अपने आपको अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग और साक्षी आत्मा समझता है, जिससे वह शरीर के किसी भी कर्म से किंचित् लिपायमान वा बंधायमान होने नहीं पाता बल्कि सदा निर्लिप्त ही रहता मुक्त होता है ॥ ८, ९ ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जो आत्म-तत्त्व को पुस्तकों वा युक्ति से समझने के कारण तत्त्ववेत्ता है, अर्थात् जो परोऽक्ष-ज्ञानी है और कर्म भी करता है, परंतु पूर्व श्लोक में वर्णित लक्षणों से अभी युक्त नहीं है, जिससे वह कर्म-बंधन से निर्लिप्त होने नहीं पाता, ऐसे तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी को चाहिए कि वह देखते, सुनते इत्यादिक सर्वप्रकार के शारीरिक व्यवहार को करते हुए भी चित्त में यह धारे, अर्थात् ऐसा निश्चय धारण करे कि "ये सब काम इंद्रियों के हैं और इंद्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं, मुझे इनके कामों से कोई वास्ता नहीं, मैं तो अपने निज स्वरूप से अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी आत्मा हूँ, इत्यादि" । और इस प्रकार की धारणा से युक्त होकर फिर यह समझे * कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

श्वासोच्छ्वास आदि इंद्रियों के कर्म उसकी इंद्रियाँ करती ही रहेंगी । और तो क्या, पल भर जीवित रहना भी कर्म ही है । फिर यह भेद कहाँ रह गया कि संन्यास-मार्ग का ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है और कर्मयोगी करता है ? कर्म तो दोनों को करना ही पड़ता है । पर अहंकारयुक्त आसक्ति छूट जाने से वे ही कर्म बंधक नहीं होते, इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इसका मुख्य तत्त्व है ।"

* यह समझे कि "मैं जो केवल ज्ञानस्वभाव हूँ, मुझमें ऐसा कर्तृत्व इंद्रिय और प्राण जो कर्म की जड़ हैं उनके संबंध से है, न कि स्वरूप से" (श्रीरामानुज) । यह समझे कि "वास्तव में आत्मा कर्त्ता है ही नहीं ।

इस रीति से कर्म उसे लिपायमान नहीं करेंगे ॥ ८, ९ ॥ *

कर्तृत्वादि भेददृष्टि सब मिथ्या ही है, इसलिए मैं कुछ भी नहीं करता हूँ (श्रीशंकराचार्य)।

* "मन्येत" के अर्थ बहुत टीकाकारों ने "मानता है" किये हैं, और कुछ ने "माने" ऐसा किये हैं। यद्यपि व्याकरण की सहायता से दोनों अर्थ किये जा सकते हैं (केवल पिछला "माने" अर्थ ही बहुधा किया जाता है, और पहला अर्थ "मानता है" कभी-कभी); तथापि पूर्वापर के संबंध से पहला अर्थ ही ठीक बैठता है, पिछला अर्थ निम्नलिखित कारणों से युक्त दिखाई नहीं देता—

(१) अज्ञानी कर्मयोगी को ऐसा उपदेश दिया जा सकता है कि "वह कर्म के बीच में अपने आपको अकर्त्ता-अभोक्ता देखे" जिससे वह तत्त्ववित् हो जाय। पर तत्त्ववित् तो ज्ञान से विवश हुआ स्वाभाविक ही प्रत्येक अवस्था वा कर्म में अपने आपको अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी देखता और मानता है, उसे उपदेश कैसा ? तत्त्ववेत्ता को तो श्रुति भी उपदेश नहीं देती और का तो क्या कहना, क्योंकि तत्त्ववेत्ता स्वाभाविक ही श्रुति के ऊपर वर्तता है "ब्रह्मविद् श्रुतिमूर्धनि।"

(२) इस समय तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी का वर्णन हो रहा है, न कि अज्ञानी कर्मयोगी का कि जिसे उपदेश की आवश्यकता रहती है।

(३) "शुद्धात्मा, अपने आपको वश किया हुआ, जितेंद्रिय और सबका आत्मा रूप हुआ-हुआ कर्मयोगी, अर्थात् तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी, कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता" ऐसा सिद्धांत पूर्व श्लोक में कहा है। अब उसके लिप्त न होने का कारण दर्शाना है, न कि उपदेश। यदि उपदेश देना था तो वह सिद्धांत वा फल निरूपण करने के पहले देना था, न कि पीछे।

(४) अगले श्लोक १० में भी यह दर्शाया गया है कि "वह कैसे निर्लिप्त रहता है," यह नहीं कि कैसे उसे रहना चाहिए।

संबंध— (१) उक्त सिद्धांत को भगवान् अब दृष्टांत से स्फुट करते हैं—

अर्थात् श्लोक ७ में तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के कर्म-विषयक सिद्धांत निरूपण करके अब भगवान् उस सिद्धांत के समर्थन में यह दर्शाने लगे हैं कि वह कर्मयोगी शारीरिक कर्म से क्यों और कैसे निर्लिप्त रहता है। इसलिए 'मन्येत' का अर्थ यहाँ "मानता है" ही युक्त स्पष्ट है। और यही भाव संक्षेप रूप से पूर्व (३, २८ में) ऐसे वर्णन हो चुका है कि—"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥"

पर श्रीस्वामी शंकराचार्य तथा एक-दो और प्रसिद्ध संस्कृत-भाष्यकारों के हिंदी-अनुवादकों ने 'मन्येत' का अर्थ केवल 'माने' किया है, इसलिए हमने दूसरा अर्थ भी सहित व्याख्या के दे दिया है।

प्रसिद्ध योगेश्वर श्रीज्ञानदेवजी भी इन तीनों श्लोकों (८, ९, १०) की व्याख्या विचित्र रूप से ऐसे करते हैं—(योगी कर्म करते क्यों अकर्त्ता होता है ?) "कारण, हे पार्थ ! उसे "मैं देह हूँ" इस बात का स्मरण नहीं है। फिर कहो, उसे क्या कर्तृत्व बाक़ी रह जाता है ? इस प्रकार योग-युक्त पुरुषों में देह त्याग के बिना ही परब्रह्म के संपूर्ण गुण दिखाई देते हैं। यों तो अन्यों के समान वह भी एक देहधारी है और अशेष कर्मों में व्यवहार करते दिखाई देता है, वह भी नेत्रों से देखता है, कानों से सुनता है; परंतु आश्चर्य देखो कि वह उन इंद्रियों में सर्वथा आसक्त नहीं रहता। उसे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह नाक से सुगंध सूँघता है, समयोचित भाषण भी कर सकता है, आहार का स्वीकार करता है, जिसका त्याग करना चाहिए सो छोड़ता है, निद्रा के समय सुख से सोता है, अपनी इच्छानुसार चलते हुए दिखाई देता है, ऐसे सब कर्मों में वह निश्चय से व्यवहार करता है, इन एक-एक बातों का क्या वर्णन करूँ, देखो श्वास और उच्छ्वास इत्यादि और पलक मूँदना-खोलना इत्यादि ये सब बातें हे पार्थ ! उसमें होती हैं,

अथवा (२) उक्त उपदेश के फल को भगवान् अब दृष्टांत से स्फुट करते हैं—

अथवा (३) सिद्ध के समान साधक भी जैसे निर्लिप्त रहता है, उसको दृष्टांत से भगवान् अब समझाते हैं—

अथवा (४) परंतु जो तत्त्वज्ञानी नहीं किंतु कर्मयोग में लगा हुआ है, उसका भी परिणाम भगवान् अब दृष्टांत से दर्शाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

ब्रह्मणि^{2}, आधाय^{3}, कर्माणि^{1}, संगं^{4}, त्यक्त्वा^{5}, करोति^{7}, यः^{6}	कर्मों^{1} को ब्रह्म^{2} (या प्रकृति) में अर्पण^{3} करके और संग^{4} को त्याग^{5}कर जो^{6} करता^{7} है	लिप्यते^{3}, न^{4}, सः^{1}, पापेन^{2}	वह^{1} पाप^{2} से लिप्त^{3} नहीं^{4} होता
		पद्म^{3}-पत्रं^{4}, इव^{2}, अम्भसा^{1}	जल^{1} से जैसे^{2} पद्म^{3} का पत्ता^{4}

* पहला अन्वयार्थ—कर्मों को जो मनुष्य ब्रह्म में समर्पण करके

परंतु वह अनुभव बल के कारण इन सब कर्मों का कर्त्ता नहीं कहा जाता। कारण, जब वह भ्रांतिरूपी शय्या पर सोया था तब उसे स्वप्नरूपी सुख का अनुभव होता था, परंतु अब वह ज्ञानोदय काल में जाग्रत हो गया है। अब उसकी संपूर्ण इंद्रियों की वृत्तियाँ अपने-अपने विषयों में अधिष्ठान के सान्निध्य से वर्तती हैं। जैसे दीपक के प्रकाश में घर के सब व्यापार होते हैं, वैसे ही योग-युक्त के देह से सब कर्म होते हैं। वह सब कर्म करता है; परंतु जैसे जल में उगा हुआ कमल-पत्र जल से नहीं भीगता, वैसे ही वह कर्मबंध के वश नहीं होता ॥ ८, ९, १० ॥”

* श्रीशंकराचार्य, श्रीधर स्वामी, आनंदगिरि, मधुसूदन स्वामी, चिद्घनानंद और श्रीशंकरानंद इत्यादि सबने पहले अर्थ किये हैं। और

संग को त्यागकर करता है, वह पाप से (ऐसे) लिप्त नहीं होता, जैसे पद्म का पत्ता जल से ॥ १० ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जो मनुष्य संग को त्यागकर कर्मों को प्रकृति पर डालकर करता है, वह पाप से (ऐसे) लिपायमान नहीं होता, जैसे पद्म का पत्ता जल से ॥ १० ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त सिद्धांत का समुच्चय यह है (वा उक्त कथन का सार यह है) कि तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के विषय तो क्या ही कहना है, वह तो अवश्य कर्म से निरासक्त और निर्लिप्त रहता ही है; परंतु उससे अतिरिक्त अन्य भी जो कोई शारीरिक कर्मों तथा उनके फलों के साथ कर्तृत्वादि संग (लगाव) को छोड़कर कर्मों को ईश्वरार्पण-बुद्धि (वा ईश्वरार्पण के उद्देश्य) से करता है, वह पुरुष भी कर्म करते हुए कर्म से ऐसे लिपायमान नहीं होता जैसे जल में रहता हुआ कमल का पत्ता

श्रीरामानुज तथा उनके अनुयायी श्रीबलदेवजी ने दूसरे अर्थ किये हैं, और ब्रह्म से अभिप्राय जो प्रकृति लिया है उसमें वे यह कारण दर्शाते हैं कि—भगवान् स्वयं इस गीता में आगे ("मम योनिर्महद्ब्रह्म," १४. ३) ब्रह्म के अर्थ प्रकृति करते हैं। और इंद्रियाँ प्रकृति का परिणाम हैं, इसलिए समस्त कर्मों को प्रकृतिरूप इंद्रियों पर डालकर और कर्म-फल के संग को त्यागकर इस निश्चय से "कि मैं कुछ नहीं करता हूँ" जो पुरुष कर्मों को करता है, वह इस प्रकृति के संसर्ग से कर्म करता हुआ भी प्रकृति में आत्माभिमान रूप जो पाप है, उससे ऐसे लिप्त नहीं होता, जैसे कमल का पत्ता जल में होते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता। (यह अभिप्राय पूर्वोक्त ३, २७-२८ और आगे के श्लोक १४ के आश्रय से लिया गया है)। ये दोनों अर्थ अपने-अपने स्थान पर युक्त दीखते हैं, और उक्त सिद्धांत वा उपदेश का समर्थन ही करते हैं; इसलिए दोनों ही यहाँ दे दिये गये हैं।

जल से लिपायमान नहीं होता। अर्थात् जैसे कमलपत्र को (यद्यपि वह जल में ही उगता और लहराता है) जल स्पर्श नहीं करता, वैसे इस पुरुष को, जो कर्तृत्वादि संग को छोड़कर भगवत्-निमित्त कर्म करता रहता है, कर्म के पापरूप वा पुण्यरूप फल लिपायमान नहीं करते ॥ १० ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त सिद्धांत तथा फल का अब दृष्टांत सुन। जैसे कमल का पत्ता यद्यपि जल में उगता और फलता-फूलता दिखाई देता है, परंतु जल के संग से न गलता है, न भीगता है, बल्कि नित्य सूखा का सूखा ही रहता है, वैसे ही जो पुरुष कर्मों को प्रकृति (अथवा इंद्रियों के स्वभाव) पर डालकर और उनका संग त्यागकर करता है। अर्थात् जो पुरुष कर्म करते समय यह धारणा (निश्चय) रखता है कि—“प्रकृति के गुणों से सब कर्म किये जाते हैं, अतएव इंद्रियाँ ही अपने-अपने स्वभावानुसार अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, पर मैं वास्तव रूप से कुछ नहीं करता, केवल इंद्रियों के संग-दोष (उपाधि) से कर्त्ता दिखाई देता हूँ,” और इस प्रकार की धारणा से कर्म के साथ कर्तृत्वादि संग जिसके छोड़े हुए (या स्वाभाविक छूटे हुए) होते हैं, वह पुरुष यद्यपि शरीर से कर्म करता दिखाई देता है, तथापि भीतर से नितांत अकर्त्ता और साक्षी होने के कारण वह कर्म के पुण्य-पापरूपी फल से लिपायमान या बंधायमान नहीं होता, बल्कि कमलपत्रवत् निर्लिप्त, निर्विकार, असंग और अचल ही रहता है ॥ १० ॥

संबंध—(१) उक्त रीति से कर्म करने में भगवान् अब सदाचार दिखलाते हैं—

अथवा (२) पर ऐसे अज्ञानी वा साधक कर्मयोगी के कर्मों का फल अंतःकरण की शुद्धिमात्र होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

कायेन^1, मनसा^{2}, बुद्ध्या^{3}	शरीर^1, मन^2 और बुद्धि^{3} से	योगिनः^{1}, कर्म^2, कुर्वन्ति^{3}	योगी^{1} लोग कर्म^2 करते^{3} हैं
केवलैः^{1}, इन्द्रियैः^{2}, अपि^{3}	केवल^1 इंद्रियों^{2} से भी^{3}	संगं^{3}, त्यक्त्वा^{4}, आत्म^1-शुद्धये^{2}	आत्म^1-शुद्धि^{2} के लिए संग^3 को त्याग^4 कर

अन्वयार्थ—योगी लोग संग को त्यागकर आत्म-शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इंद्रियों से भी कर्म करते हैं॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि कर्म-संग ही पुरुष के अंतःकरण को मलिन करता है, और संग-त्याग उसे शुद्ध पवित्र रखता है; और ऐसे ही कर्म का नितांत त्याग अंतःकरण को विक्षिप्त और मलिन करता है, और उसका निष्काम भाव से करते रहना ही उसे शुद्ध और शांत बनाता है। इसलिए योगी अर्थात् कर्मयोगी (विशेषतः साधक कर्म-योगी) लोग ऐसा जानकर न कर्म के साथ किसी प्रकार का कर्तृत्व अभिमान आदि संग रखते हैं, और न कर्म को नितांत त्यागते ही हैं, बल्कि कर्म और कर्म-फल दोनों के संग-दोष को त्यागकर केवल * शरीर से, अथवा केवल

---

* कायिक, वाचिक, मानसिक आदि कर्मों के भेदों को लक्ष्य कर इस श्लोक में शरीर, मन और बुद्धि शब्द आये हैं। श्लोक में यद्यपि "केवलैः" विशेषण "इंद्रियैः" शब्द के पीछे आया है; तथापि शरीर, मन और बुद्धि इन तीनों को भी लागू है (गीता ४, २१ देखो)। इसी लिए व्याख्या में उसे "इंद्रिय" शब्द के समान ही अन्य (मनादि) शब्दों के साथ भी लगा दिया है। मंतव्य इससे यह है कि जो कर्म इनसे किया

मन से वा केवल बुद्धि से, या केवल इंद्रियों से ही कर्म करते रहते हैं, ताकि अंतःकरण नित्य शुद्ध और शांत रहे। अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि वा इंद्रियों से वे बेकार (निकम्मे) नहीं बैठते, किंतु कर्तृत्वादि भाव को त्यागकर अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि से और निरासक्त मन द्वारा कर्म करते ही रहते हैं॥ ११ ॥

संबंध—(१) अपने उक्त सिद्धांत वा उपदेश को और स्पष्ट करने के लिए भगवान् अब युक्त और अयुक्त पुरुष के कर्मों की विधि तथा फल में परस्पर भेद दर्शाते हैं—

अथवा (२) प्रसंगानुसार कर्मयोगी की उन्नत स्थिति भगवान् अब बता रहे हैं—

अथवा (३) इसी कर्म से कोई मुक्ति को क्यों प्राप्त होता है और कोई बंधन को क्यों? इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (४) अंतःकरण की शुद्धि का विचार भी तो एक कामना है, सो फिर ऐसी कामनावाला पुरुष कैसे शांति वा शुद्धि पा सकता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः, कर्म-फलं, त्यक्त्वा	युक्त पुरुष कर्म-फल को त्यागकर	अयुक्तः, काम-कारेण	अयुक्त पुरुष कामना करके
शांतिं, आप्नोति, नैष्ठिकीं *	निरंतर (परम) शांति को पाता है	फले, सक्तः, निबध्यते	फल में आसक्त हुआ बंधा जाता है

जाय, वह इनकी चेष्टामात्र हो, और उस चेष्टा में किसी प्रकार की ममता न हो। अर्थात् कर्म के साथ यह वृत्ति न हो कि "मैं करता हूँ," और न यह कि "कर्म मेरे, अर्थात् अहंकार के, लिए हैं।"

* नैष्ठिकीम्=निष्ठा में होनेवाली मोक्षरूप शांति अर्थात् प्रथम अंतःकरण

अन्वयार्थ—युक्त पुरुष कर्म-फल को त्यागकर नैष्ठिकी शांति को पाता है। और अयुक्त पुरुष कामना करके फल में आसक्त हुआ बंध जाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त प्रकार समत्वबुद्धि से कर्म में युक्त पुरुष जो है, अथवा जो कर्म-संग को त्यागकर केवल अंतःकरण की शुद्धि के लिए वा अपनी सर्वप्रकार की शुद्धि के लिए ईश्वर-निमित्त कर्म करनेवाले योगी पुरुष हैं, वे सबके सब कर्म-फल की कामना को त्यागकर ही उस शांति को पाते हैं कि जो सदा रहनेवाली, परम, निरंतर और ब्रह्म निष्ठावाली होती है, और जिसके पाने पर फिर परम गति वा निरुपद्रव पद की प्राप्ति होती है, अन्य रीति से नहीं। और जो अयुक्त पुरुष हैं, अर्थात् जो उक्त रीति से कर्म में न लगनेवाले पुरुष हैं, वे नाना प्रकार की कामनाओं की प्रेरणा से आसक्त बुद्धि के साथ कर्म में प्रवृत्त होते कर्म के फल में फँस जाते हैं, और इस हेतु से जन्ममरण के बंधन में बँधे रहते हैं, अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त होने नहीं पाते बल्कि आवागमन के चक्र में फँसे रहते हैं ॥ १२ ॥*

की शुद्धि; इसके अनंतर नित्यानित्य वस्तु का विवेक; इसके अनंतर कर्म संन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा, इस क्रम से जो (सबके अनंतर) मोक्षरूप शांति (श्रीशंकराचार्य)। सदा स्थिर रहनेवाली आत्मानुभवरूप निवृत्ति (श्रीरामानुज)।

* श्रीज्ञानदेवजी ने युक्त शब्द के अर्थ केवल ज्ञानी लेकर इस श्लोक की ऐसे व्याख्या की है—"जो आत्मज्ञान से संपन्न है, जिसे कर्म के फल का तिरस्कार उत्पन्न हुआ है, सो मनुष्य संसार में शांति के घर में घुसकर उसे वर लेता है। और हे किरीटी! जो आत्मयोगी नहीं है, सो कर्म-बंधन के कारण फलभोगरूपी खूँटी से फलेच्छा की गाँठ दे बाँधा जाता है।"

संबंध—(१) नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हुए युक्त पुरुष के भीतर की स्थिति को भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) जिस प्रकार की एकरस निष्ठा को कर्मयोगी प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (३) उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के भीतर, कर्म करते समय, किस निश्चय की एकरस धारणा होती है जिससे वह कर्म से निर्लिप्त और निरंतर शांत रहता है, इसे भगवान् अब तीन श्लोकों में खोलकर वर्णन करते हैं—

अथवा (४) यहाँ तक भगवान् के सिद्धांत वा उपदेश के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि जो कर्म आसक्त मन से अथवा फल की कामना से प्रेरित होकर किया जाता है, वह अंतःकरण को मलिन करता पुनः-पुनः जन्म-मरण दिलाता है, जिससे बंधन का हेतु होता है। और जो कर्म निरासक्त मन तथा निष्काम भाव से केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है, वह अंतःकरण को शुद्ध करता अपरोऽक्षज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है, जिससे परम शांति मिलती है, और वह कर्म मोक्षद्वार कहलाता है। परंतु इस सिद्धांत में यह भ्रम स्वतः उत्पन्न हो आता है कि "अंतःकरण तथा इंद्रियाँ तो स्वयं जड़ हैं, जिससे अपने आप तो वे कुछ कर ही नहीं सकते, जो कुछ भी वे करते हैं सब अपने स्वामी (देही अथवा ईश्वर) की सहायता से ही करते हैं (चाहे कर्म आसक्त मन से वा कामना-युक्त हों, और चाहे निरासक्त मन तथा निष्कामचित्त वा ईश्वरार्पण के भाव से हों; पर वे सबके सब वास्तव में आत्मदेव वा ईश्वर की सहायता अर्थात् चेतनता के आश्रय ही होते हैं); तो ऐसी दशा में इन सब कर्मों का कर्त्ता देही वा ईश्वर क्यों नहीं ठहरता; जड़ इंद्रियादि क्यों ? और फिर इन सारे कर्मों का प्रभाव (असर) केवल इंद्रियों था अंतःकरण पर ही क्यों पड़ता है, सबके स्वामी प्रभु वा देही पर क्यों नहीं ? अर्थात् ये सब कर्म केवल इंद्रियों वा अंतःकरण को ही अपने प्रभाव से लिपायमान वा बंधायमान क्यों करते हैं, सबके मालिक ईश्वर अथवा देही को क्यों नहीं करते ?" इस भ्रम के निवारणार्थ भगवान्

अब इस विषय में निर्णीत सिद्धांत वा गुह्य रहस्य को अपने उक्त उपदेश वा सिद्धांत के क्रम में स्वयं खोलकर वर्णन करते हैं—

अथवा (५) इस प्रकार युक्त और अयुक्त पुरुष की अंतिम गति का भेद दर्शाकर अब भगवान् कर्मयोग का फलरूप जो सांख्ययोग अर्थात् निष्कर्मता वा कर्मसंन्यास है, उसकी आभ्यंतर दशा वा फल को अध्याय पर्यंत सविस्तर वर्णन करते हैं—

अथवा (६) आत्मशुद्धि-निमित्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियों के फल को निरूपण करने के बाद अब भगवान् जो यथार्थ ज्ञानी वा तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी हैं, उनकी आभ्यंतर दशा वा फल को अध्याय पर्यंत निरूपण करते हैं—

अथवा (७) परमार्थदर्शी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ की स्थिति सर्वदा एकरस हो जाती है, इसे भगवान् अब सविस्तर स्पष्ट करते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥*

सर्व-कर्माणि, मनसा, संन्यस्य	सब कर्मों को मन से त्याग कर	नव-द्वारे, पुरे, देही, न, एव, कुर्वन्, न, कारयन्	नौ द्वारों के पुर में देही न ही करता हुआ और न कराता हुआ (रहता है)
आस्ते, सुखं, वशी	वशी सुख से रहता है		

अन्वयार्थ — अपने को वश में रखनेवाला देहधारी मन से सब

---

* उपनिषद् (श्वेताश्वतर ३. १८) में इस विषय का ऐसा मंत्र है—

"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

अर्थ—सब चर-अचर लोकों को वश में रखनेवाला हंसरूपी देही नवद्वारों की पुरी में बाह्य विषयों को जिह्वावत् भोगता है ।

कर्मों को छोड़कर (स्वयं) न (कुछ) करता हुआ, न कराता हुआ नौ द्वारों के पुर में सुखपूर्वक रहता है ॥ १३ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी जो कर्मों से निर्लिप्त रहनेवाला और नैष्ठिकी शांति को पानेवाला ऊपर वर्णन हुआ है, वह अपने आपको अपने वश किया हुआ होता है, ऐसा अपने आपको वश में रखनेवाला (जितेंद्रिय) देहवान् पुरुष सब कर्मों को शरीर वा इंद्रियों से नहीं किंतु मन से त्यागकर इस नौ द्वारोंवाले पुर (शरीर) में स्वयं न कुछ करता हुआ और न कराता हुआ सुखपूर्वक वास करता है । अर्थात् यद्यपि वशी देहधारी अपने शरीर से सब कर्म करता दिखाई देता है, परंतु तत्त्वविवेक के बल से उसकी कर्म के साथ नितांत निरासक्ति भीतर से होती है (क्योंकि मन से उसने कर्म के कर्तृत्वादि संग-दोष नितांत त्याग कर रक्खे हैं), इसलिए इंद्रियों अर्थात् शरीर से सब कुछ करता और कराता हुआ भी वह स्वयं अपने को अकर्त्ता, अभोक्ता और असंगात्मा निश्चय करता है, जिससे वह (अपने स्वरूप से) न कुछ करता और न कराता हुआ इस शरीर में, जिसके (दो नेत्र, दो कान, दो नासिका, एक मुख और मूत्र-मल के त्यागने के दो स्थान, ऐसे) नौ द्वार हैं, आनंदपूर्वक रहता है ॥ १३ ॥*

---

* शरीर में तो सभी देहधारी रहते हैं, जितेंद्रिय हों वा अजितेंद्रिय और कर्मासक्त हों वा निरासक्त ; फिर तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के साथ ही यह विशेषण क्यों ? इसका कारण यह है कि सामान्य मनुष्य देह को एक निवासस्थान या पुर के तुल्य नहीं मानते, किंतु अपना आत्मा (अपना आप) ही करके समझते हैं, और देह की रक्षा आदि भी इस प्रकार से करते हैं कि मानों वे स्वयं देह ही हैं, और "देह से अलग, देह का स्वामी, देह से पहले वा पीछे भी रहनेवाला इत्यादि" वे अपने को

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी क्यों निष्कर्मी, निर्लिप्त और शांत रहते हैं ? इसलिए, कि उनके चित्त में यह धारणा होती है कि "यह देही (देहधारी जीव वा आत्मा) जिसके वश में ये सब इंद्रियाँ प्राणादि हैं, वह मन से सब कर्मों को त्याग कर, अर्थात् मन के अधीन कोई कर्म न करने से, न किसी कर्म का कर्त्ता होता है, न प्रेरक, बल्कि अपने स्वरूप से कर्मातीत होने के कारण वह न कुछ करता और न कराता हुआ आनंद से इस नौ द्वार की पुरी (देह) में रहता है" ॥ १३ ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू यह पूछे कि "जड़ इंद्रियों के कर्म जो चेतन आत्मा ही की चेतनता के आश्रय होते हैं और अपने आप नहीं हो सकते, वे क्यों इंद्रियों तक ही अपना प्रभाव डालते हैं ? क्यों नहीं अपने असली आधार (आत्मा) को लिपायमान वा बंधायमान करते ?" तो उसका कारण यह है कि आत्मा (देही) जिसके वश में अर्थात् जिसके आश्रय ये इंद्रियाँ इत्यादि सब व्यापार करती हैं, वह स्वयं इस केंद्ररूप मन से अलग वा परे होने से इंद्रियों के किसी कर्म के साथ न वास्ता रखता है, और न संबंध. बल्कि स्वरूप से कर्मातीत वा कर्मों का अधिष्ठान होने के कारण वह वास्तव में न कुछ करता है और न कराने का भाव ही रखता है, इसलिए शरीर के सब

नहीं समझते। परंतु यह तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी तो अपने आपको देह से अलग, देह का धारण करनेवाला (देही) मानता है और इसी प्रकार उसकी रक्षा वा पालन-पोषण करता है, जैसे घर का मालिक वा किरायादार घर की सफ़ाई वा रक्षा करता है। इसीलिए तत्त्ववेत्ता योगी के साथ ऐसा विशेषण दिया गया है कि वह देहरूपी पुर में उससे नितांत निःसंबंध हुआ (घर में बसनेवाले वा किरायेदार के समान) निश्चिंत वा सुखपूर्वक रहता है।

कर्मों से निर्लिप्त हुआ सुखपूर्वक वह इस नौ द्वार की पुरी (देह) में रहता है ॥ १३ ॥ *

---

* आत्मा सब चेष्टाओं का आधारभूत (Substratum and source of all energies. powers and movements) होता हुआ भी क्यों शारीरिक कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और प्रेरक नहीं माना जाता ? कारण इसमें यह है कि आधार वा आधार-चेष्टा पर आधेय वा आधेय-चेष्टा कभी हावी (प्रभुत्ववान्) नहीं हो सकते । आधेय का काम तो अपने आधार की सेवा करना और उसके अधीन रहना होता है, न कि आधार पर आक्रमण करना वा उसको अपने अधीन करना; इसलिए आधेय-चेष्टा अपने आधार को न लिपायमान कर सकती है, न बंधायमान, और न उसे कर्त्ता, भोक्ता वा प्रेरक ही बनाती है । यह कर्त्ता-भोक्ता वा प्रेरक रूप उपाधि तो आधेय-चेष्टा के कारण उत्पन्न हो आती है, आधार-चेष्टा के कारण नहीं । चेष्टा के आधार को चेतनात्मा (Substratum or Source of all energies and movements معدن حرکت یا منبع حرکت) कहते हैं, और इसी चेतनात्मा की स्वतः वा स्वाभाविक चेष्टा को आधार-चेष्टा कहा जाता है, और इसी को कोई स्फुरणमात्र वा तरंगमात्र भी कहते हैं । और इसी (चेष्टा) के आधेय को अचेतनात्मा वा जड़ वस्तु, अथवा चेष्टा का बिंदु वा केंद्र (Point or centre of motion نقطۂ حرکت یا مرکز حرکت) कहते हैं; और इसी अचेतनात्मा की परतंत्र वा प्रेरित चेष्टा का नाम आधेय-चेष्टा है, और इसी को फिर कर्म नाम देते हैं । अर्थात् आधार-चेष्टा का नाम केवल चेष्टामात्र वा स्फुरणमात्र होता है, और आधेय-चेष्टा को कर्म वा क्रिया कहते हैं । आधार-चेष्टा स्वतः वा स्वाभाविक होने से न अपने आधार को और न अपने आपको लिपायमान वा बंधायमान कर सकती है, और न कर्त्ता-भोक्ता की उपाधि से युक्त होती है । और आधेय-चेष्टा परतंत्र वा प्रेरित होने से उस अचेतनात्मा (आधेय) को, जिसके द्वारा वह प्रकट होती है, अपना कर्त्ता-भोक्ता बनाती उसे आसक्त करती और लिपायमान

चौथी व्याख्या—हे अर्जुन ! तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी जब निष्काम कर्म द्वारा नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हो जाता है, तब वह वास्तव

वा बंधायमान करती है। पर यह चेष्टा (कर्म) भी अपने असली आधार अर्थात् आधार-चेष्टा पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती और न उसमें विकार ही उत्पन्न कर सकती है । इसलिए जड़ इंद्रियों वा मन के कर्मों का प्रभाव केवल इंद्रियों वा मन पर ही पड़ता है, चेतनात्मा पर नहीं ; और यही मन वा इंद्रियाँ कर्मों की कर्त्ता-भोक्ता होती हैं, चेतनात्मा नहीं । और इन्हीं इंद्रियों वा अंतःकरण की उपाधि के कारण वह चेतनात्मा अज्ञानी पुरुषों से कर्त्ता, भोक्ता और प्रेरक समझा जाता है, वास्तव में न वह कर्त्ता है, न भोक्ता और न प्रेरक ही है । और इन्हीं इंद्रियों वा मन के द्वारा यह आधेय-चेष्टा 'कर्म' नाम पाती है, चेतनात्मा की स्वाभाविक चेष्टा तो केवल स्फुरणमात्र कहलाती है, कर्म नहीं ।

दृष्टांत—जैसे सूर्य जो प्रकाश वा तेज का पुञ्ज (Source of light and heat) है, अपने स्वभाव से ही प्रकाशता वा उष्णता देता है। और यह स्वभाव (अपने आधार वा मालिक) सूर्य पर कुछ प्रभाव नहीं डालता, यद्यपि दूसरों पर वह अवश्य डालता है । परंतु सूर्य का यही स्वाभाविक तेज वा प्रकाश (जो आधार-चेष्टा है) जब किसी बीज द्वारा चेष्टा करता है, अर्थात् जब किसी वृक्ष इत्यादि के बीज में परिच्छिन्न होता उसे उपजने वा फलने-फूलने में सहायता देता है, तो बीज में उपजने वा फलने-फूलने की क्रिया उत्पन्न होती है, जिस (क्रिया) का कर्त्ता वह जड़ बीज ही ठहरता है, प्रकाश वा प्रकाश का आधार (सूर्य) नहीं; क्योंकि वृक्ष के बढ़ने, सड़ने इत्यादि का सब प्रभाव (असर) केवल बीज पर ही पड़ता है, सूर्य वा प्रकाश पर नहीं । जब वृक्ष उग रहा हो, तो कोई पुरुष यह नहीं कहता कि प्रकाश या सूर्य उग रहा है, बल्कि सब यही कहते और मानते हैं कि बीज उग रहा है, यद्यपि बीज स्वयं जड़ है और विना सूर्य की सहायता के कदापि उग ही नहीं सकता ।

रूप से अर्थात् भीतर से पूर्ण संन्यासी वा निष्कर्मी हो जाता है। ऐसे संन्यासी को फिर कुछ करना-कराना शेष नहीं रहता।

ऐसे ही जड़ चक्षु जब सूर्य के प्रकाश की सहायता से कुछ देखती है, तो कोई यह नहीं कहता कि सूर्य या प्रकाश देख रहा है, बल्कि यही कहा जाता वा निश्चय किया जाता है कि चक्षु देख रही है। फिर चक्षु यदि अपने भीतर के रोग के कारण वाह्य प्रकाश की सहायता से मध्यम, उत्तम अर्थात् अधिक या न्यून देखे, तो उस सबका प्रभाव चक्षु पर पड़ता है, वाह्य प्रकाश पर नहीं। इस प्रकार प्रकाश का पुञ्ज सूर्य वा सूर्य का तेज न तो वृक्ष के उगने में सहायता देने के कारण उसकी किसी क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता होता है, और न चक्षु की ही किसी क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता होता है, बल्कि इन दोनों की समस्त क्रियाओं से नित्य निर्लिप्त और असंग रहता है, जिससे बंधायमान होने नहीं पाता।

दार्ष्टान्त—ऐसे ही चेतनात्मा जो सूर्यों का सूर्य और चैतन्यस्वरूप है, अपनी चेतनता से (जो उसकी स्वाभाविक चेष्टा वा क्रिया है) न किंचित् लिपायमान होता है और न बंधायमान, बल्कि नित्य निर्लिप्त और साक्षी ही रहता है। और जब इस चेतनता, अर्थात् आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा, से जड़ मन, बुद्धि वा इंद्रियों द्वारा कुछ क्रिया हो जाती है, अर्थात् जब ये इंद्रियाँ वा मन बुद्धि आदि चेतनात्मा की सहायता से कुछ देखने, सूँघने, सोचने इत्यादि का कर्म कर बैठते हैं, तो इन सब कर्मों के कर्त्ता-भोक्ता, यही जड़ इंद्रियाँ वा मन बुद्धि आदि होते हैं, चेतनात्मा नहीं। या दूसरे शब्दों में ऐसे कि जब आत्मा की चेतनता (स्वाभाविक चेष्टा) मनरूप बीज में परिच्छिन्न होकर कोई कर्म कर बैठती है, तो उस समस्त कर्म का कर्त्ता-भोक्ता मन होता है, आत्मा वा आत्मा की चेतनता नहीं। इसलिए उस कर्म से मन ही लिपायमान वा बंधायमान होता है, न कि आत्मा। इस प्रकार मन ही मनुष्यरूपी वृक्ष में उक्त बीजवत् ऐसा केंद्र (बीज) है कि जिस पर मनुष्य का बंध और मोक्ष निर्भर है, और इसीलिए श्रुति में स्पष्ट रूप से ऐसे आया है कि—

जो कुछ भी उसके शारीरिक कर्म होते हैं, वे या तो स्वाभाविक और या प्रारब्धवश होते हैं। अपने चित्त से उसका फिर एक कर्म

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः” । इस प्रकार इसी बीजरूप केंद्र में परिच्छिन्न होने से जब आत्मसत्ता कुछ कर बैठती है, तब मनुष्य का मन उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, जो (कर्म) फिर उसके बंधन का हेतु होता है । और जब कर्म विना इस केंद्र में आसक्त होने के केवल शरीर से उस आत्मसत्ता की सहायता द्वारा होते हैं, तब वे कर्म एक प्रकार से स्वाभाविक व प्रारब्ध-भोग के वश होते हैं, जिससे उनका कर्त्ता और भोक्ता मनुष्य का मन नहीं होता किंतु इंद्रियाँ होती हैं, और ऐसे कर्मों का प्रभाव भी इंद्रियों पर ही पड़ता है, मन और आत्मा पर नहीं। इसलिए ऐसे सब कर्म न मनुष्य को लिपायमान करते हैं और न उसके बंधन का हेतु होते हैं, और न वह मनुष्य (देहधारी) उनका कर्त्ता-भोक्ता ही ठहरता है । यही कारण है कि जब सुषुप्ति-काल में इंद्रियाँ, मन, बुद्धि आदि संकुचित हो जाते (सो जाते) हैं और भोजन का पचना, प्राणों का चलना, बालों का बढ़ना, रोम-रोम और नस-नस में रुधिर का पहुँचना इत्यादि सारी चेष्टाएँ शरीर के भीतर विना बीजरूप मन के केंद्र द्वारा सीधा आत्मसत्ता की सहायता से स्वतः वा स्वाभाविक होती हैं, तब जागकर मनुष्य उन सब चेष्टाओं का कर्त्ता-भोक्ता न अपने आपको ठहराता है, और न किसी अन्य को, बल्कि यही कहता है कि “ये सब चेष्टाएँ स्वाभाविक हुई और होती हैं, मैं उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं” । या जब सहज स्वभाव से किसी पुरुष से कोई वस्तु उठाई गई और बेख़बरी से जेब में डाली गई हो, तब भी वह पुरुष अपने आपको उस चेष्टा (क्रिया) का कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानता, और न अन्य पुरुष ही ऐसी दशा में उसे कर्त्ता-भोक्ता मानते वा चोर ठहराते हैं । पर जब वैसी ही क्रिया मनुष्य के मन-बुद्धिरूप केंद्र द्वारा, अर्थात् जान-बूझकर वा संकल्प की आसक्ति से हो, तब वह मनुष्य झट उस कर्म का कर्त्ता

भी नहीं होता। अर्थात् किसी इच्छा और स्वार्थ के अधीन हुए चित्त से वह फिर कुछ नहीं करता बल्कि सुखपूर्वक अकर्त्ता-

---

ठहरता है, और कर्त्ता होने से चोर कहलाता है, जिससे दंड का भागी हो जाता है।

सिद्धांत—उक्त सारे कथन से यह सिद्ध हुआ कि—

(१) जो चेष्टा अपने आधार (substratum) से स्वतः उठती है, वह स्वाभाविक चेष्टा वा स्फुरणमात्र कहलाती है, कर्म नहीं। अतएव कोई उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता। और आत्मा जो समस्त चेष्टा वा स्फुरण का आधार (Source or Substratum) है, वह इसीलिए अपनी स्वाभाविक चेष्टा का न कर्त्ता होता है, न भोक्ता और न उससे चलायमान, लिपायमान वा बंधायमान ही होता है।

(२) जब स्वाभाविक चेष्टा (आधार-चेष्टा) से किसी केंद्र (जड़ पदार्थ) द्वारा क्रिया होती है, तब वह क्रिया कर्म कहलाती है; और जिस केंद्र द्वारा वह कर्मरूपी क्रिया प्रकट होती है, वही (केंद्र) उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, अन्य नहीं; क्योंकि उस कर्म की उत्पत्ति और फल का कारण वह केंद्र है।

(३) मन इस अर्थात् अंतःकरण (जिसके कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है) इस मनुष्य-देह में जड़ बीजवत् केंद्र है, जिस पर मनुष्य का बंध और मोक्ष निर्भर है। जब आधाररूप आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा से इस मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा कुछ क्रिया होती है, तो वह क्रिया कर्म कहलाती है, और यह मन उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, जिससे मनुष्य के बंधन का हेतु हो जाता है। और जब मन अर्थात् अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) की संगति के विना ही सीधा आत्मसत्ता की सहायता से शारीरिक क्रियाएँ होती हैं, तब वे (क्रियाएँ) वास्तव में स्फुरणमात्र वा चेष्टामात्र कहलाती हैं, कर्म नहीं; अतएव वे स्वाभाविक क्रियाएँ

अभोक्तारूप से स्थित होता है, यद्यपि कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म उससे स्वतः (प्रारब्धवश) और स्वाभाविक होते ही रहते हैं। इसलिए सिद्धांत यह है कि जब कर्मयोगी नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हो जाता है, तब वह वशी (स्वाधीन वा स्वतंत्र) और पूर्ण संन्यासी हुआ चित्त से न कुछ करता हुआ और न कराता हुआ (सर्वप्रकार के परिश्रम से रहित हुआ) सुखपूर्वक इस नवद्वार की पुरी अर्थात् देह में प्रारब्ध भोग तक रहता है ॥१३॥

संबंध—(१) अपने उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त सिद्धांत को पहले जीवात्मा की दृष्टि से वर्णन किया गया, अब उसे ईश्वर की दृष्टि से भगवान् वर्णन करते हैं—

होने से न कोई उनका वास्तव में कर्त्ता होता है और न भोक्ता। ऐसी स्वाभाविक क्रियाएँ क्योंकि कुछ करने वा कराने के संकल्प या भाव से नहीं किंतु स्वतः होती हैं, इसलिए इन क्रियाओं के होते हुए भी पुरुष भीतर से न कुछ वास्तव में करता होता और न कराता होता है। इसी गूढ़ तत्व को भगवान् अब ऐसे स्पष्ट करते हैं कि वह देही (आत्मा) जिसके वश में सब चेष्टाएँ हैं, या वह समत्वबुद्धि से युक्त कर्मयोगी जिसके वश में मन बुद्धि इत्यादि हैं, जब वह मन से सब कर्मों को छोड़ देता है, अर्थात् जब उसकी समस्त क्रियाएँ विना मनरूपी केंद्र के द्वारा होती हैं, अर्थात् विना अहंकार आदि की आसक्ति के होती हैं, तब शरीर चाहे कर्म में प्रवृत्त ही दीख रहा हो, परंतु वह मनुष्य (वा देही) वास्तव में न कुछ करता होता है और न कराता होता है, बल्कि सुखपूर्वक इस नौ द्वार की देह में स्थित हुआ होता है, यद्यपि चैतन्यस्वरूप होने से उसका स्वभाव बराबर क्रिया में प्रवृत्त रहता ही है। इसी अभिप्राय (सिद्धांत) को भगवान् अगले श्लोक १४ में अधिक स्पष्ट करते हैं।

अथवा (३) देही (आत्मा) का साक्षात् स्वरूप जो प्रकृति के संसर्ग से अलग है, उसका भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) नैष्ठिकी शांति को पाया हुआ तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी भीतर से पूर्ण संन्यासी, देह का स्वामी (मालिक) और स्वतंत्र हुआ होता है, ऐसे स्वतंत्र प्रभु की वास्तविक स्थिति वा धारणा को भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (५) आत्मा की इस निर्लिप्त स्थिति को भगवान् अब प्रभु की स्थिति के नाम से वर्णन करते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

न^{2}, कर्तृत्वं^{3}, न^{4}, कर्माणि^{5}, लोकस्य^{1}, सृजति^{7}, प्रभुः^{6}	संसार^{1} के न^{2} कर्तृत्व^{3} को और न^{4} कर्मों^{5} को प्रभु^{6} रचता^{7} है
न^{1}, कर्म^{2}-फल^{3}-संयोगं^{4}	न^{1} कर्म^{2}-फल^{3} के संयोग^{4} को
स्वभावः^{2}, तु^{1}, प्रवर्तते^{3}	किंतु^{1} स्वभाव^{2} प्रवृत्त^{3} होता है

अन्वयार्थ—संसार के न कर्तृत्व को, न कर्मों को और न कर्म-फल के संयोग को प्रभु रचता है, किंतु (यह सब) स्वभाव प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! देह इंद्रियादि (सब संघात) का स्वामी रूप यह देही (आत्मा), अथवा मन, बुद्धि आदि सबको अपने वश में रखनेवाला होने के कारण उनका मालिक रूप यह तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी, अर्थात् जो इंद्रियों के अधीन नहीं बल्कि इंद्रियाँ जिसके अधीन होने से उनका स्वामी है, ऐसा तत्त्ववित् योगी संसार के न कर्म को, न कर्तृत्व को, और न कर्म-फल के संयोग को रचता वा निर्माण करता है, बल्कि यह सब स्वभाव है,

जो प्रवृत्त हो रहा है। अर्थात् यह प्रभु (आत्मा वा आत्मवेत्ता कर्मयोगी) देह-इंद्रियादि से निरासक्त होने के कारण इंद्रियों की किसी भी क्रिया का, उसके कर्त्ताभाव का, वा उसके फल का निर्माणकर्त्ता नहीं होता। तात्पर्य यह कि उससे इस भाव के साथ कि "मैं इंद्रियों से अमुक कर्म अवश्य करूँ वा कराऊँ, या अमुक फल-निमित्त कुछ करूँ, अथवा अमुक कर्म-फल लाभ करूँ वा कराऊँ," इत्यादि कोई चेष्टा नहीं होती, बल्कि यह सब उसकी पुरी (देह, इंद्रियादि) ही का स्वभाव है जो इन कर्त्ता, कर्म, करणादि उपाधियों में प्रवृत्त होता है, अर्थात् देह, इंद्रियों के स्वभाव इंद्रियों को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करते रहते हैं, आत्मा वा आत्मवेत्ता योगी उनको प्रवृत्त करने वा कराने का कोई संकल्प नहीं रखता। अथवा आत्मा (वा योगी) की यह सहज स्वभावरूप चेष्टा है जो सर्वत्र प्रवृत्त है, या उस प्रभु की वह स्वाभाविक सत्ता है कि जिसके आश्रय ये देह इंद्रियादि स्वतः प्रवृत्त होते और कर्त्ता कर्मादि भाव उत्पन्न करते हैं, पर वह प्रभु इनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं ॥ १४ ॥*

---

* "आत्मा स्वरूप से न कर्त्ता है, अतएव स्वरूप से न कर्म उसके हैं, न कर्मों का फल उसका है, क्योंकि वह ज्ञानैक स्वरूप है और अविकार्य (विकाररहित) है। यदि कर्म की उत्पत्ति उसके स्वरूप में हो, तो विकारवान् (बदलनेवाला) ठहरता है। जब स्वरूप से उसमें कर्म नहीं; तो वह स्वरूप से कर्त्ता भी नहीं; अतएव कर्म-फल का संबंध भी उसमें नहीं होता। (प्रश्न) तब यह जो कर्तृत्व आदि देखा जाता है, वह किसमें है, और इसको कौन रचता है? (उत्तर) इसका रचनेवाला स्वभाव है। पूर्वले ज्ञान और कर्म की वासनाएँ जो अंतःकरण में हैं, वे इस सजीव मनुष्यादि को करने में प्रेरती हैं, इसलिए परमार्थ में कर्तृत्व, कर्म और कर्म-फल का संयोग इन वासनाओं से रचित है,

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व जो कर्मों से निर्लिप्त रहने के विषय में इंद्रियों के स्वामी (तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी) की आत्म-विषयक धारणा दर्शायी कि "आत्मा निज स्वरूप से तो किसी भी कर्म का कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता, बल्कि सदैव अकर्त्ता-अभोक्ता और साक्षी ही रहता है" । अब उसी की ईश्वर-विषयक धारणा को सुन। जैसे वह अपने को आत्मारूप से "अकर्त्ता-अभोक्ता" निश्चय करता है, वैसे वह अपने को ईश्वररूप से भी समझता है कि "मैं जो जगत् का प्रभु हूँ, वह (प्रभु) न किसी से कर्म कराता है, न आप कर्म करता है, न कर्म के फल का संबंध निर्माण करता है, और न किसी के किये कर्म का फल ही भोगता है, अर्थात् संपूर्ण रूप से वह अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी रहता है; किंतु मुझ प्रभु की यह स्वाभाविक चेतन सत्ता है कि जिसके आश्रय सब प्राणी कार्य के करने और कराने में प्रवृत्त होते हैं ; अथवा

अतएव प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार ही चेष्टा करता है, मनुष्य मनुष्य के सदृश और पशु पशु के सदृश चेष्टा करता है। यदि ये चेष्टाएँ सीधी आत्मा से हों, तो आत्मा सर्वत्र सम होने से (उसकी) सबमें सम ही चेष्टाएँ होनी चाहिएँ । फिर मनुष्यों में भी हरएक अपनी-अपनी ही वासनाओं के सदृश चेष्टा करता है, और जैसी वासनाओं की उसमें अधिकता होती है, वही काम उससे उत्तम बनता है । अतएव स्वभावतः एक एक विषय में और दूसरा दूसरे विषय में रुचि रखता है, "भिन्नरुचिर्हि लोकः", और किसी से एक काम अच्छा हो सकता है, दूसरा नहीं । दूसरे से दूसरा अच्छा हो सकता है और वह पहला नहीं । एक एक में योग्य और दूसरे में अयोग्य है, दूसरा दूसरे में योग्य और पहले में अयोग्य है, सर्वथा अयोग्य कोई भी नहीं; अतएव कहा है—"अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः"=पुरुष कोई अयोग्य नहीं, हाँ जोड़नेवाला दुर्लभ है। सो यह कर्तृत्वादि वासनाकृत हैं।" (आर्यसमाज के पं० राजाराम)

यह जो अज्ञानरूपी दैवी माया है, यह मायारूपी प्रकृति ही कार्य के करने और कराने में प्रवृत्त होती है"। तात्पर्य यह है कि जगत् का स्वामी प्रभु सूर्य की न्याईं सबका प्रकाशकमात्र है, किसी भी कर्मादि व्यापार में प्रवर्त्तक नहीं। किंतु जिस-जिस वस्तु का जैसा-जैसा स्वभाव होता है, वह स्वभाव ही वैसा-वैसा प्रवृत्त होता है। जैसे एक ही सूर्य के उदय होने पर कमल फूल का विकास उसके अपने स्वभाव से ही होता है, वा सूर्यमुखी पुष्प अपने स्वभाव से ही सूर्य की ओर मुख कर लेता है, और कुमुद पुष्प स्वभाव से ही संकुचित होता है, पर सूर्य स्वयं किसी का विकास तथा संकोच नहीं करता, जिससे किसी के विकास और संकोच का वह कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता। वैसे एक ही परमात्मा के प्रकाशमान हुए जड़ घटादि पदार्थ तो चेष्टा करते नहीं, और चेतन मनुष्यादि प्राणी नाना प्रकार की चेष्टा करते हैं, परंतु परमात्मा आप किसी भी पदार्थ को न प्रवृत्त करता है, और न निवृत्त, बल्कि स्वयं नित्य अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी ही स्थित रहता है। पूर्व (आत्मविषयक) धारणावत् इस (ईश्वर-विषयक) धारणा में युक्त होने के कारण भी वह तत्त्ववित् कर्मयोगी कर्मों से नित्य निर्लिप्त और असंग ही रहता है॥ १४॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन! पूर्व श्लोक में जो सिद्धांत दर्शाया गया है कि "देह का स्वामी (देही) मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा कोई कर्म न करने से शारीरिक किसी भी कर्म का कर्त्ता, भोक्ता और प्रवर्त्तक नहीं होता, बल्कि सब चेष्टाओं का आधारभूत होने से सब देहों में आनंदपूर्वक साक्षी स्थित रहता है"। उसी सिद्धांत को अब जगत् के स्वामी (ईश्वर) की दृष्टि से शास्त्र वा तत्त्ववेत्ता ऐसे कहते हैं कि प्रभु जगत् के किसी कर्म, कर्तृत्व और कर्म-फल के संयोग को नहीं रचता है। यह

इस आधाररूप प्रभु की स्वाभाविक सत्ता है जिसके आश्रय यह सब प्राणी प्रवृत्त होते कर्म, कर्त्ता, कर्म-फल इत्यादि की उपाधियाँ उत्पन्न करते हैं। अथवा यह सब इस प्रभु की स्वाभाविक चेष्टा है जो मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा प्रकट होने से कर्त्ता, कर्म और करणरूप उपाधियाँ उत्पन्न करके उन कर्मों के फल की प्राप्ति-निमित्त प्रवृत्त है। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रकाश का आधार सूर्य सारे जगत् को प्रकाश देता है, पर वह उस प्रकाश का कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता; क्योंकि वह प्रकाश उसका स्वतः और स्वाभाविक होने से उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता; किंतु जब वह स्वाभाविक प्रकाश किसी बीज द्वारा चेष्टा करता है, तब वृक्ष के उगने, फलने और फूलने की उपाधि उत्पन्न हो आती है, विना बीज द्वारा चेष्टा करने के ये उपाधियाँ प्रकट नहीं होतीं। वैसे सूर्यों का सूर्य चैतन्यस्वरूप परमात्मा जो संसार की संपूर्ण चेतनता (चेष्टाओं) का आधार है, यद्यपि जगत् को चेतनता उसी भंडार से प्राप्त होती है, और उसी की चेतन सत्ता से यह समस्त स्थावर-जंगमरूप जगत् स्थित है और चेष्टा करता है; पर इस सत्ता के कारण वह प्रभु इस समस्त चेष्टा तथा उसके फल का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो जाता, क्योंकि यह चेतन सत्ता उसकी स्वाभाविक है, किसी संकल्प-विकल्प से उत्पन्न नहीं होती, जिससे अपने आधाररूप परमात्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकती, अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं उत्पन्न कर सकती। पर हाँ, जब इस स्वाभाविक चेतन सत्ता के प्रभाव वा आश्रय से यह बीजरूप जड़ अंतःकरण (केंद्र) इंद्रियों द्वारा कुछ कर बैठता है, तो वह क्रिया कर्म कहलाती है, जिसके कारण "कर्त्ता" और "फल" रूप उपाधियाँ उत्पन्न हो आती हैं। इस प्रकार यही स्वाभाविक सत्ता प्रभु की है जो अंतःकरण की

संगति से सर्वत्र प्रवृत्त हुई कर्त्ता, कर्म, करण और कर्म-फलरूप उपाधियाँ उत्पन्न करती है। परमात्मदेव तो अपने स्वरूप से न जगत् के किसी कर्म को, न कर्त्ता को और न कर्म-फल के संबंध को उत्पन्न करता है। वह तो सर्वत्र सब देहों में अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी और असंगात्मास्वरूप से स्थित है ॥ १४ ॥

संबंध—(१) अब उक्त सिद्धांत को अन्य रीति से भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जब स्वभाव ही सर्वत्र प्रवृत्त होता है और प्रभु किसी कर्म तथा कर्त्ता इत्यादि का रचनेवाला नहीं है, तो फिर यह पुण्य और पाप किसको लगते और किससे प्रवृत्त होते हैं ? इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) "यह सब स्वभाव ही प्रवृत्त होता है" कैसे माना जाय, जब कि श्रुति और स्मृति में इसके विरुद्ध ईश्वर को सर्व कर्मों में प्रेरक और जीव को कर्म का कर्त्ता कहा है, जैसा कि—"एष उह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ ह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषत इति ।"=यह परमात्मा जिस पुरुष को ऊपर के लोकों (स्वर्गादि) में ले जाना चाहता है उससे प्रेरणा करके पुण्यकर्म कराता है, और जिसको नीचे के लोकों (नरकादि) में ले जाना चाहता है, उससे प्रेरणा करके पापकर्म कराता है। इति श्रुति ॥ "असौ जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।" =यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख दोनों के उत्पन्न करने में असमर्थ ही है, किंतु ईश्वर की प्रेरणा से यह जीव (अपने पुण्यपाप के वश से) स्वर्ग-नरकादि को प्राप्त होता है। इति स्मृति। इस प्रकार ईश्वर में तो पुण्य-पापकर्मों का कारयितृत्व और जीव में उनका कर्तृत्व श्रुति-स्मृति ने कहा है जिससे इन दोनों (ईश्वर, जीव) में पुण्य-पापकर्मों का लेप अवश्य और स्पष्ट है। इस संशय की निवृत्ति के लिए भगवान् ऐसा कहते हैं कि—

अथवा (४) "वासनाएँ भी तो आत्मा पर होती दीखती हैं, इसलिए

फिर भी कर्तृत्व आदि का रचनेवाला आत्मा ही ठहरता है।" इस प्रश्न वा संदेह का उत्तर भगवान् ऐसे देते हैं कि—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

न^{1}, आदत्ते^{4}, कस्यचित्^{2}, पापं^{3}	न^{1} किसी^{2} के पाप^{3} को लेता^{4} है	अज्ञानेन^{1}, आवृतं^{2}, ज्ञानं^{3}	अज्ञान^{1} से ज्ञान^{2} ढका^{3} हुआ है
न^{2}, च^{1}, एव^{3}, सुकृतं^{5}, विभुः^{4}	और^{1} न^{2} ही^{3} विभु^{4} पुण्य^{5} को (लेता है)	तेन^{1}, मुह्यन्ति^{3}, जन्तवः^{2}	उससे^{1} लोग^{2} धोखा^{3} खाते हैं

अन्वयार्थ—विभु न किसी के पाप को लेता है, और न ही पुण्य को। अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उससे लोग धोखा खाते हैं ॥ १५ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! ऊपर के श्लोकों में यह दर्शाया जा चुका है कि "तत्त्ववित् कर्मयोगी अथवा चेष्टा का आधार ईश्वर वा आत्मा किसी भी कर्म का कर्त्ता या भोक्ता नहीं होता, किंतु उस (आधार या योगी) की स्वतः वा स्वाभाविक चेष्टा जब मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा प्रकट होती है, तब कर्म नाम पाती है, जो कर्म फिर पुण्य वा पापरूप फल के उत्पन्न करनेवाला होता है और जिस (कर्म तथा फल) का कर्त्ता वा भोक्ता केवल जड़ अंतःकरण वा मन ही ठहरता है, ईश्वर या आत्मा नहीं।" इसी उक्त सिद्धांत की दृष्टि से शास्त्रकार वा तत्त्ववेत्ता पुरुष ऐसा कहते हैं कि विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा वा परमेश्वर अथवा सबका आत्मरूप हुआ हुआ कर्मयोगी

अकर्त्ता होने से न किसी के पाप को और न किसी के पुण्य को ग्रहण करता है, अर्थात् न वह किसी पाप वा पुण्य-कर्म का कर्त्ता होता है, और न इसलिए वह किसी पाप वा पुण्य-कर्म के फल का भोक्ता होता है। वह तो नित्य अकर्त्ता, अभोक्ता, अविकारी और असंग आत्मा है। इसी अभिप्राय को लेकर "असंगो ह्ययं पुरुषः" (बृह० ४, ३, १५-१६)=निःसंदेह यह पुरुष असंग है, ऐसा श्रुति ने कहा है। सो अविकारी आत्मा वस्तुतः इन सारे पुण्य-पापादि विकारों से असंग रहता है, वे विकार सब अंतःकरण में ही होते हैं, और इनका फल भी उसी को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं, यह तत्त्व है। पर सर्वसाधारण लोग इस तत्त्व को न जानकर ऐसा समझने लग जाते हैं कि "अंतःकरण तो स्वयं जड़ है, सारे कर्म केवल एक विभु (आत्मा वा ईश्वर) के आश्रय होते हैं, अतएव कर्मों का कर्त्ता और उनके पुण्य वा पापरूपी फलों का भोक्ता वही एक विभु ही होता है, अन्य नहीं"। ऐसी समझ का नाम ही अज्ञान है। इसी अज्ञान से उनके अपने स्वरूप का ज्ञान ढका होता है जिसके कारण अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता मानते हुए वे लोग भटकते फिरते हैं और भ्रांति का शिकार बने रहते हैं ॥ १५ ॥*

---

* वास्तव में विभु (परमेश्वर) किसी भक्त के भी पाप को और पुण्य को ग्रहण नहीं करता है। फिर क्यों भक्ति भरी पूजा से दान, याग, होमादि, शुभ कर्म इन भक्तों से किये जाते हैं ? इसलिए कि अज्ञान से ज्ञान (विवेक-शक्ति) ढका हुआ है, उससे मनुष्य धोखा खा जाते हैं, और "मैं करता हूँ वा कराता हूँ, तथा ऐश्वर्यादि भोग मैं भोगता हूँ और दूसरों को भुगाऊँगा" इस प्रकार अविवेकी जन भ्रम को प्राप्त होते हैं (श्रीशंकराचार्य)।

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! सर्वत्र व्यापक होने से निष्क्रिय जो परमेश्वर है वह विभु किसी भी मनुष्य के पाप को वा पुण्य को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि परमार्थ दृष्टि से उसमें पुण्य-पाप का कर्त्तापन तथा कारयितापन नहीं है। जब ऐसा सिद्धांत है, तो उक्त ("एष उ ह्येव साधुकर्म कारयति।" वा "ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।") श्रुति-स्मृति-वाक्य और यह लोकप्रसिद्ध उक्ति कि "ईश्वर की प्रसन्नता के वास्ते भले पुरुष शुभ कर्म करते हैं, और बुरे कर्मों को उसके भय से नहीं करते हैं," ये सबके सब असंगत होंगे। इस असंगति के दूर करने के ख़्याल से कहा जाता है कि आवरण विक्षेप शक्तिवाला जो मायारूप मिथ्या अज्ञान है, अथवा अपने अकर्त्ता-अभोक्ता स्वरूप को कर्त्ता-भोक्ता रूप करके जानना जो अज्ञान है, इस अज्ञान से अपने वास्तवस्वरूप का ज्ञान अथवा परमार्थ सत्यरूप ज्ञान ढका हुआ है; इस कारण से लोग मोह को प्राप्त होते हैं; अर्थात् प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय; कर्त्ता, कर्म, करण; भोक्ता, भोग्य, भोग; इस नव प्रकार के संसारभ्रम को उक्त अज्ञान के कारण जंतु प्राप्त होते हैं; अथवा "यह जीव पुण्य-पापरूप कर्मों का कर्त्ता है, और ईश्वर इन कर्मों का करानेवाला है" इत्यादि इस भेद-भ्रम को लोग अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण प्राप्त होते हैं। ऐसे अज्ञानी (मूढ़ वा अविवेकी) पुरुषों के वचन वा भ्रांतिज्ञान को उक्त श्रुति-स्मृति-वाक्य अनुवादमात्र करते हैं, इस भेद-भ्रम के बोधन में उनका तात्पर्य नहीं है ॥१५॥*

---

* उक्त दोनों श्लोकों पर सुप्रसिद्ध महाशय तिलकजी अपना ऐसा विचार प्रकट करते हैं कि—"इन दोनों श्लोकों का तत्त्व असल में सांख्य-शास्त्र का है। वेदांतियों के मत में आत्मा का अर्थ परमेश्वर है, अतः वेदांती लोग परमेश्वर के विषय में भी 'आत्मा अकर्त्ता है' इस तत्त्व का

संबंध—(१) अज्ञानी पुरुष तो धोखा खाते हुए भटकते फिरते हैं, परंतु ज्ञानवान् पुरुष की क्या दशा रहती है, उसे भगवान् अब पुनः खोलकर वर्णन करते हैं—

अथवा (२) जब सब जीव अनादि अज्ञान से आवृत हैं, तो संसार से निवृत्ति इनकी क्योंकर होगी? इसका भगवान् अब समाधान करते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥*

ज्ञानेन[३], तु[१], तत्[४], अज्ञानं[५], येषां[६], नाशितं[७], आत्मनः[२]	परंतु[१] आत्मा[२] के ज्ञान[३] से वह[४] अज्ञान[५] जिनका[६] नाश[७] हो गया है	तेषां[१], आदित्य[२]वत्[३], ज्ञानं[४]	उनका[१] सूर्य[२]वत्[३] ज्ञान[४]
		प्रकाशयति[३], तत्[१], परम्[२]	उस[१] परम[२] को प्रकाशता[३] है

उपयोग करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूल तत्त्व मानकर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृति का मानते हैं और आत्मा को उदासीन कहते हैं। परंतु वेदांती लोग इसके आगे बढ़कर यह मानते हैं कि इन दोनों ही का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह सांख्यवालों के आत्मा के समान उदासीन और अकर्त्ता है, एवं सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति) का है। अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य को ये बातें जान नहीं पड़तीं; परंतु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्व का भेद जानता है; इस कारण वह कर्म करके भी अलिप्त ही रहता है।

* इस विषय का भागवत (१. ३. ३४) में श्लोक इस प्रकार से है—

“यद्येषोपरता दैवी माया वैशारदी मतिः ।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥’

अर्थ—जब मोहनेवाली दैवी माया ब्रह्मविद्या से नष्ट हो जाती है, तब जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त होता परम शांति को पाता है।

अन्वयार्थ---परंतु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नाश हो गया है, उनका ज्ञान सूर्यवत् उस परम (तत्त्व) को प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—परंतु हे अर्जुन ! जिन पुरुषों का वह अज्ञान (जो आवरण, विक्षेप शक्तिवाला है, अनादि है, अनिर्वचनीय है, सब अनर्थों का मूल है, स्वाश्रय अभिन्नविषयक है; अर्थात् जैसे अंधकार जिस घर के आश्रित रहता है उसी घर को वह ढक लेता है, वैसे अज्ञान भी जिस आत्मदेव के आश्रित रहता है उसी आत्मदेव को ढक लेता है, इस प्रकार जो आत्मज्ञान को ढककर पुरुष को धोखा देता वा मोहता है, और जो शास्त्रों में माया, अविद्या, प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त शक्ति इत्यादि नामों से कहा जाता है) अपने आत्मविषयक ज्ञान से नाश हो गया है । अर्थात् जो ज्ञान निरासक्त मन और समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते शुद्ध अंतःकरण में अनुभव होता है ; अथवा जो ज्ञान ब्रह्मवेत्ता पुरुषों से उपदिष्ट वेदांत-वाक्य द्वारा उत्पन्न होता है ; वा जो ज्ञान श्रवण मनन निदिध्यासन की परिपक्वता से निर्मल अंतःकरण की वृत्तिरूप है ; अथवा जो ज्ञान शोधित 'तत्त्वं' पदार्थों का अभेदरूप जो शुद्ध सच्चिदानंद, अखंड, एकरस वस्तु है, उस वस्तुमात्र को विषय करनेवाला है, ऐसे ज्ञान से जिनका अज्ञान नाश होगया है। उन महात्मा पुरुषों का वह ज्ञान उस परमतत्त्व अर्थात् उनके निजस्वरूप को ऐसे प्रकाशता है जैसे जगत् के पदार्थों को सूर्य। तात्पर्य यह है कि उन ज्ञानवानों के यहाँ तो नित्य तत्त्वज्ञान का सूर्य उदय रहता है, जिससं वे अपने स्वरूप से चलायमान न होते हुए किसी भी कर्म में आसक्त होने नहीं पाते; अतएव कर्मों के वे कर्त्ता-भोक्ता नहीं होते, वल्कि कर्म करते

हुए भी अकर्त्तास्वरूप निजानंद में ही स्थित रहते हैं ॥ १६ ॥ *

संबंध—(१) जिनका आत्मज्ञान परमतत्त्व को सूर्यवत् प्रकाशता रहता है, उनकी जो अंतिम गति होती है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अज्ञान नष्ट हुए कर्मयोगी कभी भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, इस सिद्धांत को भगवान् अब दर्शाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥ †

---

* श्रीज्ञानदेव अपने विचित्र ढंग से इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या करते हैं—

"यह अज्ञान जब संपूर्ण नष्ट हो जाता है, तब भ्रम का अंधकार मिट जाता है, और मुझ ईश्वर की निष्कर्मता प्रकट होती है। एतावता 'ईश्वर अकर्त्ता है' ऐसा यदि चित्त में ज्ञान हो, और स्वभावतः आरंभ से 'मैं ही ईश्वर हूँ' यह विवेक यदि चित्त में उदय हो, तो उस मनुष्य को तीनों जगतों में काहे का भेद रहेगा ? वह स्वानुभव के कारण सब जगत् को मुक्त समझेगा, जैसे पूर्व दिशा के घर में सूर्य का उदय होते ही दिवाली हो जाती है तथा उसी समय अन्य दिशाओं के अंधकार का भी नाश हो जाता है।"

† योगवासिष्ठ (३. ६. १, २) में इस विषय पर ऐसे श्लोक हैं—

"तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १ ॥
तेषां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या ॥ २ ॥"

अर्थ—उस (आत्मा वा ब्रह्म) में ही जिनका चित्त व प्राण है, जो परस्पर उस (आत्मा व ब्रह्म) को ही बोधन करते हैं, जो उसी के कथन में संतुष्ट होते हैं, और जो उसी में रमण करते हैं; ऐसी ज्ञाननिष्ठा और

* तत्-बुद्धयः, तत्-आत्मानः	उस ही में बुद्धिवाले, उस ही में आत्मा (मन) वाले	गच्छन्ति, अपुनरावृत्तिं	न लौटने को जाते हैं
तत्-निष्ठाः, तत्-पर- अयनाः	उस ही में निष्ठावाले, उस ही में परम आश्रय रखनेवाले	ज्ञान-निर्धूत- कल्मषाः	ज्ञान से धोये हुए (झाड़े हुए) पापवाले

अन्वयार्थ—उस ही में बुद्धिवाले, उस ही में आत्मा (मन) वाले, उस ही में निष्ठावाले, उस ही में परम आश्रय रखनेवाले और ज्ञान से धुले हुए पापोंवाले पुरुष फिर न लौटने † को जाते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त ज्ञान से प्रकाशित जो परमतत्त्व (सच्चिदानंदस्वरूप) है, उस तत्त्व में अथवा उक्त आत्मज्ञान में ही जिन विचारवानों की बुद्धियाँ हैं, अर्थात् उसी तत्त्व के विचार में ही जिनकी बुद्धियाँ युक्त रहती हैं। उसी (सच्चिदानंदस्वरूप) में ही है आत्मा जिनका; अर्थात् जो अपने आपको सच्चिदानंद स्वरूप

आत्मज्ञान के विचारवालों की निष्ठा जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है, जो फिर (बढ़ते-बढ़ते) विदेहमुक्त अवस्था होती है।

* 'तद्बुद्धयः' से भगवान् का तात्पर्य ब्रह्मसाक्षात्कार, 'तदात्मानः' से निदिध्यासन, 'तन्निष्ठा' से श्रवण-मननरूप वेदांत-विचार और 'तत्परायणाः' से लोक-परलोक के विषय-सुखों से तीव्र वैराग्य है। इसमें उत्तर-उत्तर साधन को पूर्व पूर्व साधन का हेतु दर्शाया गया है। इस प्रकार उक्त चार विशेषणों से युक्त जो संन्यासी हैं, वे अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् विदेहमुक्ति को पा लेते हैं। (श्री मधुसूदन स्वामी)

† "फिर न लौटने (अपुनरावृत्ति) को जाते हैं"=फिर देह के संबंध को प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् विदेह मुक्ति को प्राप्त होते हैं (श्रीशंकराचार्य)। फिर नहीं लौटते, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ से फिर नहीं

ही निश्चय कर रहे हैं, या उसी तत्त्व के श्रवण-मनन में जिनके मन लगे रहते हैं, अथवा उस परमस्वरूप में ही जिनका अंतःकरण रमा रहता है। उसी परमस्वरूप में जिनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् जिनका चित्त अपने परमस्वरूप के निश्चय में दृढ़ स्थित है। जो नित्य उसी परमतत्त्व के परायण हैं, अर्थात् जो बात-बात में उस परमतत्त्व (परमात्मदेव) का ही आश्रय लेते हैं। और "मैं शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से जिनके समस्त पाप वा देह के संबंधकारक पुण्य-पापरूप कल्मष धुल गये वा झड़ गये होते हैं। ऐसे पुण्य-पाप से रहित हुए महापुरुष अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं; अर्थात् ऐसे विद्वान् महात्मा जब शरीर को छोड़ते हैं, तो पुनः जन्ममरण को प्राप्त नहीं होते, बल्कि सीधा मोक्ष को ही पाते हैं॥ १७॥

संबंध—(१) परमतत्त्वपरायण पुरुषों को अंतिम गति कहकर अब भगवान् उनका लौकिक व्यवहार और दृष्टि वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो गया हो, उस तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी की ब्रह्मभूत वा जीवन्मुक्त अवस्था का भगवान् अब अधिक वर्णन करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् तत्त्वज्ञानी पुरुष की उत्तम अद्वैत स्थिति का वर्णन करते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

लौटना होता। यह फिर न लौटने का अभिप्राय महाप्रलय तक ही युक्तियुक्त हो सकता है (आर्यसमाजी पं० राजाराम)।

विद्या[1]-विनय[2]-सम्पन्ने[3], ब्राह्मणे[4], गवि[5], हस्तिनि[6]	विद्या[1] और विनय[2] से संपन्न[3] ब्राह्मण[4], गौ[5] और हाथी[6] में	शुनि[2], च[1], एव[4], श्वपाके[5], च[3]	और[1] कुत्ते[2] में और[3] ऐसे[4] ही चांडाल[5] में
		पण्डिताः[1], समदर्शिनः[2]	पंडित[1] समदर्शी[2] होते हैं

अन्वयार्थ—विद्या-विनय * युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और ऐसे ही चांडाल में पंडित लोग समदर्शी होते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वेद के अर्थ का सम्यक् ज्ञानरूप जो विद्या है, अथवा अद्वितीय ब्रह्म को प्रतिपादन करनेवाली ब्रह्मविद्यारूप जो विद्या है, ऐसी विद्या से संपन्न और विनय (निरहंकारता व नम्रता) से युक्त जो ब्राह्मण है, अर्थात् पहले ही ब्राह्मण अन्य जातियों से उत्तम है, परंतु विद्या और विनय से संपन्न होने से अत्युत्तम जो सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण है; और मनुष्यों की अपेक्षा से मध्यम तथा संस्कारों से रहित जो राजस गौ है, और मनुष्यों तथा पशुओं में अत्यंत अधम वा अत्यंत तमोगुण युक्त जो हाथी, कुत्ता और चांडाल हैं। इन सबों में पंडित लोग (परमात्मपरायण पुरुष) सदा समदृष्टि † रखते हैं। अर्थात् वे पुरुष जिनका आत्मविषयक ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का अज्ञान नाश हो गया है, जिन्होंने इस तत्त्व को जान

---

* यहाँ विद्या-विनय-संपन्न ब्राह्मण और चांडाल में तो कर्म की विषमता है, और गौ, हाथी आदि में जाति की विषमता है।

† सबमें सम, अर्थात् सबमें जो सत्त्वादि गुणों तथा उनके संस्कारों से नितांत स्पर्श न किया जानेवाला एक निर्विकार ब्रह्म है, उसको देखते हैं (श्रीशंकराचार्य)। (इससे आगे पृष्ठ ६३७ पर फ़ुटनोट देखो)

लिया है कि आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्त्ता है और सारा खेल प्रकृति का है, और जो नित्य अपने स्वरूप के ध्यान में दृढ़ स्थित, तृप्त और मग्न रहते हैं, ऐसे परमात्म-परायण ज्ञानवान् वा ब्रह्मसंस्थ पुरुष गुणों से संपन्न ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ता और चांडाल इन सबको ब्रह्मदृष्टि वा अपने आत्मा की दृष्टि

"यथा गंगातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्यादित्यस्य न तद्गुणदोषसम्बन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसम्बन्धः ।"=जैसे गंगाजल, तालाब, मदिरा और मूत्र में प्रतिबिंबित जो सूर्य है, उसका इन वस्तुओं के गुण-दोषों से कोई संबंध नहीं होता ; इसी प्रकार ब्रह्म भी जो चिदाभास के द्वारा प्रतिबिंब को प्राप्त हुआ है, उसका उपाधि के गुण-दोषों से कोई संबंध नहीं होता, इस भाव से जो ब्रह्म को सबमें सम देखते हैं (श्रीमधुसूदनस्वामी) ।

प्रकाशतः ब्राह्मण, गौ आदि से आत्मा अत्यंत विषम (uneven, dissimilar, असम) प्रतीत होता है, पर आत्मवेत्ता पंडित लोग ज्ञानस्वरूप से सर्वत्र समदर्शी होते हैं । वे देखते हैं कि यह विषमता प्रकृति की है, आत्मा की नहीं । आत्मा तो सर्वत्र ज्ञानस्वरूप सम (एक समान) है (श्रीरामानुज) ।

उत्तम, मध्यम, अधमरूप जितने भी सात्त्विक, राजस, तामस प्राणी हैं, इन सब ऊँच-नीच प्राणियों में वे ज्ञानवान् पुरुष समदर्शी ही होते हैं, अर्थात् सात्त्विकादिक गुणों से वा गुणजन्य संस्कारों से स्पर्श न किया हुआ जो परब्रह्म है उस परब्रह्म का नाम सम है, उसको ही विद्वान् सर्वत्र देखते हैं । यह वार्ता अन्य शास्त्र में भी कथन करी है—"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥" अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप यह पाँच अंश ही सर्वत्र व्यापक हैं ; उनमें आद्य के तीन अंश तो ब्रह्मरूप हैं, और अंत के दो अंश जगत् रूप हैं, इति । इस प्रकार विद्वान् पुरुष सर्वत्र अस्ति-भाति-प्रिय रूप ब्रह्म को ही देखते हैं (श्रीचिद्घनानंद) ।

से एक समान देखते हैं, और क्षुद्र भेददृष्टि उनमें नहीं रखते। अथवा वे ऐसे उदारचित्त हुए होते हैं कि विद्याविनय-संपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता, चांडाल अपितु प्राणिमात्र का एक समान कल्याण चाहते हैं, परमात्मा की सारी प्रजा को एक दृष्टि से देखते हैं। उनमें घृणा किसी के लिए नहीं रहती ॥ १८ ॥

संबंध—(१) उक्त समदर्शी पुरुषों का माहात्म्य और स्थिति भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) उक्त समदर्शी पुरुष इस रीति से तो पाप के भागी होंगे, क्योंकि धर्मशास्त्र में कहा है कि—"तस्यान्नमभोज्यं भवति समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः इति"। "पूजयिता प्रतिपत्तिविशेषमकुर्वन्धर्माद्धनाच्च हीयते इति"।=जो पुरुष वेद जाननेवाले ब्राह्मणों में एक की अधिक और दूसरे की न्यून (कम) पूजा करता है, उसके घर का अन्न न खाना चाहिए, क्योंकि सम पुरुषों की ऐसी असम पूजा से दोष प्राप्त होता है। और जो पूजा करनेवाला, विना इस बात के विचारे कि यह उत्तम है या अधम, किसी की पूजा करता है, तो उसका धर्म और धन दोनों नाश हो जाते हैं (गौतमस्मृति)। ऐसे समदर्शी पुरुष भी पाप को प्राप्त होने चाहिए, न कि मुक्ति को। इस भ्रम के निवारणार्थ भगवान् अब ऐसे कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इह^{1}, एव^{2}, तैः^{3}, जितः^{5}, सर्गः^{4}	इस^{1} जन्म में ही^{2} उससे^{3} संसार^{4} जीता^{5} गया है	निर्दोषं^{3}, हि^{1}, समं^{4}, ब्रह्म^{2}	क्योंकि^{1} ब्रह्म^{2} निर्दोष^{3} और सम^{4} है
येषां^{1}, साम्ये^{3}, स्थितं^{4}, मनः^{2}	जिनका^{1} मन^{2} समता^{3} में स्थित^{4} है	तस्मात्^{1}, ब्रह्मणि^{2}, ते^{3}, स्थिताः^{4}	इसलिए^{1} ब्रह्म^{2} में वे^{3} स्थित^{4} हैं

अन्वयार्थ—जिनका मन समता में स्थित है, उनसे इसी जन्म में ही संसार जीता गया है। क्योंकि ब्रह्म (स्वयं) निर्दोष * और सम है, इसलिए वे (समदर्शी) ब्रह्म में स्थित हैं ॥ १९ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त समता की दृष्टि में जिनका मन दृढ़ स्थित है, अर्थात् जो मन से सबमें समता भाव रखते हैं, उन्होंने इस जन्म में अर्थात् यहाँ जीते जी ही परस्पर विषम भाववाले संसार (मृत्युलोक) को जीत लिया होता है; अर्थात् संसार की विषम दृष्टि से ऊपर वे वर्तने लग जाते हैं। क्योंकि दोषों से रहित और एक समान अवस्था का नाम ब्रह्म है, इसलिए जो पुरुष मन करके समता में स्थित हैं, वे निःसंदेह ब्रह्मभाव में ही स्थित हैं, और इसलिए वे किसी भी कर्म से दोषी वा बंधायमान नहीं होने पाते, किंतु मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं ॥१९॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! परस्पर विषम भाववाले पदार्थों में जो ब्रह्म अस्ति, भाति, प्रियरूप करके एक समान वर्त रहा है, उस 'समभावरूप ब्रह्म' में या ब्रह्म के समभाव में जिन विद्वानों का शुद्ध मन निश्चल हुआ है, वे जीते जी ही इस संसार को तर गये होते हैं। क्योंकि ब्रह्म जन्म-मरणादि सब विकारों से रहित होने से निर्दोष और कूटस्थ, नित्य एकरस, तथा अद्वितीय रूप होने से सर्वत्र सम है; इसलिए जो विद्वान् समता में स्थित हैं,

---

* दोषवाले चांडालादि में आत्मा को उनके दोषों से दोषवाला केवल मूढ़ पुरुष समझते हैं, पर वह उन दोषों से रहित सबमें सम (एक) है (श्रीशंकराचार्य)। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, प्रकृति के संसर्ग दोषों से पृथक् हुआ सबमें सम (एक समान) है; जब आत्मा की समता में वह स्थित है, तो ब्रह्म में स्थित है; और ब्रह्म में स्थिति ही संसार का जय है।
(श्रीरामानुज)

वे निःसंदेह ब्रह्म में ही अभेद रूप से स्थित हैं; और इसी कारण उन्हें कोई कर्म नहीं बाँधता, बल्कि सब कर्मों के फल से निर्लिप्त हुए वे सीधा मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः इति। असङ्गो नहि सज्जते इति। सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः इति।"=यह आत्मा असंग है। और असंग होने से किसी भी पदार्थ से बंधायमान वा लिपायमान नहीं होता। जैसे सब प्रपंच का नेत्ररूप सूर्य बाह्य चक्षुओं के दोषों से लिपायमान नहीं होता, वैसे सब पदार्थों का अंतरात्मारूप एक अद्वितीय ब्रह्म भी लोगों (देहादि) के दुःखरूप धर्मों से लिपायमान नहीं होता। और काम-क्रोधादि भी अंतःकरण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं (कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा इति श्रुति), जिससे दुष्ट उपाधियों वा अंतःकरण के धर्मों से आत्मा दुष्टता वा काम-क्रोधादि धर्मों (दोषों) को प्राप्त नहीं होता, बल्कि "साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च" इस श्रुति के अनुसार वह आत्मा साक्षी और केवल निर्गुण ही रहता है। इसलिए जो पुरुष इस समरूप आत्मा में मन से स्थित होते हैं, वे भी बाह्य पदार्थों के दोषों या अंतःकरण के धर्मों से दूषित वा लिपायमान नहीं होते हैं। पस, यह उक्त स्मृति-वचन इन समदर्शी पुरुषों के विषय में नहीं, किंतु अज्ञानी और असमदर्शी पुरुष के लिए कहा गया है ॥ १९ ॥*

---

* आर्यसमाजी पं० राजाराम इस श्लोक पर अपने ढंग की ऐसे व्याख्या करते हैं—"जो सारे संसार के भले में है, उसने सारे संसार को जीत लिया है "यथाहवै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेव ꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति।"=जैसे कोई अपने लोक के लिए भला चाहे, इस प्रकार इस (रहस्य) के जाननेवाले के लिए सारे भूत भला चाहते हैं

संबंध—(१) इस निर्दोष और सम ब्रह्म में स्थित हुए समदर्शी पुरुष के लक्षण भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इसी समता को दृढ़ करने के लिए भगवान् अब फिर समत्वबुद्धि वाले का लक्षण वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जिस प्रकार वर्तते हुए तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी को समदर्शिता प्राप्त होती है, उसे भगवान् अब कथन करते हैं—

अथवा (४) उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी को समदर्शिता प्राप्त होने के पश्चात् अपना जीवन कैसे व्यतीत करना होता है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

न^{४}, प्रहृष्येत्^{३}, प्रियं^{१}, प्राप्य^{२}	प्यारी^{१} (वस्तु) को पाकर^{२} प्रसन्न^{३} नहीं^{४} होता (अथवा न^{५} हो जाय)	स्थिर^{१}-बुद्धिः^{२}, असंमूढः^{३}, ब्रह्म^{४}-वित्, ब्रह्मणि^{५}, स्थितः^{६}	स्थिर^{१} बुद्धि^{२}, भूल^{३}रहित (या अज्ञान से शून्य), ब्रह्मवेत्ता^{४} ब्रह्म^{५} में स्थित^{६} है
न^{५}, उद्विजेत्^{४}, प्राप्य^{३}, च^{१}, अप्रियं^{२}	और^{१} अप्रिय^{२} (वस्तु) को पाकर^{३} दुःखी^{४} नहीं^{५} होता (अथवा न^{५} होवे)		

पहला अन्वयार्थ—स्थिर-बुद्धि, भूल से रहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म में स्थित पुरुष प्रिय (वस्तु) को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय को पाकर दुःखी (विषादी वा खिन्न) नहीं होता है ॥ २० ॥

(बृह० १, ४, १६)। ऐसे पुरुष संसार (दुनिया) में रहते हुए भी ब्रह्म में रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है और सम है। सदोष होना और विषम होना संसार का रूप है, निर्दोष होना और सम होना ब्रह्म का।"

दूसरा अन्वयार्थ—जो प्रिय (इष्ट वस्तु) को पाकर प्रसन्न न हो, और अप्रिय (अनिष्ट वस्तु) को पाकर दुःखी न हो, (ऐसा) स्थिर-बुद्धि और मोह से शून्य ब्रह्मवेता ब्रह्म में स्थित है, (ऐसा समझो) ॥ २० ॥

तीसरा अन्वयार्थ—(पस, समता से युक्त कर्मयोगी पुरुष) प्रिय को पाकर प्रसन्न न हो, और अप्रिय को पाकर खेदित न हो, (बल्कि सदैव) स्थिर-बुद्धिवाला, अज्ञान से शून्य, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म में स्थित हो ॥ २० ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसा ऊपर कहा उस प्रकार जिसकी बुद्धि (अपने आत्मतत्त्व के निश्चय या समता में) दृढ़ स्थिर है, अर्थात् ठहरी हुई है, डाँवाडोल नहीं है ; जो मोह (भूल वा अज्ञान या भ्रम) से रहित है, अर्थात् जो अपने आपको भूला हुआ नहीं किंतु आत्मवेत्ता है ; और इस प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता है और ब्रह्म में स्थित है, अर्थात् ऐसे जो ब्रह्म के जाननेवाला और चित्त-वृत्ति से निर्दोष और समरूप ब्रह्म के ध्यान (वा ब्रह्मभाव) में स्थित है, उसका यह लक्षण है कि वह प्रिय (इष्ट) वस्तु को पाकर फूलता नहीं और अप्रिय (निकम्मी वा अनिष्ट) वस्तु को पाकर उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् रंज, दुःख, खेद वा खिन्नता को प्राप्त नहीं होता किंतु प्रत्येक अवस्था में एकरस रहता है ॥ २० ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जो विद्वान् कर्मयोगी प्रिय (सुखदायक वा रुचिकर) वस्तु को पाकर फूले नहीं, और अप्रिय (दुःखदायक वा अरुचिकर) को पाकर खिन्न न हो अर्थात् खेद को न प्राप्त हो, किंतु इन दोनों के प्राप्त होने पर सर्वदा एकरस ही रहे ; ऐसा एकरस (समता में) स्थिर रहनेवाला

पुरुष स्थिर-बुद्धि (परिपक्व निश्चयवाला), अज्ञान से शून्य व ब्रह्मवेत्ता है, और निर्दोष वा सम ब्रह्म में स्थित है, ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पूर्व जो अध्याय २ के श्लोक ५६ में कहा है (दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥=दुःखों में न घबराये हुए मनवाला और सुखों में दूर हुई इच्छावाला, और राग, भय तथा क्रोध से रहित मुनि स्थिर-बुद्धि कहलाता है), इस प्रकार जो पुरुष आत्मानात्मा के विवेक के कारण दुःख-सुखदायक वस्तुओं के पाने पर अथवा दुःख-सुखरूप द्वंद्व के प्राप्त होने पर किंचित् चलायमान नहीं होता किंतु एकरस रहता है, वही वास्तव में स्थिर-बुद्धि है, वही अज्ञान वा अज्ञानजन्य भ्रम से शून्य है, और अज्ञान से शून्य होने के कारण वही आत्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्मवित् है, और ब्रह्म क्योंकि सम और निर्दोष अवस्था का नाम है, इसलिए वह (सर्वदा एकरस रहनेवाला उक्त स्थिर-बुद्धि पुरुष) नित्य ब्रह्म में ही स्थित है। ऐसा तू निश्चय कर ॥ २० ॥*

तीसरे अर्थ की व्याख्या—एस, हे अर्जुन! जो पुरुष ब्रह्म के परोऽक्षज्ञान से तो संपन्न हो और कर्मयोग में भी युक्त रहता हो,

---

* किसी व्याख्याता ने इस श्लोक के पहले अर्थ किये हैं और किसी ने दूसरे। केवल श्रीरामानुज आदि एक-दो ने ही तीसरे अर्थ किये हैं। हमारे विचार में पहले दोनों अर्थ अपने-अपने स्थान पर युक्त और उत्तम बैठते हैं, तीसरे अर्थ तो खैंचातानी का परिणाम दीखते हैं, और पूर्वापर के संबंध से ऐसे ठीक नहीं बैठते जैसे कि पहले दो। परंतु व्याकरण के बल से तीसरे अर्थ भी निकल सकते हैं, और किसी अंश में उक्त दोनों के सहकारी भी हो सकते हैं, इसलिए तीसरा अर्थ भी सहित व्याख्या के हमने दे दिया है।

परंतु अभी तक समदर्शिता को प्राप्त न हुआ हो (या किसी समय अकस्मात् समदर्शिता को प्राप्त हो भी गया हो, तो भी), ऐसे तत्त्ववित् कर्मयोगी को चाहिए कि वह प्यारी वस्तु को पाकर फूले नहीं और अप्रिय वस्तु को पाकर झिझके नहीं, अर्थात् उद्वेग को प्राप्त न हो, बल्कि इन दोनों के पाने पर वह एकरस रहे, नित्य निश्चल बुद्धि हो अर्थात् नित्य आत्मतत्त्व के निश्चय में अपनी बुद्धि दृढ़ स्थिर रखे, भूल वा अज्ञान को प्राप्त न होता हुआ निर्दोष और समरूप ब्रह्म में नित्य स्थित रहे, और एवं ब्रह्मवित् हो ॥ २० ॥ *

संबंध—(१) केवल बाह्य विषयों में निरासक्त पुरुष और ब्रह्मध्यान में युक्त पुरुष, इन दोनों के सुख का परस्पर भेद भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) तत्त्ववित् कर्मयोगी ब्रह्मानंदरूप अक्षय सुख को भोगने के कब समर्थ होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्य^{१}-स्पर्शेषु^{२}, अ^{३}-सक्त^{४}-आत्मा^{५}	बाह्य^{१} विषयों^{२} में न^{३} फँसे^{४} हुए आत्मा^{५} (मन वा चित्त) वाला	सः^{१}, ब्रह्म^{२}-योग^{३}-युक्त^{४}-आत्मा^{५}	वह^{१} ब्रह्म^{२}-योग^{३} में युक्त^{४} आत्मा^{५} (चित्त वा मन) वाला
विन्दति^{४}, आत्मनि^{१}, यत्^{२}, सुखं^{३}	आत्मा^{१} (अपने) में जो^{२} (जब) सुख^{३} पाता^{४} है	सुखं^{२}, अक्षय्यं^{१}, अश्नुते^{३}	नाश^{१} न होनेवाले सुख^{२} को भोगता^{३} है

---

* इस पर श्रीज्ञानदेव विचित्र रूप से ऐसे व्याख्या करते हैं—"मृगजल की बाढ़ से जैसे पर्वत नहीं डिगते, वैसे ही भला या बुरा प्रसंग आ पड़ने

पहला अन्वयार्थ—बाह्य विषयों में निरासक्त मनवाला पुरुष जब अपने में सुख पा लेता है, तब वह ब्रह्मयोग-युक्त चित्तवाला होकर अक्षय सुख को भोगता है ॥ २१ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—बाह्य विषयों में निरासक्त मनवाला पुरुष जो सुख अपने में (है) पाता है, (और) वह ब्रह्मयोग-युक्त चित्तवाला पुरुष अक्षय सुख को भोगता है ॥ २१ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! श्रोत्रादिक इंद्रियों से ग्रहण करने योग्य जो विषय हैं, वे बाह्य विषय कहलाते हैं, उनमें जिनका चित्त आसक्त नहीं है, अर्थात् चक्षुश्रोत्रादि बाह्य इंद्रियों को अपने अधीन करके उन (इंद्रियों) के शब्द-स्पर्शादि विषयों में जो योगी लोग मोह नहीं रखते हैं (या नहीं फँसते हैं); ऐसे निरासक्त वा निष्कामात्मा पुरुष अपने विरक्त और शुद्ध चित्त में बाह्य विषयों की अपेक्षा से रहित जो उपशमरूप सुख है, उस सुख को पाते हैं, अर्थात् अपने निर्मल अंतःकरण की वृत्ति द्वारा अनुभव करते हैं। और जब इस उपशमरूप सुख का पानेवाला अपने निरासक्त और शुद्ध चित्त से ब्रह्मध्यान से युक्त होता है, तब ब्रह्मध्यान में लीन होने से, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप अनुभव होने से वह कदापि नाश न होनेवाले सुख को भोगता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य इंद्रियों के विषय-सुख जिन्हें कामजन्य सुख भी कहते हैं नाना प्रकार के प्रयत्न से प्राप्त होते हैं, उनकी रक्षा में राजा चोरादि का भय होता है, उनके जाते रहने से अथवा उनके वियोग से अत्यंत दुःख होता है, जिससे अंत में वे दुःख-

---

से भी जिसे विकार नहीं उत्पन्न होता, वही सच्चा, वही तत्त्वतः समदृष्टि है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पांडुसुत ! वही ब्रह्म है।"

दायी होते हैं, और उनसे तृष्णा भी नहीं मिटती, बल्कि तृष्णा का मिटना तो कहाँ, उलटा वह इन विषयसुखों से दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है । इस तृष्णावाले सुख की अपेक्षा से जो तृष्णा-रहित संतोषरूपी अंतरीय सुख है, अथवा निष्काम वा निर्मल अंतःकरण में जो उपशमरूप सुख है, वह अत्युत्तम है । महाभारत में भी ऐसे आया है "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"=इस लोक में जो काम-जन्य सुख हैं, तथा स्वर्गादि लोकों में महान् दिव्य सुख हैं, वे सबके सब तृष्णा की निवृत्ति-जन्य सुख के सोलहवें भाग के तुल्य भी नहीं होते हैं । इस प्रकार जो पुरुष विषय-सुख की तृष्णा से रहित होकर उनसे निरासक्त होते हैं, वे अपने अंदर उपशमरूप सुख को (जो विषय-सुख से कई गुणा अधिक और उत्तम होता है) पाते हैं । और जब इस उपशमरूप सुख के पाने से उनकी वृत्ति अत्यंत निर्मल और शांत होकर ब्रह्मध्यान में युक्त हुई लीन हो जाती है, या उनका अंतःकरण ब्रह्माकार वृत्ति से समाहित स्थिर होता है, तब वे निजानंदरूप नित्य सुख को भोगने लग जाते हैं, और यही जीवन्मुक्ति का आनंद है ॥ २१ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! सुख दो प्रकार का होता है—(१) एक बिंबरूप सुख, अर्थात् आत्मिक वा पारमार्थिक, (२) दूसरा प्रतिबिंबरूप सुख, अर्थात् लौकिक वा मानसिक। जब किसी उपाय तथा यत्न से मन शांत और एकाग्र होता है, अर्थात् अंतःकरण क्षोभ और चंचलता से रहित होता है, तब अंतःकरण में बिंबरूप आत्मा (जो आनंदस्वरूप है) का स्पष्ट रूप से प्रतिबिंब पड़ता है, जिससे आनंद भान होता है । क्योंकि यह आनंद प्रतिबिंबरूप तथा शांत मन के कारण से प्रकट होता है, इसलिए

परिच्छिन्न और नाशवान् होता है, और लौकिक वा मानसिक आनंद कहलाता है। और जब अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में अत्यंत युक्त वा लवलीन होने से चित्तवृत्ति ऐसी निरोधावस्था को प्राप्त होती है कि अपना वृत्तिभाव छोड़ देती है (अथवा देहासक्ति से रहित होकर अपने अधिष्ठानस्वरूप आत्मा से तद्रूप अर्थात् अभिन्न होती है), तब आत्मसाक्षात्कार होता है, और बिंबरूप आत्मा अपने आनंद को आप भोगता वा अनुभव करता है। क्योंकि यह आनंद बिंबरूप होता है, और मन में नहीं किंतु अपने स्वरूप में ही भान होता है, इसलिए अपरिच्छिन्न और नाशरहित होता है, और ब्रह्मानंद वा निजानंद वा बिंबरूप आनंद अथवा आत्मिक वा पारमार्थिक आनंद कहलाता है। यद्यपि दोनों प्रकार के आनंद (सुख) अपने भीतर अपने आत्मा से ही प्रकट होते हैं, परंतु एक अपने स्वरूप से अलग प्रतिबिंबरूप से शांत अंतःकरण में प्रकट होता है, और दूसरा अपने शुद्धस्वरूप में ही बिंबरूप से अनुभव होता है। प्रतिबिंबरूप आनंद तो विषयभोगों में न फँसने से, अथवा विषयभोग से भी, अंतःकरण की क्षोभरहित दशा के प्राप्त होने पर प्रकट होता है (यद्यपि विषयभोग से चित्त ऐसा क्षोभरहित नहीं होता जैसा कि विषय के त्याग से अर्थात् विषय की तृष्णा से रहित होने से होता है, जिससे तृष्णा की निवृत्ति-जन्य सुख इन काम-जन्य सुखों वा स्वर्गादि के दिव्य भोग-जन्य सुखों से कई गुणा अधिक और उत्तम होता है), परंतु बिंबरूप आनंद (निजानंद) विना निजस्वरूप के ध्यान में लवलीन होने के अर्थात् विना आत्मसाक्षात्कार के कदापि अनुभव नहीं होता। और यह भी स्पष्ट है कि पहले दीर्घ काल तक विषयभोगों में न फँसने से जब अंतःकरण शुद्ध, शांत और निर्मल हो जाता है

और इस कारण वह निरासक्त पुरुष दीर्घ काल तक उपशमरूप अंतरीय सुख को पाता है, तब इस (तृष्णा की निवृत्तिजन्य अर्थात् उपशमरूप वा प्रतिबिंबरूप) सुख से उसमें परमानंद के भोगने की लटक उत्पन्न होती है, और फिर उस (निरासक्त पुरुष) की शुद्ध और शांतवृत्ति शीघ्र अपने परम स्वरूप के ध्यान से युक्त होती तद्रूप अर्थात् उसमें लवलीन हो जाती है। इसलिए हे अर्जुन! जो (उपशमरूप) सुख (तृष्णा के निवृत्त होने पर) अपने में अर्थात् अंतःकरण में प्रकट हो आता है, उसे केवल बाहर के विषयों में न फँसनेवाला पुरुष लाभ करता है; और जो अक्षय अर्थात् नाशरहित सुख ब्रह्मध्यान में लवलीन होने से अनुभव होता है, उसे वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा पुरुष, अर्थात् "ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः"=ऐसा जो ब्रह्मध्यान से ब्रह्मस्वरूप हुआ पुरुष है वह, अपने निज स्वरूप में भोगताहै। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वैराग्य से तृष्णा की निवृत्ति द्वारा शांत अंतःकरण में जब उपशमरूप सुख का लाभ हो तो इतने पर अपने को कृतकृत्य समझकर वह बस न कर दे बल्कि जब तक शांत चित्त से ब्रह्मध्यान में लवलीन होकर ब्रह्मसाक्षात्कार न कर ले, तब तक ब्रह्माभ्यास न छोड़े ॥ २१ ॥ *

---

* इस श्लोक से दोनों ही तात्पर्य सिद्ध होते हैं। प्रथम यह—"जिस सुख को विषयों में न फँसनेवाला पुरुष अपने निर्मल और क्षोभरहित अंतःकरण में पाता है, वह यद्यपि अपने भीतर आत्मा से ही प्रकट होता है, परंतु प्रतिबिंबरूप होने से परिच्छिन्न और नाशवान् होता है; और जिस सुख को ब्रह्मवेत्ता अपने ब्रह्मध्यान में पूर्ण युक्त वा लीन होने से भोगता है, वह बिंबरूप वा पारमार्थिक होने से अपरिच्छिन्न और नाशरहित होता है"। और दूसरा यह कि—"जब पुरुष विषयों में न फँसने से अपने निर्मल और शांत अंतःकरण में सुखलाभ करने लग जाता है,

संबंध--(१) जब प्रतिबिंबरूप सुख विषयभोग वा विषयत्याग दोनों रीति से प्राप्त हो सकता है, तो फिर विषयभोग अर्थात् विषयों में फँसने से ही उसे क्यों न लाभ किया जाय ? विषयत्याग अर्थात् विषयों से निरासक्त होने से क्यों ? इसका कारण भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) जब विषयभोगों द्वारा सुख जो मिलता है, वह भी आत्मानंद से ही प्रकट होता है, और कहीं से नहीं; तो फिर इसी की ही प्राप्ति पर क्यों न संतोष किया जाय ? बिंबरूप सुख की अधिक आवश्यकता फिर क्या है ? इसका उत्तर भगवान् अब स्पष्ट रूप से कहते हैं—

तब चित्तवृत्ति अपने परमस्वरूप के ध्यान में भी ठीक युक्त होने लग जाती है, जिसके पूर्ण युक्त वा लवलीन होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है, और इसी से वह नाश न होनेवाले (बिंबरूप) सुख को भोगता है"। और यह स्पष्ट है कि जो वस्तु अपने संग तो न हो, पर किसी यत्न से किंचित् काल के लिए किसी दूसरे से प्राप्त हो गई हो, तो वह वस्तु लाभ की गई या यत्न से प्राप्त की गई कहलाती है। और जो वस्तु अपने साथ नित्य अपना अंगरूप तो हो, पर किसी कारण दिखाई न देती हो, केवल दूसरे के सुझाने पर वह प्रकट हुई भान हो रही हो, तो वह वस्तु अनुभव की गई अथवा भोगी गई कहलाती है, लाभ की गई नहीं। इसलिए पहले प्रतिबिंबरूप सुख के लिए "विन्दति" शब्द आया है, और दूसरे (बिंबरूप) सुख के लिए "अश्नुते" शब्द आया है।

इसी श्लोक की व्याख्या श्रीज्ञानदेव अपने अनोखे ढंग से ऐसे करते हैं—

"जिसे आत्मस्वरूप छोड़कर इंद्रियसमूह की ओर लौटना नहीं है, सो विषयों का उपभोग नहीं लेता, इसमें क्या आश्चर्य है ? उसका अंतःकरण सहज और अमर्याद आत्मसुख के आनंद से भरा हुआ रहता है, इसलिए वह बाहर की ओर पाँव नहीं डालता। कहो, चंद्रविकासी कमल की थाली में शुद्ध चंद्रकिरणों का जिसने भोजन किया है, सो चकोर क्या

अथवा (३) जब यह सिद्ध हुआ कि जब तक विषयसुख नहीं छूटता तब तक अक्षय सुख नहीं मिलता, और इससे पहले यह भी कहा जा चुका है कि विना इस अक्षय सुख (परमस्वरूप) के अनुभव के विषय-वासना वा तृष्णा निवृत्त नहीं होती; तो इस रीति से इन दोनों (नित्य सुख का अनुभव और विषय की निवृत्ति) की अन्योन्य आश्रयता सिद्ध होती है, अर्थात् परस्पर एक दूसरे पर इनकी अपनी-अपनी स्थिति दीखती है। ऐसी दशा में विषयसुख पहले कैसे छोड़ा जा सकता ? अथवा विचारवान् लोगों ने इस अक्षय सुख के अनुभव से पहले विषयसुख को कैसे त्यागा ? इस उपाय को भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् बाह्य विषयसुख के मंद परिणाम को दर्शाकर अंतर्सुख की उत्तमता को स्पष्ट करते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

ये, हि, संस्पर्श-जाः, भोगाः	क्योंकि विषय-संबंध से उत्पन्न होनेवाले जो भोग हैं	आदि-अन्त-वन्तः, कौन्तेय	हे अर्जुन ! आदि-अंतवाले हैं
दुःख-योनयः, एव, ते	वे दुःखोंकी योनियाँ (खानें) ही हैं	न, तेषु, रमते, बुधः	बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता

रेत के कण खावेगा ? वैसे ही जिसे आत्मसुख उत्पन्न हुआ है, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे विषय सहज ही छूट जाते हैं, इसमें क्या कहना है ? यों भी तनिक ठीक विचार कर देखो, तो इन विषयों के सुख में कौन फँसता है ?"

अन्वयार्थ—विषय-संबंध से उत्पन्न होनेवाले जो भोग (सुख) हैं, वे क्योंकि दुःखों की योनियाँ (खानें) हैं और आदि-अंतवाले हैं, (इसलिए) हे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता है ॥२२॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! शब्दादि विषयों के साथ जो श्रोत्रादि इंद्रियों का संबंध है उसका नाम संस्पर्श है, इस संस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले जो भी भोग (विषय-सुख) हैं, वे सब इस लोक वा परलोक में रागद्वेष से व्याप्त होने के कारण दुःखों की ही खानें वा हेतु हैं। अर्थात् जैसे विषवृक्ष की लता देखने में तो बड़ी सुंदर कोमल और सुकुमार प्रतीत होती है, पर सूँघते ही प्राण हर लेती है; वैसे ये विषयभोग यद्यपि बड़े सुंदर, प्रिय और सुखरूप प्रतीत होते हैं, परंतु वास्तव में (भीतर से) ये दुःखरूप ही सिद्ध होते हैं। और देखने में भी आता है कि विषयी पुरुष की आध्यात्मिकादि तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्ति होने नहीं पाती। कभी दैवयोग से किसी एक दुःख की किंचित् काल के लिए निवृत्ति हो भी जाय तो उस समय भी अन्य कोई न कोई दुःख बना ही रहता है, ऐसा ही हाल स्वर्गादि भोगों का भी है, अतएव ये विषय-सुख दुःखों की योनियाँ ही हैं। इसी भाव को विष्णुपुराण का यह श्लोक भी प्रकट करता है—"यावन्तः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥"=यह जीव (मनुष्य) जितने मन के प्रिय संबंधों को करता है, उतने ही शोकरूपी शंकु (तीर इत्यादि) उसके हृदय में छिद्र करते हैं। फिर ये विषय-सुख केवल दुःख के ही हेतु नहीं हैं किंतु आदि-अंतवाले, अर्थात् नाशवान् वा अनित्य भी हैं, क्योंकि विषय और इंद्रियों का परस्पर संयोग ही विषय-सुख का आदि है, और इस संयोग का वियोग ही विषय-भोग का अंत है। और

जो पहले न हो और अंत में भी न हो, केवल मध्यक्षण में ही प्रतीत होता हो, वह मिथ्या होता है, इसलिए ये विषय-सुख जो विषय इंद्रियों के संयोग से पूर्व नहीं थे, और उनके वियोग के पश्चात् भी नहीं होते, केवल मध्य-मध्य में ही भान होते हैं, वे सबके सब वास्तव में मिथ्या होते हैं। इसी भाव को श्रीगौडपादाचार्य ने ऐसे दर्शाया है —"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा"=जो पदार्थ आदि काल में और अंत काल में न हो, वह वर्त्तमान काल में भी वास्तव में नहीं होता है। और इसी भाव को पूर्व अध्याय २ के श्लोक २८ में भी "अव्यक्तादीनि भूतानि इत्यादि" से स्पष्ट दर्शाया गया है। और इसी संबंध में पूर्व अध्याय २ श्लोक १४ में अर्जुन को ऐसे उपदेश दिया जा चुका है कि—"ये मात्राओं के स्पर्श (इंद्रियभोग) शीतोष्ण और सुख-दुःख के देनेवाले, अनित्य और आने-जानेवाले हैं। हे अर्जुन! तू इनको सहन कर, इनके वश में मत आ"। इन विषय-भोगों को इस प्रकार आदि-अंतवाले और दुःखों के हेतु जानते हुए बुद्धिमान् पुरुष इन विषय-भोगों में प्रीति नहीं रखते, और न विषयों द्वारा सुख पाने का यत्न ही करते हैं, बल्कि इनमें दोषदृष्टि रखकर इन्हें त्यागते रहते हैं, और विषय-प्रीति वा तृष्णा से रहित हुए निजानंद के भोगने की ओर तीव्र जिज्ञासा से प्रवृत्त रहते हैं, जिस प्रवृत्ति से परमानंद के साक्षात्कार होते ही उनकी विषय-वासना नित्य के लिए नितांत निवृत्त हो जाती है ॥ २२ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! श्रोत्रादि इंद्रियों का अपने शब्दादि विषयों से जो संयोगरूप संस्पर्श है, उस संस्पर्श से जो किंचित् काल के लिए चित्त एकाग्र और शांत होता है और उसमें फिर प्रतिबिंबरूप सुख भान होता है, उस विषय-सुख का अंतिम परिणाम दुःख और क्षणभंगुरता ही है। जैसे स्त्रीगमन से या मादक द्रव्यों

के पान से अथवा पुत्र की प्राप्ति पर जब चित्त क्षण भर के लिए एकाग्र और क्षोभरहित हो जाता है, तो उस समय अंतःकरण में यद्यपि आनंदस्वरूप आत्मा का प्रतिबिंब अवश्य झलक मारता है जिससे आनंद भान होता है; परंतु भोग के समाप्त होने पर, या मद (नशे) के उतरने पर, अथवा पुत्र के मरने वा दुराचारी निकलने पर मन तो दुर्बल, शोकातुर, दुःखी और अशांत हो जाता है, और शरीर अशक्त और शिथिल पड़ जाता है। बहुत समयों पर तो पुरुष पहले से भी अधिक अधोगति को प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य हानि यह होती है कि मन इन विषयों का अनुचर (दास) हो जाता है जिससे इन विषयों के पुनः न मिलने पर वह अत्यंत क्षुभित, दुःखी और शोकातुर रहता है, जिस कारण जीवन व्यर्थ व भारी हो जाता है । इस प्रकार विषय-भोगों से सुख पाने में प्रथम भी दुःख होता है, और अंत में भी । परंतु जब विषयभोगों द्वारा नहीं किंतु विषयों की तृष्णा की निवृत्ति से मन शांत और निर्मल होता है, तो उस समय भी यद्यपि अंतःकरण में अपने आनंदस्वरूप आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है जिससे सुख भान होता है, तथापि इस (विषय-तृष्णा की निवृत्ति द्वारा) सुख से हानि और दुःख नहीं होते। हानि और दुःख तो कहाँ, उलटा यह लाभ होता है कि प्रथम तो मन विषयों में फँसने नहीं पाता बल्कि निरासक्त हुआ शांत और निर्मल रहता है, दूसरे अंतःकरण की शांति और निर्मलता के कारण चित्तवृत्ति अपने परमस्वरूप के ध्यान में ऐसी एकाग्र वा आरूढ़ होने लग जाती है कि शीघ्र निरोधावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्माकार वा ब्रह्मसमुद्र में लीन हो जाती है, जिस पर मनुष्य फिर परमानंद भोगता है । इसलिए अपने अनुभव से अनुभवी पुरुषों ने यह सिद्धांत निकाला हुआ है कि इंद्रियों के स्पर्श अर्थात्

इंद्रियों और विषयों के संयोग से जो सुख मिलते हैं, वे यद्यपि आनंदस्वरूप निजात्मा के आनंद की ही झलक हैं परंतु निःसंदेह दुःखों की खानियाँ हैं, अर्थात् दुःखों के हेतु या दुःखरूप योनियों में डालनेवाले और नित्य हानिकारक हैं और सदा आदि-अंत (उत्पत्ति वा नाश) वाले हैं। इसी कारण हे कुंतीपुत्र (अर्जुन)! बुद्धिमान् पुरुष इन विषय-भोगों में रमण नहीं करते। अर्थात् वे न इनमें प्रीति रखते हैं, और न इनके पाने का यत्न ही करते हैं; बल्कि इनमें दोषदृष्टि रखते हुए इनकी तृष्णा को छोड़ते हैं। और यत्न से तृष्णारहित होकर प्रथम वे चित्त को क्षोभरहित और शांत करते हैं, फिर उस शांति से उपशमरूप सुख को पाकर उसी प्रतिबिंबरूप सुख से बिंबरूप सुख के पाने की जिज्ञासा वा लटक उत्पन्न कर लेते हैं, जिस लटक से प्रेरित होकर उनकी निरासक्त, निर्मल और शांत चित्तवृत्ति परमस्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त होने लग जाती है, और उसी से आत्मसाक्षात्कार करते हुए वे मनुष्य फिर परमानंद को भोगने लग जाते हैं. जिस परमस्वरूप के अनुभव पर कामनाओं वा विषय-तृष्णाओं का मलियामेट हो जाता है, और इस परमानंद के आगे फिर सब विषय-सुख वा विषय-रस फीके पड़ जाते हैं ॥ २२ ॥*

---

* इस पर श्रीज्ञानदेव की व्याख्या विचित्र रूप से सविस्तर ऐसे है— "जिन्होंने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किया है, वे ही इन इंद्रियों के विषयों से सुखी होते हैं। जैसे भूखे दरिद्री लोग चूनी का भी सेवन करते हैं, अथवा प्यास की पीड़ा से पीड़ित हुए मृग भ्रम से जल के स्वरूप को जल समझकर पथरीली ज़मीन पर आ पहुँचते हैं, वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप नहीं देखा, जिसे सर्वदा आत्मसुख का दारिद्र्य बना है, उसको ये विषय ही सुंदर जान पड़ते हैं। नहीं तो विषयों में सुख है,

संबंध—(१) क्योंकि आत्मसुख ही परमपुरुषार्थ है, और काम-क्रोध का वेग ही उसका शत्रु है, इसलिए जो उस वेग के सहारने में समर्थ है, वही सुखी और ब्रह्मयोग में युक्त हो सकता है, इस सिद्धांत को भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) जब शरीर छोड़ने के अनंतर विषय-भोग अपने आप छूट जायँगे, तब यहाँ जीते जी ही उनके छोड़ने का यत्न करने से क्या

यह कथन योग्य नहीं है। ऐसा हो तो संसार में विद्युत् के प्रकाश से ही क्यों न देखा जाय ? यदि हवा, वर्षा और गरमी का निवारण करने के लिए अभ्र की छाया से ही निर्वाह हो सके, तो तिमंजिले मकान क्यों बाँधे जायँ ? अतएव विषयों में सुख समझना वृथा अज्ञान से जल्पना करना है। जैसे बचनाग को मधुर कहना, अथवा मंगल ग्रह को मंगल समझना, किंवा मृगजल को जल कहना, वैसे ही यह विषय संबंधी सुख का कथन वृथा है। और जाने दो, यह कहो कि सर्प के फण की छाया चूहे को कहाँ तक शीतल मालूम होगी ? हे पांडव ! मीन जैसे काँटे से लगे हुए मांस को जब तक मुँह नहीं लगाती, तभी तक भला है; वैसा ही सब विषयों का संग है, यह निश्चय जानो। हे किरीटी ! इसे जो विरक्तों की दृष्टि से निहार कर देखो, तो यह पांडुरोग के समान दिखाई देता है। अतएव विषयभोग में जो सुख है सो संपूर्ण दुःख ही जानो। परंतु अज्ञानी क्या करें। बिना भोगे उनका निर्वाह नहीं होता। वे बेचारे भीतरी मर्म नहीं जानते, इसलिए उन्हें विषय भोगना ही पड़ते हैं। कहो, क्या पीपरूपी कीचड़ के कीड़ों को कभी उसकी हीक आती है ? उन दुःखियों को दुःख ही आत्मसुख है। वे विषयरूपी कीचड़ के दादुर, भोगरूपी जल के जलचर, उस कीचड़ अथवा जल को कैसे छोड़ सकते हैं ? और यदि जीव विषयों के विषय विरक्तता धारण करें, तो जो दुःख-योनियाँ हैं सो निरर्थक न हो जायँगी ? अथवा गर्भवास इत्यादि संकट तथा जन्म-मरण के आयास यह बिना विश्रांति की बाट कौन चलेगा ? यदि

लाभ ? इस (विषय-तृष्णा की निवृत्ति के) फल को भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) सर्व अनर्थों की प्राप्ति का हेतु रूप, श्रेयमार्ग का विरोधी और अल्पयत्न से दुर्निवार, ऐसा जो काम-क्रोध का वेग वा विषय-सुख की लटक है, वह महान् यत्न से निवृत्त किये जाने योग्य है। इस प्रकार प्रयत्न की अधिकता दर्शाने के लिए भगवान् ऐसे कहते हैं—

अथवा (४) इस निरासक्त और वशी पुरुष के विषय में भगवान् अब अपना निश्चय कथन करते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शक्नोति[५], इह[२], एव[३], यः[१], सोढुं[४]	जो[१] यहाँ[२] ही[३] (इसी जन्म में) सहारने[४] के समर्थ[५,६] होता है
प्राक्[३], शरीर[१]-विमोक्षणात्[२]	शरीर[१] के छूटने[२] से पहले[३]
काम[१]-क्रोध[२]-उद्भवं[३], वेगं[४]	काम[१]-क्रोध[२] से उत्पन्न[३] होनेवाले वेग[४] को
सः[१], युक्तः[२], सः[३], सुखी[४], नरः[५]	वह[१] युक्त[२] है और वह[३] सुखी[४] मनुष्य[५] है

अन्वयार्थ—जो मनुष्य शरीर छूटने से पहले ही काम-क्रोध से

विषयासक्त पुरुष विषयों को छोड़ देंगे तो महापाप कहाँ रहेंगे और जगत् में संसार का नाम झूठा न हो जायगा ? अतएव जो मिथ्या अविद्यासमूह है सो उन्होंने सच कर दिखाया है, जिन्होंने विषयरूपी दुःख को सुख जानकर स्वीकार किया है। इसलिए हे उत्तम योद्धा ! विचार कर देखने से विषय निकृष्ट दिखाई देता है। तुम कभी इस मार्ग से भूल कर भी मत जाना। विरक्त जन इसको विष के समान जानकर त्याग देते हैं। उन आशा-रहित लोगों को विषयों में दिखाई देनेवाले दुःखों की चाह नहीं रहती।”

उत्पन्न होनेवाले वेग को सहारने के समर्थ होता है, वही युक्त और वही सुखी नर है ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मनुष्य-शरीर छूटने से पहले (वा मरने तक) इस काम * और क्रोध के वेग † को यहाँ जीते जी (इसी जन्म में) सहारने के समर्थ होता है; वही युक्त (सावधान चित्त, कर्मयोगी वा ब्रह्मयोगयुक्त) है, और वही सुखी नर होता है, अन्य नहीं । अर्थात् काम-क्रोध दोनों की जो उत्कट अवस्था है, वह अवस्था प्राणी को अच्छे-बुरे के विवेक से विमुख करती हुई लोक

---

* इंद्रियों के साथ जिस विषय के संयोग से सुख हुआ है, उस विषय को उसी सुख के कारण फिर पाने की अभिलाषा का नाम काम है । और इसी प्रकार जिन विषयों के संयोग से दुःख हुआ है, उनके नाश करने की इच्छा का नाम क्रोध है । पहले को राग और दूसरे को द्वेष भी कहते हैं । और चूँकि ये दोनों इच्छा ही हैं, इसलिए दोनों का नाम काम भी कहते हैं, और श्री भगवान् ने भी काम-क्रोध की रजोगुण से उत्पत्ति दर्शाकर इन दोनों को कामरूप कहा है ।

यद्यपि स्त्री-पुरुष दोनों की जो विषय-संबंधी अभिलाषा है, उसको बहुधा काम कहा जाता है, और इस अभिप्राय को ही लेकर इस वचन में कि "कामक्रोधस्तथा लोभः" स्त्री के संसर्ग की तृष्णा का नाम काम, धन की तृष्णा का नाम लोभ, इस प्रकार काम-लोभ भिन्न-भिन्न कहे गये हैं; तथापि यहाँ तो काम और लोभ दोनों में जो सामान्य तृष्णा है उसका आशय लेकर केवल काम शब्द कहा गया है । इसलिए अपने अनुकूल विषय में इच्छा का नाम काम और प्रतिकूल विषय में द्वेष का नाम क्रोध है ।

† काम का वेग अंतःकरण की उत्तेजना है । जिस समय यह वेग आता है, तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं, और नेत्र-मुखादि खिल जाते हैं । क्रोध का वेग मन की उत्तेजना है ; इस वेग के आने से अंग काँपते हैं,

वा वेद के विरुद्ध अथवा अनुचित अर्थों में प्रवृत्ति करा देती है, इसलिए वह अवस्था नदी के वेग के समान कही गई है । जैसे वर्षाकाल में नदी का वेग अत्यंत बढ़ जाने से (जो भी प्राणी उस वेग में पड़ जाता है उस) प्राणी को चक्कर में डालकर कभी ऊपर कभी नीचे घुमाता है, वैसे काम-क्रोध का वेग भी विषयों के चिंतनरूपी वर्षाकाल से अत्यंत प्रबल होकर अनुचित और निरिच्छित (न चाहते हुए) विषयों में फँसाता, आवागमन के चक्कर में घुमाता और संसार-समुद्र में गोते लगवाता है। इसी आशय को पहले इस प्रश्न –"अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः" के उत्तर में स्पष्ट वर्णन कर दिया गया है। और यह वेग अवश्य ऐसे नहीं कि एक बार जीता जाने से फिर न उठे, अथवा फिर मनुष्य को अपने वश में करने न पावे, किंतु संभव है कि पदार्थों के सम्मुख आने से यह प्रबल होकर पुनः उठे और वश में कर ले। इसलिए मरने से पहले-पहले इसका जीता जाना उचित है। इस ऐसे प्रबल काम-क्रोध के वेग को जो मनुष्य जीते जी (या मरते दम तक) सहारने की समर्थता रखता है, अर्थात् जो मरण पर्यंत उस वेग को अपने वश में रख सकता है, उसी को कर्मयोग में या ब्रह्मध्यान में युक्त होने की समर्थता है, जिससे वही ठीक योगी है, और वही ठीक सुखी है, और वही पुरुष है, अन्य नहीं ॥ २३ ॥ *

पसीना आता है, ओष्ठों (होंठों) को दाँतों में चबाता है, नेत्र लाल हो जाते हैं, इत्यादि चिह्न होते हैं।

* श्रीज्ञानदेव ने इस श्लोक की व्याख्या विचित्र रूप से ऐसे की है—

"ज्ञानियों में तो निश्चय से विषयों की बात भी नहीं रहती। उन्होंने देह रहते हुए देह के विकार अपने अधीन कर लिये होते हैं । वे बाह्य

संबंध—(१) इस प्रकार काम-क्रोध के वेग को सहनेवाला पुरुष जब अपने भीतर सुख पाने लग जाता है, फिर इससे आगे जो उसकी गति होती है, उसे भगवान् अब तीन श्लोकों में कथन करते हैं ।

अथवा (२) केवल काम-क्रोध के वेग को सहने मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती बल्कि इससे अतिरिक्त अन्य कर्त्तव्य भी होते हैं, इसको भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) इस काम और क्रोध के वेग को वश में रखनेवाले अर्थात् निरासक्त या वशवर्ती पुरुष के विषय में अपना निश्चय वर्णन करके अब भगवान् उन ब्रह्मवित् महात्माओं की दशा और अंतिम गति को आगे तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं कि जो महात्मा न केवल निरासक्त ही हैं, किंतु इनसे भी आगे टपे हुए अर्थात् निजानंद में तृप्त और मग्न हैं—

अथवा (४) कौन सा पुरुष ब्रह्म में स्थित हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

विषयों का निःशेष नाम भी नहीं जानते । उनके हृदय में एक सुख भरा रहता है । परंतु उस सुख का भोग निराली स्थिति में रहकर लिया जाता है । जैसे पक्षी फल को चूमते हैं, वैसा यह भोग नहीं है । उसमें भोक्तृ भाव का भी विस्मरण हो जाता है । उस भोग के समय एक ऐसी वृत्ति उठती है जो अहंकार का अंचल दूर कर सुख को दृढ़ आलिंगन देती है । उस आलिंगन से आप ही आप एकरूपता हो जाती है । तब जल में मिला हुआ जल जैसे अलग नहीं दिखाई देता, अथवा आकाश में वायु मिल जाता है, तो आकाश और वायु इस भेद का नाश हो जाता है, वैसे ही उस सुख के समय सुख ही निज स्वरूप से रहता है । इस प्रकार द्वैत का नाम मिट जाता है । उस समय 'ऐक्य हो जाता है' ऐसा यदि कहा जाय, तो उस ऐक्य का जाननेहारा साक्षी भी कौन रह जाता है ? इसलिए यह सब रहने दो, जो अकथनीय है, उसका वर्णन कैसे किया जाय । आत्मा स्वभावतः उस संकेत को पहचान लेगा ।”

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यः^{१}, अन्तः^{२}, सुखः^{३}, अन्तर्^{४} आरामः^{५}	जो^{१} (अपने) भीतर^{२} सुखवाला^{३}, भीतर^{४} रमण^{५} करनेवाला	सः^{१}, योगी^{२}, ब्रह्म^{५}-निर्वाणं^{६}, ब्रह्म^{३}-भूतः^{४}, अधिगच्छति^{७}	वह^{१} योगी^{२} ब्रह्म^{३}-स्वरूप हुआ^{४} ब्रह्म^{५} निर्वाण^{६} को प्राप्त^{७} होता है
तथा^{१}, अन्तर्^{३}-ज्योतिः^{५}, एव^{४}, यः^{२}	और^{१} जो^{२} भीतर^{३} ही^{४} ज्योति-वाला^{५}		

अन्वयार्थ—जो अपने भीतर सुखवाला, (अपने ही) भीतर रमण करनेवाला और भीतर ही ज्योतिवाला है, वह योगी ब्रह्मस्वरूप हुआ ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता * है ॥ २४ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार काम-क्रोध के वेग को वश में कर लेने से जिसका अपने भीतर ही सुख है, अर्थात् बाह्य विषय-भोगों में जिसको सुख नहीं बल्कि विषय-सुख की तृष्णा से रहित होकर जो अपने भीतर ही शुद्ध वा निर्मल अंतःकरण में सुख पाता है; जो अपने भीतर ही रमण करता है, अर्थात् जो विषय-तृष्णा से भटककर बाह्य विषयों में नहीं रमण करता और न उनमें विचरता ही है, बल्कि जो अपने भीतर सुख पाता हुआ अंतःकरण में ही रमण करता वा विश्राम पाता है; और जिसको भीतर ही प्रकाश है, अर्थात् जिसको अपने भीतर अपने

---

* "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"=ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म में लीन होता है (बृह० ४, ४, ६) । ब्रह्मानंद में मग्न होना ही ब्रह्म में लीन होना है (देखो २, ७२ का फ़ुटनोट) ।

शुद्ध और निर्मल अंतःकरण में ही आत्मज्योति भान होती है, न कि बाहर के विषय-भोगों में; ऐसा अपने आपमें निरासक्त, सुखी, शांत (वा विश्राम को पानेवाला) और प्रकाशवान् पुरुष इससे आगे उन्नति करता हुआ अर्थात् ब्रह्मध्यान में निरंतर युक्त होता हुआ ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, अर्थात् अपने आपको ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार करता है, जिस पर वह फिर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है, अर्थात् ब्रह्म में जो कल्पित वस्तु तथा दुःखों की निवृत्ति है, उस द्वैत प्रपंच अर्थात् अनर्थ की निवृत्ति द्वारा परमानंदरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! केवल काम-क्रोध के वेग को सहनेवाला पुरुष तो केवल योगी और सुखी ही होता है, इससे अधिक नहीं। परंतु ऐसा आत्मवेत्ता पुरुष कि जिसको अपने भीतर ही सुख है, अर्थात् जो केवल अपने आत्मा में ही सुख लेताहै, न कि बाह्य विषयों में; जिसको अपने भीतर ही विश्राम है, अर्थात् जो केवल अपने आत्मा में ही विश्राम लेता, खेलता वा रमण करता है, न कि बाह्य विषयों में; और जिसको अपने भीतर ही प्रकाश है, अर्थात् जो केवल अपने आत्मा में ही प्रकाश देखता है, अथवा जिसकी दृष्टि अपने आत्मा में ही है, बाह्य विषयों में नहीं, या जिसे अपने प्रकाशस्वरूप आत्मा का ही अनुभव हो रहा है, वह वास्तव में ब्रह्मस्वरूप हुआ होता है; इसलिए शरीर छोड़ते ही वह ब्रह्म में लीन हो जानेवाले पद (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

संबंध—(१) ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त करनेवाले पुरुषों के अन्य साधन अथवा लक्षण भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) उक्त निर्वाण पाये महात्माओं में और क्या-क्या भाव होते हैं, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के अतिरिक्त अन्य जो पुरुष उक्त ब्रह्मनिर्वाण को पाते वा पा सकते हैं, उन्हें भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) निर्वाणब्रह्म की प्राप्तिवाले जो-जो हैं, उन्हें भगवान् अब दर्शाते हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

लभन्ते^{5}, ब्रह्म-निर्वाणं^{4}, ऋषयः^{3}, क्षीणं^{1}-कल्मषाः^{2}	क्षीणं^{1} (दूर) हुए पापोंवाले^{2} ऋषि^{3} ब्रह्मनिर्वाण^{4} को प्राप्त^{5} होते हैं	छिन्न^{1}-द्वैधाः^{2}, यत^{4}-आत्मानः^{3}	कटे^{1} हुए संशय^{2}-वाले, अपने^{3} आपको वश^{4} में किये हुए
		सर्व^{1}-भूत^{2}-हिते^{3}, रताः^{4}	सब^{1} भूतों^{2} के हित^{3} में रते^{4} हुए

अन्वयार्थ—क्षीण हुए पापोंवाले, कटे हुए संशयोंवाले, अपने आपको वश में किये हुए और सब प्राणियों के हित में लगे हुए ऋषि लोग ब्रह्मनिर्वाण को पाते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! निष्काम कर्मों द्वारा जो सब पापरूप कल्मषों से रहित हो गये हैं; आत्मज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन की परिपक्वता से जो सब संशयों से रहित हो चुके हैं, अथवा आत्मसाक्षात्कार से जिनके समस्त संशय कट चुके हैं; अपने आपको जिन्होंने वश में किया हुआ है, अर्थात् इंद्रियाँ मन इत्यादि जिनके अधीन हैं; और जो सब प्राणियों के हित में निरंतर लगे रहते हैं, अर्थात् जो नित्य सबका भला चाहते रहते हैं;

ऐसे तत्त्वद्रष्टा * ऋषिलोग ब्रह्म में निवृत्तिरूप परमानंद को (अथवा ब्रह्म में लीन होने के पद अर्थात् निर्वाण वा मोक्ष को) पाते हैं ॥ २५ ॥

---

* ऋषि त्रिकालदर्शी वा अनुभवी पुरुष को कहते हैं। देवता, असुर और साधारण मनुष्यों में ये नहीं गिने जाते। इनको मंत्रद्रष्टा कहते हैं जैसे "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो वसिष्ठादयः" यास्कमुनि के अनुसार ऋषि उसे कहते हैं कि जिसकी वाणी वेद हो, वा जिसके हृदय में वेद प्रकाशित हों, "यस्य वाक्यं स ऋषिः"। इसलिए प्रत्येक सूक्त में देवता, छंद और विनियोग के साथ ऋषि का भी वर्णन हुआ है। योगी और ऋषि में इतना भेद है कि ऋषि जन्म से ही शुद्ध अंतःकरण और विचारशील होता है, केवल अंतर्ध्यान से ही उसे सब अनुभव हो जाता है, अंतःकरण की शुद्धि तथा अनुभव के लिए उसे कर्मयोग की आवश्यकता नहीं; वह तो अपने भीतर ध्यानमात्र से सब कुछ देख सकता वा अनुभव कर सकता है, जिससे वह मंत्रद्रष्टा वा अनुभवी कहलाता है। परंतु योगी पुरुष जन्म से ही शुद्ध अंतःकरण नहीं होता; वह तो कर्मयोग द्वारा शुद्ध अंतःकरण करता हुआ अभ्यास और वैराग्य से आत्मानुभव करता है जिससे ऋषि की पदवी पर पहुँचता है, इससे पूर्व वह ऋषि कहलाने के योग्य नहीं होता। क्योंकि योगी जन्मने के पीछे यत्न द्वारा ऋषि-पदवी को प्राप्त होता है, इसलिए वह बहुधा योगी ही कहलाता है, ऋषि नहीं। और ऋषि जन्म से ही ऋषि-अवस्था को पाया हुआ होता है, इसलिए उसे केवल ऋषि ही कहा जाता है। इसीलिए भगवान् ने भी इससे पहले इस अध्याय में (कर्मयोगी के प्रसंग तक तो) योगी वा युक्त शब्द ही वर्ता है, और अब ध्यानावस्थित अनुभवी (वा त्रिकालदर्शी) पुरुषों के विषय में ऋषि वा यति शब्द वर्ता है, क्योंकि कर्मयोग-मार्ग के विना केवल ध्यान से ही शुद्ध, निर्मल, आत्मानुभवी और सर्व-भूत-हित में लगे हुए वे पुरुष ही हो सकते हैं कि जो ऋषि-अवस्था को प्राप्त हुए होते हैं।

और—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥ *

काम^{1}-क्रोध^{2}-वियुक्तानां^{3}	काम^{1}-क्रोध^{2} से रहित^{3} (पुरुषों) का	अभितः^{3}, ब्रह्म^{4}-निर्वाणं^{5}, वर्त्तते^{6}, विदित^{2}-आत्मनाम्^{1}	आत्मा^{1} को जानने^{2} वालों के निकट^{3} (वा दोनों ओरसे) ब्रह्म^{4}-निर्वाण^{5} वर्तता है^{6}
यतीनां^{3}, यत^{1}-चेतसां^{2}	वश^{1} में किये हुए चित्त^{2}-वाले यति^{3} जनों का		

अन्वयार्थ—काम-क्रोध से रहित, वश में किये हुए चित्तवाले और आत्मा को जाननेवाले यतियों के निकट (सब ओर से) ब्रह्म निर्वाण वर्तता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व जो श्लोक २३ में काम-क्रोध के वेग को सहारने की शक्ति रखनेवाले पुरुषों के विषय में वर्णन हुआ है, ऐसे जो काम-क्रोध के वेग की अधीनता से रहित पुरुष हैं, अर्थात् जिन्होंने अपने काम-क्रोध के वेग को जीत रक्खा है, और इसीलिए जिनका चित्त अपने वश में है, अथवा जिनका अंतःकरण निरोधावस्था को प्राप्त हो गया है ; और फिर अपने आत्मस्वरूप का जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है ; ऐसे यत्नशील अनुभवी पुरुषों के निकट तो जीते जी और शरीर छोड़ने के पीछे भी, अर्थात् दोनों ओर से नित्य ब्रह्मनिर्वाण (मोक्षपद) ही वर्तता है। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने काम-क्रोध से निःसंग होकर, अपने आपको सर्वप्रकार से जीत कर, चित्त

---

* एक गीता में यह पद "विदितात्मनाम्" नहीं, किंतु "विजितात्मनाम्" है ।

को निरोध (वा अपने वश) करके अपने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ब्रह्मनिष्ठ यतियों की यह दशा होती है कि उनके जीते जी तो "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः" जहाँ-जहाँ उनका मन जाता है वहाँ-वहाँ उनकी समाधि लगती है, और मरने के पीछे वे ब्रह्म में लीन हुए ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। इस प्रकार सर्व ओर से उनके हाँ नित्य मोक्षपद ही वर्तता रहता है । और यदि श्लोक का अंतिम पद "विजितात्मनाम्" हो, तो तात्पर्य ऐसे होगा कि--"जिन्होंने काम-क्रोध से निःसंबंध होकर चित्त को पूर्ण अपने वश में कर लिया है, और जो मोक्ष-मार्ग में यत्नपूर्वक लगे रहते हैं, ऐसे पूर्ण वशवर्ती और यत्नशील पुरुषों के निकट ब्रह्मनिर्वाण ही वर्तता होता है, अर्थात् वे यत्नशील पुरुष मोक्ष (विदेह मुक्ति वा निजानंद) पद के समीप ही पहुँचे हुए होते हैं" ॥ २६ ॥*

संबंध—(१) यहाँ तक कर्मयोग का मुख्य स्वरूप (अकर्त्तापन, ईश्वरपरायणता, निरासक्ति तथा समदर्शिता), और उस द्वारा आत्मज्ञान वा परमानंद की प्राप्ति कहकर फिर ब्रह्मवेत्ता कर्मयोगियों की दशा और अंतिम गति विस्तारपूर्वक दर्शायी गई । अब भगवान् इस आत्म-साक्षात्कार का केवल अंतरंग साधन "ध्यानयोग" जो योगारूढ़ (सांख्य-योगी) पुरुषों के बर्ताव में आता है, उसकी विधि तीन श्लोकों में सहित उसके फल के संक्षेप से वर्णन करते हैं—

---

* श्रीज्ञानदेव इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"जिन्होंने अपना मन विषयों से जुदा कर जीत लिया है सो जहाँ सोये हुए जाग्रत् नहीं होते, वह मोक्ष का स्थान आत्मज्ञानियों का कारण जो परब्रह्म है, सोई हे पांडुकुमर ! उपर्युक्त पुरुष हैं, जानो । यदि तुम पूँछो कि वे ऐसे कैसे बन जाते हैं कि देह रहते ही ब्रह्मत्व को पहुँच जाते हैं, तो मैं उनका संक्षेप से वर्णन करता हूँ ।"

अथवा (२) अब भगवान् सम्यक् ज्ञान के अंतरंग साधन को विस्तारपूर्वक कहने के विचार से उसे सूत्र रूप से तीन श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) पुनरपि इसी उत्तम अनुपम स्थिति का भगवान् अब अन्य रीति से वर्णन करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥ *

---

* महाभारत (१२. १९५. ८ और १४. १९. १७) में इसी विषय के श्लोक इस प्रकार हैं—

"ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ।
समाध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥"
"इन्द्रियाणि तु संगृह्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥ १७ ॥"

अर्थ—ज्ञानी को चाहिए कि पाँचों इंद्रियों को मन से रोके । और तब अपने भ्रांत (चंचल) मन को पंच इंद्रियों समेत समाधि में लगावे ॥ ८ ॥

इंद्रियों को विषयों से रोककर (खींचकर) मनुष्य को अपना मन आत्मा में लगाना चाहिए और फिर कठिन तप तपते हुए उसे मोक्ष-योग में लगना चाहिए । अर्थात् मोक्षप्राप्ति-निमित्त योग करना चाहिए ।

और भागवत (२. १. २३) में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"जितासनो जितश्वासो जितसंगो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया ॥ २३ ॥"

स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्	बाह्य स्पर्शों (विषयों) को बाहर करके	यत-इंद्रिय-मनः-बुद्धिः	इंद्रिय, मन, बुद्धि को वश में किये हुए
चक्षुः, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः	और नेत्र को भ्रुवों के बीच ही में करके	मुनिः, मोक्ष-परायणः	मोक्ष-परायण मुनि
प्राण-अपानौ, समौ, कृत्वा, नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ	नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान दोनों को सम करके	विगत-इच्छा-भय-क्रोधः, यः	जो इच्छा, भय, क्रोध से रहित है
		सदा, मुक्तः, एव, सः	वह सदा मुक्त ही है

अन्वयार्थ—बाह्य स्पर्शों (विषयों) को बाहर करके, नेत्र को भ्रुवों के बीच में ही स्थित करके, नासिका के भीतर विचरनेवाले दोनों प्राण और अपान को सम करके, और इंद्रिय मन-बुद्धि को वश में किये हुए जो मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर मोक्षपरायण है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २७, २८ ॥ *

अर्थ—मनुष्य को चाहिए कि आसन, श्वास, संग और इंद्रियों को जीतते हुए अर्थात् आसन, प्राणायाम करते हुए, संग और इंद्रिय-वश करते हुए मन को भगवान् के स्थूल रूप अर्थात् स्थिर ध्यान में लगावे।

* इन श्लोकों पर श्रीतिलक महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—

"हमारी राय में टीकाकारों का यह कथन ठीक नहीं कि यह वर्णन संन्यासमार्ग के पुरुष का है। संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्गों में शांति तो एक ही सी रहती है, और उतने ही के लिए यह वर्णन संन्यासमार्ग को उपयुक्त हो सकेगा। परंतु इस अध्याय के आरंभ में कर्मयोग को श्रेष्ठ निश्चित कर फिर २५वें श्लोक में जो यह कहा है कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों का हित करने में प्रत्यक्ष मग्न रहते हैं, इससे प्रकट होता है कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्त का ही है—संन्यासी का नहीं है।

व्याख्या--हे अर्जुन! स्वभाव से ही बाहर * रहनेवाले जो शब्द स्पर्शादि विषय हैं, और श्रोत्रादि इंद्रियों तथा अंतःकरण की वृत्ति द्वारा जो चित्त में प्रविष्ट हो गये होते हैं, † उन सब विषयों को बाहर करके, अर्थात् विवेक और वैराग्य के प्रभाव से इन सब प्रविष्ट हुए विषयों को चित्त से बाहर करके; अथवा इंद्रियों का बाहर के विषयों से संग तोड़कर; नेत्र को भ्रूवों के बीच में करके अर्थात् नेत्र की दृष्टि को दोनों भ्रुवों के बीच में स्थित करके; नासिका के भीतर जो विचरनेवाले प्राण-अपान हैं, इनकी गति को सम करके, अर्थात् उन्हें रोककर कुम्भक प्राणायाम करके, अथवा इन दोनों को नासिका के अंदर एक जैसा विचरने

कर्ममार्ग में भी सर्वभूतांतर्गत परमेश्वर को पहचानना ही परम साध्य है, अतः भगवान् अंत में (श्लोक २९वें में) कहते हैं कि "मुझको (सब) यज्ञों और तपों का भोक्ता, (स्वर्गादि) सब लोकों का बड़ा स्वामी एवं सब प्राणियों का मित्र जानता है, वही शांति पाता है।"

* "बाह्यान्" (बाहर रहनेवाले) से तात्पर्य यह है कि शब्द-स्पर्शादि विषय स्वभाव से ही बाहर रहते हैं, मनुष्य के भीतर नहीं। यदि ये विषय स्वभाव से ही मनुष्य के अंदर होते, तो हज़ारों उपायों से भी ये फिर बाहर न किये जा सकते!

† जब कोई मनुष्य श्रोत्रादि इंद्रियों से शब्दादि विषयों का सेवन करता है, तब रागादि उत्पन्न होता है। इस रागादि के वश में आकर जब बुद्धि का संयोग उन विषयों में होता है, तब वे (शब्दादि विषय) बुद्धि में प्रविष्ट हो जाते हैं; इसी से उन विषयों का यह पुरुष रात-दिन स्मरण करता है। फिर जब पुण्यवश सत्संग होने से विवेक (ज्ञान) होता है, तब उन विषयों को अत्यंत झूठा जान स्मरण नहीं करता, इस रीति से वे विषय आप ही मन से बाहर हो जाते हैं। यही यत्न विषयों के बाहर निकालने का है।

वाला करके, या नासिका से बाहर निकलनेवाला प्राण वायु जिस प्रकार बाहर न निकलने पावे, और नासिका के अंदर जानेवाला अपान वायु जिस प्रकार भीतर प्रवेश न करने पावे किंतु नासिका के भीतर ही जैसे दोनों विचरते रहें, इस प्रकार मंद-मंद श्वास से बराबर करके; इंद्रिय, मन और बुद्धि को जीते हुए, अर्थात् इन सबको अपने वश में किये हुए; (अथवा प्राणों के अधीन क्योंकि ये सब इंद्रियाँ हैं, इसलिए जब तक प्राण चलते हैं इंद्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं, और जब प्राण रुक जाते हैं तो ये इंद्रियाँ स्वतः रुक जाती हैं, इस प्रकार प्राणापान के रुक जाने पर जिसकी इंद्रियाँ मन बुद्धि स्वतः रुकी हुई वा अपने वश में आई हुई हैं), ऐसा मननशील पुरुष जो राग-भय-क्रोध से रहित हुआ मोक्ष-परायण है, अर्थात् जो उक्त वीतरागभयक्रोधादि विशेषणों से युक्त मुनि है, और जिसका परम आश्रय वा गति मोक्ष हो गया है, ऐसा तत्त्व के मनन करनेवाला मुनि जो है, वह निःसंदेह सदा * मुक्त ही है ॥ २७, २८ ॥

संबंध—(१) उक्त मोक्षपरायण मुनि को जिस ज्ञान वा ध्यान से शांति (मुक्ति) प्राप्त होती है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं—

अथवा (२) जब ध्यानयोग द्वारा उक्त फल को पुरुष प्राप्त होता है, उससे पहले जो वह अनुभव करता है, वा जो ज्ञान पाता है, उसे भगवान् अब संक्षेप से दर्शाते हैं—

---

* "सदा मुक्त ही है," अर्थात् जीता हुआ भी मुक्त ही है (श्रीधर)। सदा, अर्थात् साधन की अवस्था में भी मुक्त ही है (श्रीरामानुज)। वह सदा मुक्त ही है, उसे अब कोई अन्य मुक्ति प्राप्त नहीं करनी है। (श्रीशंकराचार्य)

अथवा (३) इस प्रकार ध्यानयोग में युक्त होने से क्या फल मिलता है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (४) इस प्रकार समाहित चित्त पुरुष से जानने योग्य फिर क्या है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

भोक्तारं^{३}, यज्ञ^{१}तपसां^{२}, सर्व^{४}लोक^{५}-महा^{६}ईश्वरम्^{७}	यज्ञों^{१} और तपों^{२} के भोगनेवाले^{३} और सारे^{४} लोकों^{५} के महान्^{६} ईश्वर^{७} को	सुहृदं^{४}, सर्व^{२}भूतानां^{३}, ज्ञात्वा^{५}, मां^{१}, शान्तिं^{६}, ऋच्छति^{७}	मुझ^{१} सब^{२} प्राणियों^{३} के सुहृद्^{४} को जान^{५}कर शांति^{६} को प्राप्त^{७} होता है

पहला अन्वयार्थ—मुझ (सारे) यज्ञों और तपों के भोगनेवाले, सारे लोकों के महान् ईश्वर, और सब प्राणियों के सुहृद् * को जानकर वह (मुनि) शांति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—(इस ध्यानयोग से) वह मुझको यज्ञों और तपों का भोक्ता, सारे लोकों का महेश्वर, सारे प्राणियों का सुहृद् जान लेता है । और (ऐसा जानकर) शांति को पाता है ॥ २९ ॥

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! जो मुनि उक्त प्रकार काम, क्रोध और भय से रहित होकर मोक्षपरायण हुआ होता है, वह अपने प्रत्येक काम तथा ध्यान में मुझ सच्चिदानंदस्वरूप को, अर्थात्

---

* सुहृद्=प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके उपकार करनेवाला सुहृद् कहलाता है ।

अपने निजस्वरूप को ऐसे जानता वा निश्चय करता (वा ध्याता) है कि—"सर्वप्रकार के यज्ञों और तपों का यजमानादि कर्त्तारूप से तथा इंद्रादि देवतारूप से भोगनेवाला मैं हूँ, सारे लोकों का महान् ईश्वर अर्थात् परमात्मा मैं हूँ, और प्रत्युपकार की अपेक्षा के विना ही सब प्राणियों का उपकार करनेवाला (सुहृद्) मैं हूँ।" इस प्रकार मुझ सर्वान्तर्यामी, सर्व के प्रकाशक, परिपूर्ण, सत्-चित्-आनंदस्वरूप, एकरस और सबके सुहृद् तथा सर्व के आत्मरूप को जानकर, अर्थात् मुझ सच्चिदानंद को अपना आत्मरूप से साक्षात् करके यह उक्त मननशील मुनि मोक्षरूप शांति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! जो उक्त प्रकार ध्यानयोग में युक्त होकर जब नित्य मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह ठीक-ठीक जान लेता है कि "समस्त प्रपंच के यज्ञ और तप का भोगनेवाला वास्तव में मैं हूँ, सारे लोकों का महान् ईश्वर अर्थात् परमात्मा मैं हूँ, और प्रत्युपकार की अपेक्षा के विना ही सब प्राणियों का उपकार करनेवाला वास्तव में मैं हूँ"। ऐसा अनुभव करके फिर वह शांति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

इस पंचम अध्याय के सर्व अर्थ को संक्षेप से प्रतिपादन करनेवाला यह श्लोक है--

"अनेक साधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम् ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम् । इति ॥"

अर्थ--अनेक प्रकार के साधनों के अभ्यास से उत्पन्न हुआ तथा सर्व अधिकारी जन की मुक्ति का साधनरूप जो स्वस्वरूप का ज्ञान है, उसको श्रीभगवान् ने इस पंचम अध्याय में कहा है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

पाँचवें अध्याय का संक्षेप

(१) उक्त अध्याय ४ के अंत में भगवान् ने यद्यपि अपना सिद्धांत (ज्ञान और कर्म का समुच्चय) स्पष्ट रूप से ऐसे कहा कि "हृदय के सब अज्ञान-जन्य संशयों को ज्ञानरूपी खड्ग से काटकर तू कर्मयोग का अनुष्ठान कर," तथापि अध्याय के बीच में कभी कर्मयोग की और कभी ज्ञान वा कर्मसंन्यास की अधिक प्रशंसा सुनकर अर्जुन को संदेह हुआ, जिससे वह ऐसे पूछता है——

हे भगवन् ! कभी आप कर्मत्याग की और कभी कर्मों में लगने की अधिक प्रशंसा करते हैं। इनमें से जो एक उचित हो, उसे कृपा करके आप कहिए।

(२) इस प्रश्न पर भगवान् ऐसे सविस्तर उत्तर देते हैं——

(क) कर्मसंन्यास और कर्मयोग यद्यपि दोनों ही कल्याणकारी हैं, परंतु कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष कल्याणकारी और उपयोगी है।

(ख) पर नित्य संन्यासी तो उसे समझना चाहिए कि जो न राग करता है, न द्वेष (उसे नहीं कि जो समस्त कर्म छोड़ बैठता है); क्योंकि निर्द्वंद्व पुरुष अनायास कर्म-बंधन से छूट जाता है।

(ग) सांख्य (तत्त्वचिंतनार्थ बाह्य कर्म का त्याग) और योग (समत्वबुद्धि से कर्म में युक्त होना रूप कर्मयोग) को बालक भिन्न-भिन्न कहते हैं, पंडित नहीं। अर्थात् सांख्य शब्द का अर्थ जो परोऽक्षज्ञान की प्राप्ति पर तत्त्वचिंतनार्थ केवल बाह्य कर्म का छोड़ना

नहीं लेते किंतु समस्त कर्मों का नितांत त्याग मानते हैं, ऐसे मूर्ख लोग सांख्य और योग को भिन्न-भिन्न बतलाते हैं। पर जो पुरुष मेरे विचारानुसार सांख्य के अर्थ कर्मों का नितांत त्याग नहीं किंतु तत्त्वचिंतनार्थ बाह्य कर्मों का त्याग लेते हैं, ऐसे विचारवान् पुरुष इन दोनों को भिन्न-भिन्न नहीं बल्कि एक समझते हैं। इसलिए इन दोनों में से एक में भी पूर्ण स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को पा लेता है।

(घ) पस जो फल सांख्यवालों को मिलता है, वही योगियों को मिलता है। इसलिए सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक हैं, केवल नाम और रूप वा विधि का भेद है। ऐसा जो समझता है, वही ठीक समझता है।

(ङ) और सांख्य के अर्थ यदि कर्म-संन्यास भी लिये जायँ, तो भी सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक होते हैं. क्योंकि कर्म को आप छोड़ देने से कर्मत्याग नहीं प्राप्त होता, किंतु कर्म को निष्काम भाव से करते रहने से ही कर्म-संन्यास अवस्था प्राप्त होती है, इसीलिए नियत हुआ है कि कर्मयोग में पूर्ण युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म अर्थात् निर्द्वंद्वरूप संन्यास को प्राप्त होता है।

(च) और यदि यह कहा जाय कि कर्म करना ही बंधन उत्पन्न करना है, तो कर्मयोग के विषयमें ऐसा आक्षेप आ नहीं सकता; क्योंकि कर्मयोग में युक्त होकर जो पुरुष शुद्ध अंतःकरणवाला, मन और इंद्रियों

को अपने अधीन किया हुआ और सब प्राणियों का आत्मरूप हुआ होता है, वह सब कर्म करते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है।

(छ) और तत्त्ववित् कर्मयोगी की देखते, चलते इत्यादि संपूर्ण व्यवहारों में ऐसी धारणा होती है कि "इंद्रियाँ अपने-अपने व्यवहारों में प्रवृत्त हो रही हैं, मैं वास्तव में कुछ भी नहीं कर रहा"। इसलिए जो पुरुष कर्मों को निरासक्त वृत्ति से ब्रह्मार्पण-निमित्त करता है, वह उनके पाप-पुण्यरूप फल से वैसे निर्लिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

(ज) इसीलिए योगी लोग चित्त से कर्म का संग-त्याग कर, शरीर, मन, बुद्धि वा केवल इंद्रियों से ही कर्मों को केवल अपने अंतःकरण की शुद्धि-निमित्त करते चले आये हैं।

(३) अब भगवान् युक्त (कर्मयोग के नियमानुसार कर्म करनेवाले) और अयुक्त (कर्मयोग के नियम-विरुद्ध कर्म करनेवाले) पुरुषों की व्यवस्था और फल में भेद दर्शाते हैं—

(क) योग-युक्त पुरुष तो कर्म-फल की अभिलाषा को त्यागकर कर्म करता है, जिससे निरंतर (परम) शांति को पाता है; और अयुक्त पुरुष फल-कामना से कर्म करता है, जिससे फल में आसक्त होता बँध जाता है।

(ख) युक्त पुरुष तो आत्म-वशी होने के कारण मन से सब कर्मों को छोड़कर (ऊपर शरीर से कर्म करता हुआ देखा जाने पर भी वास्तव में) न कुछ करता है और

न कराना होता है बल्कि नौ द्वारों के पुर (देह) में सुख से बैठा होता है। और अयुक्त पुरुष मन से कर्मों को न छोड़ने के कारण (चाहे ऊपर से निष्क्रिय ही दिखाई देता हो, पर भीतर से) कुछ न कुछ करता-कराता ही होता है, जिससे नित्य अशांत और दुःखी ही रहता है।

(ग) युक्त पुरुष जिसको अपने इंद्रिय, मन इत्यादि पर प्रभुत्व प्राप्त हो गया है, वह स्वयं कुछ न करता-कराता होने से और चित्त से सबके साथ अभेद होने के कारण किसी के भी न कर्तृत्व को, न कर्म को और न कर्म-फल-संयोग को रचता है, बल्कि इन सब भेदों में उसके हाँ तो केवल स्वभाव ही वर्तता होता है। इसलिए वह (युक्त पुरुष) न किसी के पाप को अपना बनाता है और न पुण्य को। परंतु अयुक्त पुरुष अज्ञान से ज्ञान ढक जाने के कारण धोखा खा जाते हैं, जिससे कर्त्ता-कर्म के भाव में फँसकर (वा किसी के कर्त्ता-कर्म के भाव को अपना बनाते हुए) बँध जाते हैं।

(४) इस प्रकार युक्त और अयुक्त की दशा और फल में भेद दर्शाकर अब जो अज्ञानी कर्मयोगी नहीं बल्कि जो निरासक्त मन तथा समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते आत्म-साक्षात्कार किये हुए ज्ञानवान् कर्मयोगी हैं, ऐसे युक्त और अज्ञान से शून्य पुरुषों की बाह्याभ्यंतर दशा का भगवान् अब स्पष्टीकरण करते हैं—

(क) परंतु जिनका अज्ञान अपने आत्मज्ञान से नष्ट हो गया होता है, उनके भीतर तत्त्वज्ञान सूर्यवत् सदा

उदय रहता है, जिस लिए भूल से भी वे किसी कर्म का अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानने पाते।

(ख) उसी तत्त्वज्ञान में उनकी बुद्धि उसी में उनका मन, उसी में उनकी निष्ठा और उसी के परायण होने के कारण वे शरीर छोड़ते ही कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

(ग) विद्या और नम्रता से संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी इत्यादि में वे समदर्शी होते हैं।

(घ) जिनका मन उक्त प्रकार से समता में स्थित हो चुका है, उन्हीं का संसार जीता हुआ है, और वे ही ब्रह्म में स्थित हैं; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है (अथवा क्योंकि निर्दोष और सम अवस्था का ही नाम ब्रह्म है)।

(ङ) ऐसा पुरुष प्रिय वस्तु को पाकर फूलता नहीं और अप्रिय को पाकर झुँझलाता नहीं।

(च) केवल निरासक्त वृत्ति से कर्म में युक्त पुरुष (अथवा केवल बाह्य विषयों में निरासक्त पुरुष) जो सुख विषय निवृत्ति के कारण किंचित् काल के लिए अपने में पाता है, वही पुरुष फिर ब्रह्मध्यान में लवलीन होकर नाशरहित अर्थात् निरंतर सुख को भोगता है।

(छ) इसलिए बुद्धिमान् पुरुष विषय-भोगों से प्राप्त हुए सुखों को वास्तव में दुःख की योनियाँ और अनित्य समझते हुए उनमें रमते नहीं।

(ज) अतएव शरीर छोड़ने से पहले जो पुरुष काम-क्रोध के वेग को सहार सकता है, वही युक्त और सुखी नर होता है।

(झ) इस प्रकार जिस सुखी नर को जब अपने भीतर ही सुख, भीतर ही आराम, और भीतर ही ज्ञान का प्रकाश होता है, ऐसा योगारूढ़ योगी पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

(५) उक्त कर्मयोगी पुरुष से अतिरिक्त अन्य जो पुरुष ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उन्हें भगवान् अब कहते हैं; अथवा ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष को प्राप्त हुए महात्माओं के और लक्षण भगवान् अब कहते हैं—

(क) केवल कर्मयोगी पुरुष ही नहीं बल्कि जिन ऋषियों के पाप क्षीण हो चुके हैं, संशय कट चुके हैं, (मनादि) इंद्रियाँ सब जीती हुई हैं, और जो नित्य सबका भला चित्त से चाहते रहते हैं, ऐसे यति ऋषि भी ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अथवा ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हुए पुरुषों के ये लक्षण भी होते हैं कि उनके पाप क्षीण हुए, संशय कटे हुए, वे इंद्रिय जीते हुए और सबके भले में तत्पर हुए होते हैं।

(ख) काम-क्रोध से रहित और वश में किये हुए चित्तवाले ज्ञानवान् यतियों के निकट तो सदैव ब्रह्मनिर्वाण ही वर्तता रहता है।

(६) उक्त लक्षणों से संपन्न होने की रीति (ध्यान-योग) जिसे योगी लोग (सांख्ययोगी वा योगारूढ़ पुरुष) अपने बर्ताव में लाते हैं, उसे भगवान् अब संक्षेप से कहते हैं—

बाह्य विषयों को अपने चित्त से बाहर करके, नेत्र

को भ्रूवों के मध्य रखकर, और नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राणापान को सम करके, जीते हुए मन-बुद्धि-इंद्रियवाले मुनि जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर मोक्ष-परायण होते हैं, वे सदा मुक्त ही हैं।

(७) उक्त मोक्ष-परायण मुनि जिस ज्ञान वा ध्यान द्वारा शांति पाते हैं, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

उक्त रीति से अभ्यास करते समय जब मननशील (मुनि) लोग ऐसे ध्यान में आरूढ़ होते हैं (अथवा ऐसा अनुभव करते हैं) कि "मैं ही सारे यज्ञों और तपों का भोगनेवाला, सारे लोकों का महान् ईश्वर (परमात्मा), और सब प्राणियों का सुहृद् हूँ," तब वे शांति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्म-विद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, संन्यास-योग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

❀ ॐ ❀

षष्ठोऽध्यायः

संबंध—पूर्वाध्याय के श्लोक २ में भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग की फलरूप से एकता दर्शायी ; फिर श्लोक ३ में संन्यास के विषय अपना निश्चय संक्षेप से ऐसे वर्णन किया—"ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति"। इत्यादि=नित्य संन्यासी उसे समझना चाहिए कि जो न राग करता है, न द्वेष (उसे नहीं कि जो समस्त कर्म छोड़ बैठता है), क्योंकि द्वंद्वरहित पुरुष अनायास कर्म-बंधन से छूट जाता है। और तत्पश्चात् श्लोक ४, ५, ६ में यह भाव स्पष्ट किया कि "इस प्रकार की संन्यासावस्था को प्राप्त करानेवाले मार्ग सांख्य और योग दोनों हैं, और इसीलिए इनमें से एक में भी पूर्ण स्थित पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ; हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि केवल सांख्ययोग से उस (संन्यासावस्था) का पाना अति कठिन है और कर्मयोग से सुगम ; इसीलिए सर्वसाधारण को कर्मयोग का पहले आश्रय लेना चाहिए और सांख्ययोग का पीछे, बल्कि वास्तविक संन्यासावस्था प्राप्त होने पर भी लोकसंग्रह-निमित्त कर्म न हरएक के छूटते हैं और न हरएक को आप छोड़ने चाहिएँ. क्योंकि पूर्व तत्त्ववित् योगी ऐसा ही करते आये हैं।" इस प्रकार स्पष्ट करके कर्मयोग का विषय सविस्तर वर्णन किया ; और अध्याय के अंत में संक्षेप से तीन श्लोकों में सांख्ययोग अर्थात् ध्यानयोग का विषय

निरूपण किया। अब भगवान् उसी ध्यानयोग * को सविस्तर वर्णन करने लगे हैं। परंतु उसे सबसे ऊँचा साधन और केवल ऋषिजनों के ही उपयोगी जानकर भगवान् पहले संन्यास और योग की एकता, फिर कर्मयोग का ध्यानयोग (सांख्ययोग) के साथ संबंध और उनकी परस्पर आधार-आधेयता रूप स्थिति, और इसी प्रकार कर्मयोगी की योगारूढ़ के साथ एकता दर्शाने लगे हैं, ताकि सर्वसाधारण लोग कहीं कर्म से उपराम न हो जायँ। इस समस्त उक्त विषय को भगवान् स्वतः ऐसे आरंभ करते हैं—

---

* छठे अध्याय के आरंभ में उसके साथ पूर्व अध्याय के संबंध को एक-दो टीकाकारों ने ऐसे श्लोकबद्ध किया है—"योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पंचमान्ते यदीरितम्। षष्ठ आरभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात्॥" अर्थ—पाँचवें अध्याय के अंत में जो योगसूत्र तीन श्लोकों से कहा गया है, उसी योगसूत्र की विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के लिए यह छठा अध्याय आरंभ किया जाता है।

श्रीशंकराचार्यजी इस अध्याय का संबंध इस प्रकार दर्शाते हैं—

"यथार्थ ज्ञान के लिए जो अंतरंग साधन है, उस साधनरूप ध्यानयोग का जो पूर्व अध्याय के अंत में 'स्पर्शान्कृत्वा बहिः' इत्यादि श्लोकों द्वारा सूत्ररूप से उपदेश दिया गया, उन श्लोकों की व्याख्यारूप यह छठा अध्याय आरंभ किया जाता है। परंतु ध्यानयोग का बहिरंग साधन कर्म है, इसलिए जब तक ध्यानयोग पर आरूढ़ होने में असमर्थ हो, तब तक अधिकारी गृहस्थ को कर्म करना चाहिए। अतः भगवान् उस (कर्म) की पहले स्तुति करते हैं।"

श्रीतिलक महाराज इसका संबंध इस प्रकार निरूपण करते हैं कि—"इतना तो सिद्ध हो गया कि मोक्षप्राप्ति होने के लिए और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के अनंतर भी कर्म करते रहना चाहिए; परंतु फलाशा छोड़कर उन्हें समबुद्धि से इसलिए करें ताकि वे बंधक न हो जावें, इसे ही कर्मयोग कहते हैं,

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥*

और कर्मसंन्यासमार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है । तथापि इतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन समाप्त नहीं होता । तीसरे ही अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से काम-क्रोध आदि का वर्णन करते हुए कहा है कि ये शत्रु मनुष्य की इंद्रियों में, मन में, और बुद्धि में घर करके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं (३. ४०)। अतः तू इंद्रियों के निग्रह से इनको पहले जीत ले । इस उपदेश को पूर्ण करने के लिए इन दो प्रश्नों का खुलासा करना आवश्यक था कि (१) इंद्रिय-निग्रह कैसे करें, और (२) ज्ञान-विज्ञान किसे कहते हैं ; परंतु बीच में ही अर्जुन के प्रश्नों से यह बतलाना पड़ा कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग में अधिक अच्छा मार्ग कौन सा है ; फिर इन दोनों मार्गों की यथाशक्य एक वाक्यता करके यह प्रतिपादन किया गया है कि कर्मों को न छोड़कर, निःसंग बुद्धि से करते जाने पर ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है । अब इस अध्याय में उन साधनों के निरूपण करने का आरंभ किया गया है, जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उक्त निःसंग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करने में होती है । तथापि स्मरण रहे कि, यह निरूपण भी कुछ स्वतंत्र रीति से पातंजल योग का उपदेश करने के लिए नहीं किया गया है । और, यह बात पाठकों के ध्यान में आ जाय, इसलिए यहाँ पिछले अध्यायों में प्रतिपादन की हुई बातों का ही प्रथम उल्लेख किया गया है, जैसे फलाशा छोड़कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिए—कर्म छोड़नेवाले को नहीं (५. ३) इत्यादि ।"

* महाभारत (१२. १८. ३०) में इस विषय पर ऐसा श्लोक है -

"त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात् ।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥"

अनाश्रितः, कर्म-फलं	कर्म के फल का आश्रय न लिये हुए	सः, संन्यासी, च, योगी	वह संन्यासी और योगी है
*कार्यं, कर्म, करोति, यः	जो पुरुष करने योग्य (कर्त्तव्य) कर्म करता है	च, न, निर्-अग्निः, न, च, अ-क्रियः	और न अग्नि-हीन और न क्रिया-हीन

अन्वयार्थ——श्रीभगवान् बोले——कर्म-फल का आश्रय न लेता हुआ जो पुरुष कर्त्तव्य कर्म को करता है, वह संन्यासी और योगी है, न कि निरग्नि † और निष्क्रिय ‡ पुरुष ॥ १ ॥

अर्थ——संन्यास भिक्षा माँगने वा मूँड मुँडाने से नहीं होता। संन्यास केवल सरल भाव से विषय-भोग वा विषय-सुखों को त्यागने से होता है।

* श्री प्रणवानंद स्वामी कार्य और कर्म में ऐसे भेद करते हैं——मन जब इंद्रियों के साथ विषय में जाता है, तब जिस प्रकार प्राण-प्रवाह बहता है, वही कार्य है; और मन जब विषय छोड़ करके आत्मा की ओर जाता है, तब जिस प्रकार प्राण की गति होती है, वही कर्म है। अर्थात् भीतरमुखी क्रिया के अनुष्ठान में प्राणचालन का नाम कर्म है, और बहिर्मुख में प्रारब्धवश करके शरीरयात्रा-निर्वाह करने का नाम कार्य।

† निरग्नि उसे कहते हैं, जिसने अग्नियाँ रखनी छोड़ दी हों। वैदिक धर्म के अनुसार गृहस्थाश्रमी पर तीन अग्नियों का रखना अवश्य है। ये अग्नियाँ गृहस्थ के सब कर्म (बलिवैश्वदेवादि यज्ञ और अग्निहोत्रादि कर्म) में उपयोगी होती हैं। गृहस्थाश्रमी का कुछ काम विना इसके चल नहीं सकता, इसलिए गृहस्थी को साग्नि कहते हैं। पर जो गृहस्थ-धर्म से निकल जाय और मनुस्मृति (६, २५ इत्यादि) के कथनानुसार वनों वा नगरों में फिरे, आप तो पाक महायज्ञ न करे किंतु औरों से बलि लेकर अर्थात् भिक्षाटन से उदर पूर्ण करे, वह संन्यासी कहा जाता है, और उसी को निरग्नि कहते हैं।

‡ निष्क्रिय उसे कहते हैं जो क्रियारहित हो। क्रिया तप-दानादि को

पहली व्याख्या—श्रीभगवान् ने जो संन्यासी और योगी के विषय में अपना भाव पूर्व अध्याय के आरंभ में सूत्ररूप से प्रकट किया था, उसे अब वह अधिक स्पष्ट रूप से ऐसा स्फुट करते हैं—कि हे अर्जुन! जो पुरुष कर्म के स्वर्गादि फल की तृष्णा वा आशा से रहित होकर, अर्थात् निष्काम चित्त से, करने योग्य कर्मों को करता है; अथवा कर्म को जो केवल अपना कर्त्तव्य समझकर करता है, किसी इच्छा से नहीं, वही (कर्म-फल के त्याग से) ठीक संन्यासी है, और वही (कर्त्तव्य कर्म में युक्त होने से) ठीक योगी है। पर वह पुरुष योगी या संन्यासी नहीं कि जो मारे आलस्य वा भय के कर्म को दुःखरूप समझकर छोड़ बैठता है, और इस रीति से अग्निहीन तथा क्रियाहीन हो जाता है ॥ १ ॥ *

कहते हैं जैसे पातंजल दर्शन में आया है—"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग इति"। (१, २)=तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ही क्रियायोग हैं। इस प्रकार जो पुरुष तप-दानादि से रहित होता है, वह निष्क्रिय कहलाता है। इस रीति से अग्निहीन और क्रियाहीन में इतना भेद है कि होम और यज्ञादि कर्म जो अग्नि में किये जाते हैं, उनसे रहित को अग्निहीन और इस अग्नि-कर्म के विना जो अन्य दान-तपादि कर्म तथा इंद्रियों के सर्वप्रकार के कर्म हैं उनसे रहित को कर्महीन वा क्रियाहीन कहते हैं।

* यद्यपि मनुस्मृति के अनुसार जो पुरुष चतुर्थाश्रमी है, जिसे निशिदिन अपने लिए या अन्य के लिए खाना पकाने का ख़्याल नहीं, जिसे खाने के लिए सामग्री संग्रह करने, धन संचय करने, तथा व्यापारादि बीसियों कर्म करने की आवश्यकता नहीं, वही मनुष्य संन्यासी है और वही निरग्नि है। और जो योग-समाधि में स्थित हुआ क्रियाहीन हो जाता है, वही पूर्ण योगी कहलाता है। परंतु भगवान् के हाँ संन्यास और योग के ये

दूसरी व्याख्या—पूर्व अध्याय के श्लोक २ में भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों कल्याण के देनेवाले बताये हैं। और अब भी संन्यास के अर्थ कर्मसंन्यास और योग के अर्थ कर्मयोग लेकर अपने पूर्व कथित भाव को (जो उन्होंने श्लोक ३ में "ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति" इत्यादि से दर्शाया था) भगवान् पुनः स्पष्ट करके ऐसे निरूपण करते हैं कि—हे अर्जुन ! क्योंकि मैं कर्मसंन्यास के अर्थ चित्त से कर्मों तथा उनकी फल-कामना का त्याग मानता हूँ, न कि शरीर से कर्म-त्याग; और इसी प्रकार निष्काम चित्त और निरासक्त मन से कर्म करने को ही मैं कर्मयोग कहता हूँ, न कि सकाम चित्त तथा आसक्त मन से कर्म करने को; जिससे ये दोनों शब्द वास्तव में एक ही अर्थ वा तात्पर्य रखते हैं। इसलिए जो पुरुष कर्म-फल की तृष्णा को छोड़कर निरासक्त चित्त से कर्त्तव्य कर्मों को करता है, वही (फलाशा को छोड़ने के कारण) वास्तव में

वास्तविक लक्षण नहीं। पूर्व अध्याय के श्लोक ३ और अब इस श्लोक के अनुसार भगवान् तो उसे संन्यासी मानते हैं कि जो न राग करता है, न द्वेष, और मारे आलस्य वा दुःख के जो क्रियाहीन वा अग्निहीन नहीं होता, किंतु जो कर्म-फल की आशा वा तृष्णा छोड़कर समस्त कर्म समत्वबुद्धि से करता रहता है। तात्पर्य यह कि जो गृहस्थी गृह में अग्नियाँ रखते हुए अपने कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम चित्त से करते हैं, वे भी भगवान् के मत में वास्तव में संन्यासी हैं; और जो गृहस्थाश्रम को छोड़कर अग्नि न रखते हुए चतुर्थाश्रम में आते हैं, पर परोपकार में आरूढ़ रहते हैं (लोगों की भलाई के लिए निरासक्त चित्त और समत्वबुद्धि से कुछ न कुछ करते रहते हैं), वे भी संन्यासी हैं। परंतु केवल नितांत कर्महीन और अग्निरहित पुरुष संन्यासी नहीं, अपने इसी भाव को भगवान् ने संपूर्ण गीता में दर्शाया है।

कर्मसंन्यासी, और वही (निरासक्त चित्त से कर्म में युक्त होने के कारण) वास्तव में कर्मयोगी होता है; पर केवल यज्ञ होमादि को त्यागनेवाला (अग्निहीन) और तप-दानादि कर्म छोड़नेवाला (कर्महीन होकर निठल्ला बैठनेवाला) पुरुष वास्तव में न संन्यासी होता है और न कर्मयोगी। इस प्रकार एक ही (निष्काम चित्त से कर्म करनेवाला) पुरुष एक ही समय में दोनों उपाधियों (कर्मसंन्यास और कर्मयोग) से युक्त हुआ होता है॥ १ ॥ *

---

* श्रीज्ञानदेव ने इस श्लोक की व्याख्या अति विचित्र रूप से ऐसे की है—"सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें जुदे मत मानो। साधारणतः दोनों का विचार करने से वे एक ही जान पड़ते हैं। दूसरा नाम केवल आरोप है, उसे छोड़ दो तो जो योग वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखते दोनों में अंतर नहीं दिखाई देता। जैसे अलग-अलग नाम से एक ही मनुष्य को पुकारा जाय, अथवा दोनों मार्गों से जैसे एक ही जगह गंतव्य हो, अथवा पानी स्वभावतः एक है परंतु जैसे जुदे-जुदे घड़ों में भरा हो, वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो। हे अर्जुन! संसार में सबकी यही सम्मति है कि योगी वही समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता। जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के विना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है, परंतु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती; वैसे ही सर्वत्र जो आत्मा व्याप्त है, उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो सोई उचित जान जो करता है, परंतु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता, और जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुँचती, वही संन्यासी है। हे पार्थ! सुनो, वास्तव में वही योगीश्वर है। अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बद्धक समझकर छोड़ देता है और तत्काल दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है, सो जैसे एक लेप पोंछकर साथ ही दूसरा लगाया जाय ऐसे आग्रह के अधीन हो व्यर्थ विवंचना में पड़ता है, पहले ही

संबंध—कर्मयोगी भला क्यों संन्यासी है ? इसमें जो हेतु है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

यं^{१}, संन्यासं^{२},	जिसको^{१} "संन्यास^{२}"	न^{७} हि^{१}, अ^{२}-संन्य^{३}	क्योंकि^{१} न^{२} त्यागे^{३}
इति^{३}, प्राहुः^{४}	ऐसा^{३} कहते^{४} हैं	स्त-सङ्कल्पः^{४},	हुए संकल्पवाला^{४}
योगं^{३}, तं^{२}, विद्धि^{४},	हे अर्जुन^{५}! उसको^{२}	योगी^{६}, भवति^{८},	कोई^{५} योगी^{६}
पाण्डव^{५}	तू योग^{३} जान^{४}	कश्चन^{५}	नहीं^{७} होता^{८} है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जिसको संन्यास कहते हैं उसको तू योग जान, क्योंकि न त्यागे हुए संकल्पवाला कोई पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है, सोई बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है । अतएव श्रौत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लंघन न हो, तो निज में ही सहज योगसुख की प्राप्ति होती है ।"

श्रीतिलक महाराज इस पर अपनी ढंग की व्याख्या ऐसे करते हैं—"पिछले अध्याय में जो कहा है कि 'सांख्य और योग एक हैं' (५. ५), या 'विना योग के संन्यास नहीं होता' (५. ६), अथवा 'उसे संन्यासी जानना चाहिए जो न द्वेष करता है न आकांक्षा, (५. ३), उसी का यह अनुवाद है और आगे अठारहवें अध्याय (१८. २) में समग्र विषय का उपसंहार करते हुए इसी अर्थ का फिर भी वर्णन किया है । गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्र रखकर यज्ञ-याग आदि कर्म करना पड़ते हैं, पर जो संन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिए मनुस्मृति में कहा है कि उसको इस प्रकार अग्नि की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण वह 'निरग्नि' हो

व्याख्या—हे पांडु-पुत्र अर्जुन ! जिसको वैदिक * श्रुतियाँ तथा अनुभवी महात्मा " यह संन्यास है " ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग समझ; क्योंकि जिस पुरुष ने भीतर से स्वार्थ संबंधीय संकल्पों † का तो त्याग नहीं किया, किंतु बाह्य कर्मों का त्यागकर डाला है, वह चाहे कोई ही क्यों न हो, न कभी वास्तव में योगी होता है और न संन्यासी। बल्कि वही पुरुष वास्तव में कर्मयोगी वा संन्यासी होता है कि जो ऊपर से तो कर्म करता

जाय और जंगल में रहकर भिक्षा से पेट पाले—जगत् के व्यवहार में न पड़े (मनु० ६. २५ इत्यादि)। पहले श्लोक में मनु के इसी मत का उल्लेख किया गया है। और इस पर भगवान् का कथन है कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे संन्यास का लक्षण नहीं है। काम्यबुद्धि का या फलाशा का त्याग करना ही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धि में है; अग्नि-त्याग अथवा कर्म-त्याग की बाह्य क्रिया में नहीं है। अतएव फलाशा अथवा संकल्प का त्यागकर कर्त्तव्य कर्म करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहना चाहिए। गीता का यह सिद्धांत स्मृतिकारों के सिद्धांत से भिन्न है। इस प्रकार सच्चा संन्यास बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान होने के पहले अर्थात् साधनावस्था में जो कर्म किये जाते हैं उनमें, और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्था में फलाशा छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं उनमें, क्या भेद है।"

* "न्यास एवातिरेचयत्। ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति"। इति श्रुतिः। अर्थ—संन्यास ही सबसे बढ़कर है। ब्राह्मण लोग पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा और लोकों की इच्छा से रहित होकर भिक्षाटन से निर्वाह करते हैं। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि सर्वप्रकार की इच्छा से रहितवाले का नाम संन्यासी है, अन्य का नहीं।

† संकल्प मन का स्वरूप है। इसका अर्थ दो वृत्तियों को मिलाना है। इस (संकल्प) का एक परिणाम तो चित्तवृत्ति का लहराना होता है

है परंतु भीतर से न कर्तृत्वादि संकल्प और न फल-कामना रखता है, बल्कि ऐसे सर्वप्रकार के संकल्पों को त्यागे हुए होता है ॥ २ ॥ *

संबंध—(१) इस प्रकार कर्मयोगी और कर्मसंन्यासी की बाह्याभ्यंतर रूप से एकता दर्शाकर अब भगवान् कर्मयोगी का योगारूढ़ (ध्यानयोगी वा सांख्ययोगी) के साथ संबंध और उनकी परस्पर आधार-आधेयतारूप स्थिति सहित उनके उपाय भेद के निरूपण करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार कर्मयोग और संन्यास की परस्पर एकता दर्शाकर अब भगवान् कर्मयोग को ध्यानयोग (सांख्ययोग) का साधन दर्शाते हैं—

अथवा (३) फलेच्छा से रहित कर्मयोग ध्यानयोग का बहिरंग साधन है, इस उद्देश्य से उसकी संन्यासरूप से स्तुति करके अब भगवान् कर्मयोग को ध्यानयोग का साधन बतलाते हैं—

अथवा (४) शास्त्रों में यह स्पष्ट है कि योग में कर्म कारण है अर्थात् जब तक योगी कर्म न करे तब तक वह कर्मयोगी नहीं हो सकता; पर संन्यास में तो शम-दम कारण है, अर्थात् जब तक मनुष्य

और दूसरा (परिणाम) वृत्ति को बाहर के विषयों के सुख वा दुःख के प्रत्ययों के साथ जोड़ देना होता है; और इसी दूसरे परिणाम से मनुष्य में राग वा द्वेष की उत्पत्ति हो जाती है। संकल्प शब्द का अर्थ यहाँ उस वृत्ति से है कि जो कर्मों के सुख वा दुःखरूपी फलों से जोड़ती है। संकल्प छोड़ना इस स्थान पर कर्म में राग-द्वेष या कर्मफल छोड़ने से अर्थात् निष्काम कर्म करने से आशय रखता है।

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी ऐसे व्याख्या करते हैं—"सुनो, जो संन्यासी सोई योगी है, ऐसी एक वाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है। जिन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहाँ त्याग किये हुए संकल्प का लोप होता है, वहाँ योग के साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है।"

शमी और दमी न हो तब तक वह संन्यासी नहीं हो सकता, इस प्रकार इन दोनों (योग और संन्यास) में परस्पर भेद पाया जाता है। ऐसी दशा में इन दोनों की एकता कैसे ? इस आपत्ति को दूर करने के आशय से भगवान् इन दोनों की आधार और आधेयरूप से स्थिति दर्शाकर उससे इनकी वास्तविक एकता स्पष्ट करने लगे हैं—

अथवा (४) अब भगवान् इस योग में क्रमोन्नति तथा सिद्धि के कारण बतलाने लगे हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३ ॥

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगं	योग पर चढ़ना चाहते हुए मुनि का, अर्थात् योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि का	योग-आरूढस्य, तस्य, एव, शमः, कारणं, उच्यते	उस योग पर चढ़े हुए का शम ही कारण (साधन) कहा जाता है
कर्म. कारणं, उच्यते	कर्म कारण (साधन) कहा जाता है		

अन्वयार्थ—योगारूढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए कर्म साधन कहा जाता है, और योगारूढ़ पुरुष के लिए (तो) शम ही साधन कहा जाता है॥ ३ ॥ *

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! ऊपर यह अपना सिद्धांत मैंने स्पष्ट किया है कि बिना संकल्प त्यागे के न कोई वास्तव में योगी

---

* श्रीतिलक महाराज इसका ऐसे अर्थ करते हैं—"(कर्म-) योगारूढ़ होने की इच्छा रखनेवाले मुनि के लिए कर्म को (शम का) कारण अर्थात् साधन कहा है; और उसी पुरुष के योगारूढ़ अर्थात् पूर्ण योगी हो जाने पर उसके लिए (आगे) शम (कर्म का) कारण हो जाता है।

हो सकता है और न संन्यासी, (बल्कि संकल्पों का त्यागनेवाला ही वास्तव में योगी और संन्यासी होता है) जिससे संकल्प-निवृत्ति का नाम ही वास्तव में योग वा संन्यास है, और इसी लिए ये दोनों एक हैं। और यह भी दर्शाया जा चुका है कि संकल्पों तथा तृष्णाओं की निवृत्ति तो सुखपूर्वक निष्काम कर्म में युक्त होने से ही होती है, अर्थात् कर्म को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर उसमें निष्काम चित्त वा ईश्वरार्पण बुद्धि से निरंतर युक्त रहने से ही संकल्प-निवृत्ति होती है, इसके विना और किसी रीति से सुगमतापूर्वक नहीं होती। इसलिए संकल्प-निवृत्ति का कारण वा साधन कर्म कहा जाता है। पस, जो पुरुष संकल्प-निवृत्तिरूप योग को प्राप्त होना चाहते हैं, अर्थात् जो संकल्प-निवृत्ति से संपन्न होना चाहते हैं, उन्हें नित्य कर्त्तव्य कर्म निरासक्त चित्त वा ईश्वरार्पण बुद्धि से करते रहना चाहिए। चित्त से संकल्पों की ऐसी निवृत्त अवस्था ही शम है, क्योंकि संकल्प वा तृष्णा ही अशांति है और उसकी निवृत्ति ही शांति वा शम है। और इसी संकल्प-निवृत्तिरूप शांत अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष का नाम यहाँ योगारूढ़ है। इसीलिए अगले श्लोक (४) में भी कहा है कि "सब संकल्पों का त्यागी योगारूढ़ कहलाता है ।" और यह भी पूर्व दर्शाया गया है कि आत्म-शुद्धि के लिए योगी लोग कर्म करते हैं, और जब कर्म करते-करते अंतःकरण वा चित्त शुद्ध और शांत हो जाता है, तब उस शांत अवस्था में तत्त्व-चिंतन से चित्त-वृत्ति ध्यान में पूर्ण आरूढ़ होती है, जिससे समाधिस्थ होता हुआ पुरुष आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है। इसीलिए चित्त की यह शम वा शांत अवस्था योगारूढ़ पुरुष के आत्मसाक्षात्कार का कारण वा साधन कहलाती है। पस, साक्षात्कार की जिज्ञासावाले और

संकल्प-निवृत्ति से संपन्न (योगारूढ़) पुरुष को चाहिए कि वह बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत स्थान में स्थित होकर इस संकल्प-निवृत्ति के कारण शुद्ध और शांत हुए चित्त में पूर्ण ध्यान से तत्त्व-चिंतन करे, जिससे चित्त-वृत्ति आत्मध्यान में पूर्ण आरूढ़ हो, और वह तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त हो ॥ ३ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! ऊपर जो (श्लोक २ में) संकल्पों की निवृत्ति को योग * और उस अवस्था से युक्त हुए का नाम योगी वा योगारूढ़ कहा है, उस संकल्प-निवृत्तिरूप योग वा योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त होने की इच्छावाले पुरुष को नित्य निष्काम चित्त वा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्त्तव्य कर्म करते रहना चाहिए, क्योंकि विना कर्म के निष्कर्मता कदापि प्राप्त नहीं होती, (३, ४), और विना कर्म में युक्त होने के संकल्प-निवृत्ति-रूप योग (अर्थात् योगारूढ़ अवस्था) अथवा रागद्वेष से रहित

---

* यहाँ योग के अर्थ कोई कर्मयोग नहीं किंतु संकल्पों की निवृत्ति है जो पूर्व श्लोक में कही गई है। यही संकल्प-निवृत्ति यहाँ शम कहलाती है। कई टीकाकारों ने यहाँ शम से अभिप्राय कर्म-निवृत्ति लिया है, संकल्प-निवृत्ति नहीं। परंतु पूर्वापर के संबंध से यह अभिप्राय ठीक नहीं बैठता है। क्योंकि न तो अध्याय के आरंभ में और न अगले श्लोक में भगवान् ने कर्म-त्यागी को योगी वा संन्यासी कहा है, बल्कि सब जगह कर्म-फलों वा संकल्पों के त्यागी को ही योगी वा योगारूढ़ कहा है। यद्यपि स्पष्ट आशय यहाँ योग वा शम से केवल संकल्प-निवृत्ति ही निकलता है, तथापि श्रीशंकराचार्य वा मधुसूदन स्वामी इत्यादि कई एक टीकाकारों ने शम के अर्थ संकल्प-निवृत्ति के साथ-साथ बाह्य कर्म-निवृत्ति भी किये हैं (पर स्वाभाविक या कामना वा संकल्परहित मानसिक कर्म की निवृत्ति नहीं), जो बहुत विचार करने पर कई अंशों में नितांत युक्त बैठते हैं, इसलिए उनके आशय को लेकर भी आगे दो व्याख्या कर दी गई हैं। (टीकाकार)

निर्द्वंद्वरूप योग वा संन्यास का पाना अत्यंत कठिन है (५, ६)। इसलिए संकल्पों की निवृत्तिरूप योग अर्थात् योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त करने की इच्छावाले पुरुष के लिए कर्म को (उस निवृत्ति वा शम का) कारण अर्थात् उपाय वा साधन कहा है। परंतु जो पुरुष कर्म करते-करते संकल्पों की निवृत्तिरूप शांति को प्राप्त होकर योगारूढ़ हो गये हैं, अर्थात् जो संकल्प-निवृत्ति-रूप योग वा योगारूढ़ अवस्था के शिखर पर चढ़ चुके हैं, उनको वहाँ (उस शिखर पर) स्थिर रखनेवाला कारण (साधन) अब केवल तृष्णा वा संकल्पों का त्यागरूपी शम है, सर्वथा कर्म का त्याग नहीं, क्योंकि सर्वथा कर्म का त्याग तो गीता के कथनानुसार असंभव ही है। अथवा दूसरी रीति से ऐसे भी व्याख्या हो सकती है कि चित्त की शांत वा निरासक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए कर्म की आवश्यकता पड़ती है. जिससे योगारूढ़ होने का कारण कर्म है। परंतु जब कर्म द्वारा चित्त पूर्ण शुद्ध, शांत और निरासक्त हो जाता है, तो इस निरासक्त चित्त के कारण पुरुष की फिर एक ही शरीर से नहीं किंतु सबसे अभेदता हो जाती है, जिस अभेदता से वह सबके हित में लग जाता और इस प्रकार लोक-संग्रह-निमित्त कुछ न कुछ कर्म स्वाभाविक करता ही रहता है। इसलिए योगारूढ़ अवस्था पाने के पश्चात जो कर्म पुरुष से होते हैं, वे किसी आसक्ति, संकल्प वा इच्छा से, या अपने लिए कोई अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं होते किंतु चित्त की शम (शांत) और निरासक्त अवस्था के प्रभाव से केवल लोक-संग्रह-निमित्त वा स्वाभाविक ही होते हैं। इसीलिए भगवान् ने योगारूढ़ पुरुष के कर्म का कारण शम कहा है, कोई संकल्प वा निज-उद्देश्य इत्यादि नहीं ॥ ३ ॥

तीसरी व्याख्या--यह पूर्वाध्याय के श्लोक ६ में दर्शाया जा

चुका है कि रागद्वेष से रहित (निर्द्वंद्वरूप) अवस्था तथा चित्त-वृत्ति की शांत अवस्था, अथवा मन की एकाग्र और निरासक्त अवस्था प्रथम शारीरिक कर्म द्वारा ही होती है, क्योंकि विना कर्म के न मन ही सुगमता से एकाग्र वा निरासक्त होता है. और न चित्त ही ठीक शुद्ध वा शांत होता है, जिस लिए आरंभ में कर्म साधन होता है। और जब शारीरिक कर्म द्वारा मन ठीक एकाग्र और निरासक्त होने लग जाता है, और ऐसे ही चित्त-वृत्ति अपने भीतर आत्मध्यान में ठीक युक्त, लीन वा शांत होने लग जाती है, तब फिर बाह्य कर्म की आवश्यकता नहीं रहती, किंतु चित्त का निरोधरूप जो शम है उसी का ही आत्मसाक्षात्कारार्थ आश्रय लेना पड़ता है। अर्थात् बाह्य कर्म द्वारा मन के ठीक निष्काम, निरासक्त, निर्द्वंद्व वा निरोध होने पर फिर एकांत स्थान में बैठकर केवल तत्त्वचिंतन द्वारा निजस्वरूप के ध्यान में निरंतर युक्त रहना रूप जो आत्मसाक्षात्कार का साधन है, उसी की ही फिर आवश्यकता होती है, अन्य साधन की नहीं। इसी रहस्य को, जो पूर्व अध्याय में संक्षेप से दर्शाया जा चुका है, भगवान् अब स्पष्ट रूप से ऐसे कहते हैं कि हे अर्जुन! जो मुनि लोग योग * में आरूढ़ होने की इच्छावाले हैं, अर्थात्

---

* योग से यहाँ तात्पर्य कर्मयोग नहीं किंतु पातंजल योग के सूत्रानुसार चित्त-वृत्ति का निरोध अथवा मन की निरासक्त, संपूर्ण संकल्परहित, एकाग्र और शांत अवस्था अर्थात् ध्यानयोग है। यह योग प्रथम वैराग्य के विना कदापि प्राप्त नहीं होता; और वैराग्य विना निष्काम कर्म, दुःख और तत्त्वज्ञान के पुरुष में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ज्ञान सहित निष्काम कर्म प्रथम उस वैराग्य का और फिर (वैराग्य द्वारा) ध्यानयोग का कारण वा साधन कहलाता है।

जो मुनि अपने कर्त्तव्य वा निष्काम कर्म में युक्त होकर चित्त-वृत्ति के निरोध, मन की एकाग्रता वा निरासक्ति और समत्वबुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त होना चाहते हैं, अथवा जो पुरुष पूर्ण रूप से एकाग्र, शांत, निरासक्त और सम चित्त होना चाहते हैं, अर्थात् जो अभी इस प्रकार के योग के जिज्ञासु हैं, उनके लिए उक्त अवस्था की प्राप्ति का कारण (साधन) कर्म ही है, अर्थात् ऐसी जिज्ञासावाले मुनियों को तो नित्य निष्काम कर्म ही करते रहना चाहिए। पर जो पुरुष योगारूढ़ हैं, अर्थात् जो योगी निष्काम कर्म द्वारा चित्त के निरोध वा मन की निरासक्ति तथा समत्वबुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त हो चुके हैं, उनके लिए तो आत्मसाक्षात्कार-निमित्त चित्त की निरोध वा शांत अवस्था में तो अब निरंतर तत्त्वचिंतन ही साधन है। अर्थात् ऐसे योगारूढ़ पुरुषों को चाहिए कि वे अब बाह्य कर्मों को छोड़कर, एकांत स्थान में स्थित होकर, चित्त की इस निरोध वा शांत अवस्था में महावाक्यों के अर्थों का चिंतन करते-करते (इस चिंतन की निरंतर धारा से) निजस्वरूप के ध्यान में ऐसे लीन हों कि उन्हें मनोनाश और वासनाक्षय तथा आत्मसाक्षात्काररूप समाधि वा निजानंद का अक्षय सुख प्राप्त हो जाय ॥ ३ ॥

चौथी व्याख्या—हे अर्जुन ! ‘ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’’ “प्रमाणविपर्ययविकल्प निद्रास्मृतयः इति।” (योग १, १, २), इन सूत्रों से स्पष्ट है कि चित्त-वृत्तिके निरोध का नाम योग है। और * प्रमाण,

---

* पाँचों वृत्तियों का सविस्तर वर्णन ऐसे है—(१) प्रमाण उसको कहते हैं जो प्रमा (ज्ञान) का कारण हो, अर्थात् जो ज्ञान के उत्पन्न करनेवाला हो। यह प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिरूप से छे प्रकार का कहलाता है। (२) विपर्यय मिथ्या

विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, ये पाँच चित्त-वृत्तियाँ हैं। जब ये पाँचों वृत्तियाँ किसी उपाय से निरोध को प्राप्त हुई होती हैं, तब वह योगारूढ़ अवस्था कहलाती है। पर चित्त-वृत्तियों का निरोध सुगमता से कर्म द्वारा ही होता है, ऐसा पूर्व अध्याय में दर्शाया जा चुका है; इसलिए चित्त-वृत्ति के निरोधरूप योग के जिज्ञासु के लिए कर्म साधन कहलाता है; अर्थात् चित्त-वृत्ति के निरोध को पाने के लिए पुरुष को निरासक्त मन से नित्य निष्काम कर्म करना चाहिए। जब निष्काम कर्म करते-करते चित्त-वृत्तियाँ पूर्ण निरासक्त अर्थात् निरुद्ध हो जायँ, तब आत्मसाक्षात्कार के लिए इस शांत (निरोध) अवस्था में महावाक्य के अर्थों द्वारा निजस्वरूप के ध्यान में निरंतर दीर्घ काल तक युक्त रहना अत्यावश्यक होता है; इसलिए निरोध को प्राप्त अर्थात् योगारूढ़ पुरुष के लिए आत्मसाक्षात्कारार्थ शम साधन कहलाता है। तात्पर्य यह कि योगारूढ़ पुरुष को आत्मसाक्षात्कार के लिए चित्त की इस शांत वा निरोध अवस्था में एक स्थान पर स्थित होकर येन केन उपाय से निजस्वरूप के ध्यान में निरंतर युक्त

ज्ञान को कहते हैं। यह विपर्यय भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश, इस भेद से पाँच प्रकार का है। (३) विकल्प उस वस्तु के ज्ञानाकार वृत्तिविशेष को कहते हैं कि जिस वस्तु का केवल शब्द से ज्ञान हो और रूप उसका न हो, जैसे वंध्या पुत्र वा शश शृंगादि। (४) निद्रा=प्रमाण, विकल्प, विपर्यय और स्मृति, इन चार वृत्तियों के अभाव का कारणरूप जो तमोगुण है, इस तमोगुण को विषय करनेवाली जो वृत्तिविशेष है, उसका नाम निद्रा है। (५) स्मृति उस ज्ञान को कहते हैं जो पूर्व अनुभव-जन्य संस्कारों से उत्पन्न हो। इस प्रकार इन पाँच वृत्तियों के निरोध का नाम पतंजलि मुनि ने योग कहा है। और इसी योग से यहाँ भगवान् का अभिप्राय दीखता है, कर्मयोग नहीं।

रहना चाहिए, और जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो ले, तब तक इस प्रकार के एकांत अभ्यास में प्रवृत्त रहना चाहिए; क्योंकि अंत में इसी साधन वा अभ्यास से परमानंद की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥ *

संबंध—(१) पुरुष योगारूढ़ कब होता है, इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) पूर्ण निरासक्त रूप योगारूढ़ पुरुष के भगवान् अब लक्षण कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

---

* श्रीज्ञानदेवजी अपने निराले ढंग से इसकी ऐसे व्याख्या करते हैं—"अब हे पार्थ ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचना हो तो इस कर्म-मार्गरूपी ज़ीने को मत छोड़ो । इस मार्ग से यम-नियमरूपी आधार भूमि पर से आसनरूपी पगडंडी पकड़कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो । फिर प्रत्याहाररूपी मध्यभाग आवेगा, जहाँ बुद्धि के भी पैर फिसलते हैं, और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं । तथापि अभ्यास के बल से प्रत्याहार के निरालंब आकाश में धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जावेगा । इस प्रकार वायुरूप घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो जब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ । तब फिर इस मार्ग से चलना बंद हो जावेगा । मन की हाव भी बंद हो जावेगी । ब्रह्मानंद की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जावेंगे, आगे चलना बंद हो जावेगा, और पिछला स्मरण भी रुक जावेगा । ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जावेगी । इस उपाय से योगारूढ़ हो जो अत्यंत प्रबुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निर्णय करते हैं, सो सुनो ।"

यदा^{1}, हि^{2}, न^{3}, इन्द्रिय^{4}-अर्थेषु^{5}	जब^{1} निःसंदेह^{2} न^{3} इंद्रियों^{4} के अर्थों^{5}में	सर्व^{1}-सङ्कल्प^{2}- संन्यासी^{3}	सारे^{1} संकल्पों^{2} का त्यागी^{3} होता है
न^{1}, कर्मसु^{2}, अनुषज्जते^{3}	न^{1} कर्मों^{2} में अनुषक्त^{3} होता है	योगारूढः^{2}, तदा^{1}, उच्यते^{3}	तब^{1} योगारूढ़^{2} वह कहलाता^{3} है

पहला अन्वयार्थ—जब निःसंदेह न इंद्रियों के अर्थों में और न कर्मों में (पुरुष) अनुषक्त होता है, और सब संकल्पों का त्यागी होता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जब निश्चय करके (मनुष्य) न इंद्रियों के अर्थों में और न कर्मों में अनुषक्त होता है, तब (ऐसा) सर्व-संकल्पत्यागी (पुरुष) योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जब ठीक-ठीक न इंद्रियों के विषयों में और न कर्मों में पुरुष अनुषक्त होता है; अर्थात् जिस समय पुरुष श्रोत्रादि इंद्रियों के शब्दादि विषयों में तथा नित्य-नैमित्तिक इत्यादि कर्त्तव्य कर्मों में नितांत अनुषंग * नहीं करता, बल्कि सर्वप्रकार के संकल्पों † को संपूर्ण रूप से

---

* अनुषंग और संग में इतना भेद है कि संग केवल विषयासक्ति का नाम है, पर इस आसक्ति के टूट जाने के पश्चात् जो किंचित्-मात्र पूर्व अध्यास से विषय के ख़्याल (संस्कार वा वृत्ति) मात्र के साथ संग रहता है, उसे अनुषंग कहते हैं, अँगरेज़ी में इसे lingering attachment कहते हैं। इस अनुषंग का भी न होना योगारूढ़ का लक्षण है।

† संकल्प के अर्थ कर्म नहीं, यद्यपि संकल्प कर्म का मूल अवश्य है, "सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञः सङ्कल्प सम्भवः"=कामना का मूल संकल्प है, और यज्ञ संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं (मनु० २, २)। पर स्वाभाविक कर्मों का मूल प्रकृति है, संकल्प नहीं। और दिन भर में मनुष्य के बहुत से कर्म स्वाभाविक होते हैं और बहुत से संकल्पज। इसलिए संकल्प-त्याग

त्यागे हुए होता है; अर्थात् "यह कर्म मुझको अवश्य करना है, यह फल मुझको भोगना है", इस प्रकार के मन की वृत्तिविशेष रूप जो संकल्प हैं, और इन संकल्पों के विषयभूत जो नाना प्रकार की कामनाएँ हैं, और इन कामनाओं के साधनभूत जितने काम्य कर्म हैं, इन सबको जब संपूर्ण रूप से त्यागे हुए है, तब वह पुरुष योगारूढ़ कहलाता है। तात्पर्य संक्षेप से यह है कि जब तक एक भी कामना, संकल्प और कर्तृत्व अभिमान वा किंचित् मात्र भी लगाव किसी अनात्म वस्तु के साथ हृदय में है, तब तक पुरुष (सर्वसंकल्प-त्यागरूपी) योग-प्राप्ति के प्रयत्न में है, योगारूढ़ नहीं है। पर जब निष्काम कर्म द्वारा वह उक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब वह योगरूढ़ कहलाता है॥ ४॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन! जब पुरुष निश्चय करके न इंद्रियों के अर्थों (विषयों) में और न कर्मों में अनुषक्त होता है, अर्थात् जब कर्मों और विषयों में पुरुष की संपूर्ण रूप से निरासक्ति हो जाती है; अर्थात् जब मनुष्य के हृदय में एक भी संकल्प किसी कामना या कर्म या विषय का नहीं रहता, बल्कि सब संकल्पों को त्यागे हुए होता है, तब ऐसा समस्त *

से काम्य वा संकल्पित कर्म छूट जाते हैं, न कि स्वाभाविक; परंतु कुछ टीकाकारों ने संकल्प के अर्थ कर्म लेकर सर्व संकल्प-संन्यासी से अभिप्राय समस्त कर्मों का त्यागनेवाला लिया है, जो यहाँ बिलकुल युक्त नहीं बैठता।

* कई व्याख्याकारों ने यहाँ सारे संकल्पों के त्यागी से अभिप्राय सारी कामनाओं और कर्मों के त्यागी से लिया है जो युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्व श्लोक २ में उन्हीं ने संन्यस्त-संकल्प का अर्थ काम्यबुद्धिरूप फलाशा अथवा कर्म-फल का त्याग किया है, और उसी का अभी तक विषय चल रहा है। इसलिए सर्व संकल्प त्यागी का उचित अर्थ वा अभिप्राय यहाँ

संकल्पों का त्यागनेवाला पुरुष योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥ *

संबंध—(१) योगारूढ़ होने के पश्चात् फिर उस पुरुष को क्या कर्त्तव्य है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त योगारूढ़ अवस्था पा लेने पर फिर और आगे उन्नति कैसे होती है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥†

सब संकल्पों वा फल-कामनाओं का अथवा सब काम्य कर्मों का त्यागी ही है, समस्त कर्मों का त्यागी नहीं ।

* श्रीज्ञानदेवजी ने अनोखे ढंग से इस श्लोक की व्याख्या ऐसे की है— "जिसके इंद्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं है, जो आत्म-ज्ञान की कोठरी में सोता है, सुख-दुःखरूपी शरीर से संघटित होते भी जिसका मन जाग्रत् नहीं होता, जो पास आये हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता, इंद्रियगण कर्म में प्रवृत्त हों तथापि जो फल के हेतु की अंतःकरण में कभी इच्छा नहीं करता, इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जाग्रति में भी निद्रित दिखाई देता है, वही भली भाँति योगारूढ़ हुआ समझो ।

† इस विषय पर महाभारत (५. ३४. ६४) और विष्णुपुराण (६. ७. २८) में ऐसे श्लोक हैं—

"आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥"
"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा ॥ २८ ॥"

अर्थ—मनुष्य को अपने आप ही मन, इंद्रिय और बुद्धि को जीत कर अर्थात् उन्हें अपने वश में करके आत्मा को (अपने आपको)

उद्धरेत्^{3},	आत्मा^{1} से	आत्मा^{2}, एव^{3},	^{1}क्योंकि आत्मा^{2}
आत्मना,	आत्मा^{2} का	हि^{1}, आत्मनः^{4},	ही^{3} आत्मा^{4} का
आत्मानं^{2}	उद्धार^{3} करे	बन्धुः^{5}	बंधु^{5} है
न^{2}, आत्मानं^{1},	आत्मा^{1} को न^{2}	आत्मा^{1}, एव^{2},	आत्मा^{1} ही^{2}
अवसादयेत्^{3}	नीचे गिरावे^{3}	रिपुः^{4}, आत्मनः^{3}	आत्मा^{3} का शत्रु^{4} है

अन्वयार्थ—(मनुष्य) आत्मा * से आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरावे। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बंधु है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥ †

जानना चाहिए, अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, क्योंकि आत्मा (यह मन बुद्धि संघात) ही मनुष्य का मित्र है और यह आत्मा ही मनुष्य का शत्रु है ॥ ६४ ॥

मनुष्य का मन ही उसके मोक्ष और बंधन दोनों का कारण है। इंद्रिय-विषयों में उसके आसक्त होने से वह बंधन का कारण होता है और उन विषयों में न फँसने से वह मुक्ति का कारण होता है ॥ २८ ॥

* आत्मा इस मनुष्य-शरीर में एक नहीं किंतु अनेक कहलाते हैं। आत्मा यों तो उस शक्ति को कहते हैं कि जो किसी दूसरी वस्तु पर किसी प्रकार के आकृति-परिणाम का प्रभाव डाल सकती है। और यह स्पष्ट ही है कि अपने आकृति (रूप) पर इंद्रियों और तन्मात्रा का प्रभाव पड़ता है, इंद्रियों पर मन का, मन पर अहंकार का, अहंकार पर बुद्धि का, और बुद्धि पर पुरुषोत्तम परमात्मा का प्रभाव पड़ता और पड़ सकता है, इसीलिए ये सब (इंद्रियाँ और तन्मात्रा आदि) आत्मा कहलाते हैं, यद्यपि पुरुषोत्तम परमात्मा इन सब शक्तियों का आधारभूत होने से वास्तव में एक शुद्धात्मा कहलाता है। उक्त सब आशय का समुच्चयार्थ एक शब्द "अपना आप" में ठीक आ जाता है, इसलिए आत्मा के अर्थ यहाँ 'अपना आप' ही किये गये हैं।

† इस श्लोक के समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इंद्रिय

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि योगारूढ़ अवस्था मनुष्य-उन्नति का अंतिम लक्ष्य नहीं, अर्थात् यह अवस्था प्राप्त कर लेने पर उन्नति की सीमा समाप्त नहीं होती, और न यह नियम ही है कि पुरुष योगारूढ़ हो जाने पर नित्य संकल्प-रहित रह सके और अपनी प्राप्त अवस्था से फिसलने न पावे, बल्कि संभव है कि योगारूढ़ अवस्था पाने के थोड़े ही काल पीछे वह पुनः कामनाओं वा संकल्पों के जमघट में आ घिरे। इसलिए उसे चाहिए कि वह इतने पर ही बस न करे, बल्कि इस (अवस्था) के पाने के बाद वह अपने आपसे अपने आपका उद्धार करता रहे, और अपने आपको इस संसार-समुद्र में पुनः डूबने वा आसक्त होने न दे। अर्थात् जैसे ऊपर कहा है कि योगारूढ़ होने के लिए कर्म आवश्यक (वा साधन) है, और योगारूढ़ की स्थिति पा लेने पर आगे को

वा काम भी एक आत्मा है, मन भी एक आत्मा है, और बुद्धि, अहंकार यह भी एक आत्मा है। बुद्धि और अहंकार को उत्तम मनस् वा पर-मनस् भी कहते हैं। और मन को अधम मनस् वा अवर मनस् भी कहते हैं। इस परमनस् की ही एक किरण यह अवर मनस् है जो बाह्य ज्ञान-प्राप्ति के लिए काम-तत्त्व में उतरती है और उसके द्वारा बाहर ब्रह्मांड में फैलकर बाह्य विषयों के ज्ञान की वासना लेकर फिर उसी मार्ग से वापस लौटती परमनस् में जा मिलती है। जब यह किरण कामजाल में फँस जाती और ज्ञान-प्राप्ति का यत्न नहीं करती है, तो अंत में अधोगति को प्राप्त होते-होते परमनस् से मानों सर्वथा अलग ही हो जाती है। ऐसा होने से महा कष्ट और अंत में सर्वथा हानि ही प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि आत्मा को, अर्थात् अवर मनस् को आत्मा से, अर्थात् परमनस् की निरोध शक्ति से, ऊपर को निकाले, अर्थात् काम-तत्त्व में फँसने न दे, बल्कि वहाँ से निकालकर ऊपरवाले परमनस् के साथ मिलने के योग्य करे।

अधिक उन्नति (आत्मसाक्षात्कार) के लिए बाह्य कर्मों को छोड़ कर एकांत में अभ्यासरूपी शम का उपाय वा साधन अवश्य है; इस प्रकार जब पुरुष निष्काम कर्म द्वारा योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त हो जाय, तब उसे चाहिए कि वह अपनी तृष्णा-रहित वा संकल्प-निवृत्तिरूप शम अवस्था से युक्त हुआ एकांत स्थान में स्थित होकर अपने आत्मचिंतन, अर्थात् अपने आत्म-ध्यान के बल से अपने आपका उद्धार करे, अर्थात् अपनी अधिक उन्नति करे। और जब तक पूर्ण उद्धार, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, न हो ले, तब तक अपने चित्त की संकल्प-विकल्प-निवृत्तिरूप शम अवस्था पर ही बस न करे, अर्थात् इसी को उन्नति की अंतिम सीमा न मान ले, बल्कि निरंतर आत्म-ध्यान (तत्त्व-चिंतन) से उस अवस्था से भी ऊपर उठता हुआ निजस्वरूप के ध्यान में लीन होवे, जिससे आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति और सर्व दुःखों की हानि लाभ हो। किसी प्रकार से भी अपनी उन्नति को बंद न होने दे, क्योंकि आत्मा (अपना आप) ही आत्मा का (अपना) बंधु है, और आत्मा (अपना आप) ही आत्मा का (अपना) शत्रु है। अर्थात् पुरुष आप ही अपना हितकारी है, और आप ही अपना वैरी होता है ॥ ५ ॥

संबंध—(१) किसका आत्मा उसका बंधु है और किसका शत्रु, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) किस प्रकार रहते हुए पुरुष का आत्मा बंधु है, और किस प्रकार रहते हुए उसका आत्मा शत्रु है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बंधुः^{४}, आत्मा^{३}, आत्मनः^{२}, तस्य^{१}	उस^{१} आत्मा^{२} का आत्मा^{३} बंधु^{४} है	अनात्मनः^{२}, तु^{१}, शत्रुत्वे^{५}, वर्तेत^{७}, आत्मा^{३}, एव^{६}, शत्रुवत्^{४}	किंतु^{१} अनात्मा^{२} का आत्मा^{३} शत्रुवत्^{४} शत्रुता^{५} में ही^{६} वर्तता^{७} है
येन^{१}, आत्मा^{२}, एव^{३}, आत्मना^{४}, जितः^{५}	जिसने^{१} आत्मा^{२} से ही^{३} आत्मा^{४} जीता^{५} हुआ है		

अन्वयार्थ——निःसंदेह उस आत्मा का आत्मा बंधु है जिसने आत्मा से आत्मा जीता हुआ है। किंतु अनात्मा (न जीते हुए आत्मा) का आत्मा निःसंदेह शत्रुवत् शत्रुता में वर्तता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस पुरुष ने अपने आपको अपने आत्मिक बल से जीत लिया है, उसका अपना आप उसका मित्र है; पर जिसने नहीं जीता, उसका अपना आप उसके साथ शत्रु के * समान शत्रुता करता है। अथवा जिसने अपने शरीर, इंद्रिय, प्राण और अंतःकरणरूपी संघात (आत्मा) को अपने आत्मिक ज्ञान के बल से अपने वश में कर लिया है, उसका यह शरीर-इंद्रियरूपी संघात (आत्मा) उसके लिए मित्र है; और जिसने इस संघातरूपी आत्मा को अपने वश में नहीं किया, बल्कि जो स्वयं इस संघात के वश में आकर अपने को अनात्मा समझ रहा है, ऐसे अनात्मा का यह संघातरूप आत्मा उसके लिए बाह्य शत्रु के

---

* ये इंद्रिय, मन, बुद्धिरूप आत्मा शरीर के साथ केवल पुरुष की सेवा और सहायता के लिए उत्पन्न हुए हैं, कोई हानि पहुँचाने के लिए नहीं। इसलिए ये सब वास्तव में पुरुष के सेवक और मित्र हैं, शत्रु नहीं। परंतु जब पुरुष (इनका स्वामी) इन (सेवकों) से ठीक काम (सेवा) नहीं लेता, तब ये शत्रुवत् दिखाई देते हैं, यद्यपि ये तब भी पुरुष के वास्तव में शत्रु नहीं हो जाते। इसलिए भगवान् ने इन्हें शत्रु के तुल्य यहाँ कहा है, ठीक वा वास्तव में शत्रु नहीं।

तुल्य शत्रुता में वर्तता अर्थात् बड़ी हानि पहुँचाता है। अथवा जिस पुरुष ने अपने आत्मिक बल अथवा आत्मसाक्षात्कार से इस मनरूपी आत्मा को जीत लिया है, उसका मन उसके लिए मित्र (यार) हो जाता है; परंतु जिसने नहीं जीता, बल्कि जो इस मन के अधीन हो गया है, उसका मन उसके लिए बाह्य वैरियों के समान उसका वैरी (शत्रु) होता है। अथवा जिस बुद्धि ने अपने बल से अर्थात् विवेक-शक्ति से मन को अधीन कर लिया है, उस बुद्धि का वह मन मित्र है; और जिसने मन को तो अधीन नहीं किया बल्कि जो स्वयं मन के अधीन हो गई है, उस अधीन हुई बुद्धि का मन शत्रुतुल्य उसके साथ वर्ताव करता है, अर्थात् बुद्धि को अत्यंत हानि पहुँचाता है। संक्षेप से यह कि जिसने अपने आपको जीत लिया, अर्थात् जो जितेंद्रिय और ज्ञानवान् वा विवेकी है, वह स्वयं अपना बंधु है; और जिसने अपने आपको नहीं जीता और नहीं पहचाना, अर्थात् जो अजितेंद्रिय और अविवेकी है, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है। और श्रुति में भी स्पष्ट है कि "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥" (केन, २, ५)=इस दुर्लभ मानव जन्म को पाकर यदि इसी जन्म में आत्मा को जान लिया तो (जन्म लेना) ठीक है, यदि नहीं जाना तो बड़ी हानि है। अतएव धीर पुरुष घट-घट में आत्मा का चिंतन वा अनुभव करके इस लोक से मुँह मोड़कर अमृत (अमर) होते हैं॥ ६॥ *

---

* उक्त श्लोक ५ के फ़ुटनोट के अनुसार ऐसा भी कह सकते हैं कि कामात्मा अवर मनस् का शत्रु है और परमनस् उसका मित्र है। क्योंकि पहला अधोगति वा नाशप्राय कर देता है, और दूसरा देवता बनाता ब्रह्म

संबंध—(१) अब जितात्मा पुरुष के आत्मा की बंधुता भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जितात्मा पुरुष के फल को भगवान् अब तीन श्लोकों में कथन करते हैं—

अथवा (३) जितात्मा पुरुष के लक्षण भगवान् अब तीन श्लोकों में प्रकट करते हैं—

अथवा (४) जितात्मा होने पर ही मनुष्य ठीक योगारूढ़ हो सकता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

तक पहुँचा देता अर्थात् ब्रह्म में लीन करा देता है । अथवा अवर मनस् ही, जब काम में मग्न वा आसक्त हो, तो अपना शत्रु है, और जब परमनस् की ओर झुके, तो अपना ही वह मित्र है ।

श्रीतिलक महाराज इन दो श्लोकों (६, ७) पर ऐसे व्याख्या करते हैं—“इन दो श्लोकों में आत्म-स्वतंत्रता का वर्णन है और इस तत्त्व का प्रतिपादन है कि हरएक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिए; और प्रकृति कितनी ही बलवती क्यों न हो उसको जीतकर आत्मोन्नति कर लेना हरएक के स्वाधीन है । मन में इस तत्त्व के भली भाँति जम जाने के लिए ही एक बार अन्वय से और फिर व्यतिरेक से—दोनों रीतियों से—वर्णन किया है, कि आत्मा अपना ही मित्र कब होता है, और आत्मा अपना शत्रु कब हो जाता है, और यही तत्त्व फिर (१३. २८ श्लोक) में भी आया है । संस्कृत में ‘आत्मा’ शब्द के ये तीन अर्थ होते हैं । (१) अंतरात्मा, (२) मैं स्वयं, और (३) अंतःकरण या मन । इसी से यह आत्मा शब्द इसमें और अगले श्लोकों में अनेक बार आया

जित[१]-आत्मनः[२], प्रशान्तस्य[३], परमात्मा[४], समाहितः[५]	जीते[१] हुए आत्मा[२] और शांत[३] हुए का परमात्मा[४] (परम स्वरूप) समाधिस्थ[५] (एकाग्र होता) है	शीत[१]-उष्ण[२]-सुख[३]-दुःखेषु[४], तथा[५], मान[६]-अपमानयोः[७]	सर्दी[१], गरमी[२], सुख[३], दुःख[४] और[५] मान[६]-अपमान[७] में

अन्वयार्थ—प्रशांत और जितात्मा का परमात्मा * शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित रहता है ॥ ७ ॥

है। अब बतलाते हैं कि आत्मा को अपने अधीन रखने से क्या फल मिलता है।"

* 'परमात्मा' शब्द का पदच्छेद यदि 'परं-आत्मा' इन दो पदों से किया जाय और परं का अर्थ 'केवल' लिया जाय, तो यह अर्थ होगा कि—"केवल जितात्मा पुरुष का आत्मा एकाग्र होता है, अन्य का नहीं।" यही तात्पर्य श्री श्रीधर ने लिया है। श्रीशंकराचार्य ने 'परमात्मा' एक पद लिया है और उसकी जीव के साथ अभेदता दर्शायी है। श्री रामानुज ने परमात्मा को एक पद मानकर यह लिखा है कि जीवात्मा ही यहाँ परमात्मा कहा है; क्योंकि उसी का यहाँ प्रकरण है, और वह भी पूर्वापर अवस्था की अपेक्षा से परम आत्मा है, अर्थात् अन्नमय आत्मा आदि की अपेक्षा से परमात्मा है। श्रीतिलक महाराज ने इस शब्द की ऐसे व्याख्या की है कि "इस श्लोक में 'परमात्मा' शब्द आत्मा के लिए ही प्रयुक्त है। देह का आत्मा सामान्यतः सुख-दुःख की उपाधि में मग्न रहता है; परंतु इंद्रिय-संयम से उपाधियों को जीत लेने पर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमेश्वरस्वरूपी या परमात्मरूपी बना करता है। परमात्मा कुछ आत्मा से विभिन्न स्वरूप का पदार्थ नहीं है, आगे (गी० १३, २२ और ३१) में ही कहा है कि मानवी शरीर में रहनेवाला आत्मा ही तत्त्वतः परमात्मा है। महाभारत में भी यह वर्णन है—'आत्मा

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसने अपने आपको, अर्थात् मन-इंद्रिय सहित शरीर को, अपने वश कर लिया है, और इसी से

क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥' अर्थ—प्राकृत अर्थात् प्रकृति के गुणों से (सुख-दुःख आदि विकारों से) बद्ध रहने के कारण आत्मा को क्षेत्रज्ञ या शरीर का जीवात्मा कहते हैं; और इन गुणों से मुक्त होने पर वही परमात्मा हो जाता है (म. भा. शां. १८७, २४) I................अद्वैत वेदांत का सिद्धांत भी यही है। जो कहते हैं, कि गीता में अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं है, विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैत ही गीता को ग्राह्य है, वे 'परमात्मा' को एक पद न मान 'परं' और 'आत्मा' ऐसे दो पद करके 'परं' को 'समाहितः' का क्रिया-विशेषण समझते हैं। यह अर्थ क्लिष्ट है; परंतु इस उदाहरण से समझ में आ जावेगा कि सांप्रदायिक टीकाकार अपने मत के अनुसार गीता की कैसी खींचातानी करते हैं।''

हमारे विचार में तो 'आत्मा' 'परमात्मा' ये दोनों सापेक्षक शब्द हैं, और निरपेक्ष परमात्मा वा आत्मा न कभी किसी के अधीन हुआ न हो सकता है, और न इसीलिए आज तक किसी से जीता गया और न जीता जा सकता है। वह तो अपने स्वरूप में अज, अमर, स्वतंत्र, स्वतःस्थित, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, निर्विकार, कूटस्थ और अचल है। ऐसे परमात्मा वा आत्मा के विषय में तो भगवान् उसे अधीन हुआ या क्षुभित अवस्था से निकलकर समाहित हुआ कह ही नहीं सकते; इसलिए परमात्मा वा आत्मा ये दोनों शब्द सापेक्ष रूप से यहाँ आये हैं। जैसे पूर्व श्लोक ५ में सापेक्ष आत्मा एक नहीं किंतु बहुत दर्शाये गये हैं, वैसे सापेक्ष रूप से परमात्मा भी शरीर में एक नहीं किंतु बहुत से कहे जा सकते हैं। अर्थात् जैसे देह में जड़रूप की अपेक्षा से इंद्रियाँ (जिनका रूप पर प्रभाव पड़ता है) आत्मा हैं, और इंद्रियों की अपेक्षा से मन (जिसका उन इंद्रियों पर प्रभाव पड़ता है) आत्मा

जिसका आत्मा अर्थात् अंतःकरण शुद्ध वा शांत हो गया है, ऐसे जितेंद्रिय और शांतात्मा का परमात्मा (परमस्वरूप) शीत-उष्ण (सर्दी-गरमी), सुख-दुःख तथा मान-अपमान (इज़्ज़त, बेइज़्ज़ती) में समाहित (अचल, एकाग्र, सम वा स्थिर) रहता है। तात्पर्य इसका यह है कि--जैसे मन और इंद्रियों के अधीन हुए (अनुचर वा अजितेंद्रिय) पुरुष को अपनी इंद्रियों के चलायमान होने से अथवा मन के दुःखी-सुखी होने से उसे अपना अंतरात्मा (परमस्वरूप) भी चलायमान और दुःखी-सुखी प्रतीत होता है, वैसे जितात्मा (मन और इंद्रियाँ जिसके अधीन हो गई हैं) और प्रशांत चित्त पुरुष को इन (सुख-दुःखरूप) अवस्थाओं में अपना परमस्वरूप चलायमान या दुःखी-सुखी प्रतीत नहीं होता, बल्कि इसके विरुद्ध उसे प्रत्येक दशा में वह अडोल, अचल, निर्विकार, सम और पूर्ण शांत ही अनुभव होता रहता है ॥ ७ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन ! जिसने अपने आपको, अर्थात् मन-इंद्रिय इत्यादि को जीत लिया है और इसी से जो उक्त शम अवस्था से पूर्ण युक्त हुआ है, उसका यह लक्षण होता है कि वह

है, इत्यादि; वैसे ही इंद्रियरूप आत्मा की अपेक्षा से मन (जो इंद्रियों से परम अर्थात् अधिक शक्तिवाला और बलवान् है, और जिसके आश्रय इंद्रियाँ काम करती हैं) परमात्मा है, और मन की अपेक्षा से बुद्धि (जो मन से भी अति सूक्ष्म और बलवान् है) परमात्मा है, और ऐसे ही बुद्धि की अपेक्षा से जीव, तथा जीव की अपेक्षा से परमात्मा वा शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है । इस प्रकार परमात्मा के अर्थ यहाँ मन और बुद्धि भी हो सकते हैं, परंतु शुद्ध वा निरपेक्षस्वरूप की दृष्टि से परमस्वरूप (आत्मा) ही होते हैं । (टीकाकार)

अर्थात् उसका परम बलवान् मन सर्दी-गरमी, सुख और दुःख में, तथा मान-अपमान में अचल, स्थिर और एक समान रहता है। अर्थात् शांत और जितात्मा होने के पश्चात् उस मनुष्य (या मन) पर ये शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान इत्यादि द्वंद्व किंचित् अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, जिससे वे उसे चलायमान, अस्थिर वा क्षुभित नहीं करते, बल्कि वह इन सब अवस्थाओं में नित्य अचल और एक समान ही रहता है ॥ ७ ॥

संबंध—(१) उक्त जितात्मा और सब अवस्थाओं में समाहित (योगारूढ़) पुरुष आत्मसाक्षात्कार से तृप्त हुआ पूर्ण योगी (बढ़ा-चढ़ा योगी वा समाधिस्थ) होता है ; इसे भगवान् अब कथन करते हैं—

अथवा (२) जितात्मा योगारूढ़ पुरुष कब पूर्ण युक्त (पूर्ण सिद्ध वा समाधिस्थ) होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) जितात्मा जिन लक्षणों से योगारूढ़ अवस्था से बढ़कर सिद्ध वा युक्त कहलाता है, उन लक्षणों को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान^{1}-विज्ञान^{2}-तृप्त^{3}-आत्मा^{4}	ज्ञान^{1}, विज्ञान^{2} से तृप्त^{3} आत्मावाला^{4}	युक्तः^{6}, इति^{7}, उच्यते^{8}, योगी^{5}, सम^{4}-लोष्ट^{1}-अश्म^{2}-काञ्चनः^{3}	ढेला^{1} पत्थर^{2} और सोने^{3} को समान^{4} (समझनेवाला) योगी^{5} युक्त^{6} है, ऐसा^{7} कहा जाता है^{8}
कूट^{1}-स्थः^{2}, विजित^{3}-इन्द्रियः^{4}	अहरन^{1} के तुल्य अचल स्थित^{2} और जीती^{3} हुई इंद्रियोंवाला^{4}		

अन्वयार्थ——ज्ञान-विज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ, जीती हुई इंद्रियोंवाला, ढेला-पत्थर और सोना को एक समान समझनेवाला योगी 'युक्त' है, ऐसा कहा जाता है ॥ ८ ॥

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! जिस योगी (योगारूढ़ वा ध्यानयोगी) का आत्मा (चित्त या अपना आप) अपने परम-स्वरूप के ज्ञान * और विज्ञान, अर्थात् परोऽक्षज्ञान और अपरोऽक्षज्ञान से तृप्त (प्रसन्न और संतुष्ट) हो गया है; जो योगी कूटस्थ † रहता है, अर्थात् अहरन के तुल्य विषयों के समीपस्थ होने पर भी जो अचल और निर्विकार रहता है; जिस योगी ने अपनी इंद्रियों को जीता हुआ अर्थात् पूर्ण वश में किया हुआ है; और जिस योगी को मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण सब एक समान हो गये हैं; ऐसा योगी पूर्ण युक्त, अर्थात् पूरा-पूरा समाधिस्थ वा सिद्ध कहलाता है ॥ ८ ॥

---

* ज्ञान जो उपदेश से प्राप्त हुआ हो, अथवा गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुई जो शास्त्रोक्त पदार्थों के विषय करनेवाली बुद्धि । विज्ञान जो अपने अनुभव से प्राप्त हो, अथवा उक्त बुद्धि की वृत्तिरूप विचार से उन शास्त्रोक्त पदार्थों का अनुभव । (पहला) जो शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्राप्त हुआ बोधरूप ज्ञान है, वह परोऽक्ष ज्ञान होता है । और (दूसरा) जो अपने अनुभव से स्वतः प्राप्त विज्ञान है, अथवा उक्त शास्त्रोक्त ज्ञान का जो अनुभवरूप विज्ञान है, वह अपरोऽक्ष ज्ञान होता है; इसके होने पर फिर इसी के शास्त्रोक्त वा उपदिष्ट ज्ञान में कोई संशय वा भ्रम नहीं रहता । इसलिए पहले ज्ञान को परोऽक्ष और दूसरे विज्ञान को अपरोऽक्ष ज्ञान कहते हैं । श्रीरामानुज के अनुसार—"आत्मा के स्वरूप का जानना ज्ञान है, और उसको प्रकृति से विजातीयस्वरूप से जानना विज्ञान है ।" पर श्रीशंकराचार्यजी शास्त्रोक्त पदार्थों को समझने का नाम ज्ञान और शास्त्र से समझे हुए भावों को वैसे ही अपने अंतःकरण में प्रत्यक्ष अनुभव करने का नाम विज्ञान कहते हैं ।

† कूटस्थ के अक्षरार्थ (कूट=अहरन+स्थ=ठहरा हुआ) अहरन

दूसरी व्याख्या —हे अर्जुन ! जब योगारूढ़ पुरुष अभ्यास द्वारा आत्मा के ज्ञान और विज्ञान से प्रसन्न और संतुष्ट होता है ; जब अहरन के तुल्य वह निर्विकार वा कूटस्थ होता है, अर्थात् जब योगारूढ़ का चित्त विषयों इत्यादि से किंचित् चलायमान नहीं होता ; जब उसकी समस्त इंद्रियाँ अपने अधीन हुई होती हैं ; और जब उसकी वृत्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है (अथवा उसकी तत्त्वदृष्टि ऐसी परिपक्क अवस्था को प्राप्त हुई होती है) कि उसे मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण सब एक समान भान होने लगते हैं ; तब कहते हैं कि उस योगारूढ़ का आत्मा (चित्त वा अपना आप) पूर्ण समाहित (समाधिस्थ) है, अथवा तब उस योगारूढ़ की अवस्था पूर्ण ध्यान में युक्त,* पूर्णसिद्ध और योग के उच्च शिखर (गति) को प्राप्त हुई कही जाती है ॥ ८ ॥ †

बनकर ठहरा हुआ । तात्पर्य यह कि जैसे अहरन पर दिन-रात ताँबा-चाँदी कूटते रहते हैं, पर वह अहरन उन चोटों से हिलती-डुलती नहीं, किंतु अचल ही रहती है ; वैसे विषयों के समीपस्थ होने पर (अथवा विषयभोगों से) भी जब उनके प्रभाव मन पर पड़ रहे हों और वह मन वा अंतःकरण विषयों के उन प्रभावों से किंचित् हिले-डुले नहीं किंतु अचल रहे, तो वह अवस्था कूटस्थ कहलाती है ।

* 'युक्त' शब्द से अभिप्राय यहाँ चित्त की वह अवस्था है जो योग के जिज्ञासु और योगारूढ़ दोनों की अवस्था से बढ़ी-चढ़ी वा श्रेष्ठ हो । इसलिए युक्त पुरुष इन दोनों (योगारूढ़ और योग के जिज्ञासु) से विलक्षण और उत्तम है ।

† श्रीज्ञानदेवजी ने अनोखे ढंग से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या की है—"यह जो संसारज्ञानात्मक भाव है, सो विचारते ही उस (योगीश्वर) को मिथ्या जान पड़ता है । और ज्यों ही विचार करता है, त्यों ही वह

संबंध–(१) उक्त युक्त अर्थात् पूर्ण सिद्ध वा समाहित अवस्था से भी जो और श्रेष्ठ अवस्था है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) जड़ पदार्थों की अपेक्षा जो चेतन पदार्थों में भी समबुद्धि रखता है, वह उक्त (केवल जड़ पदार्थों में समबुद्धि रखनेवाले) युक्त पुरुष से भी अधिक वा विशेष युक्त है, ऐसा भगवान् अब दर्शाते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद्^{१}-मित्र^{२}-	सुहृद्^{१}, मित्र^{२},	साधुषु^{१}, अपि^{४},	साधुओं^{१} और^{२}
अरि^{३}-उदासीन^{४}-	शत्रु^{३}, उदासीन^{४},	च^{२}, पापेषु^{३},	पापियों^{३} में भी^{४}
मध्यस्थ^{५}-द्वेष्य^{६}-	मध्यस्थ^{५}, द्वेष्य^{६},	सम^{५}-बुद्धिः^{६},	सम^{५}-बुद्धि^{६} पुरुष
बन्धुषु^{७}	और बन्धुओं^{७} में	विशिष्यते^{७}	विशेष^{७} (उत्कृष्ट) है

स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है। फिर 'मैं व्यापक हूँ कि अव्यापक हूँ' ऐसा तर्क करना द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप बंद हो जाता है। इस प्रकार जिसने इंद्रियों को जीत लिया है, सो यद्यपि देहधारी हो तथापि योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझा जाता है। जितेंद्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी यह छोटा और वह बड़ा ऐसा भेद नहीं जानता, जो मेरु पर्वत जैसा विशाल, स्वर्ण का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों समान ही समझता है, और जो इतना निरिच्छ है कि जिसके आगे पृथिवी का मोल भी थोड़ा है, ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को भी पत्थर के समान समझता है; तो फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र ऐसे विचित्र भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है?"

अन्वयार्थ——सुहृद् *, मित्र, शत्रु †, उदासीन ‡, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधुओं, साधुओं और पापियों में भी (जो) समबुद्धि (है वह) विशिष्ट है ॥ ९ ॥

---

* सुहृद् और मित्र में संक्षेप से भेद यह है कि सुहृद् केवल शुभचिंतक होता है, और मित्र केवल स्नेही या सखा होता है। अन्य टीकाकार भी लगभग ऐसे ही अर्थ देते हैं——सुहृद्="प्रत्युपकार का ख़्याल न करके उपकार करनेवाला" (श्रीशंकराचार्य)। "स्वभाव से ही हित चाहनेवाला" (श्री श्रीधर)। "प्रत्युपकार का ख़्याल न करके तथा पूर्वले स्नेह और संबंध के विना ही उपकार करनेवाला" (श्रीमधुसूदन)। और मित्र जो केवल स्नेही या स्नेह के वश हुआ शुभचिंतक होता है। श्रीरामानुज के अनुसार इनका ऐसा भेद है——"वह हितैषी जो अपने बराबर की अवस्था के हों, वे मित्र; और जो अवस्था में बराबर न हों, वे सुहृद् कहलाते हैं।"

† शत्रु और द्वेष्य में यह भेद है कि——शत्रु वह है जो अपने क्रूर स्वभाव के कारण विना ही बिगाड़ के बिगाड़ करे, अथवा जो सामने और पीठ पीछे बुरा चाहे और वैसा ही करे; अथवा श्रीरामानुजानुसार "जो किसी निमित्त से हमारा बुरा चाहे"। और द्वेष्य वह है कि——(१) जिसने हमारा कुछ बिगाड़ा है जिससे द्वेष के योग्य है; (२) अथवा दूसरे का भला देखकर जो कुढ़े; (३) या जो ऊपर से तो मेल रक्खे, पर भीतर से शत्रुता रक्खे; (४) या जो अपकार किये जाने पर द्वेष करता हो।

‡ उदासीन और मध्यस्थ में यह भेद है कि——जो दो झगड़नेवालों से निःसंबंध और बेपरवाह हो, अर्थात् जो दो झगड़नेवाले दलों के पुरुषों में से न किसी का भला चाहे और न बुरा, वह उदासीन है। और जो उन दोनों में से किसी का पक्ष तो न ले, पर उनका भला चाहे, वह मध्यस्थ है। बंधु=रिश्तेदार, अथवा जो किंचित् संबंध के कारण उपकार

व्याख्या—हे अर्जुन ! मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और पत्थर इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझना इतना कठिन नहीं जितना कि चेतन पदार्थों में (अपने मित्र, शत्रु इत्यादि में) समताभाव रखना कठिन है। इसलिए "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८) इस नियमानुसार यद्यपि मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और पत्थर इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझनेवाला अर्थात् उन्हें सम भान करनेवाला पुरुष भी युक्त अर्थात् पूर्ण सिद्ध वा समाधिस्थ योगी है; परंतु इससे भी अधिक युक्त अर्थात् सर्वप्रकार से परिपूर्ण समाहित, विशेष सिद्ध, वा बढ़ी-चढ़ी अवस्थावाला योगी वह पुरुष है कि जो सुहृदों (अपने शुभचिंतकों), मित्रों (सखा या स्नेही पुरुषों), शत्रुओं (वैर करनेवालों), उदासीनों (बेपरवाहों, वा निःसंबंधी पुरुषों), मध्यस्थों (दोनों पक्षों का भला चाहनेवालों), द्वेष्यों (द्वेष किये जाने योग्य, अथवा अप्रिय पुरुषों), बंधुजनों तथा साधुओं (भले या सदाचारी पुरुषों) और पापियों (बुरे अथवा दुराचारी पुरुषों) में भी सम बुद्धि रखता है । संक्षेप से यह कि जो केवल जड़ पदार्थों में ही एक समान बुद्धि नहीं रखता किंतु इससे बढ़कर चेतन पदार्थों (प्राणिमात्र) में भी समबुद्धि रखता है, वह योगी विशेष करके युक्त है, अथवा उक्त (केवल जड़ पदार्थों में ही एक समान

करे, वह बंधु है । साधु=धर्मात्मा, भला वा सदाचारी पुरुष, अर्थात् शास्त्र-विहित शुभ कर्मों को करनेवाला । और पापी=अधर्मी, बुरा वा दुराचारी, अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्मों के करनेवाला । संक्षिप्त भाव इस श्लोक का यह है कि मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और पत्थर को बराबर समझना तो बड़े पहुँचे हुए पुरुष ही का काम है, परंतु वह उससे भी अधिक पहुँचा हुआ होता है कि जो मित्र और शत्रु आदि में अर्थात सर्वप्रकार के प्राणियों में भी समबुद्धि होता है ।

बुद्धि रखनेवाले) योगी की अपेक्षा यह (प्राणियों में समदर्शी) अधिक बढ़-चढ़कर अर्थात् अधिक श्रेष्ठ वा परिपूर्ण युक्त है ॥ ९ ॥

संबंध—इस प्रकार पूर्ण युक्त (समाधिस्थ) पुरुष का लक्षण और फल कहकर भगवान् अब उस शमरूप ध्यानयोग के साधन को कि जो पूर्व योगारूढ़ पुरुष के लिए आगे की उन्नति वा आत्मसाक्षात्कार का कारण बताया गया था, सहित उसके अंगों और विधि के विस्तारपूर्वक आगे श्लोक ३२ तक वर्णन करते हैं—

अथवा (२) समाधियोग में युक्त पुरुष का लक्षण और फल कहकर भगवान् अब उस समाधियोग को सहित अंगों के वर्णन करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥*

योगी[३], युञ्जीत[६], सततं[४], आत्मानं[५], रहसि[१], स्थितः[२]	एकांते[१] में स्थित[२] होकर योगी[३] निरंतर[४] अपने[५] आपको युक्त[६] करे	एकाकी[१], यत[२]- † चित्त[३]-आत्मा[४], निर्[६]-आशीः[५], अ-परिग्रहः[७]	अकेला[१], वश[२] में किये हुए चित्त[३] और आत्मा[४] वाला होकर आशा[५]- रहित[६] और परिग्रह[७]-रहित (होकर)

---

* इस विषय में महाभारत (५. ४३. ५६) में ऐसे वर्णन है—

"तूष्णींभूत उपासीत न चेष्टेन्मनसाऽपि च ।
उपावर्तस्व तद्ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥"

अर्थ—मौन होकर बैठे और मन से भी चेष्टा अर्थात् कर्म करने की इच्छा न करे। इस प्रकार उपासना करने से आत्मा में ही ब्रह्म अनुभव होता है।

† 'यतचित्तात्मा' यह शब्द योगी का गुणवाचक अधिक हो सकता

अन्वयार्थ---योगी अकेला एकांत में स्थित होकर, वश किये हुए चित्त और आत्मावाला, तथा आशा और परिग्रह-रहित होकर अपने आपको निरंतर (आत्मध्यान में) युक्त करे ॥ १० ॥

व्याख्या – हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक ३ में जो योगारूढ़ पुरुष के उद्धार के लिए शमरूप साधन कहा गया था, अर्थात् शारीरिक बाह्य कर्म को त्यागकर केवल एकांत में तत्त्वचिंतन से निज-स्वरूप के ध्यान में युक्त होकर साक्षात्कार करने वा अपने स्वरूप में समाधिस्थ रहने का उपाय जो पहले संक्षेप से कहा गया था उसकी विस्तारपूर्वक विधि (कि योगी को कैसे और किस प्रकार ध्यान में युक्त होना चाहिए इत्यादि) अब तुझसे कही जाती है, उसे ध्यान देकर तू सुन। हे अर्जुन ! शम साधनवाले योगारूढ़ पुरुष को यह उचित है कि वह अपने चित्त और आत्मा * (मन वा इंद्रियाँ अथवा अंतःकरण और शरीर या अपने आप) को जीतकर अर्थात् उन्हें अपने वश करके, आशा (लोक-एषणा इत्यादि सर्वप्रकार की इच्छा अर्थात् काम्य वासना वा स्वार्थ-बुद्धि से फल-आशा) और परिग्रह (स्वत्व, वा मक़बूज़ात या मिल्कियत वा धन के संग्रह और ममता) से रहित

है ; अर्थात् वह योगी जिसने चित्त और इंद्रियाँ अपने स्वाधीन की हुई हैं, वह योग में युक्त होवे। क्योंकि योगारूढ पुरुष जिसके लिए यह ध्यानयोगरूप शम साधन नियत हुआ है, उसका लक्षण भी जितात्मा है; इसलिए 'यतचित्तात्मा' यह पद योगी के लक्षण रूप से अधिक वर्ता जा सकता है।

* "आत्मा" और "आत्मानं" दोनों शब्दों से अभिप्राय यहाँ मन,

होकर, अथवा दोषदृष्टिपूर्वक वैराग्य का दृढ़ता से सब पदार्थों की तृष्णा और संग्रह से रहित होकर, (या दूसरे शब्दों में यह कि जो योगी पूर्व निष्काम कर्म की रीति से समस्त कर्मों को निरासक्त मन वा समत्वबुद्धि से करते-करते जितात्मा, विषयों वा कर्मफल की आशा-ममता से रहित हुआ योगारूढ़ हो गया है, उसे अब चाहिए कि वह) एकांत स्थान * में जाकर नितांत अकेला स्थित होवे,

---

बुद्धि वा इंद्रियाँ (अथवा अपना आप) ही है, शुद्ध निर्विकार आत्मा वा परमात्मा नहीं।

* श्रीशंकराचार्य ने "एकांत स्थान में स्थित" का तात्पर्य "संन्यास करके" लिया है। इससे यही भाव उनका हो सकता है कि संन्यासी को योगाभ्यास में बड़ी सुगमता है, यह नहीं कि गृहस्थ योग का अनधिकारी है, क्योंकि यदि गृहस्थ अनधिकारी होता, तो महा प्रस्थान काल में पांडवों को योगयुक्त कहना नहीं बन सकता (देखो महाभारत म० प्र० प० १। ३०)। जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, राम इत्यादि गृहस्थ होते हुए ही योगयुक्त थे। और सबसे बढ़कर यह स्पष्ट है कि यहाँ स्वयं योग के उपदेष्टा वा योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थ हैं, और फिर जिसको उपदेश दिया जा रहा है, वह अर्जुन भी गृहस्थ ही है। ये सब श्री शंकराचार्य आप जानते ही थे, इसलिए "संन्यास करके" इस वचन से उनका उक्त आशय ही हो सकता है। वस्तुतः "एकांत में स्थित" का सीधा तात्पर्य यह है कि जहाँ योगाभ्यास करे, वह स्थान शोरवाला न हो। वर्णाश्रम वा अवस्था का योग में कोई नियम नहीं। मनु २, १०० में ब्रह्मचारी के लिए योग कहा है। श्रीकृष्ण का यह वचन घर में रहने के प्रतिकूल नहीं। और "रहसि स्थितः" का स्पष्ट तात्पर्य योग के समय में एकांत स्थित से है, न कि नित्य एकांत में, अथवा घरबार छोड़ कर अर्थात् संन्यासी होकर बाहर जंगल, वन, पर्वत या गुहा (गुफा) में स्थित रहने से है। यह तात्पर्य भगवान् ने स्वयं अनुगीता अध्याय

और इस प्रकार वहाँ स्थित होकर फिर निरंतर अपने स्वरूप के ध्यान में अपने आपको अर्थात् अपने मन-बुद्धि-चित्त को युक्त *

---

१६ में स्पष्ट किया है, और आत्मदर्शन की रीति भी वहाँ श्लोक २१ से २२ तक में दी है। वास्तव में ध्यानयोग भीतर की वस्तु है, बाहर की नहीं, जिससे बाहर के किसी भी अवलंबन पर निर्भर नहीं है। सविस्तर देखो दक्षसंहिता (७ । २ से १० तक)। शूद्र और स्त्रियाँ भी इस योग के अधिकारी हैं "अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी। तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥"=चाहे वर्ण से निकृष्ट हो, और चाहे स्त्री हो, जो धर्म को प्यार करती है, वह भी इस मार्ग से परम गति को प्राप्त होगी। (महाभारत, शांति प० २३६, ३४)। योगियों में प्रधान महादेवजी की पत्नी दाक्षायणी ने योग द्वारा देह का त्याग किया था (देखो भागवत ४ । ८ । २४ से २७)। इस प्रकार योगाभ्यास के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह संन्यासी ही हो, वा नित्य जंगलों, वनों, पर्वतों की गुहाओं में ही रहे, और किसी घर में न रहनेवाला हो, या केवल ब्राह्मण वा क्षत्रिय ही हो, अन्य वर्ण का न हो। बल्कि तात्पर्य यह है कि चाहे कोई नीच वर्ण हो, चाहे उच्च वर्ण, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष, केवल जितात्मा, शांतचित्त और सर्वप्रकार की सांसारिक कामनाओं व संकल्पों से रहित ही इसका अधिकारी है, और उसे एकांत स्थान में अकेले बैठकर इस योग का अभ्यास करना चाहिए।

* अगले श्लोक से स्पष्ट होता है कि 'युञ्जीत' शब्द से तात्पर्य यहाँ पातंजल सूत्र का योग अथवा ध्यानयोग ही है, और योगारूढ के लिए आत्मानुभव तक इसका निरंतर करना आवश्यक है, क्योंकि विना निरंतर अभ्यास के न आत्मानुभव होता है और न योगसिद्धि ही प्राप्त होती है। परंतु 'निरंतर' शब्द से यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि सारा जीवन भर प्रतिक्षण योगाभ्यास में ही पुरुष युक्त रहे, अर्थात् अपना सारा जीवन इस एकांत अभ्यास में ही बेच डाले, क्योंकि यदि यह आशय

करे; अर्थात् लगातार योगाभ्यास (ध्यानयोग) में लगे ॥ १० ॥ *

होता तो अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश देकर फिर यहाँ योगी होने का उपदेश भगवान् उसे न देते । "तू योगी हो" ऐसा उपदेश इस अध्याय के अंत में देने से भगवान् का केवल यही तात्पर्य हो सकता है कि निष्काम कर्म करते-करते जब कि अर्जुन वा कोई पुरुष जितात्मा और शांतचित्त हो जावे, तो उसे फिर एकांत में बैठकर आत्मध्यान में चित्त को युक्त करने का अभ्यास करना चाहिए, जिससे एक ओर तो उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जावे ताकि उसकी शांतावस्था बनी रहे, और दूसरी ओर सर्वत्र समदृष्टि उसकी अधिक, दृढ़ वा स्वाभाविक होती जावे, जिसके होने पर फिर उससे (सर्वहितैषी और शांतचित्त तथा समदृष्टि होने के कारण) सबकी भलाई के लिए स्वतः कर्म होते रहें । जैसे पूर्ण विरक्त और प्रसिद्ध एकांतनिवासी श्रीशंकराचार्य आदि महानात्माओं से हुए । पर जितना काल वह इस अभ्यास के लिए एकांत में बैठे, उतना काल वह अवश्य लगातार अपने चित्त को आत्मध्यान में खूब लगावे । यदि न लग सके, तो लगातार अभ्यास वा वैराग्य के यत्न द्वारा उसे समय पाकर एकांत में नियुक्त करता रहे ।

* इस अध्याय में योग से अभिप्राय प्रायः ध्यानयोग ही है जिसको कोई-कोई महात्मा संन्यासयोग, कर्मसंन्यास वा ज्ञानयोग के नाम से भी पुकारते हैं । इस ध्यानयोग को सविस्तर वर्णन करनेवाले यद्यपि श्री पतंजलि ऋषि हैं, तथापि यह योग पतंजलि ऋषि से भी बहुत पहले का और पुराना है । उपनिषदों में उसका संक्षेप से ऐसे वर्णन है—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥" अर्थ—स्वयंभू (परमात्मा) ने इंद्रियों के छिद्रों को बहिर्मुख रचा है, इसलिए पुरुष बाहर को देखता

संबंध--शमरूप साधन अर्थात् ध्यानयोग का इतना अंग कहकर अब भगवान् उसके दूसरे अंगों (आसन और आहार-विहार आदि) का कथन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥*

है, भीतर को नहीं, अर्थात् बाह्य पदार्थों को देखता है और अंतरात्मा को नहीं, कोई ही धीर पुरुष, जिसने अमृतत्व की इच्छा की, उसने अपनी आँखों को मूँदा (बंद किया), और प्रत्यगात्मा (अंतरात्मा) को देखा। बालक (मूर्ख) बाहर की कामनाओं के पीछे जाते हैं और वे मृत्यु की फाँसों में पड़ते हैं, जो (मृत्यु) सारे फैला हुआ है। हाँ धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर यहाँ अस्थिरों में कोई स्थिर वस्तु नहीं माँगते (नहीं चाहते) हैं। (कठोपनिषत् अध्याय १, वल्ली ४, श्लोक १, २)।

* इस पर कठवल्ली उपनिषद् (२. ३. ११) में ऐसे आया है—

"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

अर्थ—यह जो इंद्रियों की निश्चल धारणा है, इसी को योग मानते हैं। उस समय, अर्थात् उक्त निश्चल धारणा के समय, योगी प्रमाद से रहित होता है, क्योंकि योग प्रभव (उत्पत्ति) और अप्यय (लय) का स्थान है, अर्थात् योग अंतर आत्म-ज्ञान की उत्पत्ति और बाह्य अनात्म-ज्ञान के लय का स्थान है।

शुचौ[१], देशे[२], प्रतिष्ठाप्य[६], स्थिरं[५], आसनं[४], आत्मनः[३]	शुद्ध[१] स्थान[२] में अपना[३] आसन[४] स्थिर[५] स्थापन[६] करके
न[१] अति[२]-उच्छ्रितं[३], न[४], अति[५]-नीचं[६]	न[१] अति[२] ऊँचा[३], न[४] अति[५] नीचा[६]
चैल[१] अजिन[२]-कुश[३]-उत्तरं[४]	वस्त्र[१], चर्म[२] और कुशा[३] है ऊपर[४] (जिसके)
तत्र[१], एक[३]-अग्रं[४], मनः[२], कृत्वा[५]	वहाँ[१] मन[२] को एक[३] रख[४] (एकाग्र) करके[५]
यत[४]-चित्त[१]-* इन्द्रिय[२]-क्रियः[३]	चित्त[१] और इंद्रियों[२] की क्रियाओं[३] को स्वाधीन[४] करके
उपविश्य[२], आसने[१], युंज्यात्[६], योगं[५], आत्म[३]-विशुद्धये[४]	आसन[१] पर बैठ कर[२] आत्मा[३] की (अपनी) शुद्धि[४] के लिए योग[५] में युक्त[६] होवे

अन्वयार्थ — शुद्ध स्थान में, न अति ऊँचा †, न अति नीचा, अपना स्थिर आसन ‡ स्थापन करके, उस पर वस्त्र ×, चर्म और

---

* "यतचित्तेन्द्रियक्रियः" यह उक्त श्लोक ३ के अनुसार यहाँ योगारूढ़ योगी का विशेषण ही हो सकता है, अर्थात् जिस योगी ने चित्त और इंद्रियों की क्रिया को स्वाधीन किया हुआ है उसे चाहिए कि वह एकांत स्थान में स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए योगाभ्यास करे। पर कई एक टीकाकारों ने इसे विधि वाक्य बना कर योगी को चित्त व इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन करने की आज्ञा कर रक्खी है।

† बहुत ऊँचे से गिरने का भय होता है, और बहुत नीचे से वायु शुद्ध ठीक नहीं मिलती, और सामान्य ऊँचे रखने से सर्वप्रकार से सुभीता रहता है, इसलिए आसन न अत्यंत ऊँचा और न अत्यंत नीचा होना कहा है।

‡ स्थिर आसन से अभिप्राय निश्चल आसन है। और आसन की निश्चलता मृत्तिकामय स्थल में ही पूर्ण हो सकती है, काष्ठमय तख़्तपोश इत्यादि से नहीं। इसलिए आसन के स्थिर विशेषण से काष्ठमय आसन की अनुपयोगिता दर्शायी है।

× वस्त्र, चर्म और कुशा श्लोक में विपरीत क्रम से कहे हैं, किंतु कुशा

कुशा (बिछा कर), वहाँ बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन किया हुआ (योगी) मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए योग में युक्त होवे ॥ ११, १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त ध्यानयोग के और अंग ये हैं कि—जो देश स्वभाव से ही शुद्ध हो. जैसे गंगातटादि, अथवा जो बुहारने और मृत्तिकादि के लेपन से शुद्ध किया गया हो, अथवा जो मंत्रों द्वारा पवित्र किया गया हो, ऐसे शुद्ध पवित्र देश (स्थान) में न अति ऊँचा न अति नीचा अपना स्थिर आसन स्थापन करके, अर्थात् ऐसे पवित्र स्थान में न अत्यंत ऊँचे और न अत्यंत नीचे किन्तु सामान्य उँचाई पर अपना आसन ऐसा जमाये कि किंचित् हिलने न पाये। उस आसन पर पहले कुशा, फिर कोमल मृग वा व्याघ्र का चर्म, और उसके ऊपर कोमल वस्त्र बिछावे। इस प्रकार सुखासन बिछाकर उसके ऊपर शम साधनवाला चित्त और इंद्रियों की क्रिया को जीता हुआ योगारूढ़ पुरुष बैठे; अथवा वहाँ बैठकर वह वैराग्य और विचार के बल से अपने चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को अपने अधीन करे; अर्थात् शब्दादि विषयों का स्मरण करना रूप जो चित्त की क्रिया है, और शब्दादि विषयों का ग्रहण करना रूप जो इंद्रियों की क्रिया है, इन सबके अधीन न होकर उन्हें अपने वश में कर, और इस प्रकार यतचित्तेन्द्रियक्रियः होता हुआ फिर आत्मशुद्धि *, अर्थात्

के ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र रखने से अभिप्राय है। और ऐसा ही अभिप्राय श्रीशंकराचार्य, श्रीमधुसूदन स्वामी इत्यादि अनेक टीकाकारों ने लिया है।

* "आत्मशुद्धि के लिए योगी योग करे" इस भाव को जो भगवान् ने ("योगी युञ्जीत सततं", "युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये", "युक्त आसीत

अंतःकरण वा अपनी सर्वप्रकार की भीतरी शुद्धि के लिए मन को एकाग्र करके वह अपने आपको अर्थात् चित्तवृत्ति को आत्म-ध्यान में पूर्ण युक्त करे; अर्थात् अंतःकरण की सर्वप्रकार की शुद्धि के लिए मन और चित्त को अपने स्वरूप के ध्यान में पूर्ण एकाग्रता से लगाता हुआ योगाभ्यास करे॥ ११, १२॥ *

संबंध—आसन पर बैठना तो कहा गया। पर कैसे होकर आसन पर बैठे; अर्थात् आसन पर बैठकर किस प्रकार शरीर को धारण करे, और फिर किस ध्यान के परायण होवे; यह सब भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

मत्परः" इत्यादि अनेक वचनों से) इस योगारूढ़ के प्रसंग में कहा है, इससे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि कर्मयोग द्वारा योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर भी चित्त की समता पर पूर्ण शुद्धि नहीं होती है और जितनी होती भी है उस शुद्धि का नित्य स्वतः बने रहना संभव नहीं, इसलिए उस पुरुष को कि जो कर्म करते-करते शांत और सम अवस्था को प्राप्त हो गया हो उचित है कि वह इस सम और शुद्ध अवस्था की स्थिति में ध्यानयोग रूप शम-साधन द्वारा अपने चित्त को निरंतर आत्म-ध्यान में युक्त रक्खे। और जब तक आत्मसाक्षात्कार से चित्त अपने निजानंद में निमग्न न हो ले, तब तक चित्त की सर्वप्रकार की शुद्धि के लिए उक्त ध्यानयोग का यत्न करता रहे, क्योंकि विना पूर्ण चित्तशुद्धि के आत्मानुभव प्राप्त नहीं होता।

* श्वेताश्वतर उपनिषद् (२. १०) में यह विषय इस प्रकार आया है—

"समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥"

अर्थ—वायु, पत्थर, अग्नि, रेता और धूल से रहित; शुद्ध, हमवार (बराबर) मन के अनुकूल और नेत्र को सुहावना लगनेवाला एकांत स्थान में बैठकर मनुष्य को योग करना चाहिए।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् । *
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

सम^4, काय^1-शिरः^{2}-ग्रीवं^{3}, धारयन्^{7}, अचलं^{5}, स्थिरं^{6}	शरीर^1 (धड़), सिर^2 (मस्तक) और गर्दन^3 को एक-समान^4 (सीधा) अचल^5 और स्थिर^6 धारण^7 करता हुआ	प्रशान्त^1-आत्मा^{2}, विगत^3-भीः^{4}	शांत^1 चित्त^2 और दूर^3 हुए भय^{4}वाला (अर्थात् निडर)
संप्रेक्ष्य^4, नासिका^{2}-अग्रं^{3}, स्वं^{1}	अपनी^{1} नासिका^{2} के अग्र^3 (नोक) को देखता^{4} हुआ	ब्रह्मचारि^{1}-व्रते^{2}, स्थितः^{3}	ब्रह्मचारी^{1} के व्रत^2 में स्थित^3 (योगी)
दिशः^{2}, च^1, अनवलोकयन्^{3}	और^1 दिशाओं^{2} को न देखता^{3} हुआ	मनः^{1}, संयम्य^2, मत्^{3}-चित्तः^{4}, युक्तः^{5}, आसीत^8, मत्^{6}-परः^{7}	मन^1 को रोककर^2, मुझमें^{3} चित्तवाला^{4}, युक्त^5 और मेरे^{6} परायण^7 हुआ बैठे^{8}

अन्वयार्थ—काय-शिर-ग्रीवा (इन तीनों) को सम, स्थिर और अचल

---

* श्रीरामानुजादि ने अपनी पुस्तकों में यह पद 'स्थिरम्' लिखा है। पर श्रीशंकराचार्य आदि कई एक भाष्यकारों की पुस्तकों में यह पद "स्थिरः" आया है। तब श्लोक के यह अर्थ होंगे—"शरीर, सिर और गर्दन को सम और अचल धारण करके, स्वयं स्थिर होता हुआ", अथवा "शरीर, सिर और गर्दन को सम अर्थात् एक समान सीधा (खड़ी रेखा में) धारण करके और स्वयं अचल स्थित होता हुआ" अभ्यास करे।

धारण करके, अपनी नासिका के अग्र * को देखते हुए, (किंतु) अन्य दिशाओं को न देखते हुए, शांतात्मा †, भय से रहित और ब्रह्मचारी ‡ के व्रत में स्थित (योगारूढ़) हुए, मन को रोककर, मुझमें × चित्त लगाये हुए मेरे परायण युक्त हुआ बैठे ॥ १३, १४ ॥

---

* नासिका के अग्र भाग को देखते रहने से यह आशय है कि नेत्र बंद न होने दे, क्योंकि नेत्र बंद होने से निद्रा आ जाती है। और न नेत्र पूरा खोले, क्योंकि नेत्र सारा खोलने से इर्द-गिर्द के विषय दृष्टिगोचर हो जाते हैं, जिससे चित्त अस्थिर हो जाता है। इसलिए आधा नेत्र बंद किये और आधा खोले हुए केवल नासिका की नोक पर दृष्टि को टिकाये, और सिवाय नासिका के अग्रभाग के और किसी ओर दृष्टि न करे।

† शांतात्मा उसको कहते हैं कि जिसके हृदय में निष्काम भाव व समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि दूर हो गये हों, और इस राग-द्वेषादि की निवृत्ति के कारण जिसका अंतःकरण (वा चित्त) सम वा शांत हो गया हो। यही लक्षण योगारूढ़ का भगवान् ने उक्त श्लोक २ और ४ में वर्णन किया है।

‡ ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित=ब्रह्मचर्य, गुरु-शुश्रूषा (गुरु-सेवा), भिक्षा, भोजन इत्यादि जो ब्रह्मचारी का व्रत है, उसमें स्थित; अथवा "ऋतौ, भार्यामुपेयात्", इस श्रुति के अनुसार गृहस्थ भी केवल ऋतुगामी होने से ब्रह्मचारी माना जाता है, ऐसे व्रत में दृढ़ पुरुष भी ब्रह्मचारी-व्रत में स्थित कहा जाता है। यह तीनों "प्रशांतात्मा, विगतभी और ब्रह्मचारिव्रते स्थितः" उसी योगारूढ़ के विशेषण हैं जिसके लिए शम साधन की आज्ञा भगवान् ने उक्त श्लोक ३ में दी है।

× "मच्चित्तः" वा "मत्परः" में जो 'मत्' शब्द आया है वह प्रत्येक पुरुष के निजस्वरूप आत्मा का बोधक है, भगवान् कृष्ण के शरीर वा उनके बाह्य रूप का बोधक नहीं। और गीताशास्त्र में जहाँ भी कहीं भगवान् ने मत् शब्द वर्ता है, वहाँ उससे तात्पर्य वास्तव में परमस्वरूप अंतरात्मा ही है। पर द्वैतवादी टीकाकार भगवान् के रूप से ही यहाँ

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त योगी की आसन पर बैठने की विधि यह होनी चाहिए कि वह काया (शरीर, धड़, कमर वा पीठ), शिर (सिर अर्थात् मस्तक), और ग्रीवा (गर्दन), इन तीनों

तात्पर्य लेते हैं । और यदि उन लोगों के विचारानुसार 'मत्' शब्द से आशय भगवान् के रूप का ध्यान ही लिया जावे (यद्यपि योगसूत्र १, १, २३ में "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" स्पष्ट है), तो एक रीति से वह भी अयुक्त नहीं होता, क्योंकि निराकारस्वरूप का ध्यान प्रथम किसी रूप द्वारा ही टिकता है । और वह रूप उस ध्यान का साधन होता है, लक्ष्य नहीं । लक्ष्य उस साकार उपासना में भी निराकार भगवान् ही होता है, और साकार को देखकर उपासक लोग बहुधा ऐसे श्लोक ही पढ़ा करते हैं—

"न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम् ।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥"

हे भगवन् ! न आपका कोई (विशेष करके) रूप है, न आकार है, न शस्त्र और न घर । तथापि भक्तों के लिए आप पुरुषाकार प्रकट होते हो । और—

"शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाकारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिहृद्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥"

अर्थ—हे सब लोकों के अकेले नाथ ! हे संसार का भय हरनेवाले ! हे योगियों के हृदय में ध्यान से प्राप्त होनेवाले ! हे कमलनयन ! हे लक्ष्मीपति ! हे शुभांग ! हे मेघवर्ण ! हे आकाश के सदृश (सूक्ष्म) ! हे विश्वाकार ! हे देवों के ईश्वर ! हे नाभिकमलवाले ! हे शेषनाग की शय्या पर शयन करनेवाले ! हे शांतस्वरूप विष्णु भगवान् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । इत्यादि ।

को अचल (अडोल) स्थिर (हिलने-जुलने से रहित) और सम अर्थात् वक्र से रहित, दंड के समान एक सार सीधा धारण करे ; अपनी नासिका के केवल अग्र भाग को देखे, अर्थात् अपने नाक की नोक पर दृष्टि टिकाये, और अन्य पूर्वोत्तरादि दिशाओं को न देखे। तत्पश्चात् वह शांतात्मा (शांतचित्त वा वा शांत अंतःकरण), भय से रहित (निडर) और ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित योगी, अर्थात् वह शांतात्मा, निर्भय, और ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित योगारूढ़ योगी मन को रोककर मुझ सच्चिदानंदस्वरूप में चित्त लगाये । और मुझमें चित्त लगाकर, या मुझमें चित्तवाला होकर आत्मध्यान में युक्त होवे, अर्थात् धारणा, ध्यान; समाधि में लगे , और ऐसे मच्चित्त और मुझ आत्मस्वरूप के ध्यान में युक्त होते हुए वह मेरे परायण हुआ बैठे, अर्थात् मुझ परब्रह्म के ही ध्यान में चित्त को लीन करता हुआ बैठे ॥ १३, १४ ॥

संबंध—उक्त प्रकार से युक्त होनेवाले योगारूढ़ अर्थात् पूर्ण योगी के फल को भगवान् अब वर्णन करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

युञ्जन्^{४}, एवं^{१}, सदा^{२}, आत्मानं^{३}	इस^{१} प्रकार सदा^{२} अपने^{३} आपको जोड़ता^{४} हुआ (युक्त करता हुआ)	शान्तिं^{५}, निर्वाण^{४}-परमां^{३}, मत्^{१} संस्थाम्^{२}, अधिगच्छति^{६}	मुझमें^{१} स्थित^{२} परम^{३} निर्वाण^{४} रूप शांति^{५} को प्राप्त^{६} होता है
योगी^{३}, नियत^{१}-मानसः^{२}	रोके^{१} हुए (निरुद्ध) मनवाले^{२} योगी^{३}		

अन्वयार्थ—इस प्रकार सदा अपने आपको (आत्म-ध्यान में) युक्त करता हुआ नियत-मनवाला योगी मुझमें स्थित परमनिर्वाण-रूप शांति को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त रीति से (जैसा कि पूर्व श्लोकों में दर्शाया गया है) जब निरोध को प्राप्त हुए मनवाला योगी, अर्थात् वह योगारूढ़ जिसने अपना मन पूर्वले श्लोक २ के अनुसार सर्व संकल्पों के त्याग से अपने वश में किया हुआ है, अपने आपको अर्थात् अपने निरुद्ध मन, बुद्धि, चित्त को नित्य मुझ परमस्वरूप (अथवा निजात्मा) के ध्यान में युक्त करता रहता है, तो वह फिर उस शांति को पाता है कि जिसकी अवधि (सीमा, अंत वा हद) परमनिर्वाण (मोक्ष) है, अथवा जो स्वयं परमनिर्वाण (मोक्ष) स्वरूप है, या जो सर्व वृत्तियों की उपरामतारूप (प्रशांतवाहिता) शांति है, अथवा जो तत्त्व-साक्षात्कार होने पर अविद्या की निवृत्तिरूप है, या जो मेरे स्वरूप में लीन होने से परमानंद देनेवाली है; और जो इसीलिए मुझ परमानंदस्वरूप में स्थित है, अर्थात् जो मेरे परमानंद-स्वरूप की निष्ठारूप है, या जो मेरी ही संस्था है, अथवा जो मेरा अपना ही वास्तव रूप है । इस प्रकार वह योगी अंत में मुझमें ही लीन हुआ कैवल्यपद पाता है ॥ १५ ॥ *

---

* इस श्लोक से भगवान् ने यह तत्त्व दर्शाया है कि जैसे हठयोगी वा अन्य प्रकार के योगी ध्यानयोग से अनात्म वस्तुओं को विषय करने की ऐश्वर्यतारूप सिद्धियों को प्राप्त होते हैं, वैसे मेरे परायण हुआ योगी इन सांसारिक सिद्धियों को नहीं किंतु परमनिर्वाणरूप शांति को प्राप्त होता है ।

संबंध—अब दो श्लोकों से भगवान् उक्त योगाभ्यासी पुरुष के आहारादि का नियम कथन करते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न^{१}, अति^{२}-अशनतः^{३}, तु^{४}, योगः^{५}, अस्ति^{६}	न^{१} अति^{२} खानेवाले^{३} का निःसंदेह^{४} योग^{५} है^{६}	न^{२}, च^{१}, अति^{३}-स्वप्न^{४}-शीलस्य^{५}	और^{१} न^{२} अति^{३} सोने^{४} के स्वभाववाले^{५} का
न^{२}, च^{१}, एक^{३}-अन्तं, अनशनतः^{४}	और^{१} न^{२} नितांत^{३} न^{४} खानेवाले का	जाग्रतः^{५}, न^{२}, एव^{३}, च^{१}, अर्जुन^{४}	और^{१} न^{२} ही^{३} हे अर्जुन^{४}! (अधिक) जागनेवाले^{५} का

अन्वयार्थ——हे अर्जुन ! निःसंदेह न अति खानेवाले, न सर्वथा न खानेवाले, न अति सोने के स्वभाववाले, और न ही (अति) जागनेवाले का योग (सिद्ध) होता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अतिशय खानेवाला (पेटू) वा नितांत न खानेवाला (निराहारी), और अतिशय सोने के स्वभाववाला (महा सुस्त) वा बहुत ही जागनेवाला (महा निद्रा तोड़), ऐसे पुरुषों को योग की प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् ऐसे पुरुष चाहे वह संकल्पों के त्याग से योगारूढ़ ही क्यों न हो चुके हों, पर उनसे योगाभ्यास ठीक नहीं हो सकता है। क्योंकि अधिक खाने से आलस्य और रोग होता है, और नितांत न खाने से दुर्बलता और व्याकुलता होती है, और यही परिणाम अधिक सोने और जागने से मिलता है, इसलिए ऐसे लोग न इस ध्यान-योग के योग्य ही होते हैं, और न इसी लिए उनको योग ठीक सिद्ध ही होता है ॥ १६ ॥*

---

* इस आहार के विषय में शतपथ ब्राह्मण में ऐसा लिखा है—"यदुह

संबंध--(३) जिस साधनावाले को योग प्राप्त होता वा हो सकता है, उसे अब भगवान् निरूपण करते हैं—

वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति, इति ।" अर्थ—जो जिसको अपने प्रमाण का अन्न है, अर्थात् जो अपने बल के प्रमाण से अथवा युक्तिपूर्वक नियत भोजन करता है, वह अन्न शरीर को रक्षा करता है और रोगादि की उत्पत्ति द्वारा उसे नाश नहीं करता, अर्थात् ऐसे नियत भोजन से शारीरिक रक्षा और निरोगिता होती है, हानि नहीं; और जो प्रमाण से अधिक अन्न है, अर्थात् जो अन्दाज़े से ज़्यादा खाया जाता है, वह रोग को उत्पन्न करके आयु को क्षीण करता शीघ्र नाश करता है; और जो प्रमाण से थोड़ा है, अर्थात् अंदाज़े से भी कम खाया जाता है, वह भी रक्षा नहीं करता है, अर्थात् उस बहुत थोड़े आहार से भी ठीक रक्षा नहीं होती है। इस श्रुति के अनुसार भी योगी पुरुष को प्रमाण (अंदाज़े) से अधिक वा न्यून भोजन करना उचित नहीं।

प्रमाण (अंदाज़े) के विषय में योगसूत्र ऐसे कहता है—"अर्द्धंसव्यञ्जनान्नस्यतृतीयमुदकस्यतु । वायोः संचारणार्थन्तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥" अर्थ—आधा पेट तो सव्यञ्जनान्न (अर्थात् दाल-शाक सहित अन्न) के लिए, और तीसरा भाग जल के लिए, और चौथा भाग प्राण वायु के सुखपूर्वक आने-जाने के लिए, ख़ाली रक्खे। इस प्रमाणानुसार योगी भोजन करे। इस आहारादि के विषय में मार्कण्डेय पुराण में अधिक स्पष्ट रूप से ऐसे लिखा है—"नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः । युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १ ॥ नाति शीते न चैवोष्णे न द्वन्द्वे अनिलान्विते । कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥ २ ॥" अर्थ—हे राजेंद्र ! योगी पुरुष अत्यंत खाकर फूला हुआ, वा अत्यंत क्षुधातुर, श्रमयुक्त और व्याकुल चित्तवाला होकर कभी आत्मा की सिद्धि अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिए योग न करे। और न अति शीत काल में, न

अथवा (२) अपने उक्त कथन को भगवान् अब अन्य रूप से स्पष्ट करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

युक्त[1]-आहार[2]-विहारस्य[3]	युक्त[1] आहार[2] विहार[3]वाले का	युक्त[1]-स्वप्न[2]-अवबोधस्य[3]	युक्त[1] सोने[2] और जागने[3]वाले का
युक्त[2]-चेष्टस्य[3], कर्मसु[1]	कर्मों[1] में युक्त[2] चेष्टा[3]वाले का	योगः[3], भवति[4], दुःख[1]-हा[2]	दुःखों[1] के नाश[2] करनेवाला योग[3] होता[4] है

अन्वयार्थ—युक्त आहार-विहारवाले का, कर्मों में युक्त चेष्टावाले का, और युक्त सोने व जागनेवाला का योग दुःखनाशक (सिद्ध) होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उसी योगारूढ़ पुरुष को दुःखों के नाश करनेवाला योग सिद्ध होता है, अथवा उस योगारूढ़ पुरुष का योग (जो आत्म-ध्यान में युक्त होना है) दुःखों के नाश करनेवाला सिद्ध होता है कि जो युक्ति से, अर्थात् अंदाज़े वा प्रमाण से या नियमपूर्वक अपना आहार-विहार (खाना-पीना, चलना-फिरना इत्यादि) करता है; जिसकी चेष्टा भी अपने कर्मों में युक्ति से, अर्थात् नपी-तुली वा उचित होती है; और जिसका सोना-जागना भी युक्तिपूर्वक अर्थात् परिमित वा नपा-तुला होता है। संक्षेप से अभिप्राय यह कि जो किसी बात में भी अंदाज़े (प्रमाण वा नियम) से न बढ़ता और न घटता है, बल्कि सर्व

अति उष्ण काल में, न द्वंद्व में और न अत्यंत पवन काल में यह ध्यान-परायण पुरुष योगाभ्यास करे।

प्रकार से युक्त आचरण रखता है, वही योगारूढ़ पुरुष सर्व-दुःख-नाशक * योग को पाता है, अन्य नहीं ॥ १७ ॥ †

संबंध--(१) अब भगवान् उक्त प्रयोग किये हुए 'युक्त' शब्द का यथार्थ अर्थ अगले श्लोकों में बताते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार युक्ति से चलनेवाले पुरुष को कब यह योग सिद्ध होता है, अर्थात् कब वह पूर्ण युक्त कहलाता है ? इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (३) साधनोपाय बताकर अब भगवान् योगयुक्त पुरुष के कुछ लक्षण निरूपण करते हैं—

अथवा (४) श्लोक ८ में तो युक्त पुरुष के बाह्य लक्षण कहे गये, अब भगवान् उस (युक्त) के भीतर के लक्षण वर्णन करते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यदा, विनियतं,	जब निरुद्ध	निःस्पृहः,	सारी कामनाओं
चित्तं	चित्त	सर्व-कामेभ्यः	से इच्छा शून्य है
आत्मनि, एवं,	आत्मा में ही	युक्तः, इति,	तब युक्त है, ऐसा
अवतिष्ठते	ठहरता है	उच्यते, तदा	कहा जाता है

---

* "दुःखहा" (दुःखों का नाशक) यह विशेषण इसलिए दिया गया है कि सर्व दुःखों का कारण इस संसार में अविद्या है, उसका इस योगसमाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार से नाश हो जाता है, इसलिए यह योग 'दुःखहा' कहलाता है ।

† शास्त्रों में इसके विषय ऐसा लिखा है—"मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं च कारयेत् । नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति ॥" अर्थ—मिताहार के विना जो योगी योग को आरंभ करता है, उसे नाना प्रकार के रोग होते हैं और किंचिन्मात्र भी उसका योग सिद्ध नहीं होता ।

* पहला अन्वयार्थ——जब निरुद्ध चित्त आत्मा में ही ठहरता है और सारी कामनाओं से इच्छा शून्य होता है, तब ऐसा कहा जाता है कि वह युक्त है ॥ १८ ॥

दूसरा अन्वयार्थ——जब (सब ओर से) रुका हुआ चित्त आत्मा में ही स्थिर होता है, तब वह सब कामनाओं से इच्छा-रहित हुआ (योगी) युक्त है, ऐसा कहलाता है ॥ १८ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या--हे अर्जुन ! जिस समय यह भले प्रकार से निरुद्ध (अपने वश में किया हुआ) चित्त (वा अंतःकरण) आत्मा में अर्थात् अपने परम शुद्धस्वरूप में, वा अपने आपमें निश्चल स्थिर होता है, और लोक तथा परलोक की सारी कामनाओं से निःस्पृह (इच्छाशून्य) हो जाता है, तो उस समय वह चित्त युक्त अर्थात् पूर्ण समाधिस्थ कहलाता है ॥ १८ ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या--हे अर्जुन ! उक्त योगारूढ़ पुरुष जो पूर्व वर्णित लक्षणानुसार जितात्मा और पूर्ण निष्काम हुआ होता है, जब उसका निरुद्ध (संयत वा वशीभूत) चित्त अपने आत्मा (अपने वास्तव शुद्धस्वरूप) में ठहरता अर्थात् आत्म-ध्यान में पूर्ण अचल टिकता है, तब वह समस्त कामनाओं से शून्य योगारूढ़ होकर पूर्ण युक्त (सिद्ध वा समाधिस्थ) हुआ होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

---

* जब बहुत विचार से इस श्लोक को सहित पूर्वापर के संबंध के देखा जाय तो दोनों ही अर्थ अपने-अपने स्थान पर युक्त दीखते हैं। पहला अर्थ इसलिए ठीक है कि जब पुरुष का चित्त किसी न किसी उपाय से निरोध को प्राप्त हो जाता है, तो निरुद्ध अवस्था में सब कामनाएँ स्वतः बंद पड़ जाती हैं, इसलिए निरुद्ध अवस्था के पीछे चित्त की कामना-रहित अवस्था कही गई है। पर कर्मयोगी जो निष्काम कर्म करते-करते योगारूढ़

संबंध—(१) इस जितात्मा योगारूढ़ योगी के पूर्ण युक्त (संयत वा समाधिस्थ) चित्त की उपमा भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब योगारूढ़ योगी की समाधिस्थ अवस्था की उपमा भगवान् कहते हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥*

यथा, दीपः,	जैसे वायु रहित	योगिनः,	संयत चित्तवाले
निवात-स्थः,	स्थान में स्थित	यत-चित्तस्य	और आत्मा के योग
न, इङ्गते,	दीपक नहीं डोलता	युञ्जतः,	में युक्त होते हुए
सा, उपमा,	है, वह उपमा कही	योगं,	योगी की (वा योगी
स्मृता	गई है	आत्मनः	के संयतचित्त की)

होता है, उसकी योगारूढ़ अवस्था तब ही मानी जाती है कि जब उसका चित्त निष्काम कर्म द्वारा समस्त कामनाओं से रहित हो गया होता है; और फिर वह शमरूप योग-समाधि के योग्य होता है; अर्थात् उसका निरुद्ध चित्त तभी ठीक-ठीक युक्त कहलाता है कि जब वह उक्त एकांत अभ्यास से अपने आत्मध्यान में पूर्ण स्थिर ठहरा होता है। और यहाँ प्रसंग भी योगारूढ़ योगी का है जिससे सब कामनाओं से निःस्पृहरूप विशेषण पूर्व कथित योगारूढ़ योगी का ही कहा गया है। इसलिए दूसरे अर्थ यहाँ अधिक ठीक बैठते हैं।

* इस पर श्वेताश्वतर उपनिषद् (२. १५) में और भागवत (३. २८. ३५) में ऐसे वर्णन है—

"यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥" (श्वे. २.१५)

अर्थ—जब योगी यहाँ अपने आत्मा की उपमा से स्थित (अडोल)

पहला अन्वयार्थ---जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक * डोलता नहीं है, साई उपमा आत्मा के योग में युक्त हुए योगी के संयत चित्त की कही गई (वा मानी गई) है ॥ १९ ॥

दीपक के समान ब्रह्मतत्त्व को देखता (अनुभव करता) है, तब वह जन्मरहित, अचल, सब तत्त्वों से विशुद्ध आत्मदेव को जानकर सब बंधनों से छूट जाता है।

"मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥"
(भा. ३, २८, ३५)

अर्थ---जब मन विषयों से मुक्त होकर निराश्रित होता है, और वह दीपक के समान एक साथ निर्वाण को प्राप्त होता है, तब पुरुष गुणों के प्रवाह से निवृत्त हुआ विना किसी बाधा के एक आत्मा को देखता (अनुभव करता) है।

* निवातस्थ दीपक अडोल और पूरे प्रकाश में होता है, ऐसा ही आत्मध्यान में युक्त योगारूढ़ योगी का चित्त होता है, चित्त के ऐसा होने से वह योगी भी वैसा ही कहलाता है। श्रीशंकराचार्य व श्रीनीलकंठ आदि ने "यतचित्तस्य" का अर्थ "रुके हुए चित्त की" ऐसा अर्थ करके सीधा चित्त की यह उपमा दर्शायी है। श्रीरामानुज ने "योगी के आत्मा की" ऐसा अर्थ करके आत्मा की यह उपमा दर्शायी है।

पर हमारे विचार में तो दीपक का दृष्टांत इसलिए दिया है कि जैसे दीपक जलता हुआ (वायुरहित स्थान में) अडोल होता है, ठीक वैसे ही योगारूढ़ का संयत चित्त (मुर्दा वा बुझा हुआ नहीं होता किंतु) तत्त्व-चिंतन में पूर्ण युक्त होने से प्रकाशरूप और नितांत अडोल होता है। फिर जैसे अडोल दीपक पूर्ण प्रकाशक (वा तिमिरनाशक) होता है, वैसे समाधिकाल में यह अडोल चित्त भी आत्मा में पूर्ण लीन व अचल होने से पूर्ण प्रकाशक (वा अज्ञाननाशक) होता है। इसलिए यह उपमा योगी के

दूसरा अन्वयार्थ—जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक डोलता नहीं है, सोई उपमा संयत चित्तवाले और आत्मा के योग में युक्त योगी की कही गई है ॥ १९ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे पवन से रहित स्थान में अर्थात् उस स्थान में, जहाँ वेग से पवन न चल रहा हो, रक्खा हुआ दीपक न इधर-उधर हिलता है और न बुझने ही पाता है, बल्कि जलता हुआ सीधा अडोल स्थित रहता है, जिससे उसका पूरा-पूरा प्रकाश होता है। ठीक वैसी ही दशा, अर्थात् अवस्था, वा उपमा, उस संयत चित्त (वा अंतःकरण) की मानी जाती है कि जो आत्मा के योग (ध्यान) में पूर्ण युक्त योगी का होता है ॥ १९ ॥ *

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस प्रकार पवन से रहित स्थान में स्थित दीपक की लाट इधर-उधर नहीं हिलती, बल्कि

समाधिस्थ चित्त की हो सकती है, निर्विकार और शुद्ध आत्मा की नहीं, क्योंकि आत्मा तो स्वयं नित्य अडोल, निर्विकार और स्वतः स्थित ही है। और यदि आत्मा शब्द के अर्थ अंतःकरण में प्रतिबिंबरूप आत्मा अर्थात् जीव के लिये जायँ, तो यह उपमा उस जीवात्मा की भी हो सकती है क्योंकि अंतःकरण की स्थिर वा निरुद्ध अवस्था में वह प्रतिबिंबरूप जीवात्मा स्थिर वा अडोल दीखता है, और अंतःकरण की चंचल वा क्षुभित अवस्था में वह भी चंचल वा क्षुभित दिखाई देता है। पर बिंबरूप शुद्ध आत्मा को यह उपमा किसी प्रकार से भी नहीं दी जा सकती। (टीकाकार)

* इस उपमा के अतिरिक्त महाभारत (शांतिपर्व. ३००, ३२, ३४) में ये दृष्टांत हैं—“तेल से भरे हुए पात्र को ज़ीने (सीढ़ी) पर से ले जाने में, या तूफ़ान के समय नौका के बचाव करने में, मनुष्य जैसा ‘युक्त’ वा एकाग्रचित्त होता है, योगी का मन वैसा ही एकाग्र रहता है।”

अडोल स्थिर रहती है। ठीक वैसी ही उपमा उस योगारूढ़ * योगी की कही जाती है कि जो संयत अर्थात् निरुद्ध, एकाग्र वा अडोल चित्त से अपने स्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त वा लीन हुआ होता है, अर्थात् जो योग-समाधि वा आत्मसाक्षात्कार को भोग रहा होता है ॥ १९ ॥

संबंध –(१) इस प्रकार युक्त वा समाधिस्थ चित्त अथवा उसी की अवस्था का सामान्य रूप से वर्णन करके अब भगवान् उसी का विशेष रूप से सविस्तर वर्णन २३वें श्लोक तक करते हैं—

अथवा (२) आत्मध्यान में पूर्ण युक्त चित्त की उपमा कहकर अब भगवान् इस निरुद्धचित्त द्वारा प्राप्त समाधि का स्वरूप विस्तार से २३वें श्लोक तक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् इस युक्त चित्त की समाधिस्थ अवस्था अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि का विस्तार से निरूपण करते हैं—

अथवा (४) इस युक्त अवस्था में फिर क्या-क्या लाभ होता है, उसे भगवान् विस्तारपूर्वक २३वें श्लोक तक वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र, उपरमते, चित्तं, निरुद्धं, योग-सेवया	जिस काल (वा अवस्था) में योग के अनुष्ठान से निरुद्ध चित्त उपशम को प्राप्त होता है	यत्र, च, एव, आत्मना, आत्मानं, पश्यन्, आत्मनि, तुष्यति	और जब आत्मा से ही आत्मा को देखता हुआ वह आत्मा में संतुष्ट होता है

---

* योग वा योगारूढ़ से यद्यपि गीता का पारिभाषिक अर्थ प्रायः कर्मयोग वा कर्मयोगी है, परंतु यहाँ इस अध्याय में विशेष करके इसका अर्थ

* पहला अन्वयार्थ—जिस समय निरुद्ध चित्त योग के अनुष्ठान से उपशम को प्राप्त होता है, और जब वह आत्मा से ही आत्मा को देखता हुआ आत्मा में संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

दूसरा अन्वयार्थ—योग के अनुष्ठान से निरोध को प्राप्त हुआ चित्त जब उपशम को प्राप्त होता है और जिस अवस्था में वह आत्मा से आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा में संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस समय (अथवा जिस अवस्था विशेष में) उक्त (श्लोक ३ के अनुसार) योगारूढ़ का निरुद्ध चित्त उक्त योगाभ्यास से उपशम को प्राप्त होता है; अथवा जब योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त उपशम दशा को प्राप्त होता है; अर्थात् एक वस्तु को विषय करनेवाली वृत्तियों के प्रवाहरूप एकाग्रता का परित्याग करके ईंधन से रहित अग्नि की न्याईं उपशम को जब निरुद्ध चित्त प्राप्त होता है; अथवा जब चित्त सब वृत्तियों

एकांत में बैठकर तत्त्वचिंतन का उपायरूप ध्यानयोग वा तदनुसार समाधिस्थ पुरुष ही है ।

* दूसरा अन्वयार्थ तो बहुत टीकाकारों ने दिया है और पहला अर्थ किसी एक-दो ने । पर हमारे विचार में पहला अर्थ अधिक युक्त है; क्योंकि योगारूढ़ के चित्त का यहाँ वर्णन है, न कि सर्वसाधारण के चित्त का । और योगारूढ़ का चित्त तो निष्काम कर्म करते-करते जब पूर्व श्लोक ४ के अनुसार निरोध को प्राप्त हो चुका होता है, उसी के लिए यह ध्यानयोगरूपी शम साधन कहा गया है और वही निरुद्ध चित्त जब इस ध्यानयोग के निरंतर अनुष्ठान से उपशम को लाभ करता है, उसी की दशा का यहाँ वर्णन है न कि किसी अन्य रीति से निरोध हुए चित्त का ।

से रहित होने के कारण सब वृत्तियों के निरोधरूप परिणाम को प्राप्त हुआ होता है, अथवा जब निरुद्ध चित्त विषयों से पूर्ण निवृत्त होकर आत्मा में ही रमण करता है, अथवा निरुद्ध चित्त जब संसार से पूर्ण उपराम वा विरक्त होकर आत्मस्वरूप की भेंट के लिए प्रवृत्त हुआ होता है, या आत्मस्वरूप के ध्यान में पूर्ण रम जाता है; और जब अथवा जिस अवस्था विशेष में यह उपराम वा उपशम को प्राप्त हुआ चित्त आत्मा से आत्मा को देखकर आत्मा में ही संतुष्ट होता है, अर्थात् अपने आत्मिक बल से अपने शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप को देखता हुआ (अनुभव करता हुआ) अपने आपमें ही संतुष्ट हो जाता है; अथवा जब निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से सांसारिक विषयों से उपराम वा विरक्त होकर पीछे अंतर्मुख लौटता और ठहरता है, और फिर आप जब अपनी ही ओर देखकर पहचान जाता है कि "यह सच्चिदानंदस्वरूप मैं ही हूँ", और फिर इस पहचान अर्थात् अनुभव से पूर्ण संतोष को प्राप्त हुआ होता है । संक्षेप से यह कि जब (जिस अवस्था विशेष में) निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से अंतर्मुख होकर आत्मध्यान में लीन होता आत्मसाक्षात्कार करता हुआ इस मोद * को प्राप्त होता है कि मैं ही सच्चिदानंदस्वरूप हूँ, वा 'मैं कृतार्थ हूँ', तब (उस अवस्था विशेष में) जानो कि वह पूर्ण असंप्रज्ञात समाधि को वा "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" के अनुसार सब वृत्तियों के निरोधरूप योग को पूर्ण प्राप्त हुआ होता है ॥ २० ॥

---

* इस विषय श्रुति ऐसा कहती है—"स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा ।" ब्रह्मा से लेकर स्तंब पर्यंत सब प्राणियों को आनंदित करनेवाला जो मोदनीय परमात्मदेव है, उसको साक्षात्कार करके विद्वान् पुरुष "मैं कृतार्थ हूँ" इस प्रकार के मोद को प्राप्त होता है ।

और—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखं, आत्यन्तिकं, यत, तत्, बुद्धिग्राह्यं, अति-इन्द्रियं	वह जो इंद्रियों से परे परंतु बुद्धि से ग्रहण किया जानेवाला अत्यंत सुख है, उसको	वेत्ति, यत्र, न, च, एव, अयं, स्थितः, चलति, तत्त्वतः	जब (अर्थात जिस अवस्था में) यह जानता है, और न ही (यह) स्थित हुआ तत्त्व से डोलता है

अन्वयार्थ—वह जो इंद्रियों से परे और बुद्धि-ग्राह्य अत्यंत सुख है (उसको) जब यह जानता है और जहाँ स्थित हुआ (यह) फिर तत्त्व से नहीं डोलता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—जब अर्थात् जिस समय या जिस अवस्था विशेष में यह निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से (समस्त सीमाओं को टपा हुआ अत्यंत) उपशम अवस्था को प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार से उस महान् सुख * का अनुभव करता है कि जो (सुख)

---

* यहाँ सुख के तीन विशेषण दिये हैं (१) 'अत्यंत' अर्थात् जिससे बढ़कर और सुख नहीं, जिसको श्रुति भी ("यो वै भूमा तत्सुखम्" छां० ७. २३. १) "देशकाल वस्तुपरिच्छेद से रहित अनंत स्वरूप जो है वही सुख है," ऐसा कथन करती है। (२) 'अतीन्द्रिय' अर्थात् इंद्रियों से परे टपा हुआ। इससे यह सिद्ध किया गया है कि यह आत्म-सुख विषयजन्य सुख से विलक्षण वा भिन्न है, क्योंकि विषय-सुख केवल विषय-इंद्रिय के संबंध से ही प्रकट होता है। परंतु यह ब्रह्म-सुख विषय-इंद्रिय के संबंध से नहीं किंतु

इंद्रियों से तो परे है, अर्थात् जो नेत्रादि इंद्रियों से तो ग्रहण नहीं हो सकता, परंतु बुद्धि से अर्थात् आत्म-बुद्धि, वा केवल

केवल (३) बुद्धि-ग्राह्य होता है । इस बुद्धि-ग्राह्य रूप तीसरे विशेषण से यह विशेष करके सिद्ध किया गया है कि यह सुख सुषुप्ति के सुख से भी भिन्न है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के लय होने से वह सुषुप्ति का सुख बुद्धि से ग्रहण नहीं किया होता । पर समाधिकाल में तो वह बुद्धि लय नहीं हुई होती किंतु सर्व वृत्तियों से रहित हुई समाहित स्थित होती है, जिस लिए समाधि में वह ब्रह्मरूप सुख बुद्धि करके ग्रहण वा अनुभव होता है । यह भेद गौड़पादाचार्य ने भी दर्शाया है—“लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।” अर्थ—(सो मन) सुषुप्ति काल में तो अज्ञान में लीन हो जाता है, पर वह निगृहीत (वशीभूत हुआ) मन समाधि काल में लय भाव को प्राप्त नहीं होता । यह विषय श्रुति में ऐसे आया है—“समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यतेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥” अर्थ—समाधि से जिसका रज-तमरूप मल वा पापरूप मल निवृत्त हो गया है, ऐसा जो आत्मा में स्थित चित्त है, उस चित्त को जो सुख प्राप्त होता है, उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता है; किंतु निरुद्ध हो गई हैं सब वृत्तियाँ जिसकी, ऐसा जो अंतःकरण है, उससे वह अत्यंत सुख ग्रहण किया जाता है । पर जो लोग ऐसा मानते हैं कि इस अत्यंत सुख को अंतःकरण की वृत्तियाँ ग्रहण करती हैं या कर सकती हैं, उसका निषेध श्री गौड़पादाचार्य ऐसा करते हैं—“नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।” अर्थ—समाधि काल में “मैं यह महान् सुख अनुभव करता हूँ” इस प्रकार की सविकल्प वृत्ति का नाम प्रज्ञा है; इस प्रज्ञा से योगी पुरुष सुख का अनुभव नहीं करता (वा स्वाद नहीं लेता) है, बल्कि समाधि-काल में वह उस प्रज्ञा के संग से रहित हुआ होता है । और इस प्रकार सर्व वृत्तियों से रहित हुआ योगी निरुद्ध चित्त से (स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं

और—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखं^{८}, आत्यन्तिकं^{७}, यत्^{२}, तत्^{१}, बुद्धि^{५}ग्राह्यं^{६}, अति^{४}इन्द्रियं^{३}	वह^{१} जो^{२} इंद्रियों^{३} से परे^{४} परंतु बुद्धि^{५} से ग्रहण^{६} किया जानेवाला अत्यंत^{७} सुख^{८} है, उसको	वेत्ति^{३}, यत्र^{१}, न^{५}, च^{४}, एव^{६}, अयं^{२}, स्थितः^{७}, चलति^{८}, तत्त्वतः^{९}	जब^{१} (अर्थात जिस अवस्था में) यह^{२} जानता^{३} है, और^{४} न^{५} ही^{६} (यह) स्थित^{७} हुआ तत्त्व से डोलता^{८} है

अन्वयार्थ—वह जो इंद्रियों से परे और बुद्धि-ग्राह्य अत्यंत सुख है (उसको) जब यह जानता है और जहाँ स्थित हुआ (यह) फिर तत्त्व से नहीं डोलता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—जब अर्थात् जिस समय या जिस अवस्था विशेष में यह निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से (समस्त सीमाओं को टपा हुआ अत्यंत) उपशम अवस्था को प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार से उस महान् सुख * का अनुभव करता है कि जो (सुख)

---

* यहाँ सुख के तीन विशेषण दिये हैं (१) 'अत्यंत' अर्थात् जिससे बढ़कर और सुख नहीं, जिसको श्रुति भी ("यो वै भूमा तत्सुखम्" छां० ७. २३. १) "देशकाल वस्तुपरिच्छेद से रहित अनंत स्वरूप जो है वही सुख है," ऐसा कथन करती है। (२) 'अतीन्द्रिय' अर्थात् इंद्रियों से परे टपा हुआ। इससे यह सिद्ध किया गया है कि यह आत्म-सुख विषयजन्य सुख से विलक्षण वा भिन्न है, क्योंकि विषय-सुख केवल विषय-इंद्रिय के संबंध से ही प्रकट होता है। परंतु यह ब्रह्म-सुख विषय-इंद्रिय के संबंध से नहीं किंतु

इंद्रियों से तो परे है, अर्थात् जो नेत्रादि इंद्रियों से तो ग्रहण नहीं हो सकता, परंतु बुद्धि से अर्थात् आत्म-बुद्धि, वा केवल

केवल (३) बुद्धि-ग्राह्य होता है । इस बुद्धि-ग्राह्य रूप तीसरे विशेषण से यह विशेष करके सिद्ध किया गया है कि यह सुख सुषुप्ति के सुख से भी भिन्न है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के लय होने से वह सुषुप्ति का सुख बुद्धि से ग्रहण नहीं किया होता । पर समाधिकाल में तो वह बुद्धि लय नहीं हुई होती किंतु सर्व वृत्तियों से रहित हुई समाहित स्थित होती है, जिस लिए समाधि में वह ब्रह्मरूप सुख बुद्धि करके ग्रहण वा अनुभव होता है । यह भेद गौड़पादाचार्य ने भी दर्शाया है—"लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।" अर्थ—(सो मन) सुषुप्ति काल में तो अज्ञान में लीन हो जाता है, पर वह निगृहीत (वशीभूत हुआ) मन समाधि काल में लय भाव को प्राप्त नहीं होता । यह विषय श्रुति में ऐसे आया है—"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यतेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥" अर्थ—समाधि से जिसका रज-तमरूप मल वा पापरूप मल निवृत्त हो गया है, ऐसा जो आत्मा में स्थित चित्त है, उस चित्त को जो सुख प्राप्त होता है, उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता है; किंतु निरुद्ध हो गई हैं सब वृत्तियाँ जिसकी, ऐसा जो अंतःकरण है, उससे वह अत्यंत सुख ग्रहण किया जाता है । पर जो लोग ऐसा मानते हैं कि इस अत्यंत सुख को अंतःकरण की वृत्तियाँ ग्रहण करती हैं या कर सकती हैं, उसका निषेध श्री गौड़पादाचार्य ऐसा करते हैं—"नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।" अर्थ—समाधि काल में "मैं यह महान् सुख अनुभव करता हूँ" इस प्रकार की सविकल्प वृत्ति का नाम प्रज्ञा है; इस प्रज्ञा से योगी पुरुष सुख का अनुभव नहीं करता (वा स्वाद नहीं लेता) है, बल्कि समाधि-काल में वह उस प्रज्ञा के संग से रहित हुआ होता है । और इस प्रकार सर्व वृत्तियों से रहित हुआ योगी निरुद्ध चित्त से (स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं

तत्त्व-विवेक बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है; और जिस अवस्था (अथवा सुख) में स्थित हुआ योगी पुरुष (वा निरुद्ध चित्त) अपने आत्मतत्त्व से चलायमान नहीं होता है, अर्थात् अपने स्वरूप के ज्ञान से उसे फिर संशय-विपर्यय नहीं होता है; उस अवस्था को ही तुम ठीक "योगयुक्त" शब्द वा "असंप्रज्ञात समाधि" शब्द का अर्थ जानो ॥ २१ ॥

और—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

यं, लब्ध्वा, च, अपरं, लाभं, मन्यते, न, अधिकं, ततः	और जिसको पाकर अन्य लाभ को उससे अधिक नहीं मानता है	यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरुणा, अपि, विचाल्यते,	जिसमें स्थित हुआ भारी दुःख से भी वह नहीं चलायमान होता (नहीं हिलाया जाता)

अन्वयार्थ—जिसको पाकर उससे अधिक और कोई लाभ * वह नहीं समझता है, और जिसमें स्थित हुआ वह भारी दुःख से भी नहीं हिलाया जाता है ॥ २२ ॥

व्याख्या—इस सर्व वृत्तियों से रहित चित्त की निरोध अवस्था में या इस निरुद्ध चित्त की उपशम वा शांत अवस्था में जिस

सुखमुत्तमम् ।) अपने में स्थित, शांत, निर्वाणरूप, सर्वोत्तम और अकथ्य सुख को भोगता वा अनुभव करता है ।

* स्मृति भी इस विषय में ऐसा कहती है—"आत्मलाभान्न परं विद्यते"= आत्मा के लाभ से परे दूसरा कोई अधिक लाभ नहीं है ।

आत्म सुख वा आत्म-लाभ को वह योगी पाता है, उससे अधिक और कोई लाभ (पाने योग्य) वह नहीं मानता है, अथवा इस अत्यंत सुख से बढ़कर और कोई पाने योग्य वस्तु उसे नहीं जँचती है, बल्कि इसी को पाकर वह अपने आपको कृतकृत्य समझता है, और जिस अवस्था (आत्म-लाभ वा आत्मस्वरूप-सुख) में स्थित होने से वह योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता है (अथवा जिस अवस्था को प्राप्त होने पर महान् से महान् दुःख भी उसे अपने निजस्वरूप वा सुख से चलायमान नहीं करता, या उस योगी के चित्त में कोई विकार उत्पन्न नहीं करता है), उस अवस्था को चित्त की पूर्ण निरोधरूपी समाधि वा असंप्रज्ञात समाधि अथवा दुःख के स्पर्श से रहित योग-समाधि कहना चाहिए, अथवा तब समझो कि वह योगी पूर्ण योग-समाधि में स्थित वा युक्त है ॥ २२॥

संबंध—"यत्रोपरमते चित्तं" इस श्लोक (२०) से लेकर तीन श्लोकों में जो समाधिस्थ वा उपशम चित्त की अवस्था विशेष वर्णन की गई है, उस उक्त अवस्था में योग शब्द की अर्थरूपता को भगवान् अब कथन करते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

तं[१], विद्या[७]त्, दुःख[२]-संयोग[३]-वि[४]योगं, योग[५]-संज्ञित[६]म्	उस[१] दुःख[२] के संबंध[३] के वियोग[४] को योग[५] नाम[६]वाला जा[७]ने	स[१]ः, निश्च[६]येन, योक्तव्य[७]ः, योग[२]ः, अ[३]नि-र्विण्ण[४]-चेतसा[५]	वह[१] योग[२] न[३] उकताये[४] हुए चित्त[५] से तथा निश्चय[६] से अनुष्ठान[७] किये जाने योग्य है

अन्वयार्थ---उस 'दुःख के संबंध के वियोग' को (पुरुष) योग नामवाला जाने । वह योग निश्चय से और न उकताये हुए चित्त से अनुष्ठान किये जाने योग्य है ॥ २३ ॥

व्याख्या--पस, हे अर्जुन ! यह दुःखों के संबंध का वियोग (अथवा दुःखातीत अवस्था वा अत्यंत सुखरूप अवस्था), जो ऊपर तीन श्लोकों में वर्णन हुआ है, इसी वियोग (दुःखों के अत्यंताभाव) को तू योग नामवाला, अर्थात् योगस्वरूप समझ, और सब लोग भी मेरे मतानुसार इसी (नितांत दुःख-रहित) अवस्था को योग नामवाला जानें । अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जितने भी दुःख हैं, उन सबके संबंध का चित्त की जिस अवस्था में अभाव होता है, वह अवस्था यद्यपि दुःखों के संबंध का वियोग कहलाने योग्य है, तथापि विरोध-लक्षणा से वा सुखस्वरूप के साथ पूर्ण युक्त होने से तू इस उपशम वा समाधिस्थ अवस्था को योग शब्द का अर्थ जान । और वह महान् फल देनेवाला योग अपने गुरुवाक्य तथा शास्त्रों के वचनों में दृढ़ निश्चय रखकर न उकताये हुए (निरुदास अथवा उत्साहपूर्ण) चित्त से अभ्यास किये जाने योग्य है ।

अन्य रीति से तात्पर्य यह है कि गीता की परिभाषा में कर्म द्वारा जो चित्त का आत्मध्यान में युक्त होना रूप योग, अथवा "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८) इत्यादि से सुख-दुःखरूप द्वंद्वों में जो चित्त की समत्व अवस्था का नाम योग है; और पातंजल योगसूत्र (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) के अनुसार जो यहाँ चित्त-वृत्तियों के निरोध द्वारा उपशम अवस्था रूप योग कहा है, और जिसको पूर्व श्लोक १७ में "दुःखहा" सर्व दुःखनाशक और श्लोक २१ में अत्यंत सुखस्वरूप भी कहा है, इन उक्त कथनों में

से तू अब केवल उस अवस्था को योग नामवाला जान कि जिसमें दुःख के स्पर्शमात्र का भी वियोग होता है, अर्थात् जिस अवस्था में सर्वप्रकार के दुःखों का नितांत अभाव हुआ होता है। इस प्रकार का योग तो अथक * (हिम्मत न हारनेवाले) चित्त से और पक्के निश्चय से अभ्यास करने योग्य है ॥ २३ ॥ †

---

* इस विषय में श्रीगौड़पादाचार्य ऐसे लिखते हैं—"उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना । मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥" अर्थ—जैसे टिट्टिभ (टिटिहरी) पक्षी ने समुद्र को सुखाने के निश्चय से अपनी कुशा के अग्रभाग-समान चोंच से समुद्र के जल का बिंदु ले-लेकर उसको सुखा दिया था । वैसे ही खेद-रहित (निर्विण्ण चित्त) होकर दृढ़ निश्चय-पूर्वक अभ्यास करने से मन का पूर्ण निग्रह होता है । क्योंकि इस अभ्यास में अति परिश्रम और निश्चय की आवश्यकता है, और विना इसके यह योग सिद्ध नहीं हो सकता। परंतु चित्त की शुद्ध और निरुद्ध अवस्था तो केवल इस पातञ्जल योग या ध्यानयोग से ही नहीं किंतु कर्मयोग और भक्तियोग से भी हो सकती है, जो मार्ग इस ध्यानयोग के मार्ग से सुलभ और सुगम हैं, इसलिए भगवान् ने इससे पूर्व कर्मयोग पर ज़ोर दिया है, और आगे भक्तियोग पर ज़ोर देते हुए इन्हीं दोनों को सर्वसाधारण के लिए वे प्रथम अनुष्ठेय कहेंगे । और यह ध्यानयोग तो किसी व्यक्ति विशेष अर्थात् कर्मयोग वा भक्तियोग द्वारा योगारूढ़ हुए पुरुष के लिए ही उपयोगी होता है, जिस लिए इसे भी यहाँ भगवान् ने सविस्तर दे दिया है ।

† २०, २१, २२ और २३ इन चार श्लोकों की अनोखे ढंग से व्याख्या श्रीज्ञानदेव ने ऐसे की है—" सामान्यतः इस योग से ज्यों ही इंद्रियों का निग्रह होता है, त्यों ही चित्त आत्मस्वरूप के भेंट के लिए प्रवृत्त होता है, पीछे पलट कर ठहरता है, और आप अपनी ही ओर देखता है, तो देखते ही पहचान जाता है कि "यह तत्त्व मैं ही हूँ" ।

संबंध—(१) किस उपाय से उक्त योग का अभ्यास करना चाहिए, इसे भगवान् अब सविस्तर कहते हैं—

पहचानते ही वह सुख के साम्राज्य पर बैठता है, और फिर अपनी एकता में विलीन हो जाता है। जिसके परे और कुछ नहीं है, जिसे इंद्रिय कभी नहीं जानते, सो स्वयं आप ही हो रहता है। फिर मेरु पर्वत से भी बड़े देह-दुःख का दबाव आ पड़े, तथापि उस बोझ से उसका चित्त नहीं दबता। अथवा देह शस्त्र से तोड़ा जाय अथवा अग्नि में फेंक दिया जाय, तथापि महासुख में सोया हुआ उसका चित्त जाग्रत नहीं होता। इस प्रकार वह निज में प्रवेश कर रहता है, और देह की बाट नहीं हेरता। वह दूसरे ही सुख से एक रूप हो जाता है, इसलिए देह को भूल जाता है। जिस सुख की मधुरता से मन सुख का स्मरण ही भूल जाता है और संसार का उलझाव तोड़ डालता है, जो योग की शोभा है, संतोष का राज्य है, जिसके लिए ज्ञान का ज्ञातृत्व प्रवृत्त होता है, सो योग का अभ्यास करने से मूर्तिमान दिखाई देने लगता है, और दिखाई देते ही योगी तद्रूप हो जाता है।"

प्रसिद्ध महाशय तिलकजी इन श्लोकों की ऐसे व्याख्या करते हैं—"इन (२०, २१, २२, २३) चारों श्लोकों का एक ही वाक्य है। २३वें श्लोक के आरंभ के 'उसको' (तं) इस दर्शक सर्वनाम से, पहले तीन श्लोकों का वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकों में 'समाधि' का वर्णन पूरा किया गया है। पातञ्जल योग-सूत्र में योग का यह लक्षण है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"=चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इसी के सदृश २०वें श्लोक के आरंभ के शब्द हैं। अब इस 'योग' शब्द का नया लक्षण जान-बूझ कर दिया है कि समाधि इसी चित्त-वृत्ति निरोध की पूर्णावस्था है और इसी को 'योग' कहते हैं। उपनिषद् और महाभारत में कहा है कि निग्रहकर्त्ता और उद्योगी पुरुष को सामान्य रीति से यह योग छः महीने में सिद्ध होता है (मैत्र्यु० ६. २८; अमृतनाद० २९; म. भा. अश्व. अनुगीता. १९, ६६)। किंतु पहले २०वें

अथवा (२) पहले बहिरंग साधन इस योगाभ्यास के बताकर अब भगवान् इसी अभ्यास के अंतरंग साधन सविस्तर वर्णन करते हैं—

अथवा (३) पूर्व श्लोक ३ और ४ में सर्वसंकल्पों के त्यागी और नितांत निरासक्त हुए योगारूढ़ की उन्नति का उपाय जो शमसाधन कहा गया था, उसकी विधि, अभ्यास के उपाय, लक्षण और फल यहाँ तक वर्णन हुए; पर जो उक्त रीति से योगारूढ़ नहीं हैं और इसी योगाभ्यास से योगारूढ़ होकर उपशमरूप अत्यंत सुख व आत्मसाक्षात्कार लाभ करना चाहते हैं, अब भगवान् उनके लिए इसी योगाभ्यास के उपाय, साधन, लक्षण और फल श्लोक ३२ तक सविस्तर निरूपण करते हैं—

अथवा (४) प्रसंगानुसार अब भगवान् सर्वसाधारण के लिए इसी ध्यानयोग के साधनोपाय तथा सिद्धदशा को पुनरपि वर्णन करते हैं—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥*

और फिर २८वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है कि पातञ्जल योग की समाधि से प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्त-निरोध से प्रत्युत चित्त-निरोध द्वारा अपने आप आत्मा की पहचान कर लेने पर होता है। इस दुःखरहित स्थिति को ही 'ब्रह्मानंद' या 'आत्म-प्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानंद' कहते हैं (गी. १८, ३७)। अगले अध्यायों में इसका वर्णन है कि आत्म-ज्ञान होने के लिए आवश्यक चित्त की यह समता एक पातञ्जल योग से ही नहीं उत्पन्न होती, किंतु चित्त-शुद्धि का यह परिणाम ज्ञान और भक्ति से भी हो जाता है। यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है।

*यह विषय भागवत (२.१.१८-१९ और २.२.१६) में ऐसे वर्णित है—

सङ्कल्प-प्रभवान्, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषतः	संकल्प से उत्पन्न हुई सारी की सारी कामनाओं को त्याग कर
मनसा, एव, इन्द्रिय-ग्रामं, विनियम्य, समन्ततः	मन से ही इंद्रियों के समूह को सब ओर से रोक कर
शनैः, शनैः, उपरमेत्	धीरे-धीरे वह उपराम (शांत) होवे
बुद्ध्या, धृति, गृहीतया	धीरज पकड़ी हुई बुद्धि से
आत्म-संस्थं, मनः, कृत्वा	मन को आत्मा में स्थित करके
न, किञ्चित्, अपि, चिन्तयेत्	कुछ भी न चिंतन करे

अन्वयार्थ—संकल्प-जन्य सारी की सारी कामनाओं को त्याग

"नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥ १८ ॥
तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा यतः किञ्चन न स्मरेत् ॥
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥ १९ ॥"

अर्थ—बुद्धि की सहायतावाले मन से इंद्रियों को विषयों से हटावे, और वासनाओं से विषयों में फँसे हुए मन को धैर्यवाली बुद्धि से उपराम करावे और तब उस एक निर्विकार (आत्मा) को निरंतर चित्त से ध्यावे और इस प्रकार निर्विषय मन को आत्मस्वरूप में लगाकर किसी भी अनात्म पदार्थ का स्मरण न करे । इस प्रकार जहाँ मन प्रसन्न होता है, वही विष्णु का उत्तम स्थान है ।

"मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥ १६ ॥"

अर्थ—धीर (ज्ञानी) अपनी निर्मल बुद्धि से मन को रोककर अपने अंतरात्मा में लगावे और इस प्रकार मन का आत्मा में निरोध करने से परम शांति और कल्याण होता है ।

कर, मन से ही इंद्रियों के समूह को सर्व ओर से रोककर, धीर
पकड़ी हुई बुद्धि से धीरे-धीरे वह उपराम (शांत) होवे, और म
को आत्मा में स्थिर करके कुछ भी चिंतन न करे ॥ २४, २५

व्याख्या--हे अर्जुन ! अब तू योगाभ्यास अर्थात् ध्यानयोग द्वारा समाधिस्थ होने का अंतरंग साधन वा उपाय सुन--अथवा जो लोग पूर्व श्लोक ३ और ४ के अनुसार कर्मयोग के साधन से (सर्व संकल्पों वा कामनाओं के त्यागी होकर) योगारूढ़ तो हुए नहीं किंतु इसी ध्यानयोग के साधन से योगारूढ़ होकर आत्मसाक्षात्कार द्वारा अत्यंत सुखलाभ करना चाहते हैं, उनके लिए तू अब इसी योगाभ्यास वा ध्यानयोग की विधि सुन--सबसे पहले उक्त अभ्यासी पुरुष को चाहिए कि संकल्पों से उत्पन्न हुई वा होनेवाली जो भी कामनाएँ हैं, उन सारी की सारी कामनाओं का वह संपूर्ण रीति से त्याग करे, फिर मन से चक्षु आदि इंद्रियों के समूह अर्थात् समस्त इंद्रियों को रूपादि सर्व विषयों से निवृत्त करे अथवा अपने वश में करे वा रोके ! इस प्रकार विषयों और विषय-कामनाओं से निवृत्त होकर फिर धैर्ययुक्त और निश्चयस्वरूपा बुद्धि से धीरे-धीरे उपराम होवे; अर्थात् सब कर्मों को सहित उनकी सूक्ष्म वासनाओं के पूर्ण रीति से मन द्वारा त्याग करके फिर धैर्ययुक्त बुद्धि से शनैः-शनैः मन का निरोध करे । इस प्रकार निरोध को प्राप्त होकर फिर मन को आत्मा में स्थित करे, अर्थात् उपराम वा निरुद्ध हुए मन को अपने परम शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त करे। और इस प्रकार मन को आत्मा में स्थित करके किसी भी अनात्म पदार्थ का चिंतन न करे। अर्थात् पातंजल योग के बहिरंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार)

पाँच अंगों को करने के पश्चात् फिर धारणा, ध्यानादि तीन अंतरंगों का अनुष्ठान करे ॥ २४, २५ ॥*

---

* तात्पर्य इस सबका पंडित रामप्रसाद के शब्दों में यह है कि—
"इंद्रियाँ सदा विषयों की ओर झुकी रहती हैं, उस झुकाव का नाम काम है। अथवा इंद्रियों की जो विषयों की ओर स्वाभाविकी झुकाव-रूपी प्रवृत्ति होती है, वही कामना का स्वरूप है। और ज्ञानेंद्रियों द्वारा विषयों की जो आकृति मन में बनती है, उसको प्रत्यय कहते हैं। दो अथवा अधिक प्रत्ययों का मिलना और इस मिलाप से नये मानसिक प्रत्यय बनाना, यह सब मन का काम है, और यह कर्म तथा इस कर्म की शक्ति संकल्प नाम पाती है। इसलिए संकल्प मन का स्वरूप है।

विषयों के प्रत्यय जब इंद्रियों द्वारा बार-बार मन में उत्पन्न होते हैं, तब मन को उनकी वासना उत्पन्न होती है। इस वासना के उत्पन्न हो जाने पर फिर वह प्रत्यय जब मन में न हों, तो मन उनकी ओर खिंचता है, और जब विषय उपस्थित भी नहीं तब भी प्रत्ययमात्र के मौजूद करने की वृत्ति को प्रकट करता है। इस वृत्ति का नाम स्मृति है। इस स्मृति से विषय की प्राप्ति की इच्छा और भी अधिक होती है। उन (विषयों) की प्राप्ति से सुख प्रत्यय और उनकी अप्राप्ति से दुःख होता है। सुख की इच्छा और स्मृतिरूप वृत्ति द्वारा इंद्रियों की स्वाभाविकी विषयाभिमुखी वृत्ति का उद्वेग (उत्तेजन, excitement) होता है। यह जो मानसिक प्रत्ययों की विषय-वासना से उत्पन्न हुई स्मृतिरूपी वृत्ति मन में विषयकामना उत्पन्न करती और इससे फिर इंद्रियों की स्वाभाविकी वृत्ति का उत्तेजन करती है, यह कामना उक्त विधि से संकल्प से उत्पन्न होती है। इस संकल्प-जन्य कामना से इंद्रियों को सहायता (वा उत्तेजना) मिलती है। जब तक यह सहायता मिलनी बंद नहीं होती, तब तक इंद्रियों का बहिर्मुख वेग बढ़ता ही रहता है। इसलिए इस संकल्प से उत्पन्न होनेवाली कामनाओं का ही सबसे पहले छोड़ना आवश्यक है। जब तक ऐसा न हो, मन का निरोध प्राप्त होना असंभव

संबंध—(१) "शनैः शनैः उपरमेत्" इस उक्त वाक्य को भगवान् अब विवृत्त करते हैं—

अथवा (२) "किस प्रकार मन को आत्मा में स्थित करे" इसको भगवान् अब कहते हैं—

सा है। जिस समय संकल्प-जन्य कामनाओं को पूरा-पूरा छोड़कर मन निरोधशक्ति के प्रवाह के योग्य होता है, उसी समय मन इंद्रियों को रोकने के योग्य होता है। मन के ही द्वारा निरोध का प्रभाव इंद्रियों पर हो सकता है, इसलिए पहले मन का शुद्धि (कामनारहित अवस्था) चाहिए। पर इस शुद्धि द्वारा मन और इंद्रियों का निरोध एक बार ही पूरा-पूरा नहीं हो सकता, धीरे-धीरे प्रयत्न करने से ही हो सकता है। और बहुत काल तक धीरे-धीरे किसी कर्म के किये जाने के लिए धृति की आवश्यकता है। फिर धृति (धीरता वा हिम्मत) निश्चय से हो सकती है; और निश्चय बुद्धि का स्वरूप है; इसलिए बुद्धि से दृढ़ निश्चय करके मनोकामनाओं के रोकने का प्रयत्न हो सकता है, और उचित काल तक नियत रह सकता है।

इस प्रकार जब बुद्धि से दृढ़ निश्चय द्वारा धृतिपूर्वक मनोकामनाओं को रोककर इंद्रियों को धीरे-धीरें पूर्ण रोक लिया जाता है, तब निरुद्ध मन आत्मा में, अर्थात् अपने परम शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप के ध्यान में स्थित होने के योग्य हो जाता है, अर्थात् कामतत्त्व से निकलकर मन फिर परमनस् में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है। इस योग्यता के उत्पन्न होने पर मन आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए तदभिमुख (आत्मसंस्थ) होता है, और अन्य सब ओरों से नितांत हट जाता है। यह अंतरंग योग के पहले अंग 'धारणा' का स्वरूप है।

पातंजल योगदर्शन में ऐसे आया है—"त्रयमन्तरङ्गपूर्वेभ्यः ।" (७ । ३)। अर्थात् पहले पंचांग (यम. नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) बहिरंग योग है, और इनके द्वारा तीन अंग (धारणा, ध्यान और समाधि) अंतरंग योग है। और "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।"

अथवा (३) * निरालबंन-ध्यान की विधि भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् उक्त विषय को और स्पष्ट करके एकाग्रता का उपाय कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यतः, यतः,† निस्-चरति, मनः, चञ्चलं, अस्थिरं	चंचल और अस्थिर मन जहाँ जहाँ (या जहाँ-जहाँ से) बाहर जाता (निकलता) है
ततः, ततः, नियम्य, एतत्, आत्मनि, एव, वशं, नयेत्	वहाँ वहाँ से रोक कर इसे आत्मा में ही वश में लावे (वश करे)

(१ । ३) इस योगसूत्र के अनुसार चित्त को किसी एक स्थान (देश) में बाँध देने को धारणा कहते हैं। यह जो भगवान् कहते हैं "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" इसका यही अर्थ है कि आत्मा के देश में (अर्थात् आत्मा में) चित्त को बाँधकर इस प्रकार योग के धारणारूप अंतरंग को आरंभ करे।

* निरालंबन-ध्यान और केवल ध्यान में इतना भेद है कि सब अन्य पदार्थों से वृत्ति को हटाकर केवल एक बाह्य-ध्येय-पदार्थ पर वृत्ति का प्रवाह ध्यान कहलाता है। और जिधर-जिधर भी बाहर वृत्ति जाने लगे उधर-उधर से (अथवा सब ओर से) वृत्तियों को हटाकर अपने वश में रखना और आत्मा में लय करना (वा आत्मा में ही नियुक्त रखना) निरालंबन-ध्यान कहलाता है। इस निरालंबन ध्यान की रीति भगवान् अब कहते हैं—

† किसी टीकाकार ने 'यतः' शब्द के अर्थ 'जहाँ' से करे हैं और किसी ने 'जहाँ' या 'जिधर' किये हैं। हमारे विचार में ये दोनों ही अर्थ हो सकते हैं और दोनों ही अपने-अपने स्थान पर अपने भिन्न-भिन्न संबंधों की अपेक्षा

पहला अन्वयार्थ---जहाँ-जहाँ से यह चंचल और अस्थिर मन बाहर जाता है, वहाँ-वहाँ से रोककर इसे आत्मा में ही वश (निरुद्ध) करे ॥ २६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ---जहाँ-जहाँ (जिधर-जिधर) यह चंचल और अस्थिर मन जावे, वहाँ-वहाँ से रोककर इसे आत्मा में ही निरोध को प्राप्त करे ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! धारणा और ध्यान करते समय, अथवा चित्त (अंतःकरण) का निरोध करते समय, यह चंचल और अस्थिर-स्वभाव मन, अर्थात् विक्षेप वा क्षोभ को प्राप्त होनेवाला वा एक ही स्थान पर दीर्घ काल तक न टिकनेवाला मन जब (चित्त को विक्षिप्त करनेवाले) किसी भी पदार्थ की ओर जावे, अथवा विषयों की ओर ले जानेवाली जो अंतःकरण की चार वृत्तियाँ (प्रमाण[१], विपर्यय[२], विकल्प[३], स्मृति[४]) हैं, इनमें से किसी भी वृत्ति की ओर अथवा किसी भी वृत्ति द्वारा यह मन जब बाहर विषयों की ओर भागे; अथवा विषयाभिमुख रहने के स्वभाववाली ये जो श्रोत्रादि इंद्रियाँ हैं, इनमें से किसी भी इंद्रिय के द्वारा जब यह मन बाहर निकलकर विषयों के पीछे विचरे; तब अभ्यासी पुरुष को चाहिए कि वह इस मन को उस-उस विषय वा द्वार से हटाकर और इसे स्वाधीन करके अंतरात्मा में लगावे। अर्थात् अभ्यासी पुरुष उस-उस विक्षेपदायक पदार्थ वा मार्ग से मन को हटाकर इसको अपने वश में करके स्वप्रकाश परमानंदघन आत्मा

से ठीक बैठते हैं। इसलिए दोनों ही भिन्न-भिन्न संबंधों के साथ यहाँ दे दिये गये हैं।

में निरुद्ध करे, जिसमें निरुद्ध होने पर फिर यह विक्षेप को प्राप्त नहीं होता ॥ २६ ॥*

---

* इस विषय में श्रीगौड़पादाचार्य ने ऐसे कहा है—

“उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथाकामो लयस्तथा ॥ १ ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ २ ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत् ॥ ३ ॥
नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चलं चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अलिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ५ ॥”

अर्थ—(१) काम (विषय-वासना वा स्वार्थ-इच्छा) और भोग (विषयों का पाना वा भोगना) या इन दोनों में जो विक्षिप्त मन है, अर्थात् १. प्रमाण २. विपर्यय ३. विकल्प ४. स्मृति इन चार वृत्तियों में से किसी भी वृत्ति के कारण परिणाम को प्राप्त हुआ जो मन है, इसको योगी पुरुष वैराग्य व अभ्यासरूप उपायों से स्वाधीन करे, अर्थात् अपने आत्मा में निरुद्ध करे । और सुषुप्ति अवस्था रूप लय (वा शून्य समाधि) में सुप्रसन्न (अथवा सब आयास वा परिश्रम से रहित हुआ) जो मन है, उसका भी योगी निग्रह करे । क्योंकि जैसे काम वैसे लय है । तात्पर्य यह है कि शब्दादि विषयों की दो प्रकार की अवस्था होती है, एक तो चिंत्यमान, अर्थात् शब्दादि विषयों का चिंतन करना, और दूसरी भुज्यमान, अर्थात् शब्दादि विषयों का भोगना । इन दोनों अवस्थाओं के समझाने के लिए ‘कामभोगयोः’ यह द्विवचन शब्द कहा है । ये दोनों अवस्था मन के विक्षेप का हेतु हैं । पर सुषुप्ति रूप (वा शून्य समाधि रूप) लय

संबंध—अब उक्त अभ्यास का (वा आत्मविषयक समाधि का) भगवान् फल कहते हैं—

अवस्था जिसमें मन सब विक्षेप रूप आयास से रहित होता है, वह भी वैसी ही योग-समाधि की विरोधी है जैसी कि काम-भोग की अवस्था; अर्थात् जैसे काम (कामना) विषयगोचर प्रमाणादि वृत्तियों को उत्पन्न करके समाधि का विरोधी होता है, वैसे लय भी निद्रारूप वृत्ति को उत्पन्न करके समाधि का विरोधी होता है, जिससे सब वृत्तियों का निरोध ही समाधि कहलाता है। इसलिए कामादि कृत विक्षेप से जैसे मन का निग्रह वा निरोध करना उचित और आवश्यक है, वैसे परिश्रमादि कृत लय से, अर्थात् परिश्रम करते-करते थक जाने पर जो निद्रारूप लय, अथवा कुछ चिंतन करते-करते थक जाने पर जो शून्य समाधिरूप लय है, उससे भी मन का हटाना और निरोध करना योगी के लिए उचित और आवश्यक है ॥ १ ॥ ऊपर यह कहा है कि उपाय से मन को रोके, सो उपाय को अब आचार्यजी सविस्तर कहते हैं—

(२) "वह सब नाम-रूप द्वैतप्रपंच दुःखरूप ही है" ऐसा चिंतन करके (अथवा "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति अथ यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखमिति"="यह जो देशकाल वस्तुपरिच्छेद से रहित भूमा अर्थात् चेतन है, वही सुखरूप है; अल्प वा परिच्छिन्न पदार्थों में सुख नहीं, जो-जो पदार्थ अल्प अर्थात् परिच्छिन्न हैं, वे नाशवान् हैं, और दुःखरूप हैं," ऐसा श्रुति-वाक्यों से वा गुरु के उपदेशों से चिंतन करके) योगी पुरुष काम-भोगों को अपने मन से निवृत्त करे, अर्थात् चिंत्यमान तथा भुज्यमान अवस्था-वाले विषयों को अपने मन से दूर करे। (इतना तो द्वैतरूप प्रपंच के स्मरण-काल में वैराग्यभावना रूप उपाय कहा, अब इस प्रपंच के विस्मरण रूप परम उपाय को कहते हैं)। जन्म से रहित जो भूमा अर्थात् ब्रह्म है, वही यह सब जगत् है, इस ब्रह्म से अतिरिक्त किंचित्-मात्र भी वस्तु नहीं है। इस प्रकार विचार करके योगी पुरुष इस अद्वितीय ब्रह्म से

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

विपरीत (उत्पन्न होनेवाले नामरूप) द्वैतमात्र को देखता ही नहीं, इसलिए वैराग्यरूपी उपाय के बाद फिर सब प्रपंच को ब्रह्मरूप करके जानने का उपाय करे ॥ २ ॥ इस प्रकार वैराग्यभावना तथा तत्त्वदर्शन-रूप दो उपाय विषयों से निवृत्त होने के लिए बताये गये। अब उक्त उपायों द्वारा विषयों से निवृत्त किया हुआ चित्त जब लय अवस्था की ओर झुके, अथवा लय से उत्थान हुआ विषयों में पुनः प्रवृत्त होकर विक्षिप्त होवे, तो उसका उपाय अब कहते हैं—

(३) जब पूर्व अभ्यास से चित्त पुनः-पुनः लय (निद्रा वा सुषुप्ति) को प्राप्त हो, तो उस लय अवस्था से योगी पुरुष चित्त को जगाये, अर्थात् उस अवस्था से वा उस अवस्था के कारणों से चित्त को उठाने वा निकालने का यत्न करे। और जब लय से उत्थान हुआ चित्त पूर्व स्वभाव से विषयों वा वासनाओं में पुनः विक्षिप्त हो, तो उक्त वैराग्य भावना तथा तत्त्वोपदेश वा तत्त्वदर्शनरूप उपायों से चित्त को निरुद्ध करे। और जब चित्त लय अवस्था तथा काम-भोग अवस्था से तो निवृत्त हो गया हो, परंतु ब्रह्मरूप स्वभाव को अभी प्राप्त न हुआ हो किंतु मध्य में ही स्थित हो, तो इस स्तब्धभाव (एक स्थान पर ही रुकी हुई अवस्था) को 'कषाय' दोष कहते हैं। इस प्रकार बीच में ही रुके हुए चित्त को पुरुष 'कषाय' दोषवाला जाने। "ऐसी अवस्था में हमारा चित्त अभी समाहित नहीं हुआ है' इस प्रकार जानकर जैसे लय-विक्षेप से चित्त निवृत्त किया था वैसे इस कषाय-दोष से भी चित्त को निवृत्त करे। इस रीति से जब समरूप ब्रह्म को चित्त प्राप्त हो, तब कषाय वा लय की भ्रांति से उसे चलायमान न करे, बल्कि उस चित्त को धैर्य पकड़ी हुई बुद्धि से और अपने दृढ तत्त्व-निश्चय से अत्यंत प्रयत्न करके सम ब्रह्म में ही स्थापन करे ॥ ३ ॥ इस निरोध-समाधि के प्राप्त होने पर फिर क्या कर्त्तव्य है, उसे अब कहते हैं—

(४) इस रीति से निरोध-समाधि पाने पर यद्यपि सुख तो प्राप्त

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

होता है, परंतु योगी पुरुष इस निरोधावस्था में उस सुख का स्वाद लेने न लग पड़े, अर्थात् "इतने काल तक मैं सुखी हुआ स्थित हूँ" इस प्रकार की सुख के स्वाद लेनेवाली वृत्ति को योगी उत्पन्न न करे। यदि ऐसी सुखाकार वृत्ति को वहाँ उत्पन्न कर लेगा तो असंप्रज्ञात समाधि का भंग हो जायगा। यह वार्ता पहले वर्णन की जा चुकी है। और सुखाकार वृत्तिरूप प्रज्ञा करके जो सुख प्रतीत होता है, वह सुख अविद्या से कल्पित होने के कारण मिथ्या ही है। इस प्रकार की भावना से वह योगी उक्त सब सुखों में निःसंग होवे, अर्थात् उस सुख की इच्छा (वा वृत्ति) से रहित होवे। अथवा इसी पाद के दूसरे अर्थ ऐसे हो सकते हैं कि (निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्) सविकल्प सुखाकार वृत्तिरूप जो प्रज्ञा है, उसके साथ योगी अपना संग न रक्खे। सब वृत्तियों से रहित चित्त के कारण जो स्वरूप के सुख का अनुभव होता है, वह परम सुख का अनुभव तो योगी त्याग नहीं सकता, क्योंकि वह वृत्ति से बिना ही अर्थात् निज स्वभाव से प्राप्त हुआ होता है, जिससे निवृत्त किया नहीं जा सकता। इस प्रकार सब ओर से निवृत्त करके प्रत्यय (पूर्ण निश्चय) के बल से निश्चल किया हुआ जो चित्त है वह यदि अपने चंचल स्वभाव के कारण फिर कभी विषयों की अभिमुखता करके बाहर गमन करे, तो उस समय भी वह योगी निरोध के प्रयत्न द्वारा उसे पुनः-पुनः सम ब्रह्म में एकता को प्राप्त कराये ॥ ४ ॥ सम ब्रह्म की प्राप्ति का समय वा लक्षण अब कहते हैं—

(५) जब चित्त न निद्रारूप लय को, न विक्षेप को और न कषाय आदि अन्य दोषों को प्राप्त होता है, और इस कारण सब दोषों और चेष्टारूपी लिंगों से रहित होता है, बल्कि जब वह ऐसा निश्चल स्थित होता है जैसे वायु-रहित स्थान में दीपक, तब वह चित्त सम ब्रह्म को प्राप्त हुआ होता है। अर्थात् तब वह ब्रह्मभूत होता है ॥ ५ ॥ इसी प्रकार का ध्यानयोग श्रुति ने भी स्पष्ट रूप से ऐसे कहा है—

※ प्रशान्त^{3}-मनसं^{4}, हिं^{1}, एनं^{2}, योगिनं^{5}	निःसंदेह^{1} इस^{2} शांत^{3} मनवाले^{4} योगी^{5} को	शान्त^{1}-रजसं^{2}, ब्रह्म^{3}-भूतं^{4}, अ^{6}-कल्मषम्^{5} †	शांत^{1} हुए रजोगुण^{2} वाले, ब्रह्म^{3} रूप^{4} हुए और पाप^{5} से रहित^{6} हुए (निष्पाप योगी) को
सुखं^{2}, उत्तमं^{1}, उपैति^{3}	उत्तम^{1} सुख^{2} प्राप्त^{3} होता है		

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥ इति । अर्थ—जब मन सहित पंच ज्ञानेंद्रिय के निरोध को प्राप्त होता है, और बुद्धि कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस स्थिर इंद्रियों की धारणा को योग में निपुण (वा तत्त्ववेत्ता) पुरुष परम गति कहते हैं और उसी को योग मानते हैं। उस समय वह योगी प्रमाद से रहित हुआ होता है, क्योंकि योग उत्पत्ति और लय का स्थान अर्थात् आंतर ज्ञान की उत्पत्ति और बाह्य ज्ञान के लय का स्थान है। (कठ. १. व. ६. श्लोक १०, ११)। इसी मूलभूत श्रुति को अंगीकार करके पतंजलि भगवान् ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यह सूत्र कहा है। और ध्यान का स्वरूप भी ऐसे ही वर्णन किया है; अर्थात् (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्) उस स्थान में जहाँ धारणा करी है प्रत्यय के एकरूप से प्रवाह को ध्यान कहते हैं। जिससे भगवान् ने अब ऐसा कहा है कि "ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।"

※ प्रशांत मन उसे कहते हैं जो सर्व वृत्तियों से ख़ाली हो, और केवल नाममात्र संस्कार रह गये हों (श्रीमधुसूदन स्वामी)। जिसका मन शांत हो जाता है, अर्थात् ध्यान में आरूढ़ हो जाता है, इधर-उधर नहीं जाता, प्रत्यय की एकतानता हो जाती है, चित्त आत्मा में एकाग्र हो जाता है, व्युत्थान की शक्ति जाती रहती है, (मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद)। जो मन शांत हो गया, अर्थात् निरालंबन ध्यान में स्थित हो गया है (टीकाकार)।

† "अकल्मष", जिसका मल जाता रहा है। अर्थात् जो धर्म-अधर्म

अन्वयार्थ—इस शांत मन, रज से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत योगी को निःसंदेह उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! उक्त रीति से मन को निरंतर आत्मा में अर्थात् आत्मध्यान में लगाते रहने से जिसका मन शांत (अथवा निरालंबन ध्यान में स्थित, वा सब वृत्तियों से रहित रूप निरोध को प्राप्त) हो गया है--इसी को शास्त्र में निर्मनस भी कहते हैं—और विक्षेप का हेतु रजोगुण जिसका निवृत्त हो गया है, अर्थात् जिसका रजोगुण स्वभाव अपने आत्मचिंतन से नितांत दब गया है, या पूर्वोक्त रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम और क्रोध जिसका ठंडा पड़ गया है, अथवा जो उक्त उपायों द्वारा विक्षेपदोष से रहित हो गया है; और ऐसे शांत मन और शांत रजोगुण होने के कारण सर्वप्रकार के कलमषों (लय अर्थात् निद्रा का हेतु-भूत तमोगुण रूप कलमष, और संसार का हेतु-भूत जो धर्माधर्मादि रूप कलमष अर्थात् पाप) से जो रहित हो गया है; और "यह सर्व जगत् ब्रह्मरूप ही है" वा "शुद्ध सच्चिदानंद, निर्विकार और स्वप्रकाशात्मा वा ब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ" ऐसे निश्चयपूर्वक ध्यान में पूर्ण युक्त होने से जो ब्रह्म (साक्षात्कार) को प्राप्त हो चुका है, ऐसे जीवन्मुक्त योगी को उत्तम अर्थात् परम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ *

की पुनर्जन्म करानेवाली वासना है, वह जिसमें नितांत नहीं रही है (मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद) ।

* इस शांत-रजोगुण और शांत मनवाले पुरुष के विषय में श्रुति भी ऐसे कहती है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

संबंध-- (१) इस अत्यंत सुख को ब्रह्मानंद के स्वरूप में भगवान् अब दर्शाते हैं--

अथवा (२) अब योगी के इस उत्तम सुख की अंतिम सीमा को भगवान् स्पष्ट रूप से निरूपण करते हैं--

अथवा (३) अब भगवान् योगी के उक्त सुख को और स्पष्ट निरूपण करते हैं--

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

युञ्जन्^{७}, एवं^{४}, सदा^{५}, आत्मानं^{६}, योगी^{३}, विगत^{१}- कल्मषः^{२}	दूर^{१} हुए पापोंवाला^{२} योगी^{३} ऐसे^{४} सदा^{५} आत्मा^{६} (अपने आप) को युक्त^{७} करता हुआ	सुखेन^{५}, ब्रह्म^{१}-संस्पर्शं^{२}, अत्यन्तं^{३}, सुखं^{४}, अश्नुते^{६}	ब्रह्म^{१} से स्पर्श^{२} करनेवाले अत्यंत^{३} सुख^{४} को वह सुख^{५}- पूर्वक (अना- यास) भोगता^{६} है

अन्वयार्थ---दूर हुए पापोंवाला योगी इस प्रकार आत्मा (मन)

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥" (कठ २ वल्ली ६)

अर्थ---जब सारी कामनाएँ, जो इसके हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, अर्थात् जब रजोगुणोत्पन्न काम सहित अपनी मूल के निवृत्त हो जाता है, अथवा जब स्वार्थ-कामनाओं की गंध तक जाती रहती है, और इस प्रकार नितांत निःस्वार्थी वा निष्कामी हो जाता है, तब मर्त्य (मरनेवाला) अमृत होता है, और यहीं वह ब्रह्म (अर्थात् ब्रह्मानंद) भोगता है ॥ १४ ॥ जब हृदय की सारी ग्रंथिएँ (गाँठें) यहाँ खुल जाती हैं, अर्थात् जब (पूर्ण निरोधावस्था वा आत्मसाक्षात्कार के प्राप्त होने पर) सर्वप्रकार के संशय-विपर्यय निवृत्त हो जाते हैं, तब मर्त्य अमृत होता है । इतना ही अनुशासन है ॥ १५ ॥

को सदा युक्त करता हुआ ब्रह्म से स्पर्श करनेवाले अत्यंत सुख को आनंद से भोगता है ॥ २८ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! "मनसैवेन्द्रियग्रामं" इत्यादि वचनों से जो क्रम ऊपर कहा है, उस क्रमानुसार जो योगी आत्मा को अर्थात् अपने आपको वा मन को निरंतर (अपने परमस्वरूप के ध्यान में) पूर्ण युक्त अर्थात् समाहित करता रहता है, और इस रीति से जिसके सब प्रकार के कल्मष (मल, दोष वा संसार की उत्पत्ति करनेवाले धर्म-अधर्म वासनारूप कल्मष अर्थात् पाप) दूर हो गये अर्थात् नष्ट हो गये हैं, ऐसा नित्य समाहित * चित्त और निष्पाप योगी आनंदपूर्वक (आसानी से) उस अत्यंत सुख को भोगता है कि जो सीधा ब्रह्म से संबंध रखता है, अर्थात् जो सुख विषय के स्पर्श से तो रहित है पर जिसमें ब्रह्म का तादात्म्यरूप संस्पर्श है, अर्थात् जो आत्मसाक्षा-

---

* समाधि का स्वरूप योगदर्शन में ऐसे लिखा है--"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥"=उसी में जब अर्थमात्र (ध्यान के आलंबन) का निर्भास रह जाता है और अपना स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तो वह समाधि है । अर्थात् समाधि में ध्येय वस्तु का चित्त में प्रकाश हो जाता है, और योगी का मानसिक अहंकार (अर्थात् अहं प्रत्यय) उस समय नहीं रहता, अर्थात् योगी तन्मय हो जाता है । ऐसा ही भगवान् इस श्लोक में कहते हैं "योगी ब्रह्म हो जाता है," "सबसे ऊँचा सुख पाता है ।" इस प्रकार आत्मा का ध्यान करते-करते योगी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है और उत्तम सुख (अर्थात् ब्रह्मानंद वा मोक्ष) पाता है । यही समाधि का स्वरूप है; पर यह अवस्था तभी प्राप्त होती है जब योगी पहले 'प्रशान्तमनस्,' 'शांतरजस' और 'अकल्मष' हो जाता है ।

(मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद)

त्कार से प्राप्त होता है, या जो सुख ब्रह्मस्वरूप * है जिससे ब्रह्मानंद कहलाता है, और इसीलिए जो अत्यंत अर्थात् अपरिच्छिन्न है, ऐसे सुख को उक्त आत्मानुभवी योगी आनंद से † भोगता है ॥ २८॥

---

* अत्यंत सुख (वा मोक्षानंद) ही ब्रह्म है, जैसे कि श्रुति में आया है--"आनन्दं ब्रह्म ।" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥" (तै० भृगु० वल्ली, अ० ६) । अर्थ--आनंद स्वरूपब्रह्म है । 'आनंद ब्रह्म है' ऐसा उसने अनुभव किया, क्योंकि 'आनंद' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर 'आनंद' से जीते हैं; और मरते हुए आनंद में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मभूत ही आनंद को प्राप्त हुआ होता है, और अत्यंत सुख का भोगनेवाला ही ब्रह्मस्वरूप हुआ होता है । अर्थात् आनंदस्वरूप ही ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्मस्वरूप ही आनंदस्वरूप है, इस प्रकार दोनों वास्तव में एक होते हैं । इसी लिए भगवान् ने यहाँ इस सुख की उपमा "ब्रह्मसंस्पर्श" दी है, और इस सुख को भोगनेवाला केवल अपने परमस्वरूप में युक्त वा लीन रहनेवाला ही कहा है ।

† "सुखेन सुखमश्नुते"=आनंद से सुख को प्राप्त होता है, इस पद से अभिप्राय यह है कि असंप्रज्ञात-समाधि-काल में योगी को सुख विना किसी प्रकार के विघ्न के प्राप्त हो जाता है । और विघ्न योगसूत्र में नौ प्रकार से ऐसे वर्णित हैं—"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।" अर्थ—१ व्याधि, २ स्त्यान, ३ संशय, ४ प्रमाद, ५ आलस्य, ६ अविरति, ७ भ्रांति-दर्शन, ८ अलब्धभूमिकत्व, ९ अनवस्थितत्त्व, ये नौ प्रकार के चित्तविक्षेप अंतराय कहलाते हैं। (१) व्याधि=शरीरस्थ धातुओं (पित्त-कफादि) की न्यूनाधिकता से ज्वरादि रोगों का होना । (२) स्त्यान=आसन इत्यादि अंगों का गुरु से शिक्षा मिलने पर भी न आना, अर्थात् अकर्मण्यता । (३) संशय=उभयकोटि ज्ञान रहना, अर्थात् यह करने

संबंध—(१) इस अत्यंत सुख से बढ़कर जो और फल इस योगी को मिलता है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार योग के सिद्ध होने पर (अथवा ब्रह्मानंद के अनुभव होने पर) जो सर्वत्र आत्मौपम्य दृष्टिरूप परम फल मिलता है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) इस अत्यंत सुख के पा लेने के बाद रुंगे-छुंगे में जो और फल अनायास प्राप्त हो जाता है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) * जिसको उक्त उपाय अति कठिन हो, उससे सुगम जो दूसरा उपाय ध्यानयोगी के लिए हो सकता है, उसे भगवान् अब कथन करते हैं—

योग्य है या नहीं, अथवा यह बात ठीक है या नहीं, ऐसी दुबधा में पड़ना या पड़े रहना। (४) प्रमाद=समाधि के साधनों के योग्य (वा सामर्थ्यवान्) होने पर भी उनका अनुष्ठान न करना। (५) आलस्य=चित्त और शरीर में भारीपन प्रतीत होना, अर्थात् कफादि धातुओं की वृद्धि से अभ्यासादि कर्त्तव्यों में चित्त का बोझ मानना। (६) अविरति=किसी विषय विशेष में निरंतर संबंध होने पर चित्त की उसमें आसक्ति वा अभिलाषा का होना। (७) भ्रांति-दर्शन=योग के साधनों में असाधन बुद्धि और उसके असाधनों में साधन बुद्धि का होना। (८) अलब्धभूमिकत्व=समाधि का लाभ न होना, अर्थात् समाधि की एकाग्र भूमिका का न होना। (९) अनवस्थितत्त्व=समाधि के प्राप्त होने पर प्रयत्न की शिथिलता से वहाँ चित्त का स्थिर न रहना। इन सब विघ्नों को दूर करके योगी सुखपूर्वक (अर्थात् अनायास) ही उत्तम सुख को पा लेता है, यह उक्त पद का तात्पर्य है।

* प्रसिद्ध श्रीज्ञानदेव ने अपनी व्याख्या ज्ञानेश्वरी में यह तीसरा संबंध दिया है। बहुत दूर तक विचार करने से यह तीसरा संबंध भी निकल सकता है, यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं। पर यहाँ यह भी उपयोगी हो सकता है, इसलिए दे दिया गया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २६ ॥*

सर्व-भूत-स्थं, आत्मानं	सब भूतों में स्थित आत्मा को	ईक्षते, योग-युक्त-आत्मा, सर्वत्र, सम-दर्शनः	योग-युक्त आत्मावाला सर्वत्र समदर्शी देखता है
सर्व-भूतानि, च, आत्मनि	और सब भूतों को आत्मा में		

अन्वयार्थ—योग-युक्तात्मा पुरुष समदृष्टिवाला हुआ सब भूतों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त योग-युक्तात्मा पुरुष फिर समदर्शी हो जाता है। अर्थात् वह पुरुष जिसका आत्मा (अंतःकरण, मन वा बुद्धि-चित्त इत्यादि अपना आप) अपने परमस्वरूप के ध्यान में उक्त रीति से पूर्ण युक्त अर्थात् समाधिस्थ हो गया है, अथवा "मनसैवेन्द्रियग्रामं" इत्यादि क्रम से जो अपने परमस्वरूप के ध्यान में निरंतर युक्त होते-होते ध्यानारूढ़ वा ध्याननिष्ठ हो गया है, अथवा "मैं ही शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ" वा "यह सर्व जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है' इस प्रकार के निश्चय से जो योगी पूर्ण युक्त हो गया है, ऐसा पुरुष उक्त पूर्ण युक्तावस्था के कारण सर्वत्र † समदर्शी हो जाता है। इसलिए फिर वह सब पदार्थों में

---

* श्रुति में यह विषय इस प्रकार आया है—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईश० ६)

अर्थ—जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, फिर वह किसी से घृणा नहीं करता ।

† "सर्वत्र समदर्शनः" का अर्थ वा अभिप्राय "सबमें एक आत्मा

आत्मा को और सब पदार्थों को आत्मा में देखता (अनुभव देखनेवाला' वा अद्वैतदर्शन स्पष्ट है, और इसी को भगवान् शंकराचार्य तथा अन्य कई एक टीकाकारों ने दिखलाया है। और २८ से ३२ तक इन चार श्लोकों में योगी की यही समदर्शन रूप अवस्था प्रकट की गई है, पर श्रीरामानुज इन चार श्लोकों में योग के विपाक की चार अवस्था दिखलाते हैं—"पहली अवस्था में योगयुक्तात्मा पुरुष प्रकृति से वियुक्त हुए आत्माओं में सर्वत्र समदृष्टिवाला हुआ अर्थात् सबमें ज्ञानैकस्वरूप आत्मा को देखता हुआ सब भूतों में स्थित अपने आत्मा को और सब भूतों को अपने आत्मा में देखता है, अर्थात् सब भूतों के तुल्य अपने आत्मा को और अपने आत्मा के तुल्य सारे भूतों को देखता है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मा के देखने पर, सब आत्मा उसी के तुल्य होने से सारे ही आत्मा देखे हुए हो जाते हैं। यहाँ सब भूतों में आत्माओं की समता देखने से ही अभिप्राय है, न कि एकता से। इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ "सर्वत्र समदर्शनः"="सर्वत्र सम देखनेवाला' कहा है, न कि एक देखनेवाला; और कि आगे (श्लोक ३३ में) "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन' कहेंगे, और पूर्व (५ । १६) "निर्दोषं हि समं ब्रह्म' कहा है।" (श्रीरामानुज)

हमारे विचार में ऐसा अभिप्राय दिखलाना केवल सांप्रदायिक झगड़ों वा व्यर्थ मोड़-तोड़ का परिणाम है, क्योंकि यहाँ यह पूर्ण स्पष्ट है कि सम देखने से अभिप्राय अपने समान अपने से अलग किसी अन्य आत्मा को देखना नहीं, किंतु अपने को ही सर्वत्र देखना और अनुभव करना है। क्योंकि जो वस्तु अपने समान अपने से भिन्न देखी जाती है, उसे अपने से बाहर देखना कहा जाता है, अपने भीतर नहीं। पर यहाँ तो आत्मा को सब पदार्थों में और सब पदार्थों को आत्मा में ओतप्रोत की दृष्टि से सम देखना कहा है, न कि आत्मा के गुण पदार्थों में और पदार्थों के गुण आत्मा में देखने को कहा है। फिर गीता कहीं भी अनेक भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतिपादन नहीं करती, केवल एक सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न

करता)* है; अथवा जो उक्त रीति से पूर्ण युक्तात्मा पुरुष है, और इसी कारण जो सर्वत्र समदृष्टि, अर्थात् सर्वत्र एक समान ब्रह्मदृष्टि रखनेवाला हो गया है; ऐसा समदर्शी और ध्यानयोग में पूर्ण युक्तात्मा पुरुष सर्व पदार्थों में आत्मा (अपने आप) को और आत्मा (अपने आप) में सर्व पदार्थों को देखता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने से योगी को सर्वत्र अपना आप ही दीखता है, जिससे उसकी दृष्टि सर्वत्र सम हो जाती है, और "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः"=जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ उसे अपना आत्मा ही दीखने से उसकी समाधि लगती रहती है, अर्थात् सर्वत्र समदर्शन से उसका चित्त अब समाहित ही रहता है ॥ २६ ॥ †

शुद्धात्मा ही मानती है, ऐसा होते हुए भी श्रीरामानुज की उक्त व्याख्या स्पष्ट खींचातानी और अनर्थ ही दर्शाती है। (टीकाकार)

* इससे यह अभिप्राय है कि पूर्ण युक्त वा समाधिस्थ दशा का परिणाम केवल अत्यंत सुख (ब्रह्मानंद) की प्राप्ति ही नहीं बल्कि परिच्छिन्न दृष्टि, अहंकार और असमता के अभाव की प्राप्ति भी होती है। इसलिए पूर्ण सिद्ध लोगों से अनुभव के पश्चात् (सबसे पूर्ण अभेदता भान होने के कारण) सबके हित के लिए दिन-रात कर्म स्वतः होते रहे हैं, जैसे कि श्रीशंकराचार्य, पतंजलि ऋषि, बुद्ध भगवान् और श्रीकृष्ण भगवान् इत्यादि से हुए।

† इस श्लोक पर जो श्रीज्ञानदेव की व्याख्या है, वह अगले श्लोक ३० के फ़ुटनोट में दी हुई है। पर अन्य रूप से इस श्लोक के अर्थ ऐसे भी हो सकते हैं कि—"जो पुरुष योगयुक्तात्मा है और जो सर्वत्र समदर्शी है, वही अपने को सब पदार्थों में और पदार्थों को अपने में अनुभव करता है। अर्थात् योगी पुरुष और समदर्शी पुरुष दोनों ही आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी हैं। अथवा जो अष्टांग योग में तो युक्त न

संबंध—(१) अब इस "आत्मा के एकत्वदर्शन" का भगवान् आगे तीन श्लोकों में फल वर्णन करते हैं—

अथवा (२) पदार्थों के साथ योगी की एकता (अभेदता) दर्शाकर अब भगवान् अगले तीन श्लोकों में (अपने परमस्वरूप) परमात्मा से उस योगी की अभेदता वा एकता दर्शाते हुए उसका फल वर्णन करते हैं—

अथवा (३) अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से (वा शुद्ध त्वंपदार्थ की दृष्टि से) सवत्र एकता दर्शाकर अब भगवान् उसी एकता को व्यक्त "मैं" पद के प्रयोग से (अर्थात् भक्ति-दृष्टि वा शुद्ध तत्पदार्थ से) निरूपण करते हैं—

हो सकना हो, पर उससे सुगम समदर्शन के मार्ग में प्रवृत्त होकर एकत्व के निश्चय से समदर्शी हो गया हो, तो वह समदर्शी भी आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। यह अभिप्राय श्रीयोगवासिष्ठ में ऐसे वर्णित है—

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ १ ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥ २ ॥

अर्थ—हे रामचंद्र ! साक्षी आत्मा की उपाधि रूप जो चित्त है उसके नाश के दो क्रम (रीतियाँ, उपाय वा मार्ग) हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान । सर्व वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है, और आत्मा-अनात्मा का ठीक-ठीक जानना ज्ञान कहलाता है । अर्थात् चित्त वृत्ति-निरोधरूप असंप्रज्ञात समाधि का नाम योग है; और 'साक्षी आत्मा में कल्पित यह प्रपंच मिथ्या होने से तीन काल में नहीं है, एक साक्षी आत्मा ही परमार्थ सत्य है ।' इस प्रकार के सम्यक् विचार का नाम ज्ञान है ॥ १ ॥ किसी को योग असाध्य (कठिन पड़ता) है, और किसी को तत्त्वनिश्चय अर्थात् तत्त्वविचार कठिन पड़ता है । इसीलिए परमात्मदेव शिव ने इन दोनों प्रकारों (विधियों, रीतियों वा मार्गों) को वर्णन किया है ॥ २ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

यः^{1}, मां^{2}, पश्यति^{4}, सर्वत्र^{3}	जो^{1} मुझको^{2} सर्वत्र^{3} देखता है^{4}	तस्य^{1}, अहं^{3}, न^{2}, प्रणश्यामि^{4}	उसका^{1} न^{2} मैं^{3} खोया^{4} हुआ होता हूँ
सर्वं^{2}, च^{1}, मयि^{3}, पश्यति^{4}	और^{1} सब^{2} मुझ^{3} में देखता है^{4}	सः^{3}, च^{1}, मे^{4}, न^{2}, प्रणश्यति^{5}	और^{1} न^{2} वह^{3} मेरा^{4} खोया^{5} हुआ होता है

अन्वयार्थ— जो मुझको सर्वत्र और सबको मुझमें देखता है, उसका न मैं खोया हुआ (परोऽक्ष) होता हूँ, और न वह मेरा खोया हुआ (परोऽक्ष) होता है ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त रीति से जो योगी पुरुष मुझ सबके अंतर्यामी वासुदेव को (वा मुझ शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप तथा सर्वव्यापक आत्मा को) सब पदार्थों में देखता अर्थात् अनुभव करता है, और इसी प्रकार सब पदार्थों को जो मुझ (सबके आदिकारण) में देखता अर्थात् अनुभव करता है—अर्थात् जो निरुद्ध चित्त से मुझ (सर्वव्यापी आत्मा) को सर्वत्र व्यापक और सबसे अभिन्न साक्षात्कार करता है, उसके लिए न तो मैं अप्रकट, दूर या परोऽक्ष होता हूँ, अर्थात् सर्वकाल और सर्वत्र में उसे दिखाई देता रहता वा अनुभव होता रहता हूँ; और न वह मेरे लिए अदृश्य, दूर या परोऽक्ष होता है, अर्थात् न वह मेरे से दूर या भिन्न हुआ होता है, बल्कि निरुद्ध चित्त के कारण मुझमें तद्रूप हुआ रहता है, जिससे उसकी मेरे साथ और मेरी उसके साथ अभेदता नित्य बनी ही रहती है। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि जो योगी निरुद्ध चित्त से मुझ परमात्मा की अपने साथ तथा समस्त प्रपंच के साथ पूर्ण अभेदता अनुभव करता है,

वह (आत्मैकत्वदर्शी) नित्य मेरे समीपस्थ वा मुझमें वर्तता होता है, और मैं उसके समीपस्थ वा उसमें वर्तता होता हूँ ॥ ३० ॥※

※ पूर्वोक्त आत्मैकत्वदर्शन का फल (परमात्मा के साथ एकत्वदर्शन) कहते हैं—"जो मुझ वासुदेव सबके आत्मा को सब भूतों में देखता है और मुझ सबके आत्मा में ब्रह्मादिक सब भूतों को देखता है, उस आत्मैकत्वदर्शी के लिए न मैं (ईश्वर) परोऽक्ष होता हूँ, न वह मुझ (ईश्वर) के परोऽक्ष होता है, क्योंकि वह और मैं एकात्मा हुए होते हैं।" (श्रीशंकराचार्य)

श्रीरामानुज अपने पूर्व योग-क्रम को सम्मुख रखते हुए इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—"पहले सारे आत्माओं की आपस में समता कही है. अब वह उससे भी ऊँची अवस्था में परमात्मा के साथ समता को अनुभव करता है, जैसा कि "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" उपाधि से रहित हुआ परम समता को प्राप्त होता है (मुण्ड० ३, खं० १, श्लो० २)। इसमें पुण्य-पाप को झाड़कर स्वरूप से ठहरे हुए प्रत्येक आत्मा की परमात्मा के साथ समता कही है। इस समता को देखता हुआ जो आत्म वस्तु को मुझमें देखता है, अर्थात् एक दूसरे की समता के कारण दोनों में से एक के देखने से दूसरा भी उसी के तुल्य है, ऐसा देखता है; वह जब अपने स्वरूप को देखता है, तो भी मैं उसके परोऽक्ष नहीं होता; और जब मुझे देखता है, तब भी उसको अपना स्वरूप परोऽक्ष नहीं होता।"

श्रीयामुनाचार्य ऐसे व्याख्या करते हैं—"जो योगी मेरे स्वरूप को सब आत्माओं में देखता है, उस योगी के मैं अदृश्य नहीं होता हूँ, और वह मेरे अदृश्य नहीं होता (किंतु सर्वदा मेरी कृपादृष्टि का विषय रहता है)।"

श्रीज्ञानदेवजी अनोखे ढंग से इन दोनों (२९, ३०) श्लोकों की ऐसे व्याख्या करते हैं—"मैं सकल देहों में हूँ, इसमें कुछ संदेह नहीं। और वैसे ही यह सब जगत् मुझमें ही है। इस प्रकार यह परस्पर मिला हुआ ऐसा ही भरा है, यह बात बुद्धि से निश्चय की जानी चाहिए।

संबंध—(१) उक्त कथन को भगवान् पुनः स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) पूर्व दो श्लोकों में शुद्ध 'त्वं पदार्थ' का और शुद्ध 'तत्पदार्थ' का निरूपण किया। अब भगवान् इस श्लोक से शुद्ध 'तत्त्वं पदार्थों' का अभेदरूप तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ निरूपण करते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥ *

सामान्यतः, हे अर्जुन ! जो एकाग्र भावना से मुझे सब भूतों से अभिन्न जानकर भजता है, भूतों की अनेकता के हेतु जिसके अंतःकरण में अनेकता नहीं उत्पन्न होती, जो केवल मेरी एकता ही जानता है; 'वह और मैं एक ही हूँ' यह कह बताना वृथा है, क्योंकि हे धनंजय ! न कहते भी वह मद्रूप ही है। दीपक और प्रकाश में जैसी एकता की स्थिति है, वैसे ही वह मुझमें रहता है, और मैं उसमें रहता हूँ। जैसे उदक के अस्तित्व से रस रहता है, अथवा गगन के परिमाण से अवकाश रहता है, वैसे ही वह पुरुष मेरे रूप से रूपवान् रहता है।"

लोकमान्य तिलक इन दोनों श्लोकों की ऐसे व्याख्या करते हैं—"इन दो श्लोकों (२९, ३०) में पहला वर्णन 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कर अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से, और दूसरा वर्णन प्रथम पुरुष-दर्शक 'मैं' पद के प्रयोग से व्यक्त अर्थात् भक्ति-दृष्टि से किया गया है। परंतु अर्थ दोनों का एक ही है। मोक्ष और कर्मयोग इन दोनों का ही आधार यह ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टि ही है। २९वें श्लोक का पहला अर्धांश कुछ फ़र्क़ से मनुस्मृति (१२, ९१), महाभारत (शां० २३८, २१ और २६८, २२), और उपनिषदों (कैव० १, १०; ईश. ६) में भी पाया जाता है।....यह ज्ञान हुए विना इंद्रिय-निग्रह का सिद्ध हो जाना भी व्यर्थ है, और इसी लिए अगले अध्याय से परमेश्वर का ज्ञान बतलाना आरंभ कर दिया है।"

* श्रुति में यह विषय इस प्रकार है—(देखो फ़ुटनोट पृष्ठ ७७१)

सर्व^{5}-भूत^{6} स्थितं^{7}, यः^{1}, मां^{4}, भजति, एकत्वं^{2}, आस्थितः^{3}	जो^{1} एकता^{2} में स्थित^{3} हुआ मुझ^{4} सब^{5} भूतों^{6} में स्थित^{7} को भजता है	सर्वथा^{1}, वर्तमानः^{2}, अपि^{3}	सर्वप्रकार^{1} से वर्तता^{2} हुआ भी^{3}
		सः^{1}, योगी^{2}, मयि^{3}, वर्तते^{4}	वह^{1} योगी^{2} मुझ^{3} में वर्तता^{4} है

अन्वयार्थ—जो योगी एकता में स्थित होकर मुझ सब भूतों में स्थित को भजता है, वह सर्वप्रकार * से वर्तता हुआ भी मुझमें वर्तता है ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो योगी उक्त रीति से सबमें एकत्व को प्राप्त हो गया है, अर्थात् सबसे अभेद दृष्टि में जो दृढ़ स्थित हो गया है, अथवा एक अद्वितीय ब्रह्म की एकता के ध्यान वा निश्चय में जो पूर्ण स्थित हो गया है, अथवा जो सब वस्तुओं में अधिष्ठानरूप से मुझको स्थित अनुभव कर रहा है, अथवा अभेदोपासना में जो स्थित हुआ है, अथवा एकत्वरूप ज्ञान का जिसने आश्रय वा अवलंबन किया हुआ है; ऐसा जो भी एकता में स्थित हुआ पुरुष मुझ सब पदार्थों में स्थित ईश्वर को भजता है, अर्थात् 'प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है', ऐसी एकत्व-बुद्धि, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धि को मन में रखते हुए जो भी योगी मुझ

"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईश. ७)

अर्थ—जिस समय (अथवा जिस अवस्था में पहुँचकर) ये सब प्राणी अपना आत्मा करके ही भान हो गये, तब (वा उस अवस्था में) ऐसे एकत्व द्रष्टा को फिर शोक और मोह कहाँ ।

* सर्वप्रकार से, अर्थात् खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते और कर्मत्याग में भी । (श्री श्रीधर)

सर्वव्यापी को भजता वा ध्याता है, अथवा अभेदोपासना से मुझे साक्षात्कार करता है, अथवा सबमें मुझको ही एकता की दृष्टि से जो पूजता, सेवता और भजता वा ध्याता है; वह चाहे किसी भी अवस्था में वर्त रहा हो, पर वास्तव में मुझमें * ही वर्तता होता है; अर्थात् खाते-पीते, चलते-फिरते, बैठते-उठते इत्यादि सब व्यवहारों को करते हुए भी वह वास्तव में मुझमें ही व्यवहार करता होता है; अथवा सब दशा में रहते हुए भी वह मुझ परमानंदस्वरूप में ही निवास करता होता है ॥ ३१ †

---

* मुझमें, अर्थात् परम वैष्णव पद में वर्तता है। उसमें वर्तता हुआ वह नित्य मुक्त ही है।

† सर्वात्मैकरूप एकता का फल इस श्लोक में 'मोक्ष' दर्शाया जाता है। (श्रीशंकराचार्य) उक्त जो योग-विपाक की दो अवस्थाएँ दर्शायी गई हैं, उनसे बढ़कर तीसरी ऊँची अवस्था अब कहते हैं—"योगी की अवस्था में सब भूतों में स्थित मुझको ज्ञानैक स्वरूप से एकता का आश्रय लेकर, अर्थात् प्रकृति के संबंध से जो भेद है उसे त्यागकर बड़ी दृढ़ता से जो भजता है, वह सब प्रकार से अर्थात् व्युत्थान काल में भी जैसे-तैसे वर्तता हुआ अपने आत्मा को और सब भूतों को देखता हुआ मुझमें वर्तता है; अथवा मुझे ही देखता है, अर्थात् अपने आत्मा में और सब भूतों में सर्वदा मेरी समता को देखता है।" (श्रीरामानुज)

श्रीज्ञानदेव इस श्लोक तथा अगले श्लोक की इकट्ठी व्याख्या अनोखे ढंग से ऐसे करते हैं—"जो, हे किरीटी ! सर्वत्र मुझको एकता की दृष्टि से देखता है, जैसे वस्त्रों में तंतु ही एक वस्तु है, अथवा अलंकार तो बहुत होते हैं परंतु वैसे स्वर्ण बहुतेरे नहीं होते, ऐसी जिसकी ऐक्य रूप पर्वत की स्थिति हो गई है; अथवा वृक्ष के जितने पत्ते हैं, उतने कुछ वृक्ष नहीं लगाये गये, ऐसा जिसे रात्रि के अनंतर अद्वैतरूपी दिन निकला है; सो मनुष्य यद्यपि पंचभूतात्मक शरीर में रहे, तथापि कहो,

संबंध—(१) उक्त कथन का भगवान् और विधान करते हैं—

अथवा (२) उक्त एकता में स्थित योगियों में से भी जो अधिक श्रेष्ठ माना जाता है, उसे भगवान् अब कथन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

आत्म[१]-औप[२]-म्येन, सर्वत्र[३], समं[६], पश्यति[७], यः[४], अर्जुन[५]	आत्मा[१] की उपमा[२] से (अपने तुल्य) सर्वत्र[३] जो[४] हे अर्जुन[५]! सम[६] देखता[७] है	सुखं[२], वा[१], यदि[३], वा[४], दुःखं[५]	चाहे[१] सुख[२] अथवा[३] चाहे[४] दुःख[५] को
		सः[१], योगी[२], परमः[३], मतः[४]	वह[१] योगी[२] परम[३] माना[४] गया है

उसे उसका प्रतिबंध कैसे हो सकता है ? अनुभव की तुला (तराज़ू) से तोलो, तो वह मेरे ही तुल्य है। मेरी सब व्यापकता उसके अनुभव को प्राप्त हो गई रहती है, इसलिए वह न कहते भी स्वभावतः व्यापक हो गया रहता है। अब वह शरीरी तो है, परंतु शरीर का संबंधी नहीं है। यह बात क्या शब्दों से कहने योग्य है जो वर्णन की जाय ? इसलिए और बातें रहने दो, जो विशेष रीति से अथवा अपने ही समान सर्वदा चराचर को देखता है, जो सुख-दुःखादि मर्म अथवा शुभाशुभ कर्म ये दोनों मनोधर्म नहीं रखता, सम-विषम भाव और उनके समान जो अन्य विचित्र बातें हैं सो जो अपने अवयव जैसी मानता है, वह एक-एक कहाँ तक कहें, जिसे संपूर्ण त्रैलोक्य मैं हूँ ऐसा सहज ही ज्ञान हो गया है, उसे भी एक देह है सही, व्यवहार में उसे सुखी-दुःखी कहते हैं, परंतु हमें विश्वास है कि वह परब्रह्म है। इसलिए, हे पांडव ! निज में ही विश्व देखना चाहिए और आप ही विश्व बनना चाहिए, ऐसी एक समता की उपासना करनी चाहिए। यह बात अनेक बार हम तुमसे इसलिए कहते हैं कि समदृष्टि से बढ़कर दूसरा प्राप्तव्य नहीं है।

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! आत्मा की उपमा से (अपने तुल्य) जो सर्वत्र सुख अथवा दुःख को सम देखता है, वह परम योगी माना गया है ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त "एकत्वमास्थितः" लक्षणवाले योगी लोग निःसंदेह सब अवस्थाओं में भी सदा मुझमें ही वर्तते रहते हैं, इसलिए महान् हैं, और प्रशंसा, पूजा तथा सेवा किये जाने योग्य हैं। पर इनमें से जो योगी न केवल निश्चय वा ज्ञान से ही एकत्व में स्थित है, बल्कि इस ज्ञानपूर्वक स्थिति की अधिक परिपक्वता के कारण जो प्राणिमात्र में कहीं भी सुख हो वा दुःख, उसे सर्वत्र आत्मा की उपमा से, अर्थात् अपने तुल्य वा अपने दृष्टांत से एक समान देखता (वा भान करता) है, वह सब योगियों में परम (अधिक श्रेष्ठ) योगी माना गया है *। अर्थात् जो प्रत्येक के सुख को ठीक अपना सुख और प्रत्येक के दुःख को ठीक अपना दुःख भान (महसूस) करता है ; अथवा "ये सब

---

* किसी के दुःख-सुख को (आत्मा की एकता के अनुभव होने पर) अपने दुःख-सुख के समान समझ लेना वा ज्ञानदृष्टि से एकतुल्य देख लेना कुछ और बात है, और सबके दुःख-सुख को ठीक अपना ही करके भान करना अर्थात् अमलन् महसूस करना और उसके निवारण वा वृद्धिनिमित्त ऐसा ही यत्न करना, जैसा कि अपने दुःख के निवारण और सुख की वृद्धि में किया जाता था, यह कुछ और बात है। पहली प्रकार के योगी एकत्व-स्थित वा समद्रष्टा तो अवश्य हैं जिससे पूजनीय और प्रशंसनीय हैं, परंतु दूसरी प्रकार के (एकता को अमलन् महसूस करनेवाले और उसी में कर्म से तत्पर रहनेवाले) योगी उक्त समदर्शियों वा तत्त्ववेत्ताओं से अधिक श्रेष्ठ, अधिक प्रशंसनीय, अधिक पूजनीय और महानतम (अर्थात् परम) हैं।

मेरा ही आत्मा है", इस निश्चय की परिपक्वता से जिसको सबका दुःख-सुख ठीक अपना ही करके भान होता है, और इसी कारण जो सबके दुःखों की निवृत्ति तथा सुखों की वृद्धि करने में स्वतः तत्पर रहता है ; अथवा "जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय हैं, वैसे ही दूसरों को भी है", इस प्रकार सर्वत्र सम देखता हुआ जो (समदर्शी) सबका सुख ही चाहता है, और किसी का भी दुःख नहीं चाहता है ; अथवा जिसकी समझ में एकता की तीव्रता के कारण यह समा गया है कि "जिससे मुझे सुख होगा उससे दूसरों को भी सुख होगा, और जिससे मुझे दुःख होगा उससे दूसरों को भी दुःख होगा", और इस समझ के कारण कोई ऐसी दुःखदायक चेष्टा नहीं करता किंतु नित्य सबके लिए सुखदायक चेष्टा ही करता रहता है ; ऐसा योगी, हे अर्जुन ! सब योगियों से श्रेष्ठ वा बड़ा माना जाता है, अथवा ऐसा योगी हे अर्जुन ! मेरी समझ में सब योगियों से भी उत्तम और श्रेष्ठ है ; अथवा ऐसे योगी को हे अर्जुन ! मैं सबसे अधिक पसंद करता हूँ ॥ ३२ ॥ *

---

* श्रीशंकराचार्य वा अन्य कई एक टीकाकारों का अभिप्राय समुच्चय रूप से यह है कि—"जिस लिए एक ही आत्मा सबमें है, इसलिए सबके सुख-दुःख को अपना जान सबकी भलाई में सदा तत्पर रहनेवाला योगी सबसे उत्तम वा बढ़ा-चढ़ा माना गया है, पर श्रीरामानुज पूर्व तीन अवस्था योग के विपाक की दर्शाकर उसी के क्रमानुसार इस श्लोक में योग के विपाक की चौथी अवस्था ऐसे दर्शाते हैं—"हे अर्जुन ! जो योगी सब आत्माओं को, केवल ज्ञानस्वरूप होने से तुल्य होने के हेतु, सबमें अर्थात् अपने आत्मा में और दूसरे आत्माओं में, सुख-दुःख को सम देखता है, अर्थात् दूसरे के सुख-दुःख को अपना करके देखता है, वह योगी उत्तम माना गया है ।"

श्रीज्ञानदेव की जो इस श्लोक पर व्याख्या है, वह पूर्व श्लोक के

संबंध—उक्त सम्यक् दर्शनरूप योग (जो इस अध्याय के श्लोक ५ से ३२ तक सविस्तर वर्णन हुआ) को दुष्कर समझता हुआ अर्जुन अब भगवान् से ऐसे प्रश्न करता है—

* अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ३३॥

फ़ुटनोट में दी गई है । और लोकमान्य तिलक की व्याख्या श्लोक ३१ और ३२ पर ऐसे है—"प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है," यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक सी है । ऐसे ही पातंजल योग में भी समाधि लगाकर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है । परंतु सांख्य और पातंजल योगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है, अतएव वे व्यवहार में इस साम्य बुद्धि के उपयोग करने का मौक़ा ही नहीं आने देते ; और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर, अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हुई इस साम्यबुद्धि का व्यवहार में भी नित्य उपयोग करके, जगत् के सभी काम लोकसंग्रह के लिए किया करता है ; यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है । और इसी से इस अध्याय के अंत (श्लोक ४६) में स्पष्ट कहा है कि तपस्वी अर्थात् पातंजल योगी और ज्ञानी अर्थात् सांख्यमार्गी, इन दोनों की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है ।"

इस विषय स्मृति ऐसे कहती है—"प्राणा यथात्मनोभीष्टा भूतानामपि ते तथा । आत्मौपम्येन भूतेपु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥" अर्थ—जैसे पुरुष को अपने प्राण प्रिय होते हैं, वैसे सब प्राणियों को होते हैं । इस प्रकार का विचार करके श्रेष्ठ पुरुष अपने आत्मा के समान सब प्राणियों पर दया करते हैं ।

* ध्यानयोग की प्रशंसा, उपमा, विधि और फल से यह अध्याय भरा पड़ा है । योग का अर्थ यहाँ चित्तवृत्तियों का निरोध है, अर्थात् चित्त-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

यः^{२}, अयं^{३}, योगः^{४}, त्वया^{५}, प्रोक्तः^{७}, साम्येन^{६}, मधुसूदन^{१}	हे कृष्ण^{१}! जो^{२} यह^{३} योग^{४} तुझसे^{५} (अर्थात् आपसे) समता^{६} करके कहा^{७} गया है	चञ्चलं^{४}, हि^{३}, मनः^{२}, कृष्ण^{१}, प्रमाथि^{५}, बलवत्^{६}, ^{७}दृढं	हे कृष्ण^{१}! मन^{२} ^{३}क्योंकि (वा निःसंदेह^{३}) चंचल^{४}, क्षोभक^{५} (सरकश) बलवान्^{६} और ^{७}दृढ़ (हठी) है (या दृढ़ बलवान् है)
एतस्य^{३}, अहं^{२}, न^{६}, पश्यामि^{७}, चञ्चलत्वात्^{१}, स्थितिं^{५}, स्थिरां^{४}	चंचलत्व^{१} से मैं^{२} इसकी^{३} स्थिर^{४} स्थिति^{५} नहीं^{६} देखता^{७} हूँ	तस्य^{१}, अहं^{३}, निग्रहं^{२}, मन्ये^{८}, वायोः^{४}, इव^{५}, सु^{६}-दुष्करं^{७}	उसका^{१} रोकना^{२} मैं^{३} वायु^{४} के समान^{५} अति^{६} कठिन^{७} मानता हूँ^{८}

वृत्तियों का इस प्रकार रोकना है कि जिससे वे विषयों की ओर सर्वथा न झुकें, बल्कि आत्मा में मग्न होकर उसी आदि कारण में पूर्ण लीन (अथवा शांत व मैह्व) हो जायँ, और इसी को यहाँ श्लोक २०, २१, २२ और २३ में ऐसे वर्णन किया है कि योग नाम है दुःख के संयोग से वियोग का; अर्थात् मन का कामरूप से निकलकर अपने आत्मा में डूब जाने वा लीन हो जाने का नाम योग है । इस विषय में संक्षिप्तोपदेश भगवान् का यह है कि इस योग को आरंभ करनेवाला पहले शारीरिक शौच करे और शक्ति बढ़ावे । इसकी विधियें ऐसे कही गई हैं कि शुद्ध स्थान में पहले कुशा, फिर मृगचर्म और फिर रेशमी कपड़ा बिछाकर एक स्थिर आसन बनावे, और उस पर आसन लगाकर सीधा बैठे । सिर और

अन्वयार्थ——अर्जुन बोला——हे कृष्णजी ! यह जो समतारूप * से योग आपसे कहा गया है, (मन की) चंचलता के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ । और हे कृष्णजी ! मन क्योंकि चंचल, पमाथि, बलवान् और दृढ़ (या दृढ़ बलवान्) है, (इसलिए)

गर्दन को सीधा रक्खे, धड़ भी सर्वथा सीधा रक्खे, हिलने-जुलने न पावे, दृष्टि को सीधा नासिका की नोक पर टिकाये रक्खे, इधर-उधर कहीं न देखे । इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करे । इस प्राणायाम से शरीर की शुद्धि होती है, और शरीर के जो मल मन को एकाग्र होने नहीं देते, वे सब दूर हो जाते हैं, और इस प्रकार एकाग्र हुए मन में आनंद उत्पन्न होता है । उस समय पुरुष को चाहिए कि वह आत्मतत्त्व के यथातथ्य समझने की ओर ध्यान धरे । और पुरुषोत्तम को सबमें और सबको पुरुषोत्तम में देखे । इसके साथ यह भी होना चाहिए कि खाना-पीना, चलना-फिरना सब युक्त (उचित और विधिपूर्वक) हों, न्यूनाधिक न हों, और कर्म भी निष्काम हों, सकाम न हों । पर ऐसे सब कर्म तत्त्वज्ञान व आत्मविवेक द्वारा मन को वश में करने से ही हो सकते हैं, बिना मन के रोके न आत्मतत्त्व ही अनुभव होता है, न सर्वत्र आत्मदृष्टि ही हो सकती है, न अपने तुल्य दूसरों के दुःख ही भान होते हैं, और न इसीलिए स्वार्थ-बुद्धि छोड़कर लोकसंग्रह-निमित्त ही कोई काम होने पाता है । इसलिए सर्व प्रकार से मन का वश में करना अत्यावश्यक है जो निःसंदेह आरंभ में सबको अत्यंत कठिन दिखाई देता है, और अर्जुन भी उक्त रीति से मन का रोकना अत्यंत कठिन व असंभव देख रहा है जिससे ऐसा प्रश्न करता है ।

* (१) सर्वत्र समदृष्टि अर्थात् ब्रह्मदृष्टि करके उक्त समता (श्रीशंकराचार्य)

(२) मन की लयविक्षेप से शून्य होकर केवल आत्माकार अवस्था से स्थितिरूप समता । (श्री श्रीधर)

(३) ज्ञानस्वरूप होने से सारे आत्माओं की परस्पर समता, और मुक्त की ईश्वर के साथ जो समता है । (श्रीरामानुज)

उसका रोकना मैं वायु के समान अति कठिन मानता हूँ॥ ३३, ३४ ॥

व्याख्या—हे मधुदैत्य के मारनेवाले भगवान् कृष्णजी ! यह जो आपने सर्वत्र समदृष्टिरूप योग, अर्थात् आत्मदृष्टि से अथवा ब्रह्मदृष्टि से सर्वत्र एक समान समताभाव से देखा जानेवाला योग वर्णन किया है, इसकी दीर्घ काल तक स्थिति मैं मन की चंचलता के कारण नहीं देखता हूँ । अर्थात् इस प्रकार का चित्त-वृत्ति-निरोध रूप योग कि जिसका परिणाम सर्वत्र समदृष्टि है ; अथवा ऐसा समत्वबुद्धि योग कि जिसमें दृढ़ निश्चयपूर्वक युक्त होने से पुरुष अपने आत्मा को सब पदार्थों में और सब पदार्थों को अपने आत्मा में देखने लग जाता है, और इसी रीति से वह सबके दुःख

---

(४) चित्त में विषम-दृष्टि का हेतु-भूत जो रागद्वेष स्थित है, उसे मिटाकर चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा जो योग किया जाता है, वह समतारूप से योग कहा जाता है । (श्रीमधुसूदन स्वामी)

(५) चित्त में स्थित विषम-दृष्टि का हेतुभूत जो ये रागद्वेषादिक हैं, इन (रागद्वेषादिकों) का निराकरण करके जो यह योग कहा गया है, वह समतारूप से योग है । (श्रीचिद्घनानंद)

(६) चित्त से रागद्वेष को मिटाकर सबमें एक तुल्य आत्मा को देखते हुए अपने-बेगाने का भेद हटाकर दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना । (आर्यसमाजी पं० राजाराम)

(७) ३३वें श्लोक के 'साम्य' अथवा 'साम्यबुद्धि' से प्राप्त होनेवाला इस विशेषण से यहाँ योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ है । यद्यपि पहले पातंजल योग की समाधि का वर्णन आया है, तो भी इस श्लोक में 'योग' शब्द से पातंजल योग विवक्षित नहीं है । क्योंकि दूसरे अध्याय में भगवान् ने ही कर्मयोग की ऐसी व्याख्या की है, "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८)="बुद्धि की समता या समत्व को ही योग कहते हैं ।" (श्रीतिलक महाराज)

अन्वयार्थ---अर्जुन बोला---हे कृष्णजी ! यह जो समतारूप * से योग आपसे कहा गया है, (मन की) चंचलता के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ । और हे कृष्णजी ! मन क्योंकि चंचल, प्रमाथि, बलवान् और दृढ़ (या दृढ़ बलवान्) है, (इसलिए)

गर्दन को सीधा रक्खे, धड़ भी सर्वथा सीधा रक्खे, हिलने-जुलने न पावे, दृष्टि को सीधा नासिका की नोक पर टिकाये रक्खे, इधर-उधर कहीं न देखे । इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करे । इस प्राणायाम से शरीर की शुद्धि होती है, और शरीर के जो मल मन को एकाग्र होने नहीं देते, वे सब दूर हो जाते हैं, और इस प्रकार एकाग्र हुए मन में आनंद उत्पन्न होता है । उस समय पुरुष को चाहिए कि वह आत्मतत्त्व के यथातथ्य समझने की ओर ध्यान धरे । और पुरुषोत्तम को सबमें और सबको पुरुषोत्तम में देखे । इसके साथ यह भी होना चाहिए कि खाना-पीना, चलना-फिरना सब युक्त (उचित और विधिपूर्वक) हों, न्यूनाधिक न हों, और कर्म भी निष्काम हों, सकाम न हों । पर ऐसे सब कर्म तत्त्वज्ञान व आत्मविवेक द्वारा मन को वश में करने से ही हो सकते हैं, विना मन के रोके न आत्मतत्त्व ही अनुभव होता है, न सर्वत्र आत्मदृष्टि ही हो सकती है, न अपने तुल्य दूसरों के दुःख ही भान होते हैं, और न इसीलिए स्वार्थ-बुद्धि छोड़कर लोकसंग्रह-निमित्त ही कोई काम होने पाता है । इसलिए सर्व प्रकार से मन का वश में करना अत्यावश्यक है जो निःसंदेह आरंभ में सबको अत्यंत कठिन दिखाई देता है, और अर्जुन भी उक्त रीति से मन का रोकना अत्यंत कठिन व असंभव देख रहा है जिससे ऐसा प्रश्न करता है ।

* (१) सर्वत्र समदृष्टि अर्थात् ब्रह्मदृष्टि करके उक्त समता (श्रीशंकराचार्य)

(२) मन की लयविक्षेप से शून्य होकर केवल आत्माकार अवस्था से स्थितिरूप समता । (श्री श्रीधर)

(३) ज्ञानस्वरूप होने से सारे आत्माओं की परस्पर समता, और मुक्त की ईश्वर के साथ जो समता है । (श्रीरामानुज)

उसका रोकना मैं वायु के समान अति कठिन मानता हूँ॥ ३३, ३४ ॥

व्याख्या—हे मधुदैत्य के मारनेवाले भगवान् कृष्णजी ! यह जो आपने सर्वत्र समदृष्टिरूप योग, अर्थात् आत्मदृष्टि से अथवा ब्रह्मदृष्टि से सर्वत्र एक समान समताभाव से देखा जानेवाला योग वर्णन किया है, इसकी दीर्घ काल तक स्थिति मैं मन की चंचलता के कारण नहीं देखता हूँ । अर्थात् इस प्रकार का चित्त-वृत्ति-निरोध रूप योग कि जिसका परिणाम सर्वत्र समदृष्टि है; अथवा ऐसा समत्वबुद्धि योग कि जिसमें दृढ़ निश्चयपूर्वक युक्त होने से पुरुष अपने आत्मा को सब पदार्थों में और सब पदार्थों को अपने आत्मा में देखने लग जाता है, और इसी रीति से वह सबके दुःख

---

(४) चित्त में विषम-दृष्टि का हेतु-भूत जो रागद्वेष स्थित है, उसे मिटाकर चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा जो योग किया जाता है, वह समतारूप से योग कहा जाता है । (श्रीमधुसूदन स्वामी)

(५) चित्त में स्थित विषम-दृष्टि का हेतुभूत जो ये रागद्वेषादिक हैं, इन (रागद्वेषादिकों) का निराकरण करके जो यह योग कहा गया है, वह समतारूप से योग है । (श्रीचिद्घनानंद)

(६) चित्त से रागद्वेष को मिटाकर सबमें एक तुल्य आत्मा को देखते हुए अपने-बेगाने का भेद हटाकर दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना । (आर्यसमाजी पं० राजाराम)

(७) ३३वें श्लोक के 'साम्य' अथवा 'साम्यबुद्धि' से प्राप्त होनेवाला इस विशेषण से यहाँ योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ है । यद्यपि पहले पातंजल योग की समाधि का वर्णन आया है, तो भी इस श्लोक में 'योग' शब्द से पातंजल योग विवक्षित नहीं है । क्योंकि दूसरे अध्याय में भगवान् ने ही कर्मयोग की ऐसी व्याख्या की है, "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८)="बुद्धि की समता या समत्व को ही योग कहते हैं ।" (श्रीतिलक महाराज)

को ठीक अपना ही दुःख और सबके सुख को ठीक अपना ही सुख भान करने लग जाता है; ऐसे योग के विषय मुझे यह निश्चय नहीं होता कि इसकी देर तक रहनेवाली स्थिति पुरुष के मन की चंचलता के कारण कभी भी हो सकती हो। अर्थात् ऐसा संभव है कि इस प्रकार का समताभावरूप योग किंचित् काल के लिए पुरुष को प्राप्त हो जाय, परंतु दीर्घ काल तक निरंतर स्थिति इस (योग) की मुझे दिखाई नहीं देती। और हे श्रीकृष्ण * ! मन निःसंदेह चंचल है, प्रमाथि (इंद्रियों को विक्षिप्त और परवश करनेवाला, सरकश, तूफ़ानी, सर्वप्रकार से क्षोभक, और बखेड़िया) है, बलवान् (प्रबल वा ज़बरदस्त) है और दृढ़ (हठी वा हठीला, अपनी बात पर डटनेवाला अर्थात् ज़िद्दी) है; जब इस प्रकार के चार विशेषणों से मन युक्त है, तब ऐसी दशा में मन का निग्रह (निरोध) करना मैं ऐसा अत्यंत कठिन समझता हूँ जैसा कि वेगवान् वायु का वश में करना, या महामत्त वन-हस्ती का वश में करना ॥ ३३, ३४ ॥ †

---

* हे कृष्ण ! इस संबोधन से यह अर्थ सूचित किया गया है— "दोषान् कृषति निवारयतीति कृष्णः।" अथवा, "पुरुषार्थानाकर्षति प्रापयतीति कृष्णः।"=(१) भक्तों के पापादि दोषों को जो निवारण करता है वह कृष्ण है। या (२) न प्राप्त हो सकनेवाले पुरुषार्थों को भी जो प्राप्त कराता है, उसका नाम कृष्ण है।

† श्रीज्ञानदेव ने इन श्लोकों पर अति विचित्र रूप से व्याख्या ऐसे की है—"तब अर्जुन ने कहा, हे देव ! आप हम पर कृपया बोध करते हैं, परंतु इस मन के स्वभाव के सामने हमारा निभाव नहीं लगता। 'यह मन कैसा है,' 'कितना बड़ा है' यह देखने जाइए तो हाथ नहीं लगता, परंतु इसके व्यापार के लिए त्रैलोक्य भी अल्प है। अतएव यह कैसे हो कि मर्कट को समाधि लगे अथवा महावात रोकने से रुक जाय।

संबंध—अर्जुन के उक्त प्रश्न का भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अ^{2}-संशयं^{3},	हे अर्जुन^{1}! निः^{2}-	अभ्यासेन^{3},	पर^{1} हे अर्जुन^{2}!
महाबाहो^{1}, मनः^{4},	संदेह^{3} मन^{4} चंचल^{5}	तु^{1}, कौन्तेय^{2},	अभ्यास^{3} से और^{4}
दुर्^{6}-निग्रहं^{7},	और कठिनता^{6} से	वैराग्येण^{5},	वैराग्य^{5} से रोका^{6}
चलं^{5}	रोका^{7} जानेवाला है	च^{4}, गृह्यते^{6}	जाता है

अन्वयार्थ——श्रीभगवान् बोले——हे अर्जुन ! मन निःसंदेह चंचल और दुर्निग्रह है, परंतु हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्य से रोका जाता है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—उत्तर में भगवान् ने कहा—हे विशालबाहु अर्जुन ! इसमें किंचित् संदेह नहीं कि यह मन चंचल * अर्थात् दीर्घकाल

जो बुद्धि का क्षय करता है; निश्चय को टाल देता है; धैर्य से हाथ मिलाकर भागता है; जो विवेक को भुलाता है; संतोष की इच्छा उत्पन्न करता है; और बैठे रहो तो भी दशों दिशा घुमाता है; निरोध करने से जो और भड़कता है; संयम जिसके (विक्षेप) का सहकारी होता है; सो मन क्या अपना स्वभाव छोड़ देगा ? एवं उपर्युक्त कारण से यह मन निश्चल रहे और हमें समदृष्टि का लाभ हो, यह बात विशेषतः नहीं हो सकती।"

* चंचल से तात्पर्य यह नहीं है कि "मन वास्तव में ही एक ध्यान वा ख़याल पर टिकनेवाला नहीं।" यदि वास्तविक स्वभाव मन का ऐसा होता, तो किसी प्रकार के यत्न से भी वह कभी वश में न आ सकता, क्योंकि किसी वस्तु का वास्तविक स्वभाव यत्न से भी रोका वा जीता नहीं

तक एक ध्यान में न टिकनेवाला है, और इसका रोकना अर्थात् वश में करना सर्वसाधारण के लिए अत्यंत कठिन

जा सकता है। पर मन यत्न द्वारा जीता भी जा सकता है और निरोध को प्राप्त भी हो जाता है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मन निज स्वभाव से तो चंचल नहीं, केवल बाह्य कारणों से चंचल होता अथवा एकाग्रता ही की भिन्न-भिन्न अवस्था के भेद से चंचल कहलाता है, जिस (चंचलता) के दूर करने के लिए उपायों की आवश्यकता होती है। उर्दू-भाषा के एक कवि ने क्या उत्तम कहा है—

“मिलना तेरा गर आसाँ नहीं तो सहल है।
दुशवार तो यही है कि दुशवार भी नहीं॥”

अर्थात् मन यदि स्वभाव से ही चंचल होने के कारण निरोध को प्राप्त न हो सकनेवाला होता, तो मनुष्य के लिए यह सहल (सहज) था, क्योंकि मनुष्य फिर ऐसे (निज स्वभाव से) चंचल मन को जीतने वा निरोध करने का व्यर्थ यत्न ही न करता। पर कठिनता तो यह है कि इसका जीतना वा निरोध करना कठिन भी नहीं, अर्थात् यत्न से यह जीता और निरुद्ध भी किया जा सकता है। इसलिए यह अपने स्वरूप से चंचल और दुर्जय वा दुस्तर नहीं।

“एकाग्र” का शब्दार्थ एक-अग्र अर्थात् एक रुख़ वा ओर पर लगना है। प्रत्येक इंद्रिय का अपना-अपना अग्र (विषय वा रुख़) होता है, जैसे चक्षु का अग्र रूप, कर्ण का शब्द, नासिका का गंध इत्यादि। एक इंद्रिय का अग्र दूसरे इंद्रिय के अग्र से मेल नहीं खाता, अतएव भिन्न-भिन्न होता है। मन भी, जो कि सब इंद्रियों का कारणभूत है, जब कार्य-रूप इंद्रियों में प्रकट होता है तो इंद्रियों के सब अग्रों से संबंध रखता है, जिससे इंद्रियों के समस्त अग्र वास्तव में मन के ही अग्र कहलाते हैं; पर अपने वास्तविक रूप में अर्थात् इंद्रियों के कारणभूत रूप में (अथवा संकल्प-विकल्परूप या faculty of attention-संकल्पशक्ति के रूप में) वह अपना अग्र (रुख़) इंद्रियों के अग्र से भिन्न रखता है। मन का अपना

है; परंतु अभ्यास और वैराग्यरूप उपायों से यह अवश्य रोका जाता है। अभिप्राय यह है कि असंयमी, अज्ञानी, कामी तथा

अग्र (रुख़) तो एक विचार वा ख़्याल या किसी वार्ता इत्यादि का मतलब वा भाव है, जो इंद्रियों के अग्रों के समान स्थूल वा आकारवान् नहीं किंतु सूक्ष्म वा निराकार है। जैसे इंद्रियों का स्वभाव अपने-अपने विषयरूप अग्र पर लगने का है, वैसे मन का स्वभाव भी अपने ध्यान वा ख़्याल रूप अग्र पर लगने का है। जैसे इंद्रियाँ, जब तक पुरुष जागता अर्थात् सचेत है, अपने-अपने अग्र पर लगी रहती हैं, अर्थात् नेत्र कुछ न कुछ देखते ही रहते हैं, श्रोत्र कुछ न कुछ सुनते ही रहते हैं, इत्यादि; वैसे मन भी जब तक सुषुप्ति वा समाधि अवस्था प्राप्त नहीं होती, किसी न किसी विचार (ख़्याल) पर लगा ही रहता है। विना विचाररूप अग्र के मन एक पल भी ख़ाली नहीं पाया जाता, जिससे मन का निज स्वभाव एकाग्र अर्थात् नित्य एक न एक अग्र (ख़्याल) पर लगने का ही है। भेद केवल इतना है कि जो मन एक ख़्याल पर दीर्घ काल तक लगा रहता है, और उस एक ख़्याल को छोड़कर किसी दूसरे ख़्याल पर शीघ्र नहीं जाता, वह मन एकाग्र कहलाता है; और जो मन एक ख़्याल छोड़कर दूसरे को झट पकड़ लेता है, वह यद्यपि एक अग्र (ख़्याल) पर तब भी होता है, परंतु देर तक वहाँ न टिके रहने के कारण चंचल कहलाता है। इस प्रकार एकाग्रता के दर्जों वा काल के भेद से मन स्थिर वा चंचल कहलाता है, अपने निज स्वभाव वा गुण से नहीं। इस समुच्चय आशय को अँगरेज़ी भाषा में ऐसे कहा जा सकता है कि—

"Fickleness and steadiness of mind are nothing but the different phases or manifestations of the faculty of onepointedness, inherent in mind. Hence both of them are mere relative to each other and not at all absolute in themselves. Thus both of them differ from each other not qualitatively but quantitatively only."

दूसरी बात यह है कि जैसे मन अपने स्वभाव से एकाग्र है, वैसे दर्जों

सर्वसाधारण पुरुष का चित्त निःसंदेह शीघ्र न आत्मध्यान में निरंतर टिकता है, और न निरुद्ध ही होता है, और न हठपूर्वक

वा काल के भेद से भी एकाग्र है। कोई ऐसा पुरुष संसार में नहीं दिखाई देगा कि जिसका मन किसी न किसी ख़्याल वा विचार पर दीर्घ काल तक भी एकाग्र न रहता हो। भेद केवल इतना होता है कि व्यवहारी पुरुष का मन (विना यत्न के) अपने व्यवहार में निरंतर एकाग्र होता है, और परमार्थी का परमार्थ में। अर्थात् जिस प्रकार की संगति, आचार, व्यवहार और विचार में पुरुष रहता है, उसके मन का स्वभाव भी उसी प्रकार के आचार, व्यवहार और विचार में निरंतर युक्त और एकाग्र रहने का हो जाता है। यही कारण है कि शराबी का मन शराब की बातों में तो ख़ूब युक्त और एकाग्र हो जाता है, अन्य में नहीं; ऐसे ही चोर का मन चोरी की बातों और कार्यों में, साधु का मन साधु-स्वभाव की बातों और कार्यों में, और योगारूढ़ का मन अपने तत्त्वचिंतन और परमार्थदृष्टि में तो सहज स्वभाव से ही निरंतर एकाग्र और युक्त हो जाता है, पर अपने-अपने प्रतिकूल व्यवहार वा ध्यान में ऐसा नहीं होता। इसलिए वह पुरुष जो अभी विषयासक्त तो है, पर परमार्थ में लगना चाहता है (अथवा जिसका मन विषयों में तो शीघ्र युक्त वा एकाग्र हो जाता है, पर परमार्थ में नहीं होता, और अब उसे विषयों से हटाकर परमार्थ में लगाना चाहता है), उसे यह ध्यान रहे कि उसका मन हठपूर्वक तो उधर प्रवृत्त नहीं होगा, बल्कि जिस रीति से विषयों में लगना उसने सीखा है, उसी रीति से परमार्थ में लगना भी वह सीख जायगा। अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों की संगति में बैठने से, विषयों की ही अधिक बातें करने से और विषयों का ही नित्य चिंतन करने से, अर्थात् विषयों के ही श्रवण, मनन, आचरण और निदिध्यासन से उसका मन विषयों में पूर्ण एकाग्र युक्त वा आसक्त होना सीख गया है; वैसे ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषों की संगति में बैठने से, तत्त्व वस्तु की ही बातें करने और सुनने से, और तत्त्व का ही चिंतनादि करने से, अर्थात् तत्त्व के ही श्रवण,

रोका ही जा सकता है; अर्थात् जैसे नेत्रादि ज्ञानेंद्रियों को

मनन और निदिध्यासन से, उसका मन परमार्थतत्त्व के ध्यान में पूर्ण युक्त और एकाग्र होना सीख जायगा। इससे अतिरिक्त किसी हठरूप रीति से नहीं ठीक होगा। इसी (उक्त श्रवण-मननादि) रीति को भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य के नाम से दर्शाया है। और इसी को अन्य रूप से वसिष्ठ भगवान् ऐसा वर्णन करते हैं—

"उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥ १ ॥
अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥ २ ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥ ३ ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिध्नन्ति तमोऽञ्जनैः॥ ४ ॥"

अर्थ—जैसे विना अंकुश के महामत्त दुष्ट हस्ती वश में नहीं आता, वैसे विना उत्तम युक्ति के, केवल बार-बार आसन पर स्थित होने से, चित्त के स्वभाव को जाननेवाले पुरुष से भी मन का जीतना नहीं हो सकता। वे युक्तियाँ ये हैं, १. अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, २. साधुओं का समागम, ३. वासना का परित्याग, ४. प्राणों के स्पंद का निरोध। ये चार युक्तियाँ पुष्टि पाकर अर्थात् पूर्ण आचरण में आने से चित्त के जीतने का उपाय होती हैं। इन चार युक्तियों (उपायों) के होते हुए भी अर्थात् इन उपायों को छोड़कर जो लोग हठ से मन का निग्रह करते हैं, वे दीपक का त्याग करके तम को अंजनों से दूर करने का यत्न करते हैं, अर्थात् वे लोग अंधकार को नेत्र के सुरमें से दूर करना चाहते हैं, जो व्यर्थ और असंभव है ॥ १, २, ३, ४ ॥

इन चार युक्तियों (उपायों) से तात्पर्य यह है कि (१) अध्यात्म-विद्या की प्राप्ति से जब यह बोध होता है कि दृश्य प्रपंच तो मिथ्या और दुःखों का घर है, और केवल एक साक्षी आत्मा ही सत्य और

उनके गोलकों के ढाँपने वा बंद करने से और ऐसे ही हाथ-पैर

परमानंदस्वरूप है, तब मन संसार में सुख न समझता हुआ विषयों के पीछे दौड़ता नहीं अर्थात् विषयों में आसक्त होने नहीं पाता, और आत्मा को परमानंदस्वरूप समझकर उसकी ओर दौड़ता है। पर जब उस तक पहुँचने की वह अपनी शक्ति नहीं देखता और अन्य विषयों से विमुख होने के कारण अविषयता को प्राप्त हुआ होता है, तब वह स्वयं ऐसे शांत हो जाता है, जैसे लकड़ियों के बिना अग्नि। (२) जो पुरुष तत्त्वज्ञान को सुनकर वा पढ़कर उसके समझने की शक्ति नहीं रखते, या अगर समझ लेते हैं तो उसके याद रखने की शक्ति से रहित हैं, इन दोनों प्रकार के पुरुषों को मन के निग्रह के लिए साधु-समागम ही उपाय है, क्योंकि निरंतर साधु-संग से वे आत्मतत्त्व को पुनः-पुनः श्रवण और मनन द्वारा समझ जाते हैं। (३) जो पुरुष अपरा विद्या के पढ़ जाने से क्षुद्र अहंकार और वासनाओं से युक्त हो जाता है, और इसी कारण से साधुसंग नहीं करता, उसके लिए विवेक द्वारा वासनाओं का त्याग ही उपाय है। पर जिस पुरुष की वासनाएँ अनंत और प्रबल हैं, अर्थात् जो पुरुष वासनाओं को त्याग ही नहीं सकता और न तत्त्वबोध वा विचारशक्ति ही रखता है, उसके लिए तो प्राणों का निरोध ही मन के निग्रह का उपाय है, क्योंकि प्राणों का स्पंद और वासना ये दोनों ही चित्त के प्रेरक हैं, और इन दोनों के निरोध होने पर अथवा इन दोनों में से एक के भी रुक जाने पर चित्त क्षोभरहित (शांत) अवश्य हो जाता है। इस विषय वसिष्ठ भगवान् का कथन है कि—

“द्वे बीजे चित्तवृत्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वेपि विनश्यतः ॥ १ ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २ ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ ३ ॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।

आदि कर्मेंद्रियों को हठ से रोक सकते हैं, वैसे अपनी इच्छा से

प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४ ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥ ५ ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ६ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा ॥ ७ ॥

अर्थ—हे रामचंद्र ! इस चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं; एक तो प्राणों का स्पंद (चलना), दूसरा वासना । इनमें से एक के नाश होने पर दोनों का ही नाश हो जाता है ॥ १ ॥ प्राणों का स्पंद पाँच विधियों से रुकता है—१. प्राणायाम, २. दृढ़ अभ्यास (अथवा प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास), ३. गुरु से बताई हुई युक्ति (उपाय), ४. आसन और ५. भोजन के नियम ॥ २ ॥ आत्मा को असंग समझते हुए, वा निरासक्ति से सब व्यवहार करते हुए, संसार-भावना को त्याग कर, और शरीर को नाशरूप देखने से वासना नहीं रहती ॥ ३ ॥ वासना के परित्याग से और प्राण स्पंद के निरोध से चित्त अचित्त भाव को प्राप्त होता है । तत्पश्चात् जैसी इच्छा हो, वैसा करो ॥ ४ ॥ हे राघव ! जो बाह्य अनात्म पदार्थ का वस्तुत्व रूप से तथा राग से अपने भीतर चिंतन है, अर्थात् जो भावना संसार के सत्य होने की है, केवल इतने को मैं चित्त का रूप मानता हूँ ॥ ५ ॥ जब पुरुष न किसी त्यागने योग्य और न ग्रहण करने योग्य वस्तु का चिंतन करता है, किंतु समस्त को त्यागकर स्थित होता है, उस समय चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥ ६ ॥ और जब वासना-रहित होने से मन किसी भी वस्तु का मनन नहीं करता, तब अमनस्ता (अमन भाव) उत्पन्न होती है, जो (अमनस्ता) परमात्मपद की देनेवाली है, अर्थात् जिस अमनस्ता के प्राप्त होने पर पुरुष परमात्म-पद को प्राप्त होता अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार करता है ॥ ७ ॥

पातञ्जल सूत्रों में भगवान् के कथनानुसार यह उपाय ऐसे वर्णन हुआ है—"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (१२ । १)=अभ्यास और वैराग्य से उसका (अर्थात् मन का) निरोध होता है ।

यही वार्ता अन्य रूप से श्रीव्यास भगवान् ने योगभाष्य में ऐसे कही है—"चित्तनदीनामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।" अर्थ—चित्त नदीरूप है, इसके चलने के दो मार्ग हैं, एक कल्याण (मोक्ष) की ओर और दूसरा पाप (संसार) की ओर । मोक्षरूप कल्याण के लिए चित्तरूपी नदी का मार्ग विवेक (ज्ञान) है, और संसाररूप पाप के लिए उसका मार्ग अविवेक (अज्ञान) है। इस प्रकार चित्तरूपी नदी दोनों ओर चलती है । परंतु विषयों में बार-बार दोषदृष्टिजन्य जो वैराग्य है, उससे इस चित्तरूपी नदी का विषयों की ओर का प्रवाह रुक जाता है, और विवेक-दर्शनरूप अभ्यास से उसका प्रवाह प्रत्यक् आत्मा की ओर हो जाता है । इसलिए वैराग्य और अभ्यास दोनों ही उपायों से चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है, केवल अभ्यास से वा केवल वैराग्य से नहीं । तात्पर्य यह है कि जैसे अति वेग से बहती हुई नदी के प्रवाह को बंद लगाकर उसे नहर में डाल देने से जहाँ चाहें उसका पानी लगाया जा सकता है, वैसे ही विषयों की ओर अति वेग से बहती हुई चित्तरूपी नदी के प्रवाह को वैराग्य का बंद लगाकर उसे समाधि के अभ्यास से आत्माभिमुख किया जा सकता है । केवल बंद लगाने से और नदी का वेग नहर द्वारा दूसरी ओर न करने से जैसे नदी बंद को तोड़कर पहले से भी अधिक वेग से उसी ओर बहने लग जाती है, वैसे ही चित्तरूपी नदी को यदि वैराग्य का बंद तो लगाया जाय, पर अभ्यास द्वारा उसे आत्माभिमुख न किया जाय, तो यह नदी भी उस बंद को तोड़कर पहले से भी अधिक वेग के साथ विषयों की ओर बहने लग जाती है, इसलिए वैराग्य और अभ्यास दोनों ही चित्तनिरोध के उपाय कहे गये हैं ।

से वह रोका जा सकता है। और वह उपाय अभ्यास *(निरोध

---

* अभ्यास=सर्वसाधारण में (अथवा साधारण बोलचाल में) किसी भी काम को पुनः-पुनः करना अभ्यास कहलाता है । परंतु पातञ्जल सूत्र में ऐसे कहा गया है कि "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" वहाँ (स्वरूप में) स्थिति के लिए यत्न करना अभ्यास है । इसकी व्याख्या यह है कि "विषय-रहित चित्त का ऐसी अवस्था में ठहर जाना कि जिसमें वह ठीक शांत रहे और विषयों की ओर न झुके," उसको स्थिति कहते हैं । और "विषयों की ओर बहनेवाले चित्त को मैं सर्वप्रकार से निरोध करूँगा," इस प्रकार का जो मानसिक उत्साह है, उसे यत्न कहते हैं । उस स्थिति के स्थापन करने के लिए मानसिक उत्साहरूप यत्न का बारंबार किया जाना अभ्यास है, अर्थात् स्थिति के स्थापन करने के लिए उसके साधन का अनुष्ठान करना अभ्यास है । और यह साधन वही है जो पहले भगवान् कह आये हैं कि जहाँ-जहाँ चंचल मन जाय वहाँ-वहाँ से उसे खींचकर आत्मा में (या जिस अवस्थाविशेष में स्थापन करना है उसी में) लाकर स्थापन करे ।

इस विषय में श्रीशंकराचार्यजी ऐसा लिखते हैं—"अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्याञ्चित् समान–प्रत्ययावृत्ति चित्तस्य ।" अर्थ=अभ्यास नाम है चित्त भूमि में चित्त की किसी एक समान प्रत्यय-वृत्ति होने का। अर्थात् ध्येय आत्मस्वरूप का प्रत्यय करके अर्थात् निश्चय करके जो चित्त का प्रवाह है, उससे विरुद्ध देहादि पदार्थों का चित्त में न लाना अभ्यास है ।

इस सबका अभिप्राय यही निकला कि मन की विषयों की ओर जो गति होती है उसको न होने देने का यत्न करना अभ्यास है। अर्थात् जब मन विषयों की ओर झुके, उसको वहाँ से हटाकर ऐसे कार्य में लगा लेना कि जो विषयों से व्यतिरिक्त हो (जैसे स्वाध्यायादि), उसे अभ्यास कहते हैं । और यह अभ्यास (स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः) दीर्घ काल तक निरंतर (तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धारूप) सत्कार से सेवन किया हुआ दृढ़ भूमि हो जाता है, अर्थात् वह अभ्यास फिर विषय-सुख की वासनाओं से चलायमान होने नहीं पाता है ।

के लिए पुनः-पुनः यत्न) और वैराग्य † (विषयों में दोषदृष्टि

इस अभ्यास का निरूपण श्रीवसिष्ठ भगवान् ऐसे करते हैं—

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥ २ ॥"

अर्थ—उस (अद्वितीय ब्रह्म) का ही जो चिंतन, उसका ही जो कथन, उसका ही जो परस्पर बोधन, और उस एक का ही जो निश्चय (वा परायणता) है, उसको विद्वान् पुरुष ब्रह्माभ्यास कहते हैं ॥ १ ॥ "यह दृश्य (प्रपंच) आदिकाल से उत्पन्न नहीं, और न यह तीन काल में ही सत्य है, केवल मैं स्वयंज्योति अधिष्ठान आत्मा सर्वदा विद्यमान हूँ ।" इस प्रकार का जो निरंतर विचार है, उसको बोधाभ्यास कहते हैं ॥ २ ॥ और दृश्यप्रपंच के अवभास (manifestation) का विरोधी जो योगाभ्यास है, उसको मनोनिरोधाभ्यास कहते हैं । इस विषय श्री वसिष्ठजी ऐसे कहते हैं—"अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः । युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः ॥" अर्थ—ज्ञाता-ज्ञेय वस्तु में जो मिथ्यात्व बुद्धि है, उसका नाम अभावसंपत्ति है, और इन दोनों की जो स्वरूप से ही अप्रतीति है उसका नाम अत्यंताभावसंपत्ति है, उस अत्यंताभावसंपत्ति के लिए जो पुरुष योग से और शास्त्रों से (अथवा शास्त्रों की युक्तियों वा उपायों से) यत्न करते हैं, वे भी इस (मनोनिरोध के) अभ्यासवाले कहलाते हैं । और दृश्यप्रपंच को असंभव समझकर जो रागद्वेषादि की क्षीणता करनी है, उसको वासनाक्षय का अभ्यास कहते हैं । और श्रीवसिष्ठजी इसको ब्रह्माभ्यास नाम से ऐसे निरूपण करते हैं—"दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे । रतिर्घनोदितायासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥ अर्थ—इस दृश्यप्रपंच को असंभव समझने से इन राग-द्वेषादि की क्षीणता करने में जो दृढ़ रति उत्पन्न होती है, उसे ब्रह्माभ्यास कहते हैं ।

† वैराग्य—साधारण बोलचाल में सांसारिक विषयों में राग वा प्रीति

करना वा विषयों से प्रीति न रखना) है। संक्षेप से यह कि मन हठ से नहीं, किंतु क्रमपूर्वक यत्न से जीता जा सकता है ॥ ३५ ॥

न रखना अर्थात् इच्छा-विहीनता का नाम वैराग्य है, पर पातंजल सूत्र में वैराग्य का लक्षण ऐसे वर्णन हुआ है—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥" (योगसूत्र १५. १)। अर्थ—स्त्री, अन्न-पान, मैथुन इत्यादि विषय प्रत्यक्ष होने से दृष्ट कहलाते हैं, और स्वर्ग इत्यादि विषय शास्त्रप्रमाणगम्य होने से अनुश्रविक कहलाते हैं। इन देखे हुए और परंपरा से सुने हुए विषयों में नितांत तृष्णारहित पुरुष का वैराग्य वशीकार नाम से प्रसिद्ध होता है। वैराग्य चार प्रकार का है—१. यतमान, २. व्यतिरेक, ३. एकेंद्रिय, ४. वशीकार। (१) गुरु-शास्त्र द्वारा संसार के सार-असार वस्तुओं के निश्चय करने का जो उद्योग है, उसको 'यतमान' वैराग्य कहते हैं। (२) अपने दोषों में विवेचन करना कि इतने दोष दूर हुए हैं और इतने शेष रहे हैं, इस प्रकार चिकित्सा की तरह विवेचना को 'व्यतिरेक' वैराग्य कहते हैं। (३) दृष्ट और अनुश्रविक दोनों प्रकार के विषयों की प्रवृत्ति को दुःखरूप जानकर बाह्य इंद्रियों की प्रवृत्ति उनमें न करते हुए भी तृष्णा का जो औत्सुक्यमात्र (mere yearning) मन में स्थित रहना है, उसको 'एकेंद्रिय' वैराग्य कहते हैं। (४) बाह्य इंद्रियों की (विषयों में) अप्रवृत्ति के साथ-साथ मन में भी तृष्णा के अभाव से जो (तृष्णा की विरोधी) ज्ञान प्रसादरूप चित्त की वृत्तिविशेष है, उसको 'वशीकार' वैराग्य कहते हैं। यह वशीकार नाम वैराग्य संप्रज्ञात समाधि का तो अंतरंग साधन है और असंप्रज्ञात समाधि का बहिरंग साधन होता है। और असंप्रज्ञात समाधि का अंतरंग साधन केवल 'परवैराग्य' ही होता है। 'परवैराग्य' का स्वरूप पतंजलि भगवान् ने ऐसे दर्शाया है—"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।" (१६, १) अर्थ—संप्रज्ञात समाधि की दृढ़ता से त्रिगुणात्मक प्रधान से पृथक् पुरुष का जब साक्षात्कार होता है, तब ऐसे साक्षात्कार से तीनों गुणों की (वा गुणजन्य व्यवहार की) तृष्णा जो जाती रहती है, उस

संबंध—(१) इस प्रकार मन के निग्रह करने के उपाय दर्शाकर अब भगवान् इस विषय में अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

अथवा (२) जिसका अंतःकरण अपने वश में नहीं है, उसके विषय में भगवान् अब अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

अथवा (३) संयतात्मा और असंयतात्मा इन दोनों के फलों में जो अंतर है, उसे भगवान् अपने निश्चय के साथ अब वर्णन करते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अ^{१}-संय^{२}त-* आत्मना^{३}, योग^{४}ः, दुस्^{५}- प्राप^{६}ः, इ^{७}ति, मे^{८}, म^{९}तिः	न^{१} वश^{२} में किये हुए चित्त^{३} वाले से योग^{४} दुःख^{५} से प्राप्त^{६} होता है, यह^{७} मेरी^{८} मति^{९} (निश्चय) है	वश्य^{३}-आत्मना^{४}, तु^{१}, यतता^{२}, शक्य^{७}ः, अवाप्तुं^{६}, उपायतः^{५}	पर^{१} यत्न^{२} करते हुए, वश^{३} में किये हुए चित्त^{४} वाले से उपाय^{५} द्वारा पाना^{६} संभव^{७} है

अन्वयार्थ—असंयतात्मा पुरुष से योग का पाना कठिन है, यह मेरा निश्चय है। परंतु यत्न करते हुए वश्यात्मा पुरुष से उपाय द्वारा (इसका) पाना संभव है ॥ ३६ ॥

“गुण वै तृष्णा” का नाम परवैराग्य है। अर्थात् यही सर्वश्रेष्ठ फल भूतवैराग्य कहलाता है। इसी की परिपक्कता से चित्त के उपशम की परिपक्कता होकर शीघ्र ही कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् ने “अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।’ यह वचन कहा है।

* जिसके चित्त का विषयाभिमुख झुकाव शिथिल नहीं पड़ता, उसे असंयतात्मा, और जिसके चित्त का शिथिल पड़ जाता है उसको संयतात्मा वा वश्यात्मा कहते हैं।

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह मेरा निश्चय (मत) है कि जिस पुरुष ने अपने आपको अपने वश में नहीं किया है; अर्थात् अभ्यास और वैराग्यादि उपायों से जिसने अपने अंतःकरण को अपने अधीन नहीं किया है, ऐसे असंयतात्मा अर्थात् अनिरुद्ध अंतःकरण वाले पुरुष के लिए सर्व वृत्तियों के निरोधरूप योग का पाना नितांत असंभव सा अर्थात् अत्यंत कठिन वा दुष्प्राप्य है। परंतु जिसका अंतःकरण वा मन अभ्यास, और वैराग्यरूपी उपायों से उसके अपने पूर्ण वश में हो गया है, वह वश्यात्मा पुरुष यदि चित्तवृत्ति को आत्माकार अर्थात् निरोध करके तत्त्वचिंतन से आत्मसाक्षात्कार का यत्न करे, तो उक्त उपाय से (जो उपाय ऊपर श्लोक १० से १८ तक और फिर श्लोक २४ से ३२ तक वर्णन हुआ है, उससे) वह इस चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा आत्मध्यान में युक्त होकर ब्रह्मसाक्षात्काररूप योग (या आत्मसमाधिरूप योग) को सुगमता से प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥ *

---

* यत्न की महिमा और प्रबलता को श्रीवसिष्ठ भगवान् ने अपने उपदेश में ऐसे दर्शाया है—

"सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥ १ ॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ २ ॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ ३ ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥ ४ ॥
प्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥ ५ ॥

संबंध—(१) चित्त-वृत्ति के निरोधरूप योग का पाना अति कठिन होने से योग-सिद्धि में बहुत विघ्न समझता हुआ अर्जुन संशययुक्त होकर भगवान् से अब पुनः यों प्रश्न करता है—

सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभाभ्यां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥ ६ ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥ ७ ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनाधो निरोधिना ॥ ८ ॥"

अर्थ—हे रघुनंदन ! इस लोक में पुरुष सब वस्तुओं को सम्यक् प्रकार के पुरुषार्थ से प्रयुक्त होकर प्राप्त होते हैं । (ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो पुरुष-प्रयत्न से प्राप्त नहीं होता) ॥ १ ॥ सो पुरुष-प्रयत्न (वा पुरुषार्थ) दो प्रकार का कहा जाता है, एक उत्शास्त्र अर्थात् शास्त्र-निषिद्ध प्रयत्न, और दूसरा शास्त्रित अर्थात् शास्त्र-विहित प्रयत्न ॥ २ ॥ हे रामचंद्र ! यह वासनारूप नदी शुभ-अशुभ इन दो मार्गों से बहती है, इसलिए पुरुष-प्रयत्न से तू इसको शुभ मार्ग में लगा ॥ ३ ॥ हे बलवानों में श्रेष्ठ रामचंद्र ! अशुभ मार्ग में प्रवृत्त हुए अपने मन को तू पुरुष-प्रयत्न से शुभ मार्ग में प्रवृत्त कर ॥ ४ ॥ हे शत्रुओं को नष्ट करनेवाले रामचंद्र ! पूर्वले अभ्यास के वश से जब तेरे मन में शुभ वासनाएँ उत्पन्न हों, तभी तू अभ्यास की सफलता समझ ॥ ५ ॥ जब तक वासनाओं के हटने वा न हटने में संदेह हो, तब तक तू शुभ वासनाओं को ही संपादन कर, क्योंकि शुभ वासनाओं की वृद्धि में कुछ भी दोष नहीं होता ॥ ६ ॥ और जब तक तू अव्युत्पन्न मनवाला तथा परमपद के ज्ञान से रहित है, तब तक गुरु-शास्त्र-प्रमाण से निर्णीत अर्थ का ही तू आचरण कर. अर्थात् उनके निर्णीत निश्चयों वा कर्मों को ही तू अपने आचरण में ला ॥ ७ ॥ इस प्रकार के आचरण वा उपाय से जब तेरे पापरूप कषाय निवृत्त हों, और तू आत्म-वस्तु को जान ले तथा मन का निरोध हो जाय, तब तू शुभ वासनाओं

अथवा (२) जो इस समाधियोग में जिज्ञासा और श्रद्धा तो रखता है, पर अल्प प्रयत्नवाला है, ऐसे पुरुष की मरकर जो गति होती है, उसके विषय में अर्जुन अब पूछता है—

अथवा (३) केवल तत्त्वज्ञानी (अपरम योगी) तथा जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी (परम योगी) ये दोनों तो देह छोड़ते ही कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ; परंतु जो अपने पूर्वकृत निष्काम कर्मों से चित्त-शुद्धि को तो पा चुका है, और इसीलिए फिर आत्मसाक्षात्कार की जिज्ञासा से पूर्ण युक्त होकर यज्ञादि कर्मों को छोड़ बैठा है, अर्थात् संन्यास लेकर गुरु के पास तत्त्वोपदेश का श्रवण-मनन करता है, परंतु यत्न की कमी के कारण वह विना आत्मसाक्षात्कार किये के ही मर जाता है ; ऐसे पुरुष की कौन गति होती है, उसके विषय अर्जुन अब प्रश्न करता है—

अथवा (४) योगाभ्यास का मार्ग स्वीकार करके जिसने इस लोक और परलोक की प्राप्ति के साधनरूप कर्मों का तो परित्याग कर दिया, पर योगसिद्धि का फलरूप मोक्षप्राप्ति का साधन पूर्ण ज्ञान जिसको मिला नहीं । ऐसे योगी की चित्तवृत्ति यदि अंतकाल में विचलित हो गई हो, तो उसकी फिर क्या गति होती है, इसके विषय अर्जुन अब पूछता है—

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

को भी छोड़ दे । ऐसे त्याग से कोई दुःख वा दोष तुझे प्राप्त नहीं होगा ॥ ८ ॥ इत्यादि अनेक वचनों सें श्रीवसिष्ठजी ने पुरुष-प्रयत्न की प्रबलता और आवश्यकता कथन की है ।

अयतिः^{3}, श्रद्धया^{1}, उपेतः^{2}	श्रद्धा^{1} से युक्त^{2} अयति^{3} (यत्न न करनेवाला वा यत्न से रहित)	अ^{3}-प्राप्य^{4}, योग^{1}-संसिद्धिं^{2}	योग^{1} की सिद्धि^{2} को न^{3} पाकर^{4}
योगात्^{1}, चलित^{2}- मानसः^{3}	योग^{1} से चले^{2} हुए (डोले हुए) मन^{3}वाला	कां^{2}, गतिं^{3}, कृष्ण^{1}, गच्छति^{4}	हे कृष्ण^{1} ! किस^{2} गति^{3} को वह प्राप्त^{4} होता है

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे कृष्णजी ! अयति *, श्रद्धा † से युक्त और योग से डोले हुए मनवाला पुरुष योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

व्याख्या—'मन का रोकना निःसंदेह कठिन है, और यदि उपाय

---

* यद्यपि नञ् समास में आरंभ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ करता है, इसलिए 'अयति' शब्द का अर्थ केवल यत्नरहित वा असंयमी पुरुष ही नहीं किंतु 'अल्प अर्थात् अधूरा यत्न वा अधूरा संयम करनेवाला' भी हो सकता है।

† 'श्रद्धा' शब्द बहुधा अपने सहवर्ती शमदमादि का भी उपलक्षण होता है, इसलिए 'श्रद्धा' शब्द से अभिप्राय यहाँ षट् संपति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा) भी हो सकता है। और वेदांत के साधन चतुष्टय भी श्रद्धा के सहवर्ती हैं, इसलिए विवेक, वैराग्य, षट् संपत्ति और मुमुक्षुत्व ये चार साधन भी श्रद्धा शब्द से यहाँ अभिप्रेत हो सकते हैं। इस विषय श्रुति ऐसे कहती है—"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।"=शांत और दान्त होकर अर्थात् मन और इंद्रियों को रोककर उपराम, तितिक्षु और श्रद्धावाला होकर अपने भीतर ही वह आत्मा को देखता है।

से मन की विषयाभिमुखता कुछ शिथिल भी हो जाय तो भी आगे को यत्न करके सम्यक् योग की प्राप्ति करना अत्यंत ही कठिन है। प्रायः ऐसा होता है कि मनुष्य योग-समाधि वा आत्मिक जीवन में श्रद्धा तो रखते हैं और थोड़ा बहुत कामात्मा के जीतन में यत्न भी करते हैं, परंतु विषयों की खींच उन्हें आगे नहीं चलन देती, जिससे उनको योग प्राप्त होने नहीं पाता बल्कि कुछ काल पीछे उनका यत्न भी शिथिल पड़ जाता है, और जिसका अंत में परिणाम यह दिखाई देता है कि न योग ही मिला, और न पूर्ण विषय ही मिले'; 'न इधर का रहा न उधर का'; अर्थात् धोबी के कुत्ते के समान वह न घर का रहता है न घाट का, और 'न दुनिया ही मिलती है न राम।' इस प्रकार के संशय से युक्त हुआ अर्जुन अब भगवान् से ऐसे पूछता है कि हे श्रीकृष्ण! जिसको समाधि-योग में तथा गुरु और शास्त्र में श्रद्धा तो हो, पर जो उसके पाने में यत्न से रहित हो, अथवा जो अपने आप को वश में न किये हुए हो, अर्थात् जो योग की प्राप्ति में पूरा-पूरा यत्न तो न कर सका हो और न पूरा-पूरा आत्मवशी ही हुआ हो, पर जो योग और योगसमाधि में श्रद्धा अवश्य रखता हो; और उस थोड़े से (वा न ठीक) यत्न और आत्मवश्यता के कारण जिसका मन योग से चलायमान हो गया अर्थात् डोल गया हो, ऐसा पुरुष यदि योग की पूर्ण सिद्धि को न पाकर मर जाय, तो उसकी फिर क्या गति होती है? ॥ ३७ ॥

संबंध अपने प्रश्न के अभिप्राय को अर्जुन अब और स्पष्ट करता है—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कच्चित्, न, उभय- विभ्रष्टः, छिन्न-अभ्रं, इव, नश्यति	क्यो दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ फटे हुए बादल के समान वह नाश नहीं हो जाता ?	अ-प्रतिष्ठः, महा-बाहो,* विमूढः, ब्रह्मणः, पथि	आश्रय-रहित हुआ और ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ, हे विशाल बाहु (कृष्ण) !

अन्वयार्थ—हे कृष्णजी ! वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ क्या फटे हुए बादल के समान निराश्रय होकर दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ नाश तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे विशालबाहु भगवान् कृष्णचंद्रजी ! जैसे छिन्न-भिन्न बादल (वा फटा हुआ बादल का टुकड़ा) आश्रय-रहित होने के कारण, अर्थात् एक बड़े बादल समूह से फटकर और दूसरे से न मिलकर विना वर्षा किये के ही. नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही जो उभय-भ्रष्ट † अयति पुरुष है (अथवा जो कर्मयोग और

---

* 'महाबाहो' संबोधन से ऐसा तात्पर्य अर्जुन का प्रतीत होता है कि वह भगवान् जिनकी (चारों) भुजाएँ भक्तों के सब उपद्रवों को दूर करने और उनको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार प्रकार के पुरुषार्थ देने के समर्थ हैं; अथवा जो अपने आचरण (बर्ताव) से अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ हैं ।

† उभय-भ्रष्ट "दोनों ओर का आश्रय छूटा हुआ," अथवा "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः", इसका अर्थ भी कर्मयोग-प्रधान ही करना चाहिए । कर्म के दो प्रकार के फल हैं; (१) काम्यबुद्धि से किंतु शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्म करने पर तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और (२) निष्काम बुद्धि से करने पर वह बंधक न होकर मोक्षदायक हो जाता है । परंतु इस अधूरे मनुष्य को कर्म के स्वर्गादि काम्य फल नहीं मिलते, क्योंकि उसका ऐसा हेतु ही नहीं रहता; और साम्यबुद्धि पूर्ण न होने

ध्यानयोग अथवा कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग इन दोनों से भ्रष्ट हुआ या लोक-परलोक दोनों से गया-गुज़रा योगभ्रष्ट पुरुष है) वह कहीं उक्त बादल के समान ब्रह्म के मार्ग में भूलता-भटकता हुआ निराश्रय होने से नाश तो नहीं हो जाता ? अर्थात् जो कर्म-मार्ग को तो पहले ही छोड़ बैठा था और ध्यानयोग जिसका सिद्ध नहीं हुआ, जिस लिए न कर्म द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति और न ध्यानयोग द्वारा ब्रह्मसाक्षात्काररूप मोक्ष की प्राप्ति के वह योग्य हो सका, ऐसा दोनों मार्गों से फिसला हुआ योग-भ्रष्ट पुरुष कहीं ऐसी अवस्था को तो प्राप्त नहीं हो जाता कि "दोनों दीन से गये पाँडे, हलवा मिले न माँडे" ? या धोबी के कुत्ते की तरह न वह घर का रहे, न घाट का, अर्थात् न लोक का रहे, न परलोक का, बल्कि वैसे ही मूल से नाश हो जाय ? ॥ ३८ ॥

संबंध—उक्त संशय की निवृत्ति के लिए अर्जुन श्रीकृष्ण से अब ऐसे प्रार्थना करता है—

के कारण उसे मोक्ष मिल नहीं सकता, इसलिए अर्जुन के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि उस बेचारे को न तो स्वर्ग मिला और न मोक्ष—कहीं उसकी ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाती कि दोनों दीन से गये पाँडे, हलवा मिले न माँडे ? यह शंका केवल पातंजल योगरूपी कर्मयोग के साधन के लिए ही नहीं की जाती । अगले अध्याय में वर्णन है कि कर्मयोग सिद्धि के लिए आवश्यक साम्य बुद्धि कभी पातंजल योग से, कभी भक्ति से, और कभी ज्ञान से प्राप्त होती है, और जिस प्रकार पातंजल योग-रूपी यह साधन एक ही जन्म में अधूरा रह सकता है, उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी साधन भी एक ही जन्म में अपूर्ण रह सकते हैं । अतएव कहना चाहिए कि अर्जुन के उक्त प्रश्न का भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोग-मार्ग के सभी साधनों को साधारण रीति से उपयुक्त हो सकता है । (श्रीबालगंगाधर तिलक)

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतत्[२], मे[३], संशयं[४], कृष्ण[१], छेत्तुं[६], अर्हसि[७], अ-शेषतः[५]	हे कृष्ण[१] ! इस[२] मेरे[३] संशय को[४] पूरा-पूरा[५] तू काटने[६] योग्य[७] है	त्वत्[२]-अन्यः[३], संशयस्य[५], अस्य[४], छेत्ता[६], न[७], हि[१], उपपद्यते[८]	क्योंकि[१] तेरे[२] बिना[३] इस[४] संशय[५] का काटनेवाला[६] नहीं[७] बन सकता[८] (वा मिल सकता)

अन्वयार्थ——हे कृष्ण ! इस मेरे संशय को पूरा-पूरा काटने के योग्य आप (ही) हैं, क्योंकि बिना आपके इस संशय का काटनेवाला मिल नहीं सकता ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे भगवान् कृष्णजी ! यह संशय जो मैंने (उक्त दो श्लोकों में) सविनय प्रकट किया है, इस मेरे संशय को आप ही संपूर्ण रूप से मिटा सकते हैं। इसलिए आप ही से मेरी प्रार्थना है कि आप इस संशय को निवारण कर दीजिए। यदि आप यह कहें कि "मेरे से अतिरिक्त अन्य देवता वा ऋषि लोग भी तो हैं जो इस संशय को मिटा सकते हैं, उनसे पूछा जाय," तो हे भगवन् ! मुझे आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी दिखाई नहीं देता और न मिल ही सकता है कि जो मेरे इस संशय को निवारण कर सके। इसलिए आप ही कृपा करके मेरे इस समस्त संशय को निवारण कीजिए ॥ ३९ ॥

संबंध—उक्त संशय-निवारणार्थ भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः, तस्य, विद्यते	हे अर्जुन! न ही इस लोक में (यहाँ) न उस लोक में (वहाँ वा परलोक में) उसका विनाश होता है	न, हि, कल्याण- कृत्, कश्चित्, दुर्गतिं, तात, गच्छति	क्योंकि कोई कल्याण करने- वाला हे प्यारे! दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! न ही इस लोक में और न परलोक में उसका विनाश * होता है, क्योंकि हे प्यारे ! कोई भला करनेवाला (कभी) दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे **पृथा-पुत्र (अर्जुन)** ! उक्त योगभ्रष्ट पुरुष अर्थात् उभय भ्रष्ट योगी न तो इस लोक अर्थात् भूलोक में नितांत नाश को प्राप्त होता है, और न उस लोक अर्थात् परलोक में। अर्थात् न इस जन्म में ही उस योगभ्रष्ट की नितांत हानि होती है, और न दूसरे जन्म में। तात्पर्य यह कि देह छोड़ने पर उसे

---

* 'वि' अक्षर से यहाँ अभिप्राय पुरुष का समुच्चय नाश वा संपूर्ण रूप से नाश नहीं किंतु उसकी अध्यात्मोन्नति की हानि वा अधोगतिरूप नाश है। यह हानिरूप नाश भी दो प्रकार का है—(१) शास्त्रानुसार न चलने से भले पुरुषों में अपना 'अपयश होना' और (२) मर कर (परलोक में) 'निकृष्ट गति का मिलना।' इस प्रकार की निकृष्ट गति के विषय श्रुति ऐसा कहती है—"अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न ते कीटाः पतङ्गा यदि दंदशूकम्।" जो लोग न देवयान मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, और न पितृयाण मार्ग में, बल्कि जो शास्त्रोक्त कर्म-उपासना भी नितांत नहीं करते हैं, उन्हें न देवलोक की प्राप्ति होती है और न पितृलोक की, किंतु कीट, पतंग, सर्पादि शरीरों को बारंबार प्राप्ति होती है। यह दो प्रकार का हानिरूप नाश योगभ्रष्ट पुरुष को प्राप्त नहीं होता।

इस वर्त्तमान जन्म से हीन जन्म की प्राप्ति नहीं होती। कारण यह है कि भला करनेवाला पुरुष, हे प्यारे! चाहे वह कोई ही हो, और भला कर्म भी कैसा ही क्यों न हो, उससे वास्तव में न उस (पुण्यकर्त्ता पुरुष) की दुर्गति होती है, और न उस पुण्यकर्म का बुरा परिणाम ही होता है; बल्कि पुण्यकर्त्ता पुरुष, यदि उत्तम परिणाम प्राप्त करने से पहले प्रारब्ध-वश कभी फिसल भी जाय, तो भी अंत में वह उन्नति की ओर ही झुकता वा प्राप्त होता है॥४०॥

संबंध--दुर्गति न होने से जिस गति वा परिणाम को योगभ्रष्ट प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

प्राप्य^{4}, पुण्य^{1}-कृतां^{2}, लोकान्^{3}	पुण्य^{1} करनेवालों^{2} के लोकों^{3} को प्राप्त^{4} होकर	शुचीनां^{1}, श्रीमतां^{2}, गेहे^{3}	शुद्धात्मा^{1} श्रीमानों^{2} के घर^{3} में
उषित्वा^{3}, शाश्वतीः^{1}, समाः^{2}	अगणित^{1} (बहुत) वर्षों^{2} तक रह कर^{3}	योग^{1}-भ्रष्टः^{2}, अभिजायते^{3}	योग^{1}-भ्रष्ट^{2} पुरुष उत्पन्न^{3} होता है

अन्वयार्थ——पुण्य करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर योगभ्रष्ट पुरुष फिर शुद्धात्मा श्रीमानों के घर में उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन! पुण्य कर्म करनेवाले पुरुष जिन उत्तम लोकों को प्राप्त होते हैं, उनको यह योगभ्रष्ट पुरुष प्राप्त होकर वहाँ अगणित वर्षों तक निरंतर निवास करता है, और "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस श्रुति के अनुसार जब वहाँ के

भोग खूब भोग लेता है, अर्थात् जब उसके वहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं, तब शुद्ध अंतःकरणवाले अर्थात् पवित्रात्मा और विभूतिवाले पुरुषों के घर में वह जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

संबंध -(१) इससे अतिरिक्त अन्य जिस गति को वह योगभ्रष्ट प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) अल्प काल के अभ्यासियों की गति कहकर अब भगवान् दीर्घ काल के अभ्यासियों की गति कहते हैं—

अथवा (३) श्रेष्ठ कर्मों के कारण तो योगभ्रष्ट पुरुष की गति पूर्व कही गई, अब उसकी विषय-इच्छा से रहित अवस्था के कारण दूसरी गति भगवान् कहते हैं—

अथवा (४) जो लोग परलोक की इच्छा रखकर योग में प्रवृत्त होते हैं और फिर फिसल जाते हैं, ऐसे योगभ्रष्ट पुरुषों की गति तो पूर्व कही गई, और जो लोक-परलोक की इच्छाओं से रहित हुए योग में प्रवृत्त होते फिसल जाते हैं, ऐसे योगभ्रष्टों की गति भगवान् अब कहते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा[1], योगिनां[3].एव[5], कुले[4], भवति[6], धीमताम्[2]	अथवा[1] बुद्धिमान्[2] योगियों[3] के कुल[4] में ही[5] वह उत्पन्न होता[6] है	एतत्[1], हि[6], दुर्लभ[8]-तरं[7], लोके[4],जन्म[3], यत्[2], ईदृशम्[1]	ऐसा[1] जो[2] जन्म[3] है, इस संसार[4] में यह[5] निःसंदेह[6] अति[7] दुर्लभ[8] है

अन्वयार्थ—अथवा बुद्धिमान् योगियों के ही कुल में वह उत्पन्न होता है । ऐसा जो जन्म है, इस संसार में यह निःसंदेह दुर्लभतर है ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! योगभ्रष्ट पुरुष या तो पूर्व गति को प्राप्त होता है, अर्थात् पुण्य करनेवालों के लोकों को भोग कर बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुषों वा राजा-महाराजाओं के घर में जन्म लेता है, और या केवल निर्धन परंतु बुद्धिमान् योगियों के ही कुल (घर) में सीधा उत्पन्न होता है। परंतु इस प्रकार का जन्म भी इस संसार में निःसंदेह बड़े भाग्यवान् को प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसी उत्तम कुल में उत्पत्ति अन्य कुलों में उत्पत्ति की अपेक्षा अति कठिन, लाभदायक वा दुर्लभतर है ॥ ४२ ॥ *

संबंध—ऐसे जन्म की दुर्लभता का भगवान् अब हेतु स्पष्ट करते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

तत्र^{१}, तं^{२}, बुद्धि^{५}-संयोगं^{६}, लभते^{७}, पौर्व^{३}-देहिकम्^{४}	वहाँ^{१} उस^{२} पूर्वले^{३} देह^{४} के बुद्धि^{५}-संयोग^{६} को वह पा^{७} लेता है	यतते^{७}, च^{१}, ततः^{४}, भूयः^{५}, संसिद्धौ^{६}, कुरु^{२}-नन्दन^{३}	और^{१} हे कुरु^{२}-नंदन^{३}! उससे^{४} आगे^{५} योग^{६}-सिद्धि में वह फिर यत्न^{७} करता है

अन्वयार्थ——वहाँ उस पूर्वले देह के बुद्धि-संयोग को वह पा लेता

---

* उक्त तीनों श्लोकों से भगवान् ने यह तत्त्व दर्शाया है कि जिस यत्न में हम लगें, यदि वह यत्न उत्तम है, तो हम चाहे उसमें उत्तीर्ण हों और चाहे अनुत्तीर्ण हों, पर उससे अधोगति को प्राप्त होने नहीं पाते किंतु उन्नति की ओर ही रहते हैं। और यह तत्त्व केवल योगी के विषय में ही नहीं किंतु सबके विषय में सिद्ध होता है, क्योंकि एक जन्म में किया हुआ कोई भी अधूरा काम अधूरा ही नहीं रह जाता, दूसरे जन्म में पूरा हो जाता है। इसी नियम से योगभ्रष्ट पुरुष अपना अधूरा अभ्यास पूर्ण करने के लिए दूसरे जन्म को प्राप्त होता है।

है, और उससे आगे योग-सिद्धि में हे अर्जुन ! वह (फिर अधिक) यत्न करता है ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार श्रीमानों और बुद्धिमान् योगियों के घर में जन्म लेकर वह योगभ्रष्ट पुरुष वहाँ (इस नये जन्म में) उस बुद्धि के संबंध (मिलाप) को पा लेता है कि जो बुद्धि (निश्चय वा विचार) उसने पूर्वले जन्म में अभ्यास से लाभ की हुई थी, या जिसे उसने पूर्व देह में अभी आरंभ ही किया था। और उस बुद्धि को पाकर, हे कुरु-कुल को प्रसन्न करनेवाले अर्जुन ! फिर वह (योगभ्रष्ट) इस योग-सिद्धि के लिए पहले से भी अधिक यत्न करता है, अथवा पूर्वले जन्म में जहाँ यत्न करना छोड़ा था, उससे आगे पुनः यत्न करता है ॥ ४३ ॥*

---

* इसी प्रकार का उत्तर श्रीवसिष्ठ भगवान् ने भी श्रीरामचंद्र के प्रति दिया है। श्रीरामचंद्र ने प्रश्न किया—"एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत। आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥"=हे भगवन् ! केवल एक भूमिका, अथवा दूसरी भूमिका या तीसरी भूमिका को प्राप्त हुए पुरुष की मरने के पीछे कैसी गति होती है ? श्रीरामचंद्र के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि शास्त्र में जो सात भूमिकाएँ कही गई हैं, अर्थात् १. नित्य-अनित्य-वस्तु का विवेक[1], इहामुत्रफलभोग का वैराग्य[2], शम-दमादि षट् संपत्ति[3], और कर्मों की निरासक्ति वा संन्यासपूर्वक जो उत्कट मुमुक्षुत्व[4] (मुक्ति की इच्छा), इन चार साधनों से संपन्न जो अवस्था है वह 'शुभ इच्छा' नाम की पहली भूमिका है। २. इसके अनंतर ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाकर वेदांत-वाक्यों का जो श्रवण-मनन है, वह 'विचारणा' नाम की दूसरी भूमिका है। ३. इसके बाद श्रवण-मनन द्वारा सिद्ध हुआ जो तत्त्वज्ञान अर्थात् निदिध्यासन है जिसमें पुरुष संशय से रहित होता है, सो तत्त्वज्ञानरूप निदिध्यासन 'तनुमानसा' नाम की तीसरी भूमिका है। ४. ये तीनों भूमिकाएँ तत्त्वसाक्षात्कार का साधन हैं, इनसे जो तत्त्व-

संबंध—(१) पूर्व जन्म की बुद्धि इस जन्म में कैसे आ प्राप्त होती है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

साक्षात्कार अवस्था प्राप्त होती है, वह 'सत्त्वापत्ति' नाम की चौथी भूमिका है। इस भूमिकावाला योगी केवल ब्रह्मवित् कहलाता है। ५. इसके बाद की तीनों भूमिका जीवन्मुक्ति के ही अवांतर भेद हैं। सविकल्पक समाधि के अभ्यास से पूर्ण निरुद्ध मन में जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है, उसका नाम असंसक्ति है, सो 'असंसक्ति' पाँचवीं भूमिका है। इस अवस्था से तो योगी पुरुष अपने आप समाधि से उठ आता है। इसलिए इस भूमिकावाला योगी ब्रह्मविद्वर नाम से कहा जाता है। ६. इस असंसक्ति की परिपक्वता से जो चिरकाल पर्यंत स्थिर हुई निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है, उसका नाम 'पदार्थभावनी' है, जो छठी भूमिका है। यह अवस्था गाढ़सुषुप्ति नाम से कही जाती है। इस पदार्थभावनी छठी भूमिकावाला योगी अपने आप समाधि से नहीं उठता किंतु दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थान को प्राप्त होता है। इसलिए यह योगी ब्रह्मविद्वरीयान् उपाधि से बोला जाता है। ७. इस पदार्थभावनी नाम की छठी भूमिका की परिपक्वता से जब विद्वान् पुरुष सर्वदा परिपूर्ण परमानंदघन हुआ स्थित होता है, और विना प्रयत्न के, या प्रारब्ध-कर्मवश, उसके देह का व्यवहार अन्य लोगों द्वारा ही होता है, ऐसी अवस्था सातवीं भूमिका है, इसे 'तुरीया' नाम देते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष न तो अपने आप और न दूसरे के प्रयत्न से समाधि से व्युत्थान को प्राप्त होता है। इसलिए इस भूमिकावाले योगी को ब्रह्मविद्वरिष्ठ नाम से कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि पिछली तीन (पाँचवीं, छठी और सातवीं) भूमिका में तो पुरुष को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों हैं, और चौथी भूमिका में मनुष्य को यद्यपि जीवन्मुक्ति नहीं तथापि मर कर विदेहमुक्ति की प्राप्ति अवश्य और निश्चित है। परंतु पहली तीन भूमिकाओं के विषय (जो तत्त्वसाक्षात्कार की साधन हैं) संशय का उठना संभव है। इसलिए श्रीरामचंद्र पूछते हैं कि इन तीन भूमिकाओं

अथवा (२) पूर्व जन्म की बुद्धि के संयोग से योगभ्रष्ट पुरुष कैसे ध्यानयोग में प्रवृत्त हो जाता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

में से किसी में भी मरने से पुरुष की क्या गति होती है ? इस पर वसिष्ठ भगवान् ऐसे उत्तर देते हैं कि—

“योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते सर्वदुष्कृतम् ॥ १ ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरुपर्वतकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ २ ॥
ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ ३ ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ ४ ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५ ॥”

अर्थ—जो पुरुष योग-भूमिका को संपादन करके मरण को प्राप्त हो गया है, उस पुरुष के पूर्वले पाप-कर्म सारे के सारे इस योगभूमिकांश के अनुसार नाश हो जाते हैं ॥ १ ॥ फिर वह पुरुष मेरु पर्वत की कुंजों तथा इंद्रादिक लोकपालों की पुरियों में देवताओं के विमानों में आरूढ़ होकर अप्सराओं के साथ रमण करता है ॥ २ ॥ तत्पश्चात् जब उसके पूर्व कृत सुकृतों का समूह भोग लेने से क्षय हो जाता है, तब शेष दुष्कृतों के भोगने के लिए वे योगभ्रष्ट पुरुष पुनः इस भूमिलोक में उत्पन्न होते हैं; अथवा जब पूर्व कृत सुकृतों और दुष्कृतों का समूह भोग लेने से क्षीण हो जाता है, तब वे योगभ्रष्ट पुरुष पुनः इस भूमिलोक में उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥ इस भूमिलोक में जो पवित्र, श्रीमान् और विद्यादि श्रेष्ठ गुणों से संपन्न होते हैं, उनके घर में वे योगभ्रष्ट पुरुष जन्म लेते हैं। और जन्म लेकर पूर्वले योग-भूमिकाओं के संस्कारों से विवश हुए वे पुनः उन योग-भूमिकाओं का ही सेवन करते हैं ॥ ४ ॥ और पूर्व जन्म में अभ्यास किया हुआ जो

अथवा (२) उक्त योगभ्रष्ट को दूसरे जन्म में उन्नति करने का अवकाश क्यों मिलता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

भूमिकाक्रम है, उस क्रम को विचार करके वे बुद्धिमान् (योगभ्रष्ट) पुरुष फिर वहाँ उस क्रम से उत्तर भूमिकाओं के क्रम को अर्थात् उच्च भूमिकाओं को प्रयत्न से संपादन करते हैं ॥ ५ ॥ लौकिक भोगवासनाओं की प्रबलता से अल्प काल में अभ्यस्त वैराग्यवासनाओं की दुर्बलता से प्राणों के निकलते समय जिस पुरुष की भोगों की इच्छा रह गई थी, उसी योगभ्रष्ट पुरुष का परिणाम वसिष्ठ भगवान् ने यहाँ वर्णन किया है। पर जिसके हृदय में वैराग्य की वासनाएँ अति प्रबल हैं, और प्राण निकलते समय ईश्वर-कृपा से उसे भोगों की किंचित् भी इच्छा नहीं रही, ऐसा तीव्र वैराग्यवान् योगी तो ब्रह्मविद्यावाले दरिद्री (निर्धन) ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न होकर पूर्वले संस्कारों के अनुसार विना प्रयत्न के ही योग-सिद्धि को प्राप्त होता मुक्त हो जाता है, जिस लिए पूर्व योगभ्रष्ट पुरुष को जिस प्रकार मुक्ति में शंका होती है, वैसे इस दूसरे योगभ्रष्ट पुरुष को मोक्ष में किंचित्-मात्र भी शंका नहीं होती। सो इस दूसरे योगभ्रष्ट पुरुष को श्रीवसिष्ठ भगवान् ने कथन नहीं किया; किंतु कृपालु भगवान् श्रीकृष्ण ने ही इस दूसरे योगभ्रष्ट का परिणाम वर्णन किया है।

इस (उक्त कथन) के विषय में एक सरल दृष्टांत यह है कि—जैसे कोई हरिद्वार जानेवाला पुरुष लखनऊ से पैदल चलकर रास्ते में मुरादाबाद में सो जाता है, तो जब वह जागता है तब मुरादाबाद से आगे चलकर लुक्सर इत्यादि स्टेशनों से होता हुआ हरिद्वार पहुँचता है, जागने पर वह पुनः लखनऊ से चलना प्रारंभ नहीं करता। वैसे ही योगभ्रष्ट पुरुष जब मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त होता अर्थात् सो जाता है, तो वह जब जागता अर्थात् पुनः जन्म लेता है, तब उस अवस्थारूपी स्टेशन से ही आगे चलना आरंभ करता है, न कि पीछे से, अर्थात् उस अवस्था से नहीं कि जिसे वह बहुत काल से टप चुका है और जो अब अति छोटी श्रेणी की वा निकृष्ट है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

पूर्व^{2}-अभ्यासेन^{3}, तेन^{1}, एव^{4}	उस^{1} पूर्वले^{2} अभ्यास^{3} से ही^{4}	जिज्ञासुः^{2}, अपि^{3}, योगस्य^{1}	योग^{1} का जिज्ञासु^{2} भी^{3}
ह्रियते^{5}, हि^{2}, अवशः^{3}, अपि^{4}, सः^{1}	वह^{1} निसंदेह^{2} विवश^{3} हुआ भी^{4} खींचा^{5} जाता है	शब्द^{1}-ब्रह्म^{2}, अतिवर्त्तते^{3}	शब्द^{1} ब्रह्म^{2} को उलाँघ^{3} (टप) जाता है

अन्वयार्थ—उस पूर्वले अभ्यास से ही विवश हुआ वह (योग-भ्रष्ट) निःसंदेह (उस ओर) खींचा जाता है । योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म * को उलाँघ जाता है ॥ ४४ ॥

---

* शब्दब्रह्म=(१) वेद, अर्थात् वेदोक्त कर्मकांड के अनुष्ठान के फल (स्वर्गादि) को उलाँघ जाता है। (श्रीशंकराचार्य)

(२) देव, मनुष्य आदि शब्द से कहने योग्य ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, उसको उलाँघ जाता है, अर्थात् प्रकृति के संबंध से विमुक्त हुआ उस ज्ञान-आनंद-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है जो देव-मनुष्यादि शब्दों से नहीं बोला जाता । (श्रीरामानुज)

(३) शब्दब्रह्म का अर्थ है "वैदिक यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म ।" क्योंकि ये (काम्य) कर्म वेद-विहित हैं और वेदों पर श्रद्धा रखकर ही किये जाते हैं; तथा वेद अर्थात् सब सृष्टि के पहले पहल का शब्द यानी शब्दब्रह्म है । प्रत्येक मनुष्य पहले पहल सभी कर्म काम्यबुद्धि से किया करता है; परंतु इस कर्म से जैसी-जैसी चित्त-शुद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे आगे निष्काम बुद्धि से कर्म करने की इच्छा होती है। इसीसे उपनिषदों में और महाभारत में भी (मैत्र्यु० ६, २२; अमृतबिंदु० १७; म०भा० शां०. २३१, ६३ ; २६९, १.) यह वर्णन है कि—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥" =

व्याख्या--हे अर्जुन ! उत्तम लोकों के भोगों को भोगकर फिर श्रीमान् राजाओं के घर में अथवा सीधा बुद्धिमान् योगियों के कुल में उत्पन्न हुआ जो योगभ्रष्ट पुरुष है, उसने जो पूर्व जन्म में योगप्राप्ति-निमित्त अभ्यास किया होता है, और जिस अभ्यास तथा ज्ञान की संस्काररूप बुद्धि का संयोग उसे इस वर्तमान जन्म में स्वतः प्राप्त हुआ होता है, उस पूर्वले योगाभ्यास के संस्कारों के बल से विवश (मजबूर) होकर, अर्थात् किसी कारण से स्वयं न चाहता हुआ भी, अथवा स्वयं प्रयत्न न करता हुआ भी पूर्व अभ्यास से विवश होकर, वह योगभ्रष्ट पुरुष उस योगप्राप्ति की ओर झुक जाता है, अर्थात् योगमार्ग में विवश हुआ प्रवृत्त होता है। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म का अभ्यास योगभ्रष्ट पुरुष को अवश्यमेव योगमार्ग में पुनः प्रवृत्त

“जानना चाहिए कि ब्रह्म दो प्रकार का है ; एक शब्दब्रह्म और दूसरा उससे परे का (निर्गुण) । शब्दब्रह्म में निष्णात (familiarity) हो जाने पर फिर इससे परे का (निर्गुण) ब्रह्म प्राप्त होता है ।” शब्दब्रह्म के काम्य कर्मों से उकताकर अंत में लोकसंग्रह के अर्थ इन्हीं कर्मों को करानेवाले कर्मयोग की इच्छा होती है, और फिर तब इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा-थोड़ा आचरण होने लगता है । अनंतर ‘स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः’ के न्याय से यही थोड़ा सा आचरण उस मनुष्य को इस मार्ग में धीरे-धीरे खींचता जाता है, और अंत में क्रम-क्रम से पूर्ण सिद्धि करा देता है । पस, यह जो कहा है कि “कर्मयोग के जान लेने की इच्छा होने से भी वह शब्दब्रह्म के परे जाता है”, उसका तात्पर्य भी यही है, क्योंकि यह जिज्ञासा कर्मयोगरूपी चरखे का मुँह है, और एक बार इस चरखे के मुँह में लग जाने पर फिर इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, कभी न कभी, पूर्ण सिद्धि मिलती है, और वह शब्दब्रह्म से परे के ब्रह्म तक पहुँचे विना नहीं रहता । (श्रीबालगंगाधर तिलक)

करा देता है। और हे अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष का तो कहना ही क्या है, जो केवल योग-सिद्धि की अभी जिज्ञासा ही रखता है, अर्थात् जो पूर्व योगभ्रष्ट के समान तीसरी भूमिकावाला नहीं किंतु अभी पहली भूमिका को ही संपादन करता है, वह जिज्ञासु योगी भी शब्दब्रह्म (वेद या वेदोक्त कर्मों के फल) को उलाँघ जाता है; अथवा वह योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वैदिक कर्म-कांड वा काम्य कर्म) से परे वर्तता है। अभिप्राय यह है कि योगभ्रष्ट पुरुष के तो सब पाप उसके पूर्व अभ्यास के अनुसार नाश हुए होते हैं, जिससे वह तो स्वभाव ही से निष्पाप अर्थात् वैदिक कर्म (वा काम्य कर्मों) के फल से परे (अथवा निर्लिप्त) ही वर्तता होता है; परंतु जो पुरुष अभी ठीक योगभ्रष्ट नहीं किंतु योग का जिज्ञासु ही है, वह भी शब्दब्रह्म से परे टप जाता है, अर्थात् त्रैगुण्यविषयक वेद वा उनकी पुष्पित वाणियाँ तथा स्वर्ग-भोग के दिलानेवाली नाना प्रकार की क्रियाएँ (यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म) उस योग के जिज्ञासु को भी नितांत आकर्षण नहीं करतीं, बल्कि वह भी इनके आकर्षण से परे ही वर्तता रहता है ॥ ४४ ॥ ※

※ जब योगभ्रष्ट पुरुष किसी राजा-महाराजा के घर में जन्म ले लेगा, तो यह संभावना होती है कि वह वहाँ अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र और धनादि के मोह में अथवा विषयों में फँस जावे, और इस मोह-माया के सामने उस (योगभ्रष्ट) का कुछ वश न चले। इस शंका के निवारणार्थ यह श्लोक है, जिसका तात्पर्य यह है कि चाहे योगभ्रष्ट पुरुष किसी धनवान् के घर में उत्पन्न होकर मोह-माया में फँस भी जावे, तो भी उसके पूर्वले जन्म का योगाभ्यास अपने संस्कारों से उसे अवश्य योगमार्ग में लगा देता है। यदि उसने कोई अधर्म काम किया होता है, तो कुछ काल के लिए योग का प्रभाव दबा रहता है, पर ज्यों ही अधर्म का नाश

संबंध—(१) पूर्वाभ्यास से विवश होकर यत्न करते हुए योगी की भगवान् अब गति वर्णन करते हैं—

अथवा (२) "तीसरी भूमिका में मरनेवाला योगभ्रष्ट तो पूर्व अभ्यास से विवश होकर शब्दब्रह्म से परे वर्तता हुआ योग-साधन में लग जाता है," ऐसा दर्शाकर अब "जो पहली वा दूसरी भूमिका में मर जाता है, अर्थात् जो योग का अभी जिज्ञासु ही है, ऐसे योगभ्रष्ट को भी प्रयत्न द्वारा तत्त्वसाक्षात्काररूप परमगति की प्राप्ति अवश्य और निश्चित है," ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नात्[2], यतमानः[3], तु[1]	और[1] (किंतु) प्रयत्न[2] से यत्न[3] करता हुआ	अनेक[1]-जन्म[2]-संसिद्धः[3]	अनेक[1] जन्मों[2] के अनंतर सिद्ध[3] हुआ
योगी[3], संशुद्ध[1]-किल्बिषः[2]	धोये[1] हुए मलों[2]-वाला योगी[3]	ततः[1], याति[4], परां[2], गतिम्[3]	फिर[1] परम[2] गति[3] को प्राप्त[4] होता है

अन्वयार्थ—और (इस प्रकार) प्रयत्न से यत्न करता हुआ, धोये हुए पापों (मलों) वाला, और अनेक जन्मों के अनंतर सिद्ध हुआ योगी तब परम गति को पाता है ॥ ४५ ॥

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! इस प्रकार जब पूर्वाभ्यास के बल (वा संस्कारों) से विवश होकर वह योगभ्रष्ट पुरुष योगमार्ग में प्रवृत्त होता है, तब वह पहले से भी अधिक परिश्रम के साथ उस योगसिद्धि के लिए यत्न करता है । और इस यत्न से जब

हुआ, तत्काल योग के संस्कार अपना बल दर्शाने लग जाते हैं । इस प्रकार अधर्म के कारण पूर्व अभ्यास के संस्कार छिप जाते अर्थात् दबे होते हैं, परंतु उनका विनाश नहीं हुआ होता ।

उसके अंतःकरण के सब दोष (पाप वा मल) धुल जाते अर्थात् दूर हो जाते हैं, तब ऐसी अनेक जन्मों के पुण्यकर्मों वा यत्नों से प्राप्त होनेवाली योगसिद्धि को पाकर वह फिर परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। इस प्रकार योगभ्रष्ट पुरुष अंत में मुक्ति को ही पाता है, नितांत नाश नहीं हो जाता ॥ ४५ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष, अर्थात् तीसरी भूमिका में मरनेवाला योगी तो पूर्वाभ्यास से विवश होकर शीघ्र योग-मार्ग में प्रवृत्त होता आत्मसाक्षात्कार कर ही लेता है। पर जो योग का अभी जिज्ञासु ही है, अर्थात् जो पहली वा दूसरी भूमिका में मरनेवाला योगी है, वह उस पूर्व जिज्ञासा के संस्कारों के बल से योग की सिद्धि में भारी प्रयत्न से यत्न करने लग जाता है, और इस प्रयत्न से जब उसके समस्त पाप धुल जाते हैं, अर्थात् जब प्रयत्न द्वारा उसका अंतःकरण नितांत शुद्ध हो जाता है, तो (इस प्रकार) अनेक जन्मों के प्रयत्न से प्राप्त होनेवाली योग-सिद्धि को वह भी पा लेता है। और उस सिद्धि के अनंतर फिर वह परमगति (कैवल्य मुक्ति) को प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥*

---

* भगवान् के इस उत्तर से यह भी सिद्ध हुआ कि पूर्व जो दूसरे अध्याय में कर्मयोग के विषय में भगवान् ने यह कहा था कि "इस योग में प्रत्यवाय नहीं होता बल्कि इसका थोड़ा सा अंश किया हुआ भी बड़े भारी भय से बचा देता है" यह सिद्धांत इस ध्यानयोग के विषय में भी वैसे ही ठीक उतरता है, अर्थात् यह सिद्धांत इस योग में भी वैसे ही युक्त है, जैसे कि कर्मयोग में।

और श्लोक ४० से ४५ तक भगवान् ने यह भी दर्शा दिया है कि मनुष्य की चाहे कुछ ही आयु क्यों न हो, चाहे उसने बहुत आयु को पापों में ही क्यों न खो दिया हो, और वह कैसा ही निर्बल क्यों न हो, पर उसे निराश कदापि न होना चाहिए, और न उसे यह समझना

संबंध—इस परमगति को प्राप्त होनेवाले योगी का भगवान् अब महत्त्व (वा स्तुति) वर्णन करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्विभ्यः^{1}, अधिकः^{3}, योगी^{2}	तपस्वियों^{1} से योगी^{2} अधिक^{3} है	कर्मिभ्यः^{2}, च^{1}, अधिकः^{4}, योगी^{3}	और^{1} कर्मियों^{2} से योगी^{3} अधिक^{4} है
ज्ञानिभ्यः^{1}, अपि^{2}, मतः^{4}, अधिकः^{3}	ज्ञानियों^{1} से भी^{2} (योगी) अधिक^{3} माना^{4} गया है	तस्मात्^{1}, योगी^{3}, भव^{4}, अर्जुन^{2}	इसलिए^{1} हे अर्जुन^{2}! तू योगी^{3} हो^{4}

चाहिए कि "मुझसे कुछ हो ही नहीं सकता, या आयु अब कम रह गई है, इत्यादि ।" बल्कि जितना यत्न हो सके और जब हो सके, उसे अवश्य करना चाहिए । जो थोड़ा सा भी यत्न वह कर लेगा, उसका भी परिणाम अच्छा ही होगा । क्योंकि किसी का परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता । यदि एक जन्म में सिद्धि न हुई, तो दूसरे जन्म में अवसर मिल जाता है, और उसके लिए उचित अवस्थाएँ उपस्थित हो जाती हैं ।

तीसरी बात इस श्लोक से यह स्पष्ट हो गई कि बहुधा यह योग-सिद्धि मनुष्य को केवल एक जन्म में ही प्राप्त नहीं होती, बल्कि कई एक जन्मों के पूर्वले संस्कारों तथा जन्म-जन्मांतर के यत्नों से मिलती है; अर्थात् इस सिद्धि में पूर्वले जन्म के संस्कार बड़ा भारी कारण हैं । आरंभ में देखने से यह जान पड़ता है कि पतंजलि ऋषि तथा जनक आदि को यह सिद्धि एक जन्म में ही प्राप्त हुई होगी, परंतु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि उन्हें भी यह फल जन्म-जन्मांतर के पूर्व संस्कारों से ही मिला होगा । इस प्रकार योग का थोड़ा सा आचरण, यहाँ तक कि योग की जिज्ञासा भी, सदैव कल्याणकारक है । इसके अतिरिक्त अंत में मोक्षप्राप्ति भी निःसंदेह इसी से होती है ।

अन्वयार्थ—(उक्त ध्यान-) योगी तपस्वियों से अधिक, कर्मियों से अधिक और ज्ञानियों से भी अधिक (श्रेष्ठ) माना गया है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो * ॥ ४६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो लोग तपस्वी हैं, अर्थात् जो कृच्छ्र-चांद्रायणादिक तप करते हैं, पंचाग्नि तपते हैं, रात-दिन धूनी लगाये खड़े रहते हैं, और जंगल में जा उपवास-व्रतादि करके अपने देह को क्षीण कर डालते हैं, ऐसे शरीर को क्लेशदायक व्रतों और उपवासादिक से सिद्धि पाने का यत्न करनेवाले तपस्वियों की अपेक्षा उक्त ध्यानयोग द्वारा मनोनाश और वासनाक्षय अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार करनेवाला ध्यानयोगी बहुत बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ है। जो ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्म करते हैं; अथवा जो कुएँ, तालाब, बावड़ी और धर्मशालाएँ बनवाते हैं, या जो निष्काम भाव से वेदोक्त कर्म करते रहते हैं और इसी से योगारूढ़ हो चुके हैं। ऐसे कर्मनिष्ठ (अथवा कर्मकांडी) पुरुषों से भी उक्त ध्यानयोगी बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ वा उत्तम है। इन तपस्वियों और

---

* "तू योगी हो" इस आज्ञा से तात्पर्य तो निःसंदेह यही है कि "तू भी ध्यानयोगी हो" क्योंकि प्रसंग भी इसी ध्यानयोगी का ही यहाँ चल रहा है; परंतु इससे यह अभिप्राय नहीं कि अभी ही युद्ध छोड़ कर झट हे अर्जुन ! तू जंगल में जाकर योगाभ्यास कर। आशय यह है कि यह ध्यानयोगी अन्य सब योगियों से निःसंदेह श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार का प्रत्यक्ष अनुभवी यह ध्यानयोगी ही होता है और सबको इसी ओर सिद्धि पर पहुँचने का यत्न करना होता है। पर इस का यत्न यही है कि पहले कर्मयोग किया जाय;—जब कर्मयोग करते-करते योगारूढ़ अवस्था प्राप्त हो जाय, तब एकांत स्थान में बैठकर अंतर्मुख होकर चित्त-वृत्ति-निरोध का अभ्यास किया जाय। इस क्रम से, हे अर्जुन ! तू भी उक्त ध्यानयोगी हो। (देखो यही भाव अ० १८ श्लो० ४४—५५ तक)

कर्मकांडी पुरुषों का तो भला कहना ही क्या है, ये जो केवल परोऽक्ष ज्ञानी हैं, अर्थात् जो रात-दिन केवल शास्त्रों के अर्थ-विचार में ही लगे रहते हैं, जो मिला उससे ज्ञान की लंबी-चौड़ी बातें ही छाँटते रहते हैं, और जो केवल युक्ति से तो तत्त्व को समझे बैठे हैं, पर आचरण में उस निश्चय को अभी नहीं लाये होते, इन ऐसे ज्ञानियों से भी उक्त ध्यानयोगी श्रेष्ठ * माना जाता है। हे प्यारे! क्योंकि यह (ध्यान द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुआ) योगी तपस्वियों, कर्मियों और ज्ञानियों से भी अधिक (श्रेष्ठ) माना गया है, इसलिए तू भी ऐसा ध्यानयोगी हो ॥ ४६ ॥ †

---

* इस कथन से यह तात्पर्य नहीं कि तपस्वी, कर्मकांडी और परोऽक्ष-ज्ञानी पुरुष स्वभाव से निकृष्ट किंवा व्यर्थ वा निरुपयोगी हैं, और न इनका निषेध करना भगवान् का अभिप्राय है। भगवान् ने तो केवल इन सबकी ध्यानयोगी से तुलना की है, जिससे यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि कर्मी, तपस्वी और ज्ञानी अपने-अपने स्थान पर उत्तम और उपयोगी हैं, तथापि ध्यानयोगी इन सबसे श्रेष्ठ है। और ध्यानयोगी की उपमा के सामने इन (कर्मी इत्यादि) की उपमा मंद पड़ जाती है।

इस श्लोक से योगी का अर्थ भी यही स्पष्ट हो रहा है कि योगी केवल तपस्वी नहीं है, अर्थात् पंचाग्नि जलाकर बीच में बैठनेवाला हठयोगी योगी नहीं है, न केवल कर्मी और परोऽक्ष ज्ञानी ही योगी है, किंतु योगी यहाँ वह है कि जिसने प्रथम निष्काम कर्मयोग के उपाय द्वारा अंतःकरण की शुद्धि और चित्त की शांति लाभ कर ली है, और फिर उस शुद्धि और शम अवस्था की सहायता से चित्तवृत्ति का निरोध करके एकांत में तत्त्वचिंतन से तत्त्व-साक्षात्कार कर लिया है। अर्थात् जो समाधिस्थ तत्त्वविद् है, वही यहाँ योगी है।

† 'योगी' शब्द के अर्थ केवल कर्मयोगी लेकर श्रीयुत तिलक महाराज इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—(आगे फ़ुटनोट पृष्ठ ८१७ पर देखो)

संबंध--(१) उक्त ध्यानयोगियों में भी जो श्रेष्ठ योगी है, उसे भगवान् अब वर्णन करके इस प्रकरण को समाप्ति करते हैं—

"जंगल में जाकर उपवास आदि शरीर के क्लेशदायक व्रतों से अथवा हठयोग के साधनों से सिद्धि पानेवाले लोगों को इस श्लोक में तपस्वी कहा है; और सामान्य रीति से इस शब्द का यही अर्थ है। 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां' (गी. ३. ३) में वर्णित, ज्ञान से अर्थात् सांख्य-मार्ग से कर्म को छोड़कर सिद्धि प्राप्त कर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगों को ज्ञानी माना है। इसी प्रकार गी. २, ४२—४४ और ६. २०, २१ में वर्णित, निरे काम्य कर्म करनेवाले स्वर्ग-परायण कर्मठ मीमांसकों को कर्मी कहा है। इन तीनों पंथों में से प्रत्येक यही कहता है कि हमारे ही मार्ग से सिद्धि मिलती है। किंतु अब गीता का यह कथन है कि तपस्वी हो, चाहे कर्मठ मीमांसक हो, या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो, इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी अर्थात् कर्मयोग मार्ग ही श्रेष्ठ है। और पहले यही सिद्धांत 'अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है' (गी. ३. ८), एवं 'कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष है' (गी. ५. २) इत्यादि श्लोकों में वर्णित है। और तो क्या, तपस्वी, मीमांसक अथवा ज्ञानमार्गी इनमें से प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, 'इसी' लिए पीछे जिस प्रकार अर्जुन को उपदेश किया है कि 'योगस्थ होकर कर्म कर' (गी. २, ४८) अथवा 'योग का आश्रय करके खड़ा हो' (गी. ४, ४२), उसी प्रकार यहाँ भी फिर स्पष्ट उपदेश किया है, कि 'तू (कर्म-) योगी हो'।"

हमारे ख़्याल में श्रीतिलक महाराज की यह व्याख्या यद्यपि अति मनोहर और कुछ युक्ति-सिद्ध दीखती है; परंतु ऐसी व्याख्या इस श्लोक को जब इस अध्याय से बाहर निकालकर की जाय तो शायद अति उत्तम, युक्त और यथार्थ हो सके; किंतु यहाँ के क्रमानुसार यह ठीक नहीं बैठती। कारण, प्रथम तो यह अध्याय ही ध्यानयोग का चल रहा है, कर्मयोग का नहीं। दूसरे, प्रसंग भी यहाँ ध्यानयोगी का है, कर्मयोगी का नहीं। तीसरे, कर्मयोगी यद्यपि अकर्मी वा कर्मसंन्यासी से श्रेष्ठ है, परंतु कर्म-

अथवा (२) पूर्वोक्त जितने प्रकार के योगी वर्णन हुए हैं, उन सब योगियों में जो श्रेष्ठ योगी है, उसे भगवान् अब दर्शाते हुए प्रकरण की समाप्ति करते हैं—

योगी से भी ऊपर (बढ़-चढ़कर) ध्यानयोगी इसी अध्याय के श्लोक ३ में भगवान् ने सूत्ररूप से दर्शाया है, और कर्मयोग को ध्यानयोग का प्रथम अंग (वा रूप) दर्शाया है। चौथे, कर्मयोगी कर्मसंन्यासी से श्रेष्ठ और सुगम होने के कारण पूर्व अध्यायों में निःसंदेह अर्जुन को भगवान् ने कर्मयोगी होने का उपदेश तो दिया है, परंतु वहीं उसे यह भी दर्शा दिया है कि कर्मयोग-अवस्था से आगे बढ़कर ध्यानयोग-अवस्था है, अर्थात् कर्मयोग अंतिमावस्था नहीं बल्कि ध्यानयोग की प्रथमावस्था है, और कर्मयोग का आचरण किये बिना ध्यानयोग सुगमतापूर्वक हो नहीं सकता, इसलिए कर्मयोग के मार्ग को पकड़कर वहीं ठहरे रहना उचित नहीं बल्कि निरासक्त मन व समत्व बुद्धि से निष्काम कर्म करते-करते जब पुरुष योगारूढ़ अर्थात् पूर्ण कर्मयोगी की अवस्था को प्राप्त हो जाय, तो उसके उपरांत उसे बाह्य कर्म छोड़कर एकांत स्थान में बैठ आँख, कान आदि मूँद कर अपने भीतर निरोध चित्त के साथ तत्वचिंतन से आत्म-ध्यान में निरंतर युक्त होना चाहिए ताकि उसे आत्मसाक्षात्कार का लाभ हो और इस रीति से उसकी सर्वप्रकार की कामनाएँ और अन्य त्रुटियाँ नष्ट हों और वह फिर पूर्णतया अनंत सुख (परमानंद) को पाता हुआ परमनिर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो। इसी लिए उक्त श्लोक ३ में कहा है कि कर्मयोगी को अपने कर्मयोग साधन से योगारूढ़ अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद शमरूप साधन से ध्यानयोग करना उचित है। पाँचवें, अगले श्लोक ४७वें में भी उत्तम योगी वही दर्शाया गया है कि जो भगवान् को श्रद्धापूर्वक सर्वत्र भजता वा ध्याता है, न कि वह जो निष्काम कर्म करता है। इसलिए योगी के अर्थ यहाँ कर्मयोगी नहीं, किंतु ध्यानयोगी ही बैठते हैं। और यही अर्थ यहाँ के क्रमानुसार वा पूर्वापर के संबंध से युक्त हैं। (टीकाकार)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

योगि^{2}नां, अ^{3}पि, सर्वेषां	सब योगि^{2}यों में से भी^{3}	श्रद्धावान्, भ^{4}जते, यः, मां	जो^{1} श्रद्धावाला^{2} हुआ मुझे^{3} भजता^{4} है
मद्^{1}-गतेन^{3}, अन्तर्^{2}-आत्म^{4}ना	मुझ^{1} में^{2} लगाये^{3} हुए (स्थित) मन^{4} से	सः^{1}, मे^{2}, युक्त^{3}-तमः^{4}, मतः^{5}	वह^{1} मेरा^{2} युक्त^{3}तम^{4} माना^{5} गया है

अन्वयार्थ—सब योगियों में भी जो श्रद्धावान् हुआ मुझमें स्थित मन से मुझको भजता है, वह मेरा युक्ततम माना गया है ॥ ४७॥

इसी श्लोक की विचित्र रूप से श्रीज्ञानदेव ने ऐसे व्याख्या की है—"जिस लाभ की आशा से धैर्यरूपी भुजाओं का विश्वास रख कर्मनिष्ठ लोग सत्कर्मरूपी प्रवाह में घुसते हैं, अथवा जिस एक वस्तु के लिए ज्ञानी लोग ज्ञान का दृढ़ कवच पहनकर प्रपंच से युद्ध-भूमि पर झगड़ते हैं, अथवा जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके तपस्वी लोग निराधार फिसलाहट युक्त तपोरूपी क़िले की टूटी हुई कगार का आश्रय करते हैं, जो भजन करनेहारों का भज्य है, यज्ञ करनेहारों का याज्य है, एवं जो सर्वदा सब को पूज्य है, वही परब्रह्म जो साधकों का कारण और सिद्ध तत्त्व है, वह योगी स्वयं आप ही हो जाता है । इसलिए कर्मनिष्ठों का वह बंदनीय है, ज्ञानियों का जानने योग्य है, और तपस्वियों का मूल तपोनाथ है । जीव और परमात्मा के संगम से उसे मनोधर्म प्राप्त हुए हैं । एवं वह शरीरी है, तथापि वह उपर्युक्त महिमा पाता है । इसलिए, हे पंडुकुँवर ! मैं तुमसे सदा कहता हूँ कि तुम अंतःकरण से योगी बनो ।"

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त ध्यानयोगियों (अथवा सर्वप्रकार के पूर्व वर्णित योगियों) में से भी वह योगी * मेरी समझ (विचार) में अत्यंत श्रेष्ठ है कि जो चित्त में वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं को तो नहीं ध्याता रहता बल्कि एकमात्र मुझ सच्चिदानंद-स्वरूप में पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ हृदय से मेरा ही निरंतर ध्यान करता रहता है, और इस रीति से मुझ परमेश्वर में पूर्ण चित्त लगाकर मेरा भजन करता रहता है—अर्थात् संपूर्ण समाहित चित्तवाले पुरुषों (योगियों) में भी जो मुझे अनन्य रूप से ध्याने-

---

* इस सारे अध्याय में योगी शब्द तीन मुख्य भेदों से वर्णित है, प्रथम वह योगी जो अभी योग में आरूढ़ होना चाहता है, अर्थात् जो अभी योग का जिज्ञासु है । द्वितीय वह योगी जो कर्मयोग द्वारा योगारूढ़ हो चुका है । तृतीय वह (योगारूढ़) योगी कि जो ध्यानयोग (अर्थात् योगाभ्यास) द्वारा योगसिद्धि (मनोनाश और वासनाक्षय) को प्राप्त हो गया है । इन्हीं (तीन प्रकार के योगियों) को संस्कृत में युक्त मनुष्य कहते हैं । इन युक्त योगियों में भी वह योगी कि जो मनोनाश वासनाक्षय होने पर एकमात्र परम (शुद्ध सच्चिदानंद) स्वरूप भगवान् का अनुभव करता है, उसको भगवान् युक्ततम समझते हैं ; अथवा जो योगारूढ़ होने पर एकमात्र परमात्मा को अवलंबन करके चित्तवृत्ति का निरोध करता है, जैसे कि श्रुति में आया है—"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥" (कठ० अ० १. व. २।१७) अर्थ—"यह सबसे उत्तम आलंबन (सहारा) है; यह सबसे ऊँचा आलंबन है, वह जो इस आलंबन को जानता है, ब्रह्मलोक में महिमावाला होता है," ऐसा योगी भगवान् के विचार में युक्ततम है ; अथवा जो सर्वत्र भगवान् को और भगवान् में सबको देखता है, जिससे ऐसी दशा उसको हो जाती है कि "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।"=जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही उसको समाधि लग जाती है ; उस ऐसे अभेददर्शी योगी को भगवान् युक्ततम मानते हैं ।

वाला है. जो एकमात्र मेरे ही परमस्वरूप (जो उसका ही अपना वास्तविक स्वरूप है) के ध्यान में निरुद्ध चित्त से नियुक्त रहता है. और जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है वहाँ प्रत्येक पदार्थ में मुझ सच्चिदानंद को ही अनुभव करता हुआ सबसे प्रेम करता है. और इस रीति से सर्वत्र मेरी ही पूजा, सेवा और भक्ति (वा प्रीति) करता हुआ समाहित चित्त रहता है, ऐसे योगी * को मैं

---

* योगी का अर्थ कर्मयोगी करके श्रीतिलक महाराज इस श्लोक का ऐसा भाव वर्णन करते हैं— "इस श्लोक का यह भावार्थ है कि योग में भी भक्ति का प्रेम-पूरित मेल हो जाने से, वह योगी भगवान् को अत्यंत प्रिय हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि आगे बारहवें अध्याय में भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि ध्यान की अपेक्षा कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है। (गी. १२. १२)। निष्काम कर्म और भक्ति के समुच्चय को श्रेष्ठ कहना एक बात है, और सब निष्काम कर्मयोग को व्यर्थ कहकर, भक्ति ही को श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है। गीता का सिद्धांत पहले ढंग का है और भागवत पुराण का दूसरे ढंग का। भागवत (१. ५, ३४) में सब प्रकार के क्रियायोग को आत्मज्ञानविघातक निश्चित कर, कहा है—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।"

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्म भी (भाग. ११. ३. ४६.) बिना भगवद्भक्ति के शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १. ५. १२ और १२. १२. ५२)। इससे व्यक्त होगा कि भागवत-कार का ध्यान केवल भक्ति के ही ऊपर होने के कारण वे विशेष प्रसंग पर भगवद्गीता के भी आगे कैसी चौकड़ी भरते हैं। जिस पुराण का निरूपण इस समझ से किया गया है कि महाभारत में और इससे गीता में भी भक्ति का जैसा वर्णन होना चाहिए वैसा नहीं हुआ; उसमें यदि उक्त वचनों के समान और भी कुछ बातें मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर हमें तो देखना है गीता का तात्पर्य, न कि भागवत का कथन। दोनों का प्रयोजन और समय भी

अत्यंत युक्त वा सर्वोपरि श्रेष्ठ मानता हूँ। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि योगाभ्यास के समय महादेव, सूर्य आदि देवताओं का ध्यान वा भजन करनेवाले योगियों की अपेक्षा केवल अपने आपमें और संसार के प्राणिमात्र में भेद न समझनेवाला, सबको ब्रह्मस्वरूप अनुभव करनेवाला अर्थात् एकमात्र अपने परम आत्मस्वरूप का अनन्य भक्त (ध्यानयोगी) सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४७ ॥ *

भिन्न-भिन्न है; इस कारण बात-बात में उनकी एक वाक्यता करना उचित नहीं है। कर्मयोग की साम्य-बुद्धि प्राप्त करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें से पातंजल योग के साधनों का इस अध्याय में निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति भी अन्य साधन हैं, अगले अध्याय से इनके निरूपण का आरंभ होगा।"

* इन छे अध्यायों (प्रथम षट्क) में भगवान् ने सबसे पहले आत्मतत्त्व का बोध कराया, और उस बोधानुसार कर्म करने की विधि बताकर भगवान् ने फिर आत्मसाक्षात्कार की विधि (ध्यानयोग) इस अध्याय में सविस्तर वर्णन की। और उस विधि पर चलनेवाले पुरुषों को योगी नाम देकर उनके चार भेद सहित साधनों के दर्शाये ; अर्थात् १. योग का जिज्ञासु, जो अभी योगारूढ़ होना चाहता है, उसके लिए आत्मानुभव का प्रथम साधन कर्मयोग, अर्थात् कर्म द्वारा मन का निग्रह बतलाया ; २. योगारूढ़, जो जिज्ञासा की अवस्था से ऊपर होकर योगारूढ़ हो चुका है, उसके लिए शम साधन अर्थात् इंद्रियों और मन का निग्रह कर एकांत में बैठ तत्त्वचिंतन से आत्मध्यान में युक्त होना कहा है ; ३. युक्त, अर्थात् जो उक्त शम साधन से योगसिद्धि को प्राप्त हो गया है, उसके लिए मनोनाश वासनाक्षयरूप साधन वर्णन हुआ ; और ४. युक्ततम, जिसके लिए सर्वत्र भगवत्-दर्शन अर्थात् अभेद दृष्टि साधन वर्णन हुआ है। इस समुच्चय तात्पर्य को श्रीयामुनाचार्य ऐसे श्लोकबद्ध करते हैं—

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे ध्यानयोगो * नाम षष्ठोऽध्यायः।

"योगाभ्यासविधिर्योगी चतुर्धा योगसाधनम् ।
योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते ॥

अर्थ—१. योगाभ्यास की विधि, २. चार प्रकार के योगी, ३. योग का साधन, ४. योगसिद्धि और ५. स्वयोग की श्रेष्ठता, ये पाँच विषय इस छठे अध्याय में वर्णन हुए हैं। जिससे पता लगता है कि कैसे और किनसे और किन-किन अवस्थाओं में योगाभ्यास किया जा सकता है, और योगसिद्धि कब होती है तथा उसका परिणाम क्या-क्या होता है।

* कई टीकाकारों ने इस अध्याय का नाम "ध्यानयोग" के शब्द से नहीं, किंतु "आत्मसंयमयोग" के शब्द से निरूपण किया है।

* * *

छठे अध्याय का संक्षेप

(१) पाँचवें अध्याय के अंत में जो ध्यान की विधि संक्षेप से वर्णन की गई थी उसे अब (इस अध्याय में) भगवान् सविस्तर वर्णन करने लगे हैं। परंतु यह ध्यानयोग तो कर्मयोग व कर्मसंन्यास दोनों का लक्ष्य वा फल है जिससे दोनों अपने लक्ष्य वा फल से एक हैं, इसलिए भगवान् सबसे पहले योगी और संन्यासी की (अपने अभिप्राय से) एकता दर्शाते हैं——

(क) हे अर्जुन ! यह मैंने पूर्व भी अनेक बार कहा है, और अब पुनः स्पष्ट करके कहता हूँ कि कर्म-फल का आश्रय न लेकर करने योग्य अर्थात् कर्त्तव्य कर्म को जो पुरुष करता है, वही (मेरे विचार में) संन्यासी है और वही योगी है, न कि अग्निहीन और क्रियाहीन पुरुष।

(ख) इसलिए जिसको लोग संन्यास कहते हैं, उसको ही तू योग जान, क्योंकि बिना संकल्प त्यागे के कोई पुरुष वास्तव में योगी नहीं हो सकता।

(ग) हाँ, इतना ज़रूर है कि जो पुरुष अभी योगारूढ़ की अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि जो उस अवस्था को प्राप्त होना चाहता है, उसके लिए (उस अवस्था की प्राप्ति का) साधन वा उपाय कर्म कहलाता है। और जो योगारूढ़ की अवस्था को प्राप्त हो चुका है, उसके लिए बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत में बैठ निरुद्ध मन से तत्त्वचिंतन द्वारा आत्मध्यान में निरंतर युक्त होते रहना अर्थात् शम ही साधन वा उपाय कहलाता है। इस प्रकार

योगी दो प्रकार के होते हैं, एक तो योग के जिज्ञासु अर्थात् कर्मयोगी, और दूसरे योगारूढ़ अर्थात् संन्यासी जो वास्तवमें कर्मयोग का ही परिणाम है।

(२) इतना दर्शाने के बाद भगवान् अब योगारूढ़ पुरुष के लक्षण स्पष्ट करते हैं—

"जब पुरुष नितांत न इंद्रियों के अर्थों (विषयों) में और न कर्मों में अनुषंगता (lingering attachment) रखता है. और इस रीति से सारे संकल्पों का जब पूर्ण त्यागी हुआ होता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है।

(३) उक्त योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर फिर योगारूढ़ पुरुष को आगे जो कुछ करना उचित है, उसे भगवान् अब सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) **योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर फिर योगारूढ़ पुरुष को उचित है कि वह अपने आपका अपने आपसे अर्थात् अपने आत्मिक बल से उद्धार करे, और अपने आपको नीचे न गिरने दे, अर्थात् संसार-समुद्रमें पुनः अपने आपको डूबने वा आसक्त होने न दे ; क्योंकि पुरुष का अपना आप ही अपना बंधु है, और अपना आप ही अपना शत्रु है।**

(ख) **और यह याद रहे कि जिसने अपने आपको अपने वश में कर रक्खा है, उसका अपना आप उसका मित्र है, और जिसने नहीं कर रक्खा, उसका अपना आप उसका शत्रु है।**

(४) ऐसे जितात्मा योगारूढ़ पुरुष के लक्षण वा फल भगवान् अब वर्णन करते हैं—

(क) अपने आपको अपने पूर्ण वश में किये हुए (जितात्मा) और प्रशांत चित्त (योगारूढ़) पुरुष का अपना आप (अंतःकरण) शीतोष्ण, सुख-दुःख और मानापमान आदि द्वंद्वों में नित्य समाहित (शांत, स्थिर वा युक्त) रहता है।

(ख) और इसीलिए ज्ञानविज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ (निर्विकार), इंद्रिय-जित और ढेला-पत्थर तथा सोना को एक समान समझता हुआ योगारूढ़ पुरुष पूर्ण युक्त कहलाता है।

(ग) और मिट्टी के ढेले इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझना इतना कठिन नहीं जितना कि चेतन पदार्थों में सम भाव रखना कठिन है, इसलिए सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधुओं और पापियों में भी समबुद्धि रखनेवाला योगारूढ़ पुरुष विशेष करके युक्त वा श्रेष्ठ होता है।

(५) योगारूढ़ पुरुष की इस प्रकार युक्त और युक्ततम अवस्था को दर्शाकर अब भगवान् इस अवस्था की प्राप्ति का साधन सहित अंगों के सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) योगी अर्थात् योगारूढ़ पुरुष को चाहिए कि आशापरिग्रह से रहित तथा यतचित्तात्मा होकर अकेले एकांतस्थान में बैठकर वह अपने आपको निरंतर आत्मध्यान में युक्त करे।

(ख) शुद्ध पवित्र स्थान न अति ऊँचा और न अति नीचा हो, वहाँ पर न हिलने-जुलनेवाला आसन जमाकर उस पर कुशा, चर्म और वस्त्र बिछाये।

फिर उस आसन पर बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन करता हुआ मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि-निमित्त ध्यानयोग में युक्त होवे, अर्थात् योगाभ्यास करे।

(ग) और अभ्यास के समय धड़, सिर, गर्दन को सीधा अडोल धारण करे, और वैसे ही दृढ़ स्थिर होकर केवल अपनी नासिका के अग्र भाग को देखे, इसके अतिरिक्त किसी अन्य ओर न देखे। फिर प्रशांतात्मा, भयरहित, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित हुआ मन को रोके, और मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे परायण युक्त होकर अर्थात् निजात्मध्यान में चित्त लगाकर (वा समाधिस्थ होकर) बैठे।

(घ) इस प्रकार रोके हुए मनवाला योगी नित्य योगाभ्यास करता हुआ उस शांति को पाता है जिसका अंत निर्वाण है, और जो मुझ सबके आत्मस्वरूप में ही स्थित है, अर्थात् जो मेरी ही वास्तविक स्थिति वा स्वरूप है।

(६) अब योगाभ्यासी के लिए भगवान् आहार आदि का नियम कहते हैं—

(क) हे अर्जुन ! यह ध्यान रहे कि बहुत खानेवाले, नितांत न खानेवाले, ऐसे ही अति सोनेवाले और अति जागनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता।

(ख) बल्कि जिसका खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, और सोना-जागना, अर्थात् आहार-विहार, व्यवहार और आचार, सब युक्त(नियमित

वा ठीक) होते हैं, उसी को दुःखों का नाशक योग प्राप्त होता है, अथवा उसी का योग दुःखों का नाश करनेवाला सिद्ध होता है, अन्य का नहीं।

(७) कब उक्त योग सिद्ध होता है, इस आकांक्षा पर भगवान् अब उस सिद्ध अवस्था का लक्षण कहते हैं —

(क) जब पूर्ण रुका हुआ चित्त आत्मा में (वा अपने आपमें) ही ठहरता है, तब सारी कामनाओं से निःस्पृह हुआ योगारूढ़ युक्त कहलाता है।

(ख) जिस (योगारूढ़) का चित्त ठीक निरुद्ध है, और जो आत्मा के ध्यान में पूर्ण युक्त है, उस (चित्त) की उपमा उस दीपक के समान समझी जाती है कि जो वायुरहित स्थान में पूर्ण अडोल स्थित होता है।

(ग) जिस काल में योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त उपशम को प्राप्त होता है; जिस समय आत्मा से आत्मा को देखता हुआ वह आत्मा में ही संतुष्ट (मग्न) होता है; जब इंद्रियों से परे और बुद्धिगम्य अत्यंत सुख को वह जानता (वा अनुभव करता) है; और जिस सुख में स्थित हुआ वह तत्त्व से नहीं हिलता (वा डोलता) है; जिस सुख को पाकर वह उसकी अपेक्षा और किसी लाभ को उससे अधिक नहीं मानता; और जिसमें स्थित हुआ वह भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता; उस दुःख के संबंध के वियोग को योग समझना चाहिए। और

(घ) इस योग का आचरण न उकताये मन से अर्थात् पूर्ण साहस के साथ निश्चयपूर्वक करना चाहिए।

(८) इस योग के आचरण की विधि को भगवान् अब सविस्तर सहित फल के कहते हैं—

(क) संकल्प-जन्य सारी की सारी कामनाओं को संपूर्ण त्यागकर, मन से ही इंद्रियों के समूह को सब ओर से रोककर, धैर्ययुक्त बुद्धि से योगी धीरे-धीरे उपशम को प्राप्त होवे । इस प्रकार उपशमरूप निरोध को प्राप्त होकर फिर मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिंतन न करे ।

(ख) जहाँ-जहाँ (या जिधर-जिधर) यह चंचल और अस्थिर मन बाहर जाय, वहाँ-वहाँ से इसे रोककर आत्मा के ही स्वाधीन (ध्यान में युक्त) करे ।

(ग) इस प्रकार शांत मन, शांत रजोगुण स्वभाव, निष्पाप और ब्रह्मभूत होने पर योगी को निःसंदेह उत्तम सुख मिलता है ।

(घ) इस रीति से निरंतर योगाभ्यास करनेवाला योगी निष्पाप हुआ ब्रह्म से स्पर्श करनेवाले (अथवा ब्रह्म-संयोग अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार से प्राप्त होनेवाले) अत्यंत सुख को आनंद से भोगता है ।

(ङ) ऐसा योगयुक्त पुरुष सर्वत्र समदृष्टि हुआ सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को स्थित देखता है ।

(च) इस प्रकार जो मुझ सच्चिदानंद को सर्वत्र, और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता (वा गुम होता), और न वह मुझसे ही कभी बिछुड़ता (वा दूर होता) है ।

(छ) इस प्रकार एकता में स्थित होकर, अर्थात् सर्व-

भूतात्ममैक्य-बुद्धि को मन में रखकर, जो योगी मुझ सब भूतों में स्थित को भजता (सेवा वा प्रीति करता) है, वह सर्वप्रकार से वर्तता हुआ भी वास्तव में मुझमें ही वर्तता (रहता-सहता वा बूदोवाश करता) होता है।

(ज) इस प्रकार एकता में स्थित होकर सर्वथा मुझमें वर्तते रहने से जो सबके सुख वा दुःख को ठीक अपना ही सुख-दुःख करके समझता है, अर्थात् जिसे औरों का सुख-दुःख ठीक अपना ही करके भान होता है, वह परम (पूरा-पूरा, उत्कृष्ट, वा सर्वोपरि श्रेष्ठ) योगी माना गया है।

(९) उक्त योगाभ्यास-विधि तथा फल को अति दुष्कर वा दुष्प्राप्य समझकर अर्जुन अब भगवान् से ऐसे पूछता है—

(क) हे भगवन्! यह जो आपने उक्त साम्य रूप से अर्थात् साम्य बुद्धि से प्राप्त होनेवाला योग वर्णन किया है। मैं नहीं देखता हूँ कि मन की चंचलता के कारण इसकी चिरकाल तक स्थिति रह सके।

(ख) हे कृष्णजी! मन चूँकि चंचल, प्रमाथी, बलवान् और दृढ़ है, इसलिए मैं इसका रोकना वायु के समान अर्थात् वायु के रोकने के समान अथवा वायु की गठरी बाँधने के समान, अति कठिन देखता हूँ।

(१०) अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् अब उत्तर देते हैं—

(क) हे अर्जुन! मन निःसंदेह चंचल और दुर्निग्रह (दुःख से रुकनेवाला) है, परंतु अभ्यास और वैराग्य से रोका जा सकता है।

(ख) जिसका अंतःकरण वश में नहीं है, मेरे ख़याल में

तो ऐसे पुरुष को उक्त साम्य-बुद्धिरूप योग की प्राप्ति अति कठिन वा असंभव सी है। पर हाँ, जिसका अंतःकरण अपने वश में है, उसके लिए प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) पा लेना संभव है।

(११) भगवान् के इस उत्तर पर अर्जुन पुनः प्रश्न करता है—

(क) हे भगवन्! श्रद्धावान् तो हो, पर पूरा प्रयत्न वा संयम के न होने के कारण जिसका मन इस समता रूप योग से विचलित हो गया (या डुल गया) हो, तो ऐसा पुरुष योगसिद्धि को न पाकर, फिर किस गति को प्राप्त होता है?

(ख) हे भगवन्! वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ वा मोहग्रस्त पुरुष क्या छिन्न-भिन्न बादल के समान निराश्रय हुआ उभय भ्रष्ट होकर नितांत नाश को तो प्राप्त नहीं हो जाता?

(१२) अर्जुन के इस संशय का भगवान् अब उत्तर देते हैं—

(क) हे अर्जुन! न तो इस लोक में और न परलोक में ऐसे योगभ्रष्ट पुरुष का नाश होता है। हे प्यारे! भला करनेवाला कोई भी पुरुष कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

(ख) पुण्य करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर वह योगभ्रष्ट पुरुष फिर शुद्धात्मा श्रीमानों के घर जन्म लेता है।

(ग) अथवा वह सीधा बुद्धिमान् योगियों के घर जन्म लेता है। ऐसा जन्म भी संसार में अति दुर्लभ है।

(घ) वहाँ जन्म लेकर फिर वह पूर्व जन्म में अभ्यास की हुई बुद्धि (विचार वा संस्कार) को पाता है, और उसे पाकर फिर वह उससे प्रेरित होकर पहले से भी अधिक यत्न योगसिद्धि के लिए करता है।

(ङ) पूर्व अभ्यास से विवश होकर वह योग-मार्ग में लगता है। इसलिए योगभ्रष्ट का तो क्या ही कहना है बल्कि योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वेद या वैदिक कर्मकांड) को टप जाता अर्थात् उससे परे वर्तता है।

(च) इस प्रकार जन्म-जन्मांतर के पूर्वाभ्यास से विवश होकर जब योगभ्रष्ट पुरुष पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है, तो वह पापों से शुद्ध होकर सिद्धि को प्राप्त होता परमगति को पाता है।

(१३) इस परमगति को प्राप्त होनेवाले सिद्ध योगी का भगवान अब महत्त्व वर्णन करते हैं—

(क) हे अर्जुन! ऐसा परमगति को प्राप्त होनेवाला योगी तपस्वियों, कर्मियों और ज्ञानियों से भी अधिक श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए तू उक्त योगी हो।

(ख) उक्त सब योगियों में भी मैं उसको सर्वोपरि युक्ततम मानता हूँ कि जो श्रद्धावान् होकर मुझ सच्चिदानंद-स्वरूप में स्थित मन से मुझे भजता अर्थात् ध्याता, सेवता वा प्रीति करता वा सर्वत्र अनुभव करता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ध्यानयोग-नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

* * *